लियो टॉल्सटॉय

प्रतिनिधि रचनाएँ

भाग-2

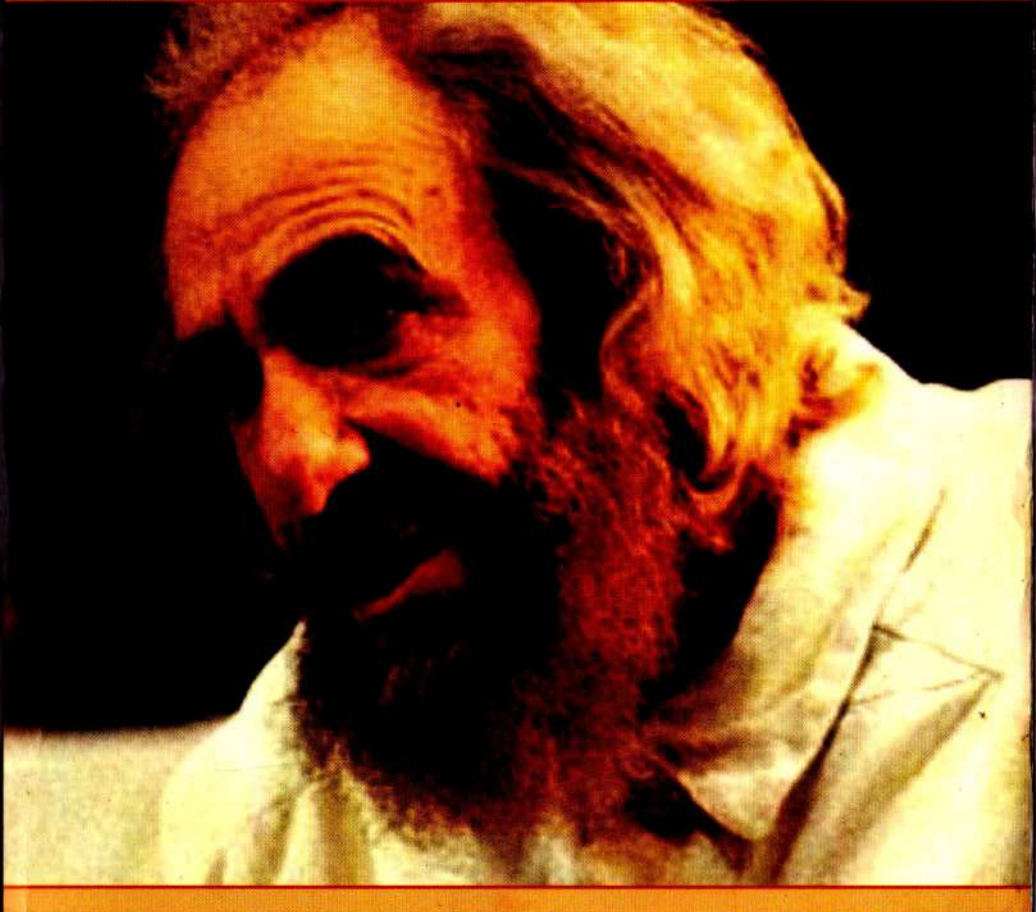

हम करें क्या
मेरी मुक्ति की कहानी

बुराई कैसे मिटे
हमारे जमाने की गुलामी

लियो टॉल्सटॉय : प्रतिनिधि रचनाएँ

(भाग – 2)

संपादक

कृष्णदत्त पालीवाल

सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

भारतीय कॉपीराइट एक्ट के तहत इस पुस्तक में प्रकाशित सामग्री के सर्वाधिकार प्रकाशक के पास सुरक्षित हैं। कोई भी व्यक्ति/संस्था/समूह आदि इस पुस्तक की आंशिक या पूरी सामग्री किसी भी रूप में बिना अनुमति के मुद्रित/प्रकाशित नहीं कर सकता। इस चेतावनी का उल्लंघन करने वाले कानूनी तौर पर हर्जे-खर्चे व हानि के उत्तरदायी होंगे। सभी विवादों का न्यायक्षेत्र दिल्ली रहेगा।

ISBN 978-81-7309-434-7 (PB)

© सस्ता साहित्य मण्डल

•

प्रकाशक

सस्ता साहित्य मण्डल

एन-77, पहली मंजिल, कनॉट सर्कस, नई दिल्ली-110001

Publisher

Sasta Sahitya Mandal

N-77, First Floor, Connaught Circus, New Delhi-110 001

फोन / Phone : 23310505, 41523565

Visit us at : www.sastasahityamandal.org

E-mail : manager@sastasahityamandal.org, sales@sastasahityamandal.org

शाखा : 126, जीरो रोड, इलाहाबाद-211003

फोन : 0532-2400034

•

संस्करण : 2010

मूल्य : 290/-

•

आवरण सज्जा : अंतिका आर्ट्स

मुद्रक : आर.के. ऑफसेट प्रोसेस, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110 032

LEO TOLSTOY : PRATINIDHI RACHANAYEN *PART-2 (essays)*

by Leo Tolstoy

Edited by Krishan Dutt Paliwal

Price : Rs. 290/-

प्रकाशकीय

विश्वप्रसिद्ध चिंतक टॉल्सटॉय के साहित्य से हिंदी के पाठक भलीभाँति परिचित हैं। 'सस्ता साहित्य मंडल' से प्रकाशित उनके साहित्य का हिंदी अनुवाद अपार लोकप्रियता हासिल कर चुका है। वस्तुतः टॉल्सटॉय के साहित्य की उपादेयता देश-काल तक सीमित नहीं है, वह सब काल और सबके लिए समान रूप से उपयोगी है।

टॉल्सटॉय की प्रतिनिधि रचनाओं को तीन भागों में प्रकाशित किया जा रहा है। पहले भाग में उनकी पुस्तकें—*धर्म और सदाचार, जीवन-साधना, सामाजिक कुरीतियाँ* तथा *स्त्री और पुरुष*, दूसरे भाग में—*हम करें क्या, बुराई कैसे मिटे, हमारे जमाने की गुलामी* और *मेरी मुक्ति की कहानी* तथा तीसरे भाग में—*ईसा की सिखावन, कितनी जमीन, प्रेम में भगवान, बालकों का विवेक, कलवार की करतूत* और *अँधेरे में उजाला* संकलित की गई हैं।

इन रचनाओं के माध्यम से जो लेखक के उदात्त विचार सामने आते हैं वे आज भी हर व्यक्ति के लिए प्रेरक और ग्राह्य हैं। आशा है डॉ. पालीवाल के संपादन में ये पुस्तकें पाठकों के लिए संग्रहणीय सिद्ध होंगी।

—मंत्री

लियो टॉल्सटॉय : सर्वोपरि है किसानों के श्रम की महिमा

विश्व के सभी महान रचनाकारों में एक सामान्य विशेषता यह पाई जाती है कि वे अपनी चिंतन-दृष्टि के अनुसार ही अपने जीवन-मूल्यों को निर्धारित करते हैं। यह मूल्य-चेतना उनकी साहित्य सृष्टि का आंतरिक धर्म बनकर प्रकट होती है। रचनाकार चुपके से अपने चरित्रों में प्रवेश कर जाता है और अपने समाज-संस्कृति, धर्म-राजनीति, कलाओं के यथार्थ को उनमें रचकर रूपाकार देता है।

गांधी की भाँति टॉल्सटॉय ने सत्य की खोज और गहन मानवीय करुणा को अपने जीवन का उद्देश्य बनाया था। रूसी समाज की सामंती प्रवृत्तियों और विकृतियों को उन्होंने बहुत निकट से देखा था और बुर्जुआ वर्ग के आडंबरों, विलासी सरोकारों को 'भीतर घुसकर' उसके सच का अनुभव किया था। सामंत वर्ग-बुर्जुआ वर्ग का आर्थिक आधार किस पर टिका था—किसानों के शोषण पर। यह सामंती वर्ग किसानों से धन ऐंठकर भोग-विलास प्रदर्शन में आनंद-मग्न रहता था। इस तरह टॉल्सटॉय इस बुर्जुआ वर्ग के जीवन का खोखलापन देखकर व्यथित हुए थे और अपने सृजन-चिंतन में इसी वर्ग के चेहरे से वे पर्दा उठाते रहे। उन्होंने उच्च वर्ग के निकम्मेपन, टुच्चेपन का चित्रण अपने सृजन-कर्म में किया है। उदाहरण के लिए 'अन्ना' कैरेनिना की मूल समस्या क्या है? यहाँ समस्या का रूप जटिल है क्योंकि अन्ना अपने पति कैरेनिना से घृणा करती है—उसका पति उससे प्रेम नहीं करता, प्रेम तो वह अपने पद से—ऊँचे ओहदे से करता है। ऊँचे पद की दौड़ के अलावा कैरेनिना को जीवन का अन्य अर्थ ही दिखाई नहीं देता। भटककर अन्ना अपने प्रेमी ब्रान्स्की के पास जाती है कि शायद प्रेम पा सके। लेकिन वहाँ भी अन्ना केवल 'देह' है और कुछ नहीं। उसका मर्द-प्रेमी कोई जोखिम उठाने को तैयार नहीं है। निराश अन्ना अंततः आत्महत्या कर लेती है। प्रेमरहित दांपत्य जीवन और प्रेमरहित प्रेमी के साथ देह-घर्षण। हर जगह 'प्रेम' लापता है—तो नारी करे क्या? जीवन का कोई अर्थ न पाकर अन्ना की आत्महत्या कई प्रश्न समाज के सामने छोड़ जाती है और इन चुनौती भरे प्रश्नों का कोई सरल उत्तर संतोष नहीं दे पाता। टॉल्सटॉय की कृति 'रेजरेक्शन' की नायिका कात्यूशा भी पुरुष-वासना का भ्रष्ट समाज में शिकार है। यह भ्रष्ट समाज ही उसे लांछित कर वेश्या की जिंदगी में धकेलता है और वह सजा पाकर

साइबेरिया पहुँचती है। एक साथी कैदी से विवाह करती है लेकिन सच्चे प्रेम को लापता पाती है। टॉल्सटॉय के सृजन-कर्म के ज्यादातर-पात्र समाज से टकराते हैं और प्रेम न पाकर ध्वस्त हो जाते हैं। कारण यह है क्रि सामंतवादी समाज में औरत देह है, चीज है, भोग है, रखैल है—उसका अपना व्यक्तित्व नहीं है।

'क्रूजन सोनाता' कहानी समाज का यथार्थ चेहरा है जिसमें नर-नारी संबंधों पर प्रकाश डाला गया है और कहानी के नायक से यह विचार सामने लाया गया है कि "हमारे वर्ग की औरतों की रुचियाँ वेश्याओं जैसी हैं।" शादी के लिए लड़कियों की नुमाइश लगानेवाला रूसी समाज टॉल्सटॉय को भीतरी पीड़ा पहुँचाता है। औरत का दर्जा गुलामों जैसा है और वे पुरुषों को रिझाने में ही जीवन बिता देती हैं। टॉल्सटॉय की निगाह में शाद़ी का रिवाज औरत को पुरुष की संपत्ति बनाता है। जबकि यह जीवन नहीं है, नारी जाति का अभिमान है और मर्दवाद का लुच्चापन। जीवन का उद्देश्य है—परोपकार, करुणा-दया, अहिंसा-प्रेम, समता और बंधुता। दरअसल टॉल्सटॉय के पूरे चिंतन पर फ्रांसीसी राज्यक्रांति का बहुत गहरा असर है। फ्रांसीसी क्रांति से जो गंभीर राजनीतिक-सामाजिक उथल-पुथल हुई थी—और यह अन्याय-अपमान के ख़िलाफ़ एक सबक भी—जिसमें किसानों ने महलों में आग लगा दी। स्वामियों को मार डाला या खदेड़ दिया और अभिजात्य वर्ग की अवस्था को एक माह में ध्वस्त कर दिया। एक नई अवस्था 'नेशनल वार्ड' के रूप में बनाई और धर्म के नाम पर दी जानेवाली तमाम तरह की यातनाओं को समाप्त कर दिया। बुनियादी चोट वहाँ की जहाँ सत्ता पोप और चर्च के प्रमुखों में केंद्रित थी। पूरे फ्रांस में क्रांति से देशभक्तिपूर्ण लोकतंत्रवाद का उभार आया। युवाओं का क्रांति गीत 'मार्सिलाइज' गाया जाने लगा। ऊबर में 1794 में राल्सपियरे को सत्ता से हटा दिया गया। फिर शुरू हुआ प्रचंड परिवर्तनों का इतिहास। क्रांति का जोश फ्रांसीसी सेनाओं को हालैंड, बेल्जियम, स्विटजरलैंड, दक्षिण जर्मनी और उत्तरी इटली ले गया। सभी स्थानों पर राजाओं को हटा दिया गया और गणतंत्र की स्थापना की गई। "फ्रांस का दुर्भाग्य तब उदित हुआ जब नेपोलियन बोनापार्ट का उदय हुआ।" (दे० विश्व का इतिहास, एच० जी० वेल्स, पृ० 261) उसका राज्याभिषेक पेरिस में पोप द्वारा हुआ। नेपोलियन न इटली-स्पेन के अधिकांश भागों को जीता—एशिया-आस्ट्रिया को पराजित किया और रूस के पश्चिम में संपूर्ण यूरोप पर प्रभुत्वशाली हो गया। उसने 1812 में छह लाख सेनाओं को लेकर रूस पर आक्रमण कर दिया और पराजित हुआ और अधिकांश सेनाएँ सर्दी में जर्जर हो गईं। फिर 1877-78 में तुर्की और रूस में भयंकर युद्ध हुआ। तकनीकी क्रांति और औद्योगिक क्रांति के इस अशांत माहौल ने टॉल्सटॉय को हिला दिया।

टॉल्सटॉय ने श्रम की महिमा का बखान न जाने कितने शब्दों में कितनी बार किया है। मानववाद में आस्था व्यक्त करते हुए हरामखोर अभिजात्य वर्ग के प्रति उन्होंने अपनी आवाज बुलंद की। उन्होंने माना कि मेहनत न करने से शारीरिक-मानसिक व्याधियाँ उपजती हैं। इसलिए टॉल्सटॉय ने किसान का जीवन अपनाने पर छह-छह घंटे हल चलाया। देखा-समझा जाए तो 'युद्ध और शांति' एक पारिवारिक महाकाव्यात्मक गाथा है। उपन्यास में वोलकोन्स्की रोस्तोव और वेजुखोव परिवारों के सदस्यों के जीवन की घटनाएँ हैं जरूर। लेकिन इन महत्त्वपूर्ण घटनाओं के साथ नेपोलियन के आक्रमण के समय साधारण रूसी जनता, विशेषकर मेहनतकश किसान जनता के साहस का अनुपम चित्रण हुआ है। जनता ने मातृभूमि की रक्षा करके देशभक्ति का परिचय दिया और नेपोलियन की सेना के द्वारा लूटे गए कलाकृतियों के खजाने को छीनकर सेना को खदेड़ दिया। इसमें सेनापति कुटुजोव के चरित्र का प्रभावशाली चित्रण है। भोली नताशा को अनातोल कुरागिन ने अपने चंगुल में लगभग फँसा लिया था लेकिन नताशा को टॉल्सटॉय ने बचा लिया और एक मित्र को बताया कि नताशा वास्तविक जीवन से लिया गया पात्र है। जर्जर सामंती रूसी समाज का चित्रण टॉल्सटॉय के लेखन और चिंतन का मूल मुद्दा रहा है। जब टॉल्सटॉय ने 'इवान इलेच की मौत' में जीवन की यांत्रिकता का चित्रण किया—तो नौकरशाही बहुत नाराज हुई। लेकिन टॉल्सटॉय डरे नहीं और लिखते रहे। लेनिन ने सोच-समझकर कहा कि 'टॉल्सटॉय रूसी क्रांति का दर्पण है।' वे सामंतवादी भ्रष्ट समाज के स्थान पर नए समाज का निर्माण करना चाहते थे—और समानता-स्वतंत्रता-बंधुता के मॉडल को आदर्श मानते थे। युद्ध की विभीषिका, शासन तंत्र के भ्रष्टाचार और औरत के प्रेम की पवित्रता को टॉल्सटॉय बचाना चाहते थे। यही कारण है कि टॉल्सटॉय और गांधी एक-दूसरे के निकट आए। एशियाई देशों के स्वाधीनता आंदोलनों के सभी नेता गांधी और टॉल्सटॉय से प्रेरित-प्रभावित हुए। हिंदी में प्रेमचंद, जैनेंद्र जैसे अनेक रचनाकारों पर—चाहे भवानी प्रसाद मिश्र हों—या भीष्म साहनी टॉल्सटॉय का प्रभाव दिखाई देता है। दरअसल पूरा भारतीय-साहित्य टॉल्सटॉय से आंदोलित-प्रभावित हुआ है और गांधी तो उनके शिष्य ही कहे जा सकते हैं।

टॉल्सटॉय का पूरा जीवन-दर्शन उदात्त मानवतावाद का पर्याय है और उसमें जीवन के सुधार-परिष्कार के लिए विचारों का अद्‌भुत खजाना मौजूद है। 'हमें क्या करना चाहिए' वे बराबर सोचते हैं और 'हम करें क्या' जैसी प्रेरणा से भरी कृति मानव-जाति को देते हैं। वे आत्मा के लोहारखाने में उतरकर ठंडे लोहे को गर्म करते हैं ताकि उसे मोड़कर आकार दिया जा सके। देखिए उनके शब्दों की अर्थ-व्यंजना में

मानवता का कमल किस रंग में खिला हुआ है—"और लोग उनसे पूछने लगे—'फिर हम करें क्या?' उन्होंने उत्तर दिया—'जिसके पास दो कोट हैं, वह एक कोट उसे दे दे कि जिसके पास एक भी नहीं है; और जिसके पास भोजन है, वह भी ऐसा ही करें।'"

टॉल्सटॉय के इस कथन में उनके संपूर्ण चिंतन का स्थायी बीज मौजूद है—"इस पृथ्वी पर अपने लिए धन जमा मत करो, क्योंकि काई और कीड़े उसे नष्ट कर देते हैं अथवा चोर उसे चुरा ले जाते हैं। किंतु तुम अपने लिए स्वर्ग में धन जमा करो कि जहाँ न काई लगती है और न कीड़े खाते हैं और न चोर ही दरवाजा तोड़कर उसे चुरा ले जा सकते हैं। फिर जहाँ तुम्हारा धन होगा, वहीं तुम्हारा दिल भी रहेगा।" यहाँ टॉल्सटॉय के विचारों में पूरी तरह भारतीय संत-परंपरा की झंकृति है। इसीलिए उन्हें 'महात्मा' कहना शोभा देता है। एक नीतिकार, एक उपदेशक, एक आदर्श शिक्षक की तरह वे कहते मिलते हैं कि आँख शरीर का दीपक है; इसलिए यदि तुम्हारी आँख स्थिर है, तो तुम्हारा सारा शरीर प्रकाश से युक्त होगा। किंतु यदि तुम्हारी आँख में बुराई है तो तुम्हारे शरीर-भर में अंधकार का साम्राज्य होगा, और यदि तुम्हारी अंतर्ज्योति ही तिमिरावृत्त है तब तो फिर तुम्हारे भीतर कितना अंधकार होगा।" अंधकार से जूझना है तो माया से मुँह मोड़ना होगा। "कोई भी दो मालिकों को नौकरी नहीं कर सकता; क्योंकि या तो वह एक से घृणा करेगा और दूसरे से प्रेम, या वह एक की सेवा करेगा और दूसरे की उपेक्षा। तुम ईश्वर और माया दोनों के होकर नहीं रह सकते।" इसलिए ईश्वर की ओर बढ़ने की प्रेरणा ही प्रेम का मार्ग है, मनुष्यता का मार्ग है। अपने जीवन में शरीर के लिए अधिक मत चिंतित हो कि उसे क्या खिलाऊँगा, क्या पहनाऊँगा। क्योंकि आत्मा कपड़ों से ज्यादा मूल्यवान है—"बस, तुम ईश्वर के राज्य और उसके धर्ममार्ग की ही खोज करो और बाकी ये सब चीजें स्वयं ही मिल जाएँगी।" फिर एक सूक्ति बोले, "सुई के नकुए से ऊँट का निकल जाना तो संभव हैं, किंतु अमीर आदमी के लिए स्वर्ग में प्रवेश करना असंभव है।" उन्हें तो भोगवाद के कारण नरक में सड़ना-कलपना ही होगा।

टॉल्सटॉय के अनुभव रचनात्मक शब्दों में ढलकर विचारों की लपट उठाते हैं। 'शब्द' का यहाँ महत्त्व यह है कि वह कुछ करने का वादा नहीं करता बल्कि चीजों का महत्त्व उसके 'माध्यम' होने से समझ में आता है। यह अलग बात है कि एक क्रांतिकारी रूसी आलोचक ने एक मोची को शेक्सपियर से अधिक उपयोगी पाया और स्वयं टॉल्सटॉय ने जीवन के पक्के वर्षों में अपने महान उपन्यासों की अर्थवत्ता पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए 'कला की सार्थकता' पर शंका उठाई है। प्रश्न कलाकृति के

सत्य का है—सार्थकता का नहीं। क्योंकि कलाकृति 'आत्मा का इतिहास' उघाड़ती है। 'मास्को के भिखमंगे' में टॉल्सटॉय 1881 में मास्को रहने लगे तो एक गरीब को देखकर अचंभे में पड़ गए। वे देहात की दरिद्रता से तो परिचित थे लेकिन शहर की गरीबी ने नई अनुभूति से उन्हें झकझोर दिया। मास्को की सड़कों पर भिखारियों की भीड़—लेकिन वह झोली फैलाकर भीख नहीं माँगती। आँख मिलाकर ताड़ती है कि उचित समझते हैं तो माँगते हैं नहीं तो नहीं माँगते। एक भद्र वर्ग का बूढ़ा भिखारी फुँदनीदार टोपी उतारकर झुककर सलाम करता है और पैसे माँगता है। यदि न ठिठके तो वह यह दिखाने का उपक्रम करता है कि वह चलता ही इस ढंग से है। 'यह मास्को के भिखारी वर्ग का एक सच्चा नमूना है।' पहले मैं समझ नहीं सका कि ये भिखमंगे सीधे-साधे ढंग से खुलकर भीख क्यों नहीं माँगते? एक दिन पाया एक सिपाही जलोदर रोग से पीड़ित एक फटेहाल किसान को खुली गाड़ी में बैठा रहा है। मैंने पूछा, "इसे क्यों पकड़े लिए जा रहे हो?" "भीख माँगता था।" भीख माँगना अपराध कहकर वह सिपाही उस किसान को लेकर चलता बना। समझ में नहीं आया यह वर्जना क्यों? क्योंकि 'मास्को में भिखमंगे ही भिखमंगे दिखाई पड़ते थे।'' मैं पुलिस थाने गया। वहाँ एक आदमी पिस्तौल और तलवार लिए मेज के पास बैठा था। पूछने पर पता चला भिखमंगों को पकड़ने का अफसरों ने हुक्म दिया है।' मुझसे गाड़ीवान ने पूछा, 'क्या हुआ? बंद कर दिया।' 'हाँ, बंद कर दिया।' यह अच्छा न लगा। एक दिन मैंने तीस भिखमंगों की टोली देखी जिसे पुलिसवाले पकड़कर ले जा रहे थे। पता चला मास्को में भीख माँगना कानूनन अपराध है। फिर गिरजाघरों के सामने का स्थान हो या श्मशान घाट, वे पहुँचे होते हैं। यहाँ मास्को में कई तरह के भिखारी हैं—ज्यादातर बीमार निराश्रित और कुछ हट्टे-कट्टे। टॉल्सटॉय ने हृष्ट-पुष्ट किसान भिखमंगों में विशेष दिलचस्पी दिखाई, उन दोनों के साथ काम करने की आदत डाली। वे दोनों किसान वहाँ लकड़ी चीरने का काम करते थे—एक का नाम पीटर था तथा दूसरे का सेमन। इनके पास तन के कपड़ों, दो भुजाओं के अतिरिक्त कुछ न था। कमाते प्रतिदिन चालीस-पचास कोपेन। कुछ बचा भी लेते थे। इन दोनों से जान पहचान के कारण अन्य किसान भिखमंगे से प्रश्न पूछता था, 'तुम्हारी यह दशा कैसे हुई?' उसने कहा, 'काम की तलाश में आया था—पहले लकड़ी चीरने का काम मिला, फिर पंद्रह दिन से बेकारी घेरे है। सब बेच खाया—कुल्हाड़ी तक।' सुनकर टॉल्सटॉय पसीजे और उसे पैसे दिए। उसने कहा, 'किसी को भीख माँगना अच्छा थोड़े ही लगता है। मैं काम कर सकता हूँ।' लेकिन वह पैसा लेकर चला गया—पीटर-सेमन के पास काम पर आया नहीं। धोखा दे गया। इस तरह के काफी भिखमंगों के अनुभवों से टॉल्सटॉय ने जाना कि 'इस श्रेणी के लोगों

में भी बहुत ही धूर्त हैं—परंतु उन पर दया आती थी। वे दुबले-पतले सर्दी से ठिठुरते और कुछ फाँसी लगाकर मर जाते हैं। प्रश्न है कि 'मास्को के भिखमंगे' का यह पाठ या टेक्स्ट क्या व्यंजित करता है? इसमें मनुष्य का स्वभाव मौजूद है या देश की सरकार की अकर्मण्यता। किसान का भीख माँगना बहुत से संदर्भ लिए हैं। देहात से शहर में आकर भीख माँगना और जेल जाना—मर जाना। जीवन की तलाश में मौत। मास्को की सर्दी में ठिठुरकर मरता किसान व्यवस्था पर प्रश्नचिह्न नहीं है क्या?

टॉल्सटॉय को कहीं से 'क्लोजरीडिंग' दीजिए—वे समाज के सच को भीतर से उघाड़कर पाठक का दिल कँपा देते हैं। 'अनाथालय में', 'उन्हें उबारना चाहा', 'प्रारंभिक जाँच-पड़ताल', 'दरिद्रों के दुर्ग में', 'तो यह सब भ्रम था', 'कुलीन कंगाल', 'बेचारी वेश्याएँ' कुछ भी पढ़िए—पीड़ा-यातना-अवसाद-अकेलापन-मौत-भूख से लिपटी कथाएँ हैं। 'तो यह सब भ्रम था' में तीस नंबर मकान-मोची-दर्जी-लुहार, गाड़ीवान, बढ़ई हर तरह का धंधा करनेवाले लोग-श्रमजीवी। घोर गरीबी में भी संतोष की साँस और आपस में साझेदारी। 'कुलीन कंगाल' में तीन श्रेणी के लोग। पहली श्रेणी में उच्च और निम्न वर्ग के शराबी और दूसरी श्रेणी में वेश्याएँ, तीसरी श्रेणी में बच्चे। यहाँ वेश्यएँ हैं बेशुमार। प्रश्न था इन अभागों का जीवन कैसे बदला जाए। 'बेचारी वेश्याएँ' युवावस्था में पौढ़ा दिखाई देनेवाली लड़कियाँ। भयंकर कुरूप वृद्धाएँ। इनमें मनुष्य होने का कोई लक्षण नहीं। किसान की स्त्री सराय में धंधा कर रही है। मकान मालिक ने कहा—'यह वेश्या है'—इस शब्द से घृणा की पिचकारी छूटी—कुत्ते-सी दुत्कार। टॉल्सटॉय ने सोचा—इनका क्या अपराध—इन्हें धिक्कारने का हमें कोई अधिकार नहीं। कई तरह की शिकार इन लड़कियों को व्यभिचारिता का अर्थ ही नहीं पता। निर्धनता ने उन्हें सोचने की शक्ति से वंचित कर दिया है। हमारी महिलाएँ लड़कियों को इस घृणित कार्य से मुक्ति दिलाने में क्यों आगे नहीं आतीं।

सामंतवाद का यह घिनौना चेहरा 'हमारे शोषण का जाल', 'दासत्व का मूल कारण रुपया', 'फीजी द्वीप की करुण कहानी', 'अब मैं समझा', 'दूसरों के श्रम का शोषण क्यों', 'दूसरों के रक्त से सनी हमारी रंगरेलियाँ', 'श्रेष्ठता का मिथ्या अहंकार', 'भयंकर भ्रम', 'श्रम से बचने के बहाने', 'मानव समाज की वैज्ञानिक व्याख्या', 'श्रम-विभाजन की भ्रामक धारणा', 'पथभ्रष्ट वैज्ञानिक और कलाकर', 'बुद्धिजीवियो' के थोथेवचन', 'सारी मुसीबतों की जड़ संपत्ति' तथा 'स्त्रियों का कार्यक्षेत्र' आदि में रूसी समाज का अर्थशास्त्र और सौंदर्यशास्त्र मौजूद है। 'फीजी द्वीप की करुण कहानी' बता देती है कि रुपया क्या है और उसका प्रभाव कितना व्यापक है। इसमें दासता के मूलाधार, तोप, हिंसा, धमकी, लूटमार आदि के अर्थ

छिपे रहते हैं। आर्थिक उत्पीड़न पर आमादा अमेरिका फीजी द्वीप को धमकाता है और उन्हें दास बनाने की इच्छा से तोपों से भरे जहाज भेजता है? 'रुपया दो या जीवन दो' की मार फीजी ने झेली है। अमेरिका के बाद दूसरा स्वामी अंग्रेज (ब्रिटेन) बनता है और चालाकी से वे फीजी को अपने राज्य में मिलाकर उसकी संपत्ति हड़पता है। 'रुपया मूल्य का मानदंड नहीं' तो मानदंड क्या है—स्वामी-दास संबंध। अर्थशास्त्र में विनिमय का सिद्धांत चलता है। 'दासता के तीन रूप' में कोई भी रूप हो, मूल बात यह कि एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को सुखों से वंचित करता है। तलवार के जोर से दास बनाने की प्रवृत्ति का जोर रहा है। फिर पनपा 'अव्यावहारिक अर्थशास्त्र', इसमें दासता का रूप बदल गया। धर्मशास्त्र मनुष्य को 'ईश्वर' के नाम पर गरीबों को भटका देता है। सरकार माने बल प्रयोग करनेवाले व्यक्तियों की सत्ता। यह सत्ता धमकाती है और श्रम हड़प जाती है। अत: श्रमिकों को संगठित होने की आवश्यकता है। यदि ऐसा न हुआ तो वही होगा जो अमेरिकी सरकार ने फीजी में किया है। जनता की 'कल्याण-भावना' और 'स्वतंत्रता' को भटकने से रोकना है तो संगठित होना पड़ेगा। 'अब मैं समझा' का सिद्धांत निर्धनों की सहायता करना चाहता है पर कर नहीं पाता।

प्रश्न उठता है 'दूसरों के श्रम का शोषण क्यों?' मानव के कष्ट का कारण है—दूसरों के द्वारा दास बनाना, शोषण करना। टॉल्सस्टॉय ने कहा है—"जिस आदमी के पास दस नौकर, वर्दीदार चपरासी, साईस, रसोइया, चित्र तथा पियानो हैं उसे यह बात सचमुच विचित्र ही नहीं हास्यास्पद भी मालूम होगी कि प्रत्येक मनुष्य का यह सरलतम और सर्वप्रथम कर्तव्य है कि वह अपना भोजन बनाने और अपने को गरम रखने के लिए लकड़ी खुद काटे, अपने जूते और पैताबे स्वयं साफ करे। अपनी शारीरिक सफाई के लिए पानी स्वयं लाए—मेरा अभिप्राय किसी सत्पुरुष से नहीं, बल्कि ऐसे व्यक्ति से है जो मनुष्य भर है और जानवर नहीं है।" (लियो टॉल्सटॉय : प्रतिनिधि रचनाएँ, भाग-2, पृ० 177-78) 'दूसरों के रक्त से सनी हमारी रंगरेलियाँ' क्या है—पुलिस के द्वारा पकड़ी गई लड़कियों से रंगरेलियाँ। गरीब भूखे पेट लड़की की व्यथा। पंद्रहवर्षीय वेश्या की कथा और जवान धोबिन की मृत्यु—हर जगह ट्रेजेडी। 'तो फिर हम क्या करें? यह सब हमने तो किया नहीं है।' लेकिन हमने नहीं तो किसने किया? ईस्टर आते ही अमीर मजे उड़ाते हैं और गरीब भूखे—ठिठुरन से भरे। दिन भर खेतों में श्रम करके लौटते लोग एक तरफ हैं—दूसरी तरफ जमींदारों के घरों में पियानो सुनते लोग हैं। संत इसैया का दर्शन कहाँ गया जिसमें श्रमजीवी भूखों मर रहा है। धनी लोग 'श्रेष्ठता का मिथ्या अंहकार' पाले हैं कि वे सभ्य ईसाई हैं। तमाम मशीनों के होने पर भी मनुष्य भूखों मर रहा है—'प्रगति' का

यह धोखा है। माल्थस का सिद्धांत अमीरों के साथ रहा—गरीबों की दुर्दशा का अंत कहाँ है? जो दूसरों के श्रम पर जीते हैं उनके पास श्रम से बचने के बहाने हैं। उनका पाखंड अनैतिकता पर टिका है जो फ्रांसीसी क्रांति के सिद्धांतों के विरुद्ध है। आजकल शक्तिशाली वर्ग के प्रतीक हैं— वैज्ञानिक और कलाकार। श्रम न करने के औचित्य को सिद्ध करने के लिए इनके पास कई तर्क हैं।

'मानव समाज की वैज्ञानिक व्याख्या' के नाम पर श्रमजीवी को ठगा गया और आदम के अध:पतन और पहले फरिश्ते की कहानी गढ़ी गई एवं उसी को ईसा का उपदेश कहकर प्रचारित किया गया। यह गाथा निराधार और मूर्खतापूर्ण थी। फिर धर्मशास्त्री भटक गए—वे 'पवित्रता को ठीक से परिभाषित नहीं कर सके। दार्शनिकों ने पहले कन्फूशियस, सुकरात का सहारा लिया। रूसो, पास्कल, लेसिंग और स्पिनोजा के सिद्धांतों ने ज्ञान तो बढ़ाया पर जनता उनसे दूर रही। हीगेल की लोकप्रियता का कारण हीगेलियन-सिद्धांतों का सामंजस्य था जबकि फिक्टे, शॉपेनहार के सिद्धांत कम महत्त्वपूर्ण न थे। लेकिन हुआ यह कि हीगेलियन सिद्धांत भी मानव की दुर्बलता के पोषक ही सिद्ध हुए। ध्यान रखना होगा कि टॉल्सटॉय के जीवनकाल में हीगल के सिद्धांतों का बोलबाला था। उपन्यासों—निबंधों-कलाओं पर हीगल छाया था। जिसने हीगल नहीं पढ़ा उसे बात करने का अधिकार न था। लेकिन शीघ्र ही हीगल के सिद्धांतों का पतन हो गया—वह निरर्थक सिद्ध हुआ। 'काम्टे की साकारवादी विचारधारा' (फ्रांसीसी दार्शनिक) ने मानव-समाज की पुरानी मान्यताओं की नींव हिला दी—उसने अपने सिद्धांत की भित्ति अकाट्य वैज्ञानिक प्रयोगों पर खड़ी की और प्रयोग पर बेहद बल दिया। बौद्धिक उधर दौड़ पड़े—लेकिन बाद में काम्टे की धारणाएँ गलत सिद्ध हुईं। भीतर जागा हरबर्ट स्पेन्सर जिसने शरीर-यंत्र तथा समाज भेदों की चर्चा तो की लेकिन प्रश्न उठा कि वस्तुस्थिति की जाँच कैसे संभव है?

केवल वस्तुस्थिति की जाँच संभव नहीं है, क्योंकि जाँच के लिए पदार्थों की संख्या अपरिमित है। वस्तुस्थिति की परीक्षा के लिए निश्चित सिद्धांत चाहिए। प्रत्येक मत की नींव उसके सिद्धांत में होती है और विद्वान उपलब्ध ज्ञान से नए निष्कर्ष निकाला करते हैं। वह सिद्धांत यह कि समस्त मानव समाज एक शरीर यंत्र है, व्यक्ति उस यंत्र का एक अंग है और समस्त यंत्र के परिचालन के लिए प्रत्येक व्यक्ति का एक विशिष्ट कर्तव्य होता है। अत: मनुष्य जीवन के नियमों का अनुसंधान करने के लिए शरीर यंत्रों के विकास और जीवन संबंधी नियमों का अध्ययन करना आवश्यक है। यहाँ भी समता-विषमता का सिद्धांत लागू होता है। जिन अंगों से कम काम नहीं लिया जाता है वे दुर्बल रहते हैं। इस तरह टॉल्सटॉय

मानव-समाज में कार्य-विभाजन को आवश्यक मानते हैं और कहते हैं कि सामाजिक जंतु—चींटियाँ और मधुमक्खियाँ—भी आपस में अलग-अलग काम बाँट लेती हैं। रानी गर्भ धारण करती है और अन्य मधुमक्खियाँ अपनी समस्त जाति के जीवन के लिए श्रम करती हैं। समाज को यंत्र माननेवाले व्यक्ति को यदि यह स्पष्ट नहीं होता कि व्यक्तियों के समूह को शरीर यंत्र क्यों माना जाता है तो विकासवाद का सिद्धांत इसका स्पष्टीकरण कर देता है। फिर आया मुक्ति का सिद्धांत—अर्थात् ईश्वर उन्हीं व्यक्तियों की मुक्ति करता है जो मुक्ति में विश्वास रखते हैं। यदि आपको इसमें आस्था है तो आपकी मुक्ति भी होगी।

'श्रम विभाजन की भ्रामक धारणा' से हटकर मनुष्य को बुद्धि एवं अंतरात्मा की आवाज पर ध्यान देना होगा। अंतरात्मा की आवाज न माननेवाले मनुष्य का नैतिक-मानसिक पतन हो जाता है अत: हमें 'प्रकृति' पर विचार करना चाहिए और प्राकृतिक विज्ञान से लाभ उठाने का प्रयत्न भी। 'बुद्धिजीवियों के थोथे वचन' भूल गए हैं कि श्रम विभाजन समाज में सदा रहा है और कदाचित सदा रहेगा। शारीरिक श्रम, आध्यात्मिक श्रम और मानसिक श्रम—इन तीनों में टॉल्सटॉय शारीरिक श्रम का समर्थन करते हैं—क्योंकि उसके बिना समाज चल ही नहीं सकता। वैज्ञानिक और कलाकार शारीरिक श्रम पर ही जीते हैं। अत: इनके श्रम का लाभ शारीरिक श्रम करनेवाले किसान-मजदूर को मिलना चाहिए। अर्थशास्त्र, पदार्थ विज्ञान, रसायन शास्त्र, शिल्प, कला-साहित्य का लाभ श्रमजीवी को मिलने चाहिए। श्रम को सुख देनेवाला कला का आनंद ही आनंद है—बाकी सब तो व्यर्थ है। टॉल्सटॉय स्वयं मानते हैं कि "श्रमजीवियों का काम बुद्धिजीवियों के काम की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण और अनिवार्य होता है।" (वही, भाग-2, पृ० 243) सामाजिक न्याय कहता है कि दोनों में आदान-प्रदान आवश्यक है। पुश्किन, डोस्टोवस्की, तुर्गनेव की जरूरत किसे है? नंगी औरतों, मखमल, साटन की चित्रकला का क्या तात्पर्य? विज्ञान और कला किसकी सेवा के लिए हैं? इन कलाओं ने श्रमजीवियों को क्या सिखाया है? नहीं सिखाया तो इनका प्रयोजन क्या है?

'पथभ्रष्ट वैज्ञानिक और कलाकार' दोनों पर टॉल्सटॉय ने बार-बार विस्तार से माथापच्ची की है। यह भी कहा कि अब धर्माचार्यों का समय गया। अकर्मण्यता और आलस्य में डूबने का समय भी गया। अब नया श्रम-युग आ गया है। कलाकार और वैज्ञानिक दूसरे के श्रम-शोषण पर जीना अपना अधिकार समझ बैठे हैं। उन्हें श्रमजीवियों की पीठ से उतारकर असलियत से परिचित कराना होगा। ठीक है कि कलाकार-वैज्ञानिक समाज को कुछ-न-कुछ देते हैं—लेकिन ये लोग लेना ज्यादा चाहते हैं। यही समस्या है। हमें कलाकार का हल जोतना बर्बरतापूर्ण मालूम होता

है—क्यों? क्या उसे बौद्धिक विलासी बनाना है? यह पापकर्म है।

प्रश्न उठता है कि 'क्या विज्ञान और कला जनता के लिए नहीं है?' बुद्धिजीवी कहते हैं कि विज्ञान की असाधारण उन्नति के कारण—कलाकार, वैज्ञानिक—दोनों भोजन उत्पादन की आवश्यकता से मुक्त कर दिए गए हैं—इसलिए हर व्यक्ति के लिए हल जोतना आवश्यक नहीं हैं। स्टीमर, रेल, पुल, सुरंगों, भाप से चलनेवाले इंजन, तार, फोटो, टेलीफोन, सीने की मशीनें, फोनोग्राफ, बिजली, दूरदर्शीयंत्र, रश्मि-विश्लेषण-यंत्र, सूक्ष्मदर्शी यंत्र, क्लोरोफार्म, विषनाशक औषधियाँ और कारबोलिक एसिड—यह कौन लाया है? विज्ञान ही तो लाया है। और विज्ञान और कला निरंतर उन्नति कर रहे हैं। फिर भी हमें यह उन्नति संतोष नहीं दे रही—इसे श्रम-विभाजन के आधार पर कसना चाहिए। क्योंकि हमें रेल, तार, फोन के पीछे जो उद्देश्य छिपा है उसे समझना चाहिए कि ये सब पूँजीपतियों के हाथों में आने पर क्या करते हैं? सरकार और रईस लोग इससे लाभ कमाते हैं और जनसाधारण भटकता रह जाता है। वैज्ञानिक और कलाकार तभी उपयोगी हो सकते हैं जब वे किसान-मजदूर सेवा अपना पक्का लक्ष्य बना लें। चित्रकारों के चित्र महलों में लटकते हैं और कलाकृतियाँ लाखों रुबल कमाती हैं किंतु जनता न इन्हें समझती है, न चाहती है। यही हालत थिएटरवालों और संगीतज्ञों की है कि वे जनता से दूर हैं। लेखकों को भी आरामदेह पहल, रंगशालाएँ, प्राकृतिक दृश्य, भ्रमर सब चाहिए। लेकिन उनकी रचनाएँ जनता के लिए कूड़े का ढेर हैं। प्रश्न फिर उपस्थित है कि कलाकार जनता की सेवा क्यों न करें? जनता के साथ साधारण जीवन क्यों न जिएँ? यह 'झूठा दावा' है कि वैज्ञानिक-कलाकार जनता के लिए क्रियाशील हैं। "मानव समाज के लिए विज्ञान और कला उतने ही आवश्यक हैं जितने अन्न, जल, वस्त्र बल्कि इससे भी अधिक आवश्यक हैं।" (वही, भाग-2, पृ० 260) टॉल्सटॉय ने यह भी ध्यान दिलाया कि यदि किसी शब्द के साथ 'लॉजी' जोड़ दें तो क्या वह विज्ञान हो जाएगा। इसी तरह क्या अश्लील-नग्नता कला हो जाएगी? हम न भूलें हम अनंत अपरिमित के अंश हैं, अपूर्ण हैं। कला को चाहिए कि वह इस अपूर्णता को पूरा करने का संकल्प ले। कला धर्म-सेवा से हटकर मानव-सेवा बने। यदि ऐसा भाव उसमें नहीं है तो उसे कला या विज्ञान कहलाने का अधिकार नहीं है। फिर 'कष्ट सहे बिना सच्ची सेवा असंभव है। हमें गैलिलियो, ब्रूनो, होमर, माइकेल एंजिलो, बीथोवेन और वैगनर जैसा महान वैज्ञानिकों-कलाकारों से सीखना चाहिए कि कैसे इन सभी ने अपना जीवन मानव-सेवा में लगा दिया। हमें समाज में रहकर जनता को यातनाओं से बचाने से उपाय सोचना चाहिए तभी हम विज्ञान या कला के धर्म का पालन कर सकेंगे।

'तब फिर हम क्या करें' यह प्रश्न टॉल्सटॉय पूछते हैं और कहते हैं कि हमें झूठ न बोलकर सत्य की शरण में जाना चाहिए। हमारे पास पैसा होता है और हम कहते हैं कि हमारे पास पैसा नहीं है। यह झूठ ही सत्यानाश की जड़ है—इस जड़ को 'सभ्यता' सींच रही है—शिक्षा का घमंड बढ़ रही है। हमारी शिक्षा नवयुवकों को बरगलाती है—वे जन-सेवा से दूर रहते हैं। टॉल्सटॉय न तो शापेनहावर से सहमत हैं न हार्टमैन से। क्योंकि दोनों ही जन-सेवा से युवापीढ़ी को हटाकर अंधकार में धकेल रहे हैं। चूँकि जीवन भर टॉल्सटॉय ने लेखन और श्रम किया। इसलिए तन-मन-धन के तप की महिमा पर उन्हें भरोसा है—मुफ्तखोरी पर नहीं। वे वाद-विवाद-बहस-तर्क की लंबी यात्रा के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'सारी मुसीबतों की जड़ संपत्ति' है। व्यक्तिगत सुख युवकों को विनाश की ओर खींच रहा है और जीवन में रोगग्रस्त अकेलापन बढ़ रहा है—आत्महत्याएँ बढ़ रही हैं। और हर साल हम अनुभव करते हैं कि हमारे जीवन का अंधकार बढ़ता जा रहा है।' हमारे जीवन के साथ हमारी अंतरात्मा जुड़ी रहे, हम गरीब की चिंता करें, शारीरिक श्रम से घृणा न करें। शारीरिक श्रम ही मानव और मानवता को अनेक संकटों से बचा सकता है। हमारा शरीर ही हमारी संपत्ति है क्योंकि वह सदा हमारी आज्ञा का पालन करता है। अन्य सभी प्रकार की संपत्तियाँ झूठा मोह हैं। नौकरों द्वारा परोसा गया विविध व्यंजनोंवाला भोजन अपमानदायक है। अपना भोजन स्वयं कमाओ, बनाओ और खाओ। यही कर्म सौंदर्य है।

'स्त्रियों का कार्यक्षेत्र' पुरुषों से अलग है। बाइबिल में कहा गया है—पुरुष मेहनत-मजूरी करें और स्त्रियाँ संतानोत्पत्ति। लेकिन अब पेरिस की नारियाँ संतानोत्पत्ति से बच रही हैं। सुंदर बनकर पुरुषों को लुभा-नचा रही हैं। स्त्री आज पुरुष से ज्यादा शक्तिशाली है। वह आज श्रम कर रही हैं, श्रम की महिमा समझ रही है और उच्च वर्ग के युवक निठल्ले घूम रहे हैं। स्त्रियाँ चतुर हो गई हैं—वे गर्भनिरोधक उपायों का लाभ उठा रही हैं। लेकिन यदि वे पुरुषों को लुभाने में ही लगी रहीं तो तर्क और शक्ति दोनों खो देंगी। संसार का परम वरदान है—अच्छी माँ। उनके भीतर ईश्वर जीता है एवं वही त्याग-कर्तव्य की प्रेरणा देता है। ये त्यागमयी माताएँ ही पथ-प्रदर्शक हैं—जीवन की ज्योति हैं। टॉल्सटॉय का कथन है—"यही कारण है कि उनके हाथों में सबसे बड़ी शक्ति रहती है—वह शक्ति है वर्तमान समय की प्रचलित और भयावनी बुराइयों से पुरुष की रक्षा करना? हाँ, नारियों और माताओं, इस संसार की मुक्ति सबसे अधिक तुम्हारे ही हाथों में है।" (वही, भाग-2, पृ० 318)

दरअसल, जिस समय 'हम करें क्या' जैसी प्रेरणादायक टॉल्सटॉय की पुस्तक प्रकाशित हुई थी—विचारों की दुनिया में एक सुनामी आ गई थी। यूरोप में खलबली

मची, लेकिन उनकी भौतिकता और उपनिवेशवादी प्रवृत्तियों में कोई बदलाव नहीं आया। क्योंकि वे विज्ञान से 'प्रकृति' को दुहने निकल पड़े थे और उस पर अपना नियंत्रण स्थापित कर रहे थे। पूँजीवाद के दाँत मुनाफाखोरी की ओर बढ़ रहे थे और उन्नीसवीं शताब्दी का नवजागरण तथा विज्ञान एक नई दुनिया को जन्म दे रहा था। टॉल्सटॉय के इन मानवतावादी विचारों का गहरा प्रभाव गांधी-लोहिया-नरेंद्रदेव, काका साहेब कालेलकर, प्रेमचंद, जैनेंद्र, भवानी प्रसाद मिश्र, निर्मल वर्मा आदि चिंतकों पर पड़ा। ये विचार हमारे संत-दर्शन में मौजूद चिंतन का नया भाष्य था, इसलिए इनसे हमारी निकटता बढ़ती गई। गांधी की 'दरिद्र नारायण' की विचार-स्थापना में टॉल्सटॉय मौजूद हैं। आज के कठिन उत्तर-आधुनिक समय में भारत के लिए टॉल्सटॉय के विचार बहुत प्रासंगिक हैं क्योंकि हमें उत्तर-पूँजीवाद, उत्तर-औद्योगिक समाज, नव्य सांस्कृतिक मीडिया साम्राज्यवाद से अपनी रक्षा करनी है।

टॉल्सटॉय ने जिस विचार का बार-बार उल्लेख किया है, वह विचार है—उच्चवर्ग का नैतिक पतन। पूरी ताकत से उच्च वर्ग के इस वर्चस्ववाद को तोड़ना चाहिए ताकि श्रमजीवी वर्ग पनप सके। विज्ञान और कला पर बढ़ता पूँजीवादी आधिपात्य मानवतावाद के लिए घातक है। श्रम की महत्त्व-प्रतिष्ठा का अर्थ है जन-साधारण की महिमा और कर्म-सौंदर्य में विश्वास। सचमुच टॉल्सटॉय के लेखकीय जीवन में नैतिक-मूल्यों पर चिंतन बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इसलिए वे 'प्रतिरोध' के स्थान पर संवाद और संधि में विश्वास रखते हैं—उनके संवाद का पर्यवसान प्रेम-करुणा और श्रम की महत्त्व-प्रतिष्ठा में होता है।

इस महात्मा चिंतक की बेचैनी इस बात को लेकर रही कि यह संसार जीने लायक कैसे बने। उन्होंने एक पुस्तक लिखी और शीर्षक रखा—'बुराई कैसे मिटे'। इसमें आर्थिक-सामाजिक विषमताओं के कारण यातना झेलता मनुष्य सामने आता है—जीवट भरा मनुष्य। 'मानव-समाज में शोषण' का अंत कैसे हो यह विकराल प्रश्न टॉल्सटॉय को मथता है। वे रूपक बाँधकर कहते हैं—'सारा मानव समाज पशुओं के झुंड के समान है, जिसमें बैल, गाय और बछड़े सभी हैं, और जो तारों से घिरे बाड़े में बंद हैं। बाड़े से बाहर सुंदर हरा-भरा चरागाह है और खाद्य-सामग्री की बहुतायत है। बाड़े के भीतर पशुओं के लिए खाने को काफी घास नहीं है। फलस्वरूप बाड़े में जो घास है, उसको पाने के लिए वे पशु एक-दूसरे पर हमला कर रहे हैं और एक-दूसरे को पैरों तले कुचल रहे हैं।' (लियो टॉल्सटॉय : प्रतिनिधि रचनाएँ, भाग-2, पृ० 321) पशुओं के मालिक ने उन पशुओं की हालत सुधारने के उपाय किए—गायों के रात्रि विश्राम के लिए हवा और जालीदार छप्पर बँधवा दिए। यह सब करते देखकर किसी समझदार ने पशुओं के मालिक से पूछा कि आप यह

सीधी-सी बात क्यों नहीं करते कि बाड़े की हदबंदी तोड़कर पशुओं को बाहर निकाल दें; तो उसका उत्तर यह था कि यदि मैं ऐसा करूँ तो फिर मुझे उनके दूध से जो हाथ धोना पड़ेगा।' इसका विमर्श-विखंडनवादी अर्थ यह है कि स्वामी अपने दासों से लाभ नहीं छोड़ सकता। लाभ छोड़ते ही वह मालिक नहीं रहेगा—घेरने की ताकत खो देगा।

समाज के शरीर-यंत्र को ठीक से चलाने के लिए श्रम-विभाजन जरूरी है। क्योंकि न तो मकान अपने आप बन जाता है, न रोटी आकाश से टपक पड़ती है। उसे कमाना पड़ता है—एड़ी-चोटी का पसीना बहाना पड़ता है—इसलिए पसीने से कमाई गई रोटी पवित्र है, उसका स्वाद मीठा है। लेकिन क्या हो रहा है इस समाज में—'वे रात-दिन परिश्रम करते हैं, किंतु उन्हें अपने और अपने बच्चों के लिए काफी भोजन, वस्त्र और रहने को स्थान नसीब नहीं होता।' हालत संसार की यह है कि सभी को दरिद्रता से जीवन-संग्राम करना पड़ता है फिर परिवार भूखों मरते हैं। निरंतर संघर्ष और अभाव का जीवन उन्हें तोड़ देता है। टॉल्सटॉय का अनुभव है अधिकांश शिक्षित लोग खुद परिश्रम नहीं करते और चुपचाप दूसरों की मेहनत हड़प लेते हैं जो उनके जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक होती है? क्या वे ऐसे जीवन को सात्विक और उचित समझते हैं? काम का बँटवारा तो प्राचीन काल से चला आ रहा है किंतु वह दोषपूर्ण है। उचित ढंग से काम का विभाजन तभी हो सकता है जब हम विवेक और अंतरात्मा से उसे करने का निर्णय लें। जो बँटवारा सभी की बुद्धि और हृदय को मंजूर हो वही सबसे अच्छा बँटवारा होगा। बलवानों द्वारा दूसरों की मेहनत हड़पना। इस क्रिया को धर्मवादी 'दैवी निर्णय', दार्शनिक 'जीवन की अनिवार्य अवस्था' और आजकल का विज्ञान 'काम का बँटवारा' कहते हैं। कुछ लोगों का तर्क है कि कुछ मानसिक और आध्यात्मिक श्रम करते हैं और कुछ शारीरिक श्रम। क्या यह काम का बँटवारा नहीं है? प्रश्न उठता है यह बँटवारा है या श्रम का बलात्कारी शोषण? शारीरिक श्रम के बदले में मानसिक श्रम देने की बात भी दुहराई जाती है और आध्यात्मिक भोजन देने की भी। आध्यात्मिक भोजनवाले कहते हैं—'मैं यह भोजन तभी दे सकता हूँ, जब तुम मुझको भोजन दो, वस्त्र दो, और मेरे घर का कूड़ा-करकट हटाकर ले जाओ।' किंतु शारीरिक भोजनवाले तो यह काम करते ही रहते हैं—उन्हें आध्यात्मिक-मानसिक भोजन मिले या न मिले। लेकिन यह अच्छा तब हो जब दोनों में प्रेम से आदान-प्रदान हो। विद्वान-कलाकर-वैज्ञानिक कहता है कि हम तभी सेवा कर सकते हैं जब हमारे लिए अच्छा भोजन उपलब्ध हो। प्रश्न उठता है कि शारीरिक श्रम करनेवाले किसान-मजूर-बढ़ई-लुहार, मोची, धोबी को आध्यात्मिक भोजन की जरूरत ही क्यों हो। मजदूर तो समतावादी-समाज-व्यवस्था

की माँग करता है। उसके पास अर्थशास्त्र, रसायन शास्त्र, प्रकृति विद्या को पढ़ने का समय नहीं है। वह संगीत, चित्र, काव्य कला में भी अपने को व्यस्त नहीं रख सकता। कूड़ा-कचरा कौन ढोएगा, घरों की सफाई, खेतों की जुताई, कपड़े की सिलाई, बुनाई कौन करेगा। यदि मजदूर ऐसा कहता है तो क्या यह न्याय की बात नहीं है? इस प्रश्न का बौद्धिक और विलासी क्या उत्तर देगा? दरअसल बौद्धिक, धर्मात्मा, दयालु, शिक्षित, पुण्यात्मा, पंडे-पुजारी, सामंत-रईस व्यापारी सब मिलकर किसान-मजदूर का जीवन बर्बाद किए हुए हैं।

'एक भीषण अन्याय' यह भी है कि कुछ सोचते हैं कि समाज को राजनैतिक सुधारों से ठीक-ठाक किया जा सकता है। जबकि अन्याय यह है जिस जमीन के टुकड़े पर वह जन्मा है उसका उपयोग वह नहीं कर सकता। भू-स्वामियों ने जबरन जमीन पर कब्जा कर लिया है—जन तो भूस्वामी की गुलामी करने को विवश है। देहातों में गुलामी की बुरी स्थिति है और निर्धनता का तांडव। सवाल वहाँ यह है कि परिवार जिएँ कैसे? वे सेठ-साहूकारों-भूस्वामियों के गुलाम हैं। हेनरी जार्ज कहते थे कि मनुष्य पहले एक जानवर है—जमीन का जानवर। उसने जमीन के लिए दास-प्रथा को विकृत रूप दिया है। इधर औद्योगिक गुलामी आदमी की आजादी को मार रही है। क्या विडंबना है कि पूरी दुनिया में श्रमजीवी सबसे गरीब है, दरिद्र है। लंदन, पेरिस, न्यूयार्क में श्रमजीवी सबसे खराब घरों में रहते हैं एवं आलसी-कपटी, हृदयहीन बुद्धिजीवी महलों में मौज उड़ाते मिलते हैं। बेकारों की बहुतायत श्रम पर कम पैसा दिलाती है। जबकि सभी को पता है कि दरिद्रता ईश्वर की देन नहीं है। टॉल्सटॉय मानते हैं कि 'तमाम सामाजिक प्रश्नों के मूल में हमारी जमीन की व्यवस्था मुख्य है।' कुप्रथाओं-विकृतियों से मनुष्य ने जो लड़ाई लड़ी है वह अधूरी और अपर्याप्त है—ज्यादातर परंपरागत अन्याय मौजूद हैं। इंग्लैंड के हेनरी ज़ार्ज ने अन्यायों की प्रथाओं को मिटाने का प्रयत्न किया? किंतु हुआ क्या, इंग्लैंड तो आयरलैंड पर ही चढ़ बैठा। यूरोप-अमेरिका ने समाजवादी असेंबलियों, महासंघ बनाए और हुआ क्या? दरिद्र और तबाह हुआ। समाचार पत्रों की स्वाधीनता का ढोल पीटा गया—किंतु रोग की दवा नहीं मिल सकी। पूँजीवाद और तगड़ा हुआ तथा उपनिवेशवाद तो अनियंत्रित साँड़ हो गया। देखिए न, 'यूरोप के इन परोपकारियों का पोषण करनेवाले असली लोग हिंदुस्तान, अफ्रीका और आस्ट्रेलिया के वे मजदूर हैं, जिन्हें वे देख नहीं पाते।' हम भलाई के नाम पर लोगों के रक्त की अंतिम बूँद तक निचोड़ रहे हैं। लाखों लोग सतत यातना के शिकार हैं। इसलिए यूरोप के 'परोपकारवाद' का अर्थ सड़ गया है। पहले धर्म के नाम पर लाखों मार डाले, अब विज्ञानवाद की आड़ में लाखों का शिकार हो रहा है। इस समाज-व्यवस्था में उल्टी

गंगा बह रही है। इटली के मैजिनी समाज-व्यवस्था में सुधार के लिए धार्मिक आंदोलनों का स्वप्न देख रहे हैं। वे भूल रहे हैं—भू-स्वामी वर्ग और दास प्रथा को। इसलिए हर महान विचार धूल चाट रहा है।

'जमीन का बँटवारा' कैसे हो। जमीन की अलग-अलग किस्में हैं। उपजाऊ जमीन और बंजर जमीन का संबंध उपज से जुड़ा है। फिर जमीन पर काम करनेवाले मजदूर का कब्जा होगा या बलवान मालिक का? मज़दूर-किसान को जमीन मिले तो वह गाँव छोड़कर शहर के कारखानों-मिलों में मरता क्यों फिरे। 'मालिकों का कर्तव्य', कौन तय करेगा और कैसे? शराबियों-शूकरखोरों, मांस-मक्खन खानेवाले शोहदों को कौन रोकेगा? वे न धर्म से डरते हैं न ईश्वर से, न सरकार से। सरकारी नौकरी सेवा नहीं रही, 'वेतन' बन गई है। सत्य पर पर्दा पड़ा है—क्या हो? इस अंधकार के समय में 'मज़दूर क्या करें?' वृद्ध टॉल्सटॉय ने लिखा—"मैं अब अधिक दिन जीनेवाला नहीं हूँ और मरने से पहले मैं मजदूरों को बता देना चाहता हूँ कि मैंने उनकी पददलित-अवस्था के संबंध में क्या सोचा है और वे किन उपायों के द्वारा अपने को आजाद कर सकते हैं। शायद जो कुछ मैंने सोचा है (मैंने बहुत सोचा है) वह मजदूरों के लिए उपयोगी साबित हो जाए। संभवत: मैं यह रूस के श्रमजीवियों को लक्ष्य करके लिख रहा हूँ। कारण, मैं उन्हीं के बीच रहता हूँ और दूसरे देशों के मजदूरों की अपेक्षा उन्हें ज्यादा अच्छी तरह जानता हूँ। किंतु मुझे आशा है कि मेरे कुछ विचार अन्य देशों के मजदूरों के लिए भी बेकार साबित न होंगे।" (वही, भाग-2, पृ० 345)

टॉल्सटॉय ने यह उपदेश दिया कि हिंसा का मुकाबला हिंसा से मत करो—ऐसा करना गाँठ को और भी कस देना है। हिंसा से मजदूरों की दशा बिगड़ जाती है। किसानों-मजदूरों को जमीन चाहिए—वेतन बढ़ाने से समस्या का हल नहीं होता। जैसे मछली पानी के बिना नहीं जी सकती, वैसे ही किसान खेती के बिना जी नहीं सकता। श्रमजीवी को कारखानों की समाजवादी शिक्षा बदलती है—वह समस्या का हल नहीं सुझाती है। इंग्लैंड, बेल्जियम, अमेरिका में कल-कारखानों में काम करनेवाले श्रमजीवियों की हालत बिगड़ी है और वे अब खेती अपनाने लायक नहीं रहे। हाँ, जरूरत है कि खेती पर व्यक्तिगत मिल्कियत खत्म हो तो अन्याय रुकेगा। हड़तालों से काम नहीं चलेगा—मालिक उसको समाप्त करने का रास्ता निकाल लेते हैं। जंगली कानून और भ्रष्टाचार पनपता है। मजदूर की दशा सुधारने का एकमात्र रास्ता है भू-स्वामियों से जमीन को मुक्त करते हुए उसे मजदूरों में ईमानदारी से वितरित किया जाए। टॉल्सटॉय ने कहा, "मेरी तुमको सलाह है कि अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिए दंगों, क्रांतियों और समाजवादी हलचलों द्वारा शासक वर्ग से

लड़ाई मत ठानो, बल्कि अपने जीवन को सुधारो।'' तुम सत्य को पहचानो और वही तुमको मुक्ति देगा। हिंसा से मुक्ति नहीं मिलेगी।

प्रश्न उठता है कि श्रमजीवियों—किसानों के 'उद्धार का उपाय' क्या है? 'दूसरों से जिस व्यवहार की आशा रखते हो, वही तुम उनके साथ भी करो। बाइबिल का यह सिद्धांत वाक्य 'सभ्य-संस्कृति' के लिए है, उस संस्कृति के लिए नहीं जो बर्बर व्यक्तिवाद पर आधारित हो—जिसमें पूँजीपति श्रमजीवी का अधिकाधिक श्रम हड़पना चाहता है और हड़पता भी है। श्रमजीवियों से जमीन हड़पकर संपत्तिशास्त्रियों ने उस पर स्थायी कब्जा कर रखा है। इस तरह श्रमजीवी हर तरह से धनवानों का गुलाम है—चाहे खेत में काम करे या कल-कारखानों में। यदि खेती करने की सुविधा मिल जाती है तो टैक्स देना पड़ता है या तीन-चार साल फौज में नौकरी करती पड़ती है। इस तरह श्रमजीवी शक्तिहीन-पददलित है जो रोटी के लिए कुचला जाता है। बुद्ध और कन्फ्यूशियस, यहूदी धर्माचार्य हिलेल और ईसा करुणा-दया की बातें करते रहे पर श्रमजीवी को चैन नहीं मिला। मुट्ठी भर लोग सुख से रहे बाकी तबाह। पढ़े-लिखे धनवानों ने ईश्वर की उपेक्षा की और विज्ञानवादी दल में मिल गए। बाइबिल का नियम 'किसी को मारो मत' ठुकरा दिया गया। आत्म-शुद्धि का मार्ग छोड़कर शिक्षित ईश्वर में विश्वास नहीं करता और वह केवल मार्क्स आदि साम्यवाद के प्रवर्तकों को मानता है। टॉल्सटॉय मानते हैं कि श्रमजीवियों के लिए हिंसा का मार्ग न केवल गलत है बल्कि घातक है और श्रमजीवियों की गुलामी का मूलाधार यही है। अत्याचार से छुटकारा पाने का उपाय है—अपने भीतर धार्मिक भावनाओं का विकास। इस तरह टॉल्सटॉय कई कोणों में से मार्क्स और साम्यवाद का विरोध करते हैं और मार्क्सवादी हिंसा-सिद्धांत से सख्त नफरत।

'सत्ता बनाम स्वतंत्रता' का प्रश्न सामने आते ही उन्हें कविवर शैली का यह कथन याद आता है कि ''संसार में सबसे घातक भूल यह हुई कि राजनीति शास्त्र और नीतिशास्त्र को अलग-अलग समझा गया। टॉल्सटॉय ने 'श्रमजीवी क्या करे' निबंध में कहा कि श्रमजीवी बाइबिल का आदेश माने कि मनुष्यों को दूसरे के साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए जैसा वह दूसरों से अपने लिए चाहता है। इस प्रस्ताव की बुद्धिजीवी अव्यावहारिक-अलौकिक कहकर निंदा करते हैं। धर्म-नैतिकता-ईश्वर के नाम पर निष्क्रिय बनकर बैठना अनुचित है। 'पाशविक स्वतंत्रता' का अंत कहाँ है और सामाजिक आदर्श से क्या तात्पर्य? केवल जीवन को व्यवस्था के बदलने से पथ मिल सकता है क्योंकि सत्ता कोई ईश्वरीय वस्तु नहीं है जिसे बदला न जा सके। लेकिन यह बदलाव अराजकतावादियों के हथियारों से नहीं आना चाहिए। क्योंकि अराजकतावादी सत्ता रहित समाज के पक्षधर हैं और एक-दूसरे की

स्वतंत्रता पर आक्रमण करते हैं। मार्क्सटर्नर और मि० टकर जिस उपयोगितावाद और व्यक्तिवाद की स्थापना करना चाहते हैं उसमें सामूहिक न्याय का सिद्धांत ही गायब है। क्रांतिकारी समाजवादी प्रवृत्तियाँ हिंसा-झूठ का आश्रय लेती हैं। मनुष्य बिना एक-दूसरे को सताए समाज में रह सके इसके लिए पशु-बल की आवश्यकता नहीं है। अहिंसामय स्वतंत्रता से भरा समाज मानव को चाहिए। इस कार्य के लिए पुराना हिंसावादी तंत्र ढहाना होगा ताकि मनुष्य आत्म-शुद्धि का नैतिक मार्ग अपनाकर आगे बढ़ सके।

'समाजवाद' पर टॉल्सटॉय ने बहुत ठंडे दिमाग से विचार किया है और पाया है कि निर्दय विषमताएँ ही समाज के लिए अभिशाप हैं। यदि मैं अपने भाई से प्रेम करता हूँ तो उसके लिए बैठक खाली करने में संकोच न करूँ। हमें भोग-विलास की सभ्यता छोड़कर ईश्वर की ओर बढ़ना होगा लेकिन ज्यादातर लोग सामंती मानसिकता के व्यक्तिवादी हैं। समाजवादी चिंतन संपत्ति को, राष्ट्र को मानवता की संपत्ति बनाकर असमानता-विषमता को मिटाने का 'आदर्श' रखता है। लेकिन व्यक्तिवादी इसे क्यों मानेंगे? उनके हित टकराते हैं, सत्ता छिनती हैं, रोब-रुतबा कम होता है—उन्हें तो सेवा-श्रम के लिए गुलाम चाहिए। व्यक्तिवाद की मूल प्रवृत्ति ही समाजवाद की शत्रु है और वह समता-सिद्धांत में विश्वास नहीं करती। इसलिए ईसाई समाजवाद असफल है और मार्क्स का साम्यवाद संशय में लिपटा हुआ है। समाजवादी कहते हैं—''संस्कृति और सभ्यता की जो सामग्री हमको मिली हुई हैं, उसको छोड़ना हमारे लिए आवश्यक नहीं है। यह भी आवश्यक नहीं है कि हम असंस्कृत जन-समुदाय की सतह पर पहुँच जाएँ। हम भी चाहते हैं कि जो लोग सांसारिक सुख-साधनों से वंचित हैं, उनको अपनी सतह पर ले आएँ और सभ्यता तथा संस्कृति के वरदानों में उनको साझीदार बनाएँ। विज्ञान की सहायता से हम यह कार्य संपादित कर सकते हैं। विज्ञान हमको प्रकृति पर विजय प्राप्त करने का मार्ग बताता है। उसके द्वारा हम प्रकृति की उत्पादन शक्ति को बहुत बढ़ा सकते है।'' (वही, भाग-2, पृ० 394) विज्ञान के नाम पर प्रकृति को दुहने, रौंदने, दासी बनाने की इस हिंसावादी नियत से टॉल्सटॉय कहीं भी, कभी भी सहमत नहीं हैं। इसलिए टॉल्सटॉय चिंतन और समाजवादी चिंतन में गहरे मतभेद पनपते रहे हैं। उनके विचार में स्थायी क्रांति तो केवल एक ही हो सकती है और वह है नैतिक अर्थात् मनुष्य की आत्मा का पुनरुद्धार हो। टॉल्सटॉय के इन विचारों से मार्क्सवादी भड़कते हैं और उनसे दूर तक असहमति जाहिर करते हैं।

अराजकतावादी कहते हैं कि वर्तमान व्यवस्था मान्य नहीं हो सकती। सत्ता अपने क्रूर करों से हिंसा करती है अतः सत्ता को जड़ से उखाड़ना होगा। फिर

"पूँजीपति संगठन श्रमजीवियों के हाथ में चला जाएगा। उस समय इन श्रमजीवियों का उत्पीड़न बंद हो जाएगा और धन का असमान विभाजन भी न होगा।" किंतु प्रश्न है कि "उस समय काम के साधन अर्थात् कल-कारखाने कौन स्थापित करेगा और उनकी व्यवस्था कौन करेगा।" क्या यह सब अपने-आप होने लगेगा। श्रमजीवी स्वयं सब व्यवस्था कर लेंगे। फिर सोचने की बात है—"पूँजीवादी-संगठन कायम ही इसलिए हुए हैं कि हर किस्म के असली काम के लिए सत्ताधारी संचालकों अथवा व्यवस्थापकों की आवश्यकता अनुभव की गई। यदि कल-कारखाने होंगे तो सत्ताधारी संचालक और व्यवस्थापक भी रहेंगे। और जहाँ सत्ता होगी, वहाँ उसका दुरुपयोग भी होगा अर्थात् जिस बात को आप रोकना चाहते हैं, वह होकर रहेगी।" इस जटिल प्रश्न का सीधा उत्तर नहीं है। सही प्रश्न का गलत उत्तर दिया जा सकता है लेकिन गलत प्रश्न का सही उत्तर क्या हो। अंत:करण, विवेक और प्रेम मानव के सर्वोच्च गुण हैं लेकिन पशु-स्वभाव उन्हें पलट देता है। वस्तुत: अंत तक टॉल्सटॉय अहिंसा-प्रेम के सिद्धांत पर अटल रहे और किसी भी हिंसावादी सिद्धांत का समर्थन नहीं किया।

लियो टॉल्सटॉय की एक बहुत प्रसिद्ध पुस्तक है—'दी स्लेवरी ऑव अवर टाइम'। इस पुस्तक का अनुवाद बैजनाथ महोदय ने 'हमारे जमाने की गुलामी' शीर्षक से किया है। यह पुस्तक क्या है—ज्ञान का भंडार है। इसमें पंद्रह लेख हैं। पहला लेख है—'हमारे जमाने की गुलामी'। असल में गुलामी से मुक्ति दिलाने का संग्राम टॉल्सटॉय जीवन-भर एक अपराजेय योद्धा की तरह लड़ते रहे। यह सोचते रहे कि "उच्च वर्गों के लोगों की औसत उम्र करीब पचपन वर्ष होती हैं और अस्वास्थकर सेवा करनेवाले मजदूरों की उनतीस वर्ष। इस यथार्थ सत्य से हम आँखें नहीं मूँद सकते हैं।" अमीर लोग गरीब के श्रम का उपयोग करते हैं और कभी-कभी उनके कष्ट से दु:खी भी हो जाते हैं। रेल मजदूर प्राण लगाकर काम करते हैं, रेशम मिलों में आकर लड़कियाँ काम करती हैं और बच्चों का जीवन नष्ट करती हैं, धोबिन क्षयी होकर मर जाती हैं, अखबारों के कंपोजीटर इस भीषण रोग के शिकार होकर जीवन से हाथ धो बैठते हैं। भरे हृदय से ऋषिवर टॉल्सटॉय ने कहा है कि "ज्यों ही उन गरीब मजदूरों का सवाल हमारे सामने आता है, हम एकदम आश्चर्यजनक रीति से अंधे हो जाते हैं। बेचारे मजदूर, अनेक यातनाएँ भोगकर, परिश्रम करके बरबाद होते रहते हैं और हम उस परिश्रम का फल अपने भोग-विलासों में लगाते हैं, आनंद करते हैं।" (वही, भाग 2, पृ० 406)

क्या हो दुराचारी अपने दुराचार का समर्थन न करने के लिए तत्त्वज्ञान का आविष्कार कर लेते हैं। 'वर्तमान-पद्धति का विज्ञान द्वारा समर्थन' ऐसा ही दुराचार

है जो यह व्याख्या करके समझाता है कि गुलाम गुलाम ही रहेंगे। नए अर्थशास्त्री अपनी दलीलों से निर्दय मालिकों के साथ हैं—फलत: सर्व-साधारण को विज्ञान ने अंधा बना दिया है। 'यंत्रालय' श्रमजीवी को देहात से खींचकर शहर में लाता है और मुक्ति का आश्वासन देकर गुलाम बनाता है, उनकी जीवन लय तोड़ देता है। मजदूर कलाई पर घड़ी बाँधकर बीड़ी-सिगरेट, शराब पीता है और चरित्र तथा 'स्वाधीनता' गिरवी रख देता है। अर्थशास्त्री उनकी वेतन वृद्धि के गीत गाते हैं और उन प्रश्नों से मुँह चुराते हैं जो श्रमजीवी को बरबाद कर रहे हैं। पूँजीपतियों ने किसानों की जमीनें छीनकर इन्हें भिखारी बना दिया है। मार्क्स के इस विचार का टॉल्सटॉय समर्थन करते हैं। साम्यवादी तो सबसे अधिक आगे बढ़े हुए अर्थशास्त्री माने जाते हैं। वे उत्पादन के साधनों पर समाज का प्रभुत्व स्थापन कर देना चाहते हैं। वे तमाम योजनाएँ श्रमजीवी अधिकारों को लेकर बनाते हैं—लेकिन होता कुछ नहीं। वही ढाँक के तीन पात रहते हैं। नाराज होकर टॉल्सटॉय ने 'साम्यादर्श का दिवाला' कैसे निकला—क्यों निकला? इस पूरी स्थिति पर विचार किया है। वे कहते हैं—"अत: यह कथन नितांत भ्रमपूर्ण है कि साम्यवाद के आदर्श युग में प्रत्येक व्यक्ति-स्वतंत्र होगा, और उसे वे सब चीजें अपने उपयोग और उपभोग के लिए मिलती रहेंगी जो आज केवल धनी लोग ही खरीद और काम में ला सकते हैं।" वैज्ञानिक तथा संपन्न लोग अधिक सुधारों की हवा बाँधते हैं—'सुधार अथवा स्वाधीनता' के अंग रेल-तार, छाया-चित्र, छापाखाने आदि हैं। वैज्ञानिकों का विश्वास है कि सुधार कल्याणकारी वस्तु है—हर जगह सुधार की तूती बोल रही है। प्रश्न है कि रेलें, प्रमोद वन, नृत्य शालाएँ, प्रदर्शनियाँ, थिएटर हमारा क्या उपकार करेंगे? अपनी स्वाधीनता की बलि चढ़ाकर मनुष्य ने यह जो वैज्ञानिक प्रगति की है उसका उपयोग ऐसे करना होगा कि 'स्वाधीनता' नष्ट न हो, प्रकृति का विनाश न हो और प्रकृति पर आधिपत्य स्थापित करनेवाले आविष्कारों का सही उपयोग हो। विज्ञानवाद ने बिजली, प्रदर्शनी, रंग-कला, महीन वस्त्र उद्योग आदि से जो संसार लंदन और पीटर्सबर्ग में पैदा किया था उससे टॉल्सटॉय को बड़ी 'एलर्जी' थी।

उन्हें आधुनिक-सभ्यता के विलासी पूँजीवादी तंत्र की स्थिति को देखकर यह विश्वास हो गया था कि 'प्रकृति' और श्रमजीवी को बचा पाना बड़ा कठिन है। 'गुलामी की जड़ हमारे भीतर है। कोई विदेशी देहाती मास्को आता है जो कहता है—यहाँ कुछ लोग समृद्ध हैं बाकी ठंड से ठिठुर रहे हैं। मालिक और गुलाम का फर्क कम नहीं हुआ है। पूरे नवजागरण की जागृति ने तमाम नारों के बावजूद गरीब को अन्याय-अनीति से मुक्ति नहीं दी। दुर्भाग्य यह है कि अल्संख्यक हाथों में बहुसंख्यक लोग जकड़े हुए हैं। प्रश्न काफी पेचीदा है कि 'गुलामी क्या है?' रूस,

यूरोप और अमेरिका के मजदूर आदतें बिगाड़कर विलासी हो गए हैं। उनकी बढ़ी हुई अतृप्त कामनाएँ उन्हें गुलामी में धकेलकर खुश हैं। विज्ञान ने मजदूरों की इच्छाएँ बढ़ा दी हैं और यह इच्छाएँ उन्हें सपने दिखा रही हैं। सरकार जमीन, जायदाद और कर संबंधी कानून बनाकर श्रमजीवियों को पूँजीपतियों के अधीन रहने पर मजबूर कर रही है। मनुष्य के बनाए कानून गुलामी को रंग दे रहे हैं—वे इन्हें न्याय प्रतीत होते हैं। संपत्ति अर्थात् जमीन-कारखाना और श्रम की लूट का नाम है और 'गुलामी की जड़ कानून' है। वही मजदूरों की स्वाधीनता को छीनता है। परिणाम होता है—हिंसा में वृद्धि। वस्तुतः सुसंगठित हिंसा कानूनों की जननी है। न जाने कितने नए कानून बनाए जाते हैं और उनसे सत्ता को लाभ होता है। इसलिए 'सरकारें क्या हैं?' श्रमजीवियों की दुर्दशा का कारण और यह भय कि इन सरकारों के न रहने से अव्यवस्था फैल जाएगी। कई बार—भय दिखाया जाता है कि व्यवस्था न रही तो जापान या चीन हमें अपने अधीन कर लेंगे। इस तरह झूठ बोला जा रहा है ताकि सत्ता के लोग फायदा उठाते रहें। एक-एक भूस्वामी के पास हजारों एकड़ जमीन-जंगल पड़ा है और गरीब के पास तापने को लकड़ी नहीं है। क्या करें? 'सरकारें कैसे उठाई जाएँ?' जबकि पता है गुलामी जड़ कानून है। इन कानूनों को हिंसा से खत्म नहीं किया जा सकता। क्योंकि वे और हिंसक हो जाते हैं—और श्रमजीवी को पीटकर दबा दिया जाता है। फिर यक्ष प्रश्न वही बचता है—'सरकारें कैसे उठाई जाएँ?' सरकारें डाकू राज हैं और श्रमजीवी को यातना देना उनका धर्म।

यह सोचना कि 'प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य क्या है?' जरूरी है। इसलिए कि जन-साधारण गुलामी का आदी हो गया है, उनकी मति पलट गई है। टॉल्सटॉय 'अंतिम कथन' में पूरे विश्लेषण-विमर्श के साथ इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पुराना पुराण गुलामी को बरकरार रखता है और नया साम्यवादी सोच, क्रांतिकारी अराजकतावादी विचार-न्याय के नाम पर 'अहिंसा' से दूर है। केवल एक कोलाहल है जिसमें शुद्धता-पवित्रता अंतरात्मा की आवाज को स्थान नहीं है। अहिंसा ही बुराइयों को खत्म करने का रामबाण उपाय है। यही उपाय गांधी ने टॉल्सटॉय से पाया था।

यहाँ 'मेरी मुक्ति की कहानी' पुस्तक टॉल्सटॉय की आत्मकथा है जिसमें उनका पूरा जीवन-संघर्ष एक जीवन-प्रेरणा के रूप में उपस्थित है। रामनाथ 'सुमन' और परमेश्वरीदयाल विद्यार्थी के अनुवाद में कथा की औपन्यासिकता का अपना आनंद बरकरार है। सन् 1950 में टॉल्सटॉय ने 'बचपन' नामक एक अद्भुत कथात्मक कहानी लिखी। उनकी अपनी योजना में 'बचपन' के बाद 'किशोरावस्था', 'युवावस्था' और 'कच्ची उम्र' उपन्यास के चार चरण आनेवाले थे। इसका उद्देश्य

था—जीवन के प्रत्येक चरण की लाक्षणिक विशेषताओं को पैनेपन से उजागर करना। टॉल्सटॉय ने इस उपन्यास को छोटे भाई की आत्मकथा के रूप में लिखने की योजना बनाई थी। उनका इरादा कथा को भावनाओं, आर्थिक परिस्थितियों के साथ विज्ञान की ओर ले जाना था। टॉल्सटॉय के अनुसार बचपन की भावनाओं में हार्दिकता रहती है और किशोरावस्था में शंका, आत्मविश्वास, अनुभवहीनता तथा अपने गर्व का प्रभुत्व। वे 'कच्ची उम्र' की कहानी कभी नहीं लिख सके और 'युवावस्था' अधूरी रह गई। लेकिन उनका यह विचार-सूत्र सामने आ गया कि 'जीवन विकास ही है' और मनुष्य का जीवन तो विकास की ऊँची उठान है। इस दर्शन के कारण टॉल्सटॉय का अपना जीवन सत्य की खोज, ईमानदारी, किसान-मजदूर के शोषण की व्यथा कथा से भरा नैतिक जीवन रहा। 'आत्मकथा' लिखते समय वे दोनों तरह के दिमागों का प्रयोग करते हैं—बुद्धि द्वारा चालित दिमाग और हृदय द्वारा चालित दिमाग। इन दोनों की विशेषताएँ हैं—भावुकता, लगाव, संवेदनशीलता, गहन मंथन और व्यापक मानवीय सहानुभूति। उनका विश्वास था कि जो कृतियाँ दिल की गहराई से लिखी जाती हैं वे बुद्धि-प्रधान कृतियों से ज्यादा प्रभावी होती हैं। कहना न होगा कि उनकी आत्मकथा 'मेरी मुक्ति की कहानी' हृदय-रस की गहरी पकड़ का सबूत देती है।

टॉल्सटॉय जीवन-सौंदर्य के सृजनात्मक चित्रण में बड़े ही प्रवीण हैं। 'बचपन' की कहानी उनकी आत्मकथा नहीं है लेकिन अपने अस्तित्व में आत्मकथा जैसी है—जिसमें संस्मरण घुल गए हैं। स्मृतियाँ उन्हें आत्मा की नवस्फूर्ति प्रदान करती हैं और ऊँचा उठाकर उल्लास के एक स्रोत से अक्षय ताजगी प्रदान करती हैं। ये स्मृतियाँ इतनी काव्यात्मकता लिए हुए हैं कि इन्हें भुला पाना असंभव हैं। 'मेरी मुक्ति की कहानी' के छपते ही पत्र-पत्रिकाएँ उसकी चर्चा से पट गई हैं और टॉल्सटॉय एक अपूर्व नायक बन गए। क्योंकि इसमें आत्मा की गहराई से आनेवाली नैतिक भावना की निष्कलंक शुद्धता मौजूद मिलती है। वे मनुष्य में जो सबसे अच्छा है, उदात्त है उसके निरूपण में तन्मयता दिखाते हैं इसलिए कहीं भी विचार का टुच्चापन नहीं है।

'मेरी मुक्ति की कहानी' का आरंभ नाटकीय ढंग से हुआ—"मेरी बपतिस्मा और पालन-पोषण ईसाई मत में हुआ था। मुझे बाल्यावस्था तथा किशोर व युवावस्था में इसी मत के धार्मिक विश्वासों की शिक्षा-दीक्षा दी गई थी। परंतु जब मैं अठारह साल की उम्र में यूनिवर्सिटी निकला तो जो बातें मुझे सिखाई-पढ़ाई गई थीं, उनमें से किसी बात पर मेरा विश्वास न रह गया था।" इसलिए विश्वास नहीं रह गया था कि प्रश्नाकुल अर्थ-मीमांसा, तत्त्व-मीमांसा उनके स्वभाव में जन्मजात थी। "जहाँ तक मुझे याद पड़ता है कह सकता हूँ कि मुझे जो कुछ पढ़ाया-सिखाया गया था

और मेरे इर्द-गिर्द के बड़े-बूढ़े लोग जिन बातों को मानते थे, उन पर मेरा पक्का विश्वास कभी नहीं था, फिर भी मैं उन पर भरोसा करता था; परंतु मेरा यह भरोसा डाँवाँडोल था।'' इसलिए कि उनमें विचार-मंथन चलता था और विचार-मंथन झकझोरता है—हृदय की तीसरी आँख खोल देता है। यह आँख तभी खुल गई जब उन्हें ग्यारह वर्ष में एक छात्र ने बतलाया कि नई खोज यह है कि ईश्वर नाम की कोई चीज नहीं है। हम लोगों को जो सिखाया जाता है वह सब काल्पनिक है। उन्हें यह भी याद है कि उनके भाई दमित्री यूनिवर्सिटी में पढ़ रहे थे और धर्म की ओर झुक रहे थे तो उनको व्यंग्य में लोग 'नूह' कहते थे।

''मैं अपने बड़े-बूढ़ों की इन मजाकों में रस लेता था और इससे यह निष्कर्ष निकाला कि प्रश्नोत्तर पाठ (धर्म की पुस्तक और गिरजे में जाना जरूरी है। बचपन में वाल्टेयर को पढ़ा और धर्म में अनास्था बढ़ी। स्कूल में धार्मिक पुस्तकें पढ़ाई जाती थीं और विद्यार्थी गिरजा भेजे जाते थे। सरकारी अफसरों को 'कम्यूनियन' प्राप्त करने का प्रमाण-पत्र पेश करना पड़ता। उन्हें एक 'एस' के आदमी ने यह कहानी सुनाई कि कैसे वह नास्तिक बना।'' फिर टॉल्सटॉय ने दार्शनिक ग्रंथ पढ़े, गिरजाघर जाना बंद कर दिया। लेकिन वे अपने को ईश्वर के विश्वास से मुक्त न कर सके। यह भी इच्छा जागृत हुई कि दूसरों से अधिक प्रसिद्ध, अधिक महत्त्वपूर्ण तथा धनी बनूँ। ''अपनी संपूर्ण आत्मा से मैं अच्छा बनना चाहता था लेकिन जब मैंने अच्छा बनने की कोशिश शुरू कि तो मैं जवान था, वासनाओं का दास था और अकेला था—बिल्कुल अकेला। जब-जब मैंने नैतिक रूप से भला बनने की कोशिश की तब-तब हर बार मेरा उपहास किया गया और व्यंग्य किए गए। आकांक्षा, शक्ति से प्रेम, कामुकता, लंपटता, घमंड, क्रोध और प्रतिहिंसा सबकी इज्जत की जाती थी। वासनाओं ने झुका दिया था लेकिन बुआ जिसके साथ वे रहते थे—बहुत ऊँचे चरित्र की थीं। लेकिन उनकी भी इच्छा थी कि किसी विवाहित स्त्री से मेरा संबंध हो जाए। जवान आदमी को बनाने में कोई चीज उतना काम नहीं करती जितनी एक कुलीन महिला से घनिष्ठता काम करती है। मेरे लिए दूसरा सुख वह यह चाहती थी कि मैं किसी एडीकांग (किसी सेनापति या प्रतिष्ठित अधिकारी का अंगरक्षक) और संभव हो तो साम्राट का एडीकांग बनूँ। पर सबसे बड़ा सुख तो उन्हें इस बात से होगा कि मैं किसी अत्यंत धनी कन्या से विवाह कर लूँ जिससे मेरे पास दासों की ज्यादा-से-ज्यादा संख्या हो जाए।'' (वही, भाग 2, पृ० 461)

स्मृति में काल का अश्व दौड़ा करता है। तभी तो टॉल्सटॉय कहते हैं—''बिना त्रास, घृणा और हृदय वेदना के मैं उन सालों का ख्याल नहीं कर सकता। मैंने लड़ाई में आदमियों का वध किया, मैंने लोगों का वध करने के लिए उनको द्वंद्व युद्ध में

ललकारा, मैंने जुआ खेला, उसमें हारा, मैंने किसानों से बेगार ली, और उन्हें सजाएँ दीं, बुरे आचरण किए और लोगों को धोखा दिया। मिथ्याभाषण, लोगों को लूटना, हर तरह का व्यभिचार, मद्यपान, हिंसा, खून—मतलब कोई ऐसा अपराध नहीं था जिसे मैंने न किया हो और मजा यह कि इन सब कामों के लिए लोग मेरी तारीफ करते थे और मेरे जमाने के आदमियों ने मुझे और लोगों के मुकाबले में सदाचारी व्यक्ति समझा और समझते हैं। दस साल तक मेरा यही जीवन था।'' टॉल्सटॉय ने अपने हर सुकर्म-सुकर्म को खोलकर रख दिया। यही इस आत्मकथा की शक्ति है और यही शक्ति गांधी की आत्मकथा में मिलती है। इसी शक्ति के कारण दोनों ही विश्व के महान आत्मकथाकारों में गिने जाते हैं।

लेखक कैसे बने टॉल्सटॉय? क्या प्रेरणा थी? ''इसी समय मैंने अहंकार, लोभ और अभिमानवश लिखना शुरू किया। मैंने अपनी रचनाओं में वही किया जो मैं अपनी जिंदगी में करता था। प्रसिद्धि और धन प्राप्त करने के लिए मैं लिखता था और उसके लिए अच्छाई को छिपाना और बुराई का प्रदर्शन जरूरी था। मैंने यही किया। न जाने कितनी बार मैंने अपनी रचनाओं में उदासीनता अथवा उपहास के जामे में अपनी भलाई की तरफ जानेवाली उन प्रेरणाओं को छिपाने और दबाने की कोशिश की, जिनसे मेरे जीवन की सार्थकता थी।''

टॉल्सटॉय छब्बीस-सत्ताईस वर्ष की उम्र में लड़ाई के बाद पीटर्सबर्ग लौटे और रचनाकारों-कलाकारों से मिले। रचनाकारों का विचार था कि जीवन विकसित होता रहता है। इस विकास में विचार-प्रधान आदमी खास हिस्सा लेते हैं। फिर विचार-प्रधान आदमियों में भी कवि-कलाकारों का अधिक प्रभाव पड़ता है। वे मनुष्य जाति को शिक्षा देते हैं और अप्रकट रूप से शिक्षा देते हैं। टॉल्सटॉय की प्रसिद्धि तो थी ही—वे कवि-कलाकार के जोश में थे और उनके पास धन-स्त्री-मकान-यश सबकुछ था। अनुभव से उन्होंने पाया था कि धर्माचार्य और पुरोहित दुराचारी और अपवित्र हैं। उन्हें तो पता ही नहीं कि पवित्रता किस चिड़िया का नाम है। लेकिन टॉल्सटॉय में रचनाकार का गर्व था और असाधारण घमंड तथा मूर्खतापूर्ण विश्वास। इस सनक में खूब लिखा, खूब छपवाया। पता ही नहीं था जीवन में अच्छाई क्या है—बुराई क्या है—रचनाकार का पागलपन सवार था। किताबों और अखबारों में लिखने का नशा। जिससे बाद में उनका पूरी तरह मोह भंग हुआ।

''इस तरह के पागलपन में मैंने छह साल और बिता दिए—यानी तब तक जब तक मेरी शादी नहीं हो गई। इस अवधि में मैं विदेश गया। यूरोप में मेरा जैसा जीवन रहा उससे और प्रमुख यूरोपीय विद्वानों से मेरा जो परिचय हुआ उससे मेरा यह विश्वास और दृढ़ हो गया कि पूर्णता के लिए कोशिश करनी चाहिए।'' 'प्रगति' में

बहे-थमे और किनारे लगे। पेरिस में एक आदमी की फाँसी को देखकर कलेजा काँप गया। 'प्रगति' से हटकर 'मैं' अपनी अंतरात्मा की ओर बढ़ा। विदेश से लौटकर वे देहात में बस गए। किसानों के स्कूल में काम किया। एक असाध्य समस्या जागी— 'क्या शिक्षा दी जाए?' अंतरात्मा कहती कोई शिक्षा नहीं दे सकते क्योंकि आदमी को मुक्ति चाहिए। किसानों की मुक्ति का साल 1861 में नया ज्ञान पाया—पत्रिका निकालकर किसानों को शिक्षित करना शुरू किया—'पंच' बना दिए गए। एक साल तक वे पंचायत-पत्रिका-स्कूल में व्यस्त रहे—बीमार पड़े, कूमाज पीने लगे, लेकिन अंतरात्मा के अंदर उठनेवाले प्रश्नों को लेकर लिखना जारी रखा। कुटुंब सेवा के बाद मन फिर पूछने लगा, "यह जीवन किसलिए है? यह कहाँ ले जाता है? मैंने पाया ये बचकाने नहीं गंभीर सवाल हैं।" गोगल, पुश्किन, शेक्सपियर, मौलियर को प्रसिद्धि से क्या मिला? उनसे ज्यादा प्रसिद्ध हो जाऊँ तो भी क्या? इस तरह टॉल्सटॉय भीतर-ही-भीतर जूझते रहे और द्वंद्वग्रस्त भी। प्रश्न-ही-प्रश्न और उनके उत्तर नदारत। कठिन यातनाग्रस्त टॉल्सटॉय पाते कि जीवन निरर्थक है।

इस ईश्वरीय ज्योति का विकास करने के लिए मनुष्य को अपनी वासनाओं का दमन करना होगा और प्रेमवृत्तियुक्त अहिंसा दर्शन की वृद्धि। सभी धर्मों के सिद्धांतों का आदर ही टॉल्सटॉय की धर्म-दृष्टि का मूल है। उन्हें ध्यान रहा कि बौद्ध-दर्शन-धर्म ईश्वर को नहीं मानता, न ईश्वर की व्याख्या करता है—लेकिन बुद्ध के मौन मानव तादात्म्य का सिद्धांत है जो वस्तुत: आदि कारण है और जिसे यहूदी धर्म, ईसाई धर्म, मुस्लिम धर्म में ईश्वर के नाम से संबोधित किया गया है।

जनता को गुलामी और शोषण से सच्चे धर्म के द्वारा ही मुक्त किया जा सकता है। सुधारने का एक मात्र तरीका है—समाज का आंतरिक नैतिक विकास। धर्म को सदाचार बनना चाहिए और इंद्रजाल से दूर रहकर ही उसमें परिवर्तन किया जा सकता है। हिंसा के स्थान पर प्रेम और सेवा से ही मानव को बड़ा किया जा सकता है, तोपों-फौजों से नहीं। सरकारें धर्म के पाखंड की रक्षा करती हैं ताकि सत्ता बनी रहे और जनता दमन को सहती रहे। लेकिन यहूदी-धर्म की प्रसिद्ध लोकोक्ति है कि 'मनुष्य की आत्मा परमात्मा का दीपक है।' जब तक यह ज्योति जलती नहीं है तब तक वह एक कमजोर प्राणी है लेकिन जब वह ज्योति जलने लगती हैं तो वह शक्तिशाली प्राणी बन जाता है—"वह उसकी निज की शक्ति नहीं, बल्कि परमात्मा की शक्ति होती है।" टॉल्सटॉय के इन विचारों का गांधी पर गहरा प्रभाव पड़ा है। हालाँकि भारतीय संत-चिंतन के लिए टॉल्सटॉय के विचार नए नहीं हैं, केवल उनका धर्म-भाष्य नया है।

टॉल्सटॉय ने धर्म और नैतिकता पर विचार किधा है। यह विचार उन्होंने जर्मनी

की एक नैतिकता प्रसारक संस्था के प्रश्नों का उत्तर देने के लिए किया था। प्रश्न था—(1) 'धर्म से आप क्या समझते हैं? (2) धर्म का आप जो अर्थ करते हैं, उससे पृथक क्या कोई नैतिकता हो सकती है? इन प्रश्नों के उत्तर में टॉल्सटॉय ने कहा कि धर्म शब्द की आमतौर पर तीन भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ की जाती हैं। पहली परिभाषा के अनुसार धर्म परमात्मा की ओर से मनुष्य का एक खास और सच्चा मार्ग-दर्शन है। दूसरा यह कि धर्म पूजा-पाठमय अंधविश्वासों से भरा पाठों का संग्रह है और तीसरी परिभाषा है कि उन विधि-विधानों का संग्रह है—जिनका बुद्धिमान लोगों ने आविष्कार किया है। मूल बात यह कि धर्म एक अचूक सत्य है। उसे अंधविश्वासों से मुक्त करना आवश्यक है और वह संस्कृतिवान पुरुषों का अस्त्र तभी बन पाता है जब वह 'साधारण' को शक्ति देता है। दरअसल, तीनों परिभाषाओं में धर्म के असली तत्त्व की व्याख्या नहीं है—क्योंकि धर्म तो सत्य में श्रद्धा है। किंतु प्रश्न उठता है यह श्रद्धा है क्या? प्रकृति भी मूल शक्तियों की पूजा चौदहवीं शताब्दी के शुरू से ही कैथोलिक प्रोटेस्टेंड और रूसी-यूनानी धर्मों का खंडन मिलता है। फिर यह माना गया कि प्रकृति की अज्ञात शक्तियों से उत्पन्न भय, काल्पनिक देवताओं में विश्वास और उनकी पूजा में धर्म का तत्त्व निहित है। लेकिन इस धर्म-चिंतन का न्यूटन आदि अनेक विद्वानों ने खंडन किया और कहा कि अपनी क्षुद्रता की अनुभूति में धर्म का अंश है—धर्म तो बौद्धिक जागृति है। अत: धर्म को अनंत-अखंड शक्ति जोड़कर ही समझा जा सकता है।

उन्हें एक अदृश्य प्रेरणा धकेलकर कहीं और ले जा रही थी। पचास वर्ष की उम्र—नेक पत्नी, बड़ी जमींदारी, अच्छे बच्चे, समाज में आदर, नाम की प्रसिद्धि—लेकिन अथाह मानसिक बेचैनी। पूरब की एक कहानी जिसमें कई सफेद चूहे एक टहनी को काट रहे हैं—नीचे कुएँ में अजगर—मौत निश्चित है। भारत की इस कहानी से टॉल्सटॉय को जीवन का सत्य मिला। कला-कविता-सफलता-प्रशंसा से जीवन चल पड़ा। कला के दर्पण से जीवन का दर्शन बड़ी चीज है—अंधकार और प्रकाश का खेल मनोरंजक है। चूहे काट रहे हैं फिर भी उन्हें जीवन के शहद की मिठास खींच रही थी।

टॉल्सटॉय का संबंध ज्ञान की विविध शाखाओं से रहा—विभिन्न विद्वानों, वैज्ञानिकों से रहा। बहुत दिनों तक उन पर विज्ञान की धाक रही लेकिन एक दिन उन्होंने पाया कि विविध प्रश्नों के हल विज्ञान के पास नहीं हैं। वे उदास हुए और आत्महत्या की सोचने लगे—वे सभी प्रश्न उठे जो एक मूर्ख व्यक्ति के मन में उठते हैं। प्रयोगात्मक-विज्ञान कहता है प्रत्येक वस्तु जटिलता और पूर्णता की ओर बढ़ती है एवं स्वयं विकसित होती है। उन्हें शरीरविज्ञान, मनोविज्ञान, जीव-विज्ञान,

समाज-विज्ञान में मानव जीवन के जटिल प्रश्नों के उत्तर नहीं मिले और जो उन्हें मिले उनसे संतोष नहीं हुआ। 'मैं क्या हूँ' और 'जगत क्या है' का ठीक उत्तर दर्शनशास्त्र के पास भी नहीं मिला—"जीवन के प्रश्नों के उत्तर की खोज में मुझे ठीक वही अनुभव हुआ जो जंगल में रास्ता भूल जानेवाले आदमी को होता है।" इस तरह वे मानवीय ज्ञान के जंगल में भटकते रहे। 'मेरे जीवन का अर्थ क्या है?' उत्तर 'कुछ नहीं' है। केवल इतना उत्तर कि मनुष्य असीम का अंश है। टॉल्सटॉय को सुकरात, शापेनहावर के कथन याद आते रहते हैं और गोचर जगत के संकल्पों का मूल पता नहीं लग पाता। सुलेमान का चिंतन, कभी गौतम बुद्ध का चिंतन याद आता है और संदेश मिलता है विषयशक्ति छोड़ो। इस तरह विचार-प्रपंच में पड़कर वे आत्महत्या नहीं कर सके।

सभी तर्क उलझन में डालते हैं और संदेह बुद्धि की एकाग्रता भंग करते हैं। अविवेकी प्रसन्न हैं और विवेकी असंतुष्ट, चिड़चिड़े। पंडित और विद्वान सभी तर्क के जाल में भ्रमित घूम रहे हैं—काल, कारण और आकाश के सिवाय जीवन का क्या अर्थ? डिकॉर्ट कहता है ज्ञान तो संदेह के साथ शुरू होता है, इसलिए श्रद्धा संवलित व्यक्ति ज्ञान को अस्वीकार करता है। शॉपेनहार बराबर कहते रहे हैं जीवन का कोई अर्थ नहीं है। बौद्धिक ज्ञान अतार्किक ज्ञान नहीं है लेकिन सच यह है मनुष्य तर्क से नहीं श्रद्धा से जी पाया है—असीम और ससीम के बीच संबंध है—यह भी श्रद्धा का विषय है। तर्क तो 'असीम' से विश्वास उठाता है, यह तर्क का बौद्धिक आधार है। लेकिन ईश्वर, आत्मा, धर्म, अस्तित्व, पाप, पुण्य, नैतिकता ये सभी असीम से जुड़ी अवधारणाएँ हैं जिनके बिना जीवन अधूरा है। उन्हें अनुभव हुआ कि सुलेमान, सुकरात और शापेनहावर का साथ देना मूर्खता है। श्रद्धा से मानव ने जो उत्तर पाए हैं उसमें असीम-ससीम का ज्ञान संचित है। इस विश्वास को लेकर टॉल्सटॉय बौद्ध और इस्लाम के साहित्य में प्रवृत्त रहे तथा इनके साथ ईसाई धर्म की तुलना की। इस तुलनात्मक ज्ञान से उनमें 'आत्मा' का ज्ञान जागृत हुआ। ईसा के द्वारा विश्व के जो मुक्ति सिद्धांत थे—धर्मवेत्ताओं, पादरियों के जो कथन थे उनका मनोमंथन किया किंतु इस धर्मवाद को वे स्वीकार नहीं कर सके। फिर पाया नास्तिक तो वासनाओं तथा आकांक्षाओं के लिए जीते हैं, वह जीवन पशुवत है अतः वे आस्तिक बुद्धि से धर्म की ओर झुके रहे। फलतः वे दीन-हीन,अशिक्षित आस्तिकों, किसानों की ओर आकृष्ट हुए—जनता की ओर लौटे। ईसाई-धर्म के सत्य में लिपटे अंधविश्वासों से उनका मन विद्रोह कर उठा—भाग्यवाद से छूटे। कर्मवाद की ओर बढ़े। साधारण जन से टॉल्सटॉय ने प्रेम करना सीखा और श्रमिक लोगों का जीवन सच्चे अर्थ से भरा दिखाई दिया। "मैंने समझा यही जीवन है और इस जीवन से प्राप्त होनेवाला

अर्थ ही सच्चा है: और मैंने इसे स्वीकार कर लिया।" (वही, भाग-2, पृ० 503) विषयासक्त जीवन विचार का अंधापन लाता है और परान्नजीवी होना ही पाप है। ईश्वर की खोज में तर्क नहीं है अनुभूति है जबकि वे विश्वास करते थे कि ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करना असंभव है फिर भी विश्व भर का मानव ईश्वर प्राप्ति की चेष्टा में लगा रहा। वे अपने से जूझकर पूछते रहे—जीवन का क्या हेतु, क्या प्रयोजन। ईश्वर की खोज और अंतर्बोध-अंतर्धारणा यह सब कहाँ से आया? ईश्वर में विश्वास का अंत अर्थात् जीवन-शक्ति का अंत। उस विराट की अनुभूति में उल्लास तो है। इस अनुभूति के कारण वे निराशावाद-नियतिवादी से छूट गए। ईश्वर, नैतिकता और पूर्णता में उनका विश्वास दृढ़ होता गया।

वे अपने उच्च वर्ग से दूर हट गए—वैभव-संपन्नता का नशा झाड़ दिया—श्रमजीवी में ईश्वर को पाने लगे। ईश्वर से ही आत्मा का दिव्य प्रकाश पाया कि सब कुछ ईश्वर देता है, धर्म के कर्मकांड झूठे पाखंड हैं, चर्च गुमराह करता है—वह मानव को ईश्वरीय सत्य प्राप्त नहीं होने देता। प्रेम से मानव को जीना नहीं सिखाता, फलतः अपने लक्ष्य से गिर जाता है। रविवार के दिन ईसामसीह सूली पर पुनर्जीवित हो उठे थे, रूस में रविवार को 'रीजेक्शन डे' कहा जाता है। क्रिसमस को छोड़कर शेष ग्यारह त्यौहार चमत्कार की स्मृतियाँ एक बार 'यूकारिस्ट' (ईसा के भोज का प्रसाद) में धर्म का अनुभव पाया। किंतु वे असंतुष्ट ही रहे। किंतु उन्होंने सनातन ईसाई संप्रदाय को नहीं छोड़ा। वहाँ अनेक तरह के कैथोलिक, प्रोटेस्टेंट, ओल्ड विलीवर्स तथा मोलोकस (कर्मकांड की अनेक विधियों के विरोधी) सभी के पास गए पर जिज्ञासाओं का अंत नहीं हुआ। एक दिन ऐसा मोह भंग हुआ कि टॉल्सटॉय ने सनातनी चर्च-संप्रदाय को छोड़ दिया।

टॉल्सटॉय के मित्र पी० बीरूकोव ने जब उनकी जीवनी लिखने का काम अपने ऊपर लिया तो जीवन की भीतरी जरूरी बातें जाननी चाही। इस जीवन-विवरण में उन्होंने अच्छाइयों से ज्यादा बुराइयों को स्थान दिया। वे उन्हीं दिनों बीमार पड़ गए। 1902 के वर्ष में लंबी बीमारी से ठीक हुए। उनके मन में तमाम स्मृतियों ने द्वार खटखटाए। 6 जनवरी, 1903 की डायरी में लिखा, "इस समय मैं नरक की यातनाओं का अनुभव कर रहा हूँ। अपने पिछले जीवन की सभी बुराइयाँ मुझे याद आ रही हैं, ये स्मृतियाँ मेरे जीवन को विषाक्त बना रही हैं।" (वही, भाग 2, पृ० 527) बचपन की स्मृतियाँ, किशोर काल की भयावह स्मृतियाँ, तीसरे काल यौवन की स्मृतियाँ और चौथे काल की स्मृतियाँ—जिसमें उनकी आँखें खुलीं और सत्य को पहचाना। टॉल्सटॉय अपनी आत्मकथा लिखने का संकल्प कभी पूरा नहीं कर सके। उनके कुछ संस्मरण 1878 में प्रकाशित हुए जिसकी आंशिक चर्चा लियो टॉल्सटॉय :

प्रतिनिधि रचनाएँ—भाग-2 में 'मेरे संस्मरण' शीर्षक से की जा रही है ताकि पाठक समुदाय उनके जीवन की थोड़ी-सी अंतर्यात्रा का सुख ले सकें। टॉल्सटॉय दादी-दादा के साथ अपने पूरे परिवार के सुख-दु:ख पर प्रकाश डालते हैं। नाना-नानी का वृत्तांत भी विस्तार से कहते हैं—कैसे उनके नाना राजकुमारी कैथरीन से विवाह करके उन्हीं की जागीर यास्नाया पोल्याना में रहने लगे। नाना सौंदर्य-प्रेमी थे तथा दासों के साथ मृदु व्यवहार में कुशल। उनकी माँ को अच्छी शिक्षा-दीक्षा नाना ने दिलवाई थी और वह चार भाषाएँ जानती थीं। टॉल्सटॉय पाँच भाई-बहन थे और संतान पैदा करते समय ही माँ की मृत्यु हुई थी। पिता घर पर खेती का कार्य करते थे और उनके पास अपना पुस्तकालय था जिसमें फ्रांस का उच्च कोटि का साहित्य था और मूल्यवान इतिहास के ग्रंथ। पढ़ने के शौकीन पिता को विज्ञान से अधिक प्रेम न था। वे बालक टॉल्सटॉय से पुश्किन की कविताएँ पढ़वाया करते थे, इस तरह बचपन की अनेक स्मृतियाँ टॉल्सटॉय के पास थीं। लेकिन माता-पिता के साथ उन पर बुआ टाशियाना का गहरा प्रभाव पड़ा। बचपन में घर पर अर्द्ध-विक्षिप्त साधुओं का असर भी रहा और नौकरों में नटाल्या का प्रभाव भी पड़ा। फिर फौज के अनुभवों के बाद वे किसान-मजदूर में ईश्वर के दर्शन पाकर संत हो गए।

जीवन के अंतिम अनुभवों में वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि "चर्च और विज्ञान के मिथ्यावाद ने ही आज हमें उस गड्ढे में डाल रखा है जिसमें हम हैं। युगों में महीने और वर्ष में एक भी दिन ऐसा नहीं जाता, जिसमें फाँसियाँ—हत्याएँ न होती हों। कुछ आदमी क्रांतिकारियों की अपेक्षा सरकार द्वारा अधिक आदमी वध किए जाने पर प्रसन्न होते हैं। अन्य लोग बहुत से सेनापतियों, व्यापारियों तथा पुलिसवालों के मारे जाने पर प्रसन्न होते हैं।" (वही, भाग 2, पृ० 576) टॉल्सटॉय का संदेश है कि उन आदमियों से मत डरो जो शरीर का नाश करते हैं बल्कि उनसे डरो जो शरीर और आत्मा दोनों का नाश कर देते हैं। हर प्रकार की हत्या पाप है—उससे बचना चाहिए। ईश्वर प्रेम-दया-अहिंसा का नाम है, वह आत्मा की पवित्रता में विश्वास करता है।

दरअसल, 'मेरी मुक्ति की कहानी' टॉल्सटॉय की क्रमबद्ध आत्मकथा नहीं है, यह आत्मकथात्मक संस्मरणों की कृति है। आत्मकथात्मक अंशों में वे अपनी असलियत खोलकर रख देते हैं, कितना ही लज्जाजनक प्रसंग हो—वे उसे छिपाने में विश्वास ही नहीं रखते। फिर वे केवल अपनी व्यथा-कथा, प्रशंसा-ख्याति का वर्णन-पहाड़ खड़ा नहीं करते—'अन्य' को, सर्वसाधारण को, समाज को साथ लेकर चलते हैं। इसलिए इन आत्मकथा के प्रसंगों में व्यक्ति से ज्यादा समाज है और देश और काल का इतिहास। वे खुले मन से अपनी आध्यात्मिक जिज्ञासाओं और नैतिक

मान्यताओं पर विस्तार से 'विमर्श' प्रस्तुत करते हैं। उनकी स्मृति का देश, स्मृति का परिवेश और स्मृति का देश-काल बहुत ही रचनात्मक शैली में पाठकों के सामने आया है और उसमें झूठ का नाटक नहीं है—सत्य के स्वर्ग का निवास है। इसलिए पाठक टॉल्सटॉय के चिंतन-मनन और सृजन की त्रिवेणी में स्नान करके तरोताजा हो जाता है और भीतर से महसूस करता है कि आज भी गांधी की तरह ही टॉल्सटॉय हम सभी के लिए प्रासंगिक हैं।

मुझे विश्वास है कि टॉल्सटॉय की इन कृतियों में मनुष्यता की उच्चतम विचार-भूमि का पवित्र निवास है। टॉल्सटॉय की यह अद्‌भुत विशेषता है कि वे निबंध हो या आत्मचरित, अपने 'निज' से बाहर निकलकर सहज रूप में परकाय प्रवेश कर जाते हैं। आज का विश्व उनके चिंतन का ऋणी है और हम भारतीय तो उनके प्रति अपार श्रद्धा रखते हैं। इस श्रद्धा का एक प्रधान यह भी है कि हमारे राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने उन्हें अपना गुरु माना है और उनकी प्रेरणा ने गांधी को जीवन के कई सत्यों से साक्षात्कार कराया है। दूसरे, आज के उत्तर-आधुनिक समय में हम भारतीयों की स्मृति पर चौतरफा आक्रमण हो रहा है। ऐसे मूल्य-मूढ़ समय में टॉल्सटॉय ही हमारी नई पीढ़ी को प्रकाश दे सकते हैं।

22 अक्टूबर, 2009

कृष्णदत्त पालीवाल
प्रोफेसर एवं पूर्व विभागाध्यक्ष
हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली

अनुक्रम

भूमिका	**07**	141	रुपया मूल्य का मापदंड नहीं
हम करें क्या ?	**39**	147	दासता के तीन रूप
मास्को के भिखमंगे	41	159	अव्यावहारिक अर्थशास्त्र
अनाथालय में	45	169	अब मैं समझा
उन्हें उबारना चाहा	51	175	दूसरों के श्रम का शोषण क्यों ?
प्रारंभिक जाँच-पड़ताल	57		दूसरों के रक्त से सनी
दरिद्रों के दुर्ग में	61	179	हमारी रंगरलियाँ
तो यह सब भ्रम था !	65		हम देखते और देखकर समझते
कुलीन कंगाल	69	191	क्यों नहीं ?
बेचारी वेश्याएँ	72	200	श्रेष्ठता का मिथ्या अहंकार
निराश्रित बालक	79	208	भयंकर भ्रम
घोर निराशा	81	215	श्रम से बचने के बहाने
मेरी परोपकारिता का अंत	87	220	मानव-समाज की वैज्ञानिक व्याख्या
असफलता क्यों ?	91	226	कॉम्टे की साकारवादी विचारधारा
गाँवों पर शहर की विलासिता		235	श्रम-विभाजन की भ्रामक धारणा
का प्रभाव	96	241	बुद्धिजीवियों के थोथे वचन
बीच की दीवार	103	246	पथभ्रष्ट वैज्ञानिक और कलाकार
तो दोषी हम ही हैं !	110	248	क्या विज्ञान और कला जनता के
हमारे शोषण का जाल	116		लिए नहीं हैं ?
दासत्व का मूल कारण—रुपया	121	259	झूठा दावा
फ़ीजी द्वीप की करुण कहानी	129	260	विज्ञान और कला की प्राचीनता

कष्ट-सहन बिना सच्ची सेवा असंभव 268
तब फिर हम क्या करें ? 275
सारी मुसीबतों की जड़ संपत्ति 294
स्त्रियों का कार्यक्षेत्र 309
बुराई कैसे मिटे 319
मानव-समाज में शोषण 321
काम का बँटवारा 321
एक भीषण अन्याय 325
जमीन का बँटवारा 340
मालिकों का कर्तव्य 341
मजदूर क्या करें ? 345
उद्धार का उपाय 363
सत्ता बनाम स्वतंत्रता 373
समाजवाद 388
अराजकतावाद 397
तीन उपाय 400
हमारे ज़माने की गुलामी 403
हमारे ज़माने की गुलामी 405
वर्तमान पद्धति का विज्ञान द्वारा समर्थन 406
यंत्रालय—1 408
यंत्रालय—2 411
साम्यादर्श का दिवाला 413
सुधार अथवा स्वाधीनता 417
गुलामी की जड़ हमारे भीतर है 419
गुलामी क्या है ? 422
जमीन, जायदाद और कर-संबंधी कानून 423
गुलामी की जड़—कानून 428
सुसंगठित हिंसा कानूनों की जननी है 430
सरकारें क्या हैं ? 433
सरकारें कैसे उठाई जाएँ ? 438
प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य 446
अंतिम कथन 451
मेरी मुक्ति की कहानी 455
मेरी मुक्ति की कहानी 457
भूमिका 526
मेरे संस्मरण 530

हम करें क्या

अनुवादक
बांके बिहारी भटनागर

मास्को के भिखमंगे

मेरा जीवन देहात में बीता था, इसलिए सन् 1881 में जब मैं मास्को रहने आया, तो वहाँ की गरीबी देखकर अचंभे में रह गया। देहात की दरिद्रता से तो मैं परिचित था; किंतु शहर की गरीबी मेरे लिए एक बिल्कुल नई अनुभूति थी, जिसकी मैंने पहले कभी कल्पना तक नहीं की थी।

मास्को में आप चाहे किसी भी सड़क से होकर निकलें, आपको भिखारी अवश्य मिलेंगे। ये भिखारी देहात के भिखारियों-जैसे नहीं होते। उनकी तरह ये झोली लिए, ईसा के नाम, पर भीख नहीं माँगते। इनके पास न झोली होती है और न ये हाथ ही पसारते हैं। जब आप इनके सामने या पास से होकर निकलते हैं तो साधारणतः ये आपकी आँख-से-आँख मिलाने की चेष्टा करते हैं और फिर आपके मुख पर अंकित भाव को ताड़कर यदि उचित समझते हैं तो भिक्षा माँगते हैं, नहीं तो नहीं माँगते।

इस प्रकार के भद्र-वर्ग के एक बूढ़े भिखारी को मैं जानता हूँ। वह धीरे-धीरे, हर कदम पर झुकता हुआ, चलता है। आपके सामने पड़ने पर वह एक टाँग पर झुक जाता है और ऐसा मालूम होता है जैसे वह आपको सलाम कर रहा हो। इस भावभंगी को देखकर यदि आप ठिठक जाते हैं तब तो वह अपनी फुँदनीदार टोपी उतारकर आपको दुबारा सलाम करता है और पैसे माँगता है; किंतु यदि आप नहीं ठिठकते तो वह उसी तरह झुकता हुआ चलता रहता है और यह दिखाने का उपक्रम करता है कि वह चलता ही इस ढंग से है। वह मास्को के शिक्षित भिखारी-वर्ग का एक सच्चा नमूना है।

पहले मैं समझ नहीं सका कि ये भिखमंगे सीधे-सादे ढंग से खुलकर भीख क्यों नहीं माँगते? बाद में कारण तो मालूम हो गया, किंतु उनकी स्थिति फिर भी ठीक से समझ में नहीं आई।

एक दिन जब मैं एक गली से होकर जा रहा था, मैंने देखा कि पुलिस का एक सिपाही जलोदर रोग से पीड़ित एक फटेहाल किसान को एक खुली गाड़ी में बैठा रहा है। मैंने पूछा, ''इसे क्यों पकड़े लिए जा रहे हो?''

"भीख माँगता था।"

"क्या भीख माँगना मना है?"

"खयाल तो ऐसा ही है।"

और यह कहकर पुलिसवाला जलोदर के उस रोगी को गाड़ी में बैठाकर चलता बना। एक दूसरी गाड़ी में बैठकर मैं भी उनके पीछे हो लिया। मैं यह जानना चाहता था कि क्या भीख माँगना सचमुच वर्जित है और अगर है तो उसे रोकने के लिए क्या युक्ति काम में लाई जाती है। यह बात मेरी समझ में बिल्कुल नहीं आती थी कि एक आदमी को किसी दूसरे आदमी से कुछ माँगने से कैसे रोका जा सकता है। मुझे यह भी विश्वास नहीं होता था कि भीख माँगना सचमुच मना है, क्योंकि मास्को में भिखमंगे-ही-भिखमंगे दिखलाई पड़ते थे।

मैं थाने पहुँचा, जहाँ पुलिसवाला उस भिखारी को ले गया था। वहाँ एक आदमी पिस्तौल और तलवार लिए मेज के पास बैठा था। मैंने उससे पूछा, "यह किसान क्यों गिरफ्तार किया गया है?"

उस आदमी ने मेरी ओर कठोरता के साथ देखते हुए पहले तो कहा, "आपको इससे क्या मतलब?" किंतु बाद में यह सोचकर कि मुझे कुछ समझाना चाहिए, वह बोला—

"अफसरों का हुक्म है कि इस तरह के लोग पकड़ लिए जाएँ, इसीलिए हमें इन्हें पकड़ना पड़ता है।"

मैं बाहर चला आया। पुलिसवाला, जो भिखारी को पकड़कर लाया था, दहलीज़ में खिड़की की चौखट पर बैठा उदास भाव से अपनी नोटबुक देख रहा था। मैंने पूछा, "क्या यह सच है कि भिखारियों को ईसा के नाम पर भीख माँगने की मनाही है?"

पुलिसवाला चौंका। उसने मेरी ओर आँख उठाकर घूरकर देखा और त्यौरी चढ़ाने के बजाए खिड़की की चौखट पर जमकर बैठते हुए लापरवाही के साथ उत्तर दिया, "हाकिमों का हुक्म है, इसलिए ऐसा करना ज़रूरी है।"

यह कहकर वह फिर अपनी नोटबुक पढ़ने में लग गया। मैं बाहर बरसाती में गाड़ीवान के पास चला गया।

मेरे पहुँचने पर गाड़ीवान ने मुझसे पूछा, "क्या हुआ? क्या उन्होंने उसे बंद कर दिया?"

स्पष्टत: उसे भी इस मामले में दिलचस्पी थी।

"हाँ, बंद कर दिया।" मैंने उत्तर दिया। इस पर गाड़ीवान ने सिर हिलाया, मानो उसे यह बात अच्छी नहीं लगी।

मैं बोला, "क्यों भाई, तुम्हारे इस मास्को में ईसा के नाम पर भीख माँगना मना क्यों है?"

"भगवान् जाने!"

"ऐसा क्यों होता है? कंगले तो ईश्वर को प्यारे होते हैं। फिर क्यों यह आदमी पकड़कर कोतवाली भेज दिया गया?"

"आजकल यही क़ानून है। भीख माँगना मना है।"

इसके बाद मैंने कई बार पुलिसवालों को भिखारियों को पकड़कर पहले किसी थाने में और फिर वहाँ से कामघर ले जाते हुए देखा। एक बार मैंने एक सड़क पर इस तरह के भिखमंगों की एक पूरी टोली-की-टोली देखी, जिसमें लगभग तीस भिखमंगे रहे होंगे। उनके आगे-पीछे पुलिसवाले चल रहे थे। मैंने उनसे पूछा—

"इन्हें क्यों पकड़ा है?"

उत्तर मिला, "भीख माँगते थे।"

बाद में मालूम हुआ कि मास्को में भीख माँगना कानूनन मना है, यद्यपि वहाँ एक भी ऐसी सड़क नहीं, जहाँ झुंड-के-झुंड भिखारी न दिखाई देते हों। प्रार्थना के समय गिरजाघरों के सामने उनकी क़तार-की-क़तार खड़ी रहती है और दाह-संस्कारों में तो वे पहुँचे बिना रहते ही नहीं। किंतु यह बात मेरी समझ में कभी नहीं आई कि क्या कारण है कि कुछ भिखारी तो पकड़ लिए जाते हैं और कुछ स्वच्छंद फिरते रहते हैं। या तो कुछ भिखारी क़ानूनी और कुछ ग़ैरक़ानूनी होते हैं, या उनकी संख्या इतनी अधिक होती है कि सबको पकड़ना संभव नहीं हैं; या फिर यों कहिए कि जैसे ही कुछ भिखारी पकड़े जाते हैं वैसे ही दूसरे उनकी जगह आ धमकते हैं।

मास्को में सब तरह के भिखारी हैं। कुछ तो ऐसे हैं, जिन्होंने भीख माँगने को पेट पालने का धंधा बना लिया है; और कुछ ऐसे हैं जो सचमुच निराश्रित हैं और किसी-न-किसी कारण से विवश होकर मास्को में आ पड़े हैं। इस दूसरी श्रेणी के भिखमंगों में बहुत-से सीधे-सादे किसान हैं—स्त्री और पुरुष दोनों—जो किसानों-जैसे ही कपड़े पहने रहते हैं। ये मुझे अक्सर मिलते हैं। इनमें से कुछ लोग ऐसे हैं, जो मास्को आकर बीमार पड़ गए थे और बाद में अस्पताल से बाहर निकलने पर उनके पास न पेट पालने का कोई साधन रह गया, न वे मास्को से बाहर जाने में ही समर्थ रहे। कुछ को शराब पीने की भी लत पड़ गई है, जैसे उस जलोदर के रोगी को। कुछ ऐसे हैं, जो बीमार तो नहीं है, किंतु जिनका या तो सबकुछ जलकर भस्म हो गया है, या जो बूढ़े हैं, अथवा बाल-बच्चेवाली स्त्रियाँ हैं। इनके अलावा कुछ ऐसे भी हैं जो खूब हट्टे-कट्टे और काम करने के योग्य हैं।

इन हृष्ट-पुष्ट किसान-भिखमंगों में मुझे विशेष दिलचस्पी पैदा हो गई थी।

कारण, मास्को आने के बाद से मैंने स्वास्थ्य की दृष्टि से दो किसानों के साथ पहाड़ी पर जाकर काम करने की आदत डाल ली थी। ये दोनों किसान वहाँ लकड़ी चीरने का काम करते थे और बिल्कुल उन भिखारियों जैसे थे, जो मुझे सड़कों पर मिला करते थे। एक का नाम पीटर था। वह कालूगा का रहनेवाला एक सैनिक था। दूसरे का नाम सेमन था और वह ब्लाडीमीर का एक किसान था। इनके पास तन के कपड़ों और दो भुजाओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। अपनी भुजाओं से खूब श्रम करके वे प्रतिदिन चालीस-पचास कोपेक[1] कमा लेते थे। इस कमाई में से वे कुछ बचा भी लेते थे। पीटर भेड़ की खाल का एक कोट खरीदना चाहता था और सेमन गाँव वापस जाने के लिए पैसे जमा कर रहा था। इन्हीं लोगों की जान-पहचान का यह फल था कि जब कभी मैं सड़कों पर उनके—जैसे दूसरे लोगों को भीख माँगते देखता तो उनकी ओर मेरा ध्यान विशेष रूप से आकर्षित हो जाता और मेरे मन में यह प्रश्न उठता—क्या कारण है कि ये दोनों तो काम करते हैं, और इनके ही-जैसे अन्य व्यक्ति भीख माँगते फिरते हैं?

जब कभी मैं सड़क पर इस तरह के किसी किसान-भिखमंगे से मिलता तो उससे साधारणतः यही प्रश्न करता, "तुम्हारी यह दशा कैसे हुई?" एक बार मुझे एक हट्टा-कट्टा किसान मिला, जिसकी दाढ़ी सफेद होनी शुरू हो गई थी। उसने मुझसे भीख माँगी। इस पर मैंने उससे पूछा, "तुम कौन हो और कहाँ रहते हो?"

उसने बताया, "काम की तलाश में मैं यहाँ कालूगा से आया था। पहले मुझे एक जगह लकड़ी फाड़ने का कुछ काम मिल गया था; पर जब मैंने और मेरे साथी ने मिलकर वहाँ की सारी लकड़ी फाड़ डाली तब हमें नए काम की चिंता हुई; लेकिन काम नहीं मिला। मेरा साथी मुझे छोड़कर चला गया और अब पंद्रह दिन से मैं काम की तलाश में धक्के खाता फिर रहा हूँ। इस बीच मेरे पास जो कुछ था, मैंने बेच खाया और अब कुल्हाड़ी या आरा खरीदने के लिए मेरे पास फूटी कौड़ी तक नहीं है।"

मैंने उस आदमी को आरा खरीदने के लिए पैसे दिए और यह भी बताया कि अमुक स्थान पर आने पर काम मिल सकता है। पीटर और सेमन से मैंने पहले ही बात कर ली थी। वे अपने साथ एक आदमी और रख लें और उसके जोड़ के लिए एक मजदूर तलाश कर दें।

"तो फिर जरूर आना, वहाँ काफी काम है।" मैंने चलते-चलते कहा।

1. *दस-ग्यारह पेंस, अर्थात् नौ-दस आने। कोपेक तांबे का एक रूसी सिक्का है, जो अंग्रेजी पेनी के चतुर्थांश, अर्थात् एक पैसे से भी कम के बराबर होता है।*

"हाँ-हाँ, जरूर जाऊँगा। किसी को भीख माँगना अच्छा थोड़े ही लगता है! मैं काम कर सकता हूँ।"

इस प्रकार उस आदमी ने शपथ लेकर आने का पक्का वचन दिया और मुझे ऐसा लगा कि वह सच्चे हृदय से कह रहा है और काम पर आना चाहता है।

दूसरे दिन जब मैं पीटर और सेमन के पास गया तो मैंने उनसे पूछा कि वह आदमी आया था या नहीं। मालूम हुआ कि वह नहीं आया था। इसी तरह कई और लोगों ने भी मुझे धोखा दिया।

मुझे कुछ ऐसे लोगों ने भी ठगा, जिन्होंने कहा तो यह कि उन्हें घर जाने के लिए केवल रेलभाड़े की आवश्यकता है, किंतु जिन्हें एक सप्ताह के बाद ही मैंने फिर सड़क पर भीख माँगते देखा। उनमें कितनों को मैं पहचानता था और वे भी मुझे पहचानते थे; किंतु कभी-कभी भूलवश वे मेरे पास आ जाते और फिर वही पुराना पचड़ा सुनाने लगते। कुछ मुझे देखकर उलटे पाँव लौट भी जाते।

इन बातों से मुझे यह तो मालूम हो गया कि इस श्रेणी के लोगों में भी बहुत-सी धूर्त हैं; परंतु मुझे उन पर बड़ी दया आती थी। उनके पास तन ढँकने को पूरे कपड़े तक नहीं थे और वे बिल्कुल कंगले, दुबले-पतले तथा बीमार थे। ऐसे ही लोगों के सर्दी से ठिठुरकर मर जाने या फाँसी लगा लेने के समाचार हमें अखबारों में पढ़ने को मिलते हैं।

अनाथालय में

जब कभी मैं मास्को-निवासियों से नगर की इस भीषण दरिद्रता की चर्चा करता तो वे कहते, "ऊँह, अभी तो आपने कुछ भी नहीं देखा। ज़रा खित्रोफ़ बाजार जाकर वहाँ की सरायों को देखिए। भिखमंगों की असली 'सुनहरी टोली' तो आपको वहाँ देखने को मिलेगी।"

इस पर एक मसखरे ने कहा कि उनकी टोली अब टोली ही नहीं रह गई है, बल्कि एक पलटन बन गई है। उसकी बात सही थी; लेकिन अगर वह यह कहता कि मास्को में भिखमंगों की टोली या पलटन ही नहीं, बल्कि एक पूरी सेना बन गई है तो यह और भी सही होता। मैं समझता हूँ कि वहाँ कुल मिलाकर पचास हजार से कम भिखारी न होंगे।

मास्को के बूढ़े निवासी जब कभी शहर की गरीबी की चर्चा करते तो उन्हें इस प्रकार का हर्ष होता, मानो उन्हें अपने ज्ञान का अभिमान हो। मुझे याद है कि जब मैं

लंदन में था तब वहाँ के लोग भी लंदन की कंगाली का वर्णन अभिमान के साथ किया करते थे।

जिस दरिद्रता के संबंध में मैंने इतनी बातें सुनी थीं, उसे मैं अपनी आँखों से देखना चाहता था। कई बार मैंने ख़ित्रोफ़ बाजार की ओर पैर उठाए भी; किंतु हर बार मुझे पीड़ा और लज्जा की अनुभूति होती और मेरी अंतरात्मा से एक आवाज आती, ''जिनकी तुम सहायता नहीं कर सकते, उनकी मुसीबतों को देखने क्यों जाते हो?''

किंतु फिर दूसरी आवाज कहती, ''जब तुम यहाँ रहकर शहर की लुभावनी चीजें देखते हो तो जाओ, उसको भी देखो।''

और एक दिन सन् 1881 के दिसंबर महीने में, जब पाला पड़ रहा था और तेज हवा चल रही थी, मैं शहरी कंगाली के केंद्र ख़ित्रोफ़ बाजार की ओर चल पड़ा। वह काम-काज का दिन था और समय लगभग चार बजे का होगा। थोड़ी दूर निकलते ही लोग मुझे अधिकाधिक संख्या में ऐसे विचित्र कपड़े पहने दिखाई देने लगे, जो निश्चय ही उनके नाप के नहीं थे। उनके जूते तो और भी विचित्र थे। उनके मुख कांतिहीन, बीमारों जैसे थे और उनकी चाल-ढाल कुछ ऐसी थी मानो उन्हें अपने चारों तरफ की दुनिया से कोई सरोकार नहीं।

मैंने देखा कि एक आदमी बहुत ही विचित्र और बेढंगे कपड़े पहने निश्चिंतता के साथ चला जा रहा है और उसे इस बात की बिल्कुल चिंता नहीं कि वह दूसरों को कैसा लगता है। ऐसे जितने भी लोग थे वे सब एक ही दिशा में जा रहे थे। मैं रास्ता नहीं जानता था, फिर भी किसी से पूछताछ किए बिना ही मैं भी उनके साथ हो लिया और ख़ित्रोफ़ बाजार पहुँच गया। वहाँ मैंने देखा कि स्त्रियाँ भी पुरुषों की ही भाँति रंग-बिरंगी टोपियाँ, लबादे, जाकट और जूते पहने हुए हैं और उन्हें भी बेढंगी पोशाक की परवाह नहीं है। क्या बूढ़ी, क्या जवान, सभी या तो बेफिक्री के साथ बैठी हुई कोई सौदा बेच रही थी, या इधर-उधर घूम रही थीं और एक-दूसरी को गालियाँ देती हुई कोस रही थीं। उस समय शायद बाजार उठ चुका था, क्योंकि वहाँ बहुत ही कम आदमी थे और अधिकांश लोग उधर से होते हुए पहाड़ी पर जा रहे थे। मैं उनके पीछे हो लिया और ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता गया, मुझे उसी तरह के लोग अधिकाधिक संख्या में एक ही दिशा में जाते हुए दिखाई दिए।

बाजार से निकलकर जब मैं सड़क पर पहुँचा तो मुझे दो स्त्रियाँ मिली—एक बूढ़ी थी और दूसरी जवान। दोनों भूरे रंग केफटे हुए कपड़े पहने हुए थीं और आपस में किसी विषय पर बातचीत करती जा रही थीं। प्रत्येक आवश्यक शब्द के बाद वे दो-एक अनावश्यक और अश्लील शब्द का प्रयोग किए बिना न रहती थीं। वे नशे में नहीं थीं। हाँ, अपनी बातों में मस्त अवश्य थीं। मुझे तो उनकी बातचीत का यह

ढंग बड़ा ही अटपटा लग रहा था, लेकिन जो लोग उनसे मिलते थे या उनके आगे-पीछे चल रहे थे वे इस पर बिल्कुल भी ध्यान नहीं दे रहे थे। इससे साफ मालूम होता था कि वहाँ के लोग बोलते ही इस ढंग से हैं।

सड़क के बाईं ओर सरायें बनी हुई थीं। कुछ लोग तो उनमें घुस गए और कुछ आगे बढ़ते रहे। पहाड़ी पर चढ़ने के बाद हम कोने के एक बड़े मकान के पास पहुँचे। जिन लोगों के साथ मैं चल रहा था, उनमें से अधिकांश वहीं रुक गए। बर्फ से ढँकी हुई सड़क और पटरी पर भी उसी तरह के लोग खड़े या बैठे थे। प्रवेश-द्वार की दाईं ओर सैकड़ों स्त्रियाँ थीं और बाईं ओर सैकड़ों पुरुष। मैं दोनों के बीच से होकर आगे बढ़ा और जहाँ उनकी कतार समाप्त होती थी वहाँ जाकर रुक गया। जिस मकान के बाहर ये लोग खड़े थे वह ल्यापिन अनाथालय था। वहाँ ये लोग रात के समय मुफ्त सोया करते थे और भीतर जाने की प्रतीक्षा में थे। अनाथालय के द्वार पाँच बजे खुलते थे। रास्ते में मैं जितनों को पीछे छोड़ आया था, वे सब भी धीरे-धीरे वहीं आ गए थे।

पुरुषों की पंक्ति जहाँ समाप्त होती थी, मैं वहीं खड़ा हो गया। जो लोग मेरे बिल्कुल पास थे वे मेरी ओर कुछ इस तरह से देखने लगे कि मेरा ध्यान उनकी ओर बरबस आकर्षित हो गया। उनके तन के चीथड़े तो एक-दूसरे से भिन्न और रंग-बिरंगे थे; किंतु मेरे ऊपर डाली गई उनकी दृष्टियों में बिल्कुल एक-सा भाव था। उनकी आँखे मानो पूछ रही थीं, ''ऐ दूसरी दुनिया के आदमी! तुम हमारे पास क्यों खड़े हो गए? तुम कौन हो? तुम कोई आत्म-संतुष्ट अमीर तो नहीं, जो अपने जीवन की एकरसता को बदलने के लिए हमारी दुर्दशा का मजा लेने आए हो? या तुम हम पर करुणा दिखानेवाले वह मानव हो, जिसका अस्तित्व न इस संसार में है, न कभी हो सकता?''

हरेक के चेहरे पर यही प्रश्न था। उन्होंने मेरी ओर देखा, दृष्टि-से-दृष्टि मिलाई और मुँह फेर लिया। मैं उनमें से कुछ लोगों से बातचीत करना चाहता था; किंतु बहुत देर तक मुझे ऐसा करने का साहस नहीं हुआ। पर मौन रहते हुए भी हम आँखों-ही-आँखों में एक-दूसरे के निकट आ गए। दो-तीन बार नज़र-से-नज़र मिलने के बाद ही हमने महसूस कर लिया कि हमारे जीवन ने हमें एक-दूसरे से चाहे कितना ही अलग क्यों न कर दिया हो, हैं हम एक ही। और इस प्रकार हमारा एक-दूसरे के प्रति भय जाता रहा।

मेरे पास ही एक किसान खड़ा था, जिसका चेहरा सूजा हुआ था और जिसकी दाढ़ी लाल थी। उसका कोट फटा हुआ था और उसने बिना मोजों के ही अपने पैरों में टूटे-फूटे जूते पहन रखे थे, यद्यपि उस समय बड़े जोरों का पाला पड़ रहा था।

मेरी आँखें उसकी आँखों से तीन-चार बार मिलीं और फिर मैंने अपने को उसके इतना निकट अनुभव किया कि मुझे उससे बोलने में नहीं, बल्कि न बोलने में लज्जा मालूम होने लगी। मैंने उससे पूछा, ''तुम कहाँ के रहनेवाले हो?'' उसने इसका तुरंत उत्तर दिया और बातचीत का सिलसिला चल पड़ा। इतने में दूसरे लोग भी हमारे पास खिसक आए। मैं जिससे बातें कर रहा था वह स्मॉलेंस्क का रहनेवाला था और मास्को काम की खोज में आया था। उसे आशा थी कि शहर में जाकर वह इतना कमा लेगा कि उससे अनाज भी खरीद लेगा और टैक्स भी भर देगा।

''लेकिन यहाँ मुझे कोई काम नहीं मिला,'' उस आदमी ने बताया।

''सिपाहियों ने सारा काम ले लिया है,[1] इसलिए मैं मारा-मारा फिर रहा हूँ और भगवान जानता है कि दो दिन से मैंने कुछ नहीं खाया है।''

उसने यह बात बड़ी कातरता के साथ कही और मुस्कराने की चेष्टा की। पास ही स्बिटेन[2] बेचनेवाला एक बूढ़ा सिपाही खड़ा था। मैंने उसे बुलाया और मेरे कहने पर उसने स्बिटेन का एक गिलास भरकर उस आदमी को दिया। किसान ने गिलास को लेकर पहले उस पर अपने हाथ गरमाए। कारण, वह उसकी ज़रा-सी भी गरमी व्यर्थ नहीं जाने देना चाहता था।

हाथ सेकते-ही-सेकते उस किसान ने मुझे अपनी जीवन-कथा सुना डाली। (इन लोगों की जीवन-कथा—कम-से-कम जिस रूप में ये लोग उसे सुनाते हैं—अधिकतर एक-सी होती है)। उसने बताया— पहले मुझे थोड़ा-सा काम मिला था, लेकिन वह पूरा हो चुका और मेरा बटुआ, जिसमें मेरा पासपोर्ट और बचे-खुचे पैसे थे, इसी अनाथालय में चोरी चला गया, जिसके कारण अब मैं मास्को से बाहर जाने में असमर्थ हूँ। दिन में मैं गरम पेय की दुकानों पर ताप लेता हूँ और कभी-कभी लोग मुझे रोटी के जो बचे-खुचे टुकड़े दे देते हैं, उन्हें ही खाकर रह जाता हूँ। लेकिन कभी-कभी वे मुझे भगा भी देते हैं। रात मैं इसी ल्यापिन अनाथालय में काट लेता हूँ, जहाँ मुझे कुछ देना नहीं पड़ता। अब मैं केवल इस प्रतीक्षा में हूँ कि पुलिसवाले ढूँढ़ते हुए आएँ और पासपोर्ट न होने के कारण मुझे पकड़कर जेल में डाल दें और बाद में मैं अपने ही जैसे दूसरे आदमियों के साथ पुलिस के पहरे में पैदल घर भेज दिया जाऊँ। मैंने सुना है कि पुलिस बृहस्पतिवार को गश्त लगाएगी।—(स्पष्टतः जेल और घर की पैदल-यात्रा उसे स्वर्ग जैसी मालूम होती थी)।

भीड़ के दो-तीन आदमियों ने उसकी इन बातों का समर्थन किया और कहा कि

1. उन दिनों सिपाही बड़े सस्ते में काम करने के लिए मिल जाते थे।
2. शहद और मसाले से बना गरम पेय।

हम भी ऐसी ही मुसीबत में हैं। उसी समय लंबी नाकवाला एक दुबला-पतला, निर्बल नवयुवक, जिसके शरीर पर कंधों पर से फटी हुई केवल एक कमीज थी और जिसकी टोपी का चंदोवा भी लापता था, लोगों को ढकेलता-ढकालता भीड़ में से निकलकर मेरे पास आया। वह सर्दी से थर-थर काँप रहा था, फिर भी उसने किसान की बातों पर घृणापूर्ण हँसी हँसने की चेष्टा की और मेरी ओर दृष्टि गड़ाकर देखा। शायद उसने यह सोचा हो कि इस प्रकार की चेष्टा मेरी मनोदशा के अनुकूल होगी।

मैंने उसे भी एक गिलास स्बिटेन दिलवाया। गिलास लेकर उसने भी अपने हाथ सेके; किंतु ज्योंही उसने बोलना शुरू किया, एक लंबा, काला, तोते-जैसी नाकवाला आदमी उसको धक्का देकर आगे निकल आया। वह छींट की एक कमीज और जाकट पहने हुए था; लेकिन उसके सिर पर टोपी नहीं थी। उसने पीने के लिए स्बिटेन माँगा। उसके पीछे नशे में चूर, नुकीली दाढ़ीवाला एक लंबा बूढ़ा आदमी आया। वह ओवरकोट पहने हुए था, जिसमें कमर के पास एक डोरी बँधी हुई थी और उसके पैरों में चटाई के जूते थे। उसके पीछे एक लड़का आया, जिसका मुँह सूजा हुआ था और जिसकी आँखें तर थीं। वह एक भूरी जाकट पहने हुए था। उसके नंगे घुटने फटी हुई ठंडी पतलून में से दिखलाई दे रहे थे और सर्दी के मारे एक-दूसरे से टकरा रहे थे। वह इतना काँप रहा था कि स्बिटेन का गिलास उससे सम्हल नहीं सका और सारा-का-सारा स्बिटेन उसके ऊपर ही बिखर गया। दूसरे लोग उसे गालियाँ देने लगे; किंतु वह करुण भाव से केवल मुस्करा भर दिया और खड़ा-खड़ा काँपता रहा।

उस लड़के के बाद चीथड़े लपेटे, एक भद्दी सूरत का विकृत शरीरवाला व्यक्ति आया। उसने अपने नंगे पाँवों में कपड़े की पट्टियाँ लपेट रखी थीं। फिर तो एक-एक करके कितने ही लोगों ने मुझे आकर घेर लिया। इनमें से कोई अफसर-जैसा लगता था, तो कोई पादरी-जैसा; किसी के नाक ही नहीं थी तो किसी की सूरत अजीब थी; लेकिन थे सब भूखे, सर्दी से पीड़ित, जिद्दी और दीन-हीन। वे सब स्बिटेन की ओर झुक पड़े और देखते-ही-देखते उसे चट कर गए। तब एक आदमी ने मुझसे पैसे माँगे और मैंने उसे दे दिए। इस पर दूसरे ने, फिर तीसरे ने पैसे माँगे और फिर तो भीड़-की-भीड़ मुझ पर टूट पड़ी और लोग आपस में धक्कम-धक्का करने लगे। इतने में बराबर के मकान से एक चौकीदार ने डपटकर कहा, ''मेरे घर के सामने से हट जाओ।'' बेचारों ने चुपचाप उसकी आज्ञा का पालन किया और भीड़ में से कुछ लोग स्वयंसेवक बनकर मेरी रक्षा करने लगे। वे मुझे उस रेले में से निकाल ले जाना चाहते थे; किंतु जो भीड़ अभी तक पटरियों पर खड़ी हुई थी वह भी धक्कम-धक्का करती हुई मेरे चारों ओर जमा हो गई। सब-के-सब लोग मेरी ओर देख-

देखकर भीख माँगने लगे। उनमें से हरेक का चेहरा एक-दूसरे से अधिक करुण, अधिक क्लांत और अधिक दीन मालूम पड़ता था। मेरे पास जो कुछ भी था—अधिक नहीं, यही लगभग बीस रूबल[1] के रहे होंगे—मैंने सब बाँट दिया और भीड़ के साथ-साथ मैं भी अनाथालय में घुसा। उसकी इमारत बहुत बड़ी थी और उसमें चार हिस्से थे। ऊपर के खंड में मर्द रहते थे और नीचे के तल्ले में स्त्रियाँ। पहले मैं नीचे के हिस्से में गया। एक बड़ा कमरा था, जिसमें रेल के तीसरे दर्जे की सीटों के समान ऊपर-नीचे दो पंक्तियों में लकड़ी के तख्ते लगे हुए थे। फटे-पुराने कपड़े पहने हुए अजीब-अजीब ढंग की बूढ़ी और जवान स्त्रियों ने आकर अपने-अपने तख्ते पर कब्जा कर लिया। कुछ ऊपर चढ़ गईं और कुछ नीचे रहीं। कुछ बूढ़ी स्त्रियों ने हाथ जोड़कर अनाथालय बनानेवाले के लिए ईश्वर से दुआ माँगी। दूसरी स्त्रियाँ हँसी-मजाक और गाली-गलौज करने लगीं।

इसके बाद मैं ऊपर के हिस्से में गया। वहाँ मर्द अपनी-अपनी जगह ले रहे थे। उनमें से एक वह भी था, जिसे मैंने पैसे दिए थे। उसे देखकर एकाएक मुझे बड़ी लज्जा मालूम हुई। ऐसा लगा मानो मैंने कोई अपराध कर दिया है और मैं वहाँ से तेजी से बाहर निकलकर सीधा अपने घर की ओर चल दिया। कालीन से ढके हुए जीने पर चढ़ता हुआ मैं गलीचे से सुसज्जित बड़े कमरे में पहुँचा और रोएँवाला ओवरकोट उतारकर पाँच व्यंजनोंवाला भोजन करने बैठ गया, जिसे सफेद दस्ताने पहने हुए दो वर्दीधारी नौकरों ने लाकर मेज पर सजाया था।

तीस वर्ष पहले मैंने एक बार पेरिस में हजारों दर्शकों की उपस्थिति में जल्लादों को एक आदमी का सिर काटते देखा था। मैं जानता था कि उस व्यक्ति ने भयंकर अपराध किया था। इस प्रकार सार्वजनिक रूप से सिर काटने के पक्ष में लिखी गई सारी दलीलों से भी मैं परिचित था। मुझे विदित था कि ऐसा दंड जान-बूझकर विशेष अभिप्राय से दिया जाता है; किंतु जैसे ही उस आदमी का सिर धड़ से अलग होकर नीचे बक्स में गिरा कि मेरा दम घुटने लगा और मेरे शरीर और हृदय ने ही नहीं, बल्कि रोम-रोम ने अनुभव किया कि मृत्युदंड के पक्ष में जितनी भी दलीलें हैं वे अनर्गल और दुष्टतापूर्ण हैं और इस संसार के सबसे जघन्य अपराध—हत्या—को करने में चाहे कितने ही आदमियों का योग क्यों न हो और अपने को वे चाहे कोई भी नाम क्यों न दें, हत्या हत्या ही है; और चूँकि उक्त हत्या मेरी आँखों के सामने की गई थी और मैं बिना कोई आपत्ति किए उसे चुपचाप खड़ा-खड़ा देखता रहा था,

1. लगभग तीस रुपए। एक रूबल में सौ कोपेक होते हैं। रूस का यह सोने का सिक्का 2 शिलिंग, 1¼ पेंस यानी लगभग डेढ़ रुपए के बराबर होता है।

इसलिए मैं भी उसका समर्थक और भागीदार था। इसी प्रकार जब मैंने ल्यापिन अनाथालय के बाहर हजारों लोगों की भूख, कँपकँपी और पतन का दृश्य देखा तो मेरे शरीर और हृदय ने ही नहीं, बल्कि रोम-रोम ने यह अनुभव किया कि जब मेरे-जैसे सहस्रों व्यक्ति ठूँस-ठूँसकर तरह-तरह के व्यंजन खाते हैं और अपने घोड़ों और घर के फर्श तक को कपड़े या गलीचे से ढँकते हैं तब—चाहे संसार की समस्त विद्वद्मंडली इसका कितना ही समर्थन क्यों न करे—इसमें संदेह नहीं कि मास्को में इस तरह के दसियों हजार कंगालों का होना एक चिरस्थायी अपराध है और मैं अपनी विलासिता में पड़ा रहकर इस अपराध को न केवल सहन ही कर रहा हूँ, बल्कि स्वयं उसमें भाग भी ले रहा हूँ। मुझे तो पहली और अबकी अनुभूति में केवल एक अंतर दिखाई देता था। सार्वजनिक प्राण-दंडवाले मामले में मैं अधिक-से-अधिक इतना कर सकता था कि सूली के पास खड़े हुए हत्या की तैयारी करनेवाले जल्लादों से चीखकर कहता कि तुम गलती कर रहे हो, और यह अच्छी तरह से जानते हुए भी कि मेरे किसी कार्य से हत्या रुक नहीं सकती, हर संभव युक्ति से उसमें बाधा डालने की चेष्टा करता; किंतु भिक्षुकों के मामले में मेरी कार्य क्षमता यहीं तक सीमित नहीं थी कि उन्हें स्बिटेन पिला देता और जेब के थोड़े-से पैसे बाँट देता था, बल्कि मैं उन्हें अपने शरीर पर का ओवरकोट और अपने घर की सारी चीजें दे सकता था। परंतु मैंने ऐसा नहीं किया। यही कारण है कि मैंने उस समय अनुभव किया, अब भी करता हूँ और सदा करता रहूँगा कि जब तक मेरे पास दो कोटों के होते हुए कोई व्यक्ति बिना कोट के रहेगा तब तक मैं भी इस संसार में निरंतर होते रहनेवाले एक पाप का भागीदार बना रहूँगा।

उन्हें उबारना चाहा

ल्यापिन अनाथालय से लौटकर मैंने उसी दिन शाम को अपने विचार एक मित्र के सामने प्रकट किए। वह शहर के ही रहनेवाले थे, इसलिए उन्होंने मुझे समझाना शुरू किया कि मैंने जो-कुछ देखा है, वह शहरों के लिए बिल्कुल एक स्वाभाविक बात है और देहात में रहने के कारण ही मुझे उसमें अनोखापन दिखाई देता है। मेरे मित्र ने यह भी कहा कि ऐसी स्थिति तो सदा से रही है और रहेगी; भिक्षावृत्ति सभ्यता का एक अनिवार्य अंग है; लंदन में तो इससे भी दयनीय दशा है, इसलिए इसमें कोई बुराई नहीं है और इससे किसी को दुखी नहीं होना चाहिए।

मैं अपने मित्र से बहस करने लगा और मेरी बातों में इतनी उग्रता तथा उत्तेजना

आ गई कि पास के कमरे से मेरी स्त्री दौड़ी आई और पूछने लगी कि क्या बात है। ऐसा मालूम पड़ता है कि अनजाने में मैं अपने मित्र की ओर दोनों हाथ फैलाए अश्रुप्लावित कंठ से चिल्ला पड़ा था, ''कोई भी व्यक्ति इस तरह नहीं रह सकता, नहीं रह सकता, नहीं रह सकता।'' इस अनावश्यक उत्तेजना के लिए मेरे मित्रों ने मुझे बड़ा लज्जित किया और कहा कि मैं किसी विषय पर शांतिपूर्वक बातें नहीं करता और अप्रिय ढंग से उग्र हो उठता हूँ। उन्होंने यह बात विशेष रूप से प्रमाणित करने की चेष्टा की कि समाज में ऐसे अभागों का होना कोई ऐसी बात नहीं, जिसके कारण मैं आस-पासवालों का जीवन दूभर बना दूँ।

यह सोचकर कि बात है तो बिल्कुल ठीक, मैं चुप हो गया; परंतु मेरे अंतस्तल में लगातार यह अनुभूति होती रही कि मेरी बात भी ठीक है और मेरा मन शांत नहीं हो पाया।

नगर का जीवन, जो पहले मुझे अजीब और अपरिचित मालूम होता था, अब इतना घृणित दिखाई देने लगा कि विलासितापूर्ण जीवन के जिन सुखों में पहले मुझे आनंद आता था, वे ही मेरे लिए अब यातना बन गए। जिस प्रकार का जीवन मैं बिता रहा था, उसके लिए अपनी आत्मा में थोड़ा बहुत औचित्य ढूँढ़ने की मैं लाख चेष्टा करता; किंतु जब कभी अपना या किसी दूसरे का सजा हुआ गोल कमरा या मेज पर सफाई और सुंदरता के साथ परोसा हुआ भोजन देखता, या जब कभी मेरी दृष्टि मोटे-ताजे घोड़ों और कोचवानों सहित किसी गाड़ी, या दुकान, या थिएटर, या सभा-मंडली पर जाती तो क्रोध आए बिना न रहता। इनके साथ-ही-साथ मेरी आँखों के आगे ल्यापिन अनाथालय के भूखे, ठिठुरते हुए और पददलित अनाथों की आकृतियाँ नाच उठतीं और बरबस मेरे मन में यह विचार उठता कि इन दोनों का आपस में संबंध है, ये दोनों एक-दूसरे के कारण हैं ? मुझे याद है कि अपने को अपराधी मानने की जिस भावना की अनुभूति मैंने आरंभ से ही की थी, वह मेरे मन में सदा बनी रही, यद्यपि कुछ ही दिनों बाद एक दूसरी भावना उसमें आ मिली और उसने पहली अनुभूति को आच्छादित कर दिया।

ल्यापिन अनाथालय की जो छाप मेरे मन पर पड़ी थी, उसकी चर्चा जब कभी मैं अपने इष्ट-मित्रों और जान-पहचानवालों से करता तब वे भी वैसी ही बातें कहते जैसी कि उस मित्र ने कही थी, जिस पर मुझे क्रोध आया था। किंतु साथ-ही-साथ वे मेरी दयालुता और सहज ही प्रभावित होनेवाली प्रवृत्ति की प्रशंसा भी करते। कहते कि आप पर इस दृश्य का इतना गहरा प्रभाव केवल इसलिए पड़ा कि आप—लियो टॉल्सटॉय—एक बहुत ही दयालु और नेक व्यक्ति हैं। मैंने उनके इस निष्कर्ष पर सहर्ष विश्वास कर लिया और इसके पहले कि मैं इस विषय पर पुनः विचार

करता, लज्जा और पश्चात्ताप की उस भावना के बदले, जो मेरे मन में सबसे पहले उदय हुई थी, मैं अपनी परोपकारिता की प्रवृत्ति पर संतोष अनुभव करने लगा और मुझमें उसके प्रदर्शन की भी इच्छा जाग उठी।

मैंने अपने मन में सोचा, ''दोष शायद मेरे भोगविलास का नहीं, बल्कि जीवन की उन परिस्थितियों का है, जो अनिवार्य हैं। मैंने जो बुराइयाँ देखी हैं, वे मेरे जीवन में परिवर्तन होने से दूर नहीं हो सकेंगी। अपने जीवन में परिवर्तन करके तो मैं अपने और अपने प्रियजनों के ही जीवन को दुःखी बना लूँगा और अभागे अनाथों की दशा सदा के समान हीन-की-हीन बनी रहेगी। इसलिए मेरा यथार्थ कर्तव्य स्वयं अपने जीवन में परिवर्तन करना नहीं है, जैसा कि मैंने पहले सोचा था, बल्कि यथाशक्ति उन अभागों की स्थिति सुधारने में सहायता देना है, जिनके प्रति मेरे मन में सहानुभूति जागृत हुई है। सारांश यह कि मैं एक बड़ा ही नेक और दयालु प्राणी हूँ और अपने पड़ोसियों का उपकार करना चाहता हूँ।''

इस विचार के आते ही मैं परोपकार की एक ऐसी योजना बनाने लगा, जिसके द्वारा मुझे अपनी सज्जनता का प्रदर्शन करने का अवसर मिले। हाँ, इतना अवश्य बतला दूँ कि इस योजना को बनाते समय भी मेरी अंतरात्मा में निरंतर यही अनुभूति होती रही कि मैं जो कुछ कर रहा हूँ, वह ठीक नहीं है। किंतु, जैसा कि अक्सर होता है, तर्क और कल्पना ने अंतरात्मा का गला घोट दिया।

संयोग की बात है कि उन्हीं दिनों मर्दुमशुमारी की तैयारी हो रही थी। मैंने सोचा कि जिस परोपकार-कार्य द्वारा मैं अपनी सज्जनता का प्रदर्शन करना चाहता हूँ, उसे आरंभ करने का यह अच्छा अवसर है। मैं मास्को की अनेक परोपकारी संस्थाओं और सभाओं से परिचित था; किंतु मुझे ऐसा लगता था कि उनके कार्य का संचालन गलत रास्ते पर हो रहा है और उनके प्रयत्न मेरे लक्ष्य की अपेक्षा नगण्य हैं। इसलिए मैंने निम्नलिखित योजना तैयार की—अमीरों के हृदय में शहर की गरीबी के प्रति सहानुभूति पैदा की जाए; रुपया इकट्ठा किया जाए; इस कार्य में सहायता देने की इच्छा रखनेवालों की सूची तैयार की जाए; मर्दुमशुमारी करनेवालों के साथ-साथ अनाथों के सब अड्डों पर जाया जाए और उनकी गणना करने के अतिरिक्त उनके संपर्क में आकर उनकी आवश्यकताओं की जाँच की जाए; उन्हें धन और काम देकर गाँवों में वापस पहुँचाकर और उनके बच्चों का स्कूलों में व बड़े-बूढ़ों को अनाथाश्रमों में भरती कराकर उनकी सहायता की जाए। इसके अतिरिक्त मैंने यह भी सोचा कि इस कार्य में हाथ बँटानेवाले लोगों में से कुछ की एक स्थायी समिति बनाई जाए, जो मास्को के भिन्न-भिन्न भागों का काम अपने सदस्यों में बाँटकर कंगाली और अनाथपन के कीटाणुओं को नष्ट करने की चेष्टा करे, उन्हें अंकुरित होते ही दबा दे

और अधिक यत्न दरिद्रता के रोग की चिकित्सा करने के बजाए उसे रोकने का करे। मैं तो यहाँ तक स्वप्न देखने लगा कि मुझे अपने काम में इतनी सफलता मिलेगी कि किसी के पूर्ण रूप से अनाथ रहने की तो बात ही क्या, नगर में कोई व्यक्ति ऐसा भी नहीं रह जाएगा, जिसे किसी वस्तु की कमी हो। यह सोचकर मुझे बड़ा सुख होता कि यह सब मेरे ही कारण होगा और मेरे-जैसे अमीर निश्चिंत होकर अपने गोल कमरों में बैठेंगे, पाँच व्यंजनों का भोजन करेंगे, गाड़ियों में बैठकर थिएटर और सभा-सोसायटियों में जाएँगे और रास्ते में उन्हें ल्यापिन अनाथालय-जैसे दृश्यों को देखकर दुखी नहीं होना पड़ेगा।

इस प्रकार की योजना बनाकर मैंने एक लेख लिखा और उसे प्रकाशनार्थ भेजने से पूर्व मैं अपने उन परिचितों से मिला, जिनसे मुझे सहायता मिलने की आशा थी। उस दिन मैं जितने लोगों से मिला (विशेष रूप से मैं अमीरों के ही पास गया) उन सबसे मैंने प्राय: वही बात कही, जो अपने लेख में लिखी थी। मैंने उनसे प्रस्ताव किया कि मर्दुमशुमारी से लाभ उठाकर मास्को के कंगालों का परिचय प्राप्त किया जाए और रुपए तथा काम से उनकी सहायता करके ऐसा यत्न किया जाए कि मास्को में दरिद्रता रह ही न जाए और फिर हम अमीर लोग शांतचित्त होकर उन आमोद-प्रमोदों का आनंद उठाएँ, जिनकी हमें आदत पड़ गई है। इन बातों को सबने बड़ी गंभीरता के साथ ध्यानपूर्वक सुना और उसकी प्रतिक्रिया सब पर एक समान हुई। मेरी बातों का तात्पर्य समझते ही वे विचलित हो उठे और उनके मुख पर लज्जा का भाव झलकने लगा। ऐसा मालूम पड़ता था कि उन्हें लज्जा मुख्यत: मेरे कारण आ रही थी; क्योंकि वे सोचते थे कि मैं कुछ ऐसी मूर्खतापूर्ण बातें कर रहा हूँ, जो उनकी समझ में मूर्खतापूर्ण होती हुई भी स्पष्ट रूप से मूर्खतापूर्ण कही नहीं जा सकती थीं। मुझे तो ऐसा लगा मानो किसी बाहरी कारण से वे मेरी इन मूर्खतापूर्ण बातों को सहन करने के लिए विवश हो गए हैं।

उत्तर मिला, ''हाँ, हाँ; यह तो बड़ा ही अच्छा विचार है, भला इससे किसे सहानुभूति न होगी? आपका विचार बहुत ही सुंदर है, मेरे मन में भी ऐसा ही विचार उठा था; लेकिन...क्या कहें, यहाँ के लोग तो इन बातों की ओर से इतने उदासीन हैं कि अधिक सफलता की आशा नहीं की जा सकती। हाँ, जहाँ तक मेरा सवाल है, मुझसे जितनी सहायता बन पड़ेगी, देने को तैयार हूँ।''

सबने कुछ-न-कुछ ऐसी ही बात कही। वे मुझसे सहमत तो हो गए; पर ऐसा प्रतीत होता था कि वे संतुष्ट होकर या स्वेच्छा से ऐसा नहीं कर रहे हैं, बल्कि कोई बाहरी कारण उन्हें मुझसे असहमत होने से रोक रहा है। इसका एक प्रमाण यह भी था कि जो लोग आर्थिक सहायता करने का वचन देते थे, वे यह नहीं बताते थे कि

कितना देंगे, जिसके फलस्वरूप स्वयं मुझे कहना पड़ता था, ''तो आशा है कि आपसे तीन सौ या दो सौ या पचीस रूबल मिल जाएँगे।'' इतने पर भी उनमें से एक ने भी हाथ-के-हाथ रुपया नहीं दिया। यह मैं इसलिए लिख रहा हूँ कि जिस बात में लोगों को वास्तव में रुचि होती है, उसके लिए वे साधारणत: फौरन ही रुपया दे डालते हैं। उदाहरण के लिए, जब कभी लोग थिएटर जाना चाहते हैं तो अपनी सीट के लिए हाथ-के-हाथ पैसा दे देते हैं। किंतु मेरी योजना के संबंध में जिन लोगों ने रुपया देने को कहा या सहानुभूति प्रकट की उनमें से एक ने भी तत्काल रुपया नहीं दिया। बस, मैंने जो रकम कह दी, उसे उन्होंने चुपचाप स्वीकार भर कर लिया।

उस दिन शाम को मैं जिस मित्र के घर अंत में गया, वहाँ बहुत से लोग इकट्ठे थे। उस घर की मालकिन इधर कुछ वर्षों से परोपकार के काम में लगी हुई थी। दरवाज़े पर कई गाड़ियाँ खड़ी थीं और प्रवेश-कक्ष में कीमती वर्दियाँ पहने कई दरबान बैठे थे। बड़े गोल कमरे में दो मेजों के चारों ओर, जिन पर लैंप जल रहे थे, बहुमूल्य वस्त्र और आभूषण पहने कितनी ही विवाहिता तथा अविवाहिता स्त्रियाँ बैठी-बैठी गुड़ियाएँ बना रही थीं। उनके पास ही कितने ही नवयुवक भी बैठे थे। गुड़ियाएँ गरीबों के सहायतार्थ लाटरी द्वारा बेची जाने के लिए बनाई जा रही थीं।

गोल कमरे और उसमें एकत्र लोगों को देखकर मेरे हृदय पर अप्रिय प्रभाव पड़ा। यह बताने की आवश्यकता नहीं कि वहाँ एकत्र हुए लोगों की हैसियत लाखों रूबल की थी और उनके कपड़े, गहनों, गाड़ी-घोड़ों, वर्दियों, दरबानों आदि पर जो खर्च हुआ था, अकेले उसका सूद ही उनके कार्य के मूल्य से सैकड़ों गुना अधिक था। यदि हम इस तथ्य को छोड़ भी दें तब भी, केवल उस एक दिन के आयोजन का खर्च—दस्तानों, साफ चादरों, सवारी, मोमबत्ती, चाय, शक्कर, बिस्कुट, आदि पर व्यय किया गया धन—ही लोगों द्वारा तैयार की जानेवाली चीजों के मूल्य से सैकड़ों-गुना अधिक होगा। यह सब देखकर मैंने समझ लिया कि कम-से-कम यहाँ तो मुझे अपनी योजना के लिए सहानुभूति की आशा करनी नहीं चाहिए। फिर भी चूँकि मैं वहाँ अपना प्रस्ताव रखने की नीयत से गया था, इसलिए कठिनाई अनुभव करने पर भी मैंने अपनी बात कह ही डाली।

उपस्थित महिलाओं में से एक ने कहा, ''अधिक भावुक होने के कारण मैं स्वयं तो गरीबों के बीच नहीं जा सकूँगी; किंतु कुछ रुपए अवश्य दूँगी।''—कितने और कब, यह उन्होंने नहीं बताया। एक दूसरी महिला और एक नवयुवक ने कंगालों के बीच चलकर सेवा करने के लिए तत्परता दिखाई; परंतु मैंने उनकी इस कृपा से लाभ नहीं उठाया। जिस व्यक्ति को मैंने विशेष रूप से संबोधित किया उसने कहा, ''साधनों की कमी होने के कारण मेरे लिए कुछ अधिक करना संभव नहीं।''—बात

यह थी कि मास्को के सभी धनाढ्य व्यक्ति सुपरिचित थे और उनसे जितना भी लिया जा सकता था, सरकार पहले ही ले चुकी थी। इसके लिए उन्हें पद, तमगे और दूसरे सम्मान भी प्राप्त हो चुके थे। अतः उनसे और दान लेने की एकमात्र युक्ति यही थी कि उन्हें सरकार की ओर से नए सम्मान दिलाए जाते; किंतु यह कार्य बहुत ही कठिन था।

उस दिन घर लौटकर जब मैं बिस्तर पर लेटा तो मेरे मन में अपनी योजना के असफल होने की केवल आशंका ही नहीं थीं, बल्कि मुझे लज्जा भी मालूम हो रही थी और ऐसा लग रहा था जैसे सारे दिन में कोई बहुत ही घृणित और लज्जाजनक कार्य करता रहा हूँ। फिर भी मैंने प्रयत्न बंद नहीं किया, क्योंकि एक तो कार्य आरंभ हो चुका था और मिथ्या लज्जा की भावना मुझे उसे छोड़ने नहीं देती थी; दूसरे इस कार्य में लगे रहने पर भी मैं अपने जीवन का वही क्रम चलाता रह सकता था, जिसका कि मैं अभ्यस्त हो गया था। इसके विपरीत मैं खूब समझता था कि यदि मेरी योजना सफल न हुई तो मुझे अपने जीवन का पुराना क्रम त्यागकर एक नया क्रम ढूँढ़ने के लिए विवश होना पड़ेगा, जिससे कि मैं अनजाने में ही डरा करता था। इसलिए मैंने अपने अंतरात्मा की आवाज पर विश्वास नहीं किया और जो काम आरंभ कर चुका था, उसे जारी रखा।

मैंने अपना लेख छपने को भेज दिया और उसके प्रूफ की एक प्रति नगर-'ड्यूमा'[1] (नगरपालिका) में पढ़कर सुनाई। उसे पढ़ते समय मुझे इतनी बेचैनी मालूम हुई कि बीच में मैं रुक गया और लज्जा के मारे मेरी आँखों में पानी भर आया। मैंने देखा कि वहाँ जितने लोग उपस्थित थे वे भी सब-के-सब बेचैन हो रहे थे। लेख समाप्त करने पर जब मैंने पूछा कि क्या मर्दुमशुमारी करनेवाले लोग अपने पदों पर बने रहकर दीनों और सामान्य समाज के बीच मध्यस्थ का काम करने के मेरे प्रस्ताव से सहमत हैं तो वहाँ पर भद्दा सन्नाटा छा गया।

बाद में सभा के दो सदस्यों ने व्याख्यान दिए, जिनसे मेरे प्रस्ताव का अटपटापन दूर हो गया। लोगों ने मेरी योजना के प्रति सहानुभूति प्रकट की; किंतु साथ ही मेरे विचार की अव्यावहारिकता का भी संकेत किया। इससे तत्काल तो लोगों को संतोष हुआ; किंतु जब मैंने अपनी बात पर फिर ज़ोर देने की इच्छा से बाद में मर्दुमशुमारीवालों से अलग-अलग पूछा कि क्या आप मर्दुमशुमारी के समय गरीबों की आवश्यकताओं

1. *'ड्यूमा' वास्तव में उस रूसी संसद को कहते हैं, जो सन् 1906 में स्थापित हुई थी, किंतु इस शब्द का लोकप्रिय अर्थ है, 'कौंसिल' अर्थात् सलाहकार-समिति। नगर-सलाहकार-समिति को भारत में म्यूनिसपैलिटी अर्थात् नगरपालिका कहते हैं।*

की जाँच करने और अपने पदों पर बने रहकर अमीर और गरीब के बीच मध्यस्थता का काम करने को तैयार हैं, तो वे फिर बेचैन हो उठे। उनके चेहरों पर के भाव मानो कह रहे थे, ''श्रीमान् जी, आपकी खातिर हमने एक बार तो आपकी मूर्खतापूर्ण बातें सह लीं; लेकिन लगे आप उन्हें फिर ओटने।'' उनके मुख पर तो ये ही गाँव थे, किंतु जिह्वा से उन्होंने स्वीकृति प्रकट की और उनमें से दो व्यक्तियों ने अलग-अलग किंतु एक ही प्रकार के शब्दों में—मानो उन्होंने पहले से ही सलाह कर ली हो, कहा, ''हम तो इस काम को करना अपना कर्तव्य समझते हैं।''

जब मैंने मर्दुमशुमारी के लिए नियुक्त किए गए विद्यार्थियों से कहा कि मर्दुमशुमारी के साथ-ही-साथ परोपकार की बात भी ध्यान में रखनी चाहिए तो मेरे कहने का उन पर भी वैसा ही प्रभाव पड़ा जैसा नगरपालिकावालों पर पड़ा था। मैंने देखा कि इस विषय पर बात करते समय उन्हें मेरी ओर देखने में उसी प्रकार लज्जा की अनुभूति हो रही थी, जिस प्रकार किसी सहृदय व्यक्ति की अनर्गल बातें करते देख उसकी ओर देखने में होती है।

पत्र-संपादक को लेख देने पर उस पर भी ऐसा ही प्रभाव पड़ा था और मेरे पुत्र, मेरी स्त्री और अधिकांश दूसरे व्यक्तियों ने भी प्रायः ऐसी ही भावना व्यक्त की। न जाने क्यों, सभी लोग मेरा प्रस्ताव सुनते ही बेचैन हो उठते थे। फिर भी वे मेरे विचार की प्रशंसा करना आवश्यक समझते थे और अपनी स्वीकृति प्रकट करने के पश्चात् शीघ्र ही मेरे योजना की सफलता के विषय में संदेह व्यक्त करने लगते थे। इसके अतिरिक्त वे यह भी कहा करते थे कि क्या बताएँ साहब, समाज के प्रति तो सभी लोग (सिवा स्वयं उनके) बड़े उदासीन और उत्साह-विहीन हैं।

मेरी अंतरात्मा फिर भी यही कहती रही कि ये सब बातें ठीक नहीं और इनसे कुछ लाभ नहीं होगा। किंतु मेरा लेख छपा और मैंने मर्दुमशुमारी में काम करना स्वीकार कर लिया। मैंने ही योजना आरंभ की थी और अब वह मुझे बरबस अपने साथ खींच ले चली।

प्रारंभिक जाँच-पड़ताल

मेरी प्रार्थना के अनुसार मुझे खमोवनीकी वार्ड के एक मुहल्ले में मर्दुमशुमारी का काम सौंपा गया। यह मुहल्ला स्मॉलेंस्क बाजार के पास प्रोतौखनी गली में नदीवाले रास्ते और निकॉल्सकी गली के बीच बसा हुआ है। इसी मुहल्ले में वे मकान बने हुए हैं, जो सामूहिक रूप से रज्हानोफ़-भवन या रज़्हानोफ़-दुर्ग के नाम से प्रसिद्ध

हैं। पहले ये मकान रज़्हानोफ़ नामक एक व्यापारी के थे; किंतु अब ज़ीमिन-परिवार के अधिकार में हैं। मैं बहुत दिनों से सुनता आया था कि वह भवन भयंकरतम दरिद्रता और व्यभिचार का अड्डा है और इसीलिए मैंने प्रबंधकों से उधर की ही मर्दुमशुमारी का काम माँगा था।

नगरपालिका से निर्देश मिलने के बाद मर्दुमशुमारी से कुछ दिन पहले मैं उस मुहल्ले का निरीक्षण करने गया। अधिकारियों ने मुझे जो नक्शा दिया था, उसकी सहायता से मुझे रज़्हानोफ़-भवन का पता आसानी से लग गया।

मैं पासवाली निकॉल्सकी गली में घुसा। बाईं तरफ, जहाँ गली समाप्त होती थी, एक बीहड़ श्रीहीन भवन था, जिसका गली की ओर कोई रास्ता नहीं था। उसे बाहर से देखकर मैंने अनुमान लगा लिया कि यही रज़्हानोफ़ दुर्ग है।

निकॉल्सकी गली के ढलाव पर मुझे दस से चौदह वर्ष की अवस्था के कुछ बच्चे मिले। वे जाकट या पतले कोट पहने हुए थे। कुछ तो ढलाव पर और कुछ सड़क की बर्फ से ढकी हुई पटरी पर एक पैर से पहिएदार जूता पहने फिसलने का खेल खेल रहे थे। वे सब थे तो फटे-हाल; परंतु शहरी बच्चों की तरह सजग और ढीठ थे। मैं खड़ा होकर उन्हें देखने लगा। इतने में मोड़ से फटे-पुराने कपड़े पहने एक बुढ़िया निकली, जिसके पीले गाल सूखकर लटक गए थे। वह स्मॉलेंस्क बाजार की ओर जा रही थी और एक थके हुए घोड़े की तरह पग-पग पर हाँफ रही थी। मेरे पास आकर वह खड़ी हो गई और ज़ोर-ज़ोर से साँस लेने लगी। कोई और जगह होती तो वह बुढ़िया मुझसे भीख माँगे बिना न रहती; किंतु वहाँ उसने मुझसे केवल बातें कीं। बर्फ पर खेलते हुए लड़कों की ओर संकेत करके वह बोली, "ज़रा इनकी ओर देखिए, हर वक्त ऊधम ही मचाते रहते हैं। अपने बाप की तरह ये भी पक्के रज़्हानोफ़ी निकलेंगे।" उनमें से एक लड़के ने, जो ओवरकोट और फटी टोपी पहने हुए था, बुढ़िया की बात सुन ली। वह खड़ा हो गया और चिल्लाकर बोला, "तू भी तो रज़्हानोफ़ की ही कुतिया है।"

"क्या तुम इसी मकान में रहते हो ?" मैंने लड़के से पूछा।

"हाँ, और यह बुढ़िया भी इसी में रहती है; इसने एक जूता चुराया था।" लड़का चिल्लाकर बोला और एक पैर आगे बढ़ाकर बर्फ पर फिसलता हुआ चला गया।

इस पर बुढ़िया ने गालियों की झड़ी लगा दी; लेकिन बीच-बीच में खाँसी आ जाने के कारण उसे रुक जाना पड़ता था। इसी समय फटे-पुराने कपड़े पहने सफेद बालोंवाला एक बूढ़ा हाथ हिलाता हुआ बीच गली में आ निकला। वह ढलान की ओर उतर रहा था। उसके एक हाथ में कुछ रोटियाँ और कुरकुरे बिस्कुट थे और उसे

देखकर ऐसा लगता था कि वह अभी-अभी वॉडका[1] का एक गिलास चढ़ाकर आया है। उसने बुढ़िया को गालियाँ देते हुए सुन लिया था। उसका पक्ष लेता हुआ चिल्लाकर बोला, "ठहरो तो, शैतान के बच्चो! अभी तुम्हारी खबर लेता हूँ।" इस प्रकार बच्चों को धमकाकर उसने उनके पीछे दौड़ने का स्वाँग रचा और फिर मेरे पास आकर वह पटरी पर चढ़ गया। यही बूढ़ा अगर किसी प्रमुख सड़क पर मिलता तो लोग उसके बुढ़ापे, उसकी दुर्बलता और उसकी कंगाली के रूप पर आकृष्ट हुए बिना न रहते; किंतु यहाँ वह शाम को काम समाप्त कर घर लौटनेवाले एक हँसमुख मजदूर-जैसा लग रहा था।

मैं बूढ़े के पीछे हो लिया। वह नुक्कड़ पर से बाईं ओर मुड़कर प्रोतौख़नी गली में घुसा और उस लंबे मकान तथा उसके फाटक को पार करता हुआ एक सराय के भीतर जाकर अदृश्य हो गया।

प्रोतौख़नी गली की ओर इस मकान के दो फाटक और कई दरवाजे थे। इनमें सरायों के अलावा शराब, भोजन आदि कई चीजों की दुकानें थीं। यही रज़्हानोफ़ का किला था। इसकी इमारत, रहने के कमरे, आँगन और आदमी सभी गंदे, मटियाले और बदबूदार थे। मैं जितने भी आदमियों से मिला उनमें से अधिकांश आधे नंगे और फटे चीथड़े पहने हुए थे। कुछ लोग धीरे-धीरे आ-जा रहे थे और कुछ एक दरवाजे से दूसरे दरवाजे में भाग-दौड़ रहे थे। दो आदमी कुछ फटे-पुराने टुकड़ों का सौदा कर रहे थे।

प्रोतौख़नी गली और नदीवाले रास्ते से होकर मैंने पूरी इमारत का चक्कर लगाया और लौटते समय मैं एक दरवाजे पर रुक गया। अंदर जाकर मैं यह देखना चाहता था कि वहाँ क्या हो रहा है; किंतु ऐसा करते हुए मुझे झिझक मालूम हो रही थी। मैं सोच रहा था कि अगर कोई पूछ बैठा कि क्या चाहते हो तो क्या उत्तर दूँगा। फिर भी थोड़ी देर के संकोच के बाद मैं अंदर घुस ही गया। वहाँ पैर रखते ही बदबू से नाक फट गई। आँगन बेहद गंदा था। आगे बढ़कर जब मैं एक कोने पर मुड़ा तो ऊपर बाईं ओर लकड़ी की गैलरी में—पहले छज्जे[2] के तख़्तों पर और फिर जीने की सीढ़ियों पर—लोगों के दौड़ने की धड़धड़ाहट सुनाई दी। सबसे आगे उड़े हुए गुलाबी रंग के कपड़े पहने एक दुबली-पतली स्त्री भागी हुई आई। उसकी आस्तीनें चढ़ी हुई थीं और वह बिना मोजों के ही जूते पहने हुए थी। उसके पीछे-पीछे एक

1. *एक तरह की रूसी शराब, जो अधिकतर एक प्रकार की घास से और कभी-कभी आलू से चुआई जाती है।*
2. *आँगन मकान से घिरा हुआ था और उसमें भीतर की ओर चारों ओर लकड़ी का छज्जा था।*

मोटे बालोंवाला आदमी आया। वह लाल कमीज और बहुत ही चौड़ा पाजामा पहने हुए था, जो लहँगे-जैसा लगता था। उसके पैरों में रबड़ के जूते थे। जीने के नीचे पहुँचकर उसने औरत को पकड़ लिया और हँसकर कहा, ''तू मुझसे बचकर नहीं जा सकती।''

''ज़रा इस कंजे की बात तो सुनो।'' औरत बोली। साफ मालूम पड़ता था कि उस आदमी के उसके पीछे-पीछे भागने से वह मन-ही-मन में अहंकार का अनुभव करती हुई इतरा रही थी। इतने में ही उसकी दृष्टि मुझ पर जो पड़ी तो आपे से बाहर होकर बोली, ''क्या चाहते हो?'' मुझे वहाँ किसी से कोई काम नहीं था, इसलिए मैं सकपका गया और वहाँ से चला आया।

यह घटना स्वयं तो कुछ विशेष महत्त्व की नहीं थी; किंतु बाहर सड़क पर मैं जो कुछ देख चुका था—वह गाली देती हुई बुढ़िया, वह हँसमुख बूढ़ा, वे बर्फ पर फिसलते हुए लड़के—इन सबका ज्ञान प्राप्त होने के बाद सहसा इस नई घटना ने मेरे सामने मेरे काम का एक नया पहलू उपस्थित कर दिया। मैं चला था अमीरों की सहायता से इन गरीबों को लाभ पहुँचाने; किंतु उस दिन मैंने वहाँ पहली बार अनुभव किया कि जिन अभागों का मैं उपकार करना चाहता हूँ, उनका सारा समय भूख और सरदी को झेलने और रैन बसेरे की प्रतीक्षा में ही व्यतीत नहीं हो जाता, बल्कि उनके पास और कामों के लिए भी समय रहता है। तन और पेट की चिंता करने के बाद इनके पास भी दिन के शेष घंटे बचते हैं और इनके सामने भी एक पूरा जीवन है, जिसके संबंध में मैंने पहले कभी विचार ही नहीं किया था। वहाँ मैंने पहली बार अनुभव किया कि इन्हें केवल भोजन और आवास की ही आवश्यकता पूरी नहीं करनी पड़ती; बल्कि हमारी ही तरह इन्हें भी हर दिन जीवन के चौबीस घंटे काटने पड़ते हैं। मैंने अनुभव किया कि हमारी ही तरह इन्हें भी क्रोध आता होगा, हमारी ही तरह ये भी सुस्त रहते होंगे और हमारी ही तरह इन्हें भी साहसी बनने, रंज करने और खुशियाँ मनाने की आवश्यकता पड़ती होगी। बात कुछ अजीब-सी तो है; किंतु मैं सच कहता हूँ कि मुझे पहली बार यह ठीक-ठीक समझ में आया कि मैंने जो काम हाथ लिया है, उसकी पूर्ति का एकमात्र मार्ग यह नहीं है कि जिस तरह हजार-दो हजार भेड़ों को खिला-पिलाकर बाड़े में बंद कर दिया जाता है, उसी तरह हजार-दो-हजार नंगों-भूखों को भी खाना-कपड़ा दे दिया जाए; बल्कि उसकी पूर्ति के लिए यह नितांत आवश्यक है कि इन नंगे-भूखों की कुछ भलाई भी की जाए और जब मेरी समझ में यह आया कि इनमें प्रत्येक व्यक्ति एक मानव है और मानव की ही तरह उसका भी इतिहास है, उसके हृदय में भी मेरे ही समान आशाएँ और आकांक्षाएँ तरंगित होती हैं, वह भी मेरे ही समान प्रलोभनों और

भूलों का शिकार बनता है, उसके मस्तिष्क में भी मेरे ही समान एक मनुष्य है, तब एकाएक मुझे मालूम पड़ा कि जिस काम का बीड़ा मैंने उठाया है, वह बड़ा ही कठिन है और उसे पूरा करने में मैं नितांत असमर्थ हूँ। किंतु अब तो काम चल पड़ा था और मैं उसमें लगा ही रहा।

दरिद्रों के दुर्ग में

मर्दुमशुमारी करनेवाले विद्यार्थियों ने निश्चित तिथि पर अपना काम सवेरे से ही आरंभ कर दिया; किंतु मैं, जो अपने को परोपकारी समझता था, दोपहर से पहले उनके साथ न लग सका। इसका कारण यह था कि दस बजे तो मैं सोकर उठा, उसके बाद मैंने कॉफी ली और फिर हाजमा ठीक करने के लिए सिगरेट भी। रज़्हानोफ़ भवन के फाटक पर पहुँचते-पहुँचते बारह बज गए। एक पुलिसवाले ने मुझे नदीवाली गली की सराय में पहुँचा दिया। विद्यार्थियों ने उससे कह रखा था कि अगर कोई हमें पूछने आए तो उसे सराय में पहुँचा देना।

मैं सराय के अंदर गया। वह अंधकारपूर्ण, बदबूदार और गंदी थी। ठीक मेरे सामने शराबखाना था। उसमें बाईं ओर एक छोटा कमरा था, जिसमें मैले मेजपोशों से ढकी हुई मेजें पड़ी थीं। दाहिनी ओर खंभोंवाला एक बड़ा कमरा था। उसमें भी खिड़की के पास और दीवारों से मिली हुई वैसी ही मेजें लगी थीं। कुछ लोग इधर-उधर बैठे चाय पी रहे थे। इनमें से कुछ ने तो फटे-पुराने कपड़े पहन रखे थे और कुछ की पोशाक अच्छी थी। वे मजदूर या छोटे दुकानदार मालूम पड़ते थे। साथ ही कुछ स्त्रियाँ भी बैठी चाय पी रही थीं। सराय बहुत गंदी थी; लेकिन यह देखते ही पता चल जाता था कि व्यापार अच्छा चल रहा है। सरायवाले की मुद्रा से व्यवहार-कुशलता टपक रही थी और बैरे बड़ी तत्परता और ध्यान से काम कर रहे थे।

मेरे भीतर घुसते ही एक बैरा मेरे पास आया। वह मुझे ओवरकोट उतारने में सहायता करने और मेरे आदेशानुसार सामान लाकर देने के लिए बिल्कुल तैयार था, जिससे साफ-साफ पता चलता था कि उस सराय के बैरे मुस्तैदी से काम करने के आदी हो चुके हैं। जब मैंने पूछा कि मर्दुमशुमारीवाले कहाँ हैं तो जर्मन फैशन के कपड़े पहने हुए एक नाटे आदमी ने, जो दुकान की एक आलमारी में कुछ सजा रहा था, नौकर को आवाज दी। वह सराय का मालिक था। उसका नाम ईवान फ़िदोतिश था और वह कालूगा का एक किसान था। उसने जीमिनी के आधे मकान को पट्टे पर लेकर कमरों को किराएदारों को उठा रखा था। उसकी आवाज सुनते ही अठारह वर्ष

का एक दुबला-पतला, तोते-जैसी नाकवाला पीले रंग का नौकर दौड़ा हुआ आया। उसके आते ही नाटे आदमी ने कहा, "वान्या, इन साहब को मर्दुमशुमारीवालों के पास ले जाओ। वह लोग कुएँ के ऊपरवाले बड़े मकान में है; जल्दी जाओ।"

लड़के ने अपना तौलिया उतारकर रख दिया और अपनी सफेद कमीज तथा सफेद पतलून[1] पर ओवरकोट डाट लिया। इसके अलावा उसने ऊँची बाढ़ की एक टोपी भी पहन ली और जल्दी-जल्दी पैर बढ़ाता हुआ वह मुझे पिछले दरवाजे से, जो अपने-आप बंद हो जाता था, ले गया। वहाँ के चिकनाई और दुर्गंध से परिपूर्ण रसोईघर के दालान में हमें एक बूढ़ी औरत मिली, जो एक चीथड़ें में लपेटा हुआ लोमड़ी का बदबूदार मांस बहुत सँभालकर ले जा रही थी। दालान से हम लोग ढालू आँगन में उतरे, जो चारों ओर से लकड़ी के मकान से घिरा हुआ था। इस मकान की नीचे की मंजिल ईंट की थी। आँगन में बहुत ही तेज़ बदबू थी, जो पाखाने में से आ रही थी। जब-जब मैं उधर से निकला मैंने पाखाने के चारों ओर लोगों की भीड़ ही देखी। सच पूछिए तो लोग पाखाने के भीतर जाकर निवृत्त नहीं होते थे। पाखाना तो एक ऐसे स्थान का संकेत मात्र था, जिसके चारों तरफ बैठकर निपटने की लोगों की प्रथा-सी पड़ गई थी। आँगन से होकर जाते समय उस ओर बरबस ध्यान खिंच जाता था, क्योंकि उधर से आनेवाली दुर्गंध से परिपूर्ण तीखे वातावरण में जाते ही दम घुटने लगता था।

वान्या अपनी सफेद पतलून को बचाता हुआ मुझे सावधानी के साथ कूड़े के ढेर के ऊपर से निकालता हुआ एक मकान में ले गया। आँगन और गैलरियों में आने-जानेवाले लोग रुककर मुझे देखने लगे। स्पष्टत: उस हिस्से में साफ-सुथरे कपड़े पहने हुए किसी आदमी का आना वहाँ के लोगों के लिए एक आश्चर्य की बात थी।

लड़के ने एक औरत से पूछा, "कुछ पता है कि मर्दुमशुमारीवाले किधर हैं?" इस पर कई आदमी एक साथ बोल उठे। कुछ ने कहा कि वह कुएँ पर हैं और कुछ ने बताया कि वहाँ थे तो, लेकिन अब आगे चले गए हैं। एक बूढ़े आदमी ने बताया कि वे तीस नंबर के मकान में हैं। वह आदमी केवल एक कमीज पहने हुए था और पाखाने के पास खड़ा हुआ अपने कपड़े ठीक कर रहा था। वान्या को उसकी बात सबसे सही मालूम पड़ी और वह निचली मंजिल के सायवान में से होकर मुझे तीस नंबर के मकान की ओर अँधेरे में ले चला, जहाँ एक दूसरी की तरह दुर्गंध आ रही थी। निचले खंड पर उतरकर हम दोनों एक अँधेरे कच्चे गलियारे में से होकर चले।

1. *जिस तरह की सराय की ऊपर चर्चा की गई है, उसके बैरे सदा रूसी ढंग के सफेद सूती कोट और पतलून पहने रहते हैं।*

अभी हम उस गलियारे में ही थे कि एकाएक एक दरवाजा खुला और उसमें से शराब के नशे में झूमता हुआ एक बूढ़ा निकला। उसने सिर्फ कमीज पहन रखी थी और देखने में वह किसान नहीं मालूम पड़ता था। एक धोबिन आस्तीनें चढ़ाए साबुनभरे हाथों से उसे चिल्ला-चिल्लाकर बाहर ढकेल रही थी। मेरे पथप्रदर्शक वान्या ने उसे एक ओर हटाकर डाँटते हुए कहा, "अफसर होकर इस तरह उत्पात मचाना ठीक नहीं।"

अब हम तीस नंबर के मकान पर पहुँचे। वान्या के दरवाजे को धक्का दिया तो वह तड़ाक से खुल गया और भीतर से साबुन की भाप, सड़े हुए भोजन तथा तमाखू की बड़ी तेज गंध आई। आगे गहन अंधकार था। खिड़कियाँ दूसरी ओर थीं और इस ओर दाएँ-बाएँ लकड़ी के तख्तों का गलियारा था, जिसमें भिन्न-भिन्न कोणों पर छोटे-छोटे दरवाजे लगे हुए थे। ये दरवाजे जिन कमरों में खुलते थे, वे सफेदी से पुते हुए लकड़ी के पतले तख्तों से घेरकर बना दिए गए थे। बाईं ओर के एक अँधेरे कमरे में एक औरत नाँद में कपड़े धो रही थी। दाहिनी ओर के एक छोटे दरवाजे से एक औरत झाँक रही थी। एक दूसरे खुले द्वार के भीतर घने बालोंवाला एक लाल मुँह का किसान दिखाई दिया। वह चटाई के जूते पहने दीवार से लगे हुए एक तख्ते पर बैठा था। यही तख्ता उसके लिए पलंग का भी काम देता था। वह अपने दोनों हाथ घुटनों पर रखे हुए था और पैरों को हिलाता हुआ, उदास आँखों से चटाई के जूतों को निहार रहा था।

गलियारे के अंत में एक छोटा-सा दरवाज़ा था। जिस कमरे में यह दरवाजा खुलता था, उसी में मर्दुमशुमारी वाले बैठे काम कर रहे थे। यह कमरा तीस नंबर के मकान की मालकिन का कमरा था। उसने सारा-का-सारा मकान ईवान फ़िदोतिश से किराए पर ले रखा था और उसके कमरों को स्थायी किराएदारों को या ऐसे लोगों को उठा रखा था, जो वहाँ रात को आकर सोते भर थे।

इसी छोटे-से कमरे में, रांग के पत्तर से बनी हुई एक मूर्ति के नीचे एक विद्यार्थी मर्दुमशुमारी के कार्ड लिए बैठा था और कमीज और जाकट पहने हुए एक किसान से मजिस्ट्रेट की भाँति प्रश्न पूछ रहा था। किसान गृहस्वामिनी का मित्र था और उसकी ओर से विद्यार्थी के प्रश्नों का उत्तर दे रहा था। वह बूढ़ी स्त्री भी वही बैठी थी और दो उत्सुक किराएदार भी आ डटे थे। जब मैं कमरे में घुसा तब वह ठसाठस भरा हुआ था और मैं मुश्किल से भिंचभिंचाकर मेज के पास तक पहुँचा। विद्यार्थी ने मुझे नमस्कार किया और इसके बाद वह फिर प्रश्न पूछने में लग गया। मैं भी अपने उद्देश्य को दृष्टि में रखकर वहाँ के रहनेवाले किराएदारों का अध्ययन करने लगा और बीच-बीच में उनसे आवश्यक पूछताछ भी करता रहा।

किंतु संयोगवश इससे पहले मकान में मुझे एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं मिला, जिस पर मैं अपनी परोपकारिता दरसा सकता। यों तो अपने आलीशान मकान की तुलना में मुझे वह घर दरिद्रतापूर्ण, छोटा और गंदा प्रतीत हुआ; लेकिन उसकी मालकिन शहरी गरीबों की अपेक्षा अधिक संपन्न थी और गाँवों की गरीबी की तुलना में तो, मैं यह कह सकता हूँ कि, वह शान के साथ रह रही थी। उसके पास परोंवाला बिछौना, रूई की रजाई, एक समोवर, एक गरमकोट और चीनी के बर्तनों से भरी एक आलमारी थी। उसका मित्र भी देखने में वैसी ही सुसंपन्न मालूम होता था। उसके पास तो एक घड़ी और चेन भी थी।

किराएदार निस्संदेह निर्धन थे; किंतु उनमें से किसी को भी तत्काल सहायता की आवश्यकता नहीं थी। केवल तीन आदमियों ने सहायता के लिए प्रार्थना की; एक तो नाँद में कपड़े धोनेवाली स्त्री ने, जिसे उसके पति ने छोड़ दिया था और जिसे अपने बच्चों का पालन-पोषण करना पड़ता था; दूसरे, एक बुढ़िया विधवा ने जिसने बतलाया कि उसे रोटी-पानी का कोई सहारा नहीं है और तीसरे, चटाई का जूता पहने हुए किसान ने जिसने बताया कि उस दिन उसे खाने को अन्न का एक दाना भी मयस्सर नहीं हुआ। किंतु पूछताछ करने पर पता चला कि इनमें से एक को भी सहायता की विशेष आवश्यकता नहीं थी और उनकी सहायता करने के लिए यह आवश्यक था कि उनके संबंध में ठीक से जानकारी प्राप्त कर ली जाए।

जिस स्त्री का पति छोड़कर चला गया था, उसके बच्चों को जब मैंने बाल-आश्रम में भरती करा देने का प्रस्ताव किया तब वह किंकर्तव्यविमूढ़ सी हो गई, उसने कुछ विचार किया और मुझे बहुत-बहुत धन्यवाद भी दिया; किंतु यह बात बिल्कुल स्पष्ट थी कि वह इस प्रकार की सहायता नहीं चाहती थी और रुपए-पैसे की मदद ही उसे अधिक प्रिय हो सकती थी। उसकी बड़ी लड़की कपड़े धोने में उसका हाथ बँटाया करती थी और छोटी लड़की बच्चे की देखभाल किया करती थी। हाँ, बुढ़िया ने अलबता गिड़गिड़ाकर अनाथालय में भरती किए जाने की प्रार्थना की; परंतु जब मैंने उसके रहने के कमरे को देखा तो मुझे पता चला कि वह सर्वथा दरिद्र नहीं है। उसके पास सामान से भरा हुआ एक छोटा-सा ट्रंक था। इसके अलावा उसके पास टीन की टोंटीवाली एक चायदानी, दो प्याले और कुछ मिठाई के डिब्बे थे, जिनमें अब चाय और चीनी रखी थी। वह मोजे और दस्ताने बुना करती थी और एक दयालु महिला से उसे कुछ मासिक सहायता भी मिलती थी। जहाँ तक किसान का सवाल था, उसे खाने को नहीं बल्कि पीने के लिए कुछ चाहिए था; और इसमें संदेह नहीं किउसे जो कुछ दिया जाता, वह कलाल की संदूकची में ही पहुँच जाता।

इस प्रकार मैंने देखा कि उस मकान में एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं था, जिसे मैं रुपया देकर सुखी बना सकता था, यद्यपि मैंने कल्पना की थी कि वहाँ इस प्रकार के लोगों की बहुलता होगी। मुझे वहाँ के प्रत्येक व्यक्ति की निर्धनता संदिग्ध मालूम पड़ी।

मैंने बुढ़िया, बच्चोंवाली स्त्री और किसान का नाम नोट कर लिया और निश्चय किया कि विशेष अभागों की सहायता कर लेने के बाद (जिनकी मुझे उस मकान में मिलने की आशा थी) इनके लिए कुछ-न-कुछ अवश्य करना होगा। मैंने यह भी निश्चय किया कि जो सहायता दी जाए, उसका कोई निश्चित क्रम हो; अर्थात् पहले उन लोगों को सहायता दी जाए, जो सबसे अधिक दुखी है और बाद में उन लोगों को, जिनके नाम नोट किए थे।

किंतु मैं जहाँ-जहाँ भी गया वहाँ-वहाँ मैंने ऐसी ही स्थिति देखी। सब लोग एक ही प्रकार के थे—ऐसे लोग जिन्हें सहायता देने से पहले उनकी स्थिति का अधिक ध्यानपूर्वक अध्ययन करना आवश्यक था। मुझे एक भी ऐसा दुखिया नहीं मिला, जिसे केवल आर्थिक सहायता देकर सुखी बनाया जा सकता था। यह स्वीकार करते हुए मुझे लज्जा आती है कि उन मकानों में मैंने जिस प्रकार के पीड़ितों को देखने की आशा की थी वैसे लोगों को वहाँ न पाकर मुझे निराशा होने लगी। मैंने सोचा था कि मुझे वहाँ बिलकुल ही असाधारण व्यक्ति मिलेंगे; किंतु सारे मकानों में चक्कर लगा चुकने के बाद मुझे विश्वास हो गया कि वहाँ के रहनेवालों में कोई विशेषता नहीं थी; वह भी वैसे ही थे जैसे हमारे आस-पास के लोग होते हैं। हमारी ही तरह उनमें भी भले, बुरे, सुखी और दुखी थे, सब तरह के लोग थे—कुछ ज्यादा और कुछ कम—और जो लोग दुखी थे वे बिलकुल वैसे ही दुखी थे जैसे हमारे बीच होते हैं। उनका दु:ख किन्हीं बाहरी परिस्थितियों पर निर्भर नहीं था; बल्कि वह स्वयं अपने दु:ख का कारण थे और उनकी दुर्दशा को रुपयों से दूर करना असंभव था।

तो यह सब भ्रम था!

इन मकानों में शहर की सबसे निम्न श्रेणी के लोग रहते थे, जिनकी संख्या मास्को में शायद एक लाख से कुछ ऊपर होगी। तीस नंबर के मकान में तो इस श्रेणी के सभी तरह के लोग थे—छोटे व्यापारी, कारीगर, चमार, ब्रुश बनानेवाले, बढ़ई, फर्नीचर बनानेवाले, मोची, दर्जी, लुहार, गाड़ीवान, स्वतंत्र धंधा करनेवाले, दुकान करनेवाली

औरतें, धोबिनें, पुराने कपड़ों का धंधा करनेवाले, छोटे-छोटे महाजन, मजदूर, बिना कोई निश्चित पेशेवाले लोग, भिखारी और वेश्याएँ।

ल्यापिन-अनाथालय के दरवाजे पर मैंने जिन लोगों को देखा था, उन्हीं में से बहुत-से स्त्री-पुरुष इस मकान में मौजूद थे; किंतु यहाँ वह मजदूरों में घुल-मिल गए थे। इसके अतिरिक्त पहले तो मैंने उनकी दीनतम अवस्था में देखा था, जबकि उन्होंने अपने पास की कौड़ी-कौड़ी खाने-पीने में उड़ा दी थी और सरायों से निकाल दिए जाने के कारण वह निःशुल्क रात्रि-गृह में प्रवेश पाने के लिए इस प्रकार नंगे और ठिठुरते हुए प्रतीक्षा कर रहे थे, जिस प्रकार कोई देवता के प्रसाद की करता है। उस समय उन्हें इस बात की आशा थी कि वे रात्रिगृह से जेल भेज दिए जाएँगे और फिर पुलिस के पहरे में अपने-अपने गाँव वापस पहुँचा दिए जाएँगे। इसके विपरीत, यहाँ मैंने देखा कि वे बहुत-से मजदूरों के साथ हिलमिलकर रह रहे हैं और अपनी-अपनी कोठरी का किराया देने के लिए उन्होंने किसी-न-किसी तरह चार पाँच कोपेक प्राप्त कर लिए हैं और शायद खाने-पीने के लिए उनकी जेब में कुछ रूबल भी हैं।

बात तो कुछ अजीब-सी है; लेकिन मैं सच कहता हूँ कि तीस नंबर के लोगों को देखकर मेरे मन में वैसी भावना नहीं उठी जैसी ल्यापिन अनाथालय में उठी थी। इसके विपरीत, पहले चक्कर के बाद ही मुझे और मेरे साथ काम करनेवाले विद्यार्थियों को एक 'सुख की-सी' अनुभूति हुई। 'सुख की-सी' ही क्यों? ऐसा कहना तो गलत होगा। मैं समझता हूँ कि 'बहुत सुखकर' कहना ज्यादा सही होगा।

तीस नंबर के मकान में रहनेवालों को देखकर मेरे मन पर जो पहली छाप पड़ी वह यह थी कि उनमें से अधिकांश श्रमजीवी हैं और उनका स्वभाव बहुत अच्छा है। अधिकतर लोग अपने-अपने काम में लगे हुए थे—धोबिनें अपनी नाँदों पर, बढ़ई अपनी बेंचों पर और मोची अपने स्टूलों पर। तंग कमरे लोगों से भरे हुए थे और उनमें हँसी-खुशी और फुर्ती के साथ काम हो रहा था। मजदूरों के पास पसीने की, मोचियों के पास चमड़े की और बढ़इयों के पास लकड़ी के छोल की दुर्गंध आ रही थी। रह-रहकर गाने की आवाज आती थी और नंगी बलवान् भुजाएँ तेजी व कुशलता के साथ खटाखट काम करती दिखाई देती थीं। हम जहाँ भी गए लोगों ने हमारा प्रसन्नता और सहृदयता के साथ स्वागत किया। इतना ही नहीं, हमने देखा कि हमारे जाने के कारण जिन लोगों की दैनिक दिनचर्या में बाधा पड़ी, उनमे मिथ्याडंबर या रूखे-सूखे उत्तर देने की वह भावना उत्पन्न नहीं हुई जो कि अधिकांश धनी परिवारों में मर्दुमशुमारी वालों के आने पर हो जाती है। इसके विपरीत, इन लोगों ने हमारे प्रश्नों को कोई विशेष महत्त्व न देते हुए उचित रूप से उत्तर दिए। सच पूछिए

तो उन्हें यह देखने में बड़ा मजा आया कि मर्दुमशुमारी का फार्म किस तरह भरा जाता है, किस एक मनुष्य को दो के बराबर और किन दो मनुष्यों को एक के बराबर माना जाता है; इत्यादि।

बहुतों को हमने भोजन करते या चाय पीते पाया और जब हमने 'रोटी और नमक' या 'चाय और चीनी'[1] कहकर उन्हें नमस्कार किया तो प्राय: सभी ने यही उत्तर दिया, "आइए आप भी हमारा साथ दीजिए।" और कुछ ने तो खिसककर हमारे बैठने के लिए जगह भी खाली कर दी। हम समझते थे कि यह मकान सिर्फ खानाबदोशों का डेरा होगा; लेकिन यहाँ हमें कितने ही ऐसे कमरे मिले, जिनमें किराएदार बहुत दिनों से रहते चले आ रहे थे। एक बढ़ई अपने कारीगरों के साथ और एक मोची अपने सहकारियों के साथ यहाँ दस वर्ष से रह रहा था। मोची की कोठरी बड़ी गंदी थी और वह सामान तथा आदमियों से अटी पड़ी थी, फिर भी वहाँ जितने लोग काम कर रहे थे वह सब-के-सब खुश थे। उनमें से एक मजदूर से मैंने यह सोचकर बातचीत की कि वह अपनी दुर्दशा का बखान करेगा और बतलाएगा कि मालिक का कर्जदार होने के कारण उसे कैसी-कैसी मुसीबतें झेलनी पड़ रहीं हैं; किंतु मेरी बातें उसकी समझ में नहीं आईं और उसने अपने स्वामी तथा अपने जीवन दोनों के प्रति संतोष प्रकट किया।

एक कोठरी में एक बूढ़ा आदमी अपनी बूढ़ी स्त्री के साथ रहता था। वह दोनों सेब बेचा करते थे। सामान से भरी रहने पर भी उनकी कोठरी गरम और साफ थी। फर्श पर पुआल के बोरे बिछे थे, जो वह सेब के थोक व्यापारियों के यहाँ से आए थे। कोठरी में ट्रंक, आलमारियाँ, एक सोमवार और चीनी के बर्तन थे। एक कोने में कितनी ही मूर्तियाँ थीं, जिनके ऊपर दो छोटे-छोटे लैंप जल रहे थे। दीवार पर चादर में लिपटे हुए गरम ओवरकोट लटक रहे थे। बुढ़िया के चेहरे पर तारे की शक्ल की झुर्रियाँ पड़ी हुई थीं। वह सहृदय और बातूनी थी और अपने शांत व्यवस्थित जीवन से संतुष्ट दिखलाई देती थी।

सराय और इन कोठरियों का मालिक ईवान फिदोतिश सराय से उठकर आया और हमारे साथ हो लिया। उसने कितने ही किराएदारों के साथ विनोदपूर्वक बातें कीं, घनिष्ठता से उनका नाम लेकर पुकारा और हमको हरेक का संक्षिप्त जीवन-वृत्तांत भी सुनाया। वह सब साधारण श्रेणी के लोग थे और अपने को अभागा न समझकर दूसरों के समान ही समझते थे और वस्तुत: वह थे भी ऐसे ही।

हम लोग इस बात के लिए तैयार होकर आए थे कि यहाँ हमें केवल दयनीय

1. *रूस में भोजन करते समय ग्रामीणों से ऐसे ही नमस्कार करने की प्रथा है।*

और घृणित दृश्य दिखाई देंगे, किंतु आशा के विपरीत कुछ ऐसी अच्छी चीजें देखने को मिलीं, जिनके प्रति हमारे मन में अनायास ही आदर की भावना जागृत हो गई। भले आदमियों की संख्या यहाँ इतनी अधिक थी कि उनके बीच यहाँ-वहाँ जीर्ण-शीर्ण, पतित और काहिल व्यक्तियों के रहने पर भी हमारे हृदय पर वहाँ की स्थिति के संबंध में जो छाप लग चुकी थी वह मिट नहीं पाई।

इन बातों का जितना प्रभाव मुझ पर पड़ा उतना विद्यार्थियों पर नहीं। वे तो वहाँ एक ऐसा कार्य करने आए थे, जिसका उनकी दृष्टि में वैज्ञानिक मूल्य था; वह तो बस बीच-बीच में योंही चलते-फिरते हुए टीका-टिप्पणी कर लेते थे। परंतु एक परोपकारी होने के नाते मैं उन अभागे, मरणोन्मुख और पतित व्यक्तियों की सहायता करने आया था, जिनकी वहाँ मिलने की मुझे आशा थी। लेकिन ऐसे लोगों की बजाए मुझे वहाँ अधिकतर शांत, संतुष्ट, प्रसन्न, सहृदय और अत्यंत परिश्रमी लोग ही मिले।

इसका पूरा-पूरा अनुभव मुझे तब हुआ जब इन मकानों में मुझे सचमुच ही कुछ ऐसे दीन-हीन लोग मिले जैसों की मैं सहायता करना चाहता था। किंतु जब-जब मुझे ऐसे लोगों का पता लगा तभी-तभी यह भी मालूम हुआ कि इनकी आवश्यकताएँ पहले ही पूर्ण की जा चुकी हैं और जो सहायता मैं देना चाहता हूँ वह मेरे आने से पूर्व ही इन्हें प्राप्त हो चुकी हैं। जानते हैं, यह सहायता किसने दी थी? उन्हीं अभागों और पतितों ने, जिनका मैं उद्धार करने चला था! इतनी ही नहीं, यह सहायता उन्हें जितने अच्छे ढंग से दी गई थी, उतने अच्छे ढंग से मैं नहीं दे सकता था।

तहखाने की एक कोठरी में एक बूढ़ा टाइफस-ज्वर से पीड़ित अकेला पड़ा था। उसका अपना कोई सगा-संबंधी नहीं था। एक विधवा पड़ोसिन, जो उसी कोठरी के एक-दूसरे कोने में रहती थी और जिसके एक छोटी-सी लड़की थी, वह वृद्ध से बिल्कुल अपरिचित होती हुई भी उसकी देख-भाल कर रही थी, वह उसे अपने पास से चाय पिलाती और अपने ही पैसे से उसके लिए दवा लाती। एक दूसरे कमरे में एक स्त्री प्रसूति-ज्वर से पीड़ित थी और उसके बच्चे को वेश्यावृत्ति वाली एक शहरी स्त्री खिला रही थी। चीथड़े को लपेटकर उसने उसके लिए चुसनी तैयार कर ली थी और दो दिन से वह अपने पेशे पर नहीं गई थी। इसी तरह एक दर्जी ने, जिसके अपने बच्चे थे, एक अनाथ लड़की को आश्रय दे रखा था।

अब रहे वहाँ के अभागे काहिल—जैसे कारकुन, नकलनवीस, बेकार चपरासी, भिखारी, शराबी, वेश्याएँ और बालक। इन्हें तत्काल सहायता देना असंभव था। यह आवश्यक था कि इनके विषय में पूरी पड़ताल की जाए और फिर इनकी स्थिति पर

विचार कर इन्हें काम पर लगाया जाए। मैं ऐसे दीन-दुखियों की तलाश में था, जिनकी दुर्दशा का कारण दरिद्रता हो और जिन्हें हम अपने फालतू धन का कुछ अंश देकर सहायता पहुँचा सकें; परंतु दुर्भाग्यवश—मैं तो इसे दुर्भाग्य ही समझता था—मुझे वहाँ एक भी ऐसा आदमी नहीं मिला। मुझे तो केवल ऐसे दुखिए मिले, जिनके संबंध में अधिक समय और सावधानी की आवश्यकता थी।

कुलीन कंगाल

जिन अभागों के नाम मैंने नोट किए थे, वे मेरी समझ में स्वभावतः तीन श्रेणियों में बाँटे जा सकते थे। पहली श्रेणी उन लोगों की थी जो अपनी अच्छी नौकरियाँ खो बैठे थे और उन्हें फिर से प्राप्त करने की प्रतीक्षा में थे। इस श्रेणी में उच्च और निम्न दोनों वर्गों के लोग थे। दूसरी श्रेणी वेश्याओं की थी, जिनकी बहुलता थी, और तीसरी श्रेणी बच्चों की थी। मुझे सबसे अधिक पहली श्रेणी के ही लोग मिले और उनके नाम मैंने अपनी नोटबुक में लिख लिए। इस श्रेणी के लोग बहुत बड़ी संख्या में थे। सरकारी कर्मचारी और संभ्रांत घरानेवाले तो विशेष रूप से अधिक थे। ईवान फिदोतिश के साथ हम जिस-जिस कमरे में गए, प्रायः सभी जगह उसने हमसे यही कहा, ''यहाँ आपको किराएदारों की सूची स्वयं नहीं भरनी पड़ेगी। यहाँ फलां आदमी है, जो यह काम कर सकता है, बशर्ते कि उसने आज पी न रखी हो।''

यह कहने के बाद ईवान फिदोतिश उस आदमी का नाम लेकर पुकारता और फिर मकान के किसी अँधेरे कोने से अर्द्धनग्न अवस्था में और प्रायः पिए हुए ही कोई ऐसा आदमी निकलता जो पहले या तो धनवान था या किसी अच्छे पद का सरकारी कर्मचारी। यदि वह पिए हुए न होता तो सहर्ष काम करने को तैयार हो जाता। अपनी महत्ता का अनुभव करते हुए वह गर्वपूर्वक सिर हिलाकर स्वीकृति की सूचना देता और भौंहें सिकोड़कर बातचीत में विद्वत्तापूर्ण शब्दों का प्रयोग करता। अपने काँपते हुए गंदें हाथों में मर्दुमशुमारी के छपे हुए साफ लाल कार्ड को सावधानी से पकड़ते हुए वह अपने साथ रहनेवालों की ओर गर्व और घृणा की दृष्टि से देखता, मानो जो लोग अक्सर उसका अनादर किया करते थे, उन पर उसे अपनी उच्च शिक्षा के प्रताप से विजय मिल गई हो। यह साफ मालूम पड़ता था कि जिस दुनिया में लाल कार्ड छपते हैं और जिसमें पहले वह स्वयं रह चुका था, उसके संपर्क में आकर उसे बड़ी प्रसन्नता हुई है। जब कभी मैं उससे उसके जीवन के विषय में कोई प्रश्न पूछता तो वह केवल तत्परता नहीं, बल्कि उत्साह के साथ अपनी विपदाओं की कथा सुनाने

लगता, मानो वह कथा उसे भजन की तरह कंठाग्र हो गई हो। विशेषरूप से वह अपने उस पूर्व पद का उल्लेख करता जो वह समझता था कि उसकी शिक्षा-संबंधी योग्यता के कारण उसे ही मिलना चाहिए।

रज़्हानोफ़-भवन के कोने-कोने में इसी तरह के लोग बहुत बड़ी संख्या में फैले पड़े थे। एक खंड तो पूरा-का-पूरा ऐसे ही स्त्री-पुरुषों से भरा हुआ था। जब हम वहाँ पहुँचे तो ईवान फिदोतिश ने कहा, "देखिए, यहाँ कुलीन लोग रहते हैं।" वह खंड बिल्कुल भरा हुआ था और उस समय प्राय: सभी किराएदार, जिनकी संख्या लगभग चालीस के थी, अपने-अपने कमरे में ही थे। सारे रज़्हानोफ-भवन में इनसे अधिक पतित और दुखी और कोई नहीं था। बूढ़ों के शरीर पर झुर्रियाँ पड़ी हुई थीं और युवक रूखे तथा पीले दिखाई पड़ते थे। मैंने उनमें से कुछ लोगों से बातचीत की। सबकी लगभग एक-सी कहानी थी। अंतर केवल विकास-क्रम में था, अर्थात् किसी की कहानी बहुत आगे बढ़ चुकी थी और किसी की अभी आरंभ ही हुई थी।

ये सब-के-सब या तो कभी स्वयं धनवान थे या इनके बाप,भाई, चाचा, ताऊ पर कभी लक्ष्मी की कृपा थी। इसी तरह कभी या तो ये स्वयं या इनके पिता किसी अच्छे पद पर प्रतिष्ठित थे। बाद में ये किसी ईर्ष्यालु व्यक्ति, या अपने अदूरदर्शितापूर्ण सरल स्वभाव, या किसी आकस्मिक घटना के कारण विपत्ति में फँस गए और अब सर्वस्व गँवा चुकने पर इन्हें इस प्रकार अनुपयुक्त तथा घृणास्पद वातावरण में शराबियों और दुराचारियों के बीच गंदे चीथड़े पहनकर रहना पड़ता था। इतना ही नहीं, इन्हें बैल के मांस और रोटी से पेट पालकर भिक्षा के लिए भी हाथ फैलाना पड़ता था। इन लोगों की सारी भावनाएँ, सारी इच्छाएँ, सारी स्मृतियाँ अतीत में ही निहित थीं। वर्तमान इन्हें अस्वाभाविक, घृणास्पद और उपेक्षणीय मालूम होता था। सच पूछिए तो इनका कोई वर्तमान था ही नहीं। इनके पास थी केवल अतीत की स्मृतियां और भविष्य की आशाएँ, जो उनकी समझ में किसी समय भी पूर्ण हो सकती थीं और जिनकी पूर्ति के लिए बहुत ही कम प्रयास की आवश्यकता थी। किंतु यह अल्प प्रयास भी उनकी क्षमता से बाहर था, इसलिए उनका जीवन व्यर्थ ही नष्ट हो रहा था। इस दुर्दशा में रहते-रहते किसी को एक, किसी को पाँच और किसी को तीस वर्ष हो गए थे। उनमें से किसी एक की तो धारणा यह थी कि उसे बस अच्छी पोशाक भर की कमी है, वह अगर मिल जाए तो उसे पहनकर वह एक ऐसे प्रसिद्ध व्यक्ति से मिलने चला जाए जो उस पर कृपा करने के लिए तैयार था। किसी दूसरे को केवल इस बात की आवश्यकता प्रतीत होती थी कि उसे पहनने को कपड़े मिल जाएँ और वह अपना थोड़ा-बहुत कर्ज उतारकर ओरेल नगर चला जाए। इसी तरह कोई तीसरा केवल यह चाहता था कि उसकी गिरवी रखी हुई चीजें छूट

जाएँ और उसे थोड़े-से रुपए मिल जाएँ ताकि उनकी सहायता से वह अपना वह मुकदमा लड़ सके, जिसमें उसकी जीत निश्चित थी और जिसके बाद उसकी स्थिति फिर अच्छी हो सकती थी। सब यही कहते थे कि यदि थोड़ी-सी बाहरी सहायता मिल जाए तो वे उस स्थिति को पुन: प्राप्त कर लेंगे, जिसे वह अपने लिए स्वाभाविक और सुखकर समझते थे।

यदि दानवीरता के मद ने मेरी आँखों पर परदा न डाल दिया होता तो मैं इन साधारणत: दुर्बल और विलासी किंतु अच्छे स्वभाववाले वृद्धों और तरुणों के मुखों की ओर थोड़ा-सा देखकर ही समझ जाता कि इनकी दुर्दशा बाहरी युक्तियों द्वारा दूर नहीं की जा सकती और जब तक इनके जीवन-संबंधी विचारों में परिवर्तन नहीं किया जाएगा तब तक ये किसी अवस्था में भी सुखी नहीं रह सकेंगे। साथ-ही-साथ यह भी समझ जाता कि दुर्भाग्य का पहाड़ विशेष रूप से इन्हीं के ऊपर नहीं टूटा है, बल्कि ये भी वैसे ही व्यक्ति हैं जैसे हमारे चारों तरफ हैं या जैसे हम स्वयं हैं।

मुझे याद है कि इस प्रकार के दुखियों के संसर्ग में आना मुझे विशेष रूप से कष्टकर मालूम होता था और अब मैं समझ गया हूँ कि ऐसा क्यों होता था। शीशे की तरह उनके अंदर मुझे अपना ही रूप दिखाई देता था। यदि मैंने स्वयं अपने और अपनी श्रेणी के लोगों के जीवन पर विचार किया होता तो मुझे पता चल जाता कि हममें और इनमें कोई तात्त्विक अंतर नहीं है।

आज यदि मेरे आसपास के लोग रज़्हानोफ़-भवन में न रहकर अच्छी-से-अच्छी सड़कों पर बड़े-बड़े कमरों और मकानों में रहते हैं और यदि वह साधारण मांस-रोटी के बदले स्वादिष्ट भोजन और पान करते हैं तो इसका यह अर्थ नहीं कि वह अभागे नहीं हैं। वे लोग भी अपनी स्थिति से असंतुष्ट हैं, वे लोग भी अतीत के लिए आँसू बहाते हैं और सुंदर भविष्य का सपना देखते हैं। अपने लिए वह भी वैसे ही उत्तमतर पद चाहते हैं, जैसे रज़्हानोफ़-भवन के निवासी चाहते हैं, अर्थात् वे भी ऐसा ही पद चाहते हैं, जिस पर रहकर उन्हें स्वयं तो कम काम करना पड़े और दूसरों से वह अपने लिए अधिक काम करा सकें। भेद केवल मात्रा का है।

यदि मैंने गंभीरतापूर्वक विचार किया होता तो यह बात मेरी समझ में उसी समय आ गई होती; किंतु ऐसा करने के बजाए मैंने उन दुखियों से केवल प्रश्न पूछे और उनके नाम नोट कर लिए, ताकि उनकी स्थिति और आवश्यकताओं का पूरा पता लगाकर बाद में मैं उनकी सहायता कर सकूँ। उस समय यह बात मेरी सूझ में नहीं आई कि ऐसे लोगों की सहायता केवल उनके जीवन-संबंधी दृष्टिकोण में परिवर्तन करके ही की जा सकती है और किसी दूसरे के जीवन-संबंधी दृष्टिकोण को बदलने

के लिए यह आवश्यक है कि स्वयं हमारे जीवन का दृष्टिकोण उनकी अपेक्षा ऊँचा हो और उसी दृष्टिकोण के अनुसार हम जीवन-निर्वाह भी करें। किंतु मैंने देखा कि जिस दृष्टिकोण को सामने रखकर मैं जीवन-यापन कर रहा था, स्वयं उसमें ही परिवर्तन की आवश्यकता थी और उसे बदलने के बाद ही दूसरों को उनके दुर्भाग्य से मुक्त किया जा सकता था।

यदि मैं लाक्षणिक भाषा का प्रयोग करूँ तो कह सकता हूँ कि उस समय मुझे यह पता नहीं चला कि जिन अभागों को मैंने देखा था, उनके दु:ख का कारण यह नहीं है कि उन्हें पौष्टिक भोजन नहीं मिलता; बल्कि यह कि उनकी पाचन-शक्ति में विकार उत्पन्न हो गया है और वे जिस भोजन की माँग कर रहे है वह पुष्टिकर नहीं, बल्कि केवल भूख को उत्तेजित करनेवाला है। मेरी समझ में यह बात नहीं आई कि उनको भोजन की नहीं, बल्कि पाचन-विकार को दूर करनेवाली औषधि की आवश्यकता है। वैसे तो यह बात आगे आएगी, फिर भी यहाँ इतना तो बता ही दूँ कि मैंने जितने भी लोगों के नाम लिखे थे, उनमें से एक की भी मैंने वास्तविक सहायता नही की, हालाँकि उन लोगों ने जो कुछ माँगा—और जिसके मिल जाने से ऐसा लगता था कि वह स्वयं अपने पैरों पर खड़े हो जाएँगे—वह उनमें से कुछ को मिल गया। इनमें से तीन को तो मैं विशेष रूप से अच्छी तरह जानता हूँ। बार-बार सहायता देने पर भी इन तीनों की आज भी वही दशा है जो तीन वर्ष पहले थी।

बेचारी वेश्याएँ

अभागों की दूसरी श्रणी में वेश्याएँ थीं। मुझे आशा थी कि बाद में मैं इनकी सहायता कर सकूँगा। रज़्हानोफ़-भवन में इनकी भरमार थी और ये हर तरह की थीं—युवावस्था में ही प्रौढ़ा-सी दिखाई देनेवाली लड़कियों से लेकर उन भयंकर कुरूपा बुढ़ियों तक, जिनमें मनुष्य होने का कोई लक्षण ही शेष नहीं रह गया था। पहले इनकी ओर मैंने ध्यान नहीं दिया था; किंतु निम्नलिखित घटना ने मेरे हृदय में यह आशा उत्पन्न कर दी कि कदाचित् मैं इनकी कुछ सहायता कर सकूँ।

यह घटना रज़्हानोफ़-भवन का चक्कर लगाते समय घटी। उस समय तक हम अपने काम की एक नियमित योजना बना चुके थे।

हर नए मकान में घुसते ही हम पहले उसके मालिक के बारे में पूछते थे। इसके बाद हममें से एक आदमी लिखने के लिए जगह साफ कर बैठ जाता था और दूसरा आदमी मकान के एक कोने से दूसरे कोने तक जाकर प्रत्येक व्यक्ति से अलग-

अलग प्रश्न पूछता था और फिर आकर सारी बातें लेखक को बता देता था।

इस तरह काम करते हुए जब हम सबसे नीचे के खंड के एक कमरे में पहुँचे तब एक विद्यार्थी मालिक का पता लगाने चला गया और मैं उस कमरे के रहनेवालों से बातचीत करने लगा। वहाँ रहने की व्यवस्था इस प्रकार की गई थी—उस चौदह वर्गफुट चौकोर कमरे के बीचोबीच एक ईंट की अँगीठी बनी हुई थी। इस अँगीठी के पास से चार परदे एक सितारे के रूप में खिंचे हुए थे, जिनसे कमरे के चार अलग-अलग खंड बन गए थे। पहले खंड में से रास्ता था। उसमें चार खाटें पड़ी थीं और वहाँ एक बूढ़ा एक औरत के साथ बैठा था। वहाँ से एक लंबा-सा खंड सीधा चला गया था, जिसमें मकान-मालिक रहता था। यह मकान-मालिक एक नवयुवक था, जिसका रंग बहुत पीला पड़ गया था और जिसने एक संभ्रांत पुरुष की भाँति भूरे रंग का कोट पहन रखा था। पहले खंड की बाईं ओर एक और खंड था, जिसमें एक आदमी सोया हुआ था (शायद वह पिए हुए था)। उसके पास ही एक औरत बैठी हुई थी, जिसकी गुलाबी रंग की ब्लाउज आगे से ढीला और पीछे से कसी हुई थी। चौथा खंड परदे के पीछे था और उसका रास्ता मकान-मालिक के खंड से होकर था।

विद्यार्थी मकान-मालिक के खंड में चला गया और मैं पहले में रुककर बूढ़े आदमी और स्त्री से बातें करने लगा। बूढ़ा पहले छपाई का काम करता था; लेकिन अब उसके पास पेट पालने का कोई साधन नहीं रह गया था। स्त्री किसी बावर्ची की पत्नी थी।

तीसरे खंड में जाकर मैंने ब्लाउज पहने हुए औरत से सोनेवाले आदमी के बारे में पूछा। उसने बतलाया कि यह एक आगंतुक है। इस पर मैंने उससे सवाल किया, "तुम कौन हो?"

"मैं मास्को की रहनेवाली एक किसान स्त्री हूँ।" उत्तर मिला।

"तुम्हारा पेशा क्या है?" मैंने फिर पूछा।

इस पर वह हँस दी और बोली नहीं। यह सोचकर कि शायद वह मेरा सवाल समझी नहीं, मैंने फिर प्रश्न किया, "तुम्हारा गुजारा किस तरह होता है?"

"मैं सराय में बैठती हूँ।" वह बोली।

मैं उसकी बात नहीं समझा और बोला, "तुम्हारी रोटी का क्या सहारा है?"

वह फिर कोई उत्तर दिए बिना ही हँस दी। चौथे खंड से भी, जहाँ हम अभी तक नहीं गए थे, औरतों के हँसने की आवाज आई।

मकान-मालिक अपनी कोठरी से बाहर आकर हमारे पास खड़ा हो गया। स्पष्टत: उसने मेरे प्रश्न और स्त्री के उत्तर सुन लिए थे। उसने स्त्री की ओर घूरकर

देखा और फिर मुझे संबोधित करते हुए कहा, ''यह वेश्या है।'' साफ मालूम पड़ता था कि मन-ही-मन उसे इस बात की खुशी हो रही थी कि वह सरकारी कर्मचारियों द्वारा प्रयोग में लाए जानेवाले 'वेश्या' शब्द को जानता है और उसका ठीक से उच्चारण भी कर सकता है। इस बात को कहते-कहते उसके होंठों पर अभिमानपूर्ण संतोष की एक अदृश्य-सी मुस्कान खेल गई। इसके बाद वह उस स्त्री की ओर घूमा और जैसे ही उसने उससे बोलना आरंभ किया, उसके सारे मुख की मुद्रा बदल गई। एक विचित्र घृणासूचक स्वर में— जैसे कोई कुत्ते को दुतकारता है—वह उस स्त्री की ओर बिना देखे ही जल्दी-जल्दी बोला, ''सराय में बैठती हूँ! अरी, अगर सराय में बैठती है तो साफ-साफ कहती क्यों नहीं कि वेश्या है?'' उसने इस शब्द का एक बार फिर प्रयोग किया और मुझसे कहा, 'देखिए न, इसे यही पता नहीं कि अपने को क्या कहे।'

उसकी बातचीत के ढंग पर मुझे बड़ा क्रोध आया और मैं बोला, ''इसे लज्जित करने का हमें कोई अधिकार नहीं। अगर हम सब सदाचार के साथ जीवन बिताएँ तो कोई वेश्या हो ही नहीं।''

''हाँ, इसका यही उपाय है।'' मकान-मालिक ने कृत्रिम हँसी हँसते हुए कहा।

''हमारा काम इन्हें धिक्कारना नहीं, बल्कि इन पर दया करना है। इसमें इनका क्या अपराध?''

मुझे याद नहीं कि उस समय मैंने क्या-क्या कह डाला; किंतु इतना जानता हूँ कि स्त्रियों से भरे हुए उस मकान के नवयुवक मालिक के प्रति, उन स्त्रियों को वेश्या कहकर घृणासूचक स्वर में बातचीत करने के कारण, मेरे मन में विद्रोह की आग भड़क उठी और उन स्त्रियों के लिए मुझे बड़ी ग्लानि हुई। अपनी यह भावना मैंने वहीं व्यक्त भी कर दी और अभी मेरी बात पूरी भी नहीं हो पाई थी कि जिस खंड से पहले हँसी की आवाज आई थी, वहाँ चारपाई का काम देनेवाले तख्तों की चरचराहट सुनाई दी और परदे के ऊपर (जो छत तक ऊँचा नहीं था) चमकते हुए लाल चेहरेवाली एक स्त्री के बिखरे हुए घुँघराले बाल और सजी हुई छोटी-छोटी आँखें दिखाई दी। उनके क्षणभर बाद ही एक दूसरी और फिर तीसरी स्त्री का सिर दिखाई पड़ा। साफ मालूम पड़ता था कि तीनों जनीं अपनी चारपाइयों पर खड़ी हो गई हैं और गर्दन उचकाए चुपचाप साँस रोककर हमारी ओर ध्यानपूर्वक देख रही हैं।

कुछ देर के लिए भद्दा सन्नाटा छाया रहा। विद्यार्थी, जो अब तक मुसकरा रहा था, गंभीर हो गया। मकान-मालिक ने लज्जित होकर आँखें नीची कर लीं और औरतें साँस खीचे मेरा मुँह ताकती रहीं। मुझे अपने तईं उनसे भी अधिक लज्जा

मालूम हुई। मैंने यह रत्ती भर भी आशा नहीं की थी कि मेरी साधारण-सी बात का उन पर इतना प्रभाव पड़ेगा। यह तो ऐसा ही हुआ जैसे किसी देवात्मा के स्पर्श से श्मशान में बिखरी हुई हड्डियों में चेतना आ गई हो और वे हिलने-डुलने लगी हों। मेरे मुँह से तो ऐसे ही संयोगवश प्रेम और सहानुभूति का एक शब्द निकल गया था, किंतु उन पर उसका ऐसा प्रभाव पड़ा मानो उनके मृत शरीर पुनर्जीवित होने के लिए उसी शब्द की प्रतीक्षा कर रहे थे। वे मेरी ओर उत्कंठाभरे नेत्रों से देख रही थीं और इस सोच में थीं कि आगे क्या होगा! ऐसा लगता था जैसे वे इस प्रतीक्षा में हों कि मैं वे शब्द कहूँ और वे काम करूँ, जिनसे मरी हुई हड्डियाँ फिर से एक-दूसरे से जुड़ जाएँ उन पर मांस चढ़ आए और वे पुन: जीवित हो उठें। परंतु मैंने अनुभव किया कि जो बात मैं आरंभ कर चुका था, आगे बढ़ाने के लिए मेरे पास न कोई शब्द था और न कोई काम। मेरी अंतरात्मा ने कहा कि मैंने झूठ बोला है; मैं स्वयं इन्हीं लोगों के समान हूँ और मेरे पास कुछ और कहने को नहीं है। अत: मैं कार्डों पर वहाँ रहनेवालों के नाम और उनके पेशे लिखने लगा।

इस घटना ने मुझसे एक और नई गलती कराई। मैं यह मान बैठा कि इन अभागों की भी सहायता करना संभव है। आत्म-भ्रांति के कारण उस समय मुझे ऐसा लगा कि यह कार्य बड़ी सरलता के साथ संपन्न हो जाएगा। मैंने मन-ही-मन में कहा, 'हम इन स्त्रियों के भी नाम लिख लें और बाद में जब सबके नाम लिखे जा चुकें तब हम इनकी ओर ध्यान दें।' उस समय मैंने यह नहीं सोचा कि 'हम' शब्द से मेरा क्या मतलब है और उसमें कौन-कौन शामिल हैं। मैंने सोचा कि हम—वे ही हम, जो कई पीढ़ियों से इन स्त्रियों के कुमार्ग पर ढकेलते आए हैं और अब भी ढकेल रहे हैं—एक दिन अचानक इस भूल को सुधारने का बीड़ा उठा सकेंगे; किंतु यदि उस समय मैंने केवल उस बातचीत को याद भर कर लिया होता, जो मैंने बीमार स्त्री के बच्चे को खिलानेवाली वेश्या से की थी तो मेरी समझ में आ जाता कि इस काम को हाथ में लेना कितना मूर्खतापूर्ण था!

उस वेश्या को बच्चा खिलाते देखकर हम समझते थे कि बच्चा उसी का है। हमारे यह पूछने पर कि तुम कौन हो उसने सहज भाव से बता दिया, ''मैं एक कुलटा हूँ।'' उसने 'वेश्या' शब्द नहीं कहा। इस भयंकर शब्द का प्रयोग तो केवल उस मकान-मालिक ने किया था।

यह मानकर कि यह वेश्या बच्चेवाली है, मेरे मन में उसे पंक से निकालने का विचार आया और मैंने उससे पूछा,

''क्या यह बच्चा तुम्हारा है?''

''नहीं, यह इस औरत का है।''

"तो फिर तुम इसे क्यों खिला रही हो?"

अपनी मान्यता के अशुद्ध सिद्ध होने पर भी मैं उस स्त्री से उसी दृष्टिकोण से बात करता रहा। मैंने उससे पूछा, "तू कौन है और इस स्थिति में कैसे फँस गई?" उसने सहज भाव से सहर्ष अपनी सारी कहानी कह सुनाई—उसका जन्म मास्को में हुआ था और वह एक फैक्टरी के मजदूर की लड़की थी। जब उसके माँ-बाप उसको अनाथ छोड़कर मर गए तो उसकी चाची ने (जिसका अब देहांत हो गया था) उसे पाला-पोसा। अपनी इसी चाची के पास रहते हुए उसने सरायों में जाना शुरू किया। जब मैंने उससे पूछा कि क्या तुम अपना यह जीवन बदलना पसंद करोगी तो स्पष्टतः उसे मेरे इस प्रश्न में दिलचस्पी तक नहीं हुई। एक सर्वथा असंभव प्रस्ताव भला किसी को कैसे आकर्षित कर सकता था? उसने मुँह बनाकर कहा, "लेकिन इस पीले टिकटवाली[1] को रखेगा कौन?"

"मान लो कि हम तुम्हें कहीं रसोई बनाने का काम दिलवा दें?" मैंने प्रस्ताव किया। यह विचार मेरे मन में इसलिए उठा कि रसोईदारिनों की तरह वह भी सन-जैसे बालोंवाली एक तगड़ी औरत थी और उसके गोल-मटोल चेहरे पर सहृदयता झलकती थी। मेरी बात उसे पसंद नहीं आई और वह बोली, "रसोई बनाने का काम! लेकिन मैं रोटी सेंकना तो जानती ही नहीं।" यह कहकर वह हँसने लगी। उसकी दलील तो यही थी कि वह रसोईदारिन बन नहीं सकती; किंतु मैं उसकी मुखाकृति को देखकर समझ गया कि वह रसोईदारिन बनना चाहती नहीं और इस काम और पेशे को घृणा की दृष्टि से देखती है।

यह स्त्री, जिसने बाइबिल में उल्लिखित विधवा की भाँति अपने बीमार पड़ोसी की सेवा में अपना सर्वस्व लगा दिया था, अपने पेशेवाली अन्य स्त्रियों की भाँति मेहनत-मजदूरी के काम को हीन और घृणित समझती थी। उसका तो लालन-पालन ही इस ढंग से हुआ था कि उसे अपने जीवन में मेहनत-मजदूरी न करनी पड़े और उसका यह जीवन उसके पासवालों की दृष्टि में बिल्कुल स्वाभाविक था। वस्तुतः यही उसका दुर्भाग्य था और इसी दुर्भाग्य के कारण उसकी यह दुर्दशा हुई थी और अब भी वह उसी में पड़ी हुई थी। इसी के कारण वह सरायों में बैठी और अब हममें ऐसा कौन पुरुष या स्त्री है, जो उसके जीवन-संबंधी इस मिथ्या दृष्टिकोण को बदल सके? हममें ऐसे लोग हैं ही कहाँ, जिन्हें इस बात का पक्का विश्वास हो कि आलस्यपूर्ण जीवन की अपेक्षा परिश्रमी जीवन सदा ही सम्माननीय है, जो अपने इस विश्वास के अनुसार ही जीवन-

1. *रूस में वेश्याओं की रजिस्ट्री करके उन्हें पीला टिकट दिया जाता था।*

यापन करते हों और जो इस कसौटी पर दूसरों का आदर तथा मूल्यांकन करते हों? यदि मैंने इस प्रश्न पर विचार किया होता तो मेरी समझ में आ गया होता कि न तो मैं और न मेरी जान-पहचानवाला कोई दूसरा आदमी ही इस रोग को दूर करने में समर्थ है।

मुझे यह बात समझ लेनी चाहिए थी कि परदे के ऊपर झाँकनेवाली वे आश्चर्यचकित और ध्यानावस्थित आँखें अपने लिए सहानुभूति के शब्द सुनकर केवल विस्मय व्यक्त कर रही थीं और निश्चय ही उनमें व्यभिचारपूर्ण जीवन से मुक्त किए जाने की आशा की झलक नहीं थीं। सच पूछिए तो ऐसी स्त्रियों को अपने जीवन की व्यभिचारिता दिखाई ही नहीं देती। वे जानती हैं कि लोग उनसे घृणा करते हैं और उन्हें गालियाँ देते हैं; किंतु वे यह नहीं समझ सकतीं कि क्यों? वे बचपन से ही अपनी-जैसी स्त्रियों के बीच रहती आई हैं और अच्छी तरह से जानती हैं कि ऐसी स्त्रियाँ सदा से समाज में रहती आई हैं तथा अब भी हैं और वे समाज के लिए इतनी आवश्यक मानी जाती हैं कि उनकी उचित व्यवस्था के लिए सरकारी कर्मचारी नियुक्त किए जाते हैं।[1] वे यह भी जानती हैं कि इन्हें पुरुषों को वश में करने की शक्ति प्राप्त है और अन्य स्त्रियों की अपेक्षा वे उन पर अधिक प्रभाव डाल सकती हैं। वे देखती हैं कि यद्यपि उनका सदा तिरस्कार किया जाता है तथापि स्त्री और पुरुष दोनों ही तथा स्वयं सरकार तक समाज में उनके स्थान को स्वीकार करती है। इसलिए वे इतना तक नहीं समझ पातीं कि आखिर पश्चात्ताप करें तो किस बात के लिए और सुधार करें तो किस दिशा में?

एक दिन मकानों का चक्कर लगाते समय एक विद्यार्थी ने मुझे बतलाया कि एक कमरे में एक औरत रहती है, जो अपनी तेरह वर्ष की लड़की से व्यभिचार कराती है। उस लड़की का उद्धार करने की इच्छा से मैं जानबूझकर उसके यहाँ गया। माँ-बेटी दोनों बड़ी ही निर्धन अवस्था में रहती थीं। माँ चालीस वर्ष की, ठिगनी और काले रंग की थी। वह कुरूप ही नहीं, बल्कि देखने में बड़ी बीभत्स थी। लड़की भी कम कुरूप नहीं थी। उनके जीवनक्रम के संबंध में मैंने घुमा-फिराकर कितने ही प्रश्न किए; किंतु लड़की की माँ ने उन सबका बड़े ही संक्षेप में और सौहार्दरहित अविश्वास के साथ उत्तर दिया, जिससे साफ मालूम पड़ता था कि वह मुझे अपना शत्रु समझती है। बेटी ने तो अपनी माँ की ओर देखे बिना मेरे किसी

1. *रूस में वेश्याओं को लाइसेंस लेना पड़ता था और उनकी नियमित डॉक्टरी परीक्षा हुआ करती थी। अब यह प्रथा वहाँ समाप्त हो गई है।*

प्रश्न का उत्तर ही नहीं दिया। स्पष्टत: वह माँ पर पूर्ण विश्वास करती थी।

उन्हें देखकर मेरे मन में करुणा नहीं, घृणा उत्पन्न हुई। फिर भी, मैंने निश्चय किया कि लड़की का उद्धार करना आवश्यक है और इसके लिए मुझे ऐसी महिलाओं से बातचीत करनी चाहिए, जिन्हें इस प्रकार की अभागिनों के प्रति सहानुभूति हो और फिर इन महिलाओं को उस लड़की की माँ के पास भेजना चाहिए।

यदि मैंने उस लड़की की माँ के बीते हुए लंबे जीवन पर विचार किया होता; यदि मैंने यह सोचा होता कि उसने किस प्रकार दयनीय स्थिति में रहते हुए भी दूसरों से लेशमात्र सहायता पाए बिना ही और भारी-भारी त्याग करके अपनी लड़की को जन्म दिया तथा पाला-पोसा; साथ-ही-साथ यदि मैंने यह भी विचार किया होता कि किस प्रकार उसके मस्तिष्क में जीवन-संबंधी एक विशेष धारणा ने जड़ जमा ली है तो मेरी समझ में आ गया होता कि माँ के उस व्यवहार में कोई बात बुरी अथवा अनैतिकता नहीं थी। उसने अपनी लड़की के लिए जो अच्छे-से-अच्छा समझा था, शक्तिभर किया था और अब भी कर रही थी। ऐसी दशा में यह तो संभव था कि उसकी लड़की को बलात् उससे अलग कर दिया जाए; किंतु उसे यह विश्वास दिलाना सर्वथा असंभव था कि लड़की का धर्म बेचकर वह कोई गलती कर रही है।

लड़की का उद्धार करने के लिए यह आवश्यक था कि उससे बहुत पहले उसकी माँ का उद्धार किया गया होता, उसे समाज द्वारा स्वीकृत उस जीवन-सिद्धांत से छुटकारा दिलाया गया होता, जिसके अनुसार स्त्री-जाति को अनुमति दी गई है कि वह अविवाहित रहकर अर्थात् बिना संतान उत्पन्न किए और बिना ही कोई काम किए, केवल विषय-वासना की तृप्ति का साधन बनी रहे। यदि मैंने ध्यानपूर्वक विचार किया होता तो मेरी समझ में आ जाता कि जिन महिलाओं को मैं उस वेश्या की लड़की का उद्धार करने के लिए भेजना चाहता था, उनमें से अधिकतर स्वयं नि:संतान और उद्यम-रहित जीवन व्यतीत करती हुई केवल विषय-वासना की तृप्ति का साधन बनी रहती हैं, और जान-बुझकर अपनी लड़कियों को भी ऐसे ही जीवन की शिक्षा देती हैं। यदि एक माँ अपनी लड़की को सराय में बैठाती है तो दूसरी अपनी लड़की को दरबार में या नाच में ले जाती है। जीवन के प्रति दोनों का दृष्टिकोण एक ही होता है—वह यह कि स्त्री का कर्तव्य पुरुष का विषय-वासना को तृप्त करना है और उसे इस सेवा के लिए अन्न, वस्त्र तथा संरक्षण मिलना चाहिए। ऐसी दशा में हमारी महिलाएँ किस प्रकार उस वेश्या या उसकी लड़की का उद्धार कर सकती हैं।

निराश्रित बालक

बालकों के साथ मेरा संबंध और भी विचित्र था। उनकी ओर भी मेरा ध्यान परोपकार का वह कार्य करते समय ही आकृष्ट हुआ। इच्छा हुई कि निर्दोष बच्चों को पाप के गड़्हे में गिरने से बचाऊँ और यह सोचकर कि इन पर बाद में ध्यान दूँगा, मैंने उनके नाम लिख लिए।

स्येर्योजा नाम के एक बारहवर्षीय लड़के ने मुझे विशेष रूप से आकृष्ट किया। वह एक कुशाग्रबुद्धि और चतुर बालक था। पहले वह एक चमार के यहाँ रहता था; किंतु उसके जेल चले जाने पर निराश्रित हो गया था। मुझे उस पर बड़ी दया आई और मैंने अपने को उसके लिए उपयोगी बनाना चाहा।

उस बालक को मैंने जो सहायता दी उसका क्या और किस प्रकार अंत हुआ, यह मैं आपको बताना चाहता हूँ; क्योंकि उससे मेरी परोपकारिता की पोल साफ-साफ खुल जाती है। मैं लड़के को अपने घर ले आया और उसे चौका-बर्तन के काम पर लगा दिया। यह तो भला हो ही कैसे सकता था कि पाप की गुफा से निकाले हुए उस गंदे लड़के को मैं अपने बच्चों के साथ हिलने-मिलने देता? इतनी ही क्या कम नेकी और दयालुता थी कि मैंने उसे अपने घर पर रहने को स्थान देकर अपने को न सही अपने नौकरों को असुविधा में डाला और उसे खाना तथा पुराने कपड़े भी दिए? (ध्यान रहे कि उसे खाना मैंने नहीं, बल्कि मेरे रसोइए ने खिलाया।)

वह लड़का मेरे यहाँ लगभग एक सप्ताह रहा। इस बीच मैंने उससे योंही चलते-फिरते दो बार बातचीत की। एक दिन टहलते हुए मैंने अपनी जान-पहचान के एक मोची के पास जाकर उस लड़के की चर्चा की और पूछा कि क्या तुम इसे अपने यहाँ काम सिखाने के लिए रख सकते हो? एक किसान ने, जो मेरे यहाँ ठहरा हुआ था, उस लड़के से मजदूरी करने के लिए गाँव चलने को कहा। किंतु लड़के ने वहाँ जाने से इनकार कर दिया और एक सप्ताह बाद वह मेरे यहाँ से भी चलता बना। उसकी तलाश में मैं रज्हानोफ़-भवन गया। वह लौटकर वहीं चला गया था; लेकिन जब मैं पहुँचा तब अपने कमरे में नहीं था। उस दिन और उससे पहले दिन भी वह चिड़िया-घर चला गया था। वहाँ उसे किसी सरकसवाले ने रंग-बिरंगे कपड़े पहनाकर हाथी के साथ-साथ जलूस में चलने के लिए तीस कोपेक रोजाना पर नौकर रख लिया था।

दूसरे दिन मैं फिर रज्हानोफ़-भवन गया था; किंतु वह लड़का इतना कृतघ्न निकला कि मुझसे जान-बुझकर कतराता रहा। उस समय यदि मैंने अपने और उस लड़के के जीवन पर विचार किया होता तो मेरी समझ में आ गया होता कि उसके

बिगड़ने का कारण यह है कि उसे मालूम हो गया है कि काम किए बिना ही वह चैन की बंसी बजा सकता है और उसे काम न करने का अभ्यास पड़ गया है। उसका उपकार और सुधार करने के लिए मैं उसे अपने घर ले गया था; पर वहाँ उसने क्या देखा? उसने देखा कि मेरे बच्चे—जिनमें से कुछ उससे बड़े, कुछ छोटे और कुछ उसी की उम्र के थे—स्वयं कोई काम नहीं करते थे और दूसरों से सब तरह के काम करवाते थे। वे चीजें मैली करते; अपने आस-पास की प्रत्येक वस्तु बिगाड़ते; स्वादिष्ट, मीठा और पौष्टिक भोजन ठूँस-ठूँसकर खाते; चीनी के बर्तन तोड़ते, दूध-मक्खन बखेरते और जिन चीजों को वह लड़का नियामत समझता, उन्हें वे कुत्तों को दे देते। यदि एक ओर यह सत्य है कि मैं उस लड़के को पतन के गह्वर से निकालकर एक अच्छी जगह ले आया था तो दूसरी ओर यह भी सत्य है कि जीवन-संबंधी जो दृष्टिकोण उसने उस अच्छी जगह में देखा उसी को उसने स्वयं ग्रहण किया। हमारे जीवन-प्रवाह को देखकर उसने यही सीखा कि किसी अच्छी जगह रहने का अर्थ यही है कि कुछ काम-काज किए बिना ही खूब खाया-पिया जाए और मौज उड़ाई जाए।

मैं मानता हूँ कि उसे पता नहीं था कि मेरे लड़कों को लैटिन और यूनानी भाषाओं के व्याकरण सीखने में कठिन परिश्रम करना पड़ता है। वह इस प्रकार के परिश्रम की उपयोगिता को समझ भी नहीं सकता था; किंतु इसमें संदेह नहीं कि यदि यह बात उसकी समझ में आ गई होती तो उस पर मेरे बच्चों के उदाहरण का और भी अधिक प्रभाव पड़ा होता। तब वह समझ जाता कि मेरे बच्चों को इस प्रकार की शिक्षा दी जा रही है कि उन्हें इस समय भी परिश्रम न करना पड़े और भविष्य में भी वे अपनी उपाधियों के बल पर यथासंभव कम-से-कम काम करने और जीवन की अच्छी-अच्छी चीजों को अधिक-से-अधिक परिमाण में प्राप्त करने के योग्य बन सकें। सच पूछिए तो यह बात उसकी समझ में आ गई। तभी तो उसने गाँव जाकर किसान के साथ ढोर चराने और आलू तथा क्वास[1] पर जीवननिर्वाह करने की अपेक्षा करीब आठ पैंस प्रतिदिन पर जंगली कपड़े पहनकर हाथी के आगे-आगे चलना अधिक श्रेयस्कर समझा!

मुझे यह समझ लेना चाहिए था कि यह कैसी विडंबना है कि स्वयं अपने बच्चों को तो मैं पूर्ण आलस्य और ऐश्वर्य का पाठ पढ़ा रहा था और जिस रज्हानोफ़-भवन को मैं पापगृह मानता था, उसमें काहिली में पड़े-पड़े सड़नेवाले दूसरे आदमियों और उनके बच्चों को सुधारने की आशा करता था, हालाँकि वहाँ के कम-से-कम

1. *एक प्रकार का पेय।*

तीन-चौथाई लोग या तो स्वयं अपने लिए या दूसरों के निमित्त श्रम अवश्य करते थे। किंतु ये बातें लेशमात्र भी मेरी बुद्धि में नहीं आईं।

रज्हानोफ़-भवन के अनेक बालक बड़ी ही दयनीय दशा में थे। उनमें से कुछ वेश्याओं के बच्चे थे, कुछ अनाथ थे और कुछ ऐसे थे, जिन्हें लेकर भिखारी सड़क पर घूमा करते थे। उन सबकी अवस्था अत्यंत करुणाजनक थी; किंतु स्येर्योजा के साथ जो-कुछ बीती थी, उससे मुझे यह विश्वास हो गया था कि जब तक मेरे जीवन का क्रम ऐसे ही चलता रहेगा, तब तक मैं उनकी सहायता नहीं कर सकूँगा। जिन दिनों स्येर्योजा हमारे यहाँ था, मैंने अनुभव किया कि मेरे मन में उससे अपने—विशेषत: अपने बच्चों के—जीवन को छिपाने की इच्छा छिपी हुई थी। मुझे ऐसा लगता था कि उस लड़के को नेक और उद्यमी जीवन की ओर ले जाने का मेरा सारा प्रयत्न मेरे और मेरे बच्चों द्वारा उपस्थित किए गए दृष्टांत के कारण विफल हो गया है।

किसी बच्चे को वेश्या या भिखारी से ले लेना बड़ा सरल है और यदि अपने पास धन हो तब तो उसे नहलाना-धुलाना, अच्छे कपड़े पहनाना और अच्छा खाना खिलाना, यहाँ तक कि विविध विद्याएँ पढ़ाना भी अत्यंत सरल होता है; किंतु हम-जैसे लोगों के लिए, जो स्वयं अपनी जीविका नहीं कमाते, उस बच्चे को जीविकोपार्जन करने की शिक्षा देना कठिन ही नहीं बल्कि असंभव है, क्योंकि हम अपने उदाहरण द्वारा और जिस वस्तु में हमारा एक पैसा भी खर्च नहीं होता उससे, उस बच्चे के जीवन में सुधार करके भी हम उसको उल्टी ही शिक्षा देते हैं। किसी पिल्ले को लेकर चुमकारना-पुचकारना, खिलाना-पिलाना, चीजें उठाकर लाने-ले जाने की शिक्षा देना और उसे देखकर हर्षित होना तो ठीक हो सकता है; किंतु किसी मनुष्य को केवल पालने-पोसने, खिलाने-पिलाने और युनानी भाषा सिखाने से ही काम नहीं चल सकता। उसको तो जीवनयापन का ढंग सिखाना होगा और बताना होगा कि दूसरों से लो कम और दो अधिक। किंतु हम लोग तो इन अनाथ बच्चों को—चाहे उन्हें हम अपने घर रखें और चाहे किसी अनाथाश्रय में भेज दें—उल्टी ही बातें सिखला पाते हैं।

घोर निराशा

ल्यापिन-अनाथालय में मैंने अपने प्रति घृणा और दूसरों के प्रति करुणा की जिस भावना का अनुभव किया था, वह अब मिट गई थी। अब तो मेरे मन में बस यही

अभिलाषा भरी हुई थी कि जो काम मैं आरंभ कर चुका हूँ उसे पूरा करूँ, अर्थात् जिन लोगों से यहाँ मिल चुका हूँ, उनका कुछ उपकार करूँ। आश्चर्य की बात तो यह है कि जहाँ उपकार करना अर्थात् जरूरतमंदों को रुपया देना एक बहुत ही नेक काम मालूम होता था और उससे लोगों के प्रति प्रेम-भाव उत्पन्न होना चाहिए था, वहाँ उससे मेरे मन में लोगों के प्रति कटुता और निंदा की भावना उत्पन्न हो गई। पहले ही दिन शाम को चक्कर लगाते समय मेरी आँखों के सामने बिल्कुल ल्यापिन-अनाथालय का-सा दृश्य उपस्थित हुआ; परंतु उसका मेरे ऊपर पहले-जैसा प्रभाव न पड़कर एक बिल्कुल ही और तरह का असर पड़ा।

बात उस समय की है जब एक कमरे में मुझे सचमुच एक ऐसी अभागिन बुढ़िया मिली, जिसे तत्काल सहायता की आवश्यकता थी। बुढ़िया भूखी थी; उसे दो दिन से कुछ भी खाने को नहीं मिला था।

कथा इस प्रकार है। एक बहुत ही बड़े कमरे में, जो करीब-करीब पूरा-का-पूरा खाली पड़ा था, मुझे एक बुढ़िया मिली और मैंने उससे पूछा, ''क्या यहाँ कोई ऐसा भी गरीब आदमी है, जिसके पास खाने को कुछ न हो?'' बुढ़िया ने कुछ देर तक सोचने के बाद दो नाम बतलाए; फिर, जैसे एकाएक उसे कुछ याद आ गया हो, वह एक चारपाई की ओर झाँककर बोली, ''हाँ, मेरे खयाल में एक तो यहीं पड़ी हुई है; मैं समझती हूँ कि इसके पास खाने को कुछ भी नहीं है।''

''सचमुच? वह कौन है?''

''यह एक वेश्या है; लेकिन अब उसे कोई नहीं पूछता, इसलिए उसे अब कोई आमदनी नहीं होती। अब तक तो मकान-मालकिन उस पर तरस खाती थी; लेकिन अब वह उसे निकालना चाहती है। अगाफ्या, ओ अगाफ्या!'' बुढ़िया ने चिल्लाकर पुकारा।

हम लोग पास गए और हमें चारपाई पर कोई चीज उठकर बैठती हुई दिखाई दी। वह सफेद और बिखरे बालोंवाली एक औरत थी, जो सूखकर हड्डियों का ढाँचा भर रह गई थी। उसने एक फटी हुई मैली कुर्ती पहन रखी थी और उसकी गतिहीन आँखों में एक विचित्र प्रकार की चमक थी। उसने हमारी ओर देखा और फटी कुर्ती के भीतर से दिखाई पड़नेवाली अस्थिमात्र छाती को छिपाने के लिए पास पड़ी हुई एक जाकट को अपने पतले हाथों से उठाया। इसके बाद वह गुर्राकर बोली, ''क्या है? क्या है?''

''कैसी बीत रही है?'' मैंने उससे पूछा।

मेरी बात समझने में उसे काफी देर लगी, जिसके बाद वह बोली, ''मुझे खुद पता नहीं। ये लोग मुझे निकाल रहे हैं।''

''तो क्या यह सच है कि तुम्हारे पास खाने को कुछ नहीं है?''

मुझे लिखते हुए लज्जा आती है कि उस समय मैंने उससे ऐसा प्रश्न किया। उसने मेरी ओर देखे बिना पहली ही जैसी तेज़ी के साथ उत्तर दिया, ''मैंने कल कुछ नहीं खाया था और आज भी कुछ नहीं खाया है।''

इस औरत को देखकर मेरी हृत्तंत्री के तार एकबारगी ही झनझना उठे, फिर भी मुझ पर उतना गहरा असर नहीं पड़ा, जितना ल्यापिन-अनाथालय का दृश्य देखकर पड़ा था। वहाँ के लोगों के प्रति करुणा का भाव उठते ही मुझे अपने ऊपर ग्लानि हुई थी; किंतु यहाँ मुझे इस बात की प्रसन्नता हुई कि जिस प्रकार के भूखे प्राणी की मैं तलाश में था वह मुझे आखिरकार मिल ही गया।

मैंने उसे एक रूबल दिया और मुझे याद है कि इस बात से मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई कि लोगों ने मुझे वह रूबल देते हुए देखा। रूबल देते देखकर बुढ़िया ने भी हाथ फैलाया। उस समय दान करना इतना अच्छा लग रहा था कि पात्र-कुपात्र का विचार किए बिना ही मैंने बुढ़िया को भी कुछ दे दिया। वह कमरे के बाहर तक मुझे पहुँचाने आई और दालान में खड़े हुए कुछ लोगों ने उसको मुझे धन्यवाद देते हुए सुना। दरिद्रता के विषय में मैंने जो प्रश्न किए थे, उनसे शायद इन लोगों में आशा का संचार हो गया था और वे मेरे पीछे-पीछे चल रहे थे।

दालान में पहुँचने पर लोग मुझसे फिर पैसा माँगने लगे। इनमें कुछ तो स्पष्ट रूप से शराबी मालूम पड़ते थे। उन्हें देखकर मुझे बहुत बुरा लगा; लेकिन बुढ़िया को देने के बाद इन लोगों को इनकार करने का मुझे कोई अधिकार नहीं था, इसलिए मैंने उनमें भी स्वतंत्रतापूर्वक रुपया-पैसा बाँटना शुरू कर दिया। ज्यों-ज्यों मैं देता जाता था, त्यों-त्यों भीड़ बढ़ती जाती थी। सारे भवन में एक उत्तेजना-सी फैल गई। सीढ़ियों पर और गैलरियों में लोग आ-आकर मुझे देखने लगे। जब मैं आँगन में पहुँचा तब एक लड़का भीड़ चीरता हुआ सीढ़ियों पर से बड़ी तेजी से उतरा। वह मुझे देखे बिना ही चिल्लाकर बोला, ''इन्होंने अगाफ्या को एक रूबल दिया है।'' फिर सीढ़ी से नीचे उतरकर वह लड़का मेरे पीछे-पीछे चलनेवाली भीड़ के साथ हो लिया।

मैं बाहर गली में निकल गया। वहाँ भी बहुत-से लोग मेरे पीछे हो लिए और पैसा माँगने लगे। मेरे पास थोड़ा-बहुत जितनी भी रेजगारी थी, मैंने सब बाँट दी और एक दुकान पर जाकर दस रूबल की और रेजगारी माँगी। फिर वही हुआ जो ल्यापिन-अनाथालय में हुआ था। बड़ा बावेला मचा। बूढ़ी स्त्रियाँ, बिगड़े हुए अमीर, किसान और बच्चे सब-के-सब हाथ फैलाए हुए दुकान के सामने जमा हो गए। मैंने उनको पैसा दिया और कुछ लोगों से उनके जीवन के संबंध में पूछताछ कर

उनके नाम अपनी नोटबुक में लिख लिए। दुकानदार अपने गरम ओवरकोट के रोएँदार कालर समेटे पत्थर की मूर्ति की तरह बैठा रहा। बीच में रह-रहकर वह कभी भीड़ की ओर और कभी मेरी ओर देख लेता था। साफ मालूम पड़ रहा था कि औरों की तरह वह भी मेरे इस काम को मूर्खतापूर्ण समझ रहा था; किंतु ऐसा कहने का उसे साहस नहीं होता था।

ल्यापिन-अनाथालय के लोगों की दुर्दशा और अवनति देखकर मैं दंग रह गया था और अपने को अपराधी समझने लगा था। साथ ही मेरे मन में पहले की अपेक्षा अच्छे बनने की इच्छा उदित हुई थी और इसकी संभावना भी दिखाई देने लगी थी, किंतु अब उसी प्रकार के दृश्य ने मेरे हृदय पर एक-दूसरे प्रकार का प्रभाव डाला। सबसे पहले तो जो लोग मुझे घेरकर खड़े हो गए थे, उनमें से अधिकांश के प्रति मेरे मन में दुर्भावना उत्पन्न हुई और फिर मुझे इस बात की उद्विग्नता-सी हुई कि आखिर दुकानदारों और दरबानों ने मेरे बारे में क्या सोचा होगा!

वहाँ से घर लौटकर मैं तमाम दिन बड़ा बेचैन रहा। मुझे ऐसा लगा कि मैं जो कुछ कर रहा हूँ, वह मूर्खतापूर्ण और अनैतिक है और, जैसा कि अंतर्द्वंद्व की अवस्था से सदा हुआ करता है, मैं अपने द्वारा आरंभ किए गए कार्य के संबंध में इस तरह बढ़-चढ़कर बातें करने लगा मानो मुझे उसकी सफलता में कोई संदेह ही न हो।

अगले दिन मैं अकेला ही नोटबुक में लिखे हुए उन लोगों से मिलने गया, जिनकी अवस्था मुझे सबसे अधिक दयनीय प्रतीत हुई और जिनकी सहायता करना सबसे सरल मालूम हुआ। जैसा कि बतला चुका हूँ, मैंने किसी की वास्तविक सहायता नहीं की। यह कार्य मुझे आशा से अधिक कठिन प्रतीत हुआ और या तो अपनी असमर्थता के कारण या काम असंभव होने के कारण मैं दुखियों को केवल उत्तेजित भर कर सका; मुझसे उनकी कोई सहायता नहीं बन पड़ी।

मर्दुमशुमारी का कार्य समाप्त होने से पहले ही रज्जानोफ़-भवन में कई बार गया और हर बार एक-सी बात हुई। माँगनेवालों की भीड़ मुझे चारों ओर से घेर लेती और उनके बीच मैं खो-सा जाता। मंगतों की संख्या इतनी अधिक थी कि मुझे ऐसा लगता कि मैं इनके लिए कुछ कर-धर नहीं सकूँगा और सच पूछिए तो मुझे उनकी बहुलता पर क्रोध आया। इससे अधिक मुझे उनमें कोई दिलचस्पी नहीं हुई। मुझे ऐसा लगा कि उनमें से प्रत्येक व्यक्ति या तो झूठ बोल रहा है या पूरी बात सच-सच नहीं बतला रहा है और मुझे केवल रुपयों की थैली समझकर अधिक-से-अधिक पैसे ऐंठना चाहता है। अक्सर मुझे ऐसा लगता है कि लोग खुशामद करके मुझसे जो रुपया ले लेते हैं, उससे उन्हें लाभ के बदले हानि की ही अधिक संभावना है। रज्हानोफ़-भवन में मैं जितना ही अधिक गया और वहाँ के लोगों से

मेरा जितना ही अधिक परिचय हुआ, उतना ही अधिक यह स्पष्ट होता गया कि उनकी सहायता करना असंभव है। फिर भी, मर्दुमशुमारी की अंतिम रात तक मैंने अपना काम बंद नहीं किया।

अंतिम रात की बात याद करके मुझे विशेष लज्जा मालूम होती है। पहले मैं अकेला जाया करता था; किंतु उस रात करीब बीस जने इकट्ठे होकर गए। गश्त में भाग लेने की इच्छा रखनेवाले लोग सात बजे ही मेरे मकान पर जमा हो गए। उनमें से प्राय: सब-के-सब मेरे लिए अपरिचित थे। अधिकांश तो विद्यार्थी ही थे; बस एक अफसर था और दो मेरी जान-पहचान के थे। प्रचलित रीति से अभिवादन करते हुए उन्होंने मुझसे अपने को गणकों में शामिल कर लेने के लिए कहा।

जो लोग मेरी जान-पहचान के थे, वे खास तौर से शिकारी कोट और ऊँचे सफरी जूते पहनकर आए थे। इसी पोशाक में वे शिकार पर जाया करते थे और यही उनकी राय में सरायों में जाने के लिए ठीक लिबास था। उन्होंने अपने साथ विशेष रंग की नोटबुकें और असाधारण पेंसिलें ले रखी थीं। उस समय उनमें वही विशेष उत्तेजना दिखाई दे रही थी, जो शिकार, कुश्ती अथवा युद्ध में जाते समय लोगों में हुआ करती है। उन्हें देखकर तो यह और भी स्पष्ट रूप से प्रतीत होने लगा कि हमारा कार्य कितना मूर्खतापूर्ण और निरर्थक है।

चलने से पहले हम लोगों ने आपस में सलाह की—ठीक उसी तरह जैसे युद्ध के सलाहकार परामर्श किया करते हैं। हमने इस बात पर विचार किया कि काम किस तरह से आरंभ किया जाए। पहले किस काम में हाथ डाला जाए, कौन-कौन लोग किस तरह जाएँ आदि-आदि। यह विचार-विमर्श ठीक उसी प्रकार से हुआ जिस प्रकार कौंसिलों, असेंबलियों और कमेटियों में हुआ करता है, अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति ने कुछ-न-कुछ कहा—इसलिए नहीं कि उसके पास कोई ऐसी बात थी, जिसे कहना अनिवार्य था या वह कुछ पूछना चाहता था; बल्कि इसलिए कि दूसरे से पिछड़े न रहने की इच्छा से उसने कोई-न-कोई बात कहने के लिए निकाल ही ली। पर जिस दान के विषय में मैं उनसे कई बार कह चुका था, उसकी इस बातचीत के दौरान में किसी ने भी चर्चा नहीं की। मैं लज्जित तो बहुत हो रहा था; किंतु लोगों को इस बात की याद दिलाना आवश्यक था कि गणना के साथ-साथ हमें परोपकार का कार्य भी करना है, अर्थात् चक्कर लगाते समय, जो लोग दरिद्रावस्था में मिले, उनका नाम हमें लिख लेना चाहिए।

इस प्रसंग की चर्चा करने में मुझे सदा लज्जा मालूम होती थी और उस रात भी यह बात मेरे मुँह से बड़ी कठिनाई से निकल सकी। मुझे ऐसा लगा कि लोग मेरी बात खेद के साथ सुन रहे हैं। मौखिक रूप से तो उन्होंने अपनी स्वीकृति ही प्रकट

की; किंतु साफ मालूम होता था कि वे मेरी बात को मूर्खतापूर्ण समझ रहे हैं और उनका खयाल है कि इसका कोई नतीजा नहीं निकलेगा। इसलिए वे लोग तत्काल दूसरी-दूसरी बातों की चर्चा करने लगे और यह सिलसिला तब तक जारी रहा, जब तक हमारे चलने का समय नहीं हो गया और हम लोग वहाँ से गाड़ी में बैठकर चल नहीं दिए।

हम लोग अँधेरी सराय में पहुँचे और वहाँ के नौकरों को जगाकर अपने कागज छाँटने लगे। जब हमने सुना कि हमारे आने की सूचना पाकर लोग भागे जा रहे हैं तब हमने मकान-मालिक से फाटक बंद कर देने के लिए कहा और स्वयं आँगन में जाकर भागनेवालों को यह विश्वास दिलाने की चेष्टा की कि कोई उनसे पासपोर्ट[1] दिखाने के लिए नहीं कहेगा।

इन घबराए हुए लोगों को देखकर मुझे जो विचित्र और अप्रिय अनुभूति हुई वह मुझे आज भी याद है। फटे चीथड़े पहने हुए वे अर्द्ध-नग्न प्राणी अंधकारपूर्ण आँगन में लालटेन की रोशनी में बहुत लंबे मालूम पड़ते थे। भय से काँपते हुए वे दुर्गंध पूर्ण पाखाने के पास दल बनाए खड़े थे। उन्होंने हमारा आश्वासन सुना; किंतु उन्हें उस पर विश्वास नहीं हुआ। साफ मालूम पड़ता था कि आखेट के लिए घेरे गए जानवरों की भाँति वे अपने प्राण बचाने के लिए सबकुछ करने को उतारू थे। जिन शरीफ लोगों ने पुलिस-अफसरों, मजिस्ट्रेटों, जजों आदि के नाना वेशों में उन्हें शहरों और गाँवों में, सड़कों और गलियों में, सरायों और अनाथालयों में, सब जगह जीवन-भर हताश किया था, वे ही शरीफ एक बार एकाएक उनके घर पर आ धमके थे और उन्होंने केवल गणना करने के लिए उनके मकान के फाटक बंद करवा दिए थे। स्वभावत: हमारे आश्वासन पर विश्वास करना उनके लिए उतना ही कठिन था, जितना खरगोशों के लिए यह विश्वास करना कि शिकारी कुत्ते उन्हें पकड़ने नहीं, बल्कि गिनने आए हैं। किंतु फाटक बंद हो चुके थे, इसलिए लाचार होकर वे अपनी-अपनी कोठरी में वापस चले गए और हमने अलग-अलग टोलियाँ बनाकर अपना काम आरंभ कर दिया। मेरे साथ मेरे जान-पहचानवाले दोनों सज्जन और दो विद्यार्थी थे। वान्या ओवरकोट और सफेद पतलून पहने और हाथ में लालटेन लिए उस अंधकार में हमारा पथ-प्रदर्शन कर रहा था।

हम उन कमरों में गए, जिन्हें मैं पहले ही देख चुका था और जिनके कुछ निवासियों से परिचित भी था। फिर भी, अधिकांश लोग नए थे और वहाँ का दृश्य

1. उन दिनों पासपोर्ट न रखना अथवा ज़ाली पासपोर्ट रखना रूस में सख्त कानूनी जुर्म समझा जाता था।

ल्यापिन-अनाथालय के दृश्य से भी अधिक भयानक था। सब कमरे और तख्ते भरे हुए थे और अधिकतर एक तख्ते पर दो-दो आदमी सोते थे। कमरों में स्त्री-पुरुष जिस बुरी तरह से ठँसे पड़े थे वह दृश्य बड़ा ही भयानक था। जो औरतें शराब पीकर पूरी तरह धुत नहीं हुई थीं, वे पुरुषों के साथ सो रही थीं। बहुत-सी स्त्रियाँ तो अपने बच्चों को लिए तंग तख्तों पर अजनबी पुरुषों के साथ पड़ी हुई थी। इन लोगों की कंगाली, गंदगी और कातरता का दृश्य वास्तव में बड़ा ही करुण था। सबसे भयंकर बात तो यह थी कि इस प्रकार की दुर्दशा भोगनेवाले लोगों की संख्या अपरिमित थी। एक, दो, दस, बीस—अनगिनत थीं वे जीर्ण-शीर्ण कोठरियाँ, जिनमें ये रहते थे और उन सभी में दुर्गंध, वही दम घोटनेवाला वातावरण, वही भीड़ और स्त्री-पुरुषों का वही गड़बड़-घोटाला था। चारों ओर स्त्री-पुरुष उसी तरह मदहोश पड़े थे, उनके चेहरों पर वैसा ही भय, वैसी ही दीनता और वैसी ही अपराध की छाया थीं।

यह सब देखकर मेरे मन में एक बार फिर ल्यापिन-अनाथालय की ही तरह ग्लानि और लज्जा उत्पन्न हुई और मेरी समझ में आ गया कि मैंने जो काम हाथ में लिया है, वह बड़ा ही विकट तथा मूर्खतापूर्ण है और इसलिए असंभव है। यह सोचकर कि अब प्रयत्न करना व्यर्थ है, मैंने किसी से और कोई प्रश्न नहीं किया और नोट लेना भी बंद कर दिया।

मेरे हृदय को बड़ा आघात लगा। ल्यापिन-अनाथालय का दृश्य देखकर मेरी अवस्था वैसी ही हो गई थी जैसी संयोगवश किसी मनुष्य के शरीर पर कोई वीभत्स फोड़ा देखकर हो जाती है। उस समय उस मनुष्य के लिए दु:ख होता है और इस बात की आत्मग्लानि होती है कि हमने उसकी सहायता पहले क्यों नहीं की। फिर भी यह आशा तो लगी ही रहती है कि कदाचित भविष्य में कुछ सहायता बन पड़े। किंतु अब मेरी दशा उस डॉक्टर के समान हो गई थी, जो अपनी औषधियों के साथ रोगी के पास जाता है, उसके घाव को खोलना है और उसे साफ करना है, किंतु अंत में उसे स्वीकार करना पड़ता है कि उसका सारा प्रयत्न विफल रहा और उसकी औषधि से रोगी को कोई लाभ नहीं पहुँचेगा।

मेरी परोपकारिता का अंत

इस घटना ने मेरी आत्मभ्रांति को बिल्कुल मिटा दिया और मुझे यह स्पष्ट रूप से दिखाई दे गया कि मैंने जो काम अपने हाथ में लिया है वह केवल मूर्खतापूर्ण ही नहीं, बल्कि भयानक भी है। यह जानते हुए भी मुझे ऐसा लगा कि सारी योजना को

एकदम भंग न कर देना केवल ठीक नहीं होगा, बल्कि उसे जारी रखना मेरा कर्तव्य है; क्योंकि एक तो लेख लिखकर और निर्धनों से मिलकर तथा उन्हें सहायता का वचन देकर मैंने उनके मन में आशा उत्पन्न कर दी थी और दूसरे अपने लेख तथा वार्तालाप से मैंने दानी व्यक्तियों के हृदय में सहानुभूति जागृत कर दी थी, जिसके फलस्वरूप बहुतों ने मेरे कार्य में सहयोग देने और आर्थिक सहायता प्रदान करने का वचन दिया था। मैं इस प्रतीक्षा में था कि दोनों पक्ष के लोग मुझसे प्रार्थना करें और मैं उनकी प्रार्थना पर यथोचित रूप से विचार करूँ।

जहाँ तक जरूरतमंदों का प्रश्न है, उनके संबंध में निम्नलिखित घटना घटी। मेरे पास सौ से भी अधिक प्रार्थनापत्र आए और यदि मैं एक नए शब्द का प्रयोग करूँ तो कह सकता हूँ कि वे सब-के-सब 'धनी-दरिद्रों' के प्रार्थनापत्र थे। इनमें से कुछ लोगों को मैंने उत्तर नहीं दिया; किंतु कुछ से मैं स्वयं जाकर मिला। फिर भी किसी की सहायता करने में सफल न हो सका।

सभी प्रार्थना पत्र ऐसे व्यक्तियों के थे, जो किसी समय सौभाग्यशाली पद पर रह चुके थे; किंतु अब वे पद से हटा दिए गए थे और उसे फिर से प्राप्त करना चाहते थे । मेरा आशय ऐसे पद से है, जहाँ रहकर मनुष्य दूसरों को देने की अपेक्षा स्वयं लेता अधिक है। एक आदमी ने अपने गिरते हुए धंधे को सँभालने और अपने बच्चों की शिक्षा पूरी करने के लिए दो सौ रूबल माँगे। दूसरे ने फोटोग्राफी के समान की माँग की; तीसरे ने चाहा कि उसका ऋण चुका दिया जाए और उसके अच्छे कपड़े गिरवी से छुड़ा दिए जाएँ; चौथे ने एक पियानो माँगा ताकि वह उसे अच्छी तरह बजाना सीख सके और फिर दूसरों को सिखाकर अपने कुटुंब का भरण-पोषण कर सके। अधिकांश लोगों ने केवल सहायता की प्रार्थना की और यह नहीं लिखा कि उन्हें कितने रुपयों की जरूरत है। किंतु जब उनकी आवश्यकताओं की छानबीन की गई तो पता चला कि जितनी अधिक सहायता उपलब्ध की गई उतनी ही अधिक उनकी आवश्यकताएँ बढ़ती गईं और उन्हें न तो संतोष हुआ न हो सकता था। जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ शायद इसका कारण यह था कि मुझे उनके साथ बर्ताव करने का ढंग नहीं मालूम था। जो हो, सच यह है कि मैं किसी की भी सहायता नहीं कर सका, यद्यपि कुछ लोगों की सहायता करने की मैंने चेष्टा अवश्य की।

अब दानी व्यक्तियों के सहयोग का हाल सुनिए। उन्होंने जो-कुछ किया वह बड़ा ही आश्चर्यजनक और आशा के विपरीत था। जिन-जिन लोगों ने निर्धनों के सहायतार्थ धन देने का वचन दिया था और रकम भी तय कर दी थी, उनमें से किसी ने एक रूबल भी नहीं दिया। उनके वचन के आधार पर मैं लगभग तीन हजार रूबल पाने की आशा करता था; किंतु एक को भी अपना वचन याद नहीं रहा और

उनसे फूटी कौड़ी भी हाथ नहीं लगी। अलबत्ता विद्यार्थियों को मर्दुमशुमारी-संबंधी कार्य के पारिश्रमिक स्वरूप जो कुछ भी मिला, उन्होंने लाकर मुझे दे दिया। जहाँ तक मुझे याद पड़ता है, उनसे कुल मिलाकर बारह रूबल मिले। अत: जिस योजना के अंतर्गत मैंने धनी लोगों से एकत्र किए हुए सहस्रों रूबल की सहायता से सैकड़ों-हजारों निर्धनों को दरिद्रता और पाप के पंक से उबारने का विचार किया था, उसका अंत यह हुआ कि जिन लोगों ने मुझसे माँगा उनमें मैंने कुछ दर्जन रूबल योंही अललटप बाँट दिए और बाद में मेरे पास विद्यार्थियों के दिए हुए बारह रूबलों के अतिरिक्त वह पच्चीस रूबल भी बच गए, जो नगरपालिका ने मुझे मर्दुमशुमारी के आयोजक की हैसियत से काम करने के लिए दिए थे। मैं यह नहीं समझ पाया कि इस रकम का क्या करूँ।

इस तरह सारी योजना ठप पड़ गई। मास्को छोड़कर गाँव जाने से पहले मैं एक रविवार को बचे हुए सैंतीस रूबलों को गरीबों में बाँटने के लिए रज्हानोफ़-भवन गया। वहाँ मैं जितनों से परिचित था उन सबके कमरे में हो आया; किंतु एक बीमार आदमी को छोड़कर, जिसे मैंने शायद पाँच रूबल दिए, वहाँ और कोई ऐसा आदमी नहीं मिला, जिसे कुछ दिया जा सकता। माँगने तो बहुत-से लोग लगे थे; किंतु उनके विषय में मुझे कोई जानकारी नहीं थी, इसलिए मैंने बत्तीस रूबलों को बाँटने के संबंध में सराय के मालिक ईवान फिदोतिश से सलाह लेने का निश्चय किया।

उस दिन कार्नीवाल का उत्सव था। सब लोगों ने अच्छे-से-अच्छे कपड़े पहने थे, खूब डटकर खाना खाया था और कुछ लोग तो पिए हुए झूम रहे थे। सराय के एक कोने में फटा कोट और चटाई के जूते पहने एक बूढ़ा किंतु फुर्तीला कबाड़ी खड़ा-खड़ा काम कर रहा था। वह अपनी टोकरी के सामान को छाँट-छाँटकर लोहे, चमड़े और दूसरी चीजों के अलग-अलग ढेर बना रहा था और ऊँचे मीठे स्वर में कुछ गा भी रहा था। मैं उससे बातें करने लगा। उसकी उम्र सत्तर वर्ष की थी और वह कबाड़ी का काम करके अपना पेट पालता था तथा अकेला ही रहता था। उसने न केवल किसी बात की शिकायत नहीं की, बल्कि बतलाया कि उसके पास खाने-पीने के लिए काफी है। मैंने उससे पूछा कि क्या तुम्हारी जानकारी में रज्हानोफ़-भवन में कोई ऐसा आदमी है, जो सचमुच जरूरतमंद हो। मेरे इस प्रश्न से उसे कुछ खिजलाहट-सी हुई और उसने साफ-साफ कहा कि काहिलों और पियक्कड़ों को छोड़कर और किसी को तंगी नहीं होती। परंतु जब उसे मेरे उद्देश्यों का पता लगा तो उसने पीने के लिए मुझसे पाँच कोपेक माँगे और उन्हें पाते ही वह सीधा सराय की ओर भागा। मैं भी बाकी रकम को बँटवाने का भार ईवान फिदोतिश को सौंपने के अभिप्राय से सराय की ओर चल दिया।

सराय में बहुत भीड़ थी। मदिरा के मद में झूमती हुई युवतियाँ भड़कीले कपड़े पहने हुए इधर-उधर आ-जा रही थीं। सब मेजें भरी हुई थीं और कितने ही लोग नशे में चूर थे। एक छोटे-से कमरे में एक आदमी बाजा बजा रहा था और दो आदमी नाच रहे थे। मुझे देखते ही ईवान फिदोतिश ने आदरवश नाच बंद करने का आदेश दिया और मेरे साथ वह एक खाली मेज पर बैठ गया। मैंने उसे बतलाया कि मुझे गरीबों में बाँटने के लिए कुछ पैसे मिले हैं; तुम अपने किराएदारों को जानते हो, बतलाओ कि उनमें से सबसे ज्यादा जरूरतमंद कौन-कौन हैं। उस भले आदमी ने (जिसकी एक साल बाद मृत्यु हो गई) अपने रोजगार में व्यस्त रहने पर मेरी सहायता करने के लिए थोड़ी देर को अपना काम छोड़ दिया। कुछ समय तक वह मेरे प्रश्न पर गंभीरतापूर्वक विचार करता रहा और उसकी मुद्रा से साफ मालूम पड़ता था कि वह चक्कर में पड़ गया है। एक बूढ़े नौकर ने हमारी बात सुन ली थी; वह भी हमारी बातचीत में शरीक हो गया।

वे एक-एक करके किराएदारों के नाम लेने लगे—इनमें से कुछ को मैं भी जानता था; किंतु वे किसी के संबंध में सहमत नहीं हो सके।

''परामोनौफना,'' नौकर ने सुझाया।

''हाँ, ठीक है, कभी-कभी उसे भूखा रहना पड़ता है।...लेकिन वह तो शराब पीती है,'' फिदोतिश बोला।

''तो क्या हुआ? सब ठीक है...।''

''और स्पिरिडोन ईवानोविच? उसके बच्चे हैं?''

किंतु फिदोतिश को स्पिरिडोन के विषय में शंका थी।

''अच्छा तो अकुलीना?...किंतु उसे तो भत्ता मिलता है। हाँ, याद आया वह अंधा आदमी कैसा रहेगा?''

किंतु, उस अंधे आदमी के संबंध में मैंने स्वयं आपत्ति की। उसे मैंने तभी देखा था। उसकी उम्र लगभग अस्सी वर्ष की थी और उसके कोई सगा-संबंधी नहीं था। कहने को तो कहा जा सकता है कि इससे दीन भला और कौन होगा; किंतु थोड़ी देर पहले ही मैंने देखा था कि यह परोंवाले एक ऊँचे बिछौने पर शराब पिए पड़ा था और जिस अपेक्षाकृत जवान स्त्री के साथ उसने संभोग किया था, उसे वह मुझे न देख सकने के कारण, बहुत ही धीमे स्वर में गंदी-से-गंदी गालियाँ दे रहा था।

इसके बाद फिदोतिश और उसके नौकर ने एक लूले लड़के का नाम लिया, जो अपनी माँ के साथ रहता था। मैंने देखा कि अंत:करण शुद्ध होने के कारण फिदोतिश असमंजस में पड़ गया है। वह जानता था कि कार्नीवाल के दिनों में गरीबों को जो पैसा दिया जाएगा, वह लौट-फिरकर उसी के पास सराय में आ जाएगा।

किंतु मुझे तो बत्तीस रूबल बाँटने थे और जब मैंने बहुत कहा तो वे रूबल भले-बुरे किसी-न-किसी ढंग से बाँट दिए गए। जिन्हें-जिन्हें पैसा मिला, उनमें से अधिकांश कुछ कपड़े पहने हुए थे और उन्हें ढूँढ़ने के लिए हमें कहीं दूर नहीं जाना पड़ा, क्योंकि वे सराय में ही मौजूद थे। लूला लड़का ऊँचे जूते, लाल कमीज और वास्कट पहने हुए था।

इस प्रकार मेरी दानशीलता का अंत हो गया और, जैसा कि हमेशा होता है, लोगों से तंग आकर मैं गाँव चला गया। यह तो सत्य है कि मेरी दान-वृत्ति का कोई परिणाम नहीं निकला और वह बिल्कुल बंद हो गई; किंतु मेरे अंत:प्रदेश में उठनेवाले विचारों और भावनाओं का प्रवाह रुकने के बदले और भी दुगुने वेग से बढ़ चला।

असफलता क्यों?

तो, इन सब बातों का क्या अर्थ था?

मैं देहात में रह चुका था और वहाँ निर्धनों से मेरा संपर्क भी हो गया था। नम्रतावश नहीं, क्योंकि नम्रता में तो अधिक पुट गर्व का होता है, बल्कि अपनी भावनाओं और विचारधारा को स्पष्ट करने के उद्देश्य से मैं यह बात सच-सच बतला देना चाहता हूँ कि देहात में मैंने गरीबों की बहुत ही कम सहायता की थी। फिर भी वहाँ के अभागे मुझसे इतनी कम सहायता चाहते थे कि मैं जितना भी थोड़ा-बहुत कर देता था, वही उनके लिए उपयोगी सिद्ध होता था और उससे मेरे चारों ओर प्रेम तथा संतोष का वातावरण छा जाता था। इस वातावरण में रहकर मुझे उस वेदना को शांत करना संभव प्रतीत होता, जिसका मैं अपने जीवनयापन के अनौचित्य के कारण अपनी अंतरात्मा में निरंतर अनुभव किया करता था। नगर में आकर मैंने आशा की थी कि वहाँ भी मैं गाँव की तरह ही जीवन व्यतीत कर सकूँगा; किंतु मास्को पहुँचकर मुझे एक बिल्कुल ही दूसरी तरह की दरिद्रता दिखाई दी। वहाँ की दरिद्रता में देहात की दरिद्रता की अपेक्षा सत्य का अंश कम था और साथ-ही-साथ वह अधिक कष्टदायक तथा निर्ममता की सूचक थी। सबसे बुरी बात यह थी कि एक ही स्थान पर इतनी अधिक मात्रा में दरिद्रता विद्यमान थी कि उसका मुझ पर बड़ा भयानक प्रभाव पड़ा।

ल्यापिन-अनाथालय में मैंने जो-कुछ देखा, उससे तत्काल मुझे अपने जीवन के घिनौनेपन का भान हुआ। वह अनुभूति सच्ची और बलवती थी। फिर भी उसके

लिए जीवन में जिस क्रांति की आवश्यकता थी, उससे पहले-पहले मुझे भय लगा और मैंने उससे समझौता कर लिया। मुझसे तो जो बात प्रत्येक व्यक्ति कहता था और जो सृष्टि के आरंभ से सभी लोग कहते आए हैं, उसी पर मैंने भी विश्वास कर लिया—अर्थात् मैंने यह मान लिया कि वैभव और ऐश्वर्य में कोई बुराई नहीं; ये ईश्वर की देन है और मनुष्य ऐश्वर्यपूर्ण जीवन बिताते हुए भी अभागों की सहायता कर सकता है। मैंने इस बात पर विश्वास करके इसी के अनुसार कार्य करने का निश्चय किया और एक लेख लिखकर धनवानों को निर्धनों की सहायता के लिए ललकारा। सभी धनिकों ने यह स्वीकार कर लिया कि दरिद्रों की सहायता करना उनका नैतिक कर्तव्य है; परंतु इस कर्तव्य को पूरा करने के लिए कोई भी आगे नहीं बढ़ा। इससे यह स्पष्ट था कि या तो वे सहायता करना चाहते ही नहीं थे या उनमें सहायता करने की सामर्थ्य नहीं थी।

मैं गरीबों में आने-जाने लगा और वहाँ मैंने जो कुछ देखा उसे देखने की मैंने कभी कल्पना भी नहीं की थी। एक ओर तो उन 'पाप की गुफाओं' में—जैसा कि मैं उन कोठरियों को कहा करता था—मुझे ऐसे लोग दिखाई दिए, जिनकी सहायता करने का मेरे लिए प्रश्न ही नहीं उठता था, क्योंकि वे मजदूर थे, उन्हें काम करने और कष्ट सहने का अभ्यास था और इसलिए उनका जीवन मेरी अपेक्षा कहीं अधिक पक्की नींव पर स्थित था। दूसरी ओर मेरे सामने ऐसे दीन-दुखी आए, जिनकी सहायता करने में मैं असमर्थ था, क्योंकि वे सब मेरे ही समान थे। उनमें से अधिकांश की दुर्दशा का कारण यह था कि वे अपनी रोटी आप कमाने की सामर्थ्य, इच्छा और आदत खो बैठे थे। दूसरे शब्दों में यों कहिए कि वे मेरे ही समान अकर्मण्य थे।

भूखों मरती अगाफिया के अतिरिक्त मुझे एक भी ऐसा दुखिया नहीं मिला—चाहे वह बीमार हो चाहे जाड़े में ठिठुरता हुआ, चाहे भूखा—जिसकी सहायता तत्काल की जा सकती। अत: मुझे इस बात का विश्वास हो गया कि जिन दीन-दुखियों की मैं सहायता करना चाहता हूँ, उनके जीवन से अलग रहने के कारण उनका पता लगाना मेरे लिए प्राय: असंभव-सा होगा, क्योंकि उनमें से किसी को जब कभी कोई वास्तविक आवश्यकता होती है तो उन्हीं के बीच रहनेवाले दूसरे दीन-दुखी उस आवश्यकता की पूर्ति कर देते हैं। सबसे अधिक विश्वास तो मुझे इस बात का हो गया कि पैसे के बल पर मैं उनके दुखी जीवन को बदलने में समर्थ नहीं हो सकूँगा।

फिर भी जिस काम में मैं हाथ डाल चुका था, उससे किनारा काटने की झूठी लज्जा के कारण और परोपकारिता की भावना से मदांध होकर मैंने अपना काम उस

समय तक जारी रखा जब तक कि वह स्वयं निरर्थक नहीं बन गया। जैसा कि मैं पहले बता चुका हूँ, उन सैंतीस रूबलों से, जिन्हें मैं अपना नहीं समझता था, मैं बड़ी कठिनाई से छुटकारा पा सका और ईवान फ़िदोतिश की सहायता से जैसे-तैसे करके उन्हें रज्हानोफ़-भवन के दु:खियों में बाँट पाया।

अगर मैं चाहता तो अपने काम को जारी रखकर परोपकारिता का ढोंग रच सकता था। इसी तरह यदि चाहता तो जिन लोगों ने मुझे धन देने का वचन दिया, उन्हें विवश करके रुपया वसूल कर सकता था। इसके अतिक्ति मैं और भी अधिक धन एकत्र कर कंगालों में बाँट सकता था और इस प्रकार अपनी परोपकारिता पर संतोष की साँस ले सकता था; परंतु मैंने देखा कि हम धनवानों में इस बात की न तो इच्छा है, न सामर्थ्य ही कि हम अपने बहुल धन का एक भाग निर्धनों के लिए अलग उठाकर रख दें, क्योंकि हमारी अपनी ही आवश्यकताएँ अनेक हैं। इसके अतिरिक्त मैंने यह भी देखा कि यदि हम सचमुच कंगालों की सहायता करना चाहते हैं और अपना रुपया योंही अललटप लुटाना नहीं चाहते, जैसा कि मैंने रज्हानोफ-भवन में किया था तो सहायता देने योग्य कोई पात्र ही नहीं मिलेगा। इसीलिए मैंने सारा काम छोड़ दिया और निराश तथा दुखी होकर देहात चला गया।

वहाँ पहुँचकर इच्छा हुई कि अपने अनुभव पर एक लेख लिखूँ और उसमें बतलाऊँ कि मेरा काम सफल क्यों नहीं हुआ? मैं चाहता था कि मर्दुमशुमारी वाले लेख के संबंध में मुझ पर जो आक्षेप किए गए थे, उनका यथोचित उत्तर दूँ, समाज को उसकी उदासीनता के लिए दोषी ठहराऊँ और शहर की गरीबी के कारणों, उसे दूर करने की आवश्यकता और अपने मतानुसार उसके उपायों पर भी प्रकाश डालूँ।

मैंने लेख लिखना आरंभ कर दिया और सोचा कि वह बड़ा ही बहुमूल्य होगा; किंतु बार-बार चेष्टा करने पर और सामग्री की बहुलता रहने पर भी मैं लेख आगे नहीं बढ़ा सका और वह कहीं अब[1] आकर समाप्त हो पाया है। इस विलंब के कई कारण थे। एक तो यह कि मैं क्रोधावेश में लिख रहा था; दूसरे यह कि मैं उन प्रवंचनाओं से मुक्त नहीं हो पाया था, जो समस्या को ठीक प्रकाश में आने से रोक रही थीं। तीसरी और सबसे बड़ी बात यह थी कि यद्यपि इन सब बातों का कारण बड़ा ही साधारण था और उसकी जड़ें स्वयं मुझमें जमी हुई थीं तथापि मुझे अभी तक उसका ठीक-ठाक और स्पष्ट ज्ञान नहीं हो पाया था।

1. *सन् 1885-86 के जाड़ों में*

नैतिक क्षेत्र में कुछ ऐसी बात हो जाया करती है, जो आश्चर्यजनक होती है और जिसकी ओर लोग बहुत ही कम ध्यान देते हैं।

यदि मैं भूगर्भ-विज्ञान, ज्योतिष, इतिहास, पदार्थ-विज्ञान अथवा गणितशास्त्र की कोई बात किसी ऐसे व्यक्ति को बतलाऊँ, जो उसे नहीं जानता तो उसे वह नए ज्ञान के रूप में ग्रहण करेगा और यह कभी नहीं कहेगा कि इसमें नई बात क्या है, यह तो प्रत्येक व्यक्ति जानता है और मुझे तो इसका बहुत पहले से पता था। किंतु किसी श्रेष्ठ नैतिक सत्य को आप चाहें कितने भी स्पष्ट-से-स्पष्ट और संक्षिप्त-से-संक्षिप्त रूप में समझाने की चेष्टा क्यों न करें, प्रत्येक साधारण मनुष्य—विशेषत: वह जिसे नैतिक प्रश्नों में कोई दिलचस्पी नहीं और जिस पर नैतिक शिक्षा का उलटा ही प्रभाव पड़ता है यही कहेगा कि अजी, इसको कौन नहीं जानता? इसे तो लोग पहले भी जानते और कहते थे। वास्तव में वह समझता भी यही है कि बहुत पहले भी ऐसी ही शिक्षा दी जाती थी और ठीक इसी ढंग से। केवल वे लोग जो नैतिक सत्य को एक गंभीर और बहुमूल्य वस्तु मानते हैं, यह समझ पाते हैं कि नैतिक सत्य कितना महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान होता है और कितने परिश्रम और अध्यवसाय के बाद उसे बुद्धिगम्य तथा सरल बनाया जाता है; अर्थात् किस प्रकार धुँधली तथा अनिश्चित कल्पनाएँ और इच्छाएँ धीरे-धीरे विकसित होकर ऐसे अविचल और सुनिश्चित भावों का रूप धारण करती हैं, जिन्हें हृदयंगम करने के लिए तदनुकूल ही आचरण की आवश्यकता होती है।

हम लोगों की यह सोचने की आदत-सी पड़ गई है कि नैतिक शिक्षा एक बिल्कुल तत्त्वहीन और नीरस वस्तु हैं, जिसमें कोई नवीनता या सरसता हो ही नहीं सकती। फिर भी तथ्य यह है कि मनुष्य के सभी जटिल क्रिया-कलापों का, उसके राजनैतिक, वैज्ञानिक, कलात्मक, व्यावसायिक आदि विविध कार्यों का, जिनका नैतिकता से कोई बाह्य संबंध नहीं होता, केवल एक लक्ष्य होता है और वह है नैतिक सत्य को अधिक-से-अधिक स्पष्ट बनाना, उसकी अधिक-से-अधिक पुष्टि करना और उसे अधिक-से-अधिक सुगम बनाते हुए अधिक-से-अधिक प्रचारित करना।

मुझे याद है कि एक बार जब मैं मास्को की एक गली से होकर जा रहा था तब मैंने देखा कि एक आदमी एक दुकान से निकला। उसे गली में लगे हुए पत्थरों को ध्यानपूर्वक देखकर उनमें से एक को चुना और मुझे ऐसा लगा कि उस पर बैठकर वह पूरे बल और उत्साह के साथ उसे खुरचने या घिसने लगा। "यह आदमी रास्ते के पत्थर पर क्या कर रहा है?" मैंने सोचा और जब उसके पास जाकर देखा तो पता चला कि वह लड़का कसाई की दुकान पर काम करता है और सड़क के पत्थर पर

अपना चाकू तेज कर रहा है।

पत्थरों की परीक्षा करते समय लड़का पत्थरों के बारे में कुछ नहीं सोच रहा था और बाद में चाकू तेज करते समय तो वह उनके संबंध में और भी कम सोच रहा था। वह तो केवल अपना चाकू तेज़ कर रहा था; क्योंकि गोश्त काटने के लिए उसे चाकू तेज़ करने की आवश्यकता थी। किंतु मुझे ऐसा लगा जैसे वह सड़क के पत्थरों के साथ कुछ कर रहा है। इसी प्रकार, यद्यपि प्रतीत यह होता है कि मनुष्य व्यापाार, संधि, युद्ध, विज्ञान, कला आदि विविध बातों में संलग्न है तथापि वास्तव में उसके लिए केवल एक ही कार्य महत्त्वपूर्ण होता है और वह उसी कार्य को करता है। वह कार्य है अपने तई उन नैतिक सूत्रों की व्याख्या करना, जिनके बल पर वह जीवनयापन करता है।

नैतिक सूत्र सदा से ही चले आए हैं; मनुष्य उनकी व्याख्या भर करता है। जो लोग इन नैतिक सूत्रों को नहीं चाहते और उनके अनुसार जीवनयापन करने की कामना नहीं रखते, उन्हें यह व्याख्या तुच्छ और निरर्थक प्रतीत होती है; किंतु नैतिक सूत्रों की व्याख्या करना मानव-जाति का मुख्य ही नहीं बल्कि एकमात्र कर्तव्य है। यह व्याख्या उसी प्रकार अलक्षित रहती है, जिस प्रकार खुट्टल और पैनी छुरी का भेद अलक्षित रह सकता है। छुरी तो छुरी होती है। जिसे उससे कुछ काटना नहीं होता, उसकी दृष्टि उसके खुट्टलपन और पैनेपन के भेद पर नहीं जाती। किंतु जो व्यक्ति समझता है कि छुरी के खुट्टल अथवा पैनी होने पर ही उसका सारा जीवन निर्भर है, उसके लिए छुरी को तेज बनाने की प्रत्येक क्रिया महत्त्वपूर्ण होती है। वह यह भी जानता है कि पैना करने की यह क्रिया अनंत है और सच्ची छुरी वही हैं, जो पैनी हो और जिससे जो चाहे काटा जा सके।

जब मैं यह लेख लिखने बैठा तब मेरी यह दशा हुई। मैं सोचता था कि ल्यापिन-अनाथालय और मर्दुमशुमारीवाली अनुभूतियों के फलस्वरूप मेरे मन में जो प्रश्न उठे हैं, उनके विषय में मैं सब-कुछ जानता और समझता हूँ; किंतु जब मैंने उन्हे समझने और व्यक्त करने की चेष्टा की तब मैंने देखा कि मेरी छुरी से कुछ कटता नहीं और उसे तेज करना होगा और अब पूरे तीन वर्ष बीत जाने पर मैं यह अनुभव कर रहा हूँ कि मेरी छुरी में अब इतनी धार आ गई है कि उससे जो चाहूँ काट सकता हूँ। इसका यह अर्थ नहीं कि मुझे कोई नई बात मालूम हो गई है। मेरे विचार अब भी वैसे ही हैं जैसे पहले थे। अंतर केवल इतना है कि पहले वे अस्पष्ट थे, आसानी से बिखर जाते थे और केंद्रीभूत नहीं होते थे; उस समय उनमें पैनापन नहीं था और वे आज की तरह एक सरलतम तथा स्पष्टतम निर्णय में बद्ध नहीं हो पाते थे।

गाँवों पर शहर की विलासिता का प्रभाव

मुझे याद है कि नगर के दीन-दुखियों की सहायता करने का निष्फल प्रयत्न करते समय मुझे ऐसा लगता था कि जिस दलदल से मैं दूसरों को बाहर निकालने की चेष्टा कर रहा हूँ, उसमें मैं स्वयं खड़ा हुआ हूँ। मेरे प्रत्येक नए प्रयत्न ने मुझे यह अनुभव करने के लिए बाध्य किया कि जिस धरती पर मैं खड़ा हूँ, वह पोली है। मैंने अनुभव तो किया कि मैं दलदल में हूँ; किंतु इस अनुभूति से उस समय मुझमें यह प्रेरणा उत्पन्न नहीं हुई कि मैं अपने पैरों तले की भूमि की अधिक सावधानी के साथ जाँच-पड़ताल करूँ और पता लगाऊँ कि मैं किस वस्तु पर खड़ा हूँ। मैं तो अपने चारों ओर फैली हुई बुराई को दूर करने के लिए लगातार बाहरी उपायों की खोज में ही लगा रहा।

उन्हीं दिनों मैंने यह भी अनुभव किया कि मेरा जीवन बुरा है और इस प्रकार रहने से काम नहीं चलेगा। इतने पर भी मैं इस सहज और स्पष्ट निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सका कि मुझे अपने रहन-सहन में सुधार कर उत्तमतर जीवन बिताना चाहिए। इसके विपरीत, मैं इस विचित्र निष्कर्ष पर पहुँचा कि अपने जीवन को उत्तम बनाने के लिए दूसरों का जीवन सुधारना आवश्यक है और बस मैं इसी सुधार-कार्य में लग गया।

मैं नगर में रहता था और वहाँ रहनेवाले दूसरे लोगों के जीवन को सुधारना चाहता था; किंतु मुझे शीघ्र ही इस बात का विश्वास हो गया कि यह काम मेरे लिए संभव नहीं है और इसलिए मैं शहरी जीवन तथा निर्धनता के रूप पर विचार करने लगा।

''यह शहरी जीवन और शहरी निर्धनता है क्या वस्तु? क्या कारण है कि मैं शहर में रहते हुए शहर के कंगालों की सहायता नहीं कर सकता?'' यह प्रश्न मेरे मन में उठे और उनका मेरे मन ने ही जो उत्तर दिया वह इस प्रकार था, ''मैं उनके लिए कुछ नहीं कर सकता, क्योंकि एक तो वे एक ही स्थान पर बहुत बड़ी संख्या में विद्यमान हैं और दूसरे वे गाँव के गरीबों से बिलकुल भिन्न हैं।''

''तो फिर उनके यहाँ इतनी बड़ी संख्या में होने का क्या कारण है और उनमें तथा गाँव के गरीबों में क्या भेद है?''—ये प्रश्न मेरे मन में फिर उठे और इनका एक ही उत्तर मिला, ''इन निर्धनों के यहाँ इतनी बड़ी संख्या में विद्यमान होने का कारण यह है कि गाँव में जो लोग अपना पेट नहीं भर पाते वे सब-के-सब यहाँ आकर अमीरों के आसपास इकट्ठे हो जाते हैं। इनकी विशेषता ही यह है कि रोटी कमाने के लिए ये गाँव छोड़कर शहर में आ बसे हैं। यदि इनमें कुछ ऐसे हैं, जिनका जन्म

शहर में ही हुआ था और जिनके बाप-दादा भी शहर में ही पैदा हुए थे तो इसका यह मतलब है कि इनके पूर्वज यहाँ रोटी कमाने आए होंगे।''

''शहर में रोटी कमाना!'' इसका क्या अर्थ है? इन शब्दों पर विचार करने से पता चलता है कि इनमें एक अजीब मजाक-जैसी बात है। जिस देहात में जंगल है, मैदान है, अनाज है, चौपाए हैं, सारांश यह कि जहाँ धरती की सारी संपदा है—उस देहात को छोड़कर लोग रोटी कमाने के लिए भला ऐसी जगह क्यों आते हैं, जहाँ न पेड़ हैं, न घास, न धरती और जहाँ सिर्फ पत्थर और धूल-ही-धूल है? जिन शब्दों का प्रयोग खाने और खिलानेवाले दोनों ही इस प्रकार करते हैं मानो उनके लिए वे सर्वथा स्पष्ट और बुद्धिगम्य हों, उन शब्दों का क्या अर्थ है?

मुझे याद है कि जब मैंने नगर में रहनेवाले सैकड़ों और हजारों लोगों से—जिनमें से कुछ अमीर थे और कुछ गरीब—यह पूछा कि आप नगर में क्यों आए हैं तो उनमें से प्रत्येक ने बिना किसी अपवाद के यही उत्तर दिया,

''मास्को में बोया-काटा नहीं जाता, फिर भी वहाँ धन का ढेर लगा है।''

सबने यही कहा कि मास्को में प्रत्येक वस्तु की बहुलता है और वही एक ऐसा स्थान है जहाँ वे उस धन का उपार्जन कर सकते हैं, जिसकी उन्हें गाँव में अनाज, मकान, घोड़ा और जीवन-संबंधी अन्य आवश्यक सामग्री खरीदने के लिए आवश्यकता पड़ती है। फिर भी यह तो सब जानते हैं कि गाँव ही समस्त संपदा का उद्गम है और वहीं वास्तविक धन—अनाज, लकड़ी, घोड़ा आदि—मिलता है। तो फिर जो वस्तु देहात में उपलब्ध है, उसे लेने के लिए लोग शहर क्यों जाते हैं? इससे भी बड़ा प्रश्न यह है कि गाँववालों को आटा, जौ, घोड़े, चौपाए आदि जिन पदार्थों की स्वयं आवश्यकता रहती है, उन्हें वे लोग देहात से शहर में क्यों ले आते हैं?

इस विषय पर मैंने शहर में रहनेवाले किसानों से सैकड़ों बार चर्चा की और उनकी बातचीत तथा अपने अध्ययन से मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि गाँववालों का शहर में आना कुछ तो अनिवार्य है, क्योंकि उनके पास पेट पालने का कोई दूसरा साधन नहीं और कुछ स्वेच्छापूर्ण है, क्योंकि नागरिक जीवन के प्रलोभन उन्हें आकर्षित करते हैं। यह सच है कि देहात में किसान की स्थिति कुछ ऐसी होती है कि उसे अपने सिर पर आ पड़नेवाले विविध व्ययों की पूर्ति के लिए अपना वह अनाज और पशु-धन बेचना पड़ता है, जिसकी वह जानता है कि उसे स्वयं आवश्यकता पड़ेगी। इस प्रकार विवश होकर—चाहे वह पसंद करे या न करे—उसे अपना अनाज वापस पाने के लिए शहर जाना पड़ता है; किंतु साथ-ही-साथ यह भी सच है कि शहर में पैसा कमाने की जो अपेक्षाकृत आसानी होती है, उससे आकर्षित होकर और शहरी जीवन के वैभव के लोभ में भी वह शहर की ओर खिंचा चला

आता है। वहाँ वह जीविका कमाने का बहाना लेकर कम मेहनत का काम ढूँढ़ने, बढ़िया खाने-पहनने, दिन में तीन-चार बार चाय लेने और शराब के नशे में चूर होकर स्वेच्छाचारितापूर्ण जीवन बिताने के लिए भी जाता है।

दोनों परिस्थितियों का कारण एक ही है; वह यह है कि धन उत्पादकों के हाथ से निकलकर उन लोगों के पास चला जाता है जो उत्पादक नहीं हैं और इस प्रकार शहर में इकट्ठा हो जाता है। जब सर्दी का मौसम आता है तब ऐसा लगता है जैसे लक्ष्मी गाँवों में आ बसी हो, किंतु तत्काल ही कर, फौजी भरती, लगान आदि सिर पर आ पड़ते हैं और वोडका, शादी-विवाह, उत्सव, खोमचेवाले आदि अनेक आकर्षण मन को खींचने लगते हैं। परिणाम यह होता है कि भेड़, बछड़ा, गाय, घोड़ा, सूअर, मुर्गी, अंडा, मक्खन, सन, राई, जौ, मेथी, मटर, पाट के बीज, अलसी आदि विभिन्न रूपों में सारी संपत्ति दूसरे आदमियों के हाथ चली जाती है और फिर देहातों से कस्बों में तथा कस्बों से शहर में पहुँचा दी जाती है। बेचारा किसान कुछ तो अपने खर्चों की पूर्ति के लिए और कुछ प्रलोभनों के चक्कर में पड़कर अपनी समस्त संपत्ति को बेचने के लिए विवश हो जाता है और फिर कंगाल बनकर उसी जगह जाता है जहाँ उसका धन गया है। वहाँ वह कुछ तो इस बात का प्रयत्न करता है कि देहात में उसे जिन पदार्थों की नितांत आवश्यकता है उन्हें प्राप्त करने के लिए पैसे कमा ले और कुछ शहर के प्रलोभनों में फँसकर वह दूसरों के साथ व्यसनों में लिप्त हो जाता है।

सारे रूस में—रूस में ही क्यों, मैं समझता हूँ कि सारे संसार में—ऐसा ही होता है। ग्रामीण उत्पादकों का धन व्यापारियों, जमींदारों, अफसरों और मिल-मालिकों के हाथ में चला जाता है। जिन्हें धन मिलता है, वे स्वभावत: उसका उपभोग करना चाहते हैं और उसका पूरा-पूरा उपभोग वे केवल नगर में कर सकते हैं। देहात में लोग एक-दूसरे से दूर रहते हैं, जिसके कारण धनवानों की सारी आवश्यकताओं की पूर्ति कठिन होती है, क्योंकि वहाँ न तो कारखाने होते हैं, न बड़ी-बड़ी दुकानें, न बैंक, न होटल, न थिएटर, न मनोरंजन के विभिन्न साधन। इसके अलावा, धन से मिलनेवाला जो एक बड़ा सुख अभिमान है, और अर्थात् दूसरों को अपनी शान-शौकत से चकित करने और नीचा दिखाने की जो तृष्णा है, वह भी लोगों के दूर-दूर रहने के कारण गाँव में बड़ी कठिनाई से तृप्त हो पाती है। गाँव में भोग-विलास की वस्तुओं के पारखी नहीं होते, वहाँ ऐसे लोग नहीं होते, जिनकी आँखों में इन वस्तुओं से चकाचौंध पैदा की जाए। गाँव के मकान को चाहे जितना सजाइए, उनमें चाहे जितने चित्र और मूर्त्तियाँ लाकर रखिए, चाहे जितने गाड़ी-घोड़े और सौंदर्य-सामग्रियाँ जुटाइए, वहाँ उनकी प्रशंसा या उनसे ईर्ष्या करनेवाला कोई नहीं मिलेगा,

क्योंकि किसान लोग इन चीजों के बारे में कुछ नहीं समझते। तीसरी बात यह है कि आत्मा की पुकार सुननेवाले और सामाजिक औचित्य की चिंता करनेवाले व्यक्ति को गाँव में विलासिता अरुचिकर ही नहीं, बल्कि संकटजनक भी प्रतीत होती है। जबकि दूध वहाँ के बच्चों को भी पीने को नसीब नहीं होता, हमारा उससे नहाना या पिल्लों को पिलाना बड़ा ही भद्दा और अरुचिकर प्रतीत होता है। इसी तरह जो लोग खाद से घिरी हुई कच्ची झोंपड़ियों में रहते हैं और जिनके पास आग जलाने के लिए लकड़ी भी नहीं होती, उनके बीच बड़े-बड़े मंडप बनवाना और बाग लगवाना कष्टकर तथा अस्वाभाविक मालूम देता है। मूर्ख किसान यदि अज्ञानवश इन सब चीजों को नष्ट कर दें तो देहात में ऐसा कोई अधिकारी नहीं जो उन्हें नियंत्रण में रख सके।

इसीलिए धनी लोग शहरों में इकट्ठे होते हैं और अपनी ही जैसी रुचि के दूसरे धनवानों के बीच जा बसते हैं। वहाँ भोग-विलास के हर प्रकार के साधन की सावधानी के साथ निगरानी करने के लिए बहुत-सी पुलिस तैनात रहती है। इस तरह के शहरियों में मुख्य स्थान सरकारी कर्मचारियों का है। उनके आसपास तरह-तरह के कारीगर, व्यापारी और धनी लोग आ बसे हैं। धनियों को किसी वस्तु के लिए बस इच्छा-भर करने की आवश्यकता होती है और वह वस्तु उनके सामने कर दी जाती है। नगरों में रहना धनिकों को अधिक प्रिय भी होता है, क्योंकि वहाँ उनके अभिमान को संतुष्टि का मार्ग मिल सकता है। वहाँ वे भोग-विलास में दूसरों के साथ होड़ कर सकते हैं, उन्हें चकित कर सकते हैं और नीचा भी दिखा सकते हैं। सबसे बड़ी बात, जिसके कारण उन्हें शहर में रहना अधिक रुचिकर प्रतीत होता है, यह है कि पहले तो वैभवशाली होने के कारण उन्हें अपने गाँव में रहना बड़ा अप्रिय और कष्टकर लगता था और अब नगर में आ जाने पर उन्हें शान-शौकत से न रहना अप्रिय मालूम होता है; क्योंकि नगर में आसपास के सभी लोग ऐसे ही रहते हैं। रहन-सहन का जो ढंग उन्हें गाँव में भयप्रद और भद्दा प्रतीत होता था, वही नगर में बिलकुल उचित लगता है। नगर में एकत्र होकर धनवान लोग अधिकारियों की छत्रछाया में शांतिपूर्वक उन्हीं पदार्थों की माँग करते हैं, जो गाँव से आते हैं। जहाँ अमीर लोग नित्य-नए आमोद-प्रमोद मनाते हैं और गाँव से हथियाए हुए धन का उपयोग करते हैं वहाँ जाने के लिए कुछ अंश में ग्रामीणों को बाध्य हो जाना पड़ता है ताकि वे अमीरो की मेज से गिरनेवाले जुठन से अपना पेट भर सकें। अमीरों के इस आरामतलब और वैभवपूर्ण जीवन को देखकर कुछ-कुछ देहातियों की भी इच्छा अपने जीवन की इस प्रकार व्यवस्था करने की होती है कि उन्हें स्वयं तो कम काम करना पड़े और वे दूसरों के परिश्रम का अधिक सुख भोग सकें। स्मरण रहे कि इस प्रकार के जीवन को सभी लोग अच्छा समझते हैं और उसका समर्थन करते हैं।

यही कारण है कि देहात के स्त्री-पुरुष शहर जाते हैं और वहाँ धनिकों का पता लगाकर उनसे उन पदार्थों को, जिनकी उन्हें आवश्यकता होती है, हर संभव रीति से वापस लेने का प्रयत्न करते हैं। इसके लिए अमीर लोग उन पर जो शर्तें लगाते है, उन्हें वे स्वीकार कर लेते हैं। वे उनकी सारी मनोवांछित उमंगों की पूर्ति में सहायता देते हैं; या तो उनकी स्त्रियाँ या वे स्वयं हमामों और होटलों में नौकरी बजाते हैं, कोचवानी या वेश्यावृत्ति करते हैं, गाड़ियाँ, खिलौने और फैशनेबुल कपड़े बनाते हैं और धीरे-धीरे धनवानों से उनकी ही तरह रहना सीख लेते हैं। अर्थात्, वे स्वयं श्रम न कर दूसरों की भिन्न-भिन्न युक्तियों द्वारा इकट्ठी की हुई संपत्ति का अपहरण करना जान जाते हैं और इस प्रकार बिगड़कर नष्ट हो जाते हैं। शहरों में शहर के पैसे से बिगड़े हुए ऐसे ही निर्धन रहते हैं। मैं इन्हीं की सहायता करना चाहता था, किंतु कर न सका।

जरा गाँव के उन लोगों की स्थिति पर विचार कीजिए जो पेट पालने या टैक्स भरने के लिए पैसा कमाने शहर आते हैं! एक ओर तो उन्हें एक-एक पैसे के लिए एड़ी-चोटी का पसीना एक करना पड़ता है, दूसरी ओर वे देखते हैं कि उनके चारों ओर लोग पागलों की भाँति हजारों रुपए पानी की तरह बहा देते हैं और चुटकियों में सैकड़ों रुपए कमा लेते हैं। ऐसी अवस्था में यदि उनमें से एक भी व्यक्ति मेहनत-मजदूरी करके पेट पालना पसंद करता है और यदि सब-के-सब पैसा कमाने के आसान साधनों—व्यापार, पशु-विक्रय, भिक्षा, व्यभिचार, धोखा-धड़ी चोरी आदि—का आश्रय नहीं लेते तो यह निस्संदेह आश्चर्य की बात है।

शहर की अनंत रंगरेलियों में भाग लेते-लेते हम लोग इस प्रकार के जीवन के इतने अभ्यस्त हो जाते हैं कि हमें अकेले एक आदमी का पाँच बड़े-बड़े कमरों में रहना सर्वथा स्वाभाविक मालूम पड़ने लगता है—ऐसे कमरे में रहना सर्वथा स्वाभाविक मालूम पड़ने लगता है—ऐसे कमरे, जिन्हें गरम करने के लिए इतना ईंधन जलाया जाता है, जितना बीस परिवारों के लिए भोजन बनाने और उनके घरों को गरम रखने के लिए काफी हो सकता है। इसी प्रकार आध मील जाने के लिए दो घोड़े और दो सइस रखने, अपने बेल-बूटेदार फर्शों पर गलीचे बिछाने और नाच-गाने में दस-पाँच हजार रूबल व्यय कर देने की बात तो दूर रही, बड़े दिन के वृक्ष के लिए पच्चीस रूबल खर्च करना आदि भी हमें स्वाभाविक मालूम पड़ने लगता है, किंतु जिस आदमी को अपने परिवार का पेट पालने के लिए दस रूबलों की आवश्यकता है, अथवा जिसकी आखिरी भेड़ सात रूबल का कर भरने के लिए बिकी जा रही है और जो कड़ी मेहनत करके पैसा पैदा नहीं कर पाता, वह ऐसे जीवन का अभ्यस्त नहीं बन सकता। हम लोग समझते हैं कि ये सब बातें गरीबों को स्वभाविक मालूम

देती है। कुछ लोग तो यह कहते हुए भी नहीं हिचकते कि हमारे राग-रंग से गरीबों का पेट पलता है और इस बात के लिए वे हमारे कृतज्ञ हैं, परंतु निर्धन होने से मनुष्य की बुद्धि नहीं मारी जाती। निर्धन भी हमारी ही तरह तर्क-वितर्क कर सकते हैं। जब हम सुनते हैं कि किसी ने दस-बीस हजार रूबल उड़ा दिए तो तत्काल हमारे मन में यही विचार आता है, "कितना मूर्ख और बेकार आदमी है यह, जिसने इतने रुपए व्यर्थ ही बर्बाद कर दिए! अगर इतने रुपए मेरे होते तो इनका मैं अपने खेत की उन्नति करने या उस मकान को बनवाने में सदुपयोग करता जिसे बनवाने की मुझे इतने दिनों से इच्छा थी;" आदि-आदि। कंगालों के मन में भी धन को मूर्खतापूर्वक नष्ट होते देख ठीक इसी प्रकार के विचार उठते हैं। सच पूछिए तो उनके मन में ये तर्क-वितर्क और भी अधिक होते हैं, क्योंकि उन्हें उस धन की आवश्यकता किसी लोभ की पूर्ति के लिए नहीं, बल्कि जीवन की अपरिहार्य आवश्यकताएँ जुटाने के लिए होती है। हम लोग यह सोचने में बहुत बड़ी भूल करते हैं कि गरीब लोग इन बातों पर ध्यान नहीं देते और वे अपने चारों ओर फैली हुई विलासिता को शांतिपूर्वक देख सकते हैं।

निर्धनों ने इस बात को कभी उचित नहीं माना और न मानेंगे कि कुछ लोग तो सदा गुलछर्रे उड़ाएँ और कुछ भूखों मरें और हड्डियाँ तोड़ें। इस अन्याय को देखकर पहले तो उन्हें आश्चर्य के साथ-ही-साथ क्रोध आता है; किंतु बाद में वे इसके अभ्यस्त हो जाते हैं और यह देखकर कि समाज की ऐसी ही व्यवस्था ठीक मानी जाती है, वे स्वयं भी काम से बचने तथा सदा रंगरेलियाँ मनाने की चेष्टा करते हैं। कुछ को सफलता मिल जाती है और वे सदा आनंद-भोग में मस्त रहने लगते हैं; कुछ इस प्रकार के जीवन को प्राप्त करने के लिए धीरे-धीरे अपनी भावनाएँ उत्तेजित करने लगते हैं और कुछ अपनी लक्ष्य-प्राप्ति में असफल होने के कारण हताश हो जाते हैं और मेहनत-मजदूरी की आदत छूट जाने से वेश्यालयों या अनाथाश्रमों की शरण लेते हैं।

दो वर्ष हुए हम लोग एक किसान के लड़के को नौकरी करने के लिए गाँव से लाए। उसकी दरबान से नहीं पटी और वह निकाल दिया गया। बाद में उसे एक सौदागर के यहाँ काम मिल गया। उसने सौदागर को खुश कर लिया और अब वह चमचमाते हुए बूट पहनकर अपनी वास्कट में जंजीर लगाए फिरता है। उसकी जगह हमने एक गृहस्थ किसान को नौकर रखा। वह शराब पीने लगा और कुछ रुपए गँवा बैठा। हमने तीसरा आदमी रखा। वह पियक्कड़ था। उसने कपड़े-लत्ते बेचकर शराब पी डाली और फिर बहुत दिनों तक वह अनाथालयों में मारा-मारा फिरता रहा। इसी तरह एक बूढ़ा बावर्ची गाँव से शहर में आकर शराब पीने का आदी बन

गया और बीमार पड़ गया। एक दरबान भी, जो पहले बहुत शराब पीता था, किंतु जो गाँव में रहते हुए पिछले पाँच वर्ष से अपने को नशे से बचाता आया था, पारसाल मास्को आकर फिर शराब पीने लगा और इसी में उसने अपना सारा जीवन नष्ट कर डाला। गाँव में तो उसकी स्त्री उसे शराब पीने से रोकती रहती थी; किंतु शहर में वह अकेला ही रहता था और उसे रोकनेवाला कोई नहीं था। हमारे गाँव का एक लड़का मेरे भाई के यहाँ नौकरी करता है। जब मैं गाँव गया था तो एक दिन उसका अंधा दादा मेरे पास आया और बोला कि बाबू जी, किसी तरह मेरे पोते को शर्मिंदा करके टैक्स के लिए दस रूबल भिजवा दो, नहीं तो मुझे अपनी गाय बेचनी पड़ेगी। बूढ़े ने कहा, "वह हमेशा यही कहता है कि शहर में अच्छे-अच्छे कपड़े पहनने पड़ते हैं। उसने बूट खरीद लिए हैं। इतना ही बहुत है; लेकिन मेरा खयाल है कि अब वह घड़ी खरीदने की धुन में है।" बूढ़े ने यह बात इस तरह कही जैसे उसकी राय में घड़ी खरीदने से बढ़कर और कोई पागलपन हो ही नहीं सकता। निस्संदेह यदि लोगों को यह मालूम हो जाए कि बेचारे बूढ़े को लेंट के व्रत में खाने के साथ तेल तक मयस्सर नहीं हुआ था और एक रूबल तथा बीस कोपेक का ऋण न भर सकने के कारण उसकी काटी हुई लकड़ी उसके हाथ से निकली जा रही है तो उन्हें उसके पोते का घड़ी खरीदने का प्रस्ताव पागलपन ही जँचेगा। बाद में पता चला कि बूढ़े का आक्षेप ठीक था। उसका पोता बढ़िया कपड़े का काला ओवरकोट और बूट पहने मेरे पास आया। ये बूट उसने आठ रूबल में खरीदे थे। कुछ दिन पहले उसने मेरे भाई से दस रूबल पेशगी लिए थे और उन्हीं में से वह बूट खरीदकर लाया था। मेरे लड़कों ने, जो उसे बचपन से जानते हैं, मुझे यह भी बतलाया कि घड़ी खरीदना वह सचमुच अपने लिए आवश्यक समझता है। लड़का बहुत अच्छे स्वभाव का है, किंतु समझता है कि जब तक उसके पास घड़ी नहीं होगी तब तक लोग उसकी हँसी उड़ाते रहेंगे, इसलिए घड़ी उसके लिए जरूरी है। इस साल हमारे यहाँ की एक अठारह वर्ष की नौकरानी का साईस के साथ संबंध हो गया। इस पर उसे हमने निकाल दिया। इस बात की चर्चा जब मैंने अपनी बूढ़ी धाय से की तो उसने मुझे एक और दुखिया लड़की की याद दिलाई, जिसे मैं भूल गया था। इस साल पहले जब हम कुछ दिनों के लिए मास्को रहे थे तब उसका भी एक दरबान से संबंध हो गया था और उसे भी हमने नौकरी से अलग कर दिया था। अंत में वह एक वेश्यालय में जा पहुँची थी और अपने जीवन का बीसवाँ वर्ष पूरा करने से पहले-ही-पहले उपदंश रोग से पीड़ित होकर एक अस्पताल में मर गई थी। यदि हम उन मिलों और कारखानों को छोड़ दें, जो हमारे लिए भोग-विलास की सामग्री तैयार करने में निरंतर रत रहते हैं तो भी हम अपने चारों ओर उस छूत को देखकर दहल

उठेंगे, जो हम अपनी विलासिता द्वारा ठीक उन्हीं लोगों में प्रत्यक्ष रूप से फैलाते हैं, जिनकी बाद में हम सहायता करना चाहते हैं।

इस प्रकार जिस नागरिक दरिद्रता को दूर करने में मैं असमर्थ रहा था, उसके स्वरूप का अध्ययन करने पर मुझे उसके दो कारण दिखाई दिए—पहला तो यह है कि मेरे-जैसे लोग गाँववालों की आवश्यकता की चीजें एकत्र कर शहर में ले आते हैं और दूसरा यह कि शहर में हम गाँवों से बटोरी हुई संपत्ति के बल पर ऐश-आराम करते हैं और अपनी विलासिता से उन ग्रामीणों को ललचाते तथा भ्रष्ट करते हैं, जो गाँव से लाई गई वस्तु को किसी-न-किसी प्रकार वापस ले जाने के लिए हमारे पीछे-पीछे शहर आते हैं।

बीच की दीवार

इससे बिलकुल विपरीत दृष्टिकोण से विचार करने पर भी मैं इसी निष्कर्ष पर पहुँचा। इस बीच शहर के कंगालों के साथ मेरा जो संबंध स्थापित हुआ था, उस पर विचार करने पर मैंने यह अनुभव किया कि उन कंगालों की सहायता न कर सकने का एक कारण यह था कि उन्होंने मेरे साथ कपट किया और मुझसे झूठ बोला। वे मुझे मनुष्य नहीं, एक साधन समझते थे। मैं उनके संपर्क में न आ सका और मैंने सोचा कि शायद यह काम मुझे आता ही नहीं; किंतु मैंने देखा कि जबतब वे सचाई से काम नहीं लेंगे तब-तक उनकी सहायता नहीं की जा सकती। जब तक कोई व्यक्ति अपनी पूरी स्थिति न बतलाए तब तक उसकी सहायता कैसे की जा सकती है? पहले मैंने इसका दोष कंगालों के ही सिर मढ़ा—दूसरों पर दोषारोपण करना पड़ा स्वाभाविक होता है; किंतु उन दिनों मेरे पास ठहरे हुए सुताएफ़[1] नामक एक विलक्षण पुरुष के एक शब्द ने सारी स्थिति स्पष्ट कर दीं और मुझे मेरी असफलता का गूढ़ कारण समझा दिया। मुझे याद है कि सुताएफ़ की बात का उस समय भी मुझ पर गहरा असर पड़ा था, किंतु उसका पूरा महत्त्व मैं बाद में समझ पाया। यह उस समय की बात है जब मेरी आत्मप्रवंचना अपनी चरम सीमा पर पहुँची हुई थी।

1. *सुताएफ़ का उल्लेख पहले आ चुका है। वह वही किसान था जिसने टॉल्सटॉय के यहाँ आए हुए लड़के को मजदूरी करने के लिए गाँव चलने को कहा था; किंतु उस लड़के ने टॉल्सटॉय की नौकरी छोड़कर सर्कस में नौकरी कर ली थी। टॉल्सटॉय इस किसान का बड़ा सम्मान करते थे।*

मैं अपनी बहन के यहाँ बैठा हुआ था। सुताएफ़ भी वहीं था और मेरी बहन मुझसे मेरी योजना के संबंध में कुछ पूछताछ कर रही थी। मैंने उसे बताना आरंभ किया और—जैसा कि काम में पूरा विश्वास न होने पर सदा होता है—मैं उसके सामने अपने काम और उसके परिणामों का बड़ी तन्मयता तथा उत्साह के साथ बढ़-बढ़कर बखान करने लगा। मैंने उसे बतलाया कि किस प्रकार हम अनाथों और बूढ़ों की देखभाल करेंगे, किस तरह शहर में गुजारा न चला सकनेवाले किसानों को देहात वापस भेज देंगे, किस प्रकार पतितों के सुधार का मार्ग प्रशस्त करेंगे और किस प्रकार हमारी योजना के सफल होने पर मास्को में एक भी व्यक्ति निस्सहाय नहीं रह जाएगा। मेरी बहन ने मेरे साथ सहानुभूति प्रकट की और हम इसी विषय पर बातचीत करते रहे। इसी बीच मैंने सुताएफ़ पर दृष्टि डाली। मैं जानता था कि वह पक्का ईसाई है और दानशीलता को बहुत महत्त्व देता है। स्वभावत: मुझे आशा थी कि वह मेरा समर्थन करेगा और इसीलिए मैंने बातचीत इस ढंग से की कि वह मेरा आशय समझ जाए। वैसे तो मैं सारी बातें अपनी बहन को संबोधित करके कह रहा था; किंतु वास्तव में वे सुताएफ़ के लिए ही थीं। भेड़ की खाल का काला कोट पहने—जिसे वह किसानों की तरह घर पर और घर से बाहर भी, सब जगह पहने रहता था—वह पत्थर-जैसा अचल बैठा था। ऐसा प्रतीत होता था कि वह हमारी बातें नहीं सुन रहा है और अपने ही विचारों में मग्न है। उसकी छोटी-छोटी आँखें बंद प्रतीत होती थीं, मानो वे अंदर की ओर देख रही हों। अपनी बात समाप्त कर मैंने उसको संबोधित किया और पूछा कि तुम्हारी क्या राय है।

"यह सब व्यर्थ है," उसने कहा।

"क्यों?"

"आप जो सभा बनाने जा रहे हैं वह बिल्कुल व्यर्थ होगी, उससे कोई लाभ नहीं निकलेगा," सुताएफ़ ने आत्मविश्वास के साथ दुहराया।

"क्यों नहीं निकलेगा? अधिक को न सही, हजारों या सैकड़ों अभागों को ही सही, मदद देना व्यर्थ क्यों जाएगा? क्या नंगों को कपड़ा और भूखों को भोजन देना बुरा है? यह तो बाइबिल का उपदेश है।"

"मैं जानता हूँ कि यह बाइबिल का उपदेश है; किंतु आप ठीक ढंग से काम नहीं कर रहे हैं। क्या मदद करने का यही तरीका है? आप टहलने निकलते हैं; रास्ते में आपसे कोई बीस कोपेक माँगता है और आप दे देते हैं। क्या यही दान है? यदि आप दे सकते हैं तो माँगनेवाले को आध्यात्मिक दान दीजिए, उसको शिक्षा दीजिए। किंतु इसके बजाए आप क्या करते हैं? पैसा देकर गरीब से महज पीछा छुड़ा लेते हैं।"

"नहीं, हम इसकी बात नहीं कर रहे हैं। हम गरीबों की आवश्यकताएँ जानना चाहते हैं और जो जरूरतमंद हैं, उन्हें धन तथा काम देना चाहते हैं और उनके लिए नौकरी भी ढूँढ़ना चाहते हैं।"

"इस तरह से आप इन लोगों के लिए कुछ नहीं कर सकेंगे।"

"क्या मतलब? क्या इन्हें भूख और ठंड से मरने दिया जाए?"

"वे मरें क्यों? उनकी संख्या इतनी अधिक तो नहीं।"

"है क्यों नहीं?" यह बात मैंने यह सोचकर कही कि सुताएफ़ इस चर्चा को इसलिए इतना तुच्छ समझ रहा है कि उसे पता ही नहीं कि रूस में कंगालों की संख्या कितनी विशाल है। मैं बोला, "क्या तुम्हें मालूम नहीं कि अकेले मास्को में करीब बीस हजार भूखे और ठंड से कँपकँपाते हुए अभागे हैं? इसके अलावा पीटर्सबर्ग और दूसरे शहरों में भी....."

इस पर सुताएफ़ मुसकराया और बोला, "बीस हजार! और रूस में कुल घर कितने होंगे? दस लाख?"

"अच्छा, मान लो दस लाख! तो इससे क्या?"

"इससे क्या?" उसकी आँखें चमक उठीं और उसने आवेश में आकर कहना आरंभ किया, "क्यों न हम इनको अपने में बाँट लें! मैं अमीर नहीं हूँ, फिर भी तत्काल दो का भार अपने ऊपर लेने को तैयार हूँ। आपके बावर्चीखानें में जो लड़का है, उसे मैंने अपने साथ चलने के लिए कहा था, लेकिन वह राजी नहीं हुआ। मैं तो कहता हूँ; कि अगर इससे दसगुने कंगाल हों तब भी हम उन सबको शरण दे सकते हैं। एक को आप रख लीजिए, दूसरे को मैं रख लूँगा। मैं जिसको रखूँगा उसके साथ स्वयं काम करने जाऊँगा। वह मेरा काम करने का ढंग देखेगा और इस तरह जीवननिर्वाह की विधि सीखेगा। हम सब एक मेज पर बैठकर खाना खाएँगे; उसे कभी मुझसे और कभी आपसे उपदेश के दो शब्द सुनने को मिलेंगे। सच्चा दान यह है। आपकी योजना तो बिल्कुल बेकार है।"

उसकी यह सीधी-सी बात मेरे मन में बैठ गई और मुझे उसकी सार्थकता को स्वीकार करना पड़ा। फिर भी उस समय मुझे ऐसा लगा कि यद्यपि सुताएफ़की बात ठीक है तथापि संभव है कि मैंने जो कार्य आरंभ किया वह भी उपयोगी सिद्ध हो। किंतु ज्यों-ज्यों मेरा काम आगे बढ़ता गया और जैसे-जैसे मैं निर्धनों के निकटतर संपर्क में आता गया, वैसे-वैसे मुझे सुताएफ़ के शब्दों की अधिकाधिक याद आने लगी और वे मेरे लिए अधिकाधिक अर्थपूर्ण बनते गए। इसमें संदेह नहीं कि जब मैं घर से बाहर निकलता हूँ तो एक बहुमूल्य रोएँदार कोट पहनकर या स्वयं अपनी गाड़ी में निकलता हूँ। एक ऐसा आदमी, जिसके पास जूते तक नहीं हैं, मेरे दो हजार

रूबल के मकान पर दृष्टि डालता है या केवल यह देखता है कि जब कभी मेरा जी चाहता है तभी मैं बिना खेद के किसी को भी पाँच रूबल दे बैठता हूँ। इससे वह समझता है कि मेरे इस प्रकार रूबल लुटाने का कारण यह है कि मैंने बहुत-से रूबल इकट्ठे कर लिए हैं और मेरे पास बहुत से रूबल फालतू भी हैं, जिन्हें मैंने किसी को देने के बजाए ठीक इसके विपरीत दूसरों से सरलतापूर्वक हड़प लिया है। स्वभावत: वह आदमी मेरे विषय में इसके अतिरिक्त और क्या सोच सकता है कि जो धन वास्तव में उसका होना चाहिए था, उसे मैंने हथिया लिया है? इसी तरह मेरे प्रति उसकी और क्या भावना हो सकती है सिवा इसके कि मैंने उससे और दूसरों से जो हथियाया है, उसे वह अधिक-से-अधिक परिमाण में वापस ले ले? चाहता तो मैं यह हूँ कि उसके संपर्क में आऊँ और उससे शिकायत करूँ कि तुम साफ-साफ बातें नहीं करते; किंतु मुझे उसके बिछौने पर बैठते हुए डर लगता है कि कहीं मेरे कपड़ों पर जूँ न चढ़ जाए, कहीं मुझे कोई छूत की बीमारी न लग जाए। मैं उसको अपने कमरे में भी घुसने नहीं देता। जब वह भूख से बिलबिलाता हुआ मेरे पास आता है तब उसे मेरी दुबारी या बाहर बरसाती में ही प्रतीक्षा करनी पड़ती है और वह भी यदि उसके भाग्य सीधे हुए तब। फिर भी मैं कहता यही हूँ कि यदि मैं उसके संपर्क में नहीं आ पाता या वह मुझसे खुलकर बातें नहीं करता तो इसका दोष उस पर ही है।

यदि हम नाना प्रकार के व्यंजन लेकर ऐसे लोगों के बीच भोजन करके बैठ जाएँ, जिन्हें खाने को कुछ नहीं मिला है और जिन्हें केवल सूखी रोटी मयस्सर होती है, तो—हम चाहे कितने ही कठोर हृदय क्यों न हों—यह संभव नहीं कि हम स्वयं तो खा लें और भूखे लोग होंठ चाटते रह जाएँ। अत: भूखों के बीच रहते हुए स्वादिष्ट भोजन करने के लिए सबसे पहली आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने-आपको उनसे छिपा लें और ऐसी जगह भोजन करें जहाँ वे हमें देख न सकें। सच पूछिए तो ऐसा ही हम करते भी हैं।

सामाजिक जीवन पर कुछ अधिक सरल ढंग से विचार करने पर मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि निर्धनों के संपर्क में आने में हमें जो कठिनाई दिखाई देती है वह केवल संयोग की बात नहीं है, बल्कि हम जान-बूझकर अपने जीवन की व्यवस्था इस प्रकार कर लेते हैं कि उससे निर्धनों के संपर्क में आना कठिन हो जाता है। इतना ही नहीं, बल्कि जब मैंने निष्पक्ष भाव से अमीरों के जीवन पर विचार किया तो देखा कि हमारे जीवन में जो सुख समझा जाता है वह वास्तव में वह वस्तु है—या कम-से-कम उसका उस वस्तु से अटूट संबंध है—जो हमें कंगालों से यथासंभव अधिक-से-अधिक अलग रखती है। सच पूछिए तो हमारे वैभवपूर्ण जीवन के

समस्त प्रयत्नों—हमारे भोजन, कपड़े, मकान, सफाई और शिक्षा तक—का मुख्य उद्देश्य हमें गरीबों से अलग रखना है। इस प्रकार अपने और निर्धनों के बीच अलंघ्य दीवारें खड़ी करने में हम अपनी संपत्ति का दस में से कम-से-कम नवाँ भाग अवश्य उड़ा डालते हैं। धनवान बनने पर हम जो पहला काम करते हैं वह है दूसरों के साथ एक ही बर्तन में भोजन करना बंद कर देना।[1] हम चीनी के बर्तन मंगा लेते हैं और अपने को रसोईघर तथा नौकर-चाकरों से अलग कर लेते हैं।

हम अपने नौकरों को भरपेट भोजन कराते हैं, ताकि हमारे स्वादिष्ट भोजन को देखकर उनके मुँह में पानी न भर आए। हम स्वयं अलग भोजन करते हैं; किंतु अकेले खाना अच्छा न लगने के कारण भोजन को सुधारने और मेज को सजाने के लिए तरह-तरह की युक्तियाँ करते हैं, यहाँ तक कि हमारे भोजन करने की रीति अभिमान तथा गर्व का विषय बन जाती है। हमारा भोजन करने का ढंग हमें दूसरों से अलग करने का एक साधन बन जाता है। किसी निर्धन को भोजन के लिए निमंत्रित करना अमीरों के लिए कल्पना से बाहर की बात है। भोज में सम्मिलित होने के लिए कितने ही शिष्टाचारों का ज्ञान आवश्यक है—जैसे महिलाओं को मेज तक पहुँचाना, एक विशेष ढंग से झुकना, बैठना, खाना, उँगलियों को कटोरी में धोना आदि—और ये शिष्टाचार केवल धनवान ही जानते हैं। यही बात कपड़ों के संबंध में भी है। यदि कोई धनी व्यक्ति केवल ठंड से शरीर की रक्षा करने के लिए कपड़े पहने तो उसे बहुत ही थोड़े कपड़ों की आवश्यकता पड़ेगी। एक ओवरकोट, एक भेड़ की खाल का कोट, एक जोड़ी फेल्ट जूता, एक जोड़ी चमड़े का जूता, एक किसानोंवाला कोट, पाजामा और कमीज—बस इतना ही उसको काफी होगा और यदि उसके पास भेड़ की खाल के दो कोट होंगे तो वह उनमें से एक कोट किसी बिना कोटवाले आदमी को देने में आनाकानी नहीं कर सकेगा। किंतु अमीर लोग विशेष-विशेष अवसरों के लिए विशेष-विशेष प्रकार की पोशाक बनवाते हैं और ये पोशाकें गरीबों के मतलब की नहीं होतीं। धनवानों के पास ड्रेसकोट, वेस्टकोट, जाकेट, पेटेंट चमड़े के जूतें, लबादे, फ्रांसीसी एड़ी के जूते, छोटे-छोटे टुकड़ों को जोड़कर बनाए गए फैशनेबुल कपड़े, शिकारी लिबास, सफरी जाकेट आदि तरह-तरह के वस्त्र होते हैं। ये कपड़े केवल उन्हीं लोगों के काम आ सकते हैं जो निर्धनता से बहुत दूर होते हैं। अत: वस्त्र भी हमें गरीबों से अलग करने के साधन बन जाते हैं। फैशन का

1. *रूस के किसान-परिवार में सब लोग एक बड़े बर्तन में से अपनी-अपनी काठ की चम्मच से भोजन निकालकर खाते हैं।*

उद्देश्य ही अमीरों को गरीबों से अलग रखना है। यही बात कुछ और भी स्पष्ट रूप में हमारे मकानों से सिद्ध होती है। इन कमरों में अकेले रहने के लिए यह आवश्यक है कि एक कमरे में दस-दस की संख्या में रहनेवाले लोग उन कमरों को न देख सकें। आदमी जितना ही अधिक अमीर होता है उतना ही उस तक पहुँचना अधिक कठिन होता है, अर्थात् उसके और निर्धनों के बीच उतने ही अधिक दरबान होते हैं और निर्धनों के लिए उसके गलीचों पर चलकर उसकी साटन की कुर्सी पर बैठना उतना ही कम संभव होता है। सवारी के संबंध में भी यही बात है। यदि बैलगाड़ी में बैठकर जाता हुआ कोई किसान किसी पैदल बटोही को बैलगाड़ी में चढ़ा लेने से इनकार करे तो वह निस्संदेह बड़ा ही कठोर-हृदय माना जाएगा। उसकी गाड़ी में जगह होती है और उसे पैदल चलनेवालों को बैठा लेने का अवसर भी प्राप्त होता है; किंतु गाड़ी जितनी बढ़िया होती है उतनी ही उसमें किसी दूसरे को स्थान मिलने की कम संभावना होती है। इसीलिए जो गाड़ियाँ सबसे सुंदर होती हैं उनमें से कुछ 'एक सवारीवाली' गाड़ी कहलाती हैं।

'स्वच्छता' शब्द से जिस जीवनक्रम का बोध होता है उसके संबंध में भी यही बात कही जा सकती है। उन मनुष्यों को—विशेषत: उन स्त्रियों को—भला कौन नहीं जानता जो स्वच्छता को एक महान सद्गुण मानते हैं? और कौन ऐसा है जो स्वच्छता की युक्तियों से अपरिचित हो? जबतब ये युक्तियाँ दूसरों के श्रम के बल पर काम में लाई जाती हैं तब तक वे अनंत होती हैं। जो लोग धनवान बन गए हैं, उनमें से ऐसा कौन है जो अपने अनुभव से यह न जानता हो कि सफाई की आदत उसे कितनी कठिनाई और कष्ट से पड़ी है? इससे तो यही कहावत चरितार्थ होती है कि गोरे हाथों को दूसरों की ही मेहनत अच्छी लगती है।

आज स्वच्छता इस बात में मानी जाती है कि एक कमीज़ हर रोज बदली जाए। कल शायद इस बात में मानी जाएगी कि दिन-भर में दो कमीज़ बदली जाएँ। इसी तरह आज सफाई इस बात में समझी जाती है कि मुँह-हाथ प्रतिदिन धोए जाएँ[1], कल इस बात में समझी जाएगी कि प्रतिदिन पैर भी धोए जाएँ और परसों इस बात में कि प्रतिदिन सारे शरीर को स्नान कराया जाए और वह भी एक विशेष ढंग से रगड़कर। आज एक मेजपोश दो दिन चलता है, कल रोजाना बदला जाएगा और परसों दिन में दो बार। आज स्वच्छता के लिए केवल इतना आवश्यक समझा जाता है कि दरबान के हाथ साफ हों; किंतु कल उसके लिए साफ दस्ताने पहनना

1. रूस में इतनी कड़ी सर्दी पड़ती है कि वहाँ साधारण व्यक्तियों के लिए प्रतिदिन स्नान करना संभव नहीं। इसकी सुविधा तो वहाँ के अमीर लोगों के लिए ही हो सकती है।

अनिवार्य हो जाएगा और उसे आदेश मिलेगा कि वह चिट्ठियाँ साफ दस्ताने पहनकर साफ तश्तरी में लाया करे। इस तरह जब सफाई दूसरों के शरीर से कराई जाती है तब उसकी कोई सीमा नहीं होती और उससे कोई लाभ भी नहीं होता, सिवा इसके कि वह हमें दूसरों से अलग रखने का साधन बन जाती है और उसके कारण हमारा दूसरों से संपर्क रखना असंभव हो जाता है।

इतना ही नहीं, जब मैंने इस प्रश्न पर कुछ और गंभीरता के साथ विचार किया तो मुझे विश्वास हो गया कि साधारणत: हम जिसे शिक्षा कहते हैं उसके संबंध में भी यही बात लागू होती हैं।

भाषा हमें धोखा नहीं देती। जनता जिस वस्तु का जो अर्थ लगाती है, वही भाषा भी व्यक्त करती है। साधारण लोग जिस वस्तु को 'शिक्षा' कहते हैं वह है फैशनेबुल वेशभूषा, शिष्टतापूर्ण बातचीत, उजले हाथ और एक विशेष प्रकार की स्वच्छता। इन गुणों से संपन्न व्यक्ति दूसरों की तुलना में 'शिक्षित' कहलाता है। उच्च वर्ग के व्यक्तियों में भी 'शिक्षा' का यही अर्थ लिया जाता है; परंतु वहाँ पियानों बजाने की योग्यता, फ्रांसीसी भाषा का ज्ञान, हिज्जे की गलती किए बिना रूसी भाषा में पत्र लिखने की क्षमता तथा कुछ अधिक बाह्य स्वच्छता भी 'शिक्षा' के उपकरणों में जोड़ लिए जाते हैं। और भी उच्च वर्ग के लोगों में उक्त गुणों के अतिरिक्त अंग्रेजी भाषा का ज्ञान, किसी उच्च शिक्षण-संस्था की डिग्री तथा और भी अधिक मात्रा में बाह्य स्वच्छता 'शिक्षा' के अंतर्गत सम्मिलित किए जाते हैं। किंतु उक्त तीनों प्रकार की शिक्षा वस्तुत: एक ही है। 'शिक्षा' का अर्थ है वह आचार-व्यवहार और वह ज्ञान जो एक मनुष्य को दूसरों से अलग करता है। इसका भी वही उद्देश्य है जो स्वच्छता का– अर्थात्, हम धनवानों को निर्धनों से अलग रखना, जिससे कि भूखे और नंगे यह न देख सकें कि हम किस तरह मौज उड़ाते हैं। फिर भी हमारा राग-रंग छिप नहीं पाता और वे उसे देख ही लेते हैं।

इस प्रकार मुझे विश्वास हो गया कि हम अमीरों को शहर के गरीबों की सहायता न कर सकने का एक कारण यह भी है कि हम लोगों के लिए उनके संपर्क में आना असंभव है और हमने अपने और उनके बीच यह खाई स्वयं अपनी जीवनचर्या और अपने धन के विभिन्न प्रयोगों से खोद ली है। मुझे यह विश्वास हो गया है कि हम धनवानों और निर्धनों के बीच स्वच्छता और शिक्षा की एक दीवार है, जिसे हमने स्वयं अपने धन से खड़ा किया और मजबूत बनाया है। अत: कंगालों की सहायता करने के योग्य बनने के लिए हमें सबसे पहले इस दीवार को गिराना है ताकि हम एक-एक, दो-दो अनाथ को शरण देने की सुताएफ़ द्वारा बताई गई युक्ति काम में ला सकें। इस दृष्टिकोण से विचार करने

पर भी मैं उसी परिणाम पर पहुँचा जिस पर नगर की दरिद्रता को दृष्टि में रखकर सोच-विचार करने पर पहुँचा था—अर्थात् यह कि शहरी दरिद्रता का कारण हमारी संपत्ति है।

तो दोषी हम ही हैं!

मैंने इस प्रश्न पर एक और भी दृष्टिकोण से विचार करना आरंभ किया। वह दृष्टिकोण पूर्णत: व्यक्तिगत था। परोपकार का कार्य करते समय मुझ पर जिन बातों का विशेष रूप से प्रभाव पड़ा था, उनमें से एक बड़ी अद्‌भुत थी और बहुत दिनों तक मैं उसका कारण नहीं ढूँढ़ पाया। बात यह थी कि घर पर या सड़क पर जब कभी मुझे किसी कंगाल को बिना बातचीत किए ही पैसा देने का संयोग होता तो मैं देखता या मुझे ऐसा लगता कि उसके मुख पर प्रसन्नता और कृतज्ञता के भाव झलक रहे हैं। ऐसे अवसरों पर मुझे स्वयं भी बड़ी सुखकर अनुभूति होती थी। मुझे ऐसा लगता था जैसे मैंने वही काम किया जो वह कंगाल चाहता था और जिसकी उसे मुझसे आशा थी; किंतु जब कभी मैं ऐसे व्यक्ति से बातचीत करने के लिए ठहर जाता और उसके पिछले तथा वर्तमान जीवन के संबंध में सहानुभूति के साथ विस्तारपूर्वक पूछताछ करने लगता, तब मुझे तीन-चार या दस-बीस कोपेक देना ठीक नहीं जँचता और अपना बटुवा टटोलते हुए मैं इस सोच में पड़ जाता था कि आखिर कितना दूँ। उस दशा में मैं सदा अधिक ही दे दिया करता था। फिर भी मैं देखता था कि वह मेरे पास से असंतुष्ट होकर गया है। यदि मैं उससे और भी घनिष्ठतापूर्वक बातें करने लगता तो पैसों की संख्या के संबंध में मेरा असमंजस और भी बढ़ जाता और उस समय मैं चाहे कितना भी दे डालता, कंगाल मेरे पास से पहले की अपेक्षा अधिक निराश और अधिक असंतुष्ट ही होकर जाता। यह एक नियम-सा हो गया था कि जब कभी मैं किसी कंगाल को अधिक घनिष्ठ संपर्क स्थापित करने के बाद तीन या अधिक रूबल देता तो सदा उसके मुख पर निराशा, असंतोष और क्रोध तक के भाव झलकने लगते। कभी-कभी तो ऐसा होता कि मेरे दस रूबल दे देने पर भी वह धन्यवाद तक देने का शिष्टाचार न दिखाता और चुपचाप चल देता, मानो मैंने उसके साथ कोई अपराध कर दिया हो। ऐसे अवसरों पर मुझे सदा बेचैनी होती, अपने ऊपर लज्जा आती और ऐसा अनुभव होता जैसे मैं वास्तव में अपराधी हूँ। इससे भी आगे बढ़कर यदि मैं किसी निर्धन को हफ्तों, महीनों या वर्षों संपर्क में रहने के बाद सहायता देता और उसे अपने विचार बतलाने का प्रयत्न करते हुए घनिष्ठता स्थापित करता तो उसके साथ मेरे संबंध दुखदाई बन

जाते और मुझे लगता कि वह मुझसे घृणा करता है। उस समय मेरी अंतरात्मा कहती कि उसका ऐसा करना ठीक ही है।

सड़क पर जाते समय यदि कोई भिखारी दूसरे राहगीरों की तरह मुझसे भी तीन कोपेक माँग ले और मैं उसको दे दूँ तो उसकी दृष्टि में मैं एक नेक और दयालु राहगीर बन जाऊँगा—एक ऐसा राहगीर जो किसी नंगे के लिए कमीज बनवाने में योग देने के निमित्त एक धागा दान देता है। सच पूछिए तो वह भिखारी एक धागे से अधिक की आशा भी नहीं रखता और यदि मैं उसको इतना दे देता हूँ तो वह मुझे दिल से दुआ देता है। किंतु यदि मैं उसके पास रुककर एक भाई के नाते बातें करता हूँ और यह प्रदर्शित करता हूँ कि मैं उसके लिए एक राहगीर की अपेक्षा कुछ अधिक बनना चाहता हूँ और— जैसा कि अक्सर होता है—यदि वह रो-रोकर अपना दुखड़ा सुनाने लगता है , तब वह मुझे केवल एक राहगीर नहीं बल्कि एक दयालु पुरुष समझने लगता है, जैसा कि मैं स्वयं चाहता हूँ कि वह समझे। किंतु यदि मैं सचमुच दयालु हूँ तो मेरी दया बीस कोपेक या दस रूबल या दस हजार रूबल पर समाप्त नहीं हो सकती। यह संभव नहीं कि हम थोड़े-से नेक बनकर रह जाएँ। मान लीजिए, मैंने किसी को बहुत-सा धन दे दिया है; उसको रहने की जगह और पहनने को कपड़े भी दिलवा दिए हैं और उसे इस योग्य बना दिया है कि वह अपने पैरों पर खड़ा हो सके और दूसरों की दया पर निर्भर रहे बिना ही अपना जीवननिर्वाह कर सके। इतने पर भी यदि दुर्भाग्यवश या स्वयं अपनी दुर्बलता अथवा दुश्चरित्रता के कारण वह व्यक्ति मेरे दिए हुए ओवरकोट, कपड़े अथवा रुपए को गँवा दे और भूखों मरता तथा जाड़े में ठिठुरता मेरे पास दुबारा आया तो मैं उसे इनकार क्यों कर दूँ? यदि मेरी चेष्टाओं का उद्देश्य केवल भौतिक वस्तुओं की पूर्ति करना हो—जैसे, किसी निर्धन को रूबल दे देना या ओवरकोट बनवा देना—तब तो उसके लिए एक बार इतना कर चुकने के बाद मैं निश्चिंत बैठ सकता हूँ; किंतु मेरी चेष्टाओं का उद्देश्य इतना ही नहीं है। मेरा उद्देश्य तो दयालु बनना है; मैं चाहता हूँ कि मैं अपनी ही प्रतिच्छाया उन व्यक्तियों में देखूँ। दयालुता का सब लोग यही अर्थ मानते हैं, कोई दूसरा नहीं। अत: यदि हम किसी निर्धन की बीस बार सहायता करें और प्रत्येक बार वह सारे पैसों की शराब पीकर फिर भूखा और नंगा हो जाए तब भी यह संभव नहीं कि यदि हम वास्तव में दयालु हैं तो उसकी पुन: सहायता किए बिना रह जाएँगे। इतना ही नहीं, बल्कि जब तक भी हमारे पास उस निर्धन से अधिक धन रहेगा तब तक हम उसे सहायता देना बंद नहीं करेंगे; और यदि हम उसकी सहायता करने से हाथ खींचेंगे तो यह प्रमाणित करेंगे कि हमने जो-कुछ किया था वह इसलिए नहीं किया था कि हम दयालु हैं, बल्कि इसलिए कि हम उसकी और दूसरे

लोगों की आँखों में दयालु दिखाई देना चाहते थे।

जब-जब मुझे निर्धनों की सहायता करने से हाथ खींचना पड़ा और इस प्रकार अपनी दयालुता को तिलांजलि देनी पड़ी, तभी-तभी मुझे मर्मांतक लज्जा का अनुभव हुआ।

ऐसी ही लज्जा का अनुभव मुझे ल्यापिन अनाथालय में हुआ था और उससे पहले तथा बाद में भी जब कभी मैं गाँव में गरीबों को पैसा या कोई दूसरी वस्तु देता और जब कभी मैं नगर में दरिद्रों के बीच जाता तो मुझे ऐसी ही अनुभूति होती।

हाल की एक घटना ने मुझे इस लज्जा का बड़ा ही मार्मिक स्मरण कराया और यह भी स्पष्ट कर दिया कि निर्धनों को पैसा देते समय मुझे ऐसी अनुभूति क्यों होती थी।

यह घटना गाँव में घटी। एक तीर्थयात्री को देने के लिए एक बार मुझे बीस कोपेक की आवश्यकता पड़ी। मैंने अपने लड़के से कहा कि जाकर किसी से उधार माँग ला। उसने कोपेक लाकर तीर्थयात्री को दे दिए और मुझे बतलाया कि यह रकम वह रसोइए से उधार ले आया है। कुछ दिनों बाद कुछ और तीर्थयात्री आए और मुझे फिर बीस कोपेक की आवश्यकता पड़ी। मेरे पास एक रूबल था। तभी मुझे याद आया कि रसोइए को बीस कोपेक देने हैं। यह सोचकर कि उसके पास रूबल की बाकी खरीज मिल जाएगी मैं रसोईघर में गया और रसोइए से बोला, "मैंने तुमसे बीस कोपेक उधार लिए थे, लो यह एक रूबल..." मेरे वाक्य समाप्त करने से पहले ही उसने दूसरे कमरे से अपनी स्त्री को पुकारा और कहा, "पराशा, यह रूबल ले लो।" यह सोचकर कि वह मेरा अभिप्राय समझ गई है, मैंने उसे रूबल दे दिया। यहाँ यह बतला देना प्रयोजनीय है कि इस रसोइए को हमारे यहाँ आए केवल एक सप्ताह हुआ था और मैंने उसकी स्त्री को देखा तो अवश्य था किंतु उससे बातचीत नहीं की थी। मैं उससे शेष पैसे लौटाने के लिए कहने ही जा रहा था कि वह मेरे हाथ पर झुकी और यह समझकर कि मैं वह रूबल उसे इनाम में दे रहा हूँ, वह कृतज्ञता-प्रकाश के लिए मेरा हाथ चूमने[1] को उद्यत हुई।

कुछ बड़बड़ाता हुआ मैं रसोईघर से बाहर चला आया। उस समय मुझे बड़ी लज्जा आई, इतनी लज्जा जितनी वर्षों से नहीं आई थी। शर्म की पीड़ा से मेरा शरीर ऐंठने लगा और मैंने साफ-साफ देखा कि मैंने दाँत तक निपोर दिए हैं। वहाँ से भागते समय मैं क्षोभ से कराह उठा। लज्जा की इस तीव्र भावना से, जो उस समय मेरे लिए बिल्कुल अवांछित और अप्रत्याशित थी, मैं चौंक पड़ा—विशेषतः इसलिए

1. रूस में कृतज्ञता-प्रकाशन का यही आम तरीका है।

कि बहुत दिनों से मुझे ऐसी अनुभूति नहीं हुई थी और मैं समझता था कि बूढ़ा होने के कारण मैं इस ढंग से जीवन बिता रहा हूँ कि मुझे इस प्रकार लज्जित होने की आवश्यकता ही नहीं। यही कारण था कि मैं स्तंभित रह गया। मैंने इस घटना की चर्चा अपने परिवारवालों और कुछ मित्रों से की और सभी ने यह स्वीकार किया कि यदि वे मेरी स्थिति में होते तो उन्हें भी ऐसी ही अनुभूति हुई होती।

अब मैं सोचने लगा कि लज्जा मुझे क्योंकर आई। इस प्रश्न का उत्तर कुछ दिन पहले मास्को में घटी एक घटना से मिला। उस पर जब मैंने गंभीरतापूर्वक विचार किया तो रसोइए की स्त्री के सामने लज्जित होने का कारण साफ-साफ समझ में आ गया। साथ-ही-साथ यह भी स्पष्ट हो गया कि मास्को में परोपकार का कार्य करते समय मुझे बार-बार क्यों लज्जा आती थी और अब भी जब कभी मैं साधुओं और तीर्थयात्रियों को उतने से अधिक दान दे देता हूँ, जितने की मुझे आदत पड़ी हुई है और जिसे मैं दान नहीं बल्कि शिष्टाचार और सौजन्य मानता हूँ, तो क्या कारण है कि सदा मुझे अपने ऊपर लज्जा आती है ? यदि कोई हमसे प्रकाश के लिए कहे और यदि हमारे पास दियासलाई हो तो हमें चाहिए कि हम उसके लिए दियासलाई जला दें। इसी प्रकार यदि कोई हमसे तीन या बीस कोपेक अथवा कुछ रूबल भी माँगे और यदि हमारे पास हों, तो हमें अवश्य दे देना चाहिए। यह दान नहीं, सौजन्य की बात है।

वह घटना इस प्रकार थी। पहले मैं दो किसानों की चर्चा कर चुका हूँ, जिनके साथ दो वर्ष हुए मैं लकड़ी चीरा करता था। एक शनिवार की शाम को झुटपुटे के समय मैं उनके साथ शहर आ रहा था। वह अपने मालिक के पास मजदूरी लेने जा रहे थे। एक पुल के पास हमें एक बूढ़ा मिला। वह भीख माँगने लगा और मैंने उसे बीस कोपेक दिए। उन्हें देते समय मैंने सोचा कि मेरे दान का सेम्यॉन पर, जिसके साथ मैं पारमार्थिक विषयों पर बातें करता आ रहा था, अच्छा प्रभाव पड़ेगा। सेम्यॉन ब्लाडीमीर का रहनेवाला किसान था और मास्को में उसकी स्त्री तथा दो बच्चे थे। उसने भी रुककर अपने लंबे कोट के भीतर से बटुआ निकाला और उसमें से तीन कोपेक का एक सिक्का निकालकर उस बूढ़े को देते हुए दो कोपेक वापस माँगे। बूढ़े ने हाथ पसारकर अपने सारे पैसे दिखला दिए। उसके पास तीन कोपेकवाले दो और एक कोपेकवाला सिक्का था। सेम्यॉन ने उन सिक्कों की ओर देखा। वह एक कोपेकवाला सिक्का उठाने ही वाला था कि एकाएक उसका विचार बदल गया; उसने टोपी उतारकर बूढ़े को सलाम किया और उसके हाथ में तीन कोपेक का सिक्का छोड़कर वह आगे बढ़ गया। मैं सेम्यॉन की आर्थिक स्थिति से परिचित था। उसके पास न अपना घर था, न कोई दूसरी संपत्ति। जिस दिन उसने बूढ़े को तीन

कोपेक दिए उस दिन तक उसने कुल मिलाकर छह रूबल और पचास कोपेक कमाए थे। यह रकम उसने बचाकर रखी थी और यही उसकी कुल संपत्ति थी। मेरी संपत्ति लगभग छह लाख रूबल की थी। मैं बाल-बच्चेदार आदमी था। सेम्यॉन भी गृहस्थ था, आयु में वह मुझसे छोटा था और उसके बच्चों की संख्या भी कम थी। किंतु उसके बच्चे अभी छोटे थे, जबकि मेरे दो लड़के कमाने योग्य हो गए थे। इस प्रकार संपत्ति को छोड़कर हम दोनों की स्थिति प्राय: एक-सी थी, बल्कि मेरी स्थिति कुछ अच्छी ही थी। उसने तीन कोपेक दिए और मैंने बीस। अब सोचिए कि उसके और मेरे दान में क्या अंतर था। उसके बराबर दान करने के लिए मुझे कितना देना चाहिए था? उसके पास छह सौ कोपेक थे, जिनमें से उनसे तीन बूढ़े को दे दिए। मेरे पास छह लाख रूबल थे। सेम्यॉन की बराबरी करने के लिए मुझे बूढ़े को तीन हजार रूबल का नोट देकर उससे दो हजार का नोट वापस माँगना चाहिए था और दो हजार का नोट न मिलने पर उसे भी उसके पास छोड़कर सलाम करते हुए आगे बढ़ जाना चाहिए था और चुपचाप इधर-उधर की बातों में लग जाना चाहिए था। इस घटना पर विचार तो मैंने उसी समय किया, किंतु उनसे अनिवार्य रूप से निकलनेवाले निष्कर्ष पर बहुत दिनों बाद पहुँचा। वह निष्कर्ष गणित के समान असंदिग्ध होते भी इतना असाधारण और विचित्र मालूम होता है कि उसका अभ्यस्त बनने के लिए समय की आवश्यकता है। सदा ऐसा लगता है मानो इस निष्कर्ष में कोई-न-कोई त्रुटि है; किंतु वस्तुत: ऐसी कोई बात नहीं है। हम लोगों की आँखों के सामने केवल भ्रम का एक भयंकर जाल छाया रहता है।

इस निष्कर्ष की असंदिग्धता पर विश्वास होते ही मुझे उस लज्जा का रहस्य मालूम हो गया जो मुझमें रसोइए की स्त्री के सामने और निर्धनों को सहायता देते समय उत्पन्न हुई थी और ऐसे अवसरों पर अब भी होती है।

जो पैसा मैं निर्धनों को देता हूँ और जिसे रसोइए की स्त्री ने समझा था कि मैं उसे दे रहा हूँ, वह वास्तव में क्या है? प्राय: वह मेरी संपत्ति का इतना छोटा अंश होता है कि उसे सेम्यॉन अथवा रसोइए की स्त्री के सामने बुद्धिगम्य रूप में उपस्थित नहीं किया जा सकता। साधारणतया वह मेरी संपत्ति का दस लाखवां हिस्सा होता है। मैं इतना थोड़ा देता हूँ कि उससे न तो मेरी संपत्ति में कोई कमी आती है, न आ सकती। मेरा दान तो एक प्रकार का मनोविनोद, एक तरह की मन की तरंग है। जब चाहा तब दिया, जब चाहा तब नहीं दिया। रसोइए की स्त्री ने मेरे रूबल को इसी रूप में देखा था। जब मैं राह-चलते लोगों को एक रूबल या बीस कोपेक दे देता हूँ तो क्या कारण है उसे एक रूबल न दे देता? मेरा इस प्रकार दान देना उसकी दृष्टि में ठीक वैसा ही था जैसा कंगालों की भीड़ में भद्र पुरुषों का रोटी के टुकड़े

उछालना। यह तो जिनके पास बहुत-सा बेकार धन होता है उनका एक मनोरंजन है। मुझे लज्जा इसलिए आई कि रसोइए की स्त्री की भूल ने मुझे यह स्पष्ट रूप से बतला दिया कि केवल वही नहीं बल्कि दूसरे गरीब लोग भी मेरे विषय में ऐसा ही विचार रखते हैं। वे समझते हैं कि मैं अपना धन—वह धन जो मैंने कमाया नहीं है—योंही मुफ़्त बाँटता फिरता हूँ।

मेरा धन वास्तव में क्या है और कहाँ से आया है? इसका कुछ अंश तो मुझे उस भूमि से प्राप्त हुआ है जो मुझे अपने पिता के उत्तराधिकारस्वरूप मिली है और जिसका लगान देने के लिए किसान को अपनी आखिरी भेड़ या गाय बेचनी पड़ती है। मेरी पुस्तकें हानिकारक है तो मैं उसके खरीदारों के मार्ग में केवल प्रलोभन का जाल बिछाता हूँ और मुझे जो धन मिलता है वह बुरे ढंग से कमाया हुआ धन है। किंतु यदि मेरी पुस्तकें उपयोगी हैं, तब तो और बुरी बात है। मैं ये पुस्तकें लोगों को देता नहीं, बल्कि कहता हूँ कि लाओ मुझे सत्रह रूबल[1] दो तब मैं तुम्हें अपनी पुस्तक छूने दूँगा। जिस प्रकार लगान भरने के लिए किसान को अपनी अंतिम भेड़ बेचनी पड़ती है, उसी प्रकार मेरी पुस्तक के लिए कोई निर्धन विद्यार्थी, कोई निर्धन अध्यापक, या कोई दूसरा निर्धन व्यक्ति अपनी आवश्यक वस्तुओं से वंचित रह जाता है। इस रूप में मैंने बहुत-सा धन इकट्ठा कर लिया है। लेकिन उसका मैं आखिर करता क्या हूँ? मैं उसे शहर ले आता हूँ, और यदि गाँव के गरीब लोग शहर आकर मेरी इच्छानुसार कार्य करते हैं—जैसे; मेरे यहाँ झाड़ू लगाना, मेरे लैंप व जूते साफ करना और कारखानों में काम करना—तो मैं शहर लाए हुए इस धन का कुछ अंश उन्हें दे देता हूँ। इसके बदले में मैं उनसे जितना भी काम ले सकता हूँ लेता हूँ, अर्थात् मैं उन्हें कम-से-कम देने और उनसे अधिक-से-अधिक लेने का प्रयत्न करता हूँ। फिर एकाएक बिल्कुल अप्रत्याशित रूप से और अकारण ही मैं यही धन इन्हें गरीबों में बाँटने लगता हूँ—सबको नहीं, बल्कि थोड़ों को, अपनी इच्छानुसार चुनकर। ऐसी दशा में क्यों न उनमें से प्रत्येक व्यक्ति यह आशा करे कि जिन लोगों को मुफ्त धन बाँटकर मैं अपना मनोरंजन करूँगा उनमें शायद उसे भी सम्मिलित होने का सौभाग्य प्राप्त हो जाए?

सारे कंगाल मुझे इसी दृष्टि से देखते हैं और रसोइए की स्त्री ने भी मेरे विषय में ऐसा ही सोचा था। मैं इतने बड़े भ्रम में था कि एक हाथ से गरीबों से हजारों रुपए छीनकर दूसरे हाथ से कुछ चुने हुए निर्धनों के सामने कौड़ियाँ बखेरने को परोपकार कहता था। अत: इसमें आश्चर्य ही क्या कि मुझे अपने ऊपर लज्जा आई।

---

1. उस समय टॉल्सटॉय के लेखों आदि का संग्रह सत्रह रूबल में मिलता था।

तो, परोपकार करने से पहले यह आवश्यक है कि मैं स्वयं बुराई से दूर खड़ा हो जाऊँ; एक ऐसी स्थिति में पहुँच जाऊँ जहाँ बुराई करना ही बंद हो जाए। इसका कारण यह है कि मेरा सारा जीवन बुराई से भरा हुआ है। हो सकता है कि अपनी संपत्ति में से निर्धनों को एक लाख रूबल दे डालने के बाद भी मैं अपने को परोपकार करने की स्थिति में न पा सकूँ; क्योंकि तब भी मेरे पास पाँच लाख रूबल बच ही जाएँगे। थोड़ा-बहुत भी परोपकार मैं उसी समय कर सकूँगा जब मेरे पास एक कौड़ी भी शेष न रह जाए, चाहे वह परोपकार उतना ही क्यों न हो जितना उस वेश्या ने बीमार स्त्री और उसके बच्चे की तीन दिन तक सुश्रूषा करके किया था। भला सोचिए तो, उसके इस परोपकार को मैंने बहुत ही नगण्य समझा और फिर भी मुझे परोपकार करने की कल्पना करने का साहस हुआ? वास्तव में सत्य का एकमात्र स्वरूप तो मेरी उस भावना में दिखाई दिया था जो ल्यापिन अनाथालय के भूखों और नंगों को देखते ही मेरे मन में उदित हुई थी और जिसने यह स्पष्ट कर दिया था कि उनकी दुर्दशा का दोष मुझ पर है और जैसा जीवन मैं बिता रहा हूँ वैसा निरंतर कदापि नहीं बिता सकूँगा।

तो फिर हम क्या करें? यदि किसी को अब भी इस प्रश्न के उत्तर की अपेक्षा है तो भगवान की कृपा से मैं आगे के पृष्ठों में उसका विस्तृत उत्तर दूँगा।

हमारे शोषण का जाल

पहले तो मेरे लिए यह विश्वास करना कठिन था कि मैं एक भ्रमजाल में फँसा हुआ हूँ; किंतु जब मुझे सत्य का ज्ञान हुआ तब मैं स्तंभित रह गया। मैं स्वयं तो कान तक दलदल में फँसा हुआ था और फिर भी यही सोचता था कि मैं दूसरों को उस दलदल में से निकाल सकूँगा।

मैं वास्तव में क्या चाहता हूँ? मैं लोगों की भलाई करना चाहता हूँ, कुछ इस प्रकार की व्यवस्था करना चाहता हूँ कि एक भी प्राणी नंगा और भूखा न रहे और मनुष्य-मनुष्य की तरह जीवन-निर्वाह करे।

ऐसा मैं चाहता तो अवश्य हूँ; किंतु देखता हूँ कि हिंसा, बल-प्रयोग आदि जिन विभिन्न शोषण-क्रियाओं में मैं हाथ बँटाता हूँ, उनसे एक ओर तो मजदूर अपनी अनिवार्य आवश्यकता की वस्तुओं से वंचित हो जाते हैं और दूसरी ओर मेहनत न करनेवाले लोग—जिनमें से एक मैं भी हूँ—मेहनत करनेवालों की मेहनत से छककर लाभ उठाते हैं।

मैं देखता हूँ कि इस शोषण-व्यूह की रचना कुछ इस प्रकार की गई कि मनुष्य जितना ही अधिक छल-प्रपंच करता है उतना ही अधिक वह दूसरों के श्रम का लाभ उठाता है और स्वयं कम मेहनत करता है।

ऐसा करनेवालों में सबसे पहला स्थान बड़े-बड़े पूँजीपतियों, मिलमालिकों, खानों के स्वामियों और भूमिपतियों का है। इनके बाद बड़े-बड़े महाजन, व्यापारी, जमींदार और अफसर आते हैं। तीसरा स्थान मध्यम वर्ग के महाजनों, व्यापारियों, अफसरों और मेरे-जैसे जमींदारों का है। इनके बाद छोटे व्यापारियों, सरायों के स्वामियों, सूदखोरों, पुलिस-अफसरों, सिपाहियों, स्कूली अध्यापकों, पुरोहितों और क्लर्कों का निम्न वर्ग है। इनके नीचे दरबान, खानसामे, साईस, भिश्ती, गाड़ीवान और बिसाती आदि हैं और सबसे नीचे कारखानों में काम करनेवाले मजदूर तथा किसान हैं, जिनकी संख्या अन्य सब वर्गों की अपेक्षा दस गुनी है। मैं देखता हूँ कि दस में से नौ लोगों—श्रमजीवियों—का जीवन कुछ है ही ऐसा कि उसके लिए कठोर परिश्रम आवश्यक है, जैसा कि सभी प्राकृतिक जीवन के लिए होता है। परंतु हमारे द्वारा प्रयोग में लाई जानेवाली विविध शोषणविधियों के फलस्वरूप स्थिति दिन-पर-दिन बिगड़ती जा रही है और श्रमजीवियों का जीवन अधिक दुखपूर्ण बनता जा रहा है। इसके विपरीत हम जैसे निठल्लों का जीवन कला और विज्ञान की सहायता से प्रतिवर्ष अधिक संपन्न, अधिक आकर्षक और अधिक सुरक्षित होता जा रहा है।

मैं देखता हूँ कि आजकल मजदूर लोग—विशेषत: वृद्ध स्त्री, पुरुष और बच्चे—अतिशय परिश्रम और अपर्याप्त पोषण के कारण कालकवलित होते जा रहे हैं, उन्हें जीवन की नितांत आवश्यक वस्तुओं तक के प्राप्त होने की आशा नहीं होती। दूसरी ओर निठल्ले लोगों को—जिनमें एक मैं भी हूँ—प्रतिवर्ष सुख और विलास की अधिकाधिक सामग्रियाँ मिलती जा रही हैं और उनका जीवन अधिकाधिक सुरक्षित होता जा रहा है; यहाँ तक कि उनमें से मुझ-जैसे कुछ भाग्यशाली लोगों का जीवन सुरक्षा की उस सीमा पर पहुँच गया है, जिसका स्वप्न पुराने जमाने में लोग केवल परियों की कहानियों में देखा करते थे। हमारी अवस्था उस व्यक्ति की-सी हो गई है जो जादू की किसी अक्षय थैली का स्वामी बन बैठा है। दूसरे शब्दों में हम उस अवस्था में पहुँच गए हैं, जिसमें मनुष्य न केवल जीवन-रक्षा के लिए परिश्रम करने के प्राकृतिक नियम से मुक्त हो गया, बल्कि इस योग्य भी बन गया है कि परिश्रम किए बिना ही वह जीवन के समस्त सुखों का उपभोग कर सके और अपने बाद अपनी जादू की अक्षय थैली या तो अपनी संतान को या अपनी इच्छानुसार किसी और व्यक्ति को दे जा सके। मैं

देखता हूँ कि मनुष्य के परिश्रम का फल श्रम करनेवालों को न मिलकर अधिकाधिक निठल्ले लोगों को मिल रहा है। ऐसा मालूम पड़ता है कि समाज के विशाल भवन का पुनर्निर्माण कुछ इस ढंग से हो रहा है कि नींव के पत्थर शिखर की ओर बढ़ते जा रहे हैं और यह परिवर्तन दिन-दूना रात-चौगुना बढ़ता जा रहा है। मैं देखता हूँ कि जो कुछ हो रहा है वह ऐसा है जैसा किसी बांबी की चींटियाँ अपने समान नियम को भूल जाएँ और उनमें से कुछ चींटियाँ मिट्टी को उठा-उठाकर नीचे से ऊपर ले जाने लगें और इस प्रकार नीचे का भाग क्रमशः छोटा होता जाए और शिखर बढ़ता जाए, यहाँ तक कि अन्य चींटियाँ भी विवश होकर नीचे से ऊपर चली जाएँ। मैं देखता हूँ कि परिश्रमी जीवन के आदर्श का स्थान जादूवाली थैली के आदर्श ने ले लिया है। धनिकों ने, जिनमें एक मैं भी हूँ, अनेक युक्तियों से जादू की थैली हथिया ली है और उसका उपभोग करने के लिए हम शहरों में, अर्थात् एक ऐसी जगह, आ बसे हैं जहाँ उत्पादन एक भी वस्तु का नहीं होता, किंतु उपभोग सब वस्तुओं का होता है। अभागा मजदूर, जो इस जादू की थैली को अमीरों के लिए सुलभ बनाने के लिए लुटा जाता है, उनके पीछे-पीछे शहर पहुँचने की चेष्टा करता है। वहाँ पहुँचकर वह भी छल-प्रपंच सीख जाता है और या तो अपने लिए ऐसी स्थिति पैदा कर लेता है, जिसमें थोड़ा श्रम करने से ही अधिक प्राप्त हो जाता है और इस प्रकार मजदूर-वर्ग का बोझ और भी अधिक बढ़ जाता है; या उस स्थिति तक पहुँचने में असफल होने के कारण वह नष्ट हो जाता है; और सराय में रात काटनेवाले उन भूखों-नंगों की श्रेणी में जा मिलता है, जिनकी संख्या आश्चर्यजनक वेग से बढ़ रही है।

मैं उस वर्ग के लोगों में से हूँ जो अनेकानेक युक्तियों द्वारा मजदूरों को जीवन-संबंधी आवश्यक वस्तुओं से वंचित कर देता है। इन्हीं युक्तियों के बल पर उसे वह जादूभरी थैली मिली है, जिसे बेचारे मजदूर ललचाई आँखों से देखते हैं। यदि मैं इन निर्धनों की सहायता करना चाहता हूँ तो यह स्पष्ट है कि मुझे इन लोगों को लूटना नहीं चाहिए, जैसा कि मैं कर रहा हूँ। इसके अलावा मुझे इन लोगों को प्रलोभन भी नहीं देना चाहिए। किंतु इसके विपरीत, मैंने सदियों से प्रचलित जटिलतम, कुटिल और क्रूर छल-प्रपंचों की सहायता से अपने लिए एक ऐसी स्थिति उत्पन्न कर ली है जैसी जादू की थैली रखनेवाले किसी भी व्यक्ति को हो सकती है। अर्थात्, मैं उस स्थिति में पहुँच गया हूँ, जिसमें स्वयं कोई काम-काज किए बिना ही सैकड़ों, हजारों आदमियों को अपने लिए काम करने को बाध्य कर सकता हूँ; फिर भी यह सोचने की धृष्टता करता हूँ कि मैं निर्धनों पर दया करता हूँ और उनकी सहायता करना चाहता हूँ। एक ओर तो मैं गरीब की पीठ पर सवार होकर, उसका दम घोट देता हूँ

और उसे बाध्य करता हूँ कि वह मुझे लादकर ले चले और दूसरी ओर अपने को तथा दूसरों को विश्वास दिलाता हूँ कि मुझे उस बेचारे के लिए सहानुभूति है और मैं हर संभव युक्ति से उसका भाग्य सुधारना चाहता हूँ, बशर्ते कि मुझे उसकी पीठ से उतरना न पड़े।

बात बिल्कुल सीधी-सादी है। यदि मैं निर्धनों की सहायता करना चाहता हूँ, अर्थात् यदि मैं चाहता हूँ कि निर्धन न रहें, तो मुझे उन्हें निर्धन नहीं बनाना चाहिए। परंतु वास्तविकता यह है कि उन गरीबों को, जो जीवन-मार्ग से विचलित हो गए हैं, मैं स्वेच्छा से दसियों, बीसियों या सैकड़ों रूबल दे डालता हूँ; किंतु जो लोग अभी विचलित नहीं हुए हैं उनसे मैं ठीक इसी प्रकार के सहस्रों रूबल वसूल कर लेता हूँ। इस प्रकार मैं उन्हें निर्धन बनाने के साथ-ही-साथ बुद्धिभ्रष्ट भी कर देता हूँ।

बात तो बिल्कुल सरल है, फिर भी इसे पूरी तरह समझना मेरे लिए उस समय तक अत्यंत कठिन था, जब तक कि मैं कोई ऐसा समझौता न कर लेता या ऐसे बहाने न ढूँढ़ लेता, जिनसे मेरे पक्ष का समर्थन हो सकता। पर जैसे ही मैंने अपना अपराध स्वीकार किया, वैसे ही जो बातें पहले विचित्र, जटिल, अस्पष्ट और अगम्य मालूम होती थीं वे बिल्कुल सरल और बोधगम्य हो गईं। सबसे बड़ी बात यह हुई कि इस व्याख्या के फलस्वरूप स्वयं मेरे जीवन का मार्ग सुगम, स्पष्ट और सुखदायी हो गया और पहले की भाँति जटिल, अगम्य तथा क्लेशकर न रह गया।

लोगों की सहायता करने की इच्छा रखनेवाला मैं हूँ कौन? मैं लोगों की सहायता करना चाहता हूँ, फिर भी मैं चार-चार मोमबत्तियाँ जलाकर रात को देर तक ताश खेलता हूँ और फिर दोपहर तक पड़ा सोता रहता हूँ। मैं दुर्बल, पौरुषहीन हो गया हूँ और मुझे स्वयं सैकड़ों आदमियों की सहायता और सेवा की आवश्यकता है। फिर भी मैं दूसरों की सहायता करने बढ़ता हूँ। किंतु किसकी? उनकी, जो सबेरे पाँच बजे उठ जाते हैं, तख्तों पर सोते हैं और रोटी और करमकल्ला खाकर रह जाते हैं; जिनमें हल चलाने, लकड़ी काटने, कुल्हाड़ी में मूठ लगाने, रंदा चलाने, घोड़ों पर जीन कसने और कपड़े सीने की योग्यता है। शक्ति, दृढ़ता, कार्य-कुशलता और आत्मसंयम में ये लोग मुझसे सैकड़ों-गुना बढ़चढ़कर होते हैं, फिर भी मैं उनकी सहायता करने निकलता हूँ! अतः ऐसे लोगों के संपर्क में आकर मैं लज्जित न होता तो और क्या? इनमें से सबसे दुर्बल व्यक्ति भी—रज़ानोफ़ भवन में रहनेवाला एक शराबी तक, जिसे लोग आवारा कहते हैं—मुझसे सैकड़ोंगुना अधिक परिश्रमी है। यदि मैं इस बात का हिसाब लगाऊँ कि मैं लोगों से कितना लेता हूँ और उन्हें कितना देता हूँ, और उसकी

तुलना इस बात से करूँ कि वह शराबी दूसरों से कितना लेता है और उन्हें कितना देता है, तो मैं देखूँगा कि उसका आर्थिक संतुलन मेरे आर्थिक संतुलन से हजारों गुना अच्छा है।

ऐसे ही लोगों की सहायता करने का मैं दम भरता हूँ। मैं दीनों की सहायता करने जाता हूँ। किंतु दीन कौन है ? जिनकी मैं सहायता करने जाता हूँ, उनमें से एक व्यक्ति भी मुझसे अधिक दीन नहीं हैं। मैं सर्वथा अशक्त, निकम्मा और परावलंबी हूँ और केवल विशेषतम अवस्था में ही जीवित रह सकता हूँ। यह अवस्था उस समय उत्पन्न होती है जब सहस्रों व्यक्ति एक नितांत निरर्थक जीवन को बनाए रखने का प्रयत्न करते हैं। मैं वह कीड़ा हूँ, जो वृक्ष की पत्तियों के फूलने-फलने और नीरोग रहने की कामना तो करता है; किंतु उन्हें निरंतर चाटता रहता है।

मैं अपना सारा जीवन इसी प्रकार व्यतीत करता हूँ। मैं खाता हूँ, बातें करता हूँ, सुनता हूँ, पढ़ता हूँ, लिखता हूँ, खेलता हूँ और सोता हूँ। यह क्रम प्रतिदिन चलता है। मैं न तो कुछ काम कर सकता हूँ, न करना जानता हूँ। मुझे इस प्रकार का जीवन बिताने में सहायता देने के लिए यह आवश्यक है कि दरबान, किसान, रसोइएदारो, दरबानों आदि को मेरे सेवार्थ बर्तन, कुल्हाड़ी, पीपे, ब्रुश, प्याले, तश्तरियाँ, मेज-कुर्सी, शीशे, पालिश, पैराफिन, घास, ईंधन, गोश्त आदि जुटाने में योग देते हैं। ये लोग दिन-रात कड़ी मेहनत करते हैं ताकि मैं बातें कर सकूँ, खा सकूँ और सो सकूँ। फिर भी मैं निकम्मा यही सोचता कि मैं दूसरों की सहायता कर सकता हूँ, उन्हीं लोगों की, जो मेरी सहायता कर रहे हैं।

इसमें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं कि मैं किसी की सहायता नहीं कर सका और मुझे अपने ऊपर लज्जा आई। आश्चर्य की बात तो यह है कि मेरे मस्तिष्क में दूसरों की सहायता करने का मूर्खतापूर्ण विचार आया कैसे ? जिस स्त्री ने बीमार बूढ़े की सेवा की थी, उसने उसकी सहायता की थी; जिस किसान महिला ने अपनी मेहनत से पैदा किए हुए नाज की रोटी में से एक टुकड़ा काटकर भिखारी को दे दिया था, उसने उसकी सहायता की थी। इसी तरह सेम्यॉन ने अपने कमाए हुए तीन कोपेक भिखारी को देकर उसकी सहायता की थीं, क्योंकि वे तीन कोपेक वास्तव में उसकी मेहनत के द्योतक थे। किंतु मैंने न किसी की सहायता की, न सेवा की। मैं यह अच्छी तरह जानता था कि मेरा धन मेरी कमाई का नहीं है।

अतः मुझे प्रतीत होने लगा कि स्वयं रुपए में—यहाँ तक कि उसे अपने पास रखने-भर में—कोई दोष, कोई पाप है। मैंने अनुभव किया कि मेरे चारों तरफ जो बुराइयाँ दिखाई देती हैं, उनकी जड़ यही रुपया और उसका मेरे पास होना है। तब मेरे मन में प्रश्न उठा— रुपया क्या है ?

दासत्व का मूल कारण—रुपया

रुपया! रुपया क्या है ?

रुपया परिश्रम का प्रतीक है।

मैं ऐसे शिक्षित लोगों से मिला हूँ जो कहते हैं कि रुपया जिनके अधिकार में होता है उन्हीं के परिश्रम का वह परिचायक होता है। मैं स्वीकार करता हूँ कि कुछ अस्पष्ट रूप में मेरा भी पहले यही मत था। किंतु मैंने यह जानना जरूरी समझा कि रुपया वास्तव में है क्या, और इसके लिए मैंने अर्थशास्त्र की शरण ली।

अर्थशास्त्र के अनुसार द्रव्य[1] में कोई बात अन्यायसूचक अथवा हानिकारक नहीं है। वह तो सामाजिक जीवन का एक स्वाभाविक उपकरण है और उसकी निम्नलिखित कार्यों में आवश्यकता पड़ती है—(1) विनिमय संबंधी सुगमता, (2) मूल्य-निर्धारण, (3) बचत और (4) भुगतान। यह एक बिल्कुल स्पष्ट बात है कि यदि मेरी जेब में तीन फालतू रूबल पड़े हों तो मैं किसी भी सभ्य नगर में जाकर चुटकी बजाते ही सैकड़ों आदमियों को बुला सकता हूँ, जो उन तीन रूबलों के लिए कठोर-से-कठोर, अप्रिय-से-अप्रिय और अपमानजनक-से-अपमानजनक कार्य करने को तैयार हो जाएँगे। इसका कारण रुपया-पैसा नहीं, बल्कि हमारे आर्थिक जीवन की जटिल विषमता है। कुछ विशेष व्यक्तियों को दूसरों पर प्रभुता प्राप्त हो जाने का कारण यह नहीं है कि उनके पास रुपया है; बल्कि यह कि श्रमजीवियों को अपने श्रम का पूरा पारितोषिक नहीं मिलता। इस अनीति की जड़ में पूँजी, किराया और मजदूरी है, जिनका स्वयं आपस में तथा धन के उत्पादन, वितरण और उपभोग से जटिल संबंध होता है। सीधी-सादी भाषा में इसका अर्थ यह है कि जो लोग पैसेवाले हैं वे बे-पैसेवालों को उँगलियों पर नचा सकते हैं। किंतु अर्थशास्त्र के अनुसार वास्तविकता कुछ और ही है। उनका मत है कि हर तरह के उत्पादन-कार्य पर तीन बातों का प्रभाव पड़ता है—(1) भूमि, (2) संचित श्रम, पूँजी और (3) श्रम। इन तीनों साधनों की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया के कारण और उत्पादन के दो साधनों—भूमि तथा पूँजी— के मजदूरों के अधिकार में न होकर दूसरों के अधीन होने के कारण और साथ-ही-साथ उनसे उत्पन्न होनेवाली जटिल गुटबंदियों के फलस्वरूप कुछ लोगों का दूसरों पर प्रभुत्व स्थापित हो जाता है। धन का यह राज्य, जिसके अन्याय और जिसकी क्रूरता को देखकर हम स्तंभित रह जाते हैं, कैसे उत्पन्न

1. *Money. सुगमता के लिए यहाँ 'द्रव्य' के स्थान पर 'रुपया-पैसा' या केवल 'रुपया' या 'पैसे' का भी प्रयोग किया गया है।*

होता है ? पैसे की सहायता से कुछ लोग दूसरों पर क्यों शासन करते हैं ? अर्थशास्त्र के अनुसार इसका कारण उत्पादन के विभिन्न साधनों का विभाजन और उससे उत्पन्न होनेवाली गुटबंदी है, जो मजदूरों को सताती है। यह उत्तर मुझे सदा ही विचित्र प्रतीत होता रहा है; क्योंकि न केवल इसमें प्रश्न के एक भाग—रुपए के महत्त्व—पर विचार नहीं किया गया है, बल्कि उसके अनुसार उत्पादन के साधनों का जो विभाजन किया गया है वह प्रथम दृष्टि में सदा कृत्रिम और वास्तविकता के विपरीत दिखाई देता है। कहा जाता है कि सब प्रकार के उत्पादनों में भूमि, पूंजी और श्रम तीनों का योग होता है। इसीलिए यह मान लिया गया है कि इनसे जो कुछ पैदा होता है—अर्थात् धन या उसका प्रतीक वह रुपया-इनके ही स्वामियों में बाँट दिया जाता है। भूमि का मूल्य किराया—जमींदार को मिलता है, ब्याज पूँजीपति को और परिश्रम का पारितोषिक मजदूरी—मजदूर को। किंतु क्या यह सच है ? सबसे पहले तो यह देखना है कि क्या सभी उत्पादनों में तीनों साधनों का जुटना अनिवार्य है।

इस समय जबकि मैं यह लेख लिख रहा हूँ, मेरे चारों ओर घास सुखाई जा रही है। इस क्रिया में कौन-कौन-से साधन प्रयोग में लाए जाते हैं ? मुझे बताया गया है कि इसमें निम्नलिखित साधनों को उपयोग किया जाता है—(1) भूमि, जिस पर घास उगाई गई है, (2) पूँजी, अर्थात् हँसिए, पैजेठियाँ, दंतिए और गाड़ियाँ, जो घास को इकट्ठा करने के लिए आवश्यक हैं और (3) परिश्रम। किंतु मैं देखता हूँ कि यह बात सच नहीं है। भूमि के अतिरिक्त सूर्य, पानी, सामाजिक संगठन (जिसके फलस्वरूप लोगों के अनियमित अतिक्रमण से खेतों की रक्षा होती है।), मजदूरों का ज्ञान, उनकी बोलने और शब्दों को समझ सकने की क्षमता आदि अनेक ऐसे दूसरे तत्त्व भी हैं, जिनका सूखी घास के उत्पादन में योग होता है, किंतु जिनकी, न जाने क्यों, अर्थशास्त्र में गणना नहीं की जाती।

सूर्य की शक्ति भी भूमि की ही भाँति उत्पादन का एक साधन है, बल्कि उससे भी अधिक आवश्यक। यह बात कल्पना से बाहर नहीं है कि नगर के लोग दीवार खड़ी करके या पेड़ों द्वारा एक-दूसरे को सूर्य के प्रकाश से वंचित करने का अधिकार प्राप्त कर सकते हैं। तो फिर उसकी गणना उत्पादन के साधनों में क्यों नहीं होतीं ? पानी भी भूमि के समान ही उत्पादन का एक आवश्यक साधन है। यही बात वायु की है। यह संभावना भी कल्पना से बाहर नहीं है कि कुछ लोग आवश्यक जल और वायु पर एकाधिकार प्राप्त करके दूसरों को इनसे वंचित कर दें। सामाजिक संरक्षण भी इसी प्रकार का एक अनिवार्य साधन है और जैसा कि कुछ अर्थशास्त्री स्वीकार करते हैं, मजदूरों के लिए भोजन और वस्त्र की गणना भी उत्पादन के साधनों में ही होनी चाहिए। शिक्षा और बोलने की योग्यता भी, जिनसे विभिन्न प्रकार के काम करने की क्षमता आती है, इसी प्रकार के साधन है। यदि मैं उत्पादन के ऐसे-ऐसे अनुल्लिखित साधनों की गिनती करने बैठूँ तो उनसे एक पूरी-की-पूरी पुस्तक भर सकता हूँ। तो फिर, क्या कारण है कि उत्पादन के केवल तीन साधन चुने गए हैं और वे ही अर्थशास्त्र की नींव माने गए हैं ? सूर्य के प्रकाश और पानी को भी भूमि के समान उत्पादन का पृथक्-पृथक् साधन माना जा सकता है। इसी तरह मजदूरों के औजारों के समान उनके भोजन-वस्त्र, ज्ञान और इसके संचारण को भी उत्पादन के स्वतंत्र साधनों में गिना जा सकता है। क्या कारण है कि सूर्य की किरणों, पानी, भोजन और ज्ञान की गणना उत्पादन के पृथक् साधनों के रूप में नहीं होती और केवल भूमि, औजार और श्रम ही इस श्रेणी में सम्मिलित किए जाते हैं ? क्या इसका कारण केवल यह है कि सूर्य की किरणें, पानी, हवा और बोलने अथवा सुनने की क्षमता के संबंध में विरले ही कोई किसी विशेषाधिकार का दावा करता है, जबकि भूमि और श्रम-संबंधी अधिकारों के लिए हमारे समाज में सदा झगड़ा होता रहता है ? निस्संदेह इस वर्गीकरण का कोई आधार नहीं है। अत: मैं समझता हूँ कि उत्पादन के साधनों का केवल तीन अंगों में विभाजन एक जबर्दस्ती का विभाजन है और पदार्थों के रूप पर निर्भर नहीं है। किंतु संभवत: यह विभाजन मनुष्य-समाज के लिए इतना स्वाभाविक है कि जहाँ कहीं आर्थिक संबंध स्थापित होते हैं वहाँ उत्पादन के ये ही तीन साधन सामने आते हैं।[1]

अब देखना है कि क्या यह बात सही है। सबसे पहले मैं अपने चारों ओर रहनेवाले रूसी प्रवासियों को लेता हूँ, जिनकी संख्या लाखों थी और अब भी है। ये प्रवासी किसी नई जगह जाते हैं और वहाँ बसकर काम करने लगते हैं। यह बात उनकी समझ में बिलकुल नहीं आती कि जो आदमी किसी भूमि को जोतता-बोता नहीं उसका उस पर अधिकार हो और भूमि अपना कोई अलग दावा पेश न करे। इसके विपरीत प्रवासी समझते हैं कि भूमि सारे समाज की संपत्ति है और प्रत्येक व्यक्ति को इस बात का अधिकार है कि वह जहाँ चाहे वहाँ और जितनी सँभाल सके उतनी भूमि जोते और बोए। प्रवासी अपने साथ जमीन जोतने, तरकारी पैदा करने और मकान बनाने के लिए औजार लाते हैं, किंतु उनके मन में यह विचार कभी नहीं आता कि औजार स्वयं भी कमाई कर सकते हैं। ये औजार, जिन्हें पूँजी कहा जाता है, कभी अपना कोई दावा करते भी नहीं। इसके विपरीत प्रवासी लोग यह बात

1. अर्थशास्त्र के सिद्धांतों में अब महान् परिवर्तन हो गए हैं। टॉल्सटॉय ने जितनी भी बातें गिनाई हैं, उनकी गणना आज के अर्थशास्त्रियों के मतानुसार भूमि, श्रम अथवा पूँजी के अंतर्गत कर ली जाती है।

अच्छी तरह समझ-बुझकर स्वीकार करते हैं कि औजार या अनाज—अर्थात् पूँजी—को उधार देने के लिए ब्याज लेना अन्याययुक्त है। ये प्रवासी मुफ्त भूमि पर स्वयं अपने औजारों अथवा बिना किसी ब्याज के उधार लिए हुए दूसरों के औजारों से, ये अलग-अलग या सब मिलकर, सामान्य हित के लिए काम करते हैं। इस प्रकार के सामूहिक समाज में, किराए, पूँजी, ब्याज या मजदूरी का अस्तित्व सिद्ध करना असंभव है। ऐसे समाज का उल्लेख करते समय मैं कोई मनगढ़ंत बात नहीं कर रहा हूँ, बल्कि उस वस्तु-स्थिति का दिग्दर्शन करा रहा हूँ जो सब जगह दिखाई देती रही है और केवल रूसी प्रवासियों के बीच ही नहीं, बल्कि सर्वत्र उस समय तक दिखाई देती है जब तक मनुष्य-जाति की स्वाभाविक प्रकृति बिगाड़ नहीं दी जाती। मैं वही बात कर रहा हूँ, जो प्रत्येक मनुष्य को स्वाभाविक और न्यायसंगत प्रतीत होती है। लोग भूमि पर बस जाते हैं और अपने-अपने स्वभाव के अनुसार काम करने लगते हैं। उनमें से प्रत्येक व्यक्ति अपने काम के लिए आवश्यक तैयारी करके अपना काम स्वयं करता है। यदि ये लोग देखते हैं कि इकट्ठा मिलकर काम करना उनके लिए अधिक सुविधाजनक होगा तो वे अपना एक संघ बना लेते हैं; किंतु, न तो उनकी व्यक्तिगत खेती में और न सामूहिक व्यवस्था में ही उत्पादन के साधन अलग-अलग किए जाते हैं वहाँ तो केवल श्रम और श्रम-संबंधी आवश्यक साधन होते हैं; जैसे, सूर्य जो सबको गरमी देता है; हवा जिसमें सब लोग साँस लेते हैं; पानी जिसे वे लोग पीते हैं; भूमि जिस पर वे काम करते हैं; कपड़े जिनसे वे शरीर ढँकते हैं; भोजन जिससे वे पेट भरते हैं और डंडे, कुदाली, हल, मशीन आदि जिनकी सहायता से वे कार्य करते हैं। यह स्पष्ट है कि न तो सूर्य, न वायु, न जल, न भूमि, न तन ढँकने के कपड़े, न डंडे, न कुदाली, न हल, न मशीनें किसी और के हो सकते हैं सिवा उनके जो सूर्य की किरणों का उपभोग करते हैं, हवा में साँस लेते हैं, पानी को पीते हैं, रोटी खाते हैं, कपड़ों से तन ढँकते हैं और कुदाली या मशीन से काम करते हैं; क्योंकि इन सब वस्तुओं की आवश्यकता केवल उन्हीं को होती है जो इनका उपयोग करते हैं। जब लोग इस रीति से काम करते हैं तब हमें ऐसा लगता है कि वे वैसा ही कार्य कर रहे हैं जैसा कि मनुष्य के लिए उचित और विवेकपूर्ण है। अतः मनुष्यों के पारस्परिक आर्थिक संबंध को दृष्टि में रखते हुए मैं यह नहीं कह सकता कि उत्पादन के साधनों का तीन अंगों में विभाजित किया जाना उनके लिए स्वाभाविक है। इसके विपरीत मैं इसे अस्वाभाविक और विवेकहीन समझता हूँ। किंतु कदाचित् आदिम समाज ही एक ऐसा समाज है, जिसमें उत्पादन के साधनों का तीन अंगों में विभाजन नहीं होता। बाद में, जैसे-जैसे जनसंख्या बढ़ती जाती है और संस्कृति का विकास होता है वैसे-वैसे यह विभाजन अनिवार्य हो जाता है। यह

विभाजन यूरोपीय समाज में भी हुआ है और जो बात सिद्ध हो चुकी है उसे स्वीकार करने के अलावा और कोई चारा नहीं। किंतु देखना यह है कि इस बात में सत्यता कहाँ तक है। हमें बतलाया जाता है कि यूरोपीय समाज में उत्पादन के अंगों का पूरा-पूरा विभाजन हो गया है; अर्थात् एक वर्ग के लोगों के पास जमीन है, दूसरे वर्ग के लोगों के पास औजार और तीसरे वर्ग के लोग इन दोनों से वंचित कर दिए गए हैं। मजदूर लोग इसी तीसरे वर्ग में हैं। उन्हें भूमि और औजारों से वंचित मानने के हम इतने अभ्यस्त हो गए हैं कि अब हमें इसमें कोई विचित्रता नहीं प्रतीत होती। किंतु यदि हम विचार करें तो हमें तत्काल पता चल जाएगा कि यह बात कितनी अशुद्ध और मूर्खतापूर्ण है। उसका खंडन स्वयं उसी में छिपा हुआ है। मजदूर की कल्पना करते समय हम उसके साथ उन भूमि और उन औजारों को भी मिला लेते हैं जिस पर और जिनकी सहायता से वह कार्य करता है। यदि उसके पास रहने को भूमि और काम करने को औजार न हों तो वह मजदूर हो ही नहीं सकता। भूमि और औजारों के बिना न आज तक कोई मजदूर हुआ है और न हो सकता है। हम ऐसे किसी खेतिहर मजदूर की कल्पना नहीं कर सकते, जिसके पास काम करने के लिए भूमि, हँसिया, गाड़ी और घोड़ा न हो। इसी प्रकार ऐसा मोची अकल्पनीय है, जिसके पास मकान, पानी, हवा और काम करने के औजार न हों, यदि किसी किसान के पास भूमि, घोड़ा या हँसिया न हो, या किसी मोची के पास मकान, पानी या कुआँ न हो तो इसका अर्थ यही है कि किसीने उसे भगाकर उसकी भूमि हड़प ली है या धोखा देकर उसका हँसिया, उसकी गाड़ी, घोड़ा या कुआँ छीन लिया है। किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि हल के बिना कोई खेतिहर मजदूर हो सकता है या औजार के बिना कोई आदमी मोची हो सकता है। जिस प्रकार हम जल से दूर भूमि पर खड़े हुए किसी बंसी-विहीन मछेरे की कल्पना नहीं कर सकते—सिवा उस दशा में जबकि किसीने उसे पानी से दूर भगा दिया हो और उसकी बंसी आदि छीन ली हो—उसी तरह हम भूमि और औजारों से विहीन किसी मोची की कल्पना उस समय तक नहीं कर सकते जब तक कि किसी ने उससे उसकी भूमि और उसके औजार छीन न लिए हों।

ऐसे आदमी हो सकते हैं जिनको एक जगह से दूसरी जगह भगा दिया गया हो, जिनके काम करने के औजार छीन लिए गए हों और जिन्हें दूसरों के औजार लेकर ऐसे पदार्थ बनाने के लिए विवश किया जाता हो, जिनकी उन्हें स्वयं अपने लिए आवश्यकता नहीं होती; किंतु इसका अर्थ यह नहीं कि उत्पादन की प्रणाली होती ही ऐसी है। इससे तो केवल इतना व्यक्त होता है कि कहीं-कहीं उत्पादन की स्वाभाविक शर्तों का उल्लंघन होता है। यदि हम उन सब पदार्थों को उत्पादन का

साधन मानते हैं, जिनसे मजदूर को बलपूर्वक वंचित किया जा सकता है, तो फिर दास के शरीर पर अधिकार का जो दावा किया जाता है उसे भी उत्पादन का अंग क्यों न माना जाए? इसी तरह सूर्य की किरणों, वायु, जल आदि के प्रयोग के अधिकार को भी उत्पादन के साधनों में क्यों न गिना जाए? संभव है कि कुछ लोग ऐसे हों जो दीवार खड़ी करके अपने पड़ोसी को धूप से वंचित कर दें। ऐसे आदमी भी हो सकते है जो नदी के बहाव को तालाब की ओर मोड़कर पानी गंदा कर दें। इसी तरह ऐसे आदमियों के भी होने की संभावना है जो दूसरों को अपनी संपत्ति समझें। किंतु बलपूर्वक कार्यान्वित किए जाने पर भी उपर्युक्त तीनों दावों में से एक को भी उत्पादन के साधनों के विभाजन का आधार नहीं माना जा सकता। भूमि और औजार-संबंधी काल्पनिक अधिकारों को उत्पादन का अलग-अलग साधन स्वीकार करना उतना ही अशुद्ध है जितना सूर्य की किरणों, वायु, जल अथवा किसी मनुष्य के शरीर-संबंधी काल्पनिक अधिकारों को। ऐसे लोग हो सकते हैं जो भूमि और मजदूर के काम करने के औजारों पर अपना अधिकार बताएँ, जैसे कि पुराने जमाने में लोग मजदूर को अपनी संपत्ति समझते थे। इसी प्रकार ऐसे लोग भी हो सकते हैं जो सूर्य, हवा या पानी पर एकाधिकार का दावा करें। कुछ लोग ऐसे भी हो सकते हैं जो श्रमजीवी को एक जगह से दूसरी जगह भगा दें और ज्योंही वह अपने श्रम से कोई वस्तु उत्पन्न करे त्योंही उसे उससे बलात् छीन लें और साथ-ही-साथ उसके औजारों को भी हथिया लें और उसको अपने लिए नहीं, बल्कि अपने स्वामी के लिए श्रम करने को बाध्य करें, जैसा कि फैक्टरियों में होता है। यह सब संभव है; किंतु फिर भी जिस प्रकार एक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति की चल संपत्ति नहीं बन सकता—चाहे कितने ही प्राचीन काल से लोग ऐसा क्यों न मानते आए हों—उसी तरह कोई मजदूर बिना जमीन और औजार के नहीं हो सकता।

यदि कोई मनुष्य यह दावा करे कि अमुक व्यक्ति का शरीर मेरी संपत्ति है तो उसका यह परिणाम नहीं हो सकता कि दास अपने स्वामी की अपेक्षा स्वयं अपने कल्याण के लिए प्रयत्न करने के अपने प्राकृतिक अधिकार से वंचित हो जाए। ठीक इसी प्रकार किसी व्यक्ति का भूमि और दूसरों के औजारों पर स्वामित्व का दावा करना किसी मजदूर को मानवमात्र के इस नैसर्गिक अधिकार से वंचित नहीं कर सकता कि वह भूमि पर रहे और अपने लिए जो कुछ उपयोगी समझता है उसे स्वयं अपने या समाज के औजारों से उत्पन्न करे। वर्तमान आर्थिक अवस्थाओं को देखते हुए अर्थशास्त्र केवल इतना कह सकता है कि कुछ लोग मजदूरों की जमीन और औजारों पर अपना अधिकार जताते हैं, इसलिए कुछ मजदूरों के लिए—सबके लिए कदापि नहीं—उत्पादन के नैसर्गिक नियमों का इस प्रकार उल्लंघन किया गया है

कि वे भूमि और उत्पादन-संबंधी औजारों से वंचित होकर दूसरों के औजारों से काम करने के लिए बाध्य हो गए हैं। किंतु इससे यह नहीं सिद्ध होता कि उत्पादन के नियमों का यह आकस्मिक उल्लंघन स्वयं उत्पादन का नियम है।

अर्थशास्त्रियों का यह कहना कि उत्पादन के साधनों का यह विभाजन उत्पादन का आधारभूत नियम है वैसा ही है जैसा बहुत-सी पंखकटी छोटी हरी चिड़ियों को पिंजड़े में बंद देखकर किसी जीव-शास्त्री का यह निष्कर्ष निकालना कि एक छोटा-सा पिंजरा और उनकी शलाकों पर रखे हुए नन्हें-नन्हें पानी के बर्तन चिड़ियों के जीवन के आवश्यक साधन हैं और पक्षियों का जीवन इन्हीं तीन साधनों पर निर्भर है। पिंजरों में चाहे कितनी ही पंखकटी चिड़िया क्यों न हों, जीव-शास्त्री को यह नहीं समझना चाहिए कि पिंजरा पक्षियों के लिए जीवन का कोई प्राकृतिक वातावरण है। चाहे कितने ही मजदूरों को उनके स्थान से क्यों न भगा दिया जाए और चाहे उनकी पैदावार और उनके काम के औजारों को उनसे क्यों न छीन लिया जाए, उनकी भूमि पर रहने की तथा अपने औजारों से अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ बनाने की स्वाभाविक प्रवृत्ति बदलेगी नहीं। कुछ लोग श्रमजीवियों की भूमि और उनके औजारों पर अपना अधिकार बतलाते हैं, जैसा कि पुराने जमाने में कुछ लोग उनके शरीर पर स्वामित्व का दावा करते थे; किंतु जिस प्रकार मनुष्य-समाज का विभाजन स्वामियों और दासों में नहीं हो सकता—जैसा कि प्राचीन काल में लोग चाहते थे—उसी प्रकार उत्पादन के साधनों का भूमि और पूँजी में विभाजन नहीं हो सकता, जैसा कि वर्तमान समाज में अर्थशास्त्री करना चाहते हैं। किंतु दूसरों की स्वतंत्रता पर अन्याययुक्त अतिक्रमण को अर्थशास्त्री उत्पादन के स्वाभाविक साधनों के नाम से पुकारते हैं। मानव-समाज की स्वाभाविक प्रवृत्तियों को अपना आधार बनाने के बदले अर्थशास्त्र ने किसी विशिष्ट उदाहरण को ही ग्रहण कर लिया है और उस विशिष्ट उदाहरण को न्यायोचित सिद्ध करने के लिए उसने उस भूमि पर, जिस पर एक आदमी काम करके आजीविका कमाता है, और उन औजारों पर जिनके सहारे वह रोजी कमाता है, दूसरे के अधिकार को स्वीकार कर लिया है। दूसरे शब्दों में अर्थशास्त्र ने एक ऐसे अधिकार को मान लिया है, जिसका अस्तित्व न तो कभी था, न हो सकता है और जो स्वतः आत्मविरोधी है; क्योंकि यदि कोई व्यक्ति किसी ऐसी भूमि पर अधिकार जताता है, जिस पर वह काम नहीं करता तो उसका वास्तविक तात्पर्य केवल इतना है कि वह ऐसी भूमि को उपयोग में लाने का अधिकार चाहता है जिसे वस्तुतः वह इस्तेमाल नहीं करता। इसी तरह औजारों पर अधिकार जताने का अर्थ है ऐसे औजारों से काम करने का अधिकार माँगना जिनका स्वयं प्रयोग नहीं किया जाता। जिस प्रकार प्राचीन काल में मनुष्य-समाज को

नागरिकों तथा दासों की दो श्रेणियों में विभक्त करके दासों की अस्वाभाविक स्थिति को ही मनुष्य की स्वाभाविक अवस्था मानते थे, उसी तरह उत्पादन के साधनों का वर्गीकरण करके आज अर्थशास्त्र मजदूरों की उस अस्वाभाविक स्थिति को, जिसमें वे रहते हैं, जीवन की स्वाभाविक अवस्था मानता है। अर्थशास्त्र ने इस विभाजन को केवल इसलिए स्वीकार किया है कि वर्तमान समाज के जिस दुर्गुण को उसने अपने अन्वेषण का आधार मान लिया है, उसे वह न्यायसंगत सिद्ध करना चाहता है। इसका परिणाम यह निकला है कि अर्थशास्त्र वर्तमान स्थिति को किसी-न-किसी प्रकार उचित सिद्ध करने की व्यर्थ चेष्टा करता है और सामने आनेवाले प्रश्नों के स्पष्टतम तथा सरलतम उत्तर को अंगीकार न करके ऐसे उत्तर देता है कि जिनका कोई अर्थ नहीं होता।

अर्थशास्त्र के सामने प्रश्न यह है—क्या कारण है कि जिन लोगों के पास भूमि और पूँजी है, वे भूमिहीनों और बिना पूँजीवालों को दास बना लेते हैं? सामान्य बुद्धिवाले कहते हैं कि यह सब रुपए की माया है। उनका कहना है कि रुपया ही मनुष्य को गुलाम बनाता है। किंतु अर्थशास्त्र इस सिद्धांत को स्वीकार नहीं करता और कहता है कि दासता का कारण रुपया नहीं है, बल्कि यह कि कुछ लोगों के पास भूमि और पूँजी है और कुछ लोगों के पास नहीं। हम पूछते हैं, ''क्या कारण है कि भूमि और पूँजी के स्वामी भूमिहीनों और बिना पूँजीवालों को अपना दास बना सकते हैं?'' हमें उत्तर मिलता है, ''क्योंकि उनके पास भूमि और पूँजी हैं।'' किंतु यही तो हमारा प्रश्न है। भूमि और काम के औजारों से वंचित किया जाना ही तो दासता है। यह तो वही पुराना उत्तर हुआ, ''इससे नींद आती है क्योंकि इसमें नींद लाने का गुण है।'' किंतु जीवन का यह अनिवार्य प्रश्न हमेशा उपस्थित रहता है। अर्थशास्त्र भी इसे देखता है और उत्तर देने का प्रयत्न करता है, किंतु जब तक वह अपने द्वारा चुने गए वर्तमान आधार पर ही काम करता रहेगा और भूल-भुलैया में पड़ा रहेगा तब तक वह ठीक उत्तर नहीं दे सकेगा। इसका उत्तर देने के लिए यह आवश्यक है कि अर्थशास्त्र सबसे पहले उत्पादन के साधनों के अपने गलत विभाजन का परित्याग करे; अर्थात् परिणाम को कारण मानना छोड़ दे और जिन बातों की उसे जाँच-पड़ताल करनी है पहले उनके समीपस्थ और बाद में दूरस्थ कारणों पर विचार करे। अर्थशास्त्र को इस प्रश्न का उत्तर देना चाहिए, ''क्या कारण है कि कुछ लोग तो भूमि और उत्पादन के औजारों से वंचित हैं और कुछ लोग उन दोनों के स्वामी हैं?'' अर्थात्, ''क्या कारण है कि जो लोग जमीन जोतते हैं और औजारों का उपयोग करते हैं, उनसे उनकी भूमि और उनके औजार अलग कर दिए जाते हैं?'' जैसे ही अर्थशास्त्र इस प्रश्न पर विचार करना आरंभ कर देगा वैसे ही अनेक नई बातें

उसके सामने आ खड़ी होंगी और अधूरे शास्त्र की पहलेवाली वे सारी धारणाएँ उलट-पुलट जाएँगी, जिनका परिचालन इस दूषित आधार पर होता था कि मजदूरों की गरीबी का कारण उनकी गरीबी है। साधारण मनुष्य को इस बात में लेशमात्र भी शंका नहीं होती कि दासत्व का निकट कारण रुपया है। किंतु अर्थशास्त्र इसको अस्वीकार करता है और कहता है कि रुपया (द्रव्य) तो विनिमय का साधनमात्र है और उसका लोगों की दासता से कोई संबंध नहीं। अब देखना है कि बात ऐसी ही है या नहीं।

फ़ीजी द्वीप की करुण कहानी

रुपया कहाँ से आता है? किन परिस्थितियों में राष्ट्रों के पास रुपया सदा बना रहता है और किन परिस्थितियों में वे उसका उपयोग नहीं करते? जिस प्रकार प्राचीन काल में सीदियन[1] या ड्रेवलियन[2] लोग रहते थे, उसी प्रकार एक जाति आज अफ्रीका या आस्ट्रेलिया में रहती है। वह कृषि, पशु-पालन और फलोत्पादन द्वारा जीवन-निर्वाह करती है। उसकी चर्चा हम इतिहास के आरंभिक काल में सुनते हैं और इतिहास का प्रारंभ विजेताओं के आक्रमणों से होता है। विजेता सदा एक ही रीति का अनुसरण करते आए हैं। मूल निवासियों से वे जितनी भी चीजें हड़प सकते हैं हड़प लेते हैं; जैसे पशु अन्न, वस्त्र, बुनी हुई वस्तुएँ आदि। इसके अतिरिक्त वे स्त्रियों और पुरुषों को बंदी बनाकर लूटी हुई दूसरी वस्तुओं के साथ अपने देश ले जाते हैं। कुछ वर्ष बाद वे फिर चढ़ाई करते हैं, किंतु उस समय तक वहाँ के निवासी अपने पहले विनाश से भी नहीं सम्हल पाते और विजेताओं को लूटने के लिए बहुत कम सामग्री मिलती है। इसलिए वे उनके शोषण की और भी अच्छी-अच्छी युक्तियाँ ढूँढ़ निकालते हैं। ये युक्तियाँ बहुत ही सरल होती हैं और सबको स्वभावतः ही सूझ जाती हैं। पहली युक्ति है व्यक्तिगत दासत्व की; किंतु इसमें कठिनाई यह होती है कि विजेताओं को समस्त पराजित जाति से काम लेने और बदले में उसकी रोटी की व्यवस्था करनी पड़ती है। स्वभावतः उन्हें एक दूसरी युक्ति सूझती है। इसके अनुसार वे पराजितों को उनकी ही भूमि पर रहने देते हैं, किंतु उस भूमि पर आधिपत्य अपना जमा लेते हैं और उसे अपने अनुगामियों में बाँट देते हैं, ताकि इन

1. *एशिया की एक प्राचीन खानाबदोश जाति।*
2. *प्राचीन रूसी इतिहास में उल्लिखित एक स्लैवोनिक जाति।*

अनुगामियों द्वारा वे वहाँ के मूल निवासियों से मनमानी मेहनत करवा सकें। किंतु यह युक्ति भी असुविधाओं से रिक्त नहीं होती। विजेताओं के पृष्ठपोषकों को मूल निवासियों की उत्पादन-संबंधी सभी क्रियाओं की व्यवस्था करनी पड़ती है। इसलिए एक तीसरी युक्ति सामने आती है। यह युक्ति अन्य युक्तियों के समान ही सभ्यता की द्योतक होती है। इसके अंतर्गत पराजितों पर एक प्रकार का अनिवार्य कर लगाया जाता है, जो उन्हें निश्चित समय पर भरना पड़ता है। विजेताओं के सामने लक्ष्य यह होता है कि जनता की पैदावार का जितना भी अधिक-से-अधिक भाग हड़पा जा सकता है हड़पा जाए। स्पष्ट है कि विजेता ऐसी ही वस्तुओं को हथियाना चाहेंगे, जिन्हें वहाँ के मूल निवासी सबसे अधिक बहुमूल्य समझते हों; किंतु जो भारी न हों और सरलतापूर्वक संचित की जा सकें, जैसे सोना और खाल। अत: वे प्रत्येक पराजित कुटुंब या जाति पर सोने या खाल के रूप में निश्चित समय पर मिलनेवाले कर लगा देते हैं और इस प्रकार अत्याधिक सुविधा के साथ जनता के श्रम का शोषण करते हैं। जब मूल निवासियों का खाल और सोने का भंडार प्राय: पूरा-का-पूरा उनकी भेंट चढ़ लेता है तो अभागे पराजितों को और सोना प्राप्त करने के लिए न केवल आपस में ही एक-दूसरे को, बल्कि विजेताओं और उनके अनुगामियों के हाथ भी अपनी सारी संपत्ति और कार्य-शक्ति बेचनी पड़ती है। यही क्रम प्राचीन और मध्यकाल में चलता रहा था और यही अब भी चल रहा है। प्राचीन काल में देशों की जय-पराजय प्राय: हुआ करती थी और मानव-समाज में समानाधिकार की भावना नहीं थी। यही कारण था कि वैयक्तिक दासता ही उन दिनों दूसरों पर सत्ता स्थापित करने की सबसे प्रचलित प्रणाली थी और उसकी मुख्य विशेषता यह थी कि दास के साथ चल-संपत्ति का-सा व्यवहार किया जाता था। मध्यकाल में इस प्रकार की दासता का स्थान कुछ अंश में सामंतशाही अर्थात् भूस्वामित्व और चाकरी ने ले लिया और दासत्व के खिंचाव का केंद्र व्यक्ति से हटकर भूमि पर आ गया। आधुनिक काल में—जबसे अमरीका का पता लगा, व्यापार में उन्नति हुई, बहुलता के कारण सोना संसार-भर में प्रामाणिक सिक्के के रूप में स्वीकार कर लिया गया और विभिन्न देशों की राज्य-शक्ति भी बढ़ी—तबसे रुपए या द्रव्य के रूप में कर लेना लोगों के शोषण की मुख्य विधि बन गया है और मनुष्य के समस्त आर्थिक संबंध इसी पर आधारित हैं। एक साहित्यिक पुस्तक में प्रोफेसर यानजूल का एक लेख है, जिसमें उन्होंने फीजी द्वीप के आधुनिक इतिहास का वर्णन किया है। यह प्रमाणित करने के लिए कि किस प्रकार वर्तमान युग में रुपया वसूल करना ही दूसरों को दास बनाने का प्रमुख साधन बन गया है, यदि मैं कोई अत्यंत प्रभावोत्पादक उदाहरण उपस्थित करना चाहूँ तो मुझे नीचे लिखे सत्य विवरण से बढ़कर कोई

दूसरा दृष्टांत नहीं मिलेगा। यह विवरण लिखित प्रमाणों पर आधारित है।

फीजी लोग दक्षिणी प्रशांत महासागर में पोलिनीशिया के द्वीपों में रहते हैं। प्रोफेसर यानजूल के अनुसार इस द्वीप-समूह में कई छोटे-छोटे टापू हैं, जिनका क्षेत्रफल लगभग 8,000 वर्गमील है। आबादी केवल आधे टापुओं में है। कुल जनसंख्या 1,51,500 हैं, जिसमें से 1,50,000 मूल निवासी और 1,500 गोरे हैं। मूल निवासियों को जंगली अवस्था में से निकले हुए बहुत दिन हो गए हैं और वे अपनी योग्यता के लिए प्रसिद्ध हैं। थोड़े ही दिनों में कृषि और पशुपालन की अच्छी योग्यता प्राप्त करके उन्होंने यह सिद्ध कर दिया है कि उनमें कार्य और विकास की क्षमता है। पहले ये लोग वैभवशाली थे; परंतु सन् 1859 में भीषण संकट में फँस गए। अमरीकी सरकार ने फ़ीजी राजा पर यह अभियोग लगाया कि तुम्हारी प्रजा ने कुछ अमरीकी नागरिकों के साथ हिंसात्मक अत्याचार किए हैं, इसलिए उसकी क्षतिपूर्ति के रूप में 45,000 डॉलर दो। अत: फ़ीजी निवासियों और उनके राजा थाकम्बाऊ को एकाएक रुपए की आवश्यकता पड़ गई।

क्षतिपूर्ति के धन को वसूल करने के लिए अमरीकियों ने एक सैन्य दल भेजा, जिसने जमानत के रूप में कुछ सर्वोत्तम टापुओं पर अचानक अधिकार कर लिया और यहाँ तक धमकी दी कि यदि क्षतिपूर्ति का रुपया एक निश्चित तिथि तक अमरीकी प्रतिनिधियों को न दे दिया गया तो गोलाबारी करके उनकी बस्तियाँ नष्ट कर दी जाएँगी।

धर्म-प्रचारकों के साथ जो गोरे फ़ीजी में सबसे पहले जा बसे थे, उनमें अमरीकी भी थे । इन लोगों ने किसी-न-किसी बहाने टापुओं की सर्वोत्तम भूमि को चुन या हथियाकर उस पर रूई और कॉफ़ी की खेती आरंभ कर दी। उन्होंने वहाँ के असंख्य निवासियों को मजदूरी पर रख लिया और उन बेचारों को या तो ऐसी शर्तों में जकड़ लिया, जिन्हें वे समझ नहीं पाते थे या उन्हें ऐसे ठेकेदारों द्वारा नौकरी पर लगाया जो गुलामों का व्यापार किया करते थे। इन खेतों के गोरे स्वामियों और मूल निवासियों में, जिन्हें गोरे अपना गुलाम समझते थे, झगड़ा अनिवार्य था। इसी प्रकार के एक झगड़े को बहाना बनाकर अमरीका ने क्षतिपूर्ति की माँग की थी। वैभवशाली होते हुए भी फ़ीजी-निवासी उस समय तक भुगतान जिंस के जरिए किया करते थे; जैसा कि यूरोप में भी मध्यकाल तक प्रचलित था। वे रुपए का प्रयोग नहीं करते थे और उनका सारा व्यापार वस्तु-विनियम के ही रूप में होता था। माल के बदले माल दिया जाता था और जो इने-गिने सार्वजनिक अथवा सरकारी कर थे, उनका भुगतान पैदावार से होता था। अत: जब अमरीकावालों ने फ़ीजी-निवासियों और उनके राजा थाकम्बाऊ से 45,000 डॉलर की क्षतिपूर्ति माँगते हुए समय पर रुपया न भरे जाने पर

भीषण परिणामों की धमकी दी तब उसके सामने एक विकट समस्या आ खड़ी हुई। उनके लिए 45,000 का अंक ही कल्पनानीत था; डॉलर की तो बात ही क्या, जिसको इतने परिमाण में उन्होंने कभी देखा ही नहीं था। थाकम्बाऊ ने दूसरे सामंतों से परामर्श करके इंग्लैंड की रानी की सहायता लेने का निश्चय किया। पहले उसने रानी से फ़ीजी द्वीपों को अपने संरक्षण में लेने की प्रार्थना की। बाद में उसने इन द्वीपों के अंग्रेजी राज्य में मिला लिए जाने की चर्चा उठाई; किंतु अंग्रेजों ने इस प्रार्थना पर अत्यंत सावधानी से विचार किया और उस अर्द्ध-सभ्य राजा को आपत्ति-काल में सहायता देने की कोई उतावली नहीं दिखाई। सीधा उत्तर देने के बदले उन्होंने फ़ीजी द्वीप की जाँच-पड़ताल के लिए सन् 1860 में एक कमीशन भेजा जिससे कि यह निश्चय किया जा सके कि अमरीकी पावनेदारों को संतुष्ट करने और फ़ीजी द्वीपों को ब्रिटिश उपनिवेश में मिलाने के लिए धन व्यय करना लाभदायक होगा या नहीं।

इस बीच अमरीकी सरकार क्षतिपूर्ति के भुगतान के लिए बराबर तकाजा करती रही। जमानत के रूप में उसने वहाँ के कुछ सर्वोत्तम स्थानों पर अधिकार कर लिया और लोगों की संपन्नता को देखकर क्षतिपूर्ति की राशि 45,000 डॉलर से बढ़ाकर 90,000 डॉलर कर दी। साथ-ही-साथ उसने यह धमकी भी दी कि यदि थाकम्बाऊ ने भुगतान में तत्परता नहीं दिखाई तो क्षतिपूर्ति की राशि और भी बढ़ा दी जाएगी। इस प्रकार चारों ओर से दबाए जाने पर बेचारे थाकम्बाऊ ने, जिसको उधार लेन-देन की यूरोपीय पद्धति का तनिक भी ज्ञान नहीं था, यूरोपीय प्रवासियों की सलाह पर मेलबोर्न के व्यापारियों से किसी भी शर्त पर—यहाँ तक कि किसी एक व्यक्ति के पास अपना सारा राज्य गिरवी रखकर भी—रुपया लेने की चेष्टा की। थाकम्बाऊ की प्रार्थना के फलस्वरूप मेलबोर्न में एक व्यापारी कंपनी की स्थापना हुई, जिनका नाम पोलिनीशियन कंपनी रखा गया। इस कंपनी ने अपने लिए बहुत ही अनुकूल शर्तों पर फ़ीजी के सरदारों के साथ एक समझौता किया। अमरीकी सरकार के ऋण को कुछ निश्चित तिथियों तक चुका देने का वचन देकर कंपनी ने समझौते की पहली शर्त के अनुसार आरंभ में 1,00,000 और बाद में 2,00,000 एकड़ अच्छी-से-अच्छी अपनी पसंद की भूमि ले ली। इसके अतिरिक्त उसने अपनी फैक्टरियों, बस्तियों आदि को सदा के लिए सब तरह के करों और चुंगियों से मुक्त करा लिया। साथ-ही-साथ, उसने बहुत समय तक के लिए फ़ीजी में बैंक स्थापित करने का एकाधिकार प्राप्त कर लिया और अनिश्चित संख्या में नोट चलाने की छूट भी ले ली। समझौते के बाद से, जिस पर अंतिम रूप से सन् 1868 में हस्ताक्षर किए गए, फ़ीजी-निवासियों को थाकम्बाऊ की अधीनता में अपनी निजी सरकार के अतिरिक्त एक-दूसरी शक्ति का सामना करना पड़ा। वह शक्ति वह प्रभावशाली व्यवसायी

कंपनी थी, जिसके पास सभी टापुओं में बड़ी-बड़ी जमींदारियाँ थीं और जिसका थाकम्बाऊ-सरकार में बड़ा बोलबाला था। उस समय तक थाकम्बाऊ सरकार अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विभिन्न करों के रूप में मिलने वाले पदार्थों को लेकर और आयात पर थोड़ी-सी चुंगी वसूल कर ही संतुष्ट हो जाती थी; किंतु शक्तिशाली पोलिनीशियन कंपनी की स्थापना और उसके साथ की गई संधि के फलस्वरूप फ़ीजी सरकार की आर्थिक स्थिति बदल गई। उसकी सर्वोत्तम भूमि का एक बहुत बड़ा भाग कंपनी के हाथ में चला गया, जिसके परिणामस्वरूप कर घट गए। उधर, जैसा कि बतलाया जा चुका है, कंपनी को बिना चुंगी दिए ही माल भेजने और मंगाने का अधिकार मिल गया था। परिणाम यह हुआ कि चुंगी की आय भी कम हो गई। मूल निवासियों अर्थात् फ़ीजी के 99 प्रतिशत लोगों से चुंगी की आय वैसे ही बहुत कम होती थी; क्योंकि रूई और धातुओं के कुछ सामान के अतिरिक्त वे किसी अन्य विदेशी वस्तु का उपयोग नहीं करते थे। अब जबकि पोलिनीशियन कंपनी के कारण यूरोप के धनी लोग भी चुंगी देने से बचने लगे तो थाकम्बाऊ की आय नाममात्र की रह गई। स्वभावतः थाकम्बाऊ को अपनी आय बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील होना पड़ा। उसने अपने गोरे मित्रों से सलाह पूछी कि मैं इन कठिनाइयों से कैसे बच सकता हूँ। उन्होंने थाकम्बाऊ को अपने देश में पहली बार प्रत्यक्ष कर लगाने की सलाह दी और यह भी कहा कि काम को सरल बनाने के लिए इस कर को रुपए के रूप में वसूल किया करो। यह कर एक पौंड प्रति पुरुष और चार शिलिंग प्रति स्त्री के हिसाब से व्यक्ति-कर के रूप में लगाया गया।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, फ़ीजी द्वीपसमूह में अब भी खेती और प्रत्यक्ष वस्तु-विनियम की प्रथा प्रचलित है। वहाँ के मूल-निवासियों में ऐसे बहुत ही कम लोग हैं जिनके पास रुपया या द्रव्य हो। विभिन्न प्रकार के कच्चे माल और पशु ही उनका धन हैं, रुपया नहीं। फिर भी, नए कर के अनुसार फ़ीजी-निवासियों से एक निश्चित तिथि पर और चाहे जैसे भी हो वैसे रुपए के रूप में एक ऐसी रकम माँगी गई जो कुटुंबवाले व्यक्तियों के लिए काफी भारी सिद्ध हुई। उस समय तक कोई फ़ीजी निवासी मजदूरी के अलावा और किसी रूप में सरकार को व्यक्तिगत कर देने का अभ्यस्त नहीं था। कर तो गाँव या समुदाय द्वारा सार्वजनिक खेतों की पैदावार में से भरे जाते थे और यही पैदावार फ़ीजी-निवासियों की भी आय का प्रधान साधन थी। नई कठिनाई को दूर करने का इसके पास एक ही उपाय था और वह था गोरे औपनिवेशिकों से रुपया लेना। इसके लिए उन्हें या तो व्यापारियों की शरण लेनी पड़ती या खेत के मालिकों की। टैक्स-कलक्टर कर का रुपया एक निश्चित तिथि तक चाहते थे, इसलिए यदि उसे चुकाने के लिए मूल निवासी

व्यापारी के पास रुपया लेने जाते थे तो उन्हें अपनी चीजें व्यापारी के हाथ किसी भी मूल्य पर बेच देनी पड़ती थीं। कभी-कभी तो आगामी फसल को गिरवी रखकर रुपया लेना पड़ता था, जिससे लाभ उठाकर व्यापारी लोग स्वभावतः अनुचित कमाई करते थे। दूसरी युक्ति यह थी कि लोग जमींदार के पास जाकर उसके हाथ अपनी मेहनत बेच देते; अर्थात् उसके मजदूर बन जाते। किंतु उन दिनों फ़ीजी द्वीप में मजदूरी बहुत कम थी, जिसका कारण संभवतः यह था कि एक साथ बहुत-से आदमी काम करने को तत्पर हो गए थे। वर्तमान सरकार की रिपोर्ट के अनुसार उस समय प्रत्येक वयस्क पुरुष को प्रति सप्ताह एक शिलिंग या प्रति वर्ष दो पौंड बारह शिलिंग[1] से अधिक नहीं मिलता था। इसका परिणाम यह होता था कि केवल निजी कर चुकाने के लिए—कुटुंब के कर की कौन कहे—फ़ीजी-निवासियों को घरबार, परिवार, भूमि और खेती छोड़कर कभी-कभी तो बहुत दूर दूसरे टापू में जाना पड़ता था और नए टैक्स के एक पौंड के लिए किसी जमींदार की दासता में छह महीनों को बंधना पड़ता था। सारे कुटुंब के कर को चुकाने के लिए उसे दूसरे साधनों की शरण लेनी पड़ती थी।

इस प्रकार की व्यवस्था का क्या परिणाम हो सकता था, यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है। अपनी 1,50,000 प्रजा से थाकम्बाऊ केवल 6,000 पौंड इकट्ठा कर सका। इसके पश्चात् करों के भुगतान के लिए घर-घर इस प्रकार माँग की जाने लगी जैसी पहले कभी नहीं की गई थी और लोगों पर बहुत-से अनिवार्य काम भी लादे जाने लगे। स्थानीय शासन के कर्मचारी, जो पहले ईमानदार थे, शीघ्र ही उन गोरे जमींदारों से जा मिले, जिन्होंने देश की व्यवस्था अपने हाथों में ले ली थी। कर न चुकाने के अपराध में फ़ीजी-निवासी अदालतों में प्रस्तुत किए जाने लगे और उन्हें अदालती व्यय भरने के अतिरिक्त कम-से-कम छह महीने के कारावास का दंड भी दिया जाने लगा। जेल का काम उस खेत से लिया जाता था, जिसका गोरा स्वामी कैदी का कर चुकाने और मुकदमे का खर्च भरने को सबसे पहले तैयार हो जाता था। दूसरे शब्दों में यों कहिए कि अदालत अभियुक्त फ़ीजी-निवासियों को गोरों के हाथ सौंप देती थी जिनके खेतों पर अनिवार्य मजदूरी करके उन्हें कारावास का-सा समय काटना पड़ता था। इस प्रकार गोरों को जितने मजदूरों की आवश्यकता होती थी, उतने उन्हें सस्ते दामों पर मिल जाते थे। आरंभ में इस मजदूरी का दंड छह महीने से अधिक के लिए नहीं दिया जाता था; किंतु बाद में भाड़े के टट्टू जज यह दंड अठारह-अठारह महीने तक के लिए देने लगे। कभी-कभी तो वे इस दंड को

1. *लगभग पैंतीस रुपए*

दुहरा भी देते थे। अतः कुछ ही वर्षों में फ़ीजी-निवासियों की आर्थिक स्थिति सर्वथा बदल गई। पूरे-के-पूरे जिले, जो पहले हरे-भरे और संपन्न थे, अब बिलकुल कंगाल हो गए और उनकी जनसंख्या आधी रह गई। बूढ़ों और दुर्बलों को छोड़कर सारा-का-सारा पुरुष-समाज कर चुकाने के लिए रुपया कमाने या अदालत द्वारा दिया गया दंड भोगने के लिए घर से दूर गोरे जमींदारों के यहाँ पापड़ बेलने लगा। फ़ीजी की स्त्रियाँ खेती का काम नहीं करतीं; अतः पुरुषों की अनुपस्थिति में उन्होंने या तो खेतों की रत्ती-भर चिंता नहीं की या खेती बिल्कुल बंद कर दी। कुछ ही वर्षों में फ़ीजी की आधी जनसंख्या गोरों की गुलाम बन गई। स्वभावतः अपनी दशा सुधारने के लिए इन लोगों ने एक बार फिर इंग्लैंड का द्वार खटखटाया। एक नया प्रार्थनापत्र तैयार किया गया, जिसमें फ़ीजी के अनेक प्रसिद्ध व्यक्तियों और सामंतों ने ब्रिटिश प्रजा बनाए जाने की याचना की। यह प्रार्थना पत्र ब्रिटिश राजदूत को दे दिया गया। इस बीच इंग्लैंड अपने अन्वेषक यात्रियों की सहायता से फ़ीजी द्वीपों का ज्ञान ही नहीं प्राप्त कर चुका था, बल्कि उसने उनका पर्यवेक्षण भी कर लिया था। साथ-ही-साथ उसे यह भी पता चल गया था कि संसार के एक कोने में पड़े हुए इस सुंदर द्वीप-समूह में कितना प्राकृतिक धन है। अतः इस बार की चेष्टा पूर्ण रूप से सफल रही और सन् 1874 में इंग्लैंड ने फीजी द्वीप-समूह पर सरकारी रूप से अधिकार कर उसे अपने उपनिवेशों में मिला लिया। इसके फलस्वरूप अमरीकी जमींदारों में बड़ा असंतोष फैला।

थाकम्बाऊ का देहांत हो गया और उत्तराधिकारियों को थोड़ी-सी पेंशन दे दी गई। द्वीप-समूह का शासन-भार न्यू साउथ वेल्स के गवर्नर सर हरकुलिज राबिनसन को सौंप दिया गया, जो बाद में लार्ड रासमीड कहलाए। अंग्रेजी राज्य में मिलने के बाद एक वर्ष तक फ़ीजी में अंग्रेजों की कोई सरकार नहीं रही; सर हरकुलीज राबिनसन ने वहाँ अपनी ओर से केवल एक व्यवस्थापक नियुक्त कर दिया। द्वीपों को अपने हाथ में लेने के बाद अंग्रेजी सरकार से जो आशाएँ की गई थीं, उन्हें पूर्ण करने में उसे बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। एक ओर तो फीजी के मूल निवासी घृणित मनुष्य-कर के बंद किए जाने की आशा करते थे। दूसरी ओर वहाँ के गोरे निवासियों में स्वार्थ का संघर्ष था। अमरीकी लोग तो अंग्रेजों के शासन को शंका की दृष्टि से देखते थे, जबकि ब्रिटिश लोग हर तरह की सुविधाओं के आकांक्षी थे; जैसे, मूल निवासियों पर अपनी सत्ता की स्वीकृति, हड़पी हुई फीजी भूमि पर अपने अधिकार का नियमित माना जाना, आदि। अंग्रेजी सरकार ने इस समस्या का योग्यतापूर्वक सामना किया। सबसे पहले उसने उस मनुष्य-कर का अंत किया, जिसके कारण थोड़े-से औपनिवेशिकों के लाभ के लिए वहाँ के मूल निवासी दासता

की जंजीर में जकड़ दिए गए थे, किंतु इस मामले में सर हरकुलीज राबिनसन को एक भीषण दुविधा का सामना करना पड़ा। जिस मनुष्य-कर से मुक्ति पाने के लिए फ़ीजी-निवासियों ने ब्रिटिश सरकार से अपील की थी, जिसका अंत करना तो आवश्यक था ही, साथ-ही-साथ अंग्रेजी औपनिवेशिक नीति के अनुसार यह भी आवश्यक था कि फ़ीजी द्वीप-समूह अपनी शासनव्यवस्था पर किए जानेवाले व्यय का भार स्वयं सँभाले। किंतु मनुष्य-कर के हट जाने पर फ़ीजी को चुंगी से वर्ष-भर में 6,000 पौंड से अधिक आय नहीं होती थी, जबकि शासन-प्रबंध का वार्षिक व्यय कम-से-कम 70,000 पौंड पड़ता था। इसलिए राबिनसन ने द्रव्य-कर हटाकर श्रम-कर लगाया, अर्थात् फ़ीजी-निवासियों को राज्य के लिए अनिवार्य रूप से काम करने के लिए बाध्य किया। इससे भी 70,000 पौंड की वह रकम पूरी न हो सकी जिसकी उसे अपने और अपने सहकारी कर्मचारियों के व्यय के लिए आवश्यकता थी। यह स्थिति सर ए. एम. गार्डन (बैरन स्टेनमूर) नामक नए गवर्नर की नियुक्ति तक इसी प्रकार चलती रही। उसने अपने और अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के आवश्यक व्यय की पूर्ति के लिए एक नई युक्ति निकाली। उसने निश्चय किया कि जब तक द्वीप में मुद्रा का प्रचुर प्रचार नहीं हो जाएगा, तब तक वह मुद्रा की माँग न कर वहाँ के निवासियों द्वारा उत्पन्न किए जानेवाले पदार्थों को इकट्ठा करता रहेगा और उन्हें स्वयं बेचेगा।

फ़ीजी-निवासियों के जीवन की यह करुण कहानी हमें साफ-साफ और अच्छी तरह बता देती है कि वास्तव में रुपया क्या है और उसका प्रभाव कितना व्यापक होता है। इसमें हम सारी बातें स्पष्ट रूप से देख लेते हैं—एक ओर हमें दासता के मूल आधार—तोप, धमकी, हत्या, लूटमार इत्यादि—का परिचय मिलता है और दूसरी ओर दासता के मुख्य शस्त्र रुपए का स्वरूप दिखाई देता है—वह रुपया, जिसने अब अन्य सभी साधनों का स्थान ले लिया है। राष्ट्रों के आर्थिक विकास के इतिहास में हमें शताब्दियों तक की जिन घटनाओं का अध्ययन करना पड़ता है, वे सब, आर्थिक उत्पीड़न के विभिन्न रूपों के पूर्णत: विकसित हो जाने के कारण, यहाँ केवल दस वर्षों में केंद्रीभूत हो गई हैं। नाटक इस प्रकार प्रारंभ होता है—अमरीकी सरकार फ़ीजी-निवासियों को दास बनाने की इच्छा से प्रेरित होकर फ़ीजी द्वीप-समूह में तोपों से भरे हुए जहाज भेजती है। धमकी का बहाना आर्थिक है, किंतु फ़ीजी-निवासियों—औरतों, बच्चों, बूढ़ों और बेकसूरों—के सामने तोपे तान दी जाती हैं। यही कहानी आज अफ्रीका, चीन और मध्य एशिया में दोहराई जा रही है। सब राष्ट्रों की पराजय के इतिहास में यही कहानी दोहराई गई है। यह था नाटक का सूत्रपात जिसका मूल मंत्र था—'रुपया दो या जीवन।' पहले 45,000 डॉलर, फिर 90,000 डॉलर या रक्त की नदियाँ। किंतु 90,000 डॉलर आते कहाँ से? वे तो अमरीकियों की जेब में थे और तब आरंभ होता है नाटक का दूसरा अंक। संक्षिप्त, रक्तपात से परिपूर्ण, भयंकर और केंद्रित नर-संहार की योजना स्थगित करनी पड़ती है और उसके स्थान पर ऐसी यातनाएँ आरंभ की जाती हैं जो दिखाई तो कम देती है किंतु होती है अधिक चिरस्थायी। इस पर फ़ीजी द्वीपों के निवासी अपने शासकसहित नर-संहार के बदले आर्थिक दासता स्वीकार करते हैं। वे रुपया उधार लेते हैं, जिसके परिणामस्वरूप मानवीय दासता के आर्थिक रूप प्रस्फुटित होते हैं।

यह आर्थिक दासता अपने विभिन्न रूपों में एक अनुशासित सेना के समान तुरंत कार्य करना आरंभ कर देती है और पाँच वर्ष के भीतर सारा काम पूरा हो जाता है। फ़ीजी-निवासी न केवल अपनी भूमि और संपत्ति का उपभोग करने के अधिकार से वंचित कर दिए जाते हैं, बल्कि उनसे उनकी स्वतंत्रता भी छीन ली जाती है। वे दास बन जाते हैं।

इसके बाद तीसरा अंक आरंभ होता है। स्थिति असह्य हो जाती है और लोगों के कानों में भनक पड़ती है कि वे अपना स्वामी बदलकर दूसरे की दासता स्वीकार कर सकते हैं। ध्यान रहे कि इस समय आर्थिक दासता से मुक्ति पाने की किसी को चिंता नहीं रह जाती। फ़ीजी-निवासी दूसरा स्वामी बुलाते हैं और अपने दुखों को कम करने की प्रार्थना करते हुए उसकी अधीनता स्वीकार कर लेते हैं। अंग्रेज आते हैं और देखते हैं कि इन द्वीपों पर अधिकार करके वे यहाँ के असंख्य आलसियों का पेट भर सकते हैं। अत: वे इन द्वीपों को उनके मूल निवासियों सहित अपने राज्य में मिला लेते हैं, किंतु उन्हें वे न तो अपना दास या चल संपत्ति ही मानते हैं, न उनकी जमीन को हथियाकर अपने मित्रों में बाँटते हैं। अब इन पुराने हथकंडों की आवश्यकता नहीं रह जाती। अब तो केवल इस बात की आवश्यकता रह जाती है कि मूल निवासियों से कर वसूल किया जाए, जो एक ओर तो इतना भारी हो कि दासों को दासता में बाँधे रख सके और दूसरी ओर इतना पर्याप्त हो कि उससे अनगिनत निकम्मों का पेट पल सके।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, फ़ीजी-निवासियों को अंग्रेजो को 70,000 पौंड देना था। इसी आधारभूत शर्त पर इंग्लैंड उन्हें अमरीकी दासता से मुक्त करने के लिए उद्यत हुआ था, उन्हें दासता की शृंखला में पूरी तरह से जकड़ देने के लिए बस इसी बात की आवश्यकता भी थी। किंतु फ़ीजी-मिवासियों की अवस्था ऐसी नहीं थी कि वे 70,000 पौंड भर सकते। यह रकम उनके सामर्थ्य से बाहर थी। इसलिए कुछ समय के लिए अंग्रेजों ने अपनी माँग में संशोधन किया और अपने पावने का कुछ अंश उपज के रूप में लेना स्वीकार कर लिया, ताकि भविष्य में रुपए का

प्रचलन हो जाने पर वे अपना पूरा पावना वसूल कर सकें। इंग्लैंड ने पहली कंपनी की तरह व्यवहार नहीं किया। उस कंपनी के व्यवहार की तुलना, जंगली लोगों पर जंगली आक्रमणकारियों द्वारा की गई उस प्रथम चढ़ाई से की जा सकती है, जिसमें आक्रमणकारियों का एकमात्र उद्देश्य यह होता है कि जो कुछ मिले उसे लूटपाट कर चलते बनो। किंतु इंग्लैंड ने दासता के जाल में फँसानेवाले एक दूरदर्शी व्यक्ति के समान व्यवहार किया। उसने सोने का अंडा देनेवाली मुर्गी को एकबारगी ही नहीं मार डाला; बल्कि उसे सोने की चिड़िया समझकर खिलाया-पिलाया। अपनी अर्थसिद्धि के लिए पहले उसने लगाम ढीली कर दी, ताकि बाद में वह उसे कस के खींचकर फ़ीजी-निवासियों को उस आर्थिक दासता में जकड़ दे, जिसमें आज यूरोप और सारा सभ्य संसार जकड़ा हुआ है और जिससे मुक्ति का कोई मार्ग दृष्टिगत नहीं होता।

रुपया विनिमय का एक निर्दोष साधन है, किंतु तभी जब जनता की छाती पर तोपें नहीं तानी जातीं। जब वह तोप से उड़ा देने की धमकी देकर वसूल किया जाता है तब अनिवार्य रूप से वही होता है, जो फ़ीजी में हुआ था। ऐसा ही हर जगह हमेशा हुआ और होता है। ऐसा ही रूस के पुराने राजाओं और डवलियनों के साथ हुआ था और ऐसा ही सब देशों के शासकों और उनकी प्रजा के साथ होता है। जो लोग दूसरों का उत्पीड़न करने में समर्थ होते हैं, वे उनसे इतने अधिक रुपए की माँग करते हैं और उसे प्राप्त करने में इतने बल का प्रयोग करते हैं कि उत्पीड़ित उनकी दासता स्वीकार करने के लिए विवश हो जाता है। इसके अतिरिक्त सदा वैसा ही होता है जैसा अंग्रेजों और फ़ीजी-निवासियों के बीच हुआ था, अर्थात् उत्पीड़ित को शीघ्र-से-शीघ्र दास बनाने के उद्देश्य से उत्पीड़क सदा आवश्यकता से अधिक रुपए की माँग करता है, कम की नहीं। वह सीमा का उल्लंघन केवल उस दशा में नहीं करता जब उसके मन में नैतिक जागरूकता विद्यमान होती है। फिर भी जब उसे रुपए की आवश्यकता होती है तब वह अपनी निश्चित सीमा तक पहुँचे बिना नहीं रहता। जहाँ तक सरकार या शासन-संस्था का प्रश्न है, वह तो उस सीमा का सदा उल्लंघन करती है; क्योंकि एक तो उसमें नैतिक भावना नहीं होती और दूसरे, जैसा कि हम जानते हैं, युद्ध-संबंधी व्ययों को पूरा करने और सहयोगियों को देने के लिए उसे सदा अधिक धन की आवश्यकता रहती है। वह ऋण से सदा इतनी अधिक लदी रहती है कि उससे मुक्त होना उसके लिए असंभव होता है और इच्छा न होने पर भी उसे 18वीं सदी के एक रूसी राजनीतिज्ञ द्वारा प्रतिपादित इस नियम का अनुसरण करना पड़ता है...''किसान को मंडते ही रहना चाहिए ताकि वह फूलकर मोटा न हो जाए।'' सभी सरकारें ऋण के पंक में इतनी ही बुरी तरह फँसी रहती है

और उनके ऋण में प्रतिवर्ष बड़े भयंकर वेग से वृद्धि होती रहती है (इंग्लैंड और अमरीका के आकस्मिक घाटे इसमें शामिल नहीं है)। इसी प्रकार बजट के अंकों में भी वृद्धि होती है, अर्थात् दूसरे आक्रमणकारियों से झगड़ने और स्वयं अपनी आक्रमणकारी योजना में योग देनेवालों को धन और भूमि देने की आवश्यकता बढ़ जाती है। स्वभावतः भूमि-कर भी बढ़ जाते हैं, किंतु मजदूरी नहीं बढ़ती। इसका कारण यह नहीं है कि लगान का कानून उसे बढ़ने से रोकता है, बल्कि यह कि भूमि-कर और राज्य-कर को वसूल करने में हिंसा का प्रयोग किया जाता है और इन करों का एकमात्र प्रयोजन लोगों से उनकी बची हुई सारी संपत्ति को छीनना होता है, ताकि वे कर भरने के लिए अपना श्रम बेचने पर बाध्य हो जाएँ। श्रमजीवियों का शोषण ही इन करों का लक्ष्य होता है। किंतु यह शोषण उसी दशा में संभव है जब लोगों से उनकी सामर्थ्य से अधिक कर माँगा जाए; अर्थात् जब लोगों में इतनी क्षमता ही न हो कि अपनी पोषण-संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के अतिरिक्त कोई कर दे सकें। मजदूरी बढ़ा देने से इस दासत्व की संभावना ही समाप्त हो जाएगी। अतः बल-प्रयोग के रहते हुए मजदूरी में कर-वृद्धि नहीं हो सकती। समाज के एक समूह के लोगों द्वारा दूसरे समूह के लोगों के साथ किए गए इस सरल और बोधगम्य व्यवहार को अर्थशास्त्री 'लौह नियम' कहकर पुकारते हैं और जिस साधन द्वारा यह कार्य किया जाता है, उसे वे विनिमय का माध्यम कहते हैं।

विनिमय के इस निर्दोष माध्यम—रुपए—की आवश्यकता मनुष्य को पारस्परिक व्यवहार के लिए होती है। किंतु क्या कारण है कि जहाँ कर रुपए के रूप में जबर्दस्ती वसूल नहीं किए जाते वहाँ रुपए का आजकल-जैसा महत्त्व न कभी रहा है, न हो सकता? और क्या कारण है कि वस्तु-विनिमय का अर्थात् आवश्यकतानुसार भेड़, रोएँ, खाल, शंख आदि का मुद्रा के रूप में प्रयोग सदा होता रहा है और होता रहेगा, जैसा कि फ़ीजी, अफ्रीका आदि के निवासियों और साधारणतया उन सभी लोगों में प्रचलित हैं, जो कर नहीं देते? लोगों में किसी विशिष्ट प्रकार के द्रव्य का प्रचलन तभी होता है जब वह सब लोगों से बलात माँगा जाता है। रुपए की आवश्यकता लोग तभी अनुभव करते हैं जब उन्हें पता चल जाता है कि उत्पीड़कों के अत्याचार से बचने का यही एक साधन है और तभी रुपए के विनिमय को स्थायी क्षमता प्राप्त होती है। किंतु यह बात है कि जो वस्तु-विनिमय का सबसे सुविधाजनक माध्यम है उसी को विनिमय की शक्ति भी प्राप्त हो। यह शक्ति वस्तुतः उस वस्तु को मिलती है, जिसकी माँग सरकार करती है। यदि सरकार सोने की माँग करती है तो सोना विनिमय का माध्यम बन जाता है। इसी प्रकार यदि सरकार अँगुलियों की हड्डियों की माँग करती तो उन हड्डियों को ही विनिमय के माध्यम का स्थान मिल

जाता है। यदि ऐसी बात नहीं है तो विनिमय के माध्यम को प्रचलित करने का विशिष्ट अधिकार अब तक केवल सरकार को ही क्यों रहा है, अब भी क्यों है? जनता ने—मान लीजिए फ़ीजी-निवासियों ने—जब विनिमय का एक माध्यम बना रखा है तो फिर उसे अपनी इच्छानुसार विनिमय क्यों न करने दिया जाए और जिन्हें बल प्रयोग करने की क्षमता है वे उसकी विनिमय-प्रणाली में हस्तक्षेप क्यों करें? किंतु स्थिति यह है कि सरकार स्वयं सिक्के बनाती है और दूसरों को ऐसा करने से रोक देती है, या (जैसा कि हमारे यहाँ रूस में होता है) सरकार केवल कागज के टुकड़े छाप देती हैं, जिस पर ज़ार की मुखाकृति छपी रहती है और किसी विशिष्ट व्यक्ति के हस्ताक्षर होते हैं। सरकार इस द्रव्य की नकल करने पर लोगों को दंड देती है और उसे अपने अधीनस्थ कर्मचारियों में बाँटती है। इन्ही सिक्कों और इन्हीं कागज के टुकड़ों को वह राज्य-कर और भूमि-कर के रूप में माँगती है और इतनी अधिक संख्या में माँगती है कि इन्हें प्राप्त करने के लिए मजदूरों को अपना सारा श्रम लगा देना पड़ता है। फिर भी सरकार जनता को यही विश्वास दिलाती है कि उसे इस रुपए की आवश्यकता 'विनिमय के माध्यम' रूप में है। मानव स्वतंत्र होता है, वह एक-दूसरे पर अत्याचार नहीं करता और न एक-दूसरे को दासता की रस्सी में ही जकड़ता है। किंतु समाज में रुपए का उपयोग होता है और एक ऐसा लौह-नियम बन जाता है, जिसके फलस्वरूप लगान बढ़ जाता है और मजदूरी घटकर न्यूनतम स्तर पर पहुँच जाती है। यह तो सत्य है कि रूस के आधे या आधे से भी अधिक किसान प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष टैक्सों और भूमिकरों के कारण जमींदारों और मिल-मालिकों के यहाँ दासों की तरह मजदूरी करते हैं; किंतु स्पष्टत: इसका यह अर्थ नहीं है कि सरकार और उसके सहायक जमींदारों को मुद्रा के रूप में दिए जानेवाले प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष व भूमि-संबंधी अनेक करों के बलात् लिए जाने के कारण मजदूर रुपया देनेवालों की दासता करने के लिए बाध्य हो जाते हैं। इसका अर्थ यह है कि विनिमय के माध्यम के रूप में रुपए का अस्तित्व है और उसके साथ-साथ एक लौह कानून भी है।

दासता की प्रथा का अंत होने से पहले मैं अपने नौकर बैंका को कोई भी काम करने के लिए बाध्य कर सकता था और अस्वीकार करने पर उसे गाँव के पुलिस-थाने में भेज देता था, जहाँ उसकी इतनी मरम्मत होती थी कि उसे घुटने टेक देने पड़ते थे। किंतु साथ ही यह बात भी थी कि यदि मैं बैका से अधिक काम लेता या उसको भूमि और भोजन न देता तो मामला अधिकारियों के सामने जाता और मुझे उत्तर देना पड़ता। आज जबकि गुलामी उठ गई है, मैं बैका, सिदोर्का या पेत्रूशका से कोई भी काम करा सकता हूँ। साथ-ही-साथ, यदि उनमें से कोई काम करने से

इनकार कर देता है तो मैं उसे कर चुकाने के लिए रुपए नहीं देता और तब उस पर इतने कोड़े पड़ते हैं कि वह मेरी बात मानने के लिए बाध्य हो जाता है। इसके अतिरिक्त मैं किसी भी जर्मन, फ्रांसीसी, चीनी या हिंदुस्तानी को, जिसके पास भूमि और भोजन नहीं है, काम करने के लिए विवश कर सकता हूँ और उसे लगान पर जमीन लेने या रोटी खरीदने के लिए उस समय तक रुपए देने से इनकार कर सकता हूँ, जब तक वह मेरे सामने सिर न झुका दे। इसके अतिरिक्त यदि मैं खाना दिए बिना ही उससे उसकी सामर्थ्य से अधिक काम लूँ या काम की चक्की में पीसकर उसे मार भी डालूँ, तब भी कोई मुझसे एक शब्द भी नहीं कहेगा। इस पर यदि मैंने अर्थशास्त्र की पुस्तकें पढ़ रखी हैं तो मैं इस बात का पक्का विश्वास कर सकता हूँ कि सब लोग मुक्त हैं और रुपया दासत्व का कारण नहीं है। किसान इस बात को बहुत दिनों से जानते हैं कि रुपए की मार सिंदूर की लाठी की मार से अधिक कड़ी होती है; किंतु अर्थशास्त्री उसकी ओर ध्यान देना नहीं चाहते। यह कहना कि रुपया दासत्व का कारण नहीं है ऐसा ही है जैसा कि आज से पचास वर्ष पहले कोई यह कहता कि दासता दासत्व के कानून से उत्पन्न नहीं होती। अर्थशास्त्रियों का मत है कि यद्यपि रुपए के बल पर एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को दास बनाकर रख सकता है तथापि रुपया विनिमय का एक निर्दोष माध्यम है। क्या आज से पचास वर्ष पहले लोग यह नहीं कह सकते थे कि गुलामी के कानून के अनुसार लोग चाहे एक-दूसरे को दास भले ही बना लें; किंतु स्वयं वह कानून दासत्व का कारण न होकर पारस्परिक सेवा का एक हानि-रहित साधन है? इसी तरह क्या वे यह नहीं कह सकते थे कि कुछ लोग मोटा काम करते हैं और दूसरे लोग दासों के शारीरिक और मानसिक हितों का ध्यान रखते हैं तथा उनके काम का संगठन भी करते हैं? मैं तो समझता हूँ कि शायद लोग ऐसा ही कहते भी थे।

रुपया मूल्य का मापदंड नहीं

यदि अन्य कानूनी शास्त्रों के समान इस भ्रामक शास्त्र, अर्थशास्त्र का उद्देश्य भी बल-प्रयोग के लिए बहाने ढूँढ़ना न होता तो उसका ध्यान इस विचित्र बात की ओर जाए बिना न रहता कि धन का वितरण—अर्थात् यह स्थिति कि कुछ लोग तो भूमि और पूँजी से वंचित कर दिए जाते हैं और कुछ लोग इतने संपन्न हो जाते हैं कि वे दूसरों को अपना दास बना लेते हैं—रुपए पर निर्भर है और केवल रुपए के बल पर ही एक समूह के लोग दूसरे समूह के लोगों के श्रम का शोषण करते हैं अर्थात् उन्हें

अपना दास बनाते हैं।

मैं एक बार फिर कहता हूँ कि जिसके पास पैसा है वह सारा अनाज खरीदकर अपने अधिकार में ले सकता है और दूसरों को भूखा मारकर, यही बात आज हमारी आँखों के सामने बड़े व्यापक रूप में हो रही है। उन्हें रोटी के लिए तरसाकर पूरी तरह से अपना गुलाम बना सकता है। इसीलिए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि रुपए और दासता के पारस्परिक संबंध को जानने की चेष्टा की जाए। किंतु अर्थशास्त्र यह विश्वासपूर्वक घोषित करता है कि रुपए का लोगों की दासता से कोई संबंध नहीं है।

अर्थशास्त्र कहता है—रुपया भी अन्य पदार्थों के समान एक पदार्थ है, जिसका मूल्य-निर्धारण उसके उत्पादन-व्यय के आधार पर किया जाता है। अंतर केवल इतना ही कि मूल्य के मापदंड के रूप में और धन-संचय, विनिमय तथा भुगतान के लिए रुपया ही सबसे अधिक सुविधाजनक माना गया है। एक व्यक्ति जूते बनाता है, दूसरा अन्न पैदा करता है और तीसरा भेड़ पालता है। अपनी-अपनी पैदावार का सरलतापूर्वक विनिमय करने के लिए ये लोग रुपए का प्रचलन करते हैं। यह रुपया इस बात का द्योतक होता है कि किस उत्पादन में कितना श्रम करना पड़ा है। उसकी सहायता से लोग जूतों के तलों को भेड़ के मांस और पाँच सेर आटे से बदल सकते हैं।

इस 'काल्पनिक शास्त्र' के समर्थकों को अपने सामने इस प्रकार की अवस्था के काल्पनिक चित्र खींचने का बड़ा शौक है; किंतु वास्तव में ऐसी अवस्था संसार में कभी रही नहीं। ऐसे समाज की कल्पना उस प्राचीन और निर्दोष मानव-समाज की कल्पना के समान है, जिसके चित्र दार्शनिक अपने मस्तिष्क में खींचा करते थे, किंतु जिसका कभी कोई अस्तित्व नहीं रहा। मानव-समाज में जहाँ कहीं भी रुपए का इस रूप में प्रयोग हुआ है, वहीं सशक्त और सशस्त्र लोगों ने दुर्बल और निःशस्त्र लोगों पर बल-प्रयोग किया है और जहाँ कहीं भी बल प्रयोग किया गया कहीं मूल्य के मापदंड के रूप में प्रयुक्त होनेवाला रुपया, पशु, खाल, रोआँ, धातु अथवा कोई अन्य पदार्थ विनिमय का माध्यम न रहकर बल-प्रयोग से बचने का एक साधनमात्र रह गया। इसमें संदेह नहीं कि रुपए में वे सब निर्मल गुण हैं, जिनकी गणना अर्थशास्त्र कराता है; किंतु ये गुण उसी समाज में संभव हैं जहाँ मनुष्य मनुष्य पर बल-प्रयोग न करता हो अर्थात् जो एक आदर्श समाज हो। ऐसे समाज में रुपए का रुपए के रूप में—अर्थात् मूल्य के एक सामान्य मापदंड के रूप में कोई अस्तित्व नहीं हो सकता, ठीक उसी तरह जैसे साधारण सरकारी दंड-व्यवस्था से मुक्त समाज में न तो कभी रुपए का ऐसा अस्तित्व था, न हो ही सकता था। किंतु हमारे जाने हुए जिस किसी

समाज में भी रुपए का प्रचलन है, वहाँ उसे विनिमय का माध्यम बनने का महत्त्व केवल इसलिए प्राप्त हुआ कि उसका उपयोग बल-प्रयोग के साधन के रूप में होता था। इसलिए उसका मुख्य महत्त्व विनिमय के माध्यम के रूप में नहीं, बल्कि बल-प्रयोग या जोर-जबर्दस्ती के शस्त्र के रूप में है। जहाँ जोर-जबर्दस्ती होती है, वहाँ रुपए का उपयोग विनिमय माध्यम के रूप में नहीं हो सकता, क्योंकि वह मूल्य के मापदंड का काम नहीं कर सकता। उसके मूल्य का मापदंड न बन सकने का कारण यह है कि जब समाज में एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को उसके गाढ़े पसीने की कमाई से वंचित कर देता है तब वहाँ तुरंत इस मापदंड का उल्लंघन हो जाता है। यदि बाजार में ऐसी गायें और ऐसे घोड़े लाए जाएँ, जिनमें से कुछ को तो उनके मालिकों ने स्वयं पाला हो और कुछ अपने पोषकों से बलात् छीन लिए गए हों, तो यह स्पष्ट है कि उस बाजार में गायों और घोड़ों का मूल्य उनके पोषक-व्यय के अनुसार नहीं होगा और इस अंतर के कारण बाजार के दूसरे सभी पदार्थों के मूल्य में अंतर पड़ जाएगा। दूसरे शब्दों में यों कहिए कि उन पदार्थों का मूल्य रुपए द्वारा निश्चित नहीं होगा। इसके अतिरिक्त, यदि कोई व्यक्ति बलपूर्वक गाय, घोड़ा या घर प्राप्त कर सकता है तो उसके लिए बलपूर्वक रुपया प्राप्त करना भी संभव है और उस रुपए से वह सभी पदार्थ ले सकता है; किंतु जब स्वयं रुपया ही बलपूर्वक प्राप्त किया जाता है और उससे अन्य वस्तुएँ खरीदी जाती हैं तो उसमें विनिमय से माध्यम का कोई लक्षण कैसे शेष रह सकता है? जब कोई व्यक्ति किसी से बलपूर्वक रुपया छीनकर उसे दूसरों के परिश्रम से उत्पन्न किए गए पदार्थों के बदले में देता है तब उसका यह व्यापार विनिमय नहीं कहलायगा। वह मनुष्य तो जो-कुछ चाहता है रुपए के बल पर ले लेता है।

किंतु यदि कभी इस प्रकार का कल्पित और असंभव समाज रहा भी हो जहाँ जनता पर सरकारी दंड-व्यवस्था का अंकुश न रहते हुए भी रुपए (सोने या चाँदी) से मूल्य के मापदंड और विनिमय के माध्यम का काम लिया जाता रहा हो, तो भी वहाँ बल का प्रयोग होते ही रुपए का उक्त गुण नष्ट हो गया होगा। थोड़ी देर के लिए मान लीजिए कि ऐसे समाज में कोई अत्याचारी विजेता के रूप में प्रवेश करता है। वह आततायी जनता की गायें, उनके घोड़े, कपड़े और घर-बार सब छीन लेता है; किंतु चूँकि इन सबका प्रबंध करने में उसको असुविधा होती है, इसलिए स्वभावतः उसके मन में जनता से समस्त रुपया-पैसा छीन लेने का विचार उठता है, जो सब प्रकार के मूल्यों का मापदंड समझा जाता है और जिससे विनिमय करके सब वस्तुएँ प्राप्त की जा सकती हैं। किंतु उस समाज में रुपए का मूल्य के मापदंड में प्रयोग होना तत्काल बंद हो जाता है, क्योंकि सब वस्तुओं के मूल्य अत्याचारी की

इच्छा पर आश्रित हो जाते हैं। जिस वस्तु की आततायी को सबसे अधिक आवश्यकता होगी और जिसके लिए वह सबसे अधिक रुपया दे सकेगा, वही वस्तु सबसे अधिक बहुमूल्य हो जाएगी। इसी प्रकार जिस वस्तु की उसे कम-से-कम आवश्यकता होगी और जिसके लिए वह कम-से-कम पैसे देना चाहेगा वह वस्तु सबसे सस्ती हो जाएगी। अत: जिस समाज में बल-प्रयोग का बोलबाला होता है उस समाज में तत्काल रुपए में वे गुण प्रवेश कर जाते हैं, जिनकी सहायता से आततायी जनता पर हिंसा का प्रयोग करता है। पीड़ितों के लिए रुपया विनिमय का माध्यम अवश्य बना रहता है, किंतु उसी सीमा तक जिस सीमा तक उसका इसमें प्रयोग किया जाना आततायी को सुविधाजनक होता है।

ज़रा ऐसे समाज की स्थिति पर विचार कीजिए। दास लोग अपने स्वामी को कपड़ा, मुर्गा-मुर्गी, और भेड़-बकरी लाकर देते हैं तथा उनके लिए दिनभर चक्की पीसते हैं। स्वामी इन पदार्थों के बदले रुपया लेने को तत्पर हो जाता है और इनमें से प्रत्येक का मूल्य निर्धारित कर देता है। जो लोग अन्न, वस्त्र और पशु नहीं दे सकते या चाकरी नहीं बजा सकते, उन्हें इस बात की छूट मिल जाती है कि वे इनके बदले एक निश्चित रकम दे दें। स्पष्ट है कि इस स्वामी के दास-समुदाय में विविध वस्तुओं का मूल्य स्वामी की इच्छा पर ही निर्भर होगा। जो वस्तुएँ उसे मिलती हैं, उनका वह उपभोग करता है। किसी वस्तु की उसे अधिक आवश्यकता होती है और किसी की कम और उसी के अनुसार वह उन वस्तुओं का अधिक या कम मूल्य निर्धारित करता है। स्पष्टत: उसकी ही स्वेच्छा और आवश्यकताओं के अनुसार इन पदार्थों का मूल्य उन व्यक्तियों के मध्य भी निर्धारित होता है जो उसे रुपए अदा किया करते हैं। यदि उसे अन्न की आवश्यकता होती है तो निश्चित परिमाण में अन्न न मिलने पर वह उसके लिए अधिक रुपए की माँग करता है और निश्चित परिमाण में वस्त्र, पशु तथा श्रम न मिलने पर उनकी कीमत सस्ती रख देता है। परिणाम यह होता है कि जिनके पास अन्न नहीं होता वे अपने स्वामी की संतुष्टि के लिए अन्न खरीदने के अभिप्राय से अपनी पैदावार, श्रम, कपड़ा या पशु दूसरों के हाथ बेच देते हैं। यदि जमींदार इन सब पदार्थों के बदले रुपया लेना स्वीकार भी कर ले तब भी इनका मूल्य उत्पादन-श्रम के आधार पर निश्चित नहीं होगा, बल्कि वह दो बातों पर निर्भर होगा—एक तो यह कि जमींदार कितने रुपए की माँग करता है और दूसरे यह कि किसानों द्वारा उत्पन्न किए गए किन पदार्थों की उसे सबसे अधिक आवश्यकता है और किन वस्तुओं के लिए वह अधिक मूल्य देगा और किनके लिए कम। जमींदार किसानों से जो अपना रुपया वसूल करता है उसका—जहाँ तक किसानों का प्रश्न है—चीजों की कीमत पर केवल दो परिस्थितियों में असर नहीं

पड़ता—एक तो तब जबकि ये किसान या ये दास संसार के अन्य व्यक्तियों से बिल्कुल पृथक् होकर रहें और उनका आपस में और अपने स्वामी के अतिरिक्त किसी दूसरे से संपर्क न रहे; दूसरे तब जब जमींदार उस रुपए से अपने गाँव में नहीं, बल्कि कहीं बाहर चीजें खरीदे। केवल इन्हीं अवस्थाओं में मूल्य नाममात्र के लिए परिवर्तित होने पर भी अपेक्षाकृत ठीक रह सकता है और तभी मूल्य-निर्धारण का मापदंड और विनिमय का माध्यम बनने का महत्त्व प्राप्त हो सकता है। किंतु यदि इन किसानों का पास-पड़ौस के लोगों से आर्थिक संबंध हो तो, जहाँ तक इन पड़ौसियों का संबंध है, स्वामी की अधिक या कम माँग के अनुसार मूल्य बढ़ जाएँगे। यदि उनकी अपेक्षा उनके पड़ोसियो को अपने जमींदार को कम रुपया देना पड़ता है तो पड़ोसियों की तुलना में उनकी चीजें सस्ती बिकेंगी और इसी तरह यदि दूसरे गाँववालों को अधिक रुपए देने पड़ते हैं तो उनकी पैदावार महँगी बिकेगी।

दूसरी अवस्था, जब जमींदार की रुपए की माँग का चीजों की कीमत पर किसानों के लिए कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा, वह है जब जमींदार अपने एकत्र किए हुए रुपए से अपने ही किसानों की चीजें न खरीदें। किंतु यदि वह इस रुपए का प्रयोग अपने ही किसानों द्वारा उत्पादित पदार्थों के खरीदने में करेगा तो यह स्पष्ट है कि उन पदार्थों का मूल्य निरंतर परिवर्तित होता रहेगा और इस बात पर निर्भर होगा कि जमींदार किस वस्तु विशेष को खरीदता है। मान लीजिए कि कोई स्वामी अपने दासों को स्वेच्छानुसार काम या व्यापार करने की अनुमति देने के लिए उनसे कसकर रुपए माँगता है और कोई पड़ोसी जमींदार इसी अनुमति के लिए कम रुपए माँगता है। स्पष्ट है कि ऐसी दशा में पहले जमींदार की जमींदारी में दूसरे जमींदार की जमींदारी की अपेक्षा सब वस्तुएँ सस्ती होंगी और इन दोनों जमींदारियों में चीजों की कीमत प्रत्यक्ष रूप से इस बात पर निर्भर होगी कि दासों द्वारा भरी जानेवाली रकम घटाई जाती है या बढ़ाई।

मूल्यों पर बल-प्रयोग के जो अनेक प्रभाव पड़ते हैं उनमें से एक यह है। दूसरा प्रभाव, जो पहले से ही उद्‌भूत होता है, विभिन्न वस्तुओं के मूल्यों के पारस्परिक संबंध पर पड़ता है। मान लीजिए कि एक जमींदार को घोड़ों का शौक है और उनके लिए वह अच्छे दाम देता है; दूसरे को तौलियों का शौक है और वह उनके लिए अच्छे पैसे देता है। स्पष्टत: इन दोनों जमींदारों की रियासतों में क्रमश: घोड़ों और तौलियों की कीमतें ऊँची होंगी और इनकी कीमतों तथा गाय और अन्न की कीमतों में बड़ा अंतर होगा। यदि कल तौलियों के शौकीन जमींदार की मृत्यु हो जाए और उसके उत्तराधिकारी को मुर्गे-मुर्गियों का चाव हो तो स्पष्ट है कि तौलियों का मूल्य गिर जाएगा और मुर्गे-मुर्गियों का बढ़ जाएगा। जिस समाज में एक व्यक्ति दूसरे

व्यक्ति को बलपूर्वक दबाव में रख सकता है, उस समाज में रुपए की मूल्य-निर्धारण-शक्ति तत्काल आततायी की स्वेच्छा पर आश्रित हो जाती है और रुपया गाढ़े पसीने से उत्पन्न किए हुए पदार्थों के विनिमय का माध्यम न रहकर दूसरे के श्रमशोषण का सबसे सुविधाजनक साधन बन जाता है। अत्याचारी को रुपए की आवश्यकता विनिमय के साधन के रूप में नहीं होती। उसको इसकी आवश्यकता मूल्य के मापदंड निर्धारित करने के लिए भी नहीं होती, क्योंकि मूल्य तो वह स्वयं निर्धारित करता है। उसे रुपए की आवश्यकता केवल इसलिए होती है कि वह अत्याचार आसानी से कर सके; कारण रुपया संचित किया जा सकता है और वह अधिक-से-अधिक व्यक्तियों को दासता के बंधन में बाँधकर रखने का सबसे सरल साधन है। जिस समय जितने घोड़ों, गायों और भेड़ों की आवश्यकता पड़े उस समय उतने ही घोड़े, गाय और भेड़े मिल जाएँ, इस उद्देश्य को दृष्टि में रखकर यदि सारे जानवर एक साथ ही छीनकर रख लिए जाएँ तो ऐसा करना सुविधाजनक नहीं हो सकता, क्योंकि आखिर इन सबका पेट भी तो भरना पड़ता है। यही बात नाज की भी है, क्योंकि उसके सड़-गल जाने की संभावना रहती है। यही बात मजदूरों तथा गुलामों के विषय में भी कही जा सकती है। आज एक हजार मजदूरों की आवश्यकता पड़ सकती है, कल एक की भी नहीं। जिनके पास रुपया नहीं है, उनसे रुपया माँगने से ये सारी असुविधाएँ दूर हो सकती हैं और आवश्यकता पड़ सकती है, कल एक की भी नहीं। जिनके पास रुपया नहीं है, उनसे रुपया माँगने से ये सारी असुविधाएँ दूर हो सकती हैं और आवश्यकतानुसार सदा प्रत्येक वस्तु मिल सकती है। यही मुख्य उद्देश्य है जिसके लिए अत्याचारी को रुपए की आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त उसे रुपए की आवश्यकता इसलिए भी होती है कि वह चाहता है कि उसकी श्रम-शोषण शक्ति थोड़े-से-लोगों तक ही सीमित न रहे, बल्कि रुपए की आवश्यकता अनुभव करनेवाले सब व्यक्तियों तक व्याप्त हो जाए। यदि रुपया न हो तो किसी भी जमींदार में अपने किसान-दासों के अतिरिक्त और किसी के शोषण की सामर्थ्य नहीं आ सकती; किंतु जब दो जमींदार एक साथ मिलकर अपने किसान-दासों से रुपए माँगने का निश्चय करते हैं तो दासों के पास रुपया न होते हुए भी वे दोनों जमींदारियों के समस्त साधनों का समान रूप से शोषण करने में समर्थ बन जाते हैं।

इस प्रकार रुपए की सहायता से अत्याचारी को दूसरों के श्रम से लाभ उठाने में अधिक सुविधा मिलती है और वह रुपया केवल इसी कार्य के लिए चाहता है। जिस व्यक्ति के साथ बल-प्रयोग किया जाता है—अर्थात् जिस व्यक्ति के श्रम का प्रतिफल उससे छीन लिया जाता है, उसे रुपए की आवश्यकता न तो विनिमय-

माध्यम के रूप में पड़ती है, न मूल्य के मापदंड के रूप में; क्योंकि पहली दशा में तो वह रुपए के बिना ही वस्तु-विनिमय कर लेता है, जैसा कि सभी सरकारविहीन देश करते हैं और दूसरी दशा में मूल्य का निर्धारण उससे पूछे बिना ही कर लिया जाता है। इसी प्रकार उसे बचाने या भुगतान करने के लिए भी रुपए की आवश्यकता नहीं पड़ती; क्योंकि जहाँ तक बचत का प्रश्न है जिस मनुष्य से उसके श्रम का प्रतिफल ले लिया जाता है वह बचा ही क्या सकता है? और जहाँ तक भुगतान की बात है, पीड़ित व्यक्ति को लेने की अपेक्षा देना ही अधिक रहता है; और यदि उसको कुछ मिलता भी है तो रुपए के रूप में नहीं बल्कि पदार्थ के रूप में। यह बात उस व्यक्ति के साथ लागू होती है जिसे अपने काम के बदले सीधे मालिक की दुकान से सामान मिल जाता है। प्राय: यही दशा उस व्यक्ति की होती है, जिसकी सारी कमाई जीवन-संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बाहरी दुकानों से सामान खरीदने में चट हो जाती है। उससे रुपया माँगा जाता है और साथ-ही-साथ उसे यह धमकी दी जाती है कि यदि वह रुपए नहीं देगा तो उसको भूमि और अन्न कुछ नहीं मिलेगा या उसकी गाय या उसका मकान उससे ले लिया जाएगा और उसको या तो मेहनत-मजदूरी करनी पड़ेगी या कारागार में सड़ना होगा। इस स्थिति से वह तभी मुक्त हो सकता है जब अपने परिश्रम से पैदा की हुई चीजों और स्वयं अपने परिश्रम को ऐसे मूल्य पर बेच दे जो न्याययुक्त विनिमय द्वारा नहीं, बल्कि पैसा माँगनेवाली सत्ता की शक्ति द्वारा निश्चित किया गया हो।

अत: ऐसी स्थिति में जबकि मूल्य पर कर और लगान का प्रभाव हर समय और हर जगह—जमींदारियों में छोटे पैमाने पर और राज्यों में बड़े पैमाने पर—पड़ता है; जबकि मूल्यों के चढ़ाव-उतार का कारण उतना ही स्पष्ट होता है जितना कि पर्दे के पीछे देखनेवाले को पुतलियों के चलने-फिरने का कारण; यह कहना कि रुपया विनिमय का माध्यम और मूल्य का मापदंड है, यदि और कुछ नहीं तो कम-से-कम आश्चर्यजनक तो है ही।

दासता के तीन रूप

दासता चाहे कैसी भी हो, उसका एकमात्र आधार यही है कि एक मनुष्य में दूसरे मनुष्य को जीवन के सुखों से वंचित करने की क्षमता होती है और अपने इस भयावह अधिकार को अक्षुण्ण रखकर वह उसे अपने इच्छानुसार काम करने के लिए बाध्य कर सकता है।

यह बात निश्चयपूर्वक कही जा सकती है कि यदि कहीं दासवृत्ति है, अर्थात् यदि कहीं कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति की इच्छानुसार और स्वयं अपनी इच्छा के प्रतिकूल अपने लिए अवांछनीय कार्य करता है तो इसका एकमात्र कारण यही है कि उसके साथ हिंसात्मक व्यवहार किया जा सकता है और उस अभागे के जीवन को संकट में डालने की धमकी दी जा सकती है। यदि कोई व्यक्ति अपने सारे श्रम का लाभ दूसरों को दे देता है, यदि उसे स्वयं अपर्याप्त पोषण प्राप्त होता है, यदि वह अपने छोटे-छोटे बच्चों से कठोर परिश्रम करवाता है और यदि खेती छोड़कर वह अपना सारा जीवन उन पदार्थों के लिए घृणित परिश्रम करने में लगा देता है, जिनकी उसको स्वयं आवश्यकता नहीं है तो यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वह इन कामों को केवल इसलिए करता है कि इन्हें न करने पर उसे अपने प्राणों के लाले पड़ जाने का भय रहता है। ध्यान रहे कि ऐसी घटनाएँ इस संसार में हमारी आँखों के सामने घटती रहती हैं और फिर भी हम इस संसार को सभ्य कहते हैं, क्योंकि हम इसमें रहते हैं। हमारे इस सभ्य संसार के अधिकांश निवासी ऐसे हैं जो भीषण अभावों से पीड़ित होकर घृणास्पद और अनावश्यक कामों में संलग्न रहते हैं और मार डाले जाने की धमकी से आतंकित होकर दासता का जीवन बिताते हैं।

अब प्रश्न यह है कि इस दासता का रूप क्या है और किस वस्तु से लोगों के जीवन संकट में पड़ते हैं।

प्राचीन काल में दास बनाने और जान से मार डालने की धमकी देने की रीति बिल्कुल प्रत्यक्ष थी। लोगों को दास बनाने के लिए एक जंगली युक्ति काम में लाई जाती थी; उन्हें तलवार से उड़ा देने की सीधी धमकी दी जाती थी। सशस्त्र मनुष्य निःशस्त्र मनुष्य से कहता था, "तूने देखा है कि मैंने अभी-अभी तेरे भाई को मार डाला है इसी तरह मैं तुझे भी मार सकता हूँ। किंतु मैं ऐसा करना नहीं चाहता। मैं तुझे छोड़ देता हूँ, क्योंकि यदि मारे जाने की अपेक्षा तू मेरी नौकरी करने लगे तो यह बात तेरे और मेरे दोनों के लिए अधिक लाभदायक होगी। इसलिए मैं जो कुछ कहूँ उसे कर, नहीं तो मैं तेरे प्राण ले लूँगा।" भयभीत होकर निःशस्त्र ने सशस्त्र के सामने घुटने टेक दिए और वह उसके सारे आदेश बजा लाने लगा। इस तरह निःशस्त्र व्यक्ति काम करता था और सशस्त्र धमकी देता था। यही वह रूप था जिसमें व्यक्तिगत दासता सर्वप्रथम प्रकट हुई और जिसमें आज भी वह आदिम जातियों में दिखाई देती है। आरंभ में दासता ऐसी ही थी, किंतु जैसे-जैसे जीवन जटिल बनता गया, वैसे-वैसे दासता का रूप भी बदल गया। जीवन की जटिलता के बढ़ने के साथ-ही-साथ दासता का रूप आततायी के लिए अधिक असुविधाजनक होता गया। दुर्बलों के श्रम का शोषण करने के लिए दुर्बलों को भोजन-वस्त्र देने की

आवश्यकता की अनुभूति हुई अर्थात् दुर्बलों को कार्य करने योग्य बनाने की आवश्यकता प्रतीत हुई। इसके कारण दासों की संख्या स्वभावतः परिमित हो गई। इसके अतिरिक्त, आततायियों को सदा अपने दासों की गर्दन पर सवार रहने और उन्हें मृत्यु की धमकी देते रहने के लिए भी विवश होना पड़ा। अतः दास बनाने की एक दूसरी रीति निकालनी पड़ी।

जैसा कि बाइबिल में लिखा है, लोगों को दास बनाने की यह नई, अधिक सुविधाजनक और व्यापक रीति मिस्र देश में यूसुफ ने आज से पाँच हजार वर्ष पहले निकाली थी। यह वैसी ही रीति है जैसी आजकल पशुशालाओं में हठी घोड़ों और जंगली जानवरों को वश में करने के लिए काम में लाई जाती है; अर्थात् भूखों मारने की रीति।

बाइबिल के उत्पत्ति-प्रकरण में इस नई विधि का इस प्रकार वर्णन किया गया है—

अध्याय—41, पद 48, "और उसने (यूसुफ ने) मिस्र देश के सातों (अच्छी फसलवाले) वर्षों का सारा नाज इकट्ठा कर लिया और उसको नगरों में संचित कर दिया। प्रत्येक नगर के निकटवर्ती खेतों का नाज भी उसने वहीं जमा कर लिया।"

पद 49, "यूसुफ ने नाज समुद्र के रेत के समान इकट्ठा किया। वह इतना अधिक था कि उसने उसकी नापजोख करनी छोड़ दी, वह अपरिमित था।"

पद 53, "और मिस्र देश के सुकाल के सातों वर्ष समाप्त हो गए।"

पद 54, "और, जैसी कि यूसुफ ने भविष्यवाणी की थी, दुष्काल के सात वर्ष आने लगे। सब देशों में अकाल था; किंतु मिस्र की भूमि में खाने को मिलता था।"

पद 55, "और जब सारा मिस्र देश भी दुर्भिक्ष से ग्रस्त हो गया तो लोगों ने फ़राऊन के पास जाकर रोटी के लिए चिल्लाना शुरू किया और फ़राऊन ने मिस्रियों से कहा, "यूसुफ के पास जाओ और वह जो कुछ तुमसे कहे, करो।"

पद 56, "और अकाल सारी दुनिया में फैल गया। यूसुफ ने अपने सारे कोठार खोल दिए और उनका नाज मिस्रियों को बेच दिया; और मिस्र में अकाल खूब जोरों पर था।"

पद 57, "और सभी देशों के लोग यूसुफ के पास नाज खरीदने के लिए आने लगे, क्योंकि सारी दुनिया में अकाल जोरों पर था।"

तलवार की धमकी देकर लोगों को दास बनाने की असभ्यकालीन विधि का प्रयोग करके यूसुफ ने सुकाल में ही अन्न संचित कर लिया। उसे पता था कि सुकाल के पश्चात दुष्काल आयगा, जैसा कि बहुधा होता है और जिसे फ़राऊन के स्वप्न के बिना ही प्रत्येक व्यक्ति जानता है। इस युक्ति से, अर्थात् लोगों को भूखा मारकर

यूसुफ ने न केवल मिस्त्रियों को बल्कि पास-पड़ोस के देशों के निवासियों को भी फ़राऊन की अपेक्षा अधिक सुदृढ़ और सुविधाजनक ढंग से दास बना लिया और जब लोग भूखों मरने लगे तो उसने ऐसी व्यवस्था की जिससे लोग स्थायी रूप से उसके अधिकार में आ जाएँ। यह व्यवस्था थी लोगों को भूखा रखने की, जिसका वर्णन 47वें अध्याय में है।

पद 13, ''और सारे देश में कहीं भी रोटी का पता नहीं था, क्योंकि अकाल बहुत भयंकर था। मिस्त्र और कनान दोनों देशों में मुर्दनी छा गई।''

पद 14, ''और लोगों ने नाज खरीदकर जो रुपया दिया था वह मिस्त्र और कनान में जितना भी मिल सका यूसुफ ने सब इकट्ठा कर लिया और उसको फ़राऊन के घर में लाकर रख दिया।''

पद 15, ''और जब मिस्त्र और कनान में सब रुपया चुक लिया तो मिस्त्र के सारे निवासियों ने यूसुफ के पास आकर कहा, ''हमें खाने को दीजिए, हमारे पास रुपया नहीं है। क्या हम आपके होते हुए भूखों मरेंगे?''

पद 16, और यूसुफ ने उत्तर दिया, ''तुम अपने पशु लाओ। यदि तुम्हारे पास रुपया नहीं रहा तो मैं तुम्हारे पशु लेकर तुम्हें अनाज दूँगा।''

पद 17, ''और तब लोग यूसुफ के पास अपने पशु ले गए और यूसुफ ने उनके घोड़े, गाय, बैल, भेड़, बकरियाँ और गधे लेकर उनके बदले लोगों को अनाज दिया। और उस साल उसने उनके सारे पशु ले लिए और उनके बदले लोगों को रोटी दी।''

पद 18, ''और जब वह साल खतम हो गया तो अगले वर्ष वे फिर उसके पास आए और बोले—हम आपसे कुछ छिपाएँगे नहीं। हमारा सारा रुपया खर्च हो चुका है और हमारे पशु भी आपके पास हैं, आप जानते हैं कि अब हमारे पास शरीर और भूमि के सिवाय और कुछ नहीं बचा है।''

पद 19, ''तो क्या आपके अक्षत रहते हम और हमारी भूमि नष्ट हो जाएँ? हमको और हमारी जमीन दोनों को अन्न के बदले खरीद लीजिए, हम अपनी जमीन के साथ फ़राऊन के गुलाम होकर रहेंगे। हमको बीज दीजिए जिससे हम जीवित रहें, मरें नहीं और हमारी भूमि उजाड़ न हो जाए।''

पद 20, ''तब यूसुफ ने फ़राऊन के लिए मिस्त्र की सारी जमीन खरीद ली। प्रत्येक मिस्त्रवासी ने अपना खेत बेच डाला, क्योंकि अकाल से वह बुरी तरह पीड़ित था; और जमीन फ़राऊन की हो गई।''

पद 21, ''और जहाँ तक लोगों का संबंध था, उसने उन्हें मिस्त्र के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक नगरों में ला बसाया।''

पद 22, ''उसने केवल पुरोहितों की भूमि नहीं खरीदी, क्योंकि वह फ़राऊन की ओर से दक्षिणा के रूप में दी गई थी और उसी से वे अपना पेट पालते थे। इसलिए उन्होंने अपनी जमीन नहीं बेची।''

पद 23, ''तब यूसुफ ने लोगों से कहा, देखो! आज मैंने तुम्हें और तुम्हारी जमीन को फ़राऊन के लिए खरीद लिया है। लो, यह तुम्हारे लिए बीज है, इससे जमीन को जोतो-बोओ।''

पद 24, ''और यह नियम होगा कि फसल कटने पर तुम लोग उसका पाँचवाँ हिस्सा फ़राऊन को दोगे और शेष चार भाग तुम्हारे रहेंगे। इनमें से तुम बीज के लिए रख छोड़ना और अपने कुटुंब और बाल-बच्चों का भर-पोषण करना।''

पद 25, और उन्होंने कहा, ''आपने हमारी जान बचाई है। आप हम पर कृपा-दृष्टि रखिए और हम फ़राऊन के नौकर होकर रहेंगे।''

पद 26, ''और यूसुफ ने मिस्त्र की भूमि के संबंध में यह नियम बना दिया कि पैदावार का पाँचवाँ भाग फ़राऊन को मिला करेगा। यह नियम वहाँ आज भी प्रचलित है। केवल पुजारियों की भूमि पर फ़राऊन का अधिकार नहीं हुआ।''

इससे पहले फ़राऊन को लोगों के श्रम का शोषण करने के लिए डर और धमकी से काम लेना पड़ता था, किंतु अब जबकि अन्न-भंडार और जमीन सब उसके अधिकार में आ गए तब उसे केवल उनकी बलपूर्वक पहरेदारी करने की आवश्यकता रह गई। लोगों की भूख ने उसे इस बात में सहायता दी कि वह उन्हें अपने लिए काम करने को बाध्य कर सके।

सारी जमीन फ़राऊन की हो गई और लोगों से लिए जानेवाले अन्न का पंचमांश भी उसी का हो गया। इस प्रकार लोगों से काम कराने के लिए अब उसे अलग-अलग व्यक्ति को अलग-अलग तलवार दिखाने की आवश्यकता नहीं रह गई। अब तो केवल इस बात की आवश्यकता थी कि भंडारों की रक्षा के लिए बल का प्रयोग किया जाए, अर्थात् सशस्त्र पहरेदार रख दिए जाएँ। फलतः लोग तलवार की नोंक पर नहीं, बल्कि भूख के कारण दास बन गए।

अब यह फ़राऊन की सामर्थ्य में था कि किसी भी वर्ष अकाल पड़ने पर वह चाहे तो सब लोगों को भूखा मार दे और यदि दुर्भाग्यवश किसी के पास सुकाल में भी अन्न न रहे तो उसे भी भूख का शिकार बनने दे।

इस प्रकार दास बनाने की इस दूसरी विधि का आविर्भाव तलवार के बल पर नहीं हुआ, अर्थात् किसी सशक्त व्यक्ति ने दुर्बल व्यक्ति को मारने की धमकी देकर अपने लिए काम करने के लिए बाध्य नहीं किया, बल्कि आततायी ने जनता का अन्न हड़पकर उस पर तलवार का पहरा लगा दिया और इस प्रकार पेट की खातिर दुर्बलों को विवश होकर मजदूरी स्वीकार करनी पड़ी।

यूसुफ ने भूखों से कहा था, "अन्न मेरे अधिकर में है, इसलिए मैं तुम्हें भूखों मार सकता हूँ; किंतु मैं तुम्हें इस शर्त पर छोड़े देता हूँ कि जो अनाज मैं तुम्हें दूँगा उसके बदले तुम मेरा हुक्म बजा लाओगे।"

दासत्व की पहली विधि के लिए सत्ताधारी मनुष्य को केवल ऐसे सिपाहियों की आवश्यकता होती है जो घोड़ों पर चढ़कर सर्वदा लोगों में चक्कर लगाते रहें और मौत की धमकी देकर स्वामी की आज्ञा का पालन कराते रहें। इस विधि में आततायी को केवल अपने सैनिकों को ही लूट का हिस्सा देना पड़ता है। किंतु दूसरी पद्धति में आततायी को सिपाहियों के अतिरिक्त ऐसे सहायकों की आवश्यकता होती है, जो भूखों से अन्न-भंडारों और भूमि की रक्षा कर सकें। दूसरे शब्दों में यों कहिए कि उसे छोटे और बड़े यूसुफों, अन्न-वितरकों और प्रबंधकों की आवश्यकता होती है। इसलिए सत्ताधारी को अपनी हथियाई हुई संपदा को इन सब लोगों में बाँटना पड़ता है और न केवल यूसुफ को सुंदर वस्त्र, सोने की अँगूठी, नौकर-चाकर और अन्न देना पड़ता है, बल्कि उसके भाइयों और संबंधियों के लिए भी चाँदी देनी पड़ती है। इसके अतिरिक्त इस दूसरी पद्धति में यह स्वाभाविक है कि डर-धमकी के प्रयोग से प्राप्त किए जानेवाले लाभ में न केवल प्रबंधकों और उनके सगे-संबंधियों को बल्कि उन सब लोगों को भी, जिनके पास अन्न के भंडार हैं, हिस्सा मिले। जिस प्रकार पहली पद्धति में, जो केवल बल-प्रयोग पर अवलंबित थी, जनता पर किए जानेवाले बल-प्रयोग में शस्त्रधारी भागीदार होता था; उसी प्रकार भूख के आधार पर संस्थापित दूसरी पद्धति में उन सब लोगों को, जिनके पास खाने-पीने की सामग्री होती है, डर-धमकी का लाभांश मिलता है और वे उन लोगों पर शासन करते हैं, जिनके पास अन्न नहीं होता।

पहली पद्धति की अपेक्षा दूसरी पद्धति से आततायी को दो लाभ होते हैं—पहला और प्रधानत: यह कि मजदूरों से इच्छानुसार काम कराने के लिए उसे डर-धमकी का प्रयोग करने को बाध्य नहीं होना पड़ता; क्योंकि मजदूर स्वयं उसके पास आकर अपने को उसके हाथों बेच जाते हैं। दूसरा यह कि उसके अत्याचार-पाश से बहुत थोड़े लोग बच पाते हैं। इस पद्धति से उसे केवल एक हानि है; वह यह कि उसे अपना लाभ अधिक व्यक्तियों में बाँटना पड़ता है। जहाँ तक पीड़ितों का प्रश्न है, उनके लिए इस पद्धति में अच्छाई यह होती है कि उन्हें बल-प्रयोग के आतंक में नहीं रहना पड़ता। वे स्वतंत्र हो जाते हैं और दिन फिरने पर पीड़ितों की श्रेणी से निकलकर पीड़िकों की श्रेणी में जाने की आशा कर सकते हैं। इस पद्धति से उन्हें हानि यह होती है कि वे किसी भी अवस्था में डर-धमकी से बच नहीं पाते—चाहे उसकी मात्रा कम हो या अधिक।

दास बनाने की यह नई विधि प्राय: पहली विधि के साथ-ही-साथ प्रयोग में आती है और सत्ताधारी व्यक्ति आवश्यकतानुसार एक को संकुचित और दूसरी को व्यापक बनाता जाता है; किंतु इस पद्धति से भी सत्ताधारी को पूरा-पूरा संतोष नहीं हो पाता, क्योंकि वह तो चाहता है कि यथासंभव अधिक-से-अधिक व्यक्तियों के श्रम का अधिक-से-अधिक प्रतिफल हड़पा जाए और व्यक्तियों को दास बनाया जाए। इसके अतिरिक्त यह विधि जीवन की बढ़ती हुई जटिलताओं का साथ भी नहीं दे पाती। अत: दास बनाने की एक और नई विधि निकाली जाती है। यह नई और तीसरी विधि कर लगाने की है। दूसरी विधि के समान यह विधि भी लोगों को क्षुधित रखकर ही चलाई जाती है; किंतु इसमें एक नई बात यह जुड़ जाती है कि लोगों को रोटी से वंचित करने के साथ-ही-साथ जीवन संबंधी अन्य आवश्यकताओं से भी वंचित कर दिया जाता है। जो रुपया स्वयं आततायी के पास होता है, उसे ही वह अपने दासों से इतनी अधिक संख्या में माँगता है कि उसका प्रबंध करने के लिए उन दासों को न केवल यूसुफ़ द्वारा निश्चित पंचमांश से अधिक अन्न बेचना पड़ता है; बल्कि मांस, खाल, ऊन, कपड़ा, ईंधन और घर-जैसी नितांत आवश्यक वस्तुएँ तक बेच डालनी पड़ती हैं। इस प्रकार आततायी न केवल भूख बल्कि प्यास, शीत, अभाव, आदि अन्य विपदाओं का भी त्रास दिखाकर दासों को सदा अपने अधिकार में रखता है।

इस रीति से दासत्व के तीसरे रूप—पैसे की दासता—का प्रादुर्भाव होता है। इसमें सबल मनुष्य निर्बल से कहता है, "मैं तुममें से प्रत्येक से जो चाहूँ करा सकता हूँ। चाहूँ तो मैं तुम्हें अपनी बंदूक की गोली का निशाना बना दूँ और चाहूँ तो तुमसे रोटी देनेवाली भूमि छीनकर तुम्हें नष्ट कर दूँ। जो रुपए तुम मुझे लाकर दोगे उससे मैं तुम्हारा उदर भरण करनेवाला सारा नाज खरीद सकता हूँ और उस नाज को दूसरों के हाथों बेचकर तुम सबको किसी समय भी भूखों मार सकता हूँ; और यही नहीं, मैं तुम्हारे पशु, तुम्हारे मकान, तुम्हारे वस्त्र—तुम्हारा सब कुछ हड़प सकता हूँ। किंतु ऐसा करना मेरे लिए सुविधाजनक नहीं है और मुझे अच्छा भी नहीं लगता; यही कारण है कि मैं तुम सबको इस बात की स्वतंत्रता देता हूँ कि तुम जिस प्रकार चाहो अपने काम और पैदावार की व्यवस्था करो—मुझे तो केवल मेरी माँग के अनुसार गिने-गिनाए रुपए दे दो, जो मैं तुमसे या तो प्रति व्यक्ति के हिसाब से या तुम्हारी भूमि, तुम्हारे खाद्य पदार्थों, वस्त्रों या घरों के हिसाब से लूँगा। बस तुम मुझे ये रुपए लाकर दे दो और फिर जैसे चाहो आपस में रहो। पर इस बात को समझ लो कि रक्षा न तो मैं विधवाओं और अनाथों की करूँगा, न बीमारों और बूढ़ों की और न ऐसे लोगों की जिनका घर-बार आग में जल गया है। मैं तो केवल इस बात की व्यवस्था करूँगा कि रुपए का लेन-देन नियमित रूप से चलता रहे। जो लोग मुझे निश्चित

समय पर अपेक्षित राशि देते रहेंगे, उन्हीं के व्यवहार को मैं न्यायसंगत ठहराऊँगा और उन्हीं की मैं रक्षा भी करूँगा। किंतु मुझे इससे कोई संबंध नहीं कि उस रुपए को लोग अर्जित किस प्रकार करते हैं ?

अपनी माँग की पूर्ति के रसीद-स्वरूप सत्ताधारी इन्हीं रुपयों को चलाता है।

दासता की दूसरी विधि वह है, जिसके अनुसार फ़राऊन ने फसल का पंचमांश इकट्ठा कर अपने कोठों में भर लिया था और तलवार के बल पर भी लोगों को व्यक्तिगत दासत्व में जकड़ लिया था और इसके अतिरिक्त इसी विधि की सहायता से उसके लिए यह भी संभव हो सकता था कि अपने सहयोगियों से मिलकर वह अकाल के समय समस्त श्रमजीवियों पर और विपत्ति पड़ने पर उनमें से कुछ पर शासन करे।

तीसरी विधि वह है, जिसके अनुसार फ़राऊन ने जनता से फसल के पंचमांश के मूल्य से अधिक रुपया माँगा और अपने सहायकों की सहायता से मजदूरों पर केवल अकाल और आकस्मिक घटना के समय ही नहीं, बल्कि सर्वदा राज्य करने का एक नया साधन निकाला। दूसरी पद्धति में लोग थोड़ा-सा अनाज बचाकर रख लेते थे और उसी के सहारे वे अपने को दासत्व से मुक्त रखकर छोटे-छोटे अकालों और आकस्मिक दुर्घटनाओं का सामना कर लेते थे। किंतु तीसरी पद्धति में कर में वृद्धि हो जाने के कारण उनसे उनका सारा नाज ही नहीं, बल्कि जीवन-संबंधी अन्य सभी आवश्यक पदार्थ भी ले लिए गए और छोटे-से-छोटा संकट पड़ने पर ही मजदूरों को पैसेवाले की दासता स्वीकार करनी पड़ी; क्योंकि उनके पास न तो नाज ही रह गया और न कोई अन्य पदार्थ ही, जिसके बदले में वे अन्न प्राप्त कर सकते। पहली पद्धति की सहायता के लिए आततायी को केवल सिपाहियों की आवश्यकता थी और उसे केवल उन्हीं को लाभांश देना पड़ता था; दूसरी पद्धति में भूमि और अन्न-भंडारों के रक्षकों के अतिरिक्त आततायी को अन्न एकत्र करनेवालों और वितरक मुंशियों की भी आवश्यकता पड़ी। तीसरी पद्धति में वह अकेला ही सारी भूमि का स्वामी नहीं बना रह सकता; उसे भूमि और संपत्ति की रक्षा के लिए पहरेदारों के अतिरिक्त जमींदारों, टैक्स-कलक्टरों, व्यक्ति अथवा उपभोग्य पदार्थ के हिसाब से टैक्स निश्चित करनेवाले अफसरों, इंसपेक्टरों , चुंगी व माल-अफसरों और पंचों की आवश्यकता हुई।

तीसरी पद्धति का संगठन दूसरी की अपेक्षा अधिक जटिल है। दूसरी पद्धति के अनुसार नाज इकट्ठा करने का काम ठेके पर दिया जा सकता है, जैसा कि पुराने जमाने में होता था और आजकल भी तुर्की में होता है। किंतु जब दासों पर कर लगाया जाता है तब इस बात की देखभाल करने के लिए कि कोई व्यक्ति या उसका कर लगाने योग्य कोई कार्य कर से वंचित न रह जाए, एक जटिल शासन-व्यवस्था

की आवश्यकता होती है। इसलिए तीसरी पद्धति में आततायी को अपना लाभ दूसरी पद्धति की अपेक्षा और भी अधिक लोगों में बाँटना पड़ता है। इसके अतिरिक्त यह विधि कुछ है ही ऐसी कि पैसेवाले सभी लोग—चाहे वे उसी देश के हों, जिसमें यह विधि प्रचलित है चाहे किसी और देश के—लूट में भागीदार बन जाते हैं। इस विधि का प्रयोग करनेवाले आततायी को पहली और दूसरी विधियों के आततायियों की अपेक्षा निम्नलिखित लाभ अधिक होते हैं—

पहला लाभ तो यह है कि इस विधि के अनुसार लोगों से अपेक्षाकृत अधिक काम लिया जा सकता है और वह भी अधिक सुविधाजनक रूप में, क्योंकि रुपए की शकल में लिया जानेवाला कर एक पेच के समान होता है, जिसको सरलतापूर्वक उस अंतिम सीमा तक कसा जा सकता है, जिससे सोने का अंडा देनेवाली मुर्गी मरने न पाए। इसमें यूसुफ-काल की भाँति अकाल की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती; क्योंकि इस व्यवस्था के अनुसार अकाल जब चाहे तभी पैदा किया जा सकता है।

दूसरा लाभ यह है कि इस पद्धति में उन समस्त भूमिरहित व्यक्तियों को डराया-धमकाया जा सकता है, जो पहले बच निकलते थे और उदरपूर्ति के लिए थोड़ी-बहुत मजदूरी कर लेते थे, किंतु जिनको अब आततायी को कर देने के लिए भी अतिरिक्त श्रम करना पड़ता है। इस विधि में आततायी को हानि यह है कि इसे अपना लाभ अपेक्षाकृत अधिक लोगों में बाँटना पड़ता है। इन भागींदारों में केवल उसके सहायक ही नहीं होते, बल्कि एक ओर वे प्राइवेट जमींदार होते हैं, जिनका ऐसी व्यवस्था में साधारणत: आविर्भाव हो ही जाता है और दूसरी ओर अपने ही देश के नहीं, बल्कि विदेशों के भी वे व्यक्ति होते हैं, जिनके पास उस तरह के सिक्के होते हैं जिस तरह के सिक्कों की दासों से माँग की जाती है। जहाँ तक पीड़ितों का प्रश्न है, उन्हें इस पद्धति में दूसरी पद्धति की अपेक्षा केवल इतना लाभ है कि वे आततायियों के चंगुल से और भी अधिक स्वतंत्र हो जाते हैं। वे जहाँ चाहें रह सकते हैं और जो चाहें कर सकते हैं। खेत बोना या न बोना उनकी स्वेच्छा पर निर्भर है। उन्हें अपने काम का हिसाब किसी को नहीं देना पड़ता और यदि उनके पास रुपया है तो वे अपने को पूर्णत: स्वतंत्र समझ सकते है। इसके अतिरिक्त जब उनके पास फालतू रुपया होता है या उस फालतू रुपए से कोई जमीन खरीद लेते हैं तो वे केवल स्वतंत्रता प्राप्त करने की नहीं, बल्कि आततायी तक बन सकने की आशा कर सकते हैं। इतना ही नहीं, वे इस स्थिति को प्राप्त तक कर सकते हैं चाहे थोड़े ही समय के लिए सही। इस पद्धति से उन्हें हानि यह है कि साधारणत: उनकी स्थिति और भी बिगड़ जाती है और वे अपनी अधिकांश पैदावार से वंचित कर दिए जाते हैं; क्योंकि इस पद्धति में दूसरों के श्रम का सुख-भोग करनेवाले व्यक्तियों की संख्या और भी

अधिक होती है, जिसके फलस्वरूप जीवननिर्वाह का भार अपेक्षाकृत कम लोगों पर पड़ता है।

दास बनाने की यह तीसरी पद्धति भी बहुत पुरानी है और इसका प्रयोग भी पहली दो पद्धतियों के साथ-ही-साथ होता है; वे इससे बिल्कुल व्यतिरिक्त नहीं हो जातीं। सच पूछिए तो तीनों में से एक पद्धति भी कभी बंद नहीं हुई। तीनों पद्धतियों की तुलना पेचों से की जा सकती है जो श्रमजीवियों के मस्तक पर रखे हुए एक तख्ते में कसे जाते हैं और उनको दबाते हैं। इनमें से मुख्य, आधारभूत और बीच का पेच—जिसके बिना दूसरे पेच नहीं ठहर सकते और जो सबसे पहले कसा जाता है तथा कभी ढीला नहीं किया जाता—शारीरिक दासता का पेच है—यह दासता जिसमें मानवों का एक समूह मानवों के दूसरे समूह को तलवार से उड़ा देने की धमकी देकर बाँधता है। दूसरा पेच, जो पहले के बाद कसा जाता है, लोगों को भूमि और भोजन से वंचित करके दास बनाने का पेच है; इसमें व्यक्तिगत मृत्यु की भी धमकी दी जाती है। तीसरा पेच उस दासता का पेच है, जिनमें निरीह जनता से रुपया माँगा जाता है (जो उनके पास नहीं होता) और साथ-ही-साथ मौत की धमकी भी दी जाती हैं। तीनों पेचों से एक साथ काम लिया जाता है और जब एक कस दिया जाता है तभी दूसरे ढीले किए जाते हैं। श्रमजीवियों को दासत्व की शृंखला में पूर्ण रूप से कसने के लिए तीनों पेचों—दास बनाने की तीनों पद्धतियों—की आवश्यकता होती है। हमारे समाज में इन तीनों पद्धतियों से बराबर काम लिया जाता है—तीनों, पेच बराबर कसे रहते हैं।

व्यक्तिगत बल-प्रयोग और तलवार से धड़ उड़ा देने की धमकी देकर लोगों को दास बनाने की पहली पद्धति का कभी परित्याग नहीं हुआ है और जब तक मानव मानव को दास बनाता रहेगा तब तक इस पद्धति का परित्याग नहीं होगा; क्योंकि इसी पर दासता की भित्ति खड़ी है। हम लोग बड़े ही सहज भाव से यह विश्वास प्रकट करते हैं कि हमारे सभ्य संसार में व्यक्तिगत दासता का अंत हो चुका है, उसके अंतिम अवशेष तो अमरीका और रूस में दफना दिए गए। हम लोग यह भी कहते हैं कि अब दासता केवल जंगलियों में रह गई है। ऐसा कहते समय हम एक छोटी-सी बात भूल जाते हैं, वह यह कि स्थायी सेनाओं में करोड़ों व्यक्ति कार्य करते हैं, जिनके बिना कोई शासन-प्रबंध अक्षुण्ण नहीं रह सकता और जिनको हटा देने से किसी भी राज्य की आर्थिक व्यवस्था का नष्ट-विनष्ट हो जाना अनिवार्य है। किंतु ये करोड़ों सिपाही अपने शासकों के व्यक्तिगत दास नहीं तो और क्या हैं? क्या यातना और मृत्यु की धमकी देकर—जो प्राय: कार्यान्वित भी की जाती है—सिपाहियों को अपने स्वामी की इच्छानुसार कार्य करने के लिए विवश नहीं किया

जाता? भेद केवल इतना है कि इनकी दासता को दासता का नाम नहीं दिया जाता। इसको अनुशासन के नाम से पुकारा जाता है और जबकि दूसरे लोग आजीवन दास बने रहते हैं, इनकी दासता, जिसे हमलोग 'नौकरी' कहते हैं, एक संक्षिप्त काल तक ही सीमित रहती है। हमारे सभ्य समाज में व्यक्तिगत दासता का न केवल अंत नहीं हुआ है, बल्कि अनिवार्य सैनिक भरती के कारण पिछले कुछ वर्षों से वह और भी अधिक पुष्ट हो गई है। यह तो सत्य है कि उसके रूप में थोड़ा-सा परिवर्तन हो गया है, किंतु सारत: वह अब भी वही है जो पहले थी। उसका अस्तित्व मिट नहीं सकता, क्योंकि जब तक मनुष्य मनुष्य का दास रहेगा तब तक इस प्रकार की व्यक्तिगत दासता भी अक्षुण्ण रहेगी, जो तलवार की नोक पर मनुष्य की भूमि और कर-संबंधी दासता को भी जीवन-दान करती रहती है। हो सकता है कि सेना की यह दासता हमारे देश की रक्षा और गौरव के लिए आवश्यक हो, जैसा कि कहा जाता है; किंतु यह आवश्यकता अत्यंत संदिग्ध है; क्योंकि हम देखते हैं कि युद्ध में असफल होने पर यही सेना देश की पराधीनता और अवनति का कारण बन जाती है। फिर भी एक बात स्पष्ट है, वह यह कि इस प्रकार की दासता भूमि और कर-संबंधी दासता को जीवन-दान देने के लिए उपयोगी है। उदाहरणत: यदि रूस या आयरलैंड के किसान जमींदारों से जमीन छीन लें तो उसी समय सेनाएँ आकर किसानों से जमीन वापस ले लेंगी। इसी प्रकार यदि कोई शराब खींचने का कारखाने बना ले और आबकारी का कर अदा न करे तो सैनिक आकर उस कारखाने को तत्काल बंद कर देंगे। या जरा टैक्स बंद करके देखिए, आपको वही परिणाम भोगना पड़ेगा।

दूसरी पद्धति है लोगों की भूमि और भोजन-सामग्री छीनकर दास बनाने की पद्धति। जहाँ-कहीं भी लोग दास बनाए जाते हैं वहाँ पहले भी इस पद्धति से काम लिया गया होगा और अब भी लिया जाता है। इस पद्धति का रूप चाहे कितना ही परिवर्तित क्यों न हो जाए वह प्रचलित सब जगह होती है। कहीं-कहीं—जैसा कि तुर्की में है—सारी भूमि पर राजा का स्वामित्व माना जाता है और सरकार फसल का दसवां भाग कर के रूप में वसूल करती है। कहीं-कहीं भूमि के कुछ भाग पर ही राजा का अधिकार माना जाता है और उस भूमि से कर इकट्ठा किया जाता है। कहीं-कहीं—जैसा कि इंग्लैंड में है—सारी भूमि कुछ थोड़े-से व्यक्तियों के आधिकार में होती है और उसके लोगों से कुछ मजदूरी कराई जाती है। या कहीं-कहीं—जैसा कि रूस, जर्मनी और फ्रांस में है—भूमि का न्यूनाधिक भाग जमींदारों के अधिकार में होता है। सारांश यह कि जहाँ-कहीं भी दासता है वहाँ सत्ताधारी व्यक्ति दासता द्वारा जमीन पर अपना अधिकार अवश्य जमा लेता है।

लोगों को दास बनानेवाला यह पेच दूसरे पेचों पर पड़नेवाले बोझ को दृष्टि में

रखकर ही कसा या ढीला किया जाता है। उदाहरणार्थ, रूस में जब अधिकांश श्रमजीवी व्यक्तिगत दासता में जकड़ दिए गए तो वहाँ भूमि की दासता निरर्थक हो गई; किंतु व्यक्तिगत दासता का पेच उस समय तक ढीला नहीं किया गया जब तक भूमि और कर-संबंधी दासता के पेच खूब कस नहीं दिए गए। लोगों को विभिन्न समुदायों में बाँट दिया गया, उनके स्थान-परिवर्तन के मार्ग में बाधाएँ उपस्थित कर दी गईं, भूमि या तो सरकार ने हथिया ली या व्यक्तिगत जमींदारों को दे दी गई, और तब कहीं जाकर किसानों को स्वतंत्र किया गया। इसी तरह इंग्लैंड में भूमि-दासता का दौर-दौरा है और वहाँ भूमि के राष्ट्रीयकरण का जो प्रश्न उठ रहा है उसका अर्थ केवल यह है कि कर-संबंधी पेच को कस दिया जाए, ताकि भूमि-दासता का पेच ढीला किया जा सके।

कर द्वारा दास बनाने की तीसरी पद्धति भी पहले प्रचलित थी और आजकल विभिन्न राज्यों में समान मुद्रा का प्रचलन होने के कारण तथा शासक-संस्थाओं के आंतरिक अधिकारों में वृद्धि होने से इस पद्धति का प्रभाव विशेष रूप से बढ़ गया है। वर्तमान काल में इस पद्धति का इतना विस्तार हो गया है कि इस बात की आशा की जाने लगी है कि धीरे-धीरे यह पद्धति भूमि-दासत्व की दूसरी पद्धति का स्थान ग्रहण कर लेगी। यह वह पेच है जिसके कस देने पर भूमि-संबंधी दासता का पेच ढीला हो जाता है, जैसा कि सारे यूरोप की आर्थिक अवस्था से प्रकट है। अपनी याद में हम रूस में दासता को दो बार एक रूप से दूसरा रूप ग्रहण करते देख चुके हैं। जब दास मुक्त किए गए और अधिकांश भूमि जमींदारों के अधिकार में छोड़ दी तब भू-स्वामियों को चिंता हुई कि दासों पर से उनका अधिकार जाता रहेगा। किंतु अनुभव ने सिद्ध किया कि वे एक शृंखला को छोड़कर दूसरी शृंखला पकड़ रहे हैं, अर्थात् दास-स्वामित्व के बदले भू-स्वामित्व की प्रणाली अपना रहे हैं। किसान के पास खाने को कुछ नहीं था। किंतु जमींदार के पास जमीन और अन्न-भंडार थे; इसलिए किसान गुलाम-का-गुलाम बना रहा। इस स्थिति में नया परिवर्तन तब हुआ जबकि सरकार की माँगों ने कर-संबंधी दूसरे पेच को खूब कस दिया और अधिकांश श्रमजीवी अपने आपको जमींदारों या मिल-मालिकों के हाथ बेचने को बाध्य हो गए। दासता की इस नई पद्धति ने लोगों को और भी जकड़ लिया। परिणाम यह हुआ कि रूस के 90 प्रतिशत मजदूर आज जमींदारों और मिल-मालिकों के यहाँ केवल इसलिए काम करते हैं कि भूमि-कर और राज्य की माँगें उन्हें ऐसा करने के लिए विवश करती हैं। यह बात इतनी स्पष्ट है कि यदि सरकार एक साल के लिए प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष और भूमि- संबंधी करों की उगाही बंद करने का प्रयोग करे तो कारखानों में और उन जमीनों पर जो किसानों या मजदूरों की अपनी नहीं है, काम

बिल्कुल पट पड़ जाए। जब कर उगाहे जाते हैं तब उन्हें अदा करने के लिए रूस के 90 प्रतिशत लोगों को मजदूरी करनी पड़ती है।

दास बनाने की ये तीनों विधियाँ पुरातन काल से निरंतर चली आई है और आज भी विद्यमान हैं; किंतु मनुष्य का यह स्वभाव है कि इन विधियों की उपादेयता को सिद्ध करने के लिए नए बहानों के मिलते ही वह इनकी ओर ध्यान देना छोड़ देता है। आश्चर्य की बात तो यह है कि यही पद्धति जिस पर आजकल सब कुछ टिका हुआ है, यही पेच जिसने सब चीजों को एक साथ जकड़ रखा है, लोगों को दिखलाई नहीं देता।

प्राचीन काल में, जबकि संसार की सारी आर्थिक व्यवस्था व्यक्तिगत दासता के आधार पर खड़ी थी, महान्-से-महान् मनीषियों की भी दृष्टि इधर नहीं गई। जोनोफन, अफलातून, अरस्तू और रोमनों की तो यह धारणा थी कि इसके विपरीत कुछ हो ही नहीं सकता। दासता युद्ध का स्वाभाविक और अनिवार्य परिणाम है और इसके बिना मानव-समाज का अस्तित्व ही कल्पनातीत है। इसी प्रकार मध्यकाल में और अभी कुछ ही दिनों पीछे तक—लोग भू-स्वामित्व के महत्त्व को नहीं समझते थे और उसके फलस्वरूप उत्पन्न होनेवाली उस दासता को भी नहीं देख पाते। जिस पर मध्यकाल का संपूर्ण आर्थिक यंत्र अवलंबित था। ठीक इसी तरह आजकल भी न तो कोई इस बात को समझता है, न समझने की चेष्टा ही करता है कि अधिकांश लोगों की दासता का कारण रुपए के रूप में लिए जानेवाले वे राज्य-कर और भूमि-कर हैं जिनकी माँग सरकार और उसके आश्रित करते हैं, और जिन्हें वसूल करने की व्यवस्था कर्मचारियों तथा सैनिकों के हाथों में होती है—वे ही कर्मचारी और वे ही सैनिक जिन्हें इन करों की आय से वेतन दिया जाता है।

अव्यावहारिक अर्थशास्त्र

आश्चर्य की बात यह नहीं कि पुरातन काल से दासता के पाश में जकड़े हुए प्राणी स्वयं अपनी स्थिति से परिचित नहीं हैं और जिस दशा में वे सदा से रहते आए हैं उसे वे मानव-जीवन की स्वाभाविक अवस्था मानते हैं और दासता के रूपमात्र में परिवर्तन को सुधार समझ बैठते हैं; आश्चर्य की बात यह भी नहीं है कि इन दासों के स्वामी भी कभी-कभी सच्चे हृदय से यही समझते हैं कि एक पेच ढीला करके वे अपने दासों को स्वतंत्र कर रहे हैं, जबकि वास्तविकता यह होती है कि दूसरा पेच पहले ही से खूब कस दिया जाता है। दास और स्वामी दोनों अपनी-अपनी स्थिति

के अभ्यस्त हो जाते हैं और स्वतंत्रता से अनभिज्ञ होने के कारण दासों की केवल इतनी आकांक्षा होती है कि किसी तरह उनकी स्थिति में सुधार हो जाए और उनकी दासता का रूप बदल जाए। इसके विपरीत स्वामी-वर्ग के लोग अपने अन्याय पर परदा डालने के लिए इस बात की चेष्टा करते हैं कि लोगों को पुराने ढंग की दासता से निकालकर वे जिस नए ढंग की दासता में जकड़ने जा रहे हैं, उसका खूब ढोल पीटें। आश्चर्य की बात तो यह है कि उदार कहलानेवाला अर्थशास्त्र भी मानव-जीवन की आर्थिक स्थिति की जाँच करते समय उस वास्तविकता को देखने से चूक जाता है जो उस स्थिति के मूल में छिपी रहती है। मैं समझता हूँ कि अर्थशास्त्र का काम यह पता लगाना है कि किसी एक घटना का अनेक श्रृंखलाबद्ध घटनाओं के सामान्य कारण से क्या संबंध है ? किंतु अर्थशास्त्र इसका बिल्कुल उलटा करता है। वह घटनाओं तथा उनके महत्त्व को एक सूत्र में बांधनेवाले संबंध को सावधानी के साथ छिपाता है और साधारण-से-साधारण तथा अनिवार्य-से-अनिवार्य प्रश्नों का भी उत्तर देने से बचता है। वह एक सुस्त और हठी घोड़े के समान है जो ढलान पर, जहाँ बोझ नहीं खींचना पड़ता, खूब मजे से चलता है; किंतु जैसे ही बोझ खींचने का अवसर आता है वैसे ही वह किसी दूसरी दिशा में मुड़ जाता है, मानो उस दिशा में उसे कोई काम हो। अर्थशास्त्र के सामने जैसे ही कोई गंभीर और आवश्यक प्रश्न आता है वैसे ही असंबंधित बातों पर पांडित्यपूर्व वाद-विवाद आरंभ हो जाता है, ताकि लोगों का ध्यान मुख्य प्रश्न से हट जाए।

आप पूछते हैं : इस अस्वाभाविक, विलक्षण, विवेकरहित और केवल व्यर्थ ही नहीं बल्कि हानिकारक व्यवस्था का क्या कारण है कि मानव-समाज के कुछ प्राणी दूसरों की इच्छा के बिना न खा सकते हैं, न काम कर सकते हैं ? और अर्थशास्त्र गंभीर-से-गंभीर मुद्रा बनाकर उत्तर देता है : इसका कारण यह है कि कुछ लोग दूसरों के काम और पोषण पर नियंत्रण रखते हैं—उत्पादन का नियम ही ऐसा है।

आप पूछते हैं : स्वामित्व का यह कैसा विलक्षण अधिकार है, जिसके बल पर कुछ लोग दूसरों की भूमि, भोजन तथा काम करने के औज़ारों का अपहरण कर लेते हैं ? अत्यंत गंभीर मुद्रा बनाकर अर्थशास्त्र उत्तर देता है : इस अधिकार की रचना परिश्रम के संरक्षण के तत्त्व पर की गई है, अर्थात् एक वर्ग के लोगों के परिश्रम का संरक्षण दूसरे वर्ग के लोगों के परिश्रम का अपहरण करके किया जाता है।

आप पूछते हैं : यह कैसा रुपया है जिसकी छपाई और ढलाई सब जगह सरकार अथवा उसके अधिकारी ही करते हैं, जो मजदूरों से इतनी अधिक संख्या में बलपूर्वक वसूल किया जाता है और जो राष्ट्रीय ऋण के रूप में मजदूरों की भावी संतान के सिर पर भी मढ़ दिया जाता है ? आप पूछते हैं कि कर लेनेवालों से कर

देनेवालों का जो आर्थिक संबंध होता है, उस पर इस रुपए का, जो करों के रूप में लोगों से यथासंभव अधिक-से-अधिक परिणाम में हड़पा जाता है, क्या असर पड़ता है ? अर्थशास्त्र वही गंभीर मुद्रा बनाकर उत्तर देता है : चीनी या छींट की तरह रुपया भी एक पदार्थ है। अंतर केवल इतना है कि यह विनिमय का सबसे अधिक माध्यम है। करों का लोगों की आर्थिक स्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उत्पादन, विनिमय और वितरण के नियम एक वस्तु हैं, कर दूसरी वस्तु।

आप पूछेंगे : सरकार को अपनी इच्छानुसार मूल्य घटाने-बढ़ाने और कर बढ़ाकर भूमिहीनों को दासता की श्रृंखला में जकड़ने का जो अधिकार प्राप्त है, क्या उसका लोगों की आर्थिक अवस्था पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता ? अर्थशास्त्र बड़ा ही गंभीर मुँह बनाकर उत्तर देता है : बिलकुल नहीं; उत्पादन, वितरण और विनिमय का शास्त्र अलग है और कर तथा राज्य-कार्य अर्थात् अर्थ-व्यवस्था का शास्त्र अलग है।

आप अंतिम प्रश्न करते हैं : सारी-की-सारी जनता सरकार की दासता में आबद्ध है, सरकार को यह सामर्थ्य प्राप्त है कि जिसे चाहे वह नष्ट कर दे, जिससे चाहे उससे उसके श्रम का समस्त प्रतिफल ले ले और श्रमजीवियों को उनके काम से हटाकर सैनिक दासत्व में जकड़ दे—क्या इन सब बातों का आर्थिक परिस्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता ? अर्थशास्त्र इस प्रश्न का उत्तर देने तक का कष्ट नहीं करता। यह तो एक बिलकुल पृथक् विषय है—राज्य-नियम का राजनीतिक कानून। जिस जनता का प्रत्येक कार्य और प्रत्येक कर्तव्य आततायी की स्वेच्छा पर निर्भर होता है उसके आर्थिक जीवन के नियमों का अर्थशास्त्र बड़ी गंभीरता के साथ परीक्षण करता है और आततायी के इस अधिकार को सार्वजनिक जीवन का स्वाभाविक रूप समझता है। दासों के जीवन पर स्वामी की स्वेच्छा का क्या प्रभाव पड़ता है, अपने लाभार्थ स्वामी जो कुछ चाहता है उसे करने के लिए वह दासों को किस प्रकार बाध्य करता है, किस प्रकार उन्हें वह अपने मन की मौज के अनुसार एक स्थान से दूसरे स्थान पर खदेड़ता फिरता है, और इच्छा होती है, तो भोजन देता है, नहीं तो भूखा रखकर मार डालता है या योंही जीने के लिए छोड़ देता है—इन बातों की जाँच किए बिना जिस प्रकार कोई भी प्रेक्षक दासों की आर्थिक स्थिति का अनुमान नहीं लगा सकता उसी प्रकार अर्थशास्त्र भी ऐसा करने में असमर्थ रहता है। हम लोग सोचेंगे कि शायद अर्थशास्त्र मूर्खतावश ऐसा करता है; किंतु उसके प्रस्तावों की परीक्षा करने से यह विश्वास हो जाता है कि इसका कारण मूर्खता नहीं बल्कि चातुर्य है।

अर्थशास्त्र का एक निश्चित उद्देश्य है जिसको वह प्राप्त करता है। वह उद्देश्य है जनता में अंध-विश्वास और भ्रम की भावना बनाए रखना और उसके द्वारा मानव-जाति को सत्य तथा कल्याण की ओर अग्रसर होने से रोकना। लोगों में बहुत दिनों से

एक भयंकर अंध-विश्वास फैला हुआ है, जिसने समाज को भयंकरतम धार्मिक अंध-विश्वास से भी अधिक क्षति पहुँचाई है। अर्थशास्त्र इसी अंध-विश्वासों को अपनी पूरी शक्ति लगाकर अक्षुण्ण रखता है। यह अंध-विश्वास धार्मिक अंध-विश्वास के ही समान होता है। कहा जाता है कि मनुष्य के प्रति मनुष्य का जो कर्तव्य है, उससे भी बढ़कर हमारा कर्तव्य एक काल्पनिक व्यक्ति के प्रति है। धर्मशास्त्र में उस काल्पनिक व्यक्ति का नाम 'ईश्वर' है और अर्थशास्त्र में उसे 'राज्य' कहते हैं। धार्मिक अंध-विश्वास यह मानने में है कि ईश्वर के लिए बलि—कभी-कभी नर-बलि तक—की आवश्यकता होती है, और यह बलि प्रत्येक दशा में होनी ही चाहिए, चाहे उसके लिए हिंसा का ही क्यों न प्रयोग करना पड़े। राजनीतिक अंध-विश्वास यह मानने में है कि मनुष्य का जो कर्तव्य मनुष्य के प्रति है, उससे भी बढ़कर उसका कर्तव्य राज्य के प्रति है। इस राज्य के लिए भी बलि—अक्सर नर-बलि— की आवश्यकता होती है। और इस बलि के निमित्त मनुष्य को हर तरह से, यहाँ तक कि हिंसा का प्रयोग करके भी, तैयार करना चाहिए। पहले इस अंध-विश्वास के स्तंभ विभिन्न धर्मों के पुरोहित थे, किंतु अब उसका समर्थक अर्थशास्त्र है। मानव-समाज पहले से भी अधिक भयंकर दासता के गह्वर में ढकेल दिया गया है; किंतु अर्थशास्त्र हमें विश्वास दिलाने का प्रयत्न करता है कि यह स्थिति आवश्यक है और इससे भिन्न नहीं हो सकती।

राज्य का अस्तित्व लोक-कल्याण के लिए होना चाहिए और उसे अपना कर्तव्य-पालन करते रहना चाहिए; अर्थात् उसे जनता का शासन करना चाहिए और साथ-ही-साथ शत्रुओं से उसकी रक्षा करने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। इसके लिए राज्य को रुपए और सिपाहियों की आवश्यकता होती है। यह रुपया राज्य के सब नागरिकों को मिलाकर देना चाहिए और इसलिए, राज्य के अस्तित्व को ध्यान में रखकर ही लोगों के परस्पर संबंधों पर विचार करना उचित है।

एक साधारण अनपढ़ आदमी कहता है—मैं खेत पर अपने पिता की सहायता करना चाहता हूँ। मेरी इच्छा ब्याह करने की है, किंतु सरकार मुझे पकड़कर सिपाही का काम करने के लिए छह वर्ष को कहीं दूर भेज देती है। सेना को छोड़ने के बाद मैं खेती करना और अपने परिवार की सहायता करना चाहता हूँ, किंतु रुपया दिए बिना मुझे अपने इर्द-गिर्द कहीं खेती करने की अनुमति नहीं मिलेगी और रुपया मेरे पास है नहीं। मुझसे रुपया वे लोग माँगते हैं, जिन्हें हल तक जोतना नहीं आता और वे इतना रुपया माँगते हैं कि उसके लिए मुझे अपनी सारी मेहनत बेचनी पड़ती है। इतने पर भी मैं कुछ कमा लेता हूँ और उसमें से जितना बचा सकता हूँ उतना अपने बच्चों को देना चाहता हूँ; किंतु सरकारी कर्मचारी आकर मेरे पास से वह रकम कर के

रूप में वसूल कर ले जाता है। इसके बाद मैं फिर कुछ कमाता हूँ और फिर मेरी सारी कमाई मुझसे छीन ली जाती है। मेरी सारी आर्थिक क्रिया राज्य की इच्छा पर निर्भर है और मुझे ऐसा लगता है कि मेरी तथा मेरे भाइयों की दशा तभी सुधर सकती है जब हमको राज्य की माँगों से छुटकारा मिल जाए।

किंतु अर्थशास्त्र कहता है—तुम ऐसी बातें अज्ञानवश सोचते हो। धन के उत्पादन, वितरण और विनिमय के नियमों का अध्ययन करो और आर्थिक प्रश्नों को राजनीतिक प्रश्नों के साथ न मिलाओ। जो बातें तुमने कही हैं उनसे तुम्हारी स्वतंत्रता का उल्लंघन नहीं होता। वे तो अनिवार्य बलिदान हैं जो तुम्हें अन्य व्यक्तियों की भाँति स्वयं अपनी स्वतंत्रता और कल्याण के हेतु करने होंगे।

इस पर वह सीधा-साधा आदमी कहता है—देखो तो, उन्होंने मेरे लड़के को मुझसे ले लिया है और कह गए हैं कि मेरे दूसरे लड़कों को भी बड़ा होते ही ले जाएँगे। वे उसको बलपूर्वक ले गए हैं और वह किसी ऐसे विचित्र देश में शत्रुओं की गोलियों का सामना करने के लिए भेज दिया गया है जिसका हमने पहले कभी नाम भी नहीं सुना था। हमें तो यह भी नहीं पता कि यह युद्ध लड़ा क्यों जा रहा है और, यह तो देखिए, जिस खेत को हमें जोतने की अनुमति नहीं है और जिसके बिना हम भूखों मरते हैं वह एक ऐसे आदमी के अधिकार में है जिसको न तो हमने कभी देखा है, न जिसकी उपयोगिता हमारी समझ में आती है। जहाँ तक करों का सवाल है, मैं समझता हूँ कि जिन करों के लिए सरकारी सिपाही मेरे लड़के के पास से बलपूर्वक गाय छीन ले गया था, उनका रुपया उसी सिपाही के पास और विभिन्न कमीशनों तथा मंत्रिमंडलों के उन सदस्यों के पेट में जाएगा जिनको मैं नहीं जानता और जिनकी उपयोगिता में मुझे विश्वास नहीं। भला बताइए कि इस अत्याचार से मेरी स्वतंत्रता की किस प्रकार रक्षा होगी और इतनी सारी बुराई से मेरा कैसे कल्याण होगा!

यह तो संभव है कि किसी व्यक्ति को दास बना लिया जाए और उसे कोई ऐसा कार्य करने के लिए बाध्य किया जाए, जिसे वह बुरा समझता है; किंतु उसे यह सोचने के लिए प्रेरित करना असंभव है कि डर-धमकी की यंत्रणा भोगते हुए भी वह स्वतंत्र है और जिस प्रत्यक्ष बुराई को वह सहन कर रहा है वह उसके लिए कल्याणप्रद है। देखने में यह बात असंभव प्रतीत होती है, किंतु अर्थशास्त्र की सहायता से हमारे समय में यही हुआ।

सरकार—अर्थात् बल-प्रयोग करनेवाले सशस्त्र व्यक्तियों की सत्ता यह निश्चित करती है कि जिन लोगों को वह डराती-धमकाती है, उनसे वह कितना रुपया वसूल करे। जैसा कि अंग्रेजों ने फ़ीजी-निवासियों के साथ किया था, वैसे ही सरकार यह निश्चय करती है कि गुलामों से कितनी मेहनत कराई जाए, श्रमजीवियों को

संगठित करने के लिए कितने सहायकों की आवश्यकता है और इन सहायकों को सिपाहियों, जमींदारों तथा टैक्स कलक्टरों के रूप में संगठित करने के लिए क्या किया जाए। दास अपनी सेवाएँ समर्पित करते हैं; फिर भी वे समझते हैं कि वे ऐसा अपने स्वामी की इच्छा के कारण नहीं कर रहे हैं, बल्कि इसलिए कर रहे हैं कि स्वयं अपनी स्वतंत्रता और कल्याण के लिए उन्हें 'राज्य' नामक देवता के सामने सेवाएँ समर्पित करना और लहू की बलि चढ़ाना आवश्यक है। इतना त्याग करते हुए भी वे अपने को स्वतंत्र मानते हैं। उनके इस विश्वास का कारण यह है कि पहले धर्म और पुजारी ऐसा ही कहते थे और अब अर्थशास्त्र और विद्वज्जन भी यही कहते हैं। किंतु यदि हम उन लोगों की बातों का, जो अपने को पुरोहित और विद्वान कहते हैं, आँखें बंद करके विश्वास करना छोड़ दें तो उनके कथनों की अनर्गलता बिलकुल स्पष्ट हो जाए। जो लोग दूसरों के प्रति बल-प्रयोग करते हैं वे उन्हें विश्वास दिलाते हैं कि यह बल-प्रयोग राज्य के लिए आवश्यक है और राज्य जनता की स्वतंत्रता तथा कल्याण के लिए आवश्यक है। इसका अर्थ यह हुआ कि पीड़ितों की स्वतंत्रता में वृद्धि करने के लिए ही पीड़क उन्हें पीड़ा पहुँचाते हैं, उनकी भलाई के लिए उन्हें नुकसान पहुँचाते हैं। किंतु मनुष्य तर्कशील प्राणी है, वह समझ सकता है कि उसकी किस बात में भलाई है और वह अपने हित की स्वतंत्रतापूर्वक अभिवृद्धि कर सकता है। जिन कामों की अच्छाइयाँ लोगों की समझ में नहीं आतीं और जिन कामों को उन्हें विवशतावश करना पड़ता है, वे उनके लिए कदापि कल्याणप्रद नहीं हो सकते। तर्कशील प्राणी केवल उस वस्तु को कल्याणप्रद मान सकता है, जो उसकी बुद्धि को ऐसी प्रतीत हो। यदि कुछ व्यक्ति बुराई की ओर राग या तर्कहीनता के कारण आकर्षित होते हैं तो शेष लोग—जो ऐसी भूल नहीं करते—केवल इतना कर सकते हैं कि इन पथभ्रष्टों को वास्तविक कल्याण के मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करें। लोगों को यह विश्वास दिलाया जा सकता है कि यदि वे सब-के-सब सिपाही बन जाएँ, यदि उन सबकी जमीनें उनसे छीन ली जाएँ और यदि वे अपना सारा श्रम कर के रूप में अर्पित कर दें तो उनका अधिक कल्याण होगा। किंतु जब तक सब लोग इसे अपना कल्याण न समझने लगें और इसे स्वेच्छा से न करने लगें तब तक यह सार्वजनिक कल्याण की बात नहीं कही जा सकती। किसी भी काम के कल्याणप्रद होने का एक मात्र प्रमाण यह है कि जनता उसे स्वेच्छा से करे। और मनुष्य का जीवन ऐसी बातों से भरा हुआ है।

मान लीजिए, दस मजदूर साथ काम करने के लिए औजार लेते हैं। उनका यह कार्य निस्संदेह उनके सामान्य हित के लिए है। किंतु यदि ये लोग किसी ग्यारहवें व्यक्ति को अपनी टोली में मिलाकर काम करने के लिए बलपूर्वक बाध्य करें तो वे

यह नहीं कह सकते कि जिस वस्तु में उनका सामान्य हित है उसी में उस ग्यारहवें व्यक्ति का भी है।

यही बात उन भद्र पुरुषों के विषय में भी चरितार्थ होती है जो एक साथ मिलकर अपने किसी सामान्य मित्र को प्रीति-भोज के लिए निमंत्रित करते हैं। यह कहना असंभव है कि यह भोज उस व्यक्ति को भी अच्छा लगेगा जिससे भोज के लिए बलात् दस रूबल वसूल किए गए हैं। यही बात उन किसानों पर भी लागू होती है जो अपनी सामान्य सुविधा के लिए तालाब खोदने का निश्चय करते हैं। जो लोग तालाब को उस पर की गई मेहनत से अधिक लाभदायक समझते हैं, उसका निर्माण निस्संदेह एक सामान्य हित का प्रश्न होगा; किंतु जो व्यक्ति फसल की कटाई में पिछड़ गया है और तालाब को उससे कम महत्त्वपूर्ण समझता है, उसे भला उसकी खुदाई कैसे लाभदायक प्रतीत हो सकती है ? यही बात सड़कों, गिरजाघरों, अजायबघरों और बहुत-सी सामाजिक तथा राजनीतिक बातों में भी चरितार्थ होती है। ये चीजें उन्हीं लोगों के लिए लाभदायक हो सकती हैं जो उनको लाभदायक समझते हैं और उनके निर्माण में वे स्वेच्छा तथा स्वतंत्रतापूर्वक भाग लेते हैं। यही बात संघ के लिए खरीदे गए हथियारों, भद्र पुरुषों द्वारा दिए गए सहभोज और किसानों द्वारा खोदे गए तालाब के संबंध में भी थी। जो काम लोगों से बलपूर्वक कराए जाते हैं वे केवल बलप्रयोग के कारण सामान्य हित के काम नहीं रह जाते।

यह बात इतनी स्पष्ट और सरल है कि यदि इतने दिनों तक लोग धोखे में न रहे होते तो इसे समझाने की कोई आवश्यकता ही न होती। मान लीजिए कि हम सब गांव में रहते हैं और वहाँ के एक ऐसे दलदल पर पुल बाँधने का निश्चय करते हैं, जिसमें लोग अक्सर फँस जाते हैं। हमलोग सहमत होकर वचन देते हैं कि प्रत्येक परिवार से इतना रुपया, इतनी लकड़ी और इतने दिनों की मेहनत ली जाएगी। इस काम को करने के लिए हम इसलिए राजी होते हैं, क्योंकि हम समझते हैं कि यह पुल हमारे लिए इसके निर्माण-मूल्य से अधिक लाभदायक होगा। किंतु हममें कुछ ऐसे भी हो सकते हैं, जिनके लिए खर्च न करना पुल के निर्माण से अधिक लाभ-दायक हो या जो कम-से-कम ऐसा समझते हों।

क्या इन लोगों से पुल के निर्माण में भाग लेने के लिए जबर्दस्ती करना उनके लिए लाभप्रद हो सकता है ? स्पष्ट है कि ऐसा नहीं हो सकता; क्योंकि जो लोग पुल के निर्माण में स्वेच्छापूर्वक कार्य करने को ही हानिकारक समझते थे वे अनिवार्य रूप से कार्य करना तो और भी अधिक हानिकारक समझेंगे। यदि हम यह भी मान लें कि हम सबने बिल्कुल एकमत होकर पुल बनाने का निर्णय किया था और उसके लिए प्रत्येक परिवार ने एक निश्चित परिमाण में रुपया और श्रम देने का वचन दिया

था, तब भी यह संभव है कि स्थिति में परिवर्तन हो जाने के कारण कुछ लोग अपना योगदान देने में असमर्थ हो जाएँ और उसके फलस्वरूप यह सोचने लगें कि रुपया खर्च करने की अपेक्षा पुल का न होना ही अच्छा है। यह भी संभव है कि उनका केवल मत बदल गया हो, या वे यह सोचने लगे हों कि पुल तो हमारी सहायता के बिना भी बन ही जाएगा और उसका उपयोग भी हम कर ही सकेंगे। ऐसी दशा में क्या इन लोगों को पुल के निर्माण में भाग लेने के लिए बाध्य करना अर्थात् उनसे अनिवार्य बलिदान कराना उनके लिए लाभदायक हो सकेगा? कदापि नहीं; क्योंकि यदि अपने वचन का पालन किसी ऐसी परिवर्तित स्थिति के कारण नहीं कर पाए हैं, जिसके फलस्वरूप उन्हें पुल के निर्माण में योग देना कठिन हो गया, तो उनसे बलात् सहायता लेना उनका और भी अधिक अहित करना होगा। इसके विपरीत, यदि वचन-भंग करनेवाले व्यक्ति का उद्देश्य दूसरों के श्रम से लाभ उठाना था तब भी उसको सहायता देने के लिए विवश करना उसे केवल एक इरादे के लिए दंड-भर देना होगा और इरादा भी ऐसा जो सिद्ध नहीं हुआ है और कार्य के रूप में परिणत होने से पूर्व ही दंड पा चुका है; किंतु किसी व्यक्ति को अवांछित कार्य में भाग लेने के लिए विवश करना किसी भी दिशा में लाभदायक नहीं हो सकता।

यह बात तो तब है जब दलदल पर पुल बाँधने-जैसा असंदिग्ध उपयोगिता का और सबकी समझ में आनेवाला कार्य किया जाता है। जिस उद्देश्य को लोग समझते नहीं, जो उद्देश्य अग्राह्य होते हैं और बहुधा निश्चयात्मक रूप से हानिकर होते हैं, उनके लिए लाखों व्यक्तियों को उत्सर्ग करने के लिए विवश करना और भी अधिक अन्याय और मूर्खता की बात होगी, जैसा कि सैनिकों की भरती और करों की वसूली में होता है। किंतु अर्थशास्त्र का कहना है कि जो बात सबको बुरी दिखाई देती है वह वस्तुतः सार्वजनिक हित की बात है। ऐसा मालूम होता है कि कुछ थोड़े-से इने-गिने लोगों को ही इस बात का ज्ञान होता है कि सार्वजनिक हित किस बात में है और यद्यपि शेष सब लोग उस सार्वजनिक कल्याण को अहितकर समझते हैं, तथापि इन थोड़े-से व्यक्तियों को अधिकार होता है कि शेष लोगों को यह अहितकर कार्य करने के लिए विवश करें और उसको सार्वजनिक हित का कार्य समझें।

यही वह सबसे बड़ा अंधविश्वास और धोखा है जो मानव-समाज को सत्य और कल्याण के पथ पर अग्रसर होने से रोकता है। इसी अंधविश्वास और इसी धोखे को अक्षुण्ण रखना राजनीति-शास्त्र का साधारण और अर्थशास्त्र का मुख्य उद्देश्य है। उसका लक्ष्य मानव-समाज से अत्याचार और दासता की उस स्थिति को छिपाए रखना है, जिसमें वह पड़ा हुआ है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए वह जो युक्ति काम में लाता है वह इस प्रकार है—जिस बल-प्रयोग द्वारा दासों का समस्त

आर्थिक जीवन संचालित होता है, उसे वह जान-बूझकर स्वाभाविक और अनिवार्य बतलाता है और इस प्रकार लोगों को धोखे में डालकर उनकी आँखें उनकी दुर्दशा के वास्तविक कारणों की ओर से हटा देता है।

दास-प्रथा का अंत हुए बहुत दिन हो चुके हैं। रोम, अमरीका तथा रूस तीनों ही देशों में यह प्रथा नहीं रही है; किंतु जिस वस्तु का यथार्थतः अंत हुआ है वह है दासता शब्द, स्वयं दासता नहीं।

दासता इस बात में है कि कुछ लोग अपने को उस श्रम से मुक्त कर लेते हैं जो उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रयोजनीय होता है और वही श्रम दूसरों पर बलात् लाद दिया जाता है। जहाँ-कहीं भी ऐसे लोग हैं जिनके निष्क्रिय रहने का कारण यह नहीं है कि दूसरे लोग उनका काम प्रेमवश कर देते हैं, बल्कि यह कि वे अपने लिए स्वयं काम न करके दूसरों को अपने लिए कार्य करने को बाध्य कर सकते हैं, वहीं दासता है। इसी प्रकार यूरोपीय देशों की भाँति जहाँ-कहीं भी ऐसे लोग हैं जो हिंसात्मक युक्तियों द्वारा सहस्रों दूसरे व्यक्तियों के श्रम का उपयोग करते हुए यह विश्वास करते हैं कि उन्हें ऐसा करने का अधिकार है और साथ-ही-साथ जहाँ दूसरे लोग इन हिंसात्मक युक्तियों के सामने सिर झुकाकर काम करने ही नहीं लग जाते, बल्कि उसको अपना कर्तव्य भी समझ लेते हैं वहाँ निस्संदेह भयंकर दासता का राज होता है।

तो, दासता विद्यमान है। किंतु उसका तथ्य क्या है? उसका तथ्य वही है जो सदा रहा है और जिसके बिना वह टिक नहीं सकती—अर्थात् सशक्तों तथा सशस्त्रों का दुर्बलों और निःशस्त्रों पर बल-प्रयोग।

दासता का रूप अब भी व्यक्तिगत बल-प्रयोग की उन्हीं तीन मूल प्रणालियों में दिखाई देता है, जिनमें पहले दिखाई देता था; अर्थात् (1) सैनिक भरती, (2) सैनिकों द्वारा प्रचारित भूमि-कर और (3) प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष कर के रूप में जनता पर लादे हुए सम्मान-कर, जिन्हें ये ही सिपाही अक्षुण्ण रखते हैं। हम इन्हें देख इसलिए नहीं पाते कि इनमें से प्रत्येक का नए ढंग से समर्थन किया जाने लगा है, जिसके कारण इनका अर्थ हमसे छिप गया है।

सशस्त्र व्यक्तियों द्वारा निःशस्त्रों पर किए जानेवाले बल-प्रयोग का समर्थन यह कहकर किया जाता है कि उससे देश की कल्पित शत्रुओं से रक्षा होती है। यथार्थ में उसका वही पुराना अर्थ है। पराजितों पर विजेताओं का शासन! इसी प्रकार जिस हिंसा का प्रयोग श्रमजीवियों से उनके खेतों को छीनने में किया जाता है उसे सार्वजनिक हित के लिए किए गए कार्य का पारितोषिक कहकर उचित ठहराया जाता है। इसका समर्थन उत्तराधिकार की प्रथा से भी हुआ है। वस्तुतः यह वही पुरानी विधि है, जिसके अनुसार सेना या अधिकारीगण खेतों को हथियार जनता को

दास बनाते थे।

अंतिम विधि का, जो आजकल की सबसे शक्तिशाली और प्रमुख विधि है और जिसके अनुसार डरा-धमकाकर कर वसूल किए जाते हैं एक बड़े ही आश्चर्यजनक ढंग से समर्थन किया जाता है। लोगों को उनकी संपत्ति, स्वतंत्रता और सारी भलाई से वंचित कर दिया जाता है और उसके समर्थन में कहा यह जाता है कि यह काम स्वतंत्रता और सार्वजनिक कल्याण के लिए किया गया है। वस्तुतः यह कुछ नहीं, वही पुरानी दासता है, सिवा इसके कि अब इसका रूप व्यक्तिगत नहीं रह गया है।

जहाँ बलप्रयोग को कानून का रूप दे दिया जाता है, वहाँ दासता का वास होता है। बल-प्रयोग का प्रदर्शन चाहे किसी भी रूप में होता हो—चाहे राजा और उसके सैनिक स्त्रियों और बच्चों को मारते हुए तथा गाँवों को जलाते-फूँकते हुए चढ़ाई करते हों, चाहे स्वामीगण अपने खेतों के लिए दासों से रुपया वसूल करते या मजदूरी कराते हों और उनके अस्वीकार करने पर सेना बुला लेते हों, चाहे कुछ लोग शस्त्र लेकर दूसरों पर गाँव-गाँव कर लगाते फिरते हों, चाहे प्रांतीय गवर्नरों और देहाती पुलिस की सहायता से गृहमंत्री का विभाग रुपया इकट्ठा करता हो और लोगों के आना-कानी करने पर फौज तैनात कर देता हो—संक्षेप में यह कि जब तक संगीन की नोक पर लोगों को डराया-धमकाया जाता रहेगा, उसके साथ जोर-जबर्दस्ती की जाएगी, तब तक धन जनता में वितरित न होकर अत्याचारियों की मुट्ठी में जाता रहेगा।

हेनरी जार्ज[1] की भूमि के राष्ट्रीयकरण की योजना इस निष्कर्ष की यथार्थता का एक प्रबल प्रमाण है। जार्ज का प्रस्ताव है कि सारी भूमि राज्य की मान ली जाए और प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार के करों के स्थान पर केवल जमीन का किराया या लगान लिया जाए।

इसका परिणाम क्या होगा? राज्य की सीमा में कृषि-दासता नहीं रह जाएगी, अर्थात् भूमि पर राज्य का स्वत्व हो जाएगा। इंग्लैंड की अपनी भूमि होगी और अमरीका की अपनी; और किस व्यक्ति को कितना कर देना पड़ेगा, यह इस बात पर निर्भर होगा कि वह कितनी भूमि का उपयोग करता है।

1. *प्रसिद्ध अमरीकी अर्थशास्त्री (1839—1897), जिसे 1879 में प्रकाशित अपनी 'उन्नति और निर्धनता' पुस्तक के कारण बड़ी ख्याति मिली। वह भूमि के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में था, यद्यपि वर्तमान जमींदारी-प्रणाली को भी अक्षुण्ण रखने का समर्थक था। उसका कहना था कि भूमि के लगान पर कर लगाना चाहिए, जिससे कि अंततः सभी अन्य प्रकार के कर हटाये जा सकें। उनके मतानुसार मनुष्य द्वारा निर्मित किसी वस्तु पर कर नहीं लगाना चाहिए था।*

इससे कदाचित् कुछ ग्रामीण श्रमजीवियों की स्थिति सुधर जाएगी; किंतु जब तक लगान की वसूली बलपूर्वक होती रहेगी तब तक दासता बनी रहेगी। फसल नष्ट हो जाने पर बेचारा किसान बलपूर्वक माँगे गए लगान को अदा करने में असमर्थ हो जाएगा और तब उसे अपनी भूमि की रक्षा करने और सर्वनाश से बचने के लिए किसी धनी व्यक्ति की दासता करने पर बाध्य होना पड़ेगा।

यदि बालटी चूती है, तो निस्संदेह उसमें कहीं-न-कहीं छेद है। बालटी की तली पर दृष्टि डालने से दिखाई दे सकता है कि पानी कई छेदों से निकल रहा है। इन काल्पनिक छेदों को बाहर से रोकने की चाहे कितनी ही चेष्टा की जाए, पानी टपकता ही रहेगा। पानी को रोकने के लिए यह आवश्यक है कि हम बालटी के उस सूराख को ढूंढ़ निकालें, जिसमें से पानी निकलता है और उसे अंदर से बंद कर दें। यही यत्न धन के दोषपूर्ण वितरण को रोकने के लिए करना चाहिए; अर्थात् उन छेदों को बंद करना चाहिए जिनमें से लोगों का धन टपक जाता है। लोग अनेक प्रकार के प्रस्ताव करते हैं—मजदूर-सभाएँ बनाओ और पूँजी तथा भूमि दोनों को सार्वजनिक संपत्ति घोषित कर दो। ये सब युक्तियाँ सूराखों को केवल बाहर से बंद करने की युक्तियाँ हैं। श्रमजीवियों के धन को टपककर काहिल वर्गों के हाथों में जाने से रोकने के लिए यह आवश्यक है कि सूराख का अंदर से पता लगाया जाए। यह सूराख है सशस्त्र मनुष्यों का निःशस्त्रों को डराना, धमकाना और सेना का बलप्रयोग करना, जिसके फलस्वरूप स्वयं मजदूर अपने कामों से अलग कर दिए जाते हैं और उनसे उनकी जमीन तथा उनकी मेहनत के फल छीन लिए जाते हैं। जब तक इस संसार में एक भी ऐसा प्राणी रहेगा जो अपने को किसी भी दूसरे जीव को मार डालने का अधिकारी समझता है तब तक धन का अनियमित वितरण अर्थात् दासत्व कायम रहेगा।[1]

अब मैं समझा

"हाँ, सिद्धांत की दृष्टि से तो यह ठीक है, किंतु पता नहीं, व्यवहार की दृष्टि से यह कैसा होगा?" लोगों को बार-बार ऐसा कहते सुनकर मुझे सदा आश्चर्य होता

1. *इस पुस्तक के पूर्व संस्करणों में यहाँ कुछ पृष्ठ और थे, जो इस परिच्छेद के साथ-ही-साथ निष्कर्ष-रूप में छापे गए थे। किंतु बाद में टॉल्सटॉय ने इन पृष्ठों को निकालकर रुपए की समस्या पर चार नए परिच्छेद लिख डाले जो इस संस्करण में परिच्छेद 17, 18, 19, 20 के रूप में प्रकाशित हैं।*

है। मानो सिद्धांत, बातें करने के लिए सुंदर शब्दमात्र हो, अनिवार्य रूप से व्यवहार में लाए जाने अर्थात् हमारे समस्त कार्यकलाप का आधार बनाने योग्य नहीं। निस्संदेह इस संसार में मूर्खतापूर्ण सिद्धांतों की भरमार होने के कारण ही यह विचित्र मत व्यापक रूप से स्वीकार किया गया होगा। सिद्धांत वह है जो मनुष्य सोचता है और व्यवहार वह है जो मनुष्य करता है। तब यह कैसे संभव हो सकता है कि मनुष्य सोचे एक बात और करे ठीक उसका उलटा? यदि रोटी बनाने का सिद्धांत यह है कि पहले आटा गूंधा जाए और फिर खमीर उठाने के लिए छोड़ दिया जाए तो सिवा किसी पागल के ऐसा कौन सा व्यक्ति इस सिद्धांत को जाननेवाला होगा जो इसके विपरीत करेगा? किंतु हम लोगों में यह कहने का फैशन-सा चल गया है कि सिद्धांततः तो यह ठीक है, किंतु पता नहीं, व्यवहार की कसौटी पर कैसा उतरे!

जिस काम में मैं लगा हुआ हूँ, उसमें अनुभव ने उसी बात की पुष्टि की जो मैं सदा उसके संबंध में सोचा करता था, अर्थात् यह कि सारी बातें सिद्धांत के अनुसार ही कार्य के रूप में परिणत होती हैं। मैं यह नहीं कहता कि कार्य से सिद्धांत का औचित्य सिद्ध होता है, किंतु वह उससे भिन्न नहीं हो सकता। यदि मैंने किसी विषय पर विचार करने के बाद उसे अच्छी तरह से समझ लिया है तो उसे मैं अपनी समझ के विपरीत नहीं कर सकता।

मैं निर्धनों की सहायता करना चाहता था। इसका एकमात्र कारण यह था कि मेरे पास रुपया था और दूसरे लोगों की भाँति मैं भी इस अंधविश्वास को ठीक समझता था कि रुपया काम का प्रतीक है या साधारणतः एक उचित और अच्छी वस्तु है। किंतु जब मैं रुपया देने लगा तो मुझे मालूम हुआ कि मैं तो उन्हीं हुंडियों को बाँट रहा हूँ, जो निर्धनों के नाम लिखी गई थीं और जिन्हें मैंने इकट्ठा कर रखा था। मैं वही कर रहा था जो बहुत से जमींदार किया करते थे; अर्थात् मैं कुछ अनुचरों से दूसरों अनुचरों की सेवा करा रहा था। मैंने अनुभव किया कि रुपए-पैसे का चाहे कैसा भी उपयोग किया जाए, उससे चाहे कोई वस्तु खरीदी जाए, चाहे वह किसी को दान-स्वरूप दे दिया जाए, उसका एक ही अर्थ है—या तो हम गरीबों के नाम हुंडियाँ लिखकर जारी करते हैं या इन हुंडियों को औरों को दे देते हैं, ताकि वे उनका रुपया गरीबों से वसूल कर लें। अतः मुझे अपने काम की मूर्खता समझ में आ गई। मैंने यह भी देख लिया कि स्वयं रुपया न केवल एक वरदान नहीं है, बल्कि निश्चय ही एक अभिशाप है। वह मनुष्य को सबसे बड़े सुख—परिश्रम करने और अपने परिश्रम के मीठे फल का रसास्वादन करने से वंचित कर देता है। मैंने अनभव किया कि यह सुख मैं किसी दूसरे को हस्तांतरित नहीं कर सकता, क्योंकि वह स्वयं मुझे प्राप्त नहीं है। मैं श्रम नहीं करता और मुझे अपने श्रम का उपयोग करने का सुख

प्राप्त नहीं है।

रुपया क्या है? ऐसे निराकार प्रश्न का विवेचन करना कुछ अर्थहीन-सा प्रतीत हो सकता है; किंतु इस विवेचन ने, जिसे मैंने केवल विवेचन के अभिप्राय से नहीं, बल्कि अपने दु:खों और जीवन के एक प्रश्न को हल करने के लिए आरंभ किया था, मुझे इस प्रश्न का उत्तर दे दिया कि 'हम क्या करें?'

जैसे ही मेरी समझ में आया कि धन और रुपया क्या है, वैसे ही मुझे स्पष्ट और असंदिग्ध रूप से केवल अपना ही नहीं, बल्कि दूसरों का भी कर्तव्य समझ में आ गया और यह भी मालूम हो गया कि सब लोग अनिवार्यतः क्या करेंगे। सच तो यह है कि वही बात, जो मुझे बहुत पहले से मालूम थी, अब ठीक तरह से समझ में आ गई। यह वही सत्य था, जिसका प्रकाश प्राचीनकाल में बुद्ध, इसैया[1] लाओत्से[2] और सुक़रात[3] ने साधारणतः समस्त मानव-जाति को दिया था और बाद में ईसा तथा उनके पूर्ववर्ती संत जॉन-बैपटिस्ट[4] ने अत्यंत स्पष्ट और असंदिग्ध तौर पर विशेष

---

1. *हजरत मूसा ने यहूदी लोगों में जिस धर्म का प्रचार किया था उसमें जब शिथिलता आई तो उसे दूर करने के लिए 'कई संतों का आविर्भाव हुआ जिन्होंने अपनी प्रभावोत्पादक वक्तृत्व-शक्ति तथा धर्मप्रियता द्वारा यहूदियों में फिर से धर्मभाव जागृत किया। इन संतों में इसैया का विशेष स्थान था। उन्हें लोग बहुत मानते थे। जनता में तो उनकी प्रतिष्ठा थी ही, राजा लोग भी उनका बड़ा सम्मान करते थे।'*
2. *ईसा से 500 वर्ष पूर्व इस महान ज्ञानी तथा योगी का चीन देश में जन्म हुआ। उनका उपदेश 'तोओ के सिद्धांत' के नाम से प्रसिद्ध है। तोओ का अर्थ है ब्रह्म अर्थात् प्रकृति में समाया हुआ गूढ तत्त्व। इसका एक अर्थमार्ग भी है।*
   लाओत्से का कहना था कि जिसने तोओ का साक्षात्कार किया है वह सब प्रकार के विधि-निषेधों को पार करके सदा आत्मतुष्ट की भाँति निर्द्वंद और निर्लेप होकर रहता है। यह वेदांत के निवृत्तिमार्गी सिद्धांत से मिलता-जुलता है।
3. *यूनान का विश्ववंदित दार्शनिक तथा तार्किक (499-399 ईसापूर्व) सुकरात की तर्कशैली बड़ी प्रभावशाली थी, प्रश्न-पर-प्रश्न करके वह प्रतिपक्षी से अपने मन की बात कहला लेते थे। इसलिए लोग कहते थे कि यह तो जादू कर देता है।*
   सुकरात पर नवयुवकों को बहकाने और देवी-देवताओं को गाली देने का आरोप लगाकर एक बड़ा लंबा मुकदमा चलाया गया था और उन्हें मृत्यु-दंड दिया गया। किंतु फाँसी पर लटकाए जाने से पूर्व ही सुकरात ने विषपान करके अपनी जीवन-लीला समाप्त कर दी थी।
4. *ईसा मसीह से कुछ समय पहले इस आचार्य का कार्य-काल था। यहूदियों ने उनके उपदेश को ग्रहण किया, उन्हें जॉन ने जोर्डन नदी में स्नान कराके दीक्षा दी, इसीलिए इस दीक्षा (बपतिस्मा) के कारण उनका नाम जॉन दी वेपटिस्ट प्रसिद्ध हुआ। ईसा के जन्म से अट्ठाईस वर्ष पूर्व वह फाँसी पर लटकाकर मार डाले गए।*

रूप से हम ईसाइयों को दिखाया था। जनता के इस प्रश्न का कि 'हम क्या करें?' जॉन बैपटिस्ट ने मुसकराते हुए सरल भाव से यह संक्षिप्त उत्तर दिया था, "जिसके पास दो कोट हैं, वह एक कोट उस आदमी को दे दे, जिसके पास एक भी नहीं है, और जिसके पास भोजन है, वह भी ऐसा ही करे।" (ल्यूक, अध्याय तीन, पद 10-11)। यही बात ईसा ने अनेक बार और भी स्पष्ट रूप से कहीं थी। उनका कहना था, "गरीब धन्य हैं और उन्हें धिक्कार है जो अमीर हैं। उन्होंने यह भी कहा था, "तुम ब्रह्म और माया दोनों की उपासना नहीं कर सकते।" ईसा ने अपने शिष्यों को केवल पैसा न लेने के लिए ही नहीं कहा था, बल्कि दो कोट तक न रखने का आदेश दिया था। उन्होंने धनी युवकों से कहा था कि क्योंकि तुम अमीर हो, तुम खुदा के दरबार में नहीं पहुँच सकते। सूई के नकुए में से होकर ऊँट का निकल जाना उतना कठिन नहीं जितना धनवान का ईश्वर के दरबार में पहुँचना। ईसा ने तो घोषणा कर दी थी कि जो लोग उनका अनुसरण करने के लिए, घर बार, बाल-बच्चे, खेती-बारी, सब कुछ त्यागने के लिए तैयार नहीं होंगे उन्हें वह अपना शिष्य नहीं मानेंगे। उन्होंने उस धनी का उदाहरण सुनाया जिसने अन्य धनियों के समान शान से खाने-पीने और पहनने के अलावा और कोई पाप नहीं किया था; किंतु जिसने इन्हीं बातों के कारण अपनी आत्मा कलुषित कर ली थी। साथ-ही-साथ ईसा ने लैज़ेरस[1] नामक कंगाल की भी कथा सुनाई थीं, जिसने कोई अच्छा काम तो नहीं किया था, किंतु

1. *लैज़ेरस एक गरीब फकीर था, जिसके शरीर में कुष्ठ के घाव थे। वह एक अमीर आदमी के द्वार पर खड़ा रहता था। कुत्ते आकर उसके घाव को चाटते। वह अमीर बड़ी शान से रहता, खूब खाता-पीता और मौज करता। लैज़ेरस उसके जूठे टुकड़े खाकर ही किसी तरह गुज़ारा करता था। किंतु जब वह मरा तो हजरत इब्राहीम ने प्रेमपूर्वक उसे अपनी गोद में लिटा लिया। वह धनी मरने पर कब्र में दफना दिया गया और उसे नरक मिला। जब उसकी आँख खुली तब वह असह्य नारकीय पीड़ा से व्यथित हो उठा और देखा कि वह नाचीज गरीब लैज़ेरस—जो उसके द्वार पर पड़ा रहता और उसकी जूठन खाकर जीता था—आनंद से इब्राहीम की गोद में लेटा हुआ है। उसने चिल्लाकर कहा, "पिता! दया करके जरा लैज़ेरस को भेज दो ताकि वह मेरे मुँह में पानी की दो बूँदे डाल जाए। मैं तो इस आग में झुलसा जाता हूँ।" पर इब्राहीम ने कहा, "पुत्र! यह नहीं हो सकता। तूने अपने जीवन में आनंद किया और यह यहाँ आनंद कर रहा है। दूसरे, हमारे बीच में एक बड़ा खड्डा है, जिसे पार करके कोई आ-जा नहीं सकता।" उस धनिक ने तब प्रार्थना की कि लैज़ेरस को दुनिया में उसके बाप के घर भेज दिया जाए, ताकि उसके जो चार भाई हैं वे सबक सीखें और इस यातना से बचें। इब्राहीम ने उत्तर दिया कि दुनिया में हजरत मूसा और अन्य पैगंबर हैं। जो लोग उनकी बातें नहीं सुनेंगे, वे मरकर फिर जिंदा हो जानेवाले लैज़ेरस की बात की भी परवा न करेंगे।*

जिसका त्राण केवल इसलिए हो गया कि वह कंगाल था।"

इस सत्य से मैं पहले से ही भली-भाँति परिचित था; किंतु संसार की झूठी शिक्षा ने उसे इतना आच्छादित कर दिया था कि वह एक सिद्धांतमात्र रह गया था या जैसा कि लोग सिद्धांत का अर्थ लगाते हैं, वह कोरा शब्दाडंबर-मात्र रह गया था। किंतु जैसे ही मैंने अपने मन पर से साँसारिक शिक्षा के आडंबरों का अवगुंठन हटाया, वैसे ही सिद्धांत व्यवहारिकता में घुल-मिल गया और उसके फलस्वरूप मेरे तथा सभी मानवों के जीवन की यथार्थता मेरी आँखों के सामने नाच उठी।

मेरी समझ में आ गया कि मनुष्य को केवल अपने ही कल्याण के लिए नहीं, बल्कि दूसरों के कल्याण के लिए भी उद्योगशील होना चाहिए और यदि हमें पशु-जीवन से ही दृष्टांत लेना हो, जैसा कि बहुत-से लोगों को हिंसा और संघर्ष की सफाई देते समय पशु-समाज के जीवन-संघर्ष का उदाहरण देने का शौक है, तो हमें मधुमक्खी-जैसे सामाजिक जंतुओं के जीवन से आदर्श ग्रहण करना चाहिए। मेरी समझ में यह भी आ गया कि विवेक और जन्मजात बंधुत्व की बात तो अलग रही, मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा है कि वह दूसरों की सेवा करे और मानव-जाति के सामुदायिक हित के लिए उद्योग करे। यही मनुष्य का प्राकृतिक नियम है और इसका पालन करके ही वह अपने जीवनोद्देश्य को प्राप्त कर सुखी हो सकता है। मेरी यह भी समझ में आ गया कि इस नियम का उल्लंघन हुआ है और अब भी होता है। लुटेरी मधुमक्खियों की भाँति कुछ लोग अपने बल का दुरुपयोग करके स्वयं तो काम से बचकर दूसरों के श्रम का शोषण करते हैं और अपनी चेष्टा सामूहिक हित-साधन में न लगाकर अपनी निरंतर बढ़ती हुई वासनाओं को तृप्त करने में लगाते हैं और फिर लुटेरी मधुमक्खियों के समान ही उन वासनाओं के फलस्वरूप मर मिटते हैं। मैं समझ गया कि मनुष्य के दुर्भाग्य का कारण वह दासता है, जिसमें कुछ लोग दूसरों को बाँधे रहते हैं। मैं यह भी समझ गया कि हमारे युग की दासता के तीन कारण हैं—सैनिक हिंसा, भूमि की जब्ती और रुपए का हड़पा जाना। नवीन दासता के इन तीनों शस्त्रों का अर्थ समझ जाने के बाद यह अनिवार्य था कि मैं उससे मुक्त रहने की इच्छा करता।

मेरी अधीनता में बहुत-से दास थे। किंतु जब मुझे इस स्थिति की अनैतिकता का ज्ञान हुआ तब मैंने प्रकाश में आए हुए अन्य व्यक्तियों की तरह उसमें से निकलने की चेष्टा की। स्वामित्व के अपने अधिकार को अनैतिक समझकर मैंने यह निर्णय किया कि जब तक मैं इन अधिकारों का पूर्णरूप से त्याग न कर लूँगा, तब तक इन अधिकारों का कम-से-कम उपभोग करूँगा और दूसरों को इस प्रकार का जीवन व्यतीत करने दूँगा मानो मुझे ये अधिकार प्राप्त ही नहीं है। साथ-ही-साथ मैंने दूसरे

स्वामियों के मन में भी यह धारणा बैठाने की सब तरह से चेष्टा की कि हमारे ये काल्पनिक अधिकार पाप और अमानुषिकता से भरे हुए हैं। स्वभावतः आजकल की दासता के संबंध में भी मैं यही कह सकता हूँ। जब तक मैं उन समस्त अधिकारों का पूर्वरूप से परित्याग न कर दूँ, जो मुझे रुपया और भूमि का स्वत्वाधिकारी होने के नाते मिले हैं और जो सैनिक बल-प्रयोग के सहारे टिके हुए हैं, तब तक मेरे लिए एक यही रास्ता है कि मैं अपने अधिकारों का कम-से-कम उपभोग करूँ और साथ-ही-साथ इन कृत्रिम अधिकारों की अवैधता और अमानुषिकता को यथासंभव दूसरों को समझाने की चेष्टा करूँ। दासों की दासता में स्वामी के भागीदार होने का क्या अर्थ है ? यही कि वह दूसरों के श्रम का उनभोग करता है, चाहे ऐसा करने का आधार उसके दासता-संबंधी अधिकार हों चाहे उसके जमीन और रुपए-संबंधी अधिकार।

इसलिए यदि कोई व्यक्ति वस्तुतः दासता को नापसंद करता है और उसमें भागीदार होना नहीं चाहता तो सबसे पहले उसे यह करना चाहिए कि वह दूसरों के श्रम का किसी प्रकार भी उपभोग न करे—न तो जमीन पर अधिकार करके, न सरकारी नौकरी के द्वारा और रुपयों के द्वारा। इस प्रकार यदि कोई व्यक्ति दूसरों के श्रम-शोषण की प्रचलित युक्तियों का परित्याग कर दे तो उसके लिए यह अनिवार्य हो जाएगा कि एक ओर तो वह अपनी आवश्यकताएँ कम करे और दूसरी ओर स्वयं उन कामों को करने लगे, जो पहले दूसरे लोग उसके लिए किया करते थे।

यह सरल और अनिवार्य निष्कर्ष मेरे जीवन के एक-एक कार्य में व्याप्त हो गया और उसने मेरे जीवन में तत्काल परिर्वतन करके मुझे उन नैतिक यातनाओं से मुक्त कर दिया, जिनका अनुभव मुझे लोगों का दुःख और दुराचार देखकर हुआ था। इसके अतिरिक्त उसने तीनों कारणों को, जिन्होंने मेरे लिए निर्धनों की सहायता करना असंभव कर दिया था और जिनका ज्ञान मुझे अपनी असफलता का हेतु ढूँढ़ते समय हुआ था, निर्मूल कर दिया।

पहला कारण यह था कि लोग शहरों में ही खचाखच भर गए थे और गाँवों का धन नगरों में खपा रहा था। यदि हममें सरकारी नौकरी, जमींदारी या रुपए द्वारा दूसरे के श्रम का शोषण न करने की इच्छा-भर उत्पन्न हो जाए और उसके फलस्वरूप यदि हममें अपनी आवश्यकता को अपनी ही पूरी शक्ति और योग्यता से पूर्ण करने की अभिलाषा-भर जाग उठे तो कभी हमारे मस्तिष्क में गाँवों को छोड़कर—जहाँ हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति सबसे सरलतापूर्वक हो सकती है—उन शहरों में जाने का विचार ही न उठे जहाँ प्रत्येक वस्तु किसी दूसरे के श्रम का प्रतिफल होती है और जहाँ सारे पदार्थ खरीदने पड़ते हैं। यदि ऐसा हो तो हम गाँवों में जरूरतमंदों

की सहायता करने में समर्थ हो सकते हैं और वहाँ हमें उस बेबसी की भावना का अनुभव नहीं करना पड़ेगा, जिसका मुझे शहर में अपने नहीं, बल्कि दूसरों के श्रम से निर्धनों की सहायता करते समय अनुभव हुआ था।

दूसरा कारण था धनवानों का कंगालों से अलग होना। यदि हम सरकारी नौकरी, जमींदारी या रुपए द्वारा दूसरों के श्रम का शोषण करने की इच्छा न करें तो इतने से ही हम अपनी आवश्यकताएँ आप पूर्ण कने के लिए विवश हो जाएँगे और हमको श्रमजीवियों से विलग करनेवाली दीवार आप-से-आप हट जाएगी। तब हम मजदूरों के साथ घुल-मिलकर उनके कंधे-से-कंधा मिलाकर चलेंगे। जिसके फलस्वरूप उनकी सहायता करना हमारे लिए संभव हो जाएगा।

तीसरा कारण था वह लज्जा-भाव जिसका प्रादुर्भाव मेरी इस चेतना के फलस्वरूप हुआ था कि जिस पैसे से मैं दूसरों की सहायता करना चाहता हूँ, उसका अधिपति बनना मेरे लिए पाप है। सरकारी नौकरी, जमींदारी या रुपए द्वारा दूसरों के श्रम-शोषण की इच्छा को त्यागने-भर की देर है, फिर देखिएगा कि हमारे पास अलंकार उत्पन्न करनेवाला वह फालतू धन रहेगा ही नहीं, जिसको मेरे पास देखकर बे-पैसेवाले लोग मेरे सामने ऐसी माँगे उपस्थित करने लगे थे, जिनको पूर्ण करने में मैं असमर्थ था और जिनके फलस्वरूप मुझमें अपनी भूल की अनुभूति जागृत हुई थी।

दूसरों के श्रम का शोषण क्यों ?

मैंने देखा कि मनुष्य के दुःख और पतन का कारण यही है कि कुछ लोग दूसरों के दासता-पाश में बँधे हुए हैं। स्वभावतः मैं इस सरल निष्कर्ष पर पहुँचा कि यदि दूसरों की सहायता करना मुझे अभीष्ट है तो सबसे पहले मुझे चाहिए कि जिन दुःखों को मैं दूर करना चाहता हूँ, भविष्य में उनकी पुनरावृत्ति का कारण न बनूं, अर्थात मानव को दास बनाने की क्रिया में भाग न लूँ। किंतु इस क्रिया की ओर मेरे आकर्षित होने का कारण यह था कि बचपन से ही मुझे स्वयं अपने हाथों से काम न कर दूसरों के श्रम का उपयोग करने का अभ्यास पड़ गया था और मैं ऐसे समाज में रहता आया था और अब भी रहता हूँ जो इस क्रिया का केवल अभ्यस्त ही नहीं हो गया है, बल्कि जो उसको हर प्रकार के धूर्ततापूर्ण और भद्दे मिथ्याडंबरों द्वारा उचित ठहराता है। अतः मैं इस सीधे-सादे नतीजे पर पहुँचा कि लोगों का दुःख और पतन के त्राण करने को मेरे लिए आवश्यक है कि मैं दूसरों के श्रम का कम-से-कम उपयोग करूँ और स्वयं यथाशक्ति अधिक-से-अधिक कार्य करूँ। लंबा चक्कर

काटने के बाद मैं अंततः उसी अनिवार्य निष्कर्ष पर पहुँचा, जिसको हजारों वर्ष पहले चीनियों ने इस कहावत में व्यक्त किया था, ''यदि इस संसार में कोई एक व्यक्ति आलसी है तो निश्चय ही उसके परिणामस्वरूप कोई दूसरा आदमी भूखा मरता होगा।'' मैं इस सरल और स्वाभाविक परिणाम पर पहुँचा कि जिस थके हुए घोड़े की पीठ पर मैं सवार हूँ, उसके प्रति यदि मुझे सहानुभूति है और उसकी इस दशा के लिए मुझे वस्तुतः खेद है तो मेरा सबसे पहला कर्तव्य यह होना चाहिए कि मैं उसकी पीठ पर से उतर पड़ूँ और स्वयं अपने पैरों से चलने लगूँ।

यह उत्तर—जिससे हमारी नैतिक भावनाओं को पूर्ण संतुष्टि मिलती है—मेरी आँखों के सामने स्पष्ट रूप से खड़ा था। वस्तुतः वह प्रत्येक व्यक्ति को बिलकुल साफ दिखाई देता रहता है, किंतु हम उसे देखकर भी नहीं देखते और इधर-उधर भटकते-फिरते हैं।

अपनी सामाजिक व्याधियों के उपचार के लिए हम चारों ओर दृष्टि दौड़ाते हैं; सरकारी, सरकार-विरोधी, वैज्ञानिक और परोपकारी अंधविश्वासों की दिशाओं में देखते हैं; किंतु जो वस्तु सबकी आँखों के सामने है उसे नहीं देखते।

हम लोग बंद कमरों में मल-त्याग करते हैं और चाहते हैं कि दूसरे लोग उन्हें साफ करें। फिर भी हम यह ढोंग रचते हैं कि हमें उनके लिए दुःख है और हम उनका काम आसान बनाना चाहते हैं। इतना ही नहीं इसके लिए हम नाना प्रकार की युक्तियाँ भी निकालते हैं; किंतु जो सबसे सरल उपाय है उसे नहीं करते; अर्थात् हम यह नहीं करते कि यदि हमें घर के भीतर ही मल-त्याग करना है तो हम उसे साफ करके स्वयं बाहर पहुँचा दें या निवृत्त ही बाहर जाकर हों।

जिसे अपने आसपास के लोगों को देखकर सचमुच दुःख होता है, उसके लिए यह एक बड़ी स्पष्ट, सरल और सीधी युक्ति है, और यही एकमात्र युक्ति है, जिसकी सहायता से वह संसार में फैले हुए दुःख-दारिद्र्य को दूर कर सकता है और मन-ही-मन यह संतुष्टि अनुभव कर सकता है कि वह नैतिक रूप से जीवनयापन कर रहा है। यह वही युक्ति है जो जॉन बैपटिस्ट ने हमें 'हम करें क्या' प्रश्न के उत्तर में बतलाई थी और बाद को ईसा ने भी जिसका समर्थन किया था—एक से अधिक कोट अपने पास मत रखो और रुपए-पैसे को तो अपने निकट फटकने तक न दो; अर्थात् दूसरों के परिश्रम से लाभ न उठाओ और इसलिए सबसे पहले जितना भी हो सके अपने-आप काम करो।

कितनी सरल और स्पष्ट बात है यह! किंतु यह सरल और स्पष्ट तभी है जब हमारी आवश्यकताएँ भी सरल और स्पष्ट हों, जब हम स्वस्थ हों और सुस्ती तथा काहिली ने भीतर-ही-भीतर हमें बिलकुल चाट न लिया हो। मैं गाँव में रहता हूँ,

भाड़ की छत[1] पर पड़ा रहता हूँ और अपने पड़ोसी को, जिस पर मेरा कुछ कर्ज है, आदेश देता हूँ, ''लकड़ी काटकर लाओ, और भाड़ में आग जलाओ।'' यह स्पष्ट है कि मैं काहिल हूँ और अपने पड़ोसी को उसके अपने काम से हटा रहा हूँ। इसलिए अंततः मुझे लज्जा आएगी और इस प्रकार निरंतर पड़े-पड़े मैं उकता जाऊँगा और यदि मेरे पुट्ठों में दम होगा तथा मुझे काम करने की आदत होगी तो मैं स्वयं जाऊँगा और लकड़ी काट लाऊँगा।

किंतु विविध प्रकार की दासता का प्रलोभन बहुत दिनों से चला आ रहा है और उसके कारण अनेक कृत्रिम आवश्यकताएँ उठ खड़ी हुई हैं। जो लोग न्यूनाधिक मात्रा में इन आवश्यकताओं के अभ्यस्त हैं, उनका परस्पर संबंध घनिष्ठ हो गया है और पीढ़ियों से बिगड़ते-बिगड़ते लोग कुंठित हो गए हैं। इसके अतिरिक्त लोगों के सामने बड़े जटिल प्रलोभन हैं और विलासिता तथा आलस्य के पक्ष-समर्थन में बड़ी-बड़ी बातें ढूँढ़ निकाली गई हैं। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ है कि जो मनुष्य आलसी व्यक्तियों से लदी हुई सीढ़ी के सबसे ऊपरवाले डंडे पर हैं, उसके लिए अपने पाप को समझना उतना सरल नहीं जितना कि अपने पड़ोसी को भाड़ गरम करने की आज्ञा देनेवाले किसान के लिए है।

जो लोग सबसे ऊपरवाली सीढ़ी पर होते हैं उनके लिए यह समझना बड़ा कठिन होता है कि उनका कर्तव्य क्या है। आलस्य की इस सीढ़ी पर ऊँचे खड़े होकर जब वे नीचे उस स्थान की ओर देखते हैं जहाँ जीवन-यापन के लिए उन्हें उतरना अनिवार्य है—यह जीवन पूर्णतः अच्छा भले ही न हो, फिर भी वह बिलकुल अमानुषिक नहीं होता—तो ऊँचाई के कारण उनका मस्तिष्क चकरा जाता है और इसीलिए यह साधारण तथा स्पष्ट सत्य उनको विचित्र प्रतीत होता है।

जिस आदमी के पास दस नौकर, वर्दीदार चपरासी, साईस, रसोइया, चित्र तथा पियानो हैं उसे यह बात सचमुच विचित्र ही नहीं हास्यास्पद भी मालूम होगी कि प्रत्येक मनुष्य का यह सरलतम और सर्वप्रथम कर्तव्य है कि वह अपना भोजन बनाने और अपने को गरम रखने के लिए लकड़ी खुद काटे; अपने जूते और पैताबे, जिन्हें पहने-पहने ही वह लापरवाही के कारण धूल में चला गया है, स्वयं साफ करे; अपनी शारीरिक सफाई के लिए पानी स्वयं लाए और सफाई कर चुकने के बाद गंदे

---

1. *रूसी किसानों के झोंपड़ों में ईंट की भाड़ इस तरह बनाई जाती है कि उससे झोंपड़ा भी गरम रहे और वह खाना बनाने का भी काम दे। उसकी चौरस छत पर सोने में बड़ा आराम मिलता है।*

पानी को स्वयं ही फेंक भी आए। यहाँ मनुष्य से मेरा अभिप्राय किसी विशेष सत्पुरुष से नहीं, बल्कि ऐसे व्यक्ति से है जो मनुष्य-भर है और जानवर नहीं है।

सत्य से दूर रहने के अतिरिक्त एक और भी कारण है जो मनुष्य को यह नहीं समझने देता कि जो कार्य मानवता का सबसे सरल और सबसे अधिक स्वाभाविक कार्य है, उसे करना उसके लिए अनिवार्य है। वह कारण है धनी मनुष्य के जीवन की जटिलता और उसके चारों तरफ रहनेवाले लोगों के परस्पर संबंधित स्वार्थ।

आज सवेरे मैं उस दालान में गया जहाँ अँगीठियाँ जलाई जाती हैं। एक किसान उस अँगीठी को जला रहा था, जिससे मेरे लड़के का कमरा गरम रहता है। मैं लड़के के कमरे में गया, वह तब भी सो रहा था। ग्यारह बज चुके थे और छुट्टी का दिन था। इसलिए बहाना बनाया जा सकता था कि पढ़ाई तो करनी है।

अठारह साल का एक मोटे शरीरवाला छोकरा, जिसके दाढ़ी निकल आई थी और जिसने पिछली रात खूब डटकर खाना खाया था, ग्यारह बजे तक पड़ा सो रहा था। किंतु उसी की उम्र का एक किसान सवेरे ही उठ बैठा था। अब तक वह बहुत-सा काम निबटा चुका था और इस समय दसवीं अँगीठी सुलगा रहा था, जबकि मेरा लड़का पड़ा सो रहा था। मेरे मन में विचार आया, "कितना अच्छा हो यदि इस किसान से उस हट्टे-कट्टे काहिल शरीर को गरमी पहुँचाने के लिए अँगीठी न जलवाई जाए। किंतु तत्काल मुझे याद आया कि इस अँगीठी से रसोई बनानेवाली स्त्री का कमरा भी तो गरम होता है। उसकी आयु चालीस वर्ष की थी और रात को मेरे लड़के ने जो खाना खाया था उसे तैयार करने और फिर तश्तरियों को हटाने आदि में वह सवेरे तीन बजे तक लगी रही थी। फिर भी वह सवेरे सात बजे उठ बैठी थी। वह अपने लिए अँगीठी नहीं जला सकी थी, क्योंकि उसके पास समय ही नहीं था। किसान उसके लिए भी अँगीठी जला रहा था उसके कारण उस काहिल लड़के को भी गरमी मिल रही थी।

यह सच है कि सब लोगों के हित एक-दूसरे से बँधे होते हैं, किंतु थोड़े से प्रयत्न से ही प्रत्येक व्यक्ति का अंत:करण यह बता देता है कि कौन मेहनत करता है और कौन आलसी है। यह बात केवल अंत:करण ही नहीं बतलाता, इसका सबसे स्पष्ट ज्ञान हमारी बहियों से होता है। मनुष्य जितना अधिक व्यय करता है, उतना ही अधिक वह दूसरों को अपने लिए कार्य करने को विवश करता है। इसके विपरीत, वह जितना कम खर्च करता है, उतना ही अधिक वह स्वयं अपने हाथ-पैर चलाता है।

तो फिर उद्योग, सार्वजनिक हित के कार्यों और इन सबसे भयंकर वस्तु संस्कृति—कला तथा विज्ञान—के विकास का क्या होगा?

दूसरों के रक्त से सनी हमारी रंगरलियाँ

पिछले साल[1] मार्च के महीने में मैं एक दिन संध्या संमय कुछ देर से लौट रहा था। जूबोव-सड़क से खामोवनी की गली में मुड़ते हुए मुझे वर्जिन्स मैदान के बर्फ पर कुछ चलती-फिरती काली-काली परछाइयाँ दिखलाई दीं। उस ओर मेरा ध्यान जाता भी नहीं, यदि गली के किनारे खड़े हुए सिपाही ने उन परछाइयों की ओर देखते हुए चिल्लाकर न कहा होता—

"वासिली! तू उसे लाता क्यों नहीं?"

"वह नहीं आती," उस ओर से एक आवाज आई और इसके बाद काली परछाइयाँ पुलिसवाले की ओर आने लगीं।

मैंने रुककर पुलिसवाले से पूछा कि क्या बात है? उसने उत्तर दिया, "रज़ानोफ़-भवन से बदमाश लड़कियाँ पकड़कर लाए हैं और उन्हें थाने लिए जा रहे हैं। यह लड़की पीछे रह गई है, देखिए चलने का नाम ही नहीं लेती।"

भेड़ की खाल का कोट पहने एक चौकीदार उस लड़की को ला रहा था। वह आगे-आगे चल रही थी और चौकीदार उसे पीछे से ढकेल रहा था। हम सब—चौकीदार, पुलिसमैन और मैं—गरम कपड़े पहने हुए थे, किंतु उस लड़की के शरीर पर एक लंबा फ्रॉक-भर था। अँधेरे में मैं इतना ही मालूम कर सका कि उसका फ्रॉक बादामी रंग का था और उसने अपने सिर तथा गर्दन पर एक रूमाल लपेट रखा था। वह नाटी थी, जैसे कि भुक्खड़ लोग होते हैं। उसकी टाँगें छोटी थीं और उसका शरीर बेडौल तरीके पर चौड़ा और भद्दा था।

पुलिसमैन ने चिल्लाकर कहा, "अरी, ओ शैतान की बच्ची! तेरे लिए क्या हम यहाँ रात-भर खड़े रहेंगे? बढ़ती है आगे, या बताऊँ तुझे?"

उसकी बात से साफ मालूम पड़ रहा था कि वह थका हुआ है और उस स्त्री के मट्ठड़पन के कारण अधीर हो उठा है। स्त्री कुछ कदम आगे चली और फिर रुक गई। बूढ़ा चौकीदार, जो एक अच्छा आदमी है और जिसे मैं जानता हूँ, उसकी बांह पकड़कर खींचता हुआ बोला, "फिर रुकी तू! अभी बताता हूँ कि रुकना किसे कहते हैं। बढ़ आगे!"

उसने क्रोध का-सा भाव दिखलाया, जिस पर वह स्त्री लड़खड़ाई और कर्कश स्वर में बड़बड़ाने लगी। उसका स्वर वनावटी और फटे बांस जैसा था।

वह बोली, "धक्के क्यों देते हो? चल तो रही हूँ।"

---

1. *अर्थात् सन् 1884।*

''सर्दी से ठिठुरकर मर जाएगी,'' चौकीदार ने कहा।

''हम-जैसों को ठंड नहीं सताती। मेरे अंदर बहुत-सा गरम-गरम खून है।''

उसने यह बात हँसी में कही थी; किंतु लगी गाली-सी। हमारे घर के फाटक से थोड़ी ही दूर लैम्प के खंभे के पास वह फिर रुकी और आँगन की लकड़ीवाली चहारदीवारी का सहारा लेकर झुकी—झुकी ही क्यों, लगभग गिर पड़ी—और अपनी गंदी ठंडी अँगुलियों से जेबों में कुछ टटोलने लगी। चौकीदार उस पर फिर गुर्राए; किंतु वह थोड़ी-सी बड़बड़ाई भर और जेबें टटोलती रही। एक हाथ से उसने एक सिगरेट निकाली, जो मेहराब की तरह झुक गई थी और दूसरे हाथ से दियासलाई। मुझे उसके पास जाने में लज्जा मालूम हुई, इसलिए मैं रुक गया। किंतु खड़े होकर तमाशा देखते रहने में भी लज्जा मालूम देती थी। अंत में दृढ़ निश्चय करके मैं उसके पास गया। वह लकड़ी की चहारदीवारी से कंधा टेके झुकी खड़ी थी और उस पर रगड़-रगड़कर दियासलाई की तीलियों को जलाने की चेष्टा कर रही थी और जब वे नहीं जलती थीं तो उन्हें उठाकर फेंक देती थी । मैंने उसके चेहरे पर दृष्टि डाली। उसे निस्संदेह पेट-भर खाना मयस्सर नहीं होता था; किंतु ऐसा लगता था कि वह जवानी पार कर चुकी थी। मेरी आँखों में वह तीस साल की जंची। उसका चेहरा मटमैले रंग का था और उसकी आँखें छोटी, धुँधली और शराबियों-जैसी थी। उसकी नाक गांठदार और होंठ टेढ़े थे, जिनके कोने से लार बह रही थी। उसके रूमाल से सूखे बालों का एक छोटा गुच्छा लटक रहा था। उसका शरीर लंबा और चपटा था और उसके हाथ-पैर छोटे थे। मैं उसके सामने खड़ा हो गया। मेरी ओर देखकर वह इस प्रकार मुसकराई मानो कहना चाहती थी, ''मुझे पता है कि तुम क्या सोच रहे हो।''

मुझे ऐसा लगा कि मुझे उससे कुछ कहना है और मैंने यह दिखलाना चाहा कि मुझे उस पर दया आती है।

''क्या तुम्हारे माँ-बाप जिंदा हैं?'' मैंने पूछा।

वह एक कर्कश हँसी हँसी, फिर एकाएक रुक गई और अपनी भौहें तानकर मेरी ओर देखने लगी।

''तुम्हारे माँ-बाप जिंदा हैं?'' मैंने फिर पूछा।

वह कुछ ऐसे भाव से मुसकराई मानो कहना चाहती हो, ''आपको भी क्या अजीब सवाल पूछने को मिला है!''

''मेरी माँ है, लेकिन तुम्हें इससे क्या?'' वह बोली।

''तुम्हारी उम्र कितनी होगी?''

''पंद्रह से कुछ ऊपर,'' उसने तत्परता से कहा। स्पष्टत: वह इस प्रश्न का उत्तर देने की अभ्यस्त हो गई थी।

''चल, चल, तेरे साथ हम यहाँ ठंड में अकड़ जाएँगे, तेरा नाश हो,'' पुलिसवाले ने चिल्लाकर कहा और स्त्री चहारदीवारी को छोड़कर लड़खड़ाती हुई आगे बढ़ी और झूमती-झामती खामोवनी की सड़क के रास्ते थाने की ओर चल दी। मैं फाटक पर से लौट आया और अंदर पहुँचकर मैंने पूछा कि मेरी लड़कियाँ बाहर से लौट आईं या नहीं। पता चला कि वे एक पार्टी में गई थीं और वहाँ उन्होंने छककर मौज उड़ाई थी। वे वापस आ गई थीं और सो रही थीं।

दूसरे दिन सवेरे मैं कोतवाली जाना चाहता था, ताकि वहाँ जाकर मालूम करूँ कि पुलिसवालों ने उस बेचारी औरत के साथ क्या किया। मैं तड़के ही तैयार हो गया और जानेवाला ही था कि एक आदमी[1] मिलने आ गया। वह उच्च वर्ग के उन अभागों में से था जो अपनी दुर्बलताओं के कारण अच्छी अवस्था से गिरकर गरीबी में फँस जाते हैं और जिनकी अवस्था कभी सुधरती और कभी बिगड़ती रहती है। उसे मैं तीन वर्ष से जानता था। इस बीच में वह कई बार अपना सब कुछ, यहाँ तक कि तन के कपड़े भी, गिरवी रख चुका था। अभी कुछ ही दिन पहले भी उसको ऐसा करने के लिए बाध्य होना पड़ा था और उन दिनों वह रात रज़्हानोफ-भवन की किसी कोठरी में काटता था और दिन में मेरे यहाँ काम करता था। मैं बाहर निकला ही था कि वह आ धमका और मेरी बात सुने बिना ही बताने लगा कि पिछली राज रज़्हानोफ-भवन में उसके साथ क्या बीती थी। अभी बात आधी भी नहीं हो पाई थी कि वह बूढ़ा, जो अपने जीवन के सब उतार-चढ़ाव देख चुका था, फूट-फूटकर रोने लगा और दीवार की ओर मुँह करके खड़ा हो गया। उसने जो बात कही वह बिल्कुल सत्य थी। बाद में मैंने स्वयं रज़्हानोफ-भवन जाकर इसकी जाँच-पड़ताल की और वहाँ मुझे कई नई बातें मालूम हुईं, जिनको मैं उसकी बताई हुई गाथा के ही साथ जोड़ दूँगा। उसने जो कहानी सुनाई वह इस प्रकार थी—

''उस सराय के निचले हिस्से के 32 नंबर के कमरे में, जहाँ मेरा मित्र सोया करता था, बहुत-से स्त्री-पुरुष अस्थायी रूप से रहा करते थे। वे पाँच कोपेक पर एक-दूसरे के साथ सो जाए करते थे। उनमें एक धोबिन भी थी, जिसकी आयु लगभग तीस वर्ष की थी। उसके बाल हलके भूरे रंग के थे और वह शांत तथा अच्छे आचार-व्यवहार की थी; किंतु बीमार मालूम पड़ती थी। उस कमरे की मालकिन एक मल्लाह की रखैल थी। गरमियों में उसका प्रेमी नाव चलाया करता था और

1. यह आदमी ए. पी. इवानोफ था, जो बीच-बीच में कई वर्ष तक टॉल्सटॉय के यहाँ नकलनवीस का काम कर चुका था।

सर्दियों में वे यात्रियों को रात-भर के लिए एक खाट तीन कोपक में बिना तकिए के और पाँच कोपेक में मय तकिए के किराए पर उठाकर अपनी जीविका चलाते थे। धोबिन को वहाँ रहते कई महीने हो गए थे और वह शांत स्वभाव की थी। किंतु पिछले कुछ दिनों से लोग उसे नफरत करने लगे थे; क्योंकि उसकी खाँसी के कारण लोग सो नहीं पाते थे। विशेष रूप से अस्सी वर्ष की एक सनकी-सी बुढ़िया को, जो वहाँ स्थायी रूप से रहा करती थी, उस धोबिन के प्रति बड़ी अश्रद्धा हो गई थी और वह उससे नींद में विघ्न डालने तथा रात-भर भेड़ की तरह खाँसते रहने के लिए बराबर लड़ती-झगड़ती रहती थी। धोबिन चुप रहती थी। उस पर मकान का किराया चढ़ गया था और वह अपने को दोषी समझती थी; इसलिए बेचारी को चुप रहना पड़ता था। वह दिन-पर-दिन कमजोर होती जा रही थी और काम पर कम जा पाती थी, इसलिए वह मकान-मालकिन का किराया नहीं दे सकी थी। पिछले सप्ताह वह काम पर बिलकुल नहीं जा पाई थी और उसकी खाँसी से सब लोग तंग आ गए थे, विशेष रूप से वह बुढ़िया जो स्वयं काम पर नहीं जाती थी। चार दिन हुए मालकिन ने उससे मकान खाली करने को कह दिया था। साठ कोपेक[1] उस पर पहले से ही उधार थे, जो उसने अभी नहीं दिए थे और जिनके मिलने की आशा भी नहीं रह गई थी। सोने के सारे तख्ते घिरे हुए थे और दूसरे किराएदार धोबिन की खाँसी की शिकायत करते थे।

मालकिन ने जब धोबिन से कहा कि या तो बाकी किराया दे दे या यहाँ से चलती बन, तो बुढ़िया बड़ी प्रसन्न हुई और उसने धोबिन को आँगन में ला खड़ा किया। धोबिन चली गई, किंतु घंटे-भर बाद वापस आ गई और मालकिन उसे फिर से निकाल बाहर करने की निर्दयता न दिखा सकी। दो दिन तो धोबिन वहीं रही और बराबर गिड़गिड़ाती रही, ''मैं कहाँ जाऊँ?'' लेकिन तीसरे दिन मालकिन का प्रेमी, जो मास्को का रहनेवाला था और शहरों के कायदे-कानून जानता था, पुलिस को बुला लाया। तलवार और लाल डोरी में बँधी पिस्तौल से एक पुलिसवाला सराय में आया और उसने शांति और सभ्यता के साथ धोबिन को निकाल बाहर किया।

वह मार्च का महीना था। दिन साफ था और सूर्य चमक रहा था, किंतु पाला पड़ रहा था। बर्फ़ गल-गलकर नालियों में बह रहा था और चौकीदार सड़कों पर जमे हुए बर्फ को तोड़ रहे थे। बर्फ पर चलनेवाली बिना पहियों की गाड़ियाँ कड़े बर्फ से टकराकर झटके खाती थीं और कभी-कभी नंगे पत्थरों से लग जाने के कारण उनमें से उल्लू के बोलने की-सी आवाज होती थी। धोबिन ढाल के उस ओर गई जहाँ

1. *लगभग तेरह आने।*

धूप फैली हुई थी और गिरजाघर पहुँचकर उसके बरामदे में धूप में बैठ गई। किंतु जब सूर्य मकान के पीछे डूबने लगा और गड़हियों में फिर बर्फ जमने लगा तो वह ठंड के मारे घबराई। वह उठी और मानो अपने शरीर के बोझ को खींचती हुई आगे बढ़ी परंतु किस ओर? घर, उसी एकमात्र घर की ओर जहाँ वह अभी तक रहा करती थी। ठहर-ठहरकर दम लेती हुई जब वह यहाँ पहुँची तो अँधेरा होने लगा था। फाटक में घुसकर वह अंदर की ओर मुड़ी ही थी उसका पैर फिसल गया और वह चीख मारकर गिर पड़ी।

पहले एक आदमी उधर से निकला और फिर दूसरा। उन्होंने सोचा, पिए हुए है। एक और आदमी निकला और उससे टकरा गया। तब वह दरबान से बोला, ''कोई औरत शराब पिए फाटक में पड़ी है। मैं तो उससे टकरा गया था और मेरा सिर फूटते-फूटते बचा। उसे यहाँ से हटवाते क्यों नहीं?''

दरबान उसको देखने गया, लेकिन धोबिन मर चुकी थी।

यही वह कहानी है जो मित्र ने मुझे सुनाई। आप सोचेंगे कि शायद मैं उस पंद्रहवर्षीय वेश्या से अपनी मुलाकात की बात और धोबिन की कहानी छाँटकर एक साथ रख रहा हूँ; किंतु आप ऐसा न सोचें। ये दोनों घटनाएँ बिलकुल इसी तरह एक ही रात में घटीं। तारीख तो मुझे ठीक याद नहीं, लेकिन महीना मार्च सन् 1884 का था।

अपने मित्र का वृत्तांत सुनकर मैं कोतवाली गया। मेरा विचार वहाँ से रज़्हानोफ़-भवन जाकर धोबिन के विषय में अधिक जानकारी प्राप्त करने का था। मौसम अच्छा था, धूप खिली हुई थी, साए में रात को पड़े हुए बर्फ के नीचे पानी फिर से बढ़ता हुआ दिखलाई देने लगा था और खामोवनी के चौक में कड़ी धूप के कारण बर्फ पिघल-पिघलकर बह रहा था। नदी भी शोर करती हुई बह रही थी। दूसरे पार बाग के वृक्ष नीले-नीले दिखलाई दे रहे थे, भूरी चिड़ियाँ जो सर्दियों में दिखलाई भी नहीं पड़ती, अपने कलरव से सबका ध्यान आकर्षित कर रही थीं और ऐसा मालूम पड़ता था किमनुष्य भी इस समय आनंद लूटना चाहता है, किंतु दुर्भाग्यवश उसके सिर पर अनेक चिंताएँ सवार हैं। गिरजाघर में घंटे बज रहे थे और इन मिश्रित ध्वनियों की पृष्ठभूमि में बैरकों से तोपों की आवाज, गोलियों की सरसराहट और उनका निशानों पर पड़ने का धमाका सुनाई दे रहा था।

मैं कोतवाली पहुँचा। वहाँ कई सशस्त्र व्यक्ति थे, जो मुझे अपने मुखिया के पास ले गए। वह भी तलवार तथा पिस्तौल से लैस था और अपने सामने खड़े हुए एक फटेहाल थरथर काँपते हुए बूढ़े के विषय में कुछ आदेश दे रहा था। वह बूढ़ा इतना दुर्बल था कि अपने से पूछे गए प्रश्नों का ठीक से उत्तर भी नहीं दे पा रहा था।

उधर का काम निबटाकर मुखिया ने मेरी ओर ध्यान दिया। मैंने उससे कलवाली लड़की के बारे में पूछा। पहले तो वह मेरी बातें ध्यानपूर्वक सुनता रहा, बाद में यह सोचकर मुसकराया कि मुझे नियमों का कुछ ज्ञान नहीं और यह तक पता नहीं कि ऐसी स्त्रियाँ कोतवाली क्यों ले जाई[1] जाती हैं। उसकी मुसकराहट का एक विशेष कारण मेरा उस लड़की की अल्पवयस्कता पर आश्चर्यचकित होना था। "इसमें आश्चर्य की क्या बात है ? यहाँ तो बारह-बारह साल तक की छोकरियाँ आती है और तेरह तथा चौदह साल की छोकरियों की तो गिनती ही नहीं," उसने आह्लादपूर्वक कहा।

कलवाली लड़की के बारे में मेरे प्रश्न का उत्तर देते हुए उसने बतलाया कि शायद वह कमेटी में भेज दी गई है (जहाँ तक मुझे याद पड़ता है उसने यही कहा था)। जब मैंने उससे पूछा कि लड़की रात को कहाँ रही तो उसने कुछ ऐसा ही अनिश्चित-सा उत्तर दे दिया। मैं जिस लड़की के संबंध में पूछ रहा था उसकी उसे कुछ विशेष याद नहीं थी। वहाँ तो प्रतिदिन ऐसी अनेक लड़कियाँ आया करती थीं।

रज़्हानोफ़-भवन के 32 नंबर के कमरे में पहुँचने पर मैंने देखा कि उस मरी हुई धोबिन की आत्मा की शांति के लिए एक पादरी मृत शरीर के पास बैठा हुआ बाइबिल के भजन पढ़ रहा है। वह उठाकर उस तख्ते पर लिटा दी गई थी, जिस पर वह सोया करती थी और वहाँ के किराएदारों ने, जो सब-के-सब बिलकुल गरीब थे, आपस में चंदा करके पूजा-पाठ और क्रिया-कर्म के व्यय के लिए काफी रुपया इकट्ठा कर लिया था और बूढ़ी स्त्रियों ने उसे कपड़े पहनाकर कफन के बक्स में लिटा दिया था। धुँधले प्रकाश में पादरी कुछ पढ़ रहा था और लबादा ओढ़े हुए एक स्त्री मोमबत्ती लिए खड़ी थी। इसी प्रकार की दूसरी मोमबत्ती लिए एक आदमी (मुझे कहना चाहिए शरीफ आदमी) खड़ा था। वह अच्छे कालरवाला एक ओवरकोट, चमकीले जूते और कलफदार कमीज पहने था। वह उस धोबिन का भाई था। सरायवालों ने उसका पता लगाकर उसे बुला लिया था।

मृत स्त्री के पास से होता हुआ मैं मकान की मालकिन के पास गया और उसके विषय में पूछने लगा। मेरे प्रश्नों से वह डर गई। उसको भय हुआ कि कहीं उस पर कोई अभियोग न लगा लिया जाए; किंतु थोड़ी देर बाद वह खुलकर बोलने लगी और उसने मुझे सब कुछ बता दिया। लौटते समय मैंने मृत स्त्री की ओर देखा। वैसे तो सभी मृत शरीरों में एक सुंदरता होती है, परंतु कफन में लिपटी हुई धोबिन तो विशेष रूप से सुंदर और आकर्षक जान पड़ती थी। उसका चेहरा स्वच्छ और पीला

1. *वेश्याएँ वहाँ डॉक्टरी परीक्षा के लिए ले जाई जाती हैं।*

था, उसकी बड़ी-बड़ी आँखें बंद थीं, गाल बैठे हुए थे और उसके उन्न ललाट पर सन के समान मुलायम बाल पड़े थे; चेहरा थका हुआ किंतु सदय था और उस पर दुःख नहीं, बल्कि आश्चर्य की रेखा खिंची हुई थी। निश्चय ही जब जीवित प्राणी देखकर भी नहीं देखते, तो मृतकों को आश्चर्य नहीं तो और क्या हो!

जिस दिन मैंने यह घटना लिखी, उसी दिन मास्को में एक बड़ा नाच था।

उस दिन शाम को मैं घर से 8 बजे के बाद निकला। मेरे घर के चारों ओर कारखाने हैं और जब मैं घर से निकला तो कारखाने की सीटी बज चुकी थी और एक सप्ताह के सतत कार्य के पश्चात् लोगों को एक दिन की छुट्टी मिली थी।

मैं मजदूरों में से होकर गुजरा और मेरे पास से होकर बहुत-से ऐसे मजदूर निकले जो शराब की भट्टियों और सरायों की तरफ जा रहे थे। बहुत-से तो पहले ही से पीकर धुत्त हो रहे थे और बहुतों ने अपने साथ औरतें ले रखी थीं।

मैं कारखानों के बीच रहता हूँ। प्रतिदिन सवेरे पाँच बजे पहले एक, फिर दूसरी, फिर तीसरी और इस तरह दसियों सीटियों की दूर-दूर से आवाज आती है, जो इस बात की द्योतक होती है कि स्त्रियों, बच्चों और बूढ़ों का काम शुरू हो गया है। 8 बजे सीटियाँ फिर बजती हैं और आध घंटे का विश्राम होता है। 12 बजे तीसरी सीटी होती है, जबकि खाने के लिए एक घंटे की छुट्टी होती है। चौथी सीटी शाम को 8 बजे बजती है और काम बंद हो जाता है।

यह एक विचित्र बात है कि मेरे पास के तीनों कारखानों में विशेष रूप से नाच का सामान ही बनता है। सबसे पासवाले कारखाने में मोज़े तैयार होते हैं, दूसरे में रेशमी सामान और तीसरे में इत्र तथा पोमेड।

संभव है कि इन सीटियों को सुनकर अधिकांश लोगों के मन में समय के अतिरिक्त और किसी दूसरी बात का ध्यान न आए और वे कह उठें, "अरे देखो, सीटी बज गई, मेरे टहलने का समय हो गया।" किंतु यह भी संभव है कि कुछ व्यक्तियों को ये सीटियाँ अपने पीछे छिपी हुई वास्तविकता की अनुभूति कराएँ और बताएँ कि सवेरे 5 बजेवाली सीटी का अर्थ यह है कि रातभर नीचे की सीली हुई कोठरियों से प्रायः एक साथ सोनेवाले स्त्री-पुरुष झुटपटे ही आकर उन कारखानों की ओर भागे जा रहे हैं, जहाँ मशीनें आलसियों की तरह पड़ी हुई हैं और वहाँ वे अपने-अपने काम की जगह पर बैठ रहे हैं। उन्हें इन कामों का कोई अंत दिखलाई नहीं पड़ता, न इनमें उन्हें अपने लिए कोई उपयोगिता ही दृष्टिगत होती। इसी तरह वे काम करते हैं—अक्सर गरमी, उमस और गंदगी से भरे हुए कमरों में वे प्रतिदिन बारह-बारह घंटे और इससे भी अधिक देर तक काम करते हैं। इस बीच उन्हें विश्राम का बहुत ही कम अवकाश मिलता है। रात में वे सोते हैं और सवेरा होते ही

उठ पड़ते हैं और फिर बार-बार वही काम करते हैं, जिसका उनके लिए कोई अर्थ नहीं होता और जो उन्हें केवल पेट की ज्वाला बुझाने के लिए करना पड़ता है।

इस तरह सप्ताह-पर-सप्ताह बीत जाते हैं और बीच में एकाध दिन की छुट्टी के अलावा मजदूरों का जीवन ऐसे ही चलता रहता है। आज यहाँ मैंने इसी तरह की एक छुट्टी मनाने के लिए मजदूरों को बाहर निकलते देखा। वे लोग सड़कों पर चक्कर लगा रहे हैं। चारों ओर सराय, शराबघर और स्त्रियाँ हैं। नशे में चूर होकर वे एक-दूसरे के साथ धक्का-मुक्की करते फिरते हैं और अपने साथ वैसी लड़कियाँ लिए रहते हैं जैसी कि कल पुलिस थाने में भेजी गई थीं। वे बर्फ पर चलनेवाली गाड़ियाँ किराए पर लेकर या पैदल ही एक-दूसरे को गालियाँ देते हुए और न जाने क्या-क्या बकते हुए लड़खड़ाते पैरों से सराय-सराय घूमते हैं। पहले ऐसे मजदूरों को आते-जाते देखकर मैं उनसे जानबूझकर बचता था और उन्हें बुरा भी समझता था। किंतु जब से मैं कारखानों के भोंपू के प्रतिदिन बजने का अर्थ समझ गया हूँ तब से उलटा मुझे यह आश्चर्य होने लगा है कि कारखानों में काम करनेवाले ये मर्द वैसे ही मक्कार क्यों नहीं बन जाते जैसे कि मास्को में भरे पड़े हैं और ये स्त्रियाँ उसी छोकरी जैसी क्यों नहीं हो जातीं, जिसे मैंने अपने घर के पास देखा था।

इस तरह मैं घूम-फिरकर इन मजदूरों को लगभग 11 बजे तब सड़कों पर गुल-गपाड़ा करते देखता रहा। इसके बाद उनका ऊधम धीमा पड़ने लगा। सड़कों पर थोड़े-से शराबी ही रह गए और इधर-उधर कुछ ऐसे स्त्री-पुरुष भी दिखाई दिए जो पकड़कर कोतवाली ले जाए जा रहे थे। उसके बाद चारों तरफ से गाड़ियाँ आती दिखलाई देने लगीं।

सब-की-सब गाड़ियाँ एक ही दिशा में जा रही थीं। कोचबक्स पर सुंदर कपड़े पहने हुए और टोपों में एक विशेष प्रकार का फूल लगाए हुए कोचवान और दरबान बैठे हुए थे। साजबाज से सजे हृष्ट-पुष्ट घोड़े बर्फ पर 14 मील प्रतिघंटे की गति से दौड़े जा रहे थे और गाड़ियों में गरम लबादा पहने हुए महिलाएँ अपने बालों में लगे हुए फूलों और दूसरी श्रृंगार-सामग्रियों को सावधानी के साथ सँभाले बैठी थीं। सभी पदार्थ—घोड़ों की जोतों, गाड़ियों, रबर-टायरों और कोचवानों के गरम कोटों के कपड़े से लेकर मोजों, जूतों, फूलों, मखमल, दस्तानों और इत्र तक—उन्हीं लोगों के बनाए हुए थे, जिनमें से कुछ शराब पीकर अपनी गंदी कोठरियों में तख्तों पर ओंधे पड़े थे, कुछ सरायों में वेश्याओं के साथ लेटे थे और कुछ पुलिस चौकियों में बंद थे। उनके पास से घोड़ों और गाड़ियों में चढ़कर—जो वस्तुतः उन मजदूरों के ही हैं—नाच में जानेवाले लोग गुजर रहे थे। फिर भी उनकी खोपड़ी में यह बात नहीं घुसती थी कि जिस नाच में वे जा रहे थे, उसका उन शराबियों से भी कोई संबंध हैं, जिनको

उनके कोचवान डाँटते चलते थे।

ये लोग नाच में जाकर खूब आनंद लूटते हैं। उनका अंतःकरण शांत होता है और उन्हें पूर्ण विश्वास होता है कि वे जो कुछ कर रहे हैं, उसमें कोई बुराई नही, बल्कि कुछ अच्छाई ही है।

आनंद लूटते हैं! हाँ, रात के 11 बजे से सवेरे 6 बजे तक आनंद लूटते हैं, जबकि सरायों में लोग भूखे पेट करवटें बदलते हैं और कुछ लोग उस धोबिन की तरह अपनी अंतिम घड़ियाँ गिनते हैं।

और यह आनंद होता कैसा है? विवाहित और कुमारी लड़कियाँ अपनी छातियाँ खोले और कृत्रिम रूप से नितंबों को ऊँचा किए अपने शरीर का ऐसा भद्दा प्रदर्शन करती हैं, जैसा सुशील कन्याएँ या स्त्रियाँ सारे संसार के राज्य के बदले में भी पुरुषों के सामने करना पसंद नहीं करेंगी। उस अर्द्धनग्न अवस्था में, खुली व उभरी हुई छातियों और कंधों तक नंगी बांहों के साथ, ये कन्याएँ और स्त्रियाँ, जिनकी शोभा सदा से ही लज्जा रही है, पीछे से फूली हुई ऐसी पोशाक पहने, जिससे नितंब खूब कस जाते हैं, तीव्रतम प्रकाश में अपरिचित पुरुषों के सामने आती हैं। ये पुरुष भी ऐसे ही अनुचित ढंग से कसे हुए कपड़े पहने होते हैं और स्त्रियाँ उनका संगीत के तान के साथ आलिंगन करती हैं और घूम-घूमकर नाचती हैं। बूढ़ी स्त्रियाँ भी प्रायः युवतियों की ही भाँति शरीर खोले बैठी-बैठी तमाशा देखती हैं और बड़े आनंद से स्वादिष्ट पदार्थ खाती-पीती हैं। बूढ़े आदमी भी ऐसा ही करते हैं। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि यह सब लीला रात को ही होती है, जब साधारण जनता सोती रहती है और इस कांड को नहीं देखती। किंतु ऐसा आमोद-प्रमोद छिपाने के अभिप्राय से नहीं किया जाता; आनंद लूटनेवाले तो समझते हैं कि ऐसी कोई बात ही नहीं है जिसे छिपाने की आवश्यकता हो। वे सोचते हैं कि जो कुछ वे करते हैं वह बड़ा अच्छा है और उनके आमोद-प्रमोद से, जिसमें सहस्त्रों व्यक्तियों के यंत्रणापूर्ण श्रम का खून किया जाता है, न केवल किसी को हानि नहीं पहुंचती, बल्कि उल्टे गरीबों को रोटी मिलती हैं।

मान लिया कि नाच में बड़ा आनंद आता है, किंतु यह आनंद आता कहाँ से है? जब हम आपस में किसी व्यक्ति को क्षुधा पीड़ित या ठंड से ठिठुरते देखते हैं तो हमें आनंद मनाने में लज्जा आती है और जब तक उसकी ये दोनों पीड़ाएँ शांत नहीं कर दी जातीं तब तक हम प्रसन्न नहीं हो पाते और हमारी समझ में नहीं आता कि जिन वस्तुओं से दूसरों को कष्ट होता है, उनसे लोग अपना मनोरंजन कैसे कर लेते हैं। इसी प्रकार जब हम कुछ निर्दय शैतान लड़कों को अधचिरी खपच्ची में कुत्ते की दुम दबाकर प्रसन्न होते देखते हैं तब हमें यह अच्छा नहीं लगता और समझ में नहीं

आता कि ऐसी शरारत में लड़कों को क्या मजा आता है ?

तब फिर क्या कारण है कि अपने इन आमोद-प्रमादों में हम अंधे बन जाते हैं और उस चिरी खपच्ची को नहीं देख पाते, जिससे हम उन लोगों की दुम को दबाते हैं, जो हमारे मनोविनोद के कारण पीड़ा पाते हैं ?

डेढ़-डेढ़ सौ रूबल की कीमती पोशाक पहने, शान से गाड़ी में बैठी हुई, नाच में जानेवाली इन स्त्रियों में से एक भी ऐसी नहीं, जिसका जन्म नाचघर या किसी फैशनेबुल पोशाक बनानेवाली के घर में हुआ हो। उनमें से प्रत्येक देहात में रह चुकी है, किसानों से परिचित है और जानती है कि उसकी अपनी धाया अथवा अंगरक्षिका के बाप-भाई गरीब हैं और उनके लंबे तथा परिश्रमी जीवन की साध ही यह है कि वे किसी तरह डेढ़ सौ रूबल बचाकर झोंपड़ा बना लें। वह इन सब बातों को जानती है। तो फिर वह कैसे आनंद मना सकती है जबकि उसे पता है कि उसने अपने अर्द्धनग्न शरीर पर वह झोंपड़ा पहन रखा है जो उसकी अच्छी दासी के भाई के जीवन का स्वप्न है ? मान लो कि उसका ध्यान इस बात की ओर गया ही नहीं फिर भी यह तो उसे मालूम ही होना चाहिए कि मखमल, रेशम, मिठाइयाँ, फूल, लैस और पोशाकें अपने-आप पैदा नहीं होतीं, बल्कि मनुष्यों द्वारा ही बनाई जाती हैं। साथ-ही-साथ उसे इस बात का भी ज्ञान होना अनिवार्य है कि इन वस्तुओं को कैसे आदमी बनाते हैं, किस स्थिति में बनाते हैं और क्यों बनाते हैं। वह इस बात से भी अनभिज्ञ नहीं हो सकती कि जिस दरजिन को उसने डाँटा था उसने उसके कपड़े प्रेमवश होकर ही लिए हैं और इसी प्रकार लैस, फूल और मखमल को भी लोगों ने अपनी आवश्यकताओं से बाध्य होने पर ही बनाया है। किंतु कदाचित् उसकी आँखें धुँधली हो गई हैं कि वह इतनी स्पष्ट बातें भी नहीं देख पाती। फिर भी वह यह जाने बिना कैसे रह सकती है कि उसके कारण पाँच-छह आदमियों—बूढ़े भले और प्राय: दुर्बल दरबानों और नौकरानियों—को नींद नहीं नसीब हुई है और वे कष्ट उठा रहे हैं ? उसने उनके क्लांत, निष्प्रभ चेहरे तो देखे ही हैं ! उसे यह तो मालूम ही है कि रात बड़े जोरों का पाला पड़ रहा था और उस पाले में बूढ़ा कोचवान सारी रात कोचबक्स पर बैठा रहा था ! किंतु मैं जानता हूँ कि रंगरलियाँ मनानेवाली ये स्त्रियाँ सचमुच ही इन बातों पर ध्यान नहीं देतीं और यदि नाच की मोह-निद्रा के कारण विवाहित युवतियाँ और कुमारियाँ यह सब नहीं देख पातीं तो उन्हें दोषी नहीं समझना चाहिए। वे बेचारी तो वही करती हैं जो उनके बड़े-बूढ़े उनके लिए ठीक समझते हैं। किंतु क्या कोई बता सकता है कि इन बड़े-बूढ़ों की इस निर्दयता का रहस्य क्या है ?

बड़े-बूढ़े तो सदा एक ही उत्तर देते हैं। वे कहते हैं, "हम किसी को विवश

नहीं करते। हम तो सारी चीजें पैसे देकर खरीदते हैं और पैसे देकर ही दासियों व कोचवानों से काम कराते हैं; खरीदने और भाड़े पर आदमियों को रखने में कोई बुराई नहीं; हम किसी को मजबूर नहीं करते, हम तो उनको भाड़े पर रखते हैं; इसमें बुराई क्या है ?"

कुछ दिन हुए मैं अपने एक परिचित से मिलने गया। पहले कमरे से गुजरते समय मैं मेज के पास दो स्त्रियों को बैठे देखकर अचंभे में रह गया, क्योंकि मैं जानता था कि वह आदमी अविवाहित है। तीस साल की एक दुबली-पतली पीले रंग की बूढ़ी-सी स्त्री सिर पर रूमाल बाँधे मेज के नीचे अपने हाथों और अँगुलियों से जल्दी-जल्दी कुछ कर रही थी और इस तरह झटके के साथ हिल रही थी जैसे उसे दौरा आ रहा हो। उसके पास ही एक छोटी लड़की बैठी थी। वह भी कुछ काम कर रही और उसी प्रकार हिल रही थी। ऐसा जान पड़ता था कि दोनों-की-दोनों धनुषटंकार रोग से पीड़ित हैं। मैंने उनके पास जाकर देखा कि वे क्या कर रही हैं ? उन्होंने मुझ पर दृष्टि डाली और फिर वे उसी तन्मय के साथ अपने काम में लग गईं। उनके सामने तमाखू और सिगरेट के कागजों का ढेर था। वे सिगरेटें बना रही थीं। औरत तमाखू को हाथों से मलकर मशीन से कागज के खोल में दबाती और लड़की की तरफ फेंक देती थी। लड़की सिगरेट पर कागज लपेटती और उसमें एक डाँट-सी वस्तु ठूँसने के बाद उसे एक तरफ फेंक देती थी और फिर दूसरी सिगरेट ले लेती थी। यह काम इतनी तेजी से और एकाग्रता के साथ हो रहा था कि जिसने स्वयं अपनी आँखों से न देखा हो उसे वर्णन द्वारा समझना असंभव है। मैंने उनकी तेजी पर आश्चर्य प्रकट किया, जिसके उत्तर में औरत ने कहा, "चौदह वर्ष से यही करती आ रही हूँ।"

"क्या कुछ मुश्किल काम है ?"

"हाँ, छाती दुखती और दम घुटने लगता है।"

सच पूछिए तो उसे यह कहने की आवश्यकता ही नहीं थी। यह तो उस पर और उस छोटी लड़की पर दृष्टि डालते ही पता चल जाता था। लड़की दो वर्ष से यह काम कर रही थी और उसको काम करते देखकर कोई भी कह सकता था कि हृष्ट-पुष्ट होते हुए भी उसका स्वास्थ्य अब गिरने लगा है। मेरा मित्र एक दयालु और उदारहृदय पुरुष था। उसने उन्हें सिगरेट बनाने के लिए नौकर रख छोड़ा था और एक हजार सिगरेट बनाने के लिए दो रूबल पचास कोपेक दिया करता था। उसके पास रुपया है, जो वह उन्हें काम कराकर देता है। इसमें क्या बुराई है ? वह लगभग बारह बजे सोकर उठता है, शाम के छह बजे से रात के दो बजे तक ताश खेलता या पियानों बजाता है, स्वादिष्ट भोजन और मिठाइयाँ उड़ाता है और दूसरे लोग उसके

लिए सब काम करते हैं। उसने अब एक नया शौक पैदा कर लिया है—सिगरेट पीना। मुझे याद है कि उसे यह लत कब पड़ी थी।

हम अपने सामने एक स्त्री और एक लड़की का उदाहरण देखते हैं, जो अपने को मशीन बनाकर भी कठिनाई से गुजारा-भर कर पाती हैं, जो अपना सारा जीवन तमाखू की ही साँस लेने में बिता देती हैं और इस प्रकार अपने स्वास्थ्य का सत्यानाश कर लेती हैं। दूसरी ओर हमारे मित्र का उदाहरण है। उसके पास धन है, जो उसने स्वयं नहीं कमाया है और वह अपने हाथों सिगरेट बनाने की अपेक्षा ताश खेलना अधिक पसंद करता है। वह इन स्त्रियों को इसी शर्त पर रुपया देता है कि वे उसके लिए सिगरेटें बनाती रहें और इसी प्रकार सदा दयनीय जीवन बिताती रहें।

मैं सफाई पसंद हूँ और अपना रुपया एक धोबिन को केवल इस शर्त पर देता हूँ कि वह मेरे उन कपड़ों को धोया करे, जिन्हें मैं दिन में दो बार बदलता हूँ। इसी काम में उस बेचारी की सारी शक्ति खप गई और वह मर गई।

''इसमें बुराई क्या है? लोग तो खरीदारी और दूसरों को नौकर रखने का काम करते ही रहेंगे; मैं चाहे करूँ या न करूँ। लोग तो दूसरों से मखमल और मिठाइयाँ बनवाते और खरीदते ही रहेंगे, मैं चाहे ऐसा न भी करूँ। तो फिर जब ऐसी ही व्यवस्था है तो मैं ही क्यों अपने को मखमल, मिठाई, सिगरेट और सफेद कपड़ों से वंचित रखूँ?''—प्रायः, या यों कहिए कि करीब-करीब हमेशा, मैं यही तर्क सुना करता हूँ। यह वैसा ही तर्क है जैसा विनाश करने पर तुली हुई कोई उन्मत्त भीड़ किया करती है। ऐसे ही तर्क से प्रेरित होकर एक कुत्ता दूसरे कुत्ते पर आक्रमण करता है और उसे मार गिराता है और उसके झुंड के दूसरे कुत्ते उस पर झपटकर उसके टुकड़े-टुकड़े कर डालते हैं। ''जब एक बार ऐसी व्यवस्था आरंभ हो गई और उसके फलस्वरूप दूसरों को कुछ क्षति भी हो चुकी है तो मैं भी उसमें हिस्सा क्यों न लूँ? इससे क्या लाभ कि मैं गंदी कमीज पहनूं और अपने लिए स्वयं सिगरेटें बनाऊँ? क्या इससे किसी को कुछ लाभ होगा?'' ऐसे प्रश्न लोग अपनी सफाई देते हुए करते हैं। यदि हम सत्य से इतनी दूर न जा पड़े होते तो ऐसे प्रश्न का उत्तर देते हुए भी हमें लज्जा आती; किंतु हम इतने चक्करों में फँसे हुए हैं कि यह प्रश्न हमको स्वाभाविक जान पड़ता है और यद्यपि इसका उत्तर देने में लज्जा आती है, तथापि उत्तर देना अनिवार्य है।

यदि मैं अपने कपड़े प्रतिदिन न बदलकर हफ्ते-भर बाद बदलूँ और अपनी सिगरेटें अपने आप बना लूँ या सिगरेट पीना बिलकुल छोड़ भी दूँ तो क्या अंतर पड़ेगा?

अंतर यह पड़ेगा कि कुछ धोबिनों और कुछ सिगरेट बनानेवालों को अपनी

शक्ति का क्षय कम करना पड़ेगा और जो रुपया मैं पहले धुलाई या सिगरेट बनाई के रूप में देता वही रुपया अब मैं उस धोबिन या किसी दूसरी धोबिन को और उन मजदूरों को दे सकता हूँ जो काम करते-करते थक गए हैं और जो अब अपनी सामर्थ्य से अधिक काम करने की बजाए आराम कर सकें और चाय पी सकें। किंतु अमीर और आरामतलब लोग अपनी स्थिति को समझने के लिए इतने कम इच्छुक हैं कि वे इसका भी उत्तर देते हैं। वे कहते हैं, ''यदि मैं गंदे कपड़े पहनूँ, सिगरेट पीना बंद कर दूँ और इन पर खर्च होनेवाला रुपया गरीबों को दे दूँ तो भी वह रुपया उनके पास रहेगा नहीं, सब कुछ उनसे छिन लिया जाएगा और सागर में एक बूँद के समान मेरे रुपए से होगा भी क्या?''

इस उत्तर का प्रत्युत्तर देते हुए और भी लज्जा आती है, किंतु प्रत्युत्तर तो देना ही होगा। यह तर्क बहुत ही प्रचलित तर्क है और इसका उत्तर भी बहुत सीधा है।

यदि मैं जंगलियों के यहाँ जाऊँ और वे लोग मुझे स्वादिष्ट मांस खाने को दें और दूसरे दिन मुझे मालूम हो जाए या कदाचित् मैं स्वयं देख लूँ कि वह स्वादिष्ट मांस एक कैदी को मारकर तैयार किया गया था तो—यदि मैं मनुष्य का मांस खाना पसंद नहीं करता—मैं उसे फिर से कदापि नहीं खाऊँगा, चाहे वह कितना भी स्वादिष्ट क्यों न हो, चाहे उन लोगों में जिनके साथ मैं ठहरा हुआ हूँ, मनुष्य का मांस खाने की कितनी ही अधिक प्रथा क्यों न हो और चाहे मेरे अस्वीकार करने से खाने के काम में लाए जानेवाले कैदियों को कितना ही कम लाभ क्यों न पहुँचे। संभव है कि भूख से लाचार होकर मैं कदाचित् मनुष्य का मांस भी खा लूँ, किंतु मनुष्य के मांस की दावत मुझे किसी और को नहीं देनी चाहिए, न ऐसी दावतों में हिस्सा लेना चाहिए, न उनके लिए लार टपकानी चाहिए और न उनमें हिस्सा लेने में गर्व ही का अनुभव करना चाहिए।

हम देखते और देखकर समझते क्यों नहीं?

''तो फिर हम क्या करें? यह सब हमने तो किया नहीं है।''—लेकिन हमने नहीं तो फिर किसने किया है? हम कहते हैं कि हमने ऐसा नहीं किया, यह तो अपने-आप हो गया। यह बात तो ऐसी ही है जैसे कोई बच्चा किसी चीज को तोड़कर कहे कि वह तो आप-से-आप टूट गई। हम कहते हैं कि अब जबकि शहरों का निर्माण हो चुका है हम लोग, जो उनमें रहते हैं, मजदूरों के श्रम को खरीदकर उनका पालन-पोषण करते हैं।

किंतु यह बात सच नहीं है। समझने के लिए हमें केवल यह सोचनेभर की आवश्यकता है कि हम देहात में किस तरह से रहते हैं और वहाँ लोगों का भरण-पोषण कैसे होता है?

सर्दी समाप्त होती है और ईस्टर आता है। शहरों में अमीरों के वे ही राग-रंग जारी रहते हैं। घाटों पर, नदियों पर, उपवनों में, पार्कों में, जहाँ देखो वहीं गाना-बजाना, थिएटर-तमाशा, घुड़दौड़, आतिशबाजी और रोशनी का दौर-दौरा है। किंतु देहातों में इससे भी अच्छी वस्तुएँ हैं। वहाँ की वायु अधिक शुद्ध और वहाँ के वृक्ष, मैदान और फूल ज्यादा ताजे हैं। जहाँ कलियाँ खिल रही हैं और जहाँ फूल लहलहा रहे हैं वहाँ अवश्य चलना चाहिए; यह सोचकर बहुत-से धनी-मानी दूसरों के श्रम का उपभोग कर शुद्ध वायु का सेवन करने और हरे-भरे मैदानों तथा जंगलों का मज़ा लूटने देहात आते हैं। वहाँ वे उन गँवार किसानों के बीच जा बसते हैं, जो बाजरे की रोटी और प्याज के टुकड़े खाकर जीवन बिताते हैं, जो दिन में अठारह-अठारह घंटे काम करते हैं, जो रात को पूरी नींद नहीं सो पाते और फटे चीथड़े लपेटे रहते हैं। कम-से-कम यहाँ उनके लिए प्रलोभन की कोई वस्तु नहीं है; न कल-कारखाने हैं और न बेकार लोग, जिनकी शहरों में बहुलता होती है और जिनके विषय में कहा जाता है कि काम देकर हम उनका भरण-पोषण करते हैं। यहाँ तो सारी गरमियों लोगों को इतना काम रहता है कि वे उससे पार नहीं पाते। बेकार रहना तो दूर, यहाँ तो श्रमिकों के अभाव के कारण बहुत-सा माल नष्ट हो जाता है और बहुत-से स्त्री-पुरुष, बहुत-से बच्चे-बूढ़े, बहुत-सी बच्चोंवाली स्त्रियाँ शक्ति से अधिक काम करने के कारण इस दुनिया से चल बसती हैं।

यहाँ आकर धनी लोग अपने जीवन की कैसे व्यवस्था करते हैं? क्यों, इसमें पूछने की क्या बात है? सुनिए, वे अपनी व्यवस्था इस प्रकार करते हैं—वहाँ यदि दास-प्रथा के दिनों का बना हुआ कोई पुराना मकान हुआ तो उसे नया रूप-रंग प्रदान किया जाता है और सजाया जाता है। और यदि कोई पुराना मकान न हुआ तो दो या तीन मंजिलों का एक नया मकान बनवाया जाता है, जिसमें लगभग 14 फुट ऊँचे 12 से लेकर 20 तक या और भी अधिक कमरे होते हैं। अच्छे चिकने फर्श बनवाए जाते हैं, खिड़कियों में बड़े-बड़े शीशे लगवाए जाते हैं, बहुमूल्य गलीचे बिछवाए जाते हैं, बढ़िया फर्नीचर लगवाया जाता है और 200 से लेकर 600 रूबल तक की आलमारी लाई जाती है। मकान के पास सड़क पर कंकड़ पिटवाई जाती है, कूद-फांद के यंत्र खड़े किए जाते हैं, चमकदार लट्टू लटकवाए जाते हैं और प्राय: कोमल वनस्पतियों के रक्षा-गृह ग्रीष्म-भवन और ऊँचे-ऊँचे अस्तबल बनवाए जाते हैं और वे खूब अच्छी तरह सजाए जाते हैं। मकान में चारों ओर तैलरंगों के चित्र बनवाए

जाते हैं और इन रंगों में वह तेल खर्च किया जाता है जो बूढ़े किसानों और बच्चों को खाने के लिए मयस्सर नहीं होता। यदि किसी के पास इतना धन होता है तो वह इसे प्रकार का मकान बनवाकर उसमें जा बसता है, किंतु यदि उसकी थैली इतनी भारी नहीं होती तो वह मकान किराए पर ले लेता है। संक्षेप में यह कि हमारे वर्ग का आदमी चाहे कितना ही निर्धन और उदार क्यों न हो, वह जब देहात में जाकर रहता है तो ऐसे मकान में रहता है, जिसको बनाने और साफ रखने के लिए दर्जनों मजदूर गाँव से लेने पड़ते हैं—उस गाँव से, जहाँ उन्हें अपनी रोजी के लिए अनाज पैदा करने का ही काम इतना रहता है कि वे उसे पूरा नहीं कर पाते।

कम-से-कम देहात में कोई यह नहीं कह सकता कि यहाँ तो कल-कारखाने पहले से ही हैं, मैं उनका उपयोग करूँ या न करूँ इससे कोई अंतर नहीं पड़ेगा। यहाँ कोई यह भी नहीं कह सकता कि मैं बेकारों का भरण-पोषण करता हूँ। यहाँ तो हमें जिस पदार्थ की आवश्यकता होती है, उसके उत्पादन की व्यवस्था हम बिना किसी रोकटोक के कर लेते हैं और अपने आस-पास रहनेवालों की आवश्यकताओं से लाभ उठाकर उन्हें उन कामों से अलग कर देते हैं जो उनके, हमारे और सबके लिए आवश्यक है। इस तरह कुछ मजदूरों को तो हम मस्तिष्क विकृत कर देते हैं और शेष का जीवन और स्वास्थ्य नष्ट कर डालते हैं।

मान लीजिए किसी उच्च वर्ग या सरकारी कर्मचारियों का एक शिक्षित और प्रतिष्ठित परिवार गाँव में रहता है। जून के मध्य में पढ़ाई और परीक्षाएँ समाप्त करने के बाद परिवार के सब लोग और उनके मेहमान भी आकर इकट्ठे होते हैं और वहाँ सितंबर मास तक रहते हैं। दूसरे शब्दों में यो कहिए कि वे वहाँ फसल की नराई आरंभ होने पर आते हैं और उस फसल के समाप्त होने तथा सर्दियों की फसल बोए जाने के समय तक रहते हैं। ये सब वहाँ साल के आवश्यक कार्य के मौसम के आरंभ होने के समय से लेकर उसका अंत होने तक तो नहीं—क्योंकि सितंबर में सर्दियों की फसल की बुवाई और आलू की खुदाई जारी रहती है—लेकिन हाँ, काम के हलका पड़ने तक गाँव में रहते हैं।

ये लोग जब तक गाँव में रहते हैं तब तक उनके चारों तरफ किसानों का गरम मौसम का काम चलता रहता है। इस काम में जो परिश्रम करना पड़ता है, उसके बारे में हमने चाहे कितना ही सुन और पढ़ क्यों न रखा हो और चाहे कितना ही देख भी क्यों न रखा हो, उसका वास्तविक अनुमान हम उस समय तक नहीं लगा सकते जब तक कि हम उसे स्वयं अपने हाथों से न करें।

धनाढ्य परिवार के ये लोग, जिनकी संख्या मान लीजिए दस या बारह होती है, यहाँ शहरों की भाँति या यदि संभव हुआ तो उसमें भी बुरे ढंग से जीवन बिताते

हैं; क्योंकि कहा जाता है कि देहात में तो लोग आराम करने आते हैं। इसीलिए यहाँ उनके लिए कोई काम-धाम नहीं होता और न काहिली को छिपाने के लिए किसी बहाने की आवश्यकता होती है।

पित्रोफ़-उपवास[1] के दिनों में जबकि किसान लोग केवल क्वास[2], राई की रोटी और प्याज लेते हैं, नराने का काम आरंभ होता है। गाँव में रहनेवाले भद्र नागरिक इस काम को देखते हैं। कुछ सीमा तक वे उसके लिए आदेश देते हैं, कुछ सीमा तक वे उसे पसंद करते हैं और मुरझाई हुई सूखी घास की सुगंध, स्त्रियों के गीतों, हँसियों के चलने की आवाज़, काटनेवालों की कतार और स्त्रियों के घास बराबर करने के ढंग से उन्हें प्रसन्नता होती है। यह सब आनंद उन्हें अपने घर के पास ही मिल जाता है और फिर बाद में दिन-भर बेकार पड़े रहने के बाद नवयुवक और बालक स्नान के लिए सौ-दो सौ गज की दूरी भी गाड़ी में सवार होकर पार करते।

घास सुखाने का काम दुनिया के सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कामों में से है। प्राय: प्रतिवर्ष मजदूरों और समय की कमी के कारण कटाई पूरी होने से पहले ही वर्षा से मैदानों के भीग जाने का भय रहता है। शेष बची हुई 20 प्रतिशत या इससे भी अधिक घास राष्ट्रीय संपत्ति का रूप ग्रहण करे या योंही खड़ी-खड़ी सड़कर नष्ट हो जाए, यह बात काम के अधिक या कम होने पर निर्भर करती है। यदि अधिक घास काटी जा सके तो बूढ़ों को अधिक मांस और बच्चों को अधिक दूध मिल सकता है। साधारणत: यह बात सभी के लिए होती है। किंतु विशेष रूप से किसानों के लिए तो उन्हीं दिनों इस प्रश्न का निर्णय हो जाता है कि उन्हें तथा उनके बच्चों को रोटी या दूध उपलब्ध होगा या नहीं इस बात को प्रत्येक व्यक्ति जानता है; यहाँ तक कि बच्चों को भी यह पता है कि यह काम बड़ा महत्त्वपूर्ण है और हर आदमी को अपनी पूर्ण सामर्थ्य के साथ इसे करना चाहिए। इसी उद्देश्य को दृष्टि में रखकर बच्चे क्वास का बर्तन खेत में पिता के पास ले जाते हैं। उस भारी बर्तन को कभी एक और कभी दूसरे हाथ में लिए हुए बच्चे गाँव से डेढ़ मील नंगे पाँव तेज़-से-तेज भागे चले जाते हैं, ताकि खाने में देर न हो और बाप की झिड़कियाँ न सुननी पड़ें। हरएक आदमी जानता है कि घास की कटाई के समय से लेकर फसल के घर में पहुँचने तक काम का सिलसिला टूट नहीं सकता और एक मिनट का भी आराम संभव नहीं। काम केवल कटाई का ही नहीं होता। प्रत्येक व्यक्ति को इसके अलावा दूसरे काम भी करने पड़ते हैं। खेत को जोतने और बराबर करने की आवश्यकता होती है।

1. यह उपवास ईस्टर के बाद नवें सप्ताह से आरंभ होकर 29 जून तक चलता है।

2. एक प्रकार का रूसी पेय।

स्त्रियों को कपड़े धोने, रोटी बनाने और बर्तन माँजने का काम करना पड़ता है। पुरुषों को भाग-भागकर कारखाने और नगर में जाना पड़ता है; ग्राम के सांप्रदायिक मामलों की देखभाल करनी पड़ती है; अदालतों में जाना, गाँव के पुलिस अफसर से मिलना, गाड़ी चलाना और रात को घोड़ों को खिलाना पड़ता है। बूढ़े, जवान, बीमार—सभी शक्तिभर काम करते हैं। किसान लोग इतनी मेहनत करते हैं कि दिन का काम समाप्त होते-होते दुर्बल, बच्चे, बूढ़े और जीर्ण-शीर्ण लोग बड़ी कठिनाई से अंतिम कतार काट पाते हैं और इतने थक जाते हैं कि सुस्ताने के बाद फिर उनका उठना दूभर हो जाता है। इसी प्रकार स्त्रियाँ भी काम करती है, यद्यपि वे अक्सर गर्भवती और बच्चेवाली होती हैं।

काम बड़ा कठोर होता है और लगातार होता रहता है। सब लोग पूरी सामर्थ्य से काम करते हैं और इस बीच उन्हें जो थोड़ा-बहुत अन्न मिलता है, उसे ही नहीं, बल्कि पहले का बचा हुआ अन्न भी खा-पी डालते हैं। मोटे और तगड़े तो वे वैसे भी नहीं होते; इधर फसल का कार्य समाप्त करते-करते वे और भी दुर्बल हो जाते हैं।

देखिए, एक छोटी-सी टोली कटाई का काम कर रही है। तीन किसान हैं—एक बूढ़ा है, दूसरा उसका नवयुवक विवाहित भतीजा और तीसरा एक मोची, जिसका हृष्ट-पुष्ट पुट्ठेदार शरीर है और जो किसी के घर नौकर रह चुका है। सूखी घास की कटाई आगामी जाड़ों के लिए उनके भाग्य का निर्णय करेगी और यह बताएगी कि वे गाय रख सकेंगे या नहीं और कर चुका सकेंगे या नहीं। निरंतर कार्य करते हुए उन्हें दो सप्ताह हो चुके हैं। बीच में वर्षा के कारण उनके काम में कुछ बाधा पड़ गई हैं। वर्षा बंद होने और हवा से घास के सूख जाने पर वे काम को शीघ्र-से-शीघ्र समाप्त करने का निर्णय करते हैं और उनमें से प्रत्येक व्यक्ति अपने साथ दो स्त्रियों को भी काम पर लगाने का निश्चय करता है। बूढ़े के साथ उसकी स्त्री आती है जिसकी उम्र पचास वर्ष की है और जो बहुत काम करने और ग्यारह बच्चों को जन्म देने के कारण शिथिल पड़ गई है। वह बहरी भी है, किंतु अभी काम अच्छा-खासा कर लेती है। उसके साथ उसकी तेरह वर्ष की लड़की भी आती हैं, जो छोटी लेकिन तेज और मजबूत है। भतीजे के साथ उसकी स्त्री आती है जो किसी भी पुरुष के समान मजबूत और लंबी है। उसके साथ उसकी साली भी आती है, जो एक सिपाही की स्त्री है और गर्भवती है। मोची के साथ उसकी स्त्री और सास आती है। उसकी स्त्री बहुत अच्छा काम करती है और उसकी सास अस्सी वर्ष की एक बुढ़िया है, जो अक्सर भीख माँगा करती है। कमर कसकर वे एक साथ काम पर जुट जाते हैं और जून की जलती हुई धूप में सवेरे से शाम तक काम करते हैं। कभी-

कभी बादल आते हैं और वर्षा का भय होने लगता है। काम का हर घंटा कीमती है। पानी या क्वास लाने में जो समय लगता है वह तक उन्हें अखरता है।

एक छोटा लड़का, जो बुढ़िया का पोता है, सबके पीने के लिए पानी लाता है। स्पष्टत: बुढ़िया को इस बात की बड़ी चिंता है कि काम रुकने न पाए, इसीलिए वह हेंगी को हाथ से नहीं छोड़ती, यद्यपि उसका शरीर इतना थक चुका है कि चेष्टा करने पर भी वह कठिनाई से चल-फिर पाती है। कमर तक झुका हुआ वह छोटा लड़का नंगे पैरों छोटे-छोटे कदम रखता अपने से भी भारी पानी का बर्तन कभी एक हाथ से और कभी दूसरे हाथ से सँभालता हुआ लाता है। लड़की भी अपने से भारी घास का गट्ठर सिर पर रखकर ले जाती है। वह दो-चार कदम चलती है, रुक जाती है और बोझ आगे न ले चल सकने के कारण गट्ठर उठाकर फेंक देती है। अस्सी साल की वह बुढ़िया लगातार हेंगी से घास इकट्ठा कर रही है, उसके सिर का रूमाल खिसककर एक ओर हो गया है और वह हाँफती-लड़खड़ाती हुई घास का गट्ठर खींचकर ले जाती है। अस्सी वर्ष की बुढ़िया हेंगी से घास इकट्ठा करने के सिवा और कुछ नहीं करती; लेकिन यह भी उसकी सामर्थ्य से बाहर है। चटाई के जूते पहने वह धीरे-धीरे पैर को घसीटती चलती है और सिकुड़ी हुई भौंहों से अपने सामने इतनी मलिनता के साथ देखती है मानो किसी भयंकर रोग से पीड़ित या मरनेवाली है। बूढ़ा उसे जान-बूझकर दूसरों से दूर घास के ढेर के पास काम करने के लिए भेजता है, ताकि उसको उनके बराबर काम न करना पड़े। किंतु वह रुकती नहीं और वही काल-जैसी मलिन मुद्रा बनाए दूसरों के बराबर ही काम करती है।

सूरज वृक्षों के पीछे डूबने लगा है, किंतु अभी तक घास के सारे गट्ठर नहीं हटाए जा सके हैं और अभी तक बहुत काम शेष है। अनुभव तो सब लोग करते हैं कि काम बंद करने का समय हो गया, किंतु बोलता कोई नहीं; सब एक-दूसरे के काम बंद करने की प्रतीक्षा में हैं। अंततः मोची, यह देखकर कि अब उसमें काम करने की शक्ति नहीं रह गई, बूढ़े से प्रस्ताव करता है कि बाकी काम कल के लिए छोड़ दिया जाए। बूढ़ा इससे सहमत हो जाता है और स्त्रियाँ तत्काल कपड़े, पानी के बर्तन, कांटे आदि उठाने दौड़ती हैं और बुढ़िया जहाँ खड़ी थी वहीं धम-से बैठ जाती है और फिर उसी मृत्यु-जैसे मलिन चेहरे से ठीक सामने देखती हुई लेट जाती है। किंतु अन्य स्त्रियाँ जाने लगती हैं, इसलिए वह भी कराहती हुई उठती है और उनके पीछे-पीछे घिसटती हुई चलने लगती है।

अब ज़रा जमींदार के मकान पर दृष्टि दौड़ाइए। उसी सन्ध्या को जब गाँव की ओर से खेतों से लौटते हुए थके-मांदे घसियारों के कंधों पर लटकती हुई सिल्लियों की ठनठनाहट, हँसियों के फलकों में पड़े हुए गड्ढ़ों को सीधा करते हुए हथौड़ों की

चोट और उन स्त्रियों तथा लड़कियों के शोर की ध्वनि सुनाई देती है जो अभी-अभी हंसिए को पटककर चौपायों को लेने के लिए दौड़ी जा रही हैं, ठीक उसी समय जमींदार के मकान से दूसरे प्रकार की आवाज़ें आ रही हैं—'द्रिन-द्रिन-द्रिन' पियानो बज रहा है; किसी हंगेरियन गाने की तान गूँज रही है और बीच-बीच में लकड़ी की गेंद की लकड़ी के बल्ले से टकरांने की आवाज़ आ रही है। अस्तबल के पास चार हृष्ट-पुष्ट घोड़ों की किराए की एक सुंदर गाड़ी खड़ी है।

इस गाड़ी में कुछ मेहमान दस रूबल किराया देकर दस मील से आए हैं। गाड़ी में जुते हुए घोड़े गर्दन हिला-हिलाकर अपनी घंटियाँ बजा रहे हैं उनके सामने सूखी घास पड़ी हुई है, जिसे वे खुरों से रौंद-रौंदकर इधर-उधर फैला रहे हैं—यह वही घास है जो खेतों में इतने परिश्रम से इकट्ठी की जाती है। जमींदार के मकान में चहल-पहल हो रही है,—एक स्वस्थ, हृष्ट-पुष्ट युवक—जो दरबानी के पुरस्कार में मिली हुई लाल कमीज पहने हुए है—कोचवानों को पुकारकर घोड़ों पर जीन कसने के लिए कह रहा है। दो किसान, जो वहाँ कोचवानी का काम करते हैं, अपने कमरे से बाहर आते हैं और साहबों की सैर के लिए मजे-मजे से घोड़े कसने जाते हैं।

मकान के और पास जाने पर एक-दूसरे पियानो की आवाज़ सुनाई देती है। संगीतालय की एक नवयुवती विद्यार्थिनी, जो लड़कों को संगीत सिखाने के लिए वहीं रहती है, एक प्रसिद्ध राग का अभ्यास कर रही है। दोनों पियानों की स्वरलहरियाँ एक-दूसरे से टकरा रही हैं। मकान के पास ही दो धाएँ जा रही हैं—उनमें से एक युवती है और दूसरी वृद्धा। वे बच्चों को सुलाने जा रही हैं—ये बच्चे उतने ही बड़े हैं, जितने वे छोकरे, जो पानी के बर्तन गाँव से खेत तक दौड़ते हुए ले गए थे। एक धाय अंग्रेज है और रूसी भाषा नहीं बोल सकती। वह इंग्लैंड से विशेष रूप से बुलाई गई है—इसलिए नहीं कि वह अपनी किसी योग्यता के लिए प्रसिद्ध है, बल्कि इसलिए कि वह रूसी भाषा नहीं जानती। इनसे थोड़ी दूर पर एक किसान दो औरतों के साथ मकान के पास की फुलवारी सींच रहा है। वहीं एक और आदमी कुँवरसाहब की बंदूक को साफ कर रहा है।

और इधर देखिए, दो स्त्रियाँ धुले हुए कपड़ों की एक टोकरी लिए जा रही हैं। इन्होंने बाबूसाहबों और उनके अंग्रेज व फ्रांसीसी अध्यापकों के कपड़े धोए हैं। दो स्त्रियों को चीनी के जूठे बर्तनों को माँजने से ही फुरसत नहीं मिल पा रही है। सफेद कोट पहने हुए दो किसान नीचे-ऊपर दौड़-दौड़कर कॉफी, चाय, शराब तथा सेल्जर-पानी[1] पिला रहे हैं। मेज पर खाना रखा हुआ है। साहब लोग अभी-अभी

1. *जर्मनी के सेल्जर नामक स्थान का पानी, जिसमें अनेक प्राकृतिक ओषधि-गुण होते हैं।*

खाना खाकर उठे हैं। अभी थोड़ी देर बाद वे फिर खाने बैठेंगे और आधी रात या रात के तीन बजे तक या, जैसा कि प्रायः होता है, सवेरे तड़केतक खाते रहेंगे।

इनमें कुछ लोग बैठे-बैठे सिगरेट पी रहे हैं और ताश खेल रहे हैं। कुछ लोग सिगरेट का धुआँ उड़ाते हुए उदारवार (Liberalism) की चर्चा कर रहे हैं; दूसरे लोग घूम-फिर रहे हैं, खा रहे हैं, सिगरेटें सुड़क रहे हैं और जी न लगने पर घोड़ागाड़ी पर सवार हो टहलने जाने का निश्चय करते हैं। इन भद्र स्त्री-पुरुषों की संख्या कुल मिलाकर पंद्रह के लगभग है। वे सभी स्वस्थ हैं और उनकी सेवा में तीस हृष्ट-पुष्ट स्त्री-पुरुष लगे हुए हैं।

और यह सब उस देहात में हो रहा है, जहाँ का एक-एक क्षण और एक-एक व्यक्ति बहुमूल्य है। यही दशा जुलाई में भी रहेगी जबकि किसान लोग जौ को खराब न होने देने के लिए नींद हराम करके रात-रात भर कटाई करेंगे; जब स्त्रियाँ बड़े झुटपुटे ही उठकर गट्ठर बाँधने के लिए पुआल कूटेंगी; जब फसल के काम से बिल्कुल थककर वह बुढ़िया, वह बच्चों की माँ और वे छोटे-छोटे लड़के खूब कस-कसकर बूते से बाहर काम करेंगे और अत्यधिक पानी पीने के कारण बीमार हो जाएँगे; जब नाज को गोदाम तक उठाकर लाने के लिए आदमियों, घोड़ों और गाड़ियों की कमी पड़ जाएगी—उसी नाज को, जिससे सबका पेट भरता है और जिसकी लाखों मनों में प्रतिदिन रूस में आवश्यकता होती है ताकि वहाँ के लोग भूखों न मरें। उस समय भी इन भद्र लोगों का वही ढर्रा रहेगा, थिएटर-तमाशे, सैर-शिकार, खाने-पीने, पियानो बजाने, नाचने-गाने आदि का वही अनंत सिलसिला चलता रहेगा।

यहाँ हम धनी लोग यह बहाना नहीं बना सकते कि ऐसा तो सदा ही होता है, किसी बात की पहले से तैयारी थोड़े ही की गई थी? यहाँ अत्यधिक भार से झुके हुए किसानों से उनका अनाज और श्रम लेकर स्वयं हम लोग बड़ी चतुराई से इस प्रकार की जीवन-पद्धति की व्यवस्था करते हैं। इस प्रकार जीवनयापन करते हैं मानो उस मरती हुई धोबिन, उस पंद्रह वर्षीय वेश्या, उस सिगरेट बनाते-बनाते थकी हुई स्त्री और अपने आसपास की उन बुढ़ियों और बच्चों से हमारा कोई संबंध नहीं, जो कठोर श्रम के कारण क्लांत हो गए हैं और जिन्हें भर-पेट रोटी नहीं मिलती। हम लोग भोग-विलास में कुछ इस प्रकार लिप्त रहते हैं मानो ऐसी बात का हमारे जीवन से कोई संबंध ही न हो। हम आँखें खोलकर यह देखना नहीं चाहते कि यदि हमारा जीवन इतना आलस्यपूर्ण, विलासमय और पतित न होता तो मजदूरों और किसानों को इतना कड़ा परिश्रम न करना पड़ता। हम यह भी समझने की चेष्टा नहीं करते हैं कि हम जैसा जीवन बिताना चाहते हैं वह निर्धनों के कठोर श्रम के बिना असंभव

है। हम लोग सोचते हैं कि उनकी यंत्रणाएँ हमारे जीवन से बिल्कुल भिन्न हैं और हमारा वर्तमान जीवन हंस की तरह निर्मल और पवित्र है।

हम रोमनों के जीवन-वृत्त पढ़ते हैं और उन निर्दय धनाढ्यों के अमानुषिक व्यवहार पर आश्चर्य प्रकट करते हैं जो स्वयं तो बढ़िया-बढ़िया भोजन करते थे और कीमती-कीमती शराबें पीते थे, जबकि जन-साधारण भूख से तड़प-तड़पकर मरते थे। इसी तरह हम सिर हिलाकर अनेक दास-दासी रखनेवाले अपने उन पूर्वजों के जंगलीपन पर विस्मय करते हैं जो घरेलू संगीत और नाटक-मंडलियों का संगठन किया करते थे और अपने उपवनों की देखभाल के लिए पूरे गाँव-के-गाँव लिख देते थे। हम लोग अपनी मानवता के उच्च शिखर पर बैठे हुए उन पर आश्चर्य प्रकट करते हैं।

ईसैया के पाँचवें प्रकरण में हम निम्नलिखित वाक्य पढ़ते हैं—

8, "धिक्कार है उन लोगों को जो इस भय से कि वे संसार के मध्य अकेले ही न रह जाएँ, मकान-से-मकान और खेत-से-खेत जोड़ते चले जाते हैं और ऐसा उस समय तक करते रहते हैं जब तक कि कहीं कोई खाली जगह ही नहीं रह जाती।"

11, "धिक्कार है उन लोगों को जो तेज शराब पीने के लिए सवेरे ही उठ खड़े होते हैं और रात तक ऐसा ही करते रहते हैं जब तक कि नशा उनके अंदर आग नहीं पैदा कर देता।"

12, "और उनके भोजों में बीन, सारंगी, ढोलकी, बंसी और शराब होते हैं, किंतु वे न तो ईश्वर की सृष्टि को मानते हैं, न उसकी कृपाओं पर ध्यान देते हैं।"

18, "धिक्कार है उन लोगों को जो अहंकार और पाप की रस्सी से अन्याय की गाड़ी चला रहे हैं।"

20, "धिक्कार है उन लोगों को जो बुरे को अच्छा और अच्छे को बुरा कहते हैं, जो प्रकाश को अंधकार और अंधकार को प्रकाश समझते हैं और जो कड़वे को मीठा और मीठे को कड़वा ठहराते हैं।"

21, "धिक्कार है उन लोगों को जो अपने-आपको बुद्धिमान और ज्ञानी मानते हैं।"

22, "धिक्कार है उन लोगों को जो शराब पीने में वीर हैं और जिनकी शक्ति तेज शराब के प्याले बनाने में खर्च होती है।"

23, "धिक्कार है उन लोगों को जो पुरस्कार के लोभ में दुष्टों का समर्थन करते हैं और साधु पुरुषों को उनकी साधुता से वंचित करते हैं।"

हम इन शब्दों को पढ़ते हैं और हमें ऐसा लगता है मानो इनका हमसे कोई संबंध नहीं।

बाइबिल (मैथ्यू प्रकरण 3, पद 10) में लिखा है—

"और अब भी वृक्षों की जड़ पर कुल्हाड़ी चलाई जाती है और अच्छा फल न देनेवाला प्रत्येक वृक्ष काटकर आग में झोंक दिया जाता है।"

हम लोगों को पूरा विश्वास है कि हम तो फल देनेवाले अच्छे वृक्ष हैं और ये शब्द हमारे लिए नहीं बल्कि दूसरों के लिए कहे गए हैं, जो बुरे हैं।

ईसैया के छठे पद में कहा गया है—

10, "इन लोगों के मन को चर्बी से मोटा कर दो, इनके कान बहरे कर दो और इनकी आँखें बंद कर दो, जिससे वे अपनी आँखों से देख न लें, कानों से सुन न लें और हृदय से समझ न लें और अपने जीवन में परिवर्तन करके अच्छे न बन जाएँ।"

11, "तब मैंने पूछा—हे नाथ, कब तक? और उन्होंने उत्तर दिया—जब तक शहर और मकान नष्ट-भ्रष्ट होकर जनशून्य न हो जाएँ और सारी भूमि पूरी तरह उजाड़ न हो जाए।"

हम लोग ये बातें पढ़ते हैं और यह सोचने के लिए बिल्कुल तैयार हो जाते हैं कि यह अद्‌भुत काम हमारे लिए नहीं, बल्कि किसी और के लिए किया गया है। किंतु हमारे यह सब न देख पाने का एकमात्र कारण यह है कि यह अद्‌भुत काम वस्तुतः हमारे साथ बराबर किया जा रहा है। न तो हम सुनते हैं, न देखते हैं और न सच्चे हृदय से किसी बात को समझते ही हैं। इन सबका क्या कारण हैं?

श्रेष्ठता का मिथ्या अहंकार

एक आदमी जो अपने को ईसाई न सही, सभ्य और दयालु भी न सही, केवल एक ऐसा मनुष्य मानता है, जिसमें विवेक और मनुष्यता के थोड़े-बहुत संकेत मिलते हैं वह भला कैसे इस प्रकार जीवन बिताना पसंद कर सकता है कि मानव-समाज के जीवन-संघर्ष में भाग लिए बिना ही वह संघर्ष में भाग लेनेवालों के श्रम को हड़पता रहे और अपनी माँगों से न केवल संघर्ष करनेवालों को सिर का बोझ बढ़ाता रहे, बल्कि साथ-ही-साथ संघर्ष करते-करते मर मिटनेवालों की संख्या में वृद्धि करता रहे? फिर भी हमारा कथित ईसाई और सभ्य समाज ऐसे लोगों से भरा पड़ा है। यही नहीं, हमारे ईसाई और सभ्य समाज का तो आदर्श ही यह है कि अधिक-से-अधिक संपत्ति-संग्रह की जाएँ, अर्थात् इतना धन एकत्र किया जाए कि उससे सब तरह का आराम मिले और हाथ-पैर हिलाने की आवश्यकता न पड़े। दूसरे शब्दों में यों कहिए कि हम स्वयं तो जीवन-संघर्ष से मुक्त होना चाहते हैं और उस संघर्ष में खप जानेवाले अपने भाइयों के

श्रम का पूरा शोषण करने का अवसर प्राप्त करना चाहते हैं।

मनुष्य ऐसी आश्चर्यजनक भूल कैसे कर बैठा? उसकी यह दशा कैसे हुई कि जो बात इतनी स्पष्ट और असंदिग्ध है उसे वह न तो देख पाता, न सुन पाता, न हृदय से समझ ही पाता है?

इसके उत्तर में यदि हम केवल एक मिनट के लिए गंभीरतापूर्वक विचार करें तो हम यह देखकर स्तंभित रह जाएँगे कि जो लोग अपने को ईसाई न सही, केवल दयालु और सभ्य कहते हैं, उनके आचरण और धारणा में आश्चर्यजनक अंतर है।

चाहे वह विधाता के अच्छे या बुरे विधान के कारण हो, चाहे प्रकृति के उस नियम के कारण, जिसके अनुसार समस्त संसार और मानव-समाज का संचालन होता है—सत्य यह है कि हमारी जानकारी के आरंभ से ही संसार में मनुष्य की कुछ ऐसी स्थिति रही है और अब भी है कि उसे नंगा रहना पड़ता है, जाड़े से बचने के लिए उसे ऊनी कपड़ा नहीं मिलता, शरण के लिए गड़हे नहीं मिलते और खाने के लिए अन्न नहीं मिलता, यद्यपि वह इस अन्न को खेतों में उसी तरह पा सकता है, जिस तरह राबिन्सन क्रूसो ने अपने द्वीप में पा लिया था। मनुष्य की स्थिति कुछ ऐसी है कि सब लोगों को अपना तन ढँकने, अपने लिए कपड़े बनवाने, अपने चारों ओर चहारदीवारी खड़ी करने या ऊपर से बचाव के लिए छप्पर डालने और खाना पैदा करने के लिए प्रकृति से निरंतर संघर्ष करना पड़ता है, ताकि वे दिन में दो-तीन बार अपनी और अपने असमर्थ बच्चों व बूढ़ों की क्षुधा शांत कर सकें।

मनुष्य-जीवन का हम चाहे किसी भी स्थान, काल या परिमाण में अध्ययन करें—चाहे यूरोप में, चाहे चीन, अमरीका या रूस में, चाहे संपूर्ण मानव-समाज का चाहे उसके एक छोटे-से भाग का, चाहे प्राचीन काल के खानाबदोशों का, चाहे भाप केइंजनों, सीने की मशीनों, बिजली की रोशनियों और कृषि के नवीन साधनों के बीच रहनेवाले वर्तमान मानव-जीवन का— हमें एक ही बात दिखाई देगी, वह यह कि निरंतर कठोर काम करने पर भी मनुष्य अपने और अपने बाल-बच्चों व बूढ़ों के लिए पर्याप्त मात्रा में अन्न, वस्त्र और स्थान प्राप्त नहीं कर पाता और बहुत-से लोग जीवन-संबंधी आवश्यकताओं के अभाव के कारण और उनकी प्राप्ति के लिए अतिशय परिश्रम करने के कारण कालकवलित हो जाते हैं।

हम चाहे कहीं भी रहें, यदि हम अपने चारों ओर एक लाख, एक हजार, दस या एक ही मील का वृत्त बना लें और उसके अंदर के लोगों के जीवन पर दृष्टिपात करें तो उसमें क्षुधा-पीड़ित बच्चे, बूढ़े, बुढ़िया, गर्भिणी स्त्रियाँ और बीमार व दुर्बल लोग दिखाई देंगे, जिनकी पर्याप्त भोजन और आराम न मिलने के कारण अकाल-मृत्यु हो जाती है। इनके अलावा वहाँ ऐसे आदमी भी दिखाई देंगे, जो विवादास्पद

और हानिकारक कार्य करते रहने के कारण भरी जवानी में ही चल बसते हैं।

हम देखते हैं कि सृष्टि के प्रारंभ से ही लोगों को अपनी साधारण आवश्यकताओं के लिए संघर्ष करना पड़ा है और बड़े-बड़े प्रयासों, हानियों तथा यातनाओं के बाद भी वे उस पर विजय नहीं पा सके हैं। हम यह भी जानते हैं कि हम चाहे कहीं भी रहें और कैसे भी रहें हममें से प्रत्येक व्यक्ति प्रतिदिन और प्रतिघंटे इच्छापूर्वक या अनिच्छा से मानव-श्रम से उत्पन्न किए हुए पदार्थों का थोड़ा-बहुत उपभोग करता है। मनुष्य चाहे जहाँ और जिस तरह रहता हो, यह निश्चित है कि उसका मकान और उसके सिर पर की छत अपने-आप नहीं बनी। उसकी अँगीठी में जो लकड़ी जल रही है और उस पर जो पानी पक रहा है वे वहाँ स्वयं नहीं चले आए। इसी तरह पकी-पकाई रोटी, भोजन, कपड़े और जूते आसमान से नहीं टपक पड़े। ये सारे पदार्थ मनुष्य द्वारा बनाए गए हैं। इन्हें केवल बीते युग के मनुष्यों ने नहीं बनाया था, जो अब मर-खप गए हैं, बल्कि सदा इन्हें मनुष्य ही बनाते आए हैं और आज भी इन्हें हमारे लिए मनुष्य ही बना रहे हैं। इनमें से सैकड़ों व्यक्ति अपने और अपनी सन्तान के लिए जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं—भोजन, वस्त्र व आवास—का प्रबंध करने और अपने को यंत्रणा तथा अकाल-मृत्यु से सपरिवार बचाने की निष्फल चेष्टा करते हुए सूख सूखकर मर जाते हैं। अभाव के विरुद्ध वे सब-के-सब संघर्ष करते हैं और इतना प्रबल संघर्ष करते हैं कि प्रतिक्षण उनके आसपास उनके भाई, बाप, माँ और बच्चे कालकवलित होते रहते हैं।

इस संसार के निवासी तूफान में फँसे हुए जहाज के उन यात्रियों के समान हैं, जिनके पास भोजन-सामग्री बहुत कम रह गई है। ईश्वर या प्रकृति ने हमें ऐसी स्थिति में डाल दिया है कि आपदा से बचने के लिए कम-से-कम भोजन करना और निरंतर उद्योग करते रहना हमारे लिए अनिवार्य हो गया है। यदि हममें से कोई व्यक्ति ऐसा न करे और दूसरे के उस श्रम का उपभोग कर ले, जो सामान्य हित के लिए आवश्यक नहीं है तो यह हमारे और हमारे सहकारियों दोनों के लिए नाशकारी है।

क्या कारण है कि आजकल के अधिकांश शिक्षित व्यक्ति न केवल स्वयं परिश्रम न करके शांतिपूर्वक दूसरों के उस श्रम का उपभोग कर लेते हैं, जो उनके जीवन के लिए आवश्यक है, बल्कि यह भी समझते हैं कि उनका ऐसा करना सर्वदा स्वाभाविक एवं उचित है?

अपने आपको स्वाभाविक और उचित श्रम से मुक्त करके और श्रम का भार दूसरों के कंधों पर लादकर भी यदि हम अपने को चोर और धोखेबाज नहीं समझते तो इस संबंध में केवल दो ही धारणाएँ बनाई जा सकती हैं—(1) हम लोग जो साधारण श्रम में भाग नहीं लेते, मजदूरों से भिन्न हैं और समाज में हमारा एक विशेष

कार्य है, ठीक उसी तरह जैसे नर-मधुमक्खी या रानी-मधुमक्खी का काम परिश्रमी मधुमक्खियों से भिन्न होता है। (2) जीवन-संघर्ष से मुक्त होकर हम लोग दूसरों के लिए जो काम कर रहे हैं वह इतना उपयोगी है कि उससे निश्चय ही उस क्षति की पूर्ति हो जाती है,जो हम उन पर ज्यादा बोझ लादकर उन्हें पहुँचाते हैं।

पुराने जमाने में जो लोग दूसरों के श्रम का शोषण करते थे वे दो बातें कहा करते थे—एक तो यह कि वे एक विशिष्ट कुल के जीव हैं और दूसरे यह कि उन्हें ईश्वर ने दूसरों के कल्याण की व्यवस्था करने और उन्हें शिक्षित बनाने के लिए विशेष रूप से यहाँ भेजा है। इसी धारणा से प्रेरित होकर वे दूसरों को आश्वासन देते थे और प्राय: स्वयं भी विश्वास करते थे कि जो कुछ वे कह रहे हैं वह उस श्रम की अपेक्षा, जिसका वे उपभोग करते हैं, जनता के लिए अधिक आवश्यक और महत्त्वपूर्ण हैं। जब तक लोगों में यह विश्वास बना रहा कि मानव के विधान में ईश्वर का प्रत्यक्ष हाथ है और कुछ जातियाँ ऊँची व कुछ नीची होती हैं, तब तक यही तर्क चलता रहा। किंतु ईसाई धर्म का प्रादुर्भाव होने पर और उसके फलस्वरूप समस्त मानव-समाज में समानता व एकता की भावना जागृत हो जाने पर यह तर्क इस रूप में नहीं चल सका। अब यह कहना संभव नहीं रह गया कि मनुष्यों के भिन्न-भिन्न कुल होते हैं, उनकी भिन्न-भिन्न विशेषताएँ होती हैं और उनके कार्य भी भिन्न-भिन्न होते हैं। स्वभावत: यह तर्क, जिसे कुछ लोग अब भी काम में लाते हैं, क्रमश: लुप्त होता गया और अब तो कदाचित् ही कहीं सुनाई देता है।

मनुष्य के विभिन्न कुलों के भेद की दलील तो अब जाती रही; किंतु यह बात अभी ज्यों-की-त्यों बनी हुई है कि शक्तिशाली व्यक्ति अपने आपको श्रम से मुक्त रखकर दूसरों के श्रम का उपभोग करते हैं। इस वर्तमान स्थिति को उचित ठहराने के लिए बराबर बहाने गढ़े जाते हैं, ताकि मानव की वंश-विशेषता को स्वीकार किए बिना ही लोग अपने-आपको श्रम से वंचित रखना उचित समझ सकें। इस प्रकार के अनेक तर्क गढ़े गए हैं। यह बात विचित्र तो मालूम होती है किंतु है बिलकुल सत्य कि जो कुछ भी विज्ञान के नाम से पुकारा जाता है, उसका मुख्य उद्देश्य, उसकी मुख्य प्रवृत्ति ही ऐसे तर्क गढ़ने की रही है और अब भी है। धर्म-विज्ञान, न्यायविज्ञान और तथाकथित दर्शन-शास्त्र का भी यही उद्देश्य रहा है। इधर कुछ दिनों से यद्यपि इस तर्क को प्रयोग में लानेवाले लोगों को यह बात आश्चर्यजनक प्रतीत होती है।

जिन धार्मिक बारीकियों द्वारा यह सिद्ध करने की चेष्टा की गई थी कि एक विशेष सांप्रदाय ही ईसा मसीह का सच्चा अनुयायी है और इसलिए लोगों की आत्माओं तथा शरीरों पर उसका पूर्ण और असीमित अधिकार है—उन धार्मिक बारीकियों का मुख्य उद्देश्य ऐसा करना ही था। न्यायशास्त्र से संबंध रखनेवाले

राजनीतिक, फौजदारी, दीवानी और अंतर्राष्ट्रीय कानूनों का भी यही उद्देश्य है। इसी तरह अधिकांश दार्शनिक सिद्धांत भी—विशेषत: हीगेल[1] का सिद्धांत जिसकी बहुत दिनों तक मान्यता रही थी—यही बात सिद्ध करना चाहते हैं। हीगेल का मत था कि वर्तमान स्थिति उचित है और व्यक्तित्व के विकास के लिए राज्यतंत्र आवश्यक है।

बड़ी ही निम्नकोटि के एक अंग्रेज लेखक ने, जिसकी दूसरी पुस्तकों को लोग बिल्कुल भूल गए हैं और तुच्छ-से-तुच्छ पुस्तकों से भी तुच्छ समझते हैं, जनसंख्या पर एक पुस्तक लिखी। उसमें उसने इस कृत्रिम सिद्धांत का आविष्कार किया कि जनसंख्या की वृद्धि जीवनदायी साधनों की वृद्धि के अनुपात से नहीं होती। उसने अपने इस मिथ्या सिद्धांत का वर्णन गणित के कुछ निर्मूल सूत्रों के रूप में किया और उसे संसार के सम्मुख ला उपस्थित किया। वह पुस्तक इतनी तुच्छ थी और उसमें योग्यता का इतना अधिक अभाव था कि उसे देखकर यही आशा की जा सकती थी कि उसकी ओर किसी का ध्यान आकर्षित नहीं होगा और वह पुस्तक लेखक की बाद की अन्य पुस्तकों के समान ही कूड़े के ढेर में डाल दी जाएगी। इसके सर्वथा विपरीत, उस पुस्तक के लेखक की गणना तत्काल प्रामाणिक अर्थशास्त्रियों में होने लगी और लगभग पचास वर्ष तक उसे वही सम्मान प्राप्त रहा। लेखक का नाम था माल्थस और उसका सिद्धांत यह था कि जनसंख्या में तो गुणानुसार वृद्धि होती है, (जैसे 2, 4, 8, 16) किंतु जीवनोपयोगी साधन साधारण गणित की रीति से बढ़ते हैं (जैसे 1, 2, 3, 4,)। माल्थस ने जनसंख्या को रोकने की प्राकृतिक और कृत्रिम विधियों पर भी प्रकाश डाला और उसकी सब बातें एकदम वैज्ञानिक तथा असंदिग्ध सत्य मानी जाने लगीं। इन्हें प्रयोग की कसौटी पर कसा नहीं गया, बल्कि सिद्धांत रूप में प्रतिपादित करके भावी निष्कर्षों का आधार मान लिया गया। पंडित और शिक्षित लोगों ने इसी प्रकार काम किया और काहिल जनता में तो माल्थस द्वारा प्रतिपादित इस महान नियम के प्रति बड़ा श्रद्धापूर्ण विश्वास उत्पन्न हो गया।

ऐसा क्यों हुआ? ये वैज्ञानिक निष्कर्ष तो ऐसे जान पड़ते हैं मानो उनका साधारण जनता की भावना से कोई संबंध ही न हो।

किंतु ऐसा उसी व्यक्ति को प्रतीत होता है, जो समझता है कि अर्थशास्त्र भी गिरजाघर के समान एक स्वयं-सिद्ध संस्था है, जिससे कभी कोई भूल हो ही नहीं सकती। उसकी सम्मति में अर्थशास्त्र उन दुर्बल और भूल कर सकनेवाले व्यक्तियों का विचारमात्र नहीं है जो महानता का प्रदर्शन भर करने के लिए अपने विचारों और

1. *जार्ज विलहेल्म फ्रेडरिक हीगेल (1770—1831) प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक और प्रोफेसर, जिनका यह मत था कि जो सत्य है वही तर्कसंगत है और जो तर्कसंगत है वही सत्य है।*

शब्दों को 'विज्ञान' कहकर पुकारने लगते हैं।

यह जानने के लिए कि माल्थस का सिद्धांत एक मनुष्य-कृत सिद्धांत है और उसके कुछ निश्चित ध्येय हैं, केवल इस बात की आवश्यकता है कि हम उस सिद्धांत से व्यावहारिक परिणाम निकालने की चेष्टा करें।

माल्थस के सिद्धांत से जो प्रत्यक्ष निष्कर्ष निकले वे इस प्रकार थे—श्रमजीवियों की दुर्दशा का कारण धनी और शक्तिशाली वर्ग का अहंकार, निर्दयता और सहानुभूति का अभाव नहीं है, बल्कि एक ऐसा स्थायी नियम है, जिसमें मनुष्य का कोई हाथ नहीं और जिसका दोष यदि किसी पर है तो स्वयं भूखे मजदूरों पर। जब वे जानते हैं कि उनको खाने को कुछ नहीं मिलेगा तो वे जन्म लेने की मूर्खता ही क्यों करते हैं? अत: धनी और समर्थ लोगों का कोई दोष नहीं, वे पहले की ही तरह शांतिपूर्वक जीवन बिताते रह सकते हैं।

यह निष्कर्ष आलसी वर्ग के लिए इतना बहुमूल्य था कि समस्त शिक्षित समाज में उसकी प्रामाणिकता की रत्तीभर भी चिंता नहीं की गई और न उसकी अशुद्धता तथा पूर्णत: अवैध रूप पर ही ध्यान दिया गया। शिक्षितों, या यों कहिए कि काहिलों,—को जैसे ही इस सिद्धांत के भावी फल का पूर्वाभास मिला वैसे ही उन्होंने उसकी बड़े उत्साह के साथ सराहना की, उस पर सत्य अर्थात् अर्थशास्त्र की मोहर लगाई और पचास वर्ष तक उसका खूब ढिंढोरा पीटा।

काम्टे[1] का साकारवाद (Positivism) और उससे निकला हुआ यह सिद्धांत कि समाज एक विराट् शरीर के समान है; डार्विन[2] का जीवन-संघर्ष का सिद्धांत, जिसके अनुसार माना जाता है कि यह संघर्ष ही जीवन का संचालन करता है और मानव-समाज की वंश-विभिन्नता का प्रतिपादन करता है; इसके अलावा मानस-शास्त्र, जीव-शास्त्र और आजकल के लोगों को बहुत पसंद आनेवाला समाज-शास्त्र—इन सबका भी वही ध्येय है। इन सब शास्त्रों के लोकप्रिय होने का कारण यही है कि वे उस विधि को न्यायोचित घोषित करते हैं, जिसके अनुसार लोग अपने को श्रमविषयक मानवीय कर्तव्य से मुक्त कर लेते हैं और दूसरे लोगों के श्रम के प्रतिफल का छक-छककर उपभोग करते हैं।

1. *आगस्ट काम्टे (1798—1857) प्रसिद्ध फ्रांसीसी दार्शनिक और साकारवादी जीवन-सिद्धांत का प्रवर्तक। काम्टे का मत था कि मनुष्य केवल गोचर पदार्थ का ज्ञान प्राप्त कर सकता है और वह ज्ञान संपूर्ण नहीं बल्कि अपेक्षाकृत होता है।*
2. *चार्ल्स राबर्ट डार्विन (1809—1882) जगत्प्रसिद्ध ब्रिटिश विज्ञानवेत्ता, जिनका विकासवादी सिद्धांत अभी कुछ समय पहले तक मान्य रहा है।*

जैसा कि सदा से होता आया है, इन सिद्धांतों का निर्माण सर्वप्रथम पुरोहितों की गुप्त गुफाओं में हुआ। उसके बाद ये अनिश्चित और अस्पष्ट रूप में जन-साधारण में फैल गए और लोगों ने इन्हें इसी रूप में स्वीकार कर लिया। जिस प्रकार पुरातन काल में धर्मपंडितों और राज्य द्वारा की गई हिंसा का समर्थन करनेवाली धार्मिक सूक्ष्मताओं का ज्ञान विशेष रूप से केवल पुरोहितों को होता था और जन-साधारण में केवल यह गढ़ा-गढ़ाया सिद्धांत प्रचलित था कि राजाओं, पुरोहितों और कुलीनों की सत्ता एक पवित्र सत्ता है और जनता ने इस सिद्धांत को स्वीकार भी कर लिया था, उसी प्रकार बाद में तथाकथित शास्त्र की दार्शनिक और कानूनी बारीकियों का परिचय केवल शास्त्र-पारंगत पुरोहितों को रहा और जन-साधारण में केवल यह सिद्धांत प्रचलित रहा कि समाज का संगठन वैसा ही होना चाहिए जैसा है और वह इसके विपरीत हो ही नहीं सकता। जनता ने इस सिद्धांत को श्रद्धापूर्वक स्वीकार कर लिया था।

यही दशा आज भी है। मानव-जीवन और शारीरिक विकास के नियमों का विश्लेषण आजकल केवल वैज्ञानिक पुरोहितों की गुफाओं में किया जाता है। जहाँ तक जनता का प्रश्न है, वह तो विश्वासपूर्वक यह निष्कर्ष स्वीकार कर लेती है कि श्रम-विभाजन का नियम अर्थशास्त्र द्वारा प्रमाणित नियम है, इसलिए व्यवस्था उसी के अनुसार होनी चाहिए, अर्थात् कुछ लोग तो काम करते-करते और भूखों तड़प-तड़पकर मर जाएँ और कुछ लोग सदा आनंद उड़ाएँ। इस प्रकार कुछ लोगों का चक्की में पिसते रहना और कुछ लोगों का मौज उड़ाना ही मानव-जीवन का असंदिग्ध नियम है, जिसे हम सबको स्वीकार कर लेना चाहिए।

शिक्षित कहे जानेवाले सब लोगों में—रेलवे-कर्मचारियों से लेकर लेखकों और कलाकारों तक में —इस काहिली की अब जो सफाई दी जाती है वह इस प्रकार है—

हम लोग, जिन्होंने अपने-आपको जीवन-संघर्ष के सामान्य मानवीय कर्तव्य से मुक्त कर लिया है, संसार की उन्नति करने में लगे हुए हैं; इसलिए हम समस्त मानव-समाज की ऐसी सेवा कर रहे हैं, जिससे उन समस्त क्षतियों की पूर्ति हो जाती है, जो हम दूसरों को उनके श्रम का शोषण करके पहुँचाते हैं।

हमारे युग के लोगों को यह तर्क उस तर्क से भिन्न प्रतीत होता है, जिसके बल पर पुरातन काल के अकर्मण्य व्यक्ति अपनी अकर्मण्यता का औचित्य सिद्ध किया करते थे। हम लोगों को यह तर्क वैसा ही लगता है जैसा रोमन सम्राटों और नागरिकों को अपना यह तर्क कि उनके बिना समस्त सभ्य संसार का विनाश हो जाएगा, मिस्रियों तथा ईरानियों के तर्क से सर्वथा भिन्न जान पड़ता था, या जैसा कि इसी प्रकार का तर्क मध्यकालीन सामंतों और पुरोहितों को रोमनों के तर्क से पृथक् मालूम देता था।

किंतु यह भेद केवल ऊपरी है। यदि हम अपने वर्तमान तर्क के सार की परीक्षा करें तो हमें यह तत्काल विश्वास हो जाएगा कि इस तर्क में कोई नई बात नहीं है; इस पर थोड़ा-सा रंग चढ़ा हुआ है, किंतु है यह वही वस्तु; क्योंकि दोनों का आधार एक ही है। अपने-आप काम न कर दूसरों के श्रम के उपभोग को उचित ठहराने का प्रत्येक प्रयत्न—वह फ़राऊन और उकेस पुरोहितों का हो; चाहे रोमन और मध्यकालीन राजाओं, सामंतों, पुरोहितों और पादरियों का—सदा ही दो धारणाओं पर अवलंबित था—(1) हम लोग जनता के परिश्रम का उपभोग इसलिए करते हैं कि हम विशिष्ट व्यक्ति हैं और ईश्वर ने हम पर सर्वसाधारण पर शासन करने तथा उसे दैवी सत्य सिखाने का उत्तरदायित्व डाला है, (2)सर्वसाधारण में से कोई भी व्यक्ति यह निश्चय करने योग्य नहीं कि सर्वसाधारण से कितना काम कराया जाए, क्योंकि (जैसा कि फेरीसियों ने पहले ही कहा था) ''यह जन-समुदाय, जो कानून से अनभिज्ञ है, अभिशापित है'' (जॉन, 7—49)। साधारण जनता यह नहीं समझ सकती कि उसका हित किस बात में है, इसलिए वह अपने साथ किए गए उपकारों की भी निर्णायक नहीं बन सकती।

आजकल जो सफाई दी जाती है वह मुख्यतः इन्हीं दो मूल धारणाओं पर अवलंबित है—(1) हम लोग एक विशिष्ट वर्ग के शिक्षित व्यक्ति हैं; हम संसार की सभ्यता और उन्नति में हाथ बँटाकर सर्वसाधारण का महान उपकार करते हैं, (2) अशिक्षित जनता अपने ऊपर किए गए उपकारों को नहीं समझती और इसलिए वह उनकी निर्णायक भी नहीं बन सकती।

श्रम के बोझ से हम अपने-आपको मुक्त कर लेते हैं, किंतु दूसरों के श्रम का उपभोग कर उनके जीवन का बोझ बढ़ा देते हैं। फिर भी हम दावा करते हैं कि इसके बदले हम उनका बड़ा उपकार करते हैं, जिसका वे अपने अज्ञान के कारण मूल्य नहीं आँक सकते।

क्या यह भी वैसा ही तर्क नहीं है? अंतर केवल इतना है कि प्राचीन काल में दूसरों के श्रम का उपभोग करने का अधिकार रोमन नागरिकों, पुरोहितों, वीरों और सामंतों को था और आजकल यह अधिकार एक ऐसे वर्ग को है, जो अपने को शिक्षित कहता है। इसमें भी वही अशुद्धि है जो पहले में थी। अशुद्धि इस बात में है कि श्रम से मुक्त होनेवाले व्यक्तियों द्वारा जनता के प्रति किए गए उपकारों के संबंध में तर्क-वितर्क करने से पूर्व ही कुछ लोग—उदाहरणतः फराऊन, पुरोहित या हम-जैसे शिक्षित व्यक्ति—अपने को कथित उपकार के पद का अधिकारी बता लेते हैं और उस अधिकार को अक्षुण्ण रखते हुए उसकी सफाई देने की युक्ति सोचते हैं।

इस प्रकार कुछ व्यक्तियों का दूसरे व्यक्तियों के साथ मनमानी करने की स्थिति

में होना ही सारी बातों की जड़ है। यही स्थिति पहले थी और यही स्थिति अब भी है। तब में और अब में एकमात्र अंतर यह है कि आजकल का तर्क प्राचीन युग के तर्क से अधिक मिथ्या और कम सुदृढ़ है।

प्राचीन काल के सम्राट् और धर्माचार्य अपने को ईश्वर का दूत मानते थे और जनता भी उन्हें इसी रूप में स्वीकार करती थी। इसलिए वे सर्वसाधारण को बड़ी सरलता के साथ समझा सकते थे कि दूसरों के श्रम का उपभोग करने का अधिकार उन्हें ही—सम्राटों और धर्माचार्यों को ही—होना चाहिए। उनका कहना था कि स्वयं ईश्वर ने हमें इस काम के लिए नियुक्त किया है और आदेश दिया है कि जिस सत्य का प्रकाश मैंने तुझे दिखाया है, उसे तू जनता पर प्रकट कर और उस पर शासन भी कर।

किंतु हमारे युग के शिक्षित लोग, जो मानव के समानाधिकारों को स्वीकार करते हुए भी अपने हाथों से काम नहीं करते, इस बात का सकारण प्रमाण नहीं दे सकते कि केवल उन्हें और उनके बच्चों को ही किसी विशेष उपकार को प्रदान करनेवाला विशिष्ट और भाग्यशाली वर्ग क्यों समझा जाए और उन लाखों आदमियों में से किसी को क्यों न चुना जाए, जो कुछ थोड़े-से व्यक्तियों को शिक्षा प्रदान करते हुए सैकड़ों और हजारों की संख्या में मर-मिटते हैं? (ध्यान रहे कि शिक्षा भी केवल रुपए से ही प्राप्त होती है और रुपया शक्ति है)!

इसका उनके पास एक ही उत्तर है—वह यह कि स्वयं काम न करके और दूसरों के श्रम का उपभोग करके हम उनको जो हानि पहुँचाते हैं, उसके बदले हम उनके साथ एक ऐसा उपकार करते हैं, जिसे वे समझ नहीं पाते, किंतु जिससे सारी क्षतियों की पूर्ति हो जाती है।

भयंकर भ्रम

जो लोग अपने को परिश्रम से मुक्त कर चुके हैं वे अपनी सफाई में जो दलील देते हैं, उसका सरलतम और बिल्कुल ठीक-ठीक रूप यह है—हम लोग अपने-आपको श्रम से बचाकर बलात् दूसरों के श्रम का उपभोग करते हैं और अपनी इसी स्थिति के फलस्वरूप हम उनके साथ उपकार करते हैं। दूसरे शब्दों में, कुछ लोग जनता के श्रम से बलात् लाभ उठाकर और इस प्रकार प्रकृति के साथ उसके संघर्ष को और भी गंभीर बनाकर, उसे जो प्रत्यक्ष और बोधगम्य हानि पहुँचाते हैं, उसके बदले वे उसके साथ कुछ ऐसे उपकार करते हैं, जो न तो उसे प्रत्यक्ष दिखलाई ही पड़ते हैं, न उसकी समझ में ही आते हैं। यह बात बड़ी विचित्र है, किंतु जो लोग

पुरातनकालीन व्यक्तियों की तरह आज भी मजदूरों का शोषण करते हैं, वे इस शोषण में विश्वास करते हैं और इस तर्क द्वारा अपनी आत्मा का बोझ हलका कर लेते हैं।

आइए, ज़रा देखें कि वर्तमान काल में जिन विभिन्न वर्गों ने अपने-आपको श्रम से मुक्त कर लिया है वे अपनी सफाई में क्या कहते हैं?

वे कहते हैं—एक राजा, मंत्री या पादरी की हैसियत से मैं अपने सरकारी या धार्मिक कार्यों द्वारा जनता की सेवा करता हूँ। इसी तरह मैं अपनी व्यावसायिक, औद्योगिक, वैज्ञानिक या कलात्मक चेष्टाओं से भी सर्वसाधारण को लाभ पहुँचाता हूँ। हमारी ये समस्त क्रियाएँ जनता के लिए उतनी ही आवश्यक है, जितनी उनकी मजदूरी हमारे लिए है।

अब एक-एक करके उन तर्कों की समीक्षा की जाए, जिनके आधार पर ये लोग अपने कार्यों की उपयोगिता सिद्ध करते हैं।

एक व्यक्ति का काम दूसरे के लिए उपयोगी है अथवा नहीं, इसकी जाँच केवल दो ही कसौटियों पर हो सकती है—(1) बाहरी कसौटी, अर्थात् जिसका उपकार किया जाता है वह उस उपकार की उपयोगिता को स्वीकार करे; (2) भीतरी कसौटी, अर्थात् जो आदमी उपकार करता है, उसके इस कार्य के मूल में उपकार की भावना हो।

सरकारी कर्मचारी (जिनमें मैं राज्य द्वारा स्थापित गिरजाघरों के पादरियों को भी सम्मिलित करता हूँ) उन लोगों का उपकार करते हैं, जिन पर वे शासन करते हैं। सम्राट्, राजा, प्रजातंत्र के राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, न्याय-मंत्री, युद्ध-मंत्री, शिक्षा-मंत्री, बड़े पादरी और उनके नीचे काम करनेवाले अन्य सरकारी कर्मचारी अपने-आपको जीवन के संघर्ष से मुक्त कर लेते हैं। वे कहते हैं कि अपने विभिन्न पदों पर रहते हुए हम जनता की जो सेवा करते हैं, उससे उपयुक्त क्षति की पूर्ति हो जाती है।

अब हम उनके इस कथन को पहली कसौटी पर कसकर देखते हैं। शासकवर्ग के सारे काम प्रत्यक्ष रूप से मजदूरों को ही लक्ष्य करके किए जाते हैं; किंतु, क्या मजदूर लोग यह स्वीकार करते हैं कि उन्हें शासकों के कार्य से कोई लाभ होता है?

हाँ, वे इस बात को स्वीकार करते हैं। अधिकांश लोग राज्यतंत्र को अपने लिए आवश्यक समझते हैं और सैद्धांतिक दृष्टि से वे उसकी उपयोगिता को भी स्वीकार करते हैं। किंतु उसके व्यावहारिक रूप को हम जितना भी देख पाए हैं और जितनी भी विशिष्ट घटनाओं से हम परिचित हैं, उन सबमें हमने यही देखा है कि जिन लोगों के उपकार के लिए सरकारी संस्थाएँ चलाई जाती हैं और ये काम किए जाते हैं वे न केवल यही कहते हैं कि उन्हें इन संस्थाओं और इन कामों से कोई लाभ नहीं पहुँचता, बल्कि वे इन्हें हानिकारक और विनाशकारी भी बताते हैं।

राज्य अथवा समाज का एक भी कार्य ऐसा नहीं जिसे बहुत-से लोग हानिकर न समझते हों। इसी तरह एक भी ऐसी संस्था नहीं, जिसे लोग नुकसानदेह न मानते हों; अदालतों, बैंकों, म्युनिसिपैलिटियों, डिस्ट्रिक्टबोर्डों, पुलिस, पादरियों, राज्य के बड़े-से-बड़े अधिकारियों को लेकर नगर तथा ग्राम की पुलिस तक, बड़े धर्मगुरुओं से लेकर कब्र खोदनेवालों तक के कार्य को कुछ लोग लाभदायक और कुछ हानिकारक मानते हैं; और यह बात केवल रूस में ही नहीं है, बल्कि फ्रांस और अमरीका में भी है।

अमरीका में रिपब्लिकन दल के सारे काम को डेमोक्रेटिक दल हानिकर समझता है और इसी प्रकार शासन की बागडोर जब डेमोक्रेटिक दल के हाथ में होती है तब रिपब्लिकन दल[1] के लोग और दूसरे लोग भी उसके सारे काम को बुरा समझते हैं।

बात इतनी ही नहीं है कि सरकारी कामों को साधारणत: सभी लोग उपयोगी नहीं समझते, बल्कि यह भी कि उन्हें व्यावहारिक रूप देने के लिए पाशविक बल का प्रयोग करना पड़ता है और उनसे लोगों का उपकार करने के लिए हत्याएँ, फाँसी, जेल, करों की बलात् वसूली आदि बातें आवश्यक हो जाती हैं।

इससे दो निष्कर्ष निकलते हैं, एक तो यह कि सभी लोग सरकारी कार्य की उपयोगिता को स्वीकार नहीं करते और कुछ लोग उसे सदा अस्वीकार करते हैं; दूसरे यह कि उस उपयोगिता की विशेषता इस बात में निहित है कि वह सदा हिंसात्मक प्रयोगों द्वारा ही प्राप्त होती है। अत: राजनीतिक कार्यों की उपयोगिता के प्रमाण में यह बात नहीं कही जा सकती कि जिनके लिए ये किए जाते हैं वे इनकी उपयोगिता को स्वीकार करते हैं।

अब दूसरी कसौटी का भी प्रयोग कर देखिए। राजा से लेकर पुलिस-मैन तक, राष्ट्रपति से लेकर ऑफिस के क्लर्क तक और धर्मगुरु से लेकर कब्र खोदनेवाले तक सब सरकारी आदमियों से कहिए कि वे यह बात सच्चे हृदय से बतलाए कि पद-ग्रहण करते समय उनके मन में जनता के साथ उपकार करने की भावना होती है या कोई दूसरा उद्देश्य। राजा, राष्ट्रपति, मंत्री, ग्रामीण, चौकीदार, महापात्र या अध्यापक का पद ग्रहण करने की उनकी इच्छा परोपकार की भावना से प्रेरित होती है या वे निजी लाभ के लिए ही इन पदों को ग्रहण करना चाहते हैं?

शुद्ध अंत:करणवाले व्यक्तिगत यही उत्तर देंगे कि उनके सारे कार्य मुख्यत: व्यक्तिगत लाभ की भावना से ही प्रेरित होते हैं। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर

1. ये दोनों दल अमरीका के प्रमुख राजनीतिक दल हैं।

पहुँचते हैं कि एक वर्ग के लोग दूसरे वर्ग के काम करते-करते मर-मिटनेवाले लोगों के श्रम से लाभ उठाकर जो हानि पहुँचाते हैं, उसकी पूर्ति वे ऐसे काम से करते हैं, जिसको बहुत-से लोग लाभदायक नहीं, बल्कि हानिकर समझते हैं; जिसे लोग स्वेच्छापूर्वक स्वीकार नहीं करते, बल्कि जिसे कार्यान्वित करने के लिए बल का प्रयोग करना पड़ता है और जिसका उद्देश्य परोपकार नहीं, बल्कि व्यक्तिगत स्वार्थ होता है।

तो फिर वह कौन-सी बात है जो राजतंत्र को जनता के लिए उपयोगी सिद्ध करती है?

केवल एक बात; वह यह कि जो लोग राजतंत्र का संचालन करते हैं, उन्हें उसकी उपादेयता में पूर्ण विश्वास है और राजतंत्र सदा से चला आया है। किंतु सदा से चले आने की बात तो यह है कि दासता, वेश्यावृत्ति और युद्ध आदि भी सदा से चले आते हैं, किंतु वे न केवल निरर्थक, बल्कि हानिकारक भी हैं। औद्योगिक वर्ग जिसमें व्यापारी, कारखानेदार, रेलों और सड़कों के संचालक, महाजन और जमींदार भी सम्मिलित हैं—यह विश्वास रखते हैं कि वे जनता का इतना उपकार करते हैं कि उससे उनके द्वारा की गई समस्त असंदिग्ध हानियाँ पूर्ण हो जाती हैं।

उनके इस विश्वास का क्या आधार है? कौन और किस वर्ग के लोग उनके कार्य की उपादेयता स्वीकार करते हैं? इस प्रश्न के उत्तर में राज्यकर्मचारी, जिनमें पादरी लोग भी सम्मिलित हैं, उन हजारों और लाखों मजदूरों की ओर संकेत कर सकते हैं, जो सिद्धांतत: सरकार तथा गिरजा के कामों का उपादेयता को स्वीकार करते हैं। किंतु बड़े-बड़े महाजन, शराब बनानेवाले और मखमल, कांसे तथा शीशे का काम करनेवाले—तोप बनानेवालों की तो बात ही छोड़ दीजिए—किसकी ओर संकेत करेंगे? इसी प्रकार जब व्यापारियों और जमींदारों से पूछा जाएगा कि क्या आपके द्वारा किए जानेवाले लाभों को लोकमत स्वीकार करता है तो वे किसकी ओर इंगित करेंगे?

यदि इस संसार में कुछ ऐसे व्यक्ति हैं, जो छींट, रेल, शराब और ऐसी ही दूसरी वस्तुओं के उत्पादन को लाभदायक समझते हैं तो उनसे कहीं अधिक ऐसे व्यक्ति मिलेंगे जो इनके उत्पादन को हानिकर मानते हैं। कीमत बढ़ानेवाले जमींदारों और व्यापारियों के कार्य का भला कौन समर्थन करेगा? ऐसे कामों से मजदूरों की सदा हानि ही होती है और उनके संचालन में हिंसा का भी प्रयोग किया जाता है। यह हिंसा राजकीय हिंसा की अपेक्षा कम उग्र होती है, किंतु इसके परिणाम उतने ही क्रूर होते हैं; क्योंकि सारे औद्योगिक और व्यापारिक कार्य मजदूरों की आवश्यकताओं से लाभ उठाकर चलाए जाते हैं। उनकी आवश्यकताओं से लाभ उठाकर एक ओर तो उन्हें कठिन और अप्रिय कार्य करने के लिए बाध्य किया जाता है और दूसरी ओर उनकी चीजें सस्ते दामों पर खरीद ली जाती हैं और जनता को उसकी आवश्यकता

की चीजें ऊँचे-से-ऊँचे भाव पर दी जाती हैं। उनकी इन्हीं आवश्यकताओं से लाभ उठाकर उधार दिए हुए रुपयों का ब्याज वसूल किया जाता है। उनके कार्यों पर चाहे किसी भी दृष्टिकोण से विचार किया जाए हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि औद्योगिक वर्ग द्वारा किए गए उपकार का मजदूर लोग न तो सिद्धांत की दृष्टि से और न किसी विशिष्ट मामले में ही स्वीकार करते हैं। इतना ही नहीं, बल्कि उनमें से अधिकांश लोग उसे नितांत हानिकर मानते हैं।

यदि हम दूसरी कसौटी का प्रयोग करें और पूछें कि औद्योगिक वर्ग के कार्यों की प्रेरक शक्ति क्या है, तो हमें जो उत्तर मिलेगा वह शासकों के कार्यों के विषय में मिले हुए उत्तर से भी अधिक स्पष्ट होगा।

यदि कोई सरकारी कर्मचारी कहता है कि उसे अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के साथ लोकहित की चिंता करनी पड़ती है तो उसका विश्वास करना ही पड़ता है और ऐसे आदमी को सब लोग जानते हैं। किंतु व्यवसाय के आधारभूत सिद्धांत के कारण उद्योगपति लोकहित को अपना उद्देश्य नहीं बना सकते; और यदि वे धन की बुद्धि और रक्षा के अतिरिक्त अपने सामने कोई दूसरा उद्देश्य रखें तो अपने साथियों की दृष्टि में वे हास्यास्पद प्रतीत होंगे।

अतः मजदूर लोग उद्योगपतियों के कार्य को अपने लिए उपयोगी नहीं मानते। इनके इस कार्य में मजदूरों के विरुद्ध बल अथवा हिंसा का प्रयोग किया जाता है और उस कार्य का उद्देश्य मजदूरों का उपकार नहीं, बल्कि व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्ति होता है। तिसपर भी आश्चर्य की बात है कि उद्योगपतियों को अपने द्वारा किए जानेवाले उपकारों की उपयोगिता का इतना अधिक विश्वास है कि इन कल्पित उपकारों के लिए वे अपने-आपको श्रम से मुक्त करके और श्रमिकों के श्रम से उत्पन्न हुए पदार्थों का उपभोग करके उनको स्पष्ट और असंदिग्ध हानि पहुंचाते हैं।

वैज्ञानिकों और कलाविदों ने भी अपने-आपको श्रम से मुक्त करके उसका बोझ दूसरों पर डाल दिया है। उनका अंतःकरण शांत होता है और उनको इस बात का पूर्ण विश्वास होता है कि वे दूसरों के साथ ऐसे उपकार कर रहे हैं, जिनसे उनके द्वारा की गई हानि की पूर्ति हो जाती है।

उनके इस विश्वास का आधार क्या है?

जिस तरह हमने सरकारी कर्मचारियों और उद्योपतियों से पूछा था, उसी तरह हमें इनसे भी पूछना चाहिए कि क्या सारे मजदूर (या उनमें से कुछ लोग ही सही) विज्ञान-कला से प्राप्त होनेवाले उपकारों को स्वीकार करते हैं?

इसका हमें बड़ा ही दुःखदायी उत्तर मिलेगा।

शासकों और पादरियों के कार्य को प्रायः सभी लोग सैद्धांतिक दृष्टि से उपयोगी मानते हैं और व्यवहार में भी आधे से अधिक मजदूर उसे ऐसा ही समझते हैं। उद्योग धंधेवालों के कार्य को भी कुछ मजदूर उपयोगी मानते हैं। किंतु वैज्ञानिकों और कलाविदों के कार्य की उपयोगिता एक भी मजदूर स्वीकार नहीं करता। इसकी उपादेयता केवल वे लोग स्वीकार करते हैं, जो इसे कर रहे हैं या करते रहना चाहते हैं। श्रमिक लोग, जिनके कंधों पर समस्त मानव-जीवन के श्रम का भार होता है और जो वैज्ञानिकों तथा कलाविदों के भोजन-वस्त्र का प्रबंध करते हैं, इस बात को स्वीकार नहीं कर सकते कि वैज्ञानिकों और कलाविदों के कार्य से उनको कोई लाभ होता है; क्योंकि वे इस कार्य की, जो उनके लिए इतना उपयोगी कहा जाता है, कल्पना तक नहीं कर सकते। यह कार्य उनको निरर्थक और आचार को भ्रष्ट करनेवाला मालूम पड़ता है।

ठीक ऐसा ही वे विश्वविद्यालयों, पुस्तकालयों, संग्रहालयों, चित्रशालाओं, शिल्पशालाओं, और नाटकगृहों के विषय में भी सोचते हैं, जो उनके पैसे से बनाए जाते हैं। विज्ञान और कला-संबंधी कार्य को तो वे इतने निश्चित रूप से हानिकर समझते हैं कि अपने बच्चों को स्कूल तक नहीं भेजते। जनता को इसकी उपयोगिता समझाने के लिए और उसे अपने बच्चों को अनिवार्य रूप से स्कूल भेजने को विवश करने के लिए हर जगह कानून बनाने की आवश्यकता पड़ी है। मजदूर इस कार्य को सदा विरोध की दृष्टि से देखते हैं और ऐसा करना वे तभी बंद कर सकते हैं जब वे स्वयं मजदूर न रह जाएँ और पहले आर्थिक लाभ तथा बाद में शिक्षा कही जानेवाली वस्तु की सहायता से वे श्रमिक वर्ग से निकलकर उन लोगों के वर्ग में आ जाएँ जो दूसरों की पीठ पर चढ़े रहते हैं। फिर भी, यद्यपि मजदूर लोग वैज्ञानिकों और कलाविदों के काम की उपादेयता को स्वीकार नहीं करते—और कर भी नहीं सकते—तथापि उन्हें इस बात के लिए बाध्य किया जाता है कि वे इस कार्य के लाभार्थ त्याग करें।

शासक-वर्ग के लोग आदमियों को सीधे फाँसी पर लटकवा देते हैं या जेल भेज देते हैं। व्यापारी लोग दूसरों के श्रम का शोषण कर उनकी कौड़ी-कौड़ी छीन लेते हैं और उनके सामने यह समस्या ला खड़ी करते हैं कि या तो वे भूखों मरें या घृणित दासता स्वीकार करें। किंतु वैज्ञानिक और कलाविद् किसी को विवश नहीं करते। वे तो अपनी कृति केवल उन लोगों के सामने रखते हैं, जो उन्हें ग्रहण करते हैं। फिर भी अपनी उस कृति को जन्म देने के निमित्त, जिसकी मजदूरों को बिलकुल आवश्यकता नहीं होती, वे विद्यापीठों, विश्वविद्यालयों, हाईस्कूलों, प्राथमिक पाठशालाओं, अजायबघरों, पुस्तकालयों और संग्रहालयों के निर्माण एवं संचालन तथा वैज्ञानिकों और कलाविदों के निर्वाह के लिए सरकारी एजेंटों द्वारा मजदूरों का अधिकांश श्रम जबर्दस्ती छिनवा लेते हैं।

यदि हम वैज्ञानिक और कलाकारों से पूछें कि आप किस उद्देश्य को दृष्टि में रखकर अपना काम करते हैं, तो हमें बड़े मार्के के उत्तर मिलेंगे। सरकार से संबंध रखनेवाले मनुष्य यह उत्तर दे सकते हैं कि वे जनता के कल्याण को दृष्टि में रखकर कार्य करते हैं। इस उत्तर में तथ्यांश भी होता है, जिसका लोकमत भी समर्थन करता है। उद्योगपति भी सार्वजनिक हित को ही अपना उद्देश्य बतला सकते हैं, किंतु उसमें कल्याण-भावना के विद्यमान होने की कम संभावना है, यद्यपि समर्थन उसे भी मिल सकता है।

किंतु वैज्ञानिकों और कलाकारों का उत्तर तो आश्चर्यजनक रूप से निराधार और हठपूर्ण हैं। बिना किसी प्रकार का प्रमाण दिए ही वे पुराने युग के पुरोहितों की तरह कहा करते हैं कि समाज के कल्याण के लिए उनका काम सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और आवश्यक है, और, यदि वे काम न करें तो समस्त मानव-समाज विनष्ट हो जाए। यद्यपि उनके सिवा कोई दूसरा आदमी उनके काम की महत्ता को समझता या स्वीकार नहीं करता, और यद्यपि स्वयं उनकी परिभाषा के अनुसार सच्चे विज्ञान और सच्ची कला का उद्देश्य उपादेयता नहीं है, तथापि वे अपने कार्य का गुण गाए बिना नहीं रहते। इस बात की चिंता किए बिना ही कि उनके काम से जनता को लाभ होगा या नहीं, वे अपने प्रिय व्यसनों में लगे रहते हैं और उन्हें सदा यह विश्वास रहता है कि वे समाज के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण और आवश्यक कार्य कर रहे हैं। इस प्रकार जहाँ एक ईमानदार सरकारी कर्मचारी यह मानता है कि उसके काम का मुख्य उद्देश्य व्यक्तिगत लाभ है और फिर भी वह मजदूरों के लिए यथासाध्य उपयोगी बनने का प्रयत्न करता है और इसी तरह जहाँ व्यवसायी भी अपने कार्य की स्वार्थ परायणता को स्वीकार करता हुआ उसको सार्वजनिक उपयोगिता का रूप देने की चेष्टा करता है, वहाँ वैज्ञानिक और कलाकार को न केवल अपने कार्य की उपयोगिता, बल्कि उसकी पवित्रता का भी इतना पक्का विश्वास होता है कि वे अपने को उपयोगी बनाने की चेष्टा करने का दिखावा करना आवश्यक नहीं समझते और उपयोगितावाद के सिद्धांत को अस्वीकार तक कर देते हैं।

अतएव हम देखते हैं कि एक तीसरी श्रेणी के लोग अपने को श्रम से मुक्त करके और उसका भार दूसरों पर लादकर ऐसे कामों में लग रहे हैं, जिनको मजदूर-वर्ग समझ ही नहीं पाते हैं और जिनको वे निरर्थक तथा बहुधा हानिकारक मानते हैं। इन कामों को करते समय उन्हें अपने को जनता के लिए उपयोगी बनाने की रत्तीभर भी चिंता नहीं होती; वे सब कुछ स्वान्तः सुखाय करते हैं फिर भी किसी कारणवश उन्हें इस बात का पूर्ण विश्वास होता है कि उनका कार्य मजदूरों के जीवन के लिए सदा नितांत आवश्यक है।

लोगों ने अपने-आपको जीवन-श्रम से मुक्त कर लिया है और उसका भार उन बेचारों पर लाद दिया है जो चक्की पीसते-पीसते ही दम तोड़ देते हैं। वे उनके श्रम का शोषण करते हैं और कहते हैं कि उनके काम, जो लोगों को समझ में नहीं आते और जिनका उद्देश्य दूसरों की सेवा करना नहीं है, ऐसे होते हैं जिनसे उस हानि की पूर्ति हो जाती है, जो वे अपने-आपको जीवन-श्रम से मुक्त करके और दूसरों के श्रम का उपभोग करके दूसरों को पहुँचाते हैं।

सरकारी कर्मचारी दूसरों के श्रम का शोषण करके और स्वयं अपने-आपको जीवन संघर्ष से मुक्त करके जो असंदिग्ध और स्पष्ट हानि पहुँचाते हैं, उसकी पूर्ति करने की चेष्टा करते समय वे एक दूसरी स्पष्ट और असंदिग्ध हानि कर बैठते हैं और वह हानि है सब प्रकार के बल का प्रयोग।

उद्योगपति दूसरों के श्रम के प्रतिफल को हड़पकर उन्हें जो असंदिग्ध और स्पष्ट हानि पहुँचाते हैं, उसकी पूर्ति करने के अभिप्राय से वे अपने लिए अधिक-से-अधिक धन इकट्ठा करने की चेष्टा करते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि वे दूसरों का अधिक-से-अधिक श्रम ले लेते हैं। दूसरे शब्दों में यों कहिए कि वे दूसरों के अधिक-से-अधिक श्रम का शोषण करते हैं।

इसी प्रकार वैज्ञानिक और कलाकार भी अपने द्वारा मजदूरों को पहुँचाई गई निर्विवाद और स्पष्ट क्षति के बदले ऐसे काम करते हैं, जो मजदूरों के लिए बोधगम्य नहीं हैं और जो स्वयं उनके ही कथनानुसार सत्य तभी हो सकते जब वे उपयोगिता को लक्ष्य मानकर न किए जाएँ; किंतु फिर भी जिनकी ओर वे बरबस आकर्षित हो ही जाते हैं। इस प्रकार इन सब लोगों को यह अटल विश्वास हो गया है कि दूसरों के श्रम का उपभोग करने का उन्हें असंदिग्ध अधिकार है।

अतः यह स्पष्ट है कि जिन लोगों ने अपने को जीवन-श्रम से मुक्त कर लिया है, उनके ऐसा करने का कोई कारण नहीं है। किंतु आश्चर्य की बात तो यह है कि उन्हें अपनी सफलता पर पक्का विश्वास होता है और वे आत्मिक निश्चिंतता के साथ जीवन व्यतीत करते हैं।

इस भयंकर भ्रम की तह में कोई बात, कोई झूठा सिद्धांत अवश्य है।

श्रम से बचने के बहाने

जो लोग दूसरों के श्रम पर जीवन व्यतीत करते हैं, उनका आधार वस्तुतः कोई छोटा-मोटा विश्वास नहीं, बल्कि एक पूरा सिद्धांत होता है। एक सिद्धांत क्यों, सच पूछिए तो तीन सिद्धांत होते हैं, जिनका एक-दूसरे के बाद कई शताब्दियों से विकास

होता आया है और जिन्होंने अब समन्वित होकर एक भीषण धोखे अथवा पाखंड का रूप धारण कर लिया है। इसी पाखंड ने दूसरों के श्रम पर जीवन व्यतीत करनेवालों की अनैतिकता पर आवरण डाल रखा है।

जीविकोपार्जन के लिए श्रम करना मनुष्य का मूलभूत कर्तव्य है, किंतु इस कर्तव्य की अवहेलना का समर्थन इस संसार के जिस सबसे पुराने सिद्धांत ने किया वह था ईसाई गिरजा का सिद्धांत। इस सिद्धांत में बताया गया था कि जिस प्रकार चंद्रमा और तारों से सूर्य भिन्न है और स्वयं तारों में भी परस्पर विभिन्नता है, उसी प्रकार ईश्वर के आदेशानुसार मनुष्य-मनुष्य में भी भिन्नता है। कुछ लोगों को ईश्वर ने सब पर, कुछ को बहुतों पर और कुछ को थोड़ों पर शासन करने के लिए नियुक्त किया है और शेष आदेश पालने के लिए बनाए गए हैं।

यद्यपि इस सिद्धांत की जड़ें अब हिल गई हैं तथापि अकर्मण्यता के कारण लोगों पर इसका प्रभाव अब भी शेष है। फलत: अनेक व्यक्ति इसकी शिक्षा को स्वीकार न करते हुए और बहुधा इससे अपरिचित तक होते हुए भी इसी का अनुसरण करते हैं।

वर्ग-भेद का औचित्य ठहरानेवाले दूसरे सिद्धांत को मैं राज्य-दर्शन का नाम देना उचित समझता हूँ। इसकी पूरी व्याख्या हीगेल ने की थी। इसमें तत्कालीन स्थिति को ही उचित ठहराया गया था और बताया गया था कि लोगों ने जिस जीवन-क्रम को स्थापित कर लिया है और जिस जीवन-क्रम पर वे इस समय चल रहे हैं, उसे मानव ने जन्म नहीं दिया है और न मानव उसका परिपोषण ही करता है; वह तो आत्मा या साधारणत: संपूर्ण मानव-जीवन के प्रस्फुरण का एकमात्र संभावित रूप है। किंतु यह सिद्धांत भी आजकल के लोक-नेताओं को स्वीकार्य नहीं है, वह तो केवल हमारी जड़ता के कारण ही आज भी कायम है।

तीसरा और आजकल का मुख्य सिद्धांत वैज्ञानिक है, जिसके आधार पर वैज्ञानिक और कलाकार दोनों ही अपनी-अपनी चेष्टाओं का समर्थन करते हैं। यहाँ वैज्ञानिक से तात्पर्य वैज्ञानिक शब्द के साधारण अर्थ से नहीं है, जिससे साधारणत: 'व्यापक ज्ञान' का बोध होता है; बल्कि यहाँ उसका तात्पर्य एक विशेष प्रकार के ज्ञान से है, जिसका रूप और विषय दोनों ही विशिष्ट होते हैं।

वैज्ञानिक कहा जानेवाला यही वह नया सिद्धांत है जिसकी आड़ में आजकल के अकर्मण्य लोगों का कर्तव्य-च्युति का अपराध मुख्यत: छिपा रहता है।

यूरोप में इस सिद्धांत का प्रादुर्भाव उन बहुसंख्यक अमीरों और अकर्मण्यों के प्रादुर्भाव के साथ हुआ, जो न गिरजा के कर्मचारी थे न राज्य के, किंतु जिनको अपने पद को न्यायोचित ठहराने की आवश्यकता थी।

अभी बहुत दिन नहीं हुए, फ्रांसीसी क्रांति के समय तक यूरोप में जो लोग शारीरिक श्रम नहीं करते थे, उन्हें दूसरों के श्रम पर अधिकार प्राप्त करने के लिए गिरजा, सरकार या सेना में किसी निश्चित पद पर होना नितांत आवश्यक था। सरकारी कर्मचारी लोगों पर शासन करते थे, गिरजा के कर्मचारी लोगों को दैवी सत्य की शिक्षा दिया करते थे और सैनिक कर्मचारी जनता की रक्षा करते थे।

बस, इन्हीं तीन वर्गों के लोग अपने को दूसरों के श्रम का शोषण करने का अधिकारी समझते थे और उसकी सफाई में वे अपने द्वारा जनता के साथ किए गए उपकारों का बखान कर सकते थे। दूसरे अमीर लोग, जो इस प्रकार की सफाई नहीं दे पाते थे, घृणा की दृष्टि से देखे जाते थे और अपने अपराध से परिचित होने के कारण उन्हें अपने धन और आलस्य पर बड़ी लज्जा आती थी।

किंतु एक समय आया जब राजकीय, धार्मिक व सैनिक वर्गों की त्रुटियों के कारण उनसे संबंधित धनिकों की संख्या बढ़ गई। इस नए वर्ग को भी पक्ष-समर्थन की आवश्यकता प्रतीत हुई और उसके लिए एक तर्क भी गढ़ लिया गया।

सौ वर्ष भी नहीं बीतने पाए थे कि इस नए वर्ग के लोगों ने, जो न तो राज्य और गिरजा की नौकरी करते थे न उनके कामों में ही भाग लेते थे, न केवल पहले तीन वर्गों के लोगों के समान ही दूसरों के श्रम का शोषण करने का अधिकार प्राप्त कर लिया, बल्कि अपने धन और आलस्य पर लज्जित होना भी बंद कर दिया; और वे अपने स्थान को पूर्णत: न्यायोचित भी मानने लगे। आजकल इन लोगों की संख्या बहुत बढ़ गई है और निरंतर बढ़ रही है। आश्चर्य की बात तो यह है कि वे ही लोग, जिनका श्रम से मुक्त होने का अधिकार अभी कुछ ही दिन पहले तक न्यायोचित नहीं माना गया था, अब समझने लगे हैं कि केवल उनका ही अधिकार पूर्णत: न्यायोचित है। इतना ही नहीं, वे पहले तीन वर्गों की श्रम-मुक्ति को अन्याययुक्त और उनकी चेष्टाओं को हानिकारक मानते हुए उन पर कटाक्ष भी करने लगे हैं।

इससे भी बड़े आश्चर्य की बात तो यह है कि राज्य, गिरजा अथवा सेना के भूतपूर्व सेवक न तो अब अपने ईश्वर-प्रदत्त पद का सहारा लेते हैं, न व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक माने गए राज्यतंत्र के दार्शनिक महत्त्व पर ही भरोसा रखते हैं। अब तो उन्होंने अपने को इतने दिनों तक सँभाले रखनेवाले इन अवलंबों को छोड़ दिया है और उसी सिद्धांत की शरण में जा रहे हैं, जिसके बल पर वैज्ञानिकों और कलाकारों के नेतृत्व में नए प्रमुख वर्ग ने श्रम से मुक्त होने के अपने औचित्य का समर्थन किया है। आजकल यदि कोई सरकारी कर्मचारी अपने पुराने अभ्यास के फलस्वरूप अपनी उच्च सत्ता का समर्थन इस तर्क के आधार पर करता

है कि शासन करने का उसे ईश्वर-प्रदत्त अधिकार है, या यह कहता कि राज्य व्यक्तित्व के ही विकास का एक रूप है, तो इसका अर्थ यह है कि वह काल-गति का साथ नहीं दे पा रहा है और अनुभव करता है कि उसका कोई विश्वास नहीं करता। अपनी सत्ता का ठीक-ठीक समर्थन करने के लिए उसे अब धार्मिक अथवा दार्शनिक अवलंब ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं है, अब तो उसे नए वैज्ञानिक तर्कों की सहायता चाहिए। उसके लिए अब यह आवश्यक हो गया है कि वह राष्ट्रीय या सामाजिक विकास के सिद्धांत की शरण ले और आजकल के प्रमुख वर्ग की कृपा प्राप्त करे, जैसे कि मध्य युग में पादरियों की और 18वीं शताब्दी के अंत में दार्शनिकों की कृपा प्राप्त करने की आवश्यकता प्रतीत होती थी। फ्रेडरिक और केथरीन महान् को भी ऐसा ही करना पड़ा था।

आज यदि कोई धनी व्यक्ति अपनी पुरानी आदतों के कारण भूले-भटके ईश्वर की दुहाई देने लगे और यह कहे कि परमेश्वर ने उसे विशेष रूप से धनी होने के लिए छाँटा है, या यह कहे कि राष्ट्रीय हित के लिए अमीर-उमराओं की विद्यमानता बड़ी महत्त्वपूर्ण है, तो समझना चाहिए कि वह समय से पीछे है। अपनी सत्ता का यथेष्ट रूप से समर्थन करने के लिए उसे यह बताना चाहिए कि उत्पादन की विधियों में सुधार करके या उपभोग्य पदार्थों को सस्ता बनाकर या अंतर्राष्ट्रीय संपर्क में उत्तरोत्तर वृद्धि करके वह सभ्यता की उन्नति में कितना योग दे रहा है। आजकल के अमीरों को विज्ञान की भाषा में बात करनी चाहिए और वर्तमान शक्तिशाली वर्ग के लिए त्याग करना चाहिए जैसा कि पुराने जमाने में धर्मशास्त्रियों के लिए करना पड़ता था। उसको समाचारपत्र और पुस्तकें प्रकाशित करनी चाहिए और चित्रशालाओं, संगीत-समितियों, बाल-विद्यालयों तथा टेक्निकल स्कूलों की व्यवस्था करनी चाहिए।

आजकल के शक्तिशाली वर्ग में विशिष्ट प्रवृत्ति के वैज्ञानिक और कलाकार हैं। श्रम न करने के औचित्य को सिद्ध करने के लिए उनके पास पूरा-का-पूरा तर्क है और जिस तरह पुराने जमाने में सब बातें पहले धार्मिक और बाद में दार्शनिक सिद्धांतों पर अवलंबित होती थीं, उसी तरह आजकल सारे तर्क इस नए तर्क पर ही आधारित हैं और अब यह नया वर्ग ही दूसरे लोगों के श्रम से मुक्त होने का प्रमाणपत्र देता है।

आजकल जिस वर्ग को श्रम से मुक्त होने का पूर्ण औचित्य प्राप्त है वह वैज्ञानिकों—विशेषत: प्रयोगशील, यथार्थवादी, आलोचनात्मक प्रवृत्तिवाले और विकासशील वैज्ञानिकों—का वर्ग हैं। इस वर्ग में इसी प्रवृत्ति का अनुकरण करनेवाले कलाकार भी हैं।

यदि किसी पुराने संयोग से आज कोई वैज्ञानिक या कलाकार भविष्यवाणी,

दैवी आदेश या आत्मा के विकास की चर्चा करता है तो इसका कारण यह है कि वह समय के पग-से-पग नहीं मिला पाया है। ऐसी दशा में उसे अपनी सत्ता को न्यायोचित सिद्ध करने में सफलता नहीं मिलती। अपने पैरों को उखड़ने न देने के लिए यह आवश्यक है कि वह किसी-न-किसी प्रकार अपनी चेष्टाओं का संबंध प्रयोगशील साकारवादी और आलोचनात्मक विज्ञान से स्थापित करे और उस विज्ञान को अपने समस्त कार्य-कलाप का आधार मानकर चले। तभी उसका विज्ञान सच्चा विज्ञान या उसकी कला सच्ची कला हो सकेगी, तभी आधुनिक युग में उसकी नींव दृढ़ हो सकेगी और तभी उसे यह विश्वास हो सकेगा कि उसकी चेष्टाओं से मानव-समाज का लाभ हो रहा है।

अत: अब यह प्रयोगशील, आलोचनात्मक और साकारवादी विज्ञान ही वह आधार है, जिस पर श्रम से मुक्त होनेवाले सभी व्यक्तियों के कार्य-औचित्य का प्रमाण अवलंबित है।

धार्मिक और दार्शनिक तर्क अब पुराने पड़ गए हैं, वे अपने-आपको डरते-डरते व लज्जा के साथ व्यक्त करते हैं और वैज्ञानिक रूप धारण करने की चेष्टा करते हैं। इसके विपरीत वैज्ञानिक तर्क पुराने सिद्धांतों को निर्भीकतापूर्वक उलट-पुलट और नष्ट कर देता है, उन्हें हर जगह से निकाल देता है और पूर्ण अजेयता के विश्वास के साथ गर्व से सिर ऊँचा करके चलता है।

धार्मिक तर्क यह था कि मनुष्य को अपने पद के अनुसार कार्य मिलता है, कुछ पर शासन का भार पड़ता है और कुछ पर आदेश-पालन का; कुछ के भाग्य में विलासमय जीवन बदा होता है और कुछ के भाग्य में दीनता में दिन काटना। इसलिए जिन्हें दैवी आदेश में विश्वास था वे यह शंका नहीं कर सकते थे कि ईश्वर ने कुछ लोगों को शासन व ऐश्वर्य का जो पद प्रदान किया है वह न्यायोचित नहीं है।

राज्य-दर्शनवादियों का कहना यह था कि राज्य अपनी समस्त शाखाओं तथा श्रेणियोंसहित—जो स्वत्व तथा अधिकार की दृष्टि से एक-दूसरे से भिन्न होती हैं—वह ऐतिहासिक रूप है जो मानवीय आत्मा के उचित प्रस्फुटन के लिए आवश्यक है; इसलिए स्वत्व और अधिकार की दृष्टि से राज्य या समाज में प्रत्येक मनुष्य का वहीं स्थान होना चाहिए, जो उसके यथोचित जीवन में होता है।

वैज्ञानिक सिद्धांत के अनुसार उक्त दोनों सिद्धांत मूर्खतापूर्ण और अंधविश्वास हैं; एक तो धार्मिक युग की विचारधारा का प्रतिफल है और दूसरा दार्शनिक युग की विचारधारा का। मानव-समाज के जीवन-संबंधी नियमों के अध्ययन की केवल एक ही निश्चयात्मक विधि है और वह है साकारवादी, प्रयोगात्मक और आलोचनात्मक विज्ञान की विधि। प्राणिशास्त्र अन्य सभी यथार्थवादी विज्ञानों पर अवलंबित है और

इस प्राणिशास्त्र के आधार पर बना हुआ जो समाजशास्त्र है, अकेला वही हमें मानवजीवन के नियमों का ज्ञान करा सकता है। मानवता अथवा मानव-समाज एक शरीर-यंत्र है, जिसकी रचना या तो हो चुकी है या अभी हो रही है और जिस पर यांत्रिक विकास के सभी नियम लागू होते हैं। इनमें से एक मुख्य नियम शरीर के विभिन्न अंगों में श्रम का विभाजन है। इसलिए यदि कुछ लोग शासन करते हैं और दूसरे केवल आदेश का पालन करते हैं, यदि कुछ लोग सोने की गुल्लियों से खेलते हैं और कुछ निर्धनता में पड़े सड़ते हैं, तो इसका यह कारण नहीं है कि ईश्वर की इच्छा ही ऐसी है या राज्य व्यक्तित्व के प्रस्फुटन का ही एक रूप है; बल्कि इसका कारण यह है कि शरीर की भाँति समाज में भी श्रम का विभाजन होता है, जो समस्त समाज के जीवन के लिए आवश्यक होता है, कुछ लोग शारीरिक कार्य करते हैं और कुछ मानसिक।

हमारे युग में इसी सिद्धांत के आधार पर श्रम से बचने का अधिकारपूर्ण बहाना बना डाला गया है।

मानव-समाज की वैज्ञानिक व्याख्या

ईसा ने नए सिद्धांत का प्रचार किया जो कि बाइबिल में उल्लिखित है। इस सिद्धांत का तिरस्कार किया गया और उसे स्वीकार नहीं किया गया। तब आदम के अध:पतन और पहले फरिश्ते की कहानी गढ़ी गई और उसी को ईसा का उपदेश कहकर प्रचारित किया गया। यह गाथा बिलकुल मूर्खतापूर्ण और निराधार थी, किंतु इससे यह स्वाभाविक निष्कर्ष निकलता था कि मनुष्य अनुचित रूप से जीवनयापन करता हुआ भी अपने को ईसा द्वारा समर्पित मान सकता है। यह निष्कर्ष नैतिक श्रम से घृणा करनेवाले बहुसंख्यक दुर्बल मनुष्यों को इतना भाया कि इसे उन्होंने एक साधारण सत्य नहीं बल्कि ईश्वर द्वारा प्रकट किए गए सत्य के रूप में ग्रहण कर लिया। लगभग एक हजार वर्ष तक विद्वान् धर्मवेत्ता इसी निष्कर्ष को आधार मानकर अपने सिद्धांतों का निर्माण करते रहे।

बाद में ये धर्मशास्त्री भिन्न-भिन्न संप्रदायों में बँट गए, एक-दूसरे के मत का विरोध करने लगे और उन्हें स्वयं अनुभव होने लगा कि उनकी बुद्धि चकरा गई है और वे अपनी कही हुई बातें समझ नहीं पा रहे हैं। किंतु जनता ने उनसे फिर उसी प्रिय सिद्धांत की पुष्टि करने की माँग की, अत: उन्हें यह ढोंग रचना पड़ा कि वे जो कुछ कहते हैं, उसे समझते हैं और उस पर विश्वास भी करते हैं। इस प्रकार उन्होंने

अपना उपदेश जारी रखा, किंतु वह भी समय आया जब धर्मशास्त्रियों के ये निष्कर्ष निरर्थक सिद्ध हुए, जनता ने उनकी गुफाओं के भीतर झाँका और साश्चर्य देखा कि धर्म-शास्त्र के रहस्य उसे जिस पवित्र और असंदिग्ध सत्य के रूप दिखलाई पड़ते हैं, उसका वहाँ संकेत भी नहीं; वहाँ तो भयानकतम पाखंड के अतिरिक्त न कुछ है, न कभी रहा है। स्वभावत: उसे अपने अंधेपन पर बड़ा विस्मय हुआ।

दर्शन के संबंध में भी यही बात हुई। दर्शन से मेरा अभिप्राय कनफ्यूशियस[1], सुकरात या एपिक्टेटस[2] की बताई हुई ज्ञान की बातों से नहीं है। यहाँ मेरा संकेत उस पेशेवर दर्शन से है, जिसका उद्देश्य अकर्मण्य धनाढ्यों को प्रसन्न करना था।

अभी बहुत दिन नहीं हुए, इस विद्वत्तापूर्ण शिक्षित संसार में आत्मा के विकासवाद का बोलबाला था। इस सिद्धांत का कहना था कि जो कुछ है वह उचित है; न कोई वस्तु बुरी है, न अच्छी और मनुष्य को बुराई के साथ युद्ध करने की आवश्यकता नहीं, उसका काम तो केवल आत्मा का विकास करना है—अर्थात् जो सेना में नौकर है वह वहाँ की नौकरी करके, जो अदालत में है वह वहाँ का कर्तव्य पूरा करके और जो बीन बजाता है वह बीन बजाकर अपनी आत्मा का विकास करें।

मानव-बुद्धि कितने ही विभिन्न रूपों में व्यक्त की गई है। 19वीं शताब्दी के लोग उन सब रूपों से अपरिचित थे। उन्हें रूसो[3], पास्कल[4], लेसिंग[5] और स्पोनोजा[6] के सिद्धांतों का ज्ञान था और साथ-ही-साथ वे प्राचीन काल के बुद्धि-तत्त्व को भी जानते थे। किंतु जनता के हृदय पर किसी और की बातों का प्रभाव नहीं पड़ा। यह भी कहना ठीक नहीं होगा कि हीगेल की लोकप्रियता का कारण केवल हीगेलियन सिद्धांतों का सामंजस्य था, क्योंकि फ़िक्टे[7], शोपनहार[8] आदि के सिद्धांत कुछ कम सामंजस्यपूर्ण न थे। कुछ समय के लिए हीगेल के सिद्धांतों पर समस्त संसार को विश्वास हो गया था, उसका केवल एक कारण था और वह कारण वही था, जो मानव के पतन व उद्धार के सिद्धांत की सफलता का कारण था; अर्थात्, हीगेलियन

1. *चीनी दर्शन-शास्त्र का प्रवर्तक, प्रसिद्ध दार्शनिक और सुधारक 551-478 ई० पूर्व।*
2. *प्रसिद्ध दार्शनिक (प्रथम शताब्दी)।*
3. *प्रसिद्ध फ्रांसीसी दर्शनवेत्ता (1713—78)।*
4. *फ्रांसीसी दार्शनिक और गणितज्ञ (1623—62)।*
5. *जर्मन कवि और आलोचक (1729—81)।*
6. *प्रसिद्ध आस्ट्रियन दर्शनवेत्ता (1632—77)।*
7. *जर्मन दार्शनिक (1762—1814)।*
8. *निराशावादी जर्मन दार्शनिक (1788—1860), इनकी विचारधारा भगवान् बुद्ध की विचारधारा से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है।*

सिद्धांत से निकलनेवाले निष्कर्ष भी मनुष्य की दुर्बलताओं को ही पोषित करते थे। वे कहते थे—प्रत्येक वस्तु उचित है, प्रत्येक वस्तु अच्छी है, किसी को किसी बात के लिए दोष नहीं दिया जा सकता। जिस प्रकार धर्माचारियों ने पुनरुद्धार के सिद्धांत से लाभ उठाया था, उसी प्रकार दार्शनिकों ने हीगेल के सिद्धांतों की नींव पर अपना किला खड़ा किया (कुछ पिछड़े हुए लोग तो अभी तक उसी में बैठे हैं)। स्वभावत: धर्माचारियों की ही भाँति दार्शनिकों की उक्तियों में भी उलझन पैदा हो गई और उन्हें भी यही अनुभूति हुई कि वे जो कुछ कर रहे हैं, उसे वे स्वयं नहीं समझते। फिर भी धर्माचारियों के समान ही वे अपने कलुष की सफाई किए बिना ही जनता पर अपना प्रभुत्व बनाए रखने की अविरल चेष्टा करते रहे। पहले की ही तरह जनता को जो बातें अनुकूल प्रतीत हुई उनकी उसने पुष्टि चाही और उसे यह विश्वास उत्पन्न हो गया कि जो बातें उसे अस्पष्ट तथा विरोधात्मक लगती हैं वे दर्शन की दृष्टि में दिन के प्रकाश की भाँति स्पष्ट हैं। किंतु समय आने पर यह सिद्धांत भी शिथिल पड़ गया और उसका स्थान एक नए सिद्धांत ने ले लिया। पुराना सिद्धांत निरर्थक हो गया और जनता ने एक बार फिर पुरोहितों की गुफाओं में झाँककर देखा कि कुछ अर्थहीन अगम्य शब्दों के अतिरिक्त वहाँ न कुछ है, न कभी रहा है। यह घटना तो मेरी याद में ही घटी।

मेरे जीवन के आरंभ-काल में हीगेल के सिद्धांत का बोलबाला था। उन दिनों तो मानो वह समस्त वायुमंडल में व्याप्त था। पत्र-पत्रिकाओं में, उपन्यासों और निबन्धों में, कला और इतिहास में, उपदेश और परस्पर बातचीत में सब जगह हीगेल के ही सिद्धांत की धूम थी। जिसने हीगेल को नहीं पढ़ा था, उसे बात करने का अधिकार नहीं था। जो लोग सत्य का शोध करना चाहते थे; वे हीगेल के ग्रंथ पढ़ते थे। उस समय सब कुछ उसी पर अवलंबित था। किंतु अब चालीस वर्ष बाद उसका कुछ भी शेष नहीं रह गया है, अब कोई उसका नाम तक नहीं लेता, मानो कभी उसका अस्तित्व ही न रहा हो। सबसे बड़े मार्के की बात तो यह है कि झूठे ईसाई धर्म के समान हीगेल के सिद्धांत का पतन भी किसी के विरोध के कारण नहीं हुआ, बल्कि इसलिए हुआ कि एकाएक यह स्पष्ट हो गया कि हमारे विद्वत्तापूर्ण शिक्षित संसार को दोनों में से एक की भी आवश्यकता नहीं है।

यदि हम आजकल के किसी शिक्षित व्यक्ति से फरिश्ते और आदम के अध:पतन या पुनरुद्धार की बातें करें तो वह न तो आपसे तर्क-वितर्क करने की चेष्टा करेगा, न आपकी बात को झूठा ठहराने का प्रयत्न करेगा। वह तो केवल उलझन के साथ पूछेगा, ''कौन-सा फरिश्ता? आदम क्यों? मुक्ति कैसी? इससे मुझे क्या लाभ?'' यही बात हीगेल के सिद्धांत के बारे में भी है। आजकल का कोई व्यक्ति

उस पर तर्क-वितर्क नहीं करेगा। वह केवल अचम्भे के साथ पूछेगा, ''कौन-सी आत्मा? उसका प्रादुर्भाव कहाँ से होता है? और उसका विकास क्यों होता है? मुझे उससे क्या लाभ?''

आजकल के वैज्ञानिक इसके उत्तर में कहेंगे, ''हाँ, ये सब बातें धार्मिक और दार्शनिक काल की चीख-पुकार के कारण हुई थीं, किंतु अब हमारे पास आलोचनात्मक और प्रमाणित विज्ञान है जोकि प्रयोग तथा सामान्य निर्णय पर आधारित होने के कारण कभी धोखा नहीं देता। हमारा ज्ञान अब लचर नहीं है जैसा कि पहले था और अब हमारे ही मार्ग पर चलने से मनुष्य-जाति के सब प्रश्नों का उत्तर मिल सकेगा।''

किंतु ठीक ऐसी ही बातें तो पुराने धर्माचार्य भी कहा करते थे और निश्चय ही वे मूर्ख नहीं थे; क्योंकि हम जानते हैं कि उनमें से कितने ही प्रकांड बुद्धि के थे। हमारी याद में हीगेल के अनुयायी भी ऐसी बातें कुछ कम विश्वास के साथ नहीं किया करते थे। तथाकथित शिक्षित समाज ने उनके मतों को कुछ कम स्वीकार नहीं किया था। और वे हर्जेन, स्टैंकबिंच, वेलिंस्की आदि भी मूर्ख थोड़े ही थे। तो फिर, इस आश्चर्यजनक घटना का क्या कारण था कि बड़े-बड़े बुद्धिमान लोगों ने जनता को ऐसी बेसिर-पैर की खोखली बातों का उपदेश दिया और जनता ने उन्हें आदर-सहित स्वीकार भी किया? कारण यही था कि इन सिद्धांतों के बल पर लोग अपने दोषपूर्ण जीवन को उचित ठहराते थे।

साकारवादी, आलोचनात्मक और प्रयोगशील वैज्ञानिकों को अपने अंदर जो विश्वास है और जनता उनके सिद्धांतों का जिस आदर की दृष्टि से देखती है, उसका कारण क्या अब भी वही है, जो पहले था? यह बात बड़ी विचित्र मालूम होती है कि विकासवाद के सिद्धांत से लोगों के अन्यायपूर्ण कार्यों को उचित ठहराया जा सकता है और ऐसा प्रतीत होता है मानो विज्ञान का संबंध केवल वस्तु से है और वह उसी का अध्ययन करता है।

किंतु यह बात केवल देखने में ऐसी मालूम पड़ती है। ऐसा ही धार्मिक सिद्धांतों के विषय में भी था। ऐसा जान पड़ता था कि धर्म का संबंध केवल सिद्धांतों से है, मनुष्य के जीवन से नहीं। दर्शन के विषय में भी ऐसी ही भ्रांति थी। ऐसा लगता था कि उसका संबंध केवल पारलौकिक तर्कों से है।

किंतु ये सब बातें केवल देखने में ऐसी लगती थीं। यही बात व्यापक रूप से हीगेल के सिद्धांतों और विशेष रूप से माल्थस की विचारधारा के विषय में भी थी। हीगेल का दर्शनशास्त्र केवल तार्किक निष्कर्षों से संबंधित जान पड़ता था, लोगों के जीवन से नहीं। ऐसी ही प्रतीति माल्थस की विचारधारा के विषय में भी

होती थी। उसका एकमात्र संबंध वस्तु-संबंधी आँकड़ों से जान पड़ता था, किंतु वह भी केवल प्रतीत ही होता था।

आधुनिक विज्ञान वस्तुस्थिति की जाँच करता है। किंतु कौन-सी वस्तुस्थिति? क्या कारण है कि कुछ विशेष वस्तुस्थितियों का ही अध्ययन किया जाता है, दूसरियों का नहीं?

आजकल के विज्ञानवेत्ताओं को बड़ी गंभीरता और विश्वास के साथ यह कहने का शौक है, ''हम केवल वस्तुस्थिति का अध्ययन करते हैं'', मानो इन शब्दों का कोई अर्थ हो।

केवल वस्तुस्थिति की जाँच करना संभव नहीं है; क्योंकि जाँच के लिए उपलब्ध पदार्थों की संख्या वस्तुतः अपरिमित है। वस्तुस्थिति की परीक्षा करने से पहले एक ऐसे सिद्धांत का होना आवश्यक है, जिसके आधार पर असंख्य बातों में कुछ विशेष बातें परीक्षण के लिए चुनी जा सकें। ऐसा सिद्धांत मौजूद है और बड़े ही स्पष्ट रूप से व्यक्त भी किया जा चुका है। फिर भी आजकल के अनेक वैज्ञानिक या तो इसकी अवहेलना करते हुए इसे जानना नहीं चाहते या सचमुच इसे जानते ही नहीं या इसे न जानने का बहाना करते हैं। यही बात समस्त महत्त्वपूर्ण और निर्देशक सिद्धांतों के साथ रही है, चाहे वे धार्मिक रहे हों चाहे दार्शनिक।

प्रत्येक मत की नींव सदा उसके सिद्धांत में होती है और विद्वान कहे जानेवाले लोग केवल उपलब्ध जानकारी के आधार पर कभी-कभी अनजाने ही नए निष्कर्ष निकाला करते हैं। किंतु उन सबके पीछे सदा एक मूलभूत सिद्धांत होता है। यही कारण है कि आधुनिक विज्ञान अपनी जाँच के लिए वस्तुस्थिति का चयन सुनिश्चित सिद्धांत के आधार पर करता है, जिसका कभी तो उसको ज्ञान होता है और कभी नहीं होता और कभी-कभी उसके विद्यमान रहने पर भी वह उसे जानना नहीं चाहता।

वह सिद्धांत यह है—समस्त मनुष्य-समाज एक शरीर-यंत्र है; व्यक्ति उस यंत्र का एक अंग है और समस्त यंत्र के परिचालन के लिए प्रत्येक व्यक्ति का एक विशिष्ट कर्तव्य होता है।

शरीर-यंत्र को अपने अस्तित्व की अक्षुण्णता के लिए जो-जो क्रियाएँ करनी पड़ती हैं, उन्हें उसके विभिन्न तंतु आपस में बाँट लेते हैं; किसी इंद्रिय को वे पुष्ट करते हैं और किसी को दुर्बल बनाते हैं और किसी एक के साथ अधिक सहयोग करके समष्टि रूप में सारे शरीर-यंत्र की आवश्यकताओं की संतोषजनक पूर्ति के लिए उद्योग करते हैं। सामाजिक जंतु—चीटियाँ और मधुमक्खियाँ भी—आपस में अलग-अलग काम बाँट लेते हैं—रानी अंडा देती है, नर गर्भधारण करते हैं और

मधुमक्खियाँ अपनी समस्त जाति के जीवन के लिए श्रम करती हैं। ठीक इसी प्रकार मानव-समाज में भी उसके विभिन्न अंग अपना अलग-अलग कार्य करते हैं और फिर समस्त समाज की उन्नति के लिए समन्वित भी हो जाते हैं।

अतः मनुष्य-जीवन के नियमों का अनुसंधान करने के लिए शरीर-यंत्रों के विकास और जीवन-संबंधी नियमों का अध्ययन करना आवश्यक है। शरीर-यंत्रों के जीवन और विकास में हमें भिन्न-भिन्न नियम दिखाई देते हैं—(1) प्रत्येक घटना के तत्कालिक परिणाम के अतिरिक्त उसके अन्य परिणाम भी होते हैं, (2)जिन अंगों पर कार्य-विभाजन का सिद्धांत लागू नहीं होता वे प्रायः दुर्बल होते हैं, (3) विषमता और समता का नियम। ये सब देखने में बड़े निर्दोष मालूम होते हैं, किंतु यदि हम इन प्रेक्षित तथ्यों से निष्कर्ष निकालें तो हमें यह तत्काल पता चल जाएगा कि इनकी प्रवृत्ति किस ओर है। इन सबका झुकाव एक ही बात की ओर होता है और वह है मानवता या मानव-समाज को एक शरीर-यंत्र मानना और उसके परिणामस्वरूप मानव-समाज में रचित-कार्य-विभाजन को आवश्यक समझना। चूँकि मानव-समाज में बहुत-सी क्रूरता और घृणा भरी हुई है, इन क्रियाओं को क्रूर या घृणास्पद नहीं समझना चाहिए, बल्कि यह समझना चाहिए कि ये श्रम-विभाजन के व्यापक नियम को सिद्ध करनेवाले असंदिग्ध प्रमाण हैं।

आध्यात्मिक दर्शन-शास्त्र भी हर प्रकार की क्रूरता और घृणा को उचित ठहराया करता था, किंतु उसका यह कार्य दार्शनिक सिद्धांतों पर अवलंबित होने के कारण असंदिग्ध नहीं समझा जाता। विज्ञान में यह वैज्ञानिक रूप ग्रहण कर लेता है और इसलिए असंदिग्ध मान लिया जाता है।

ऐसे सुंदर सिद्धांत को भला कौन स्वीकार नहीं करेगा? मानव समाज को अवलोकन का विषय-भर मानने की आवश्यकता है; फिर तो हम नष्ट होते हुए मनुष्यों की कमाई शांतिपूर्वक हड़प सकते हैं और अपनी आत्मा को यह सोचकर सांत्वना दे सकते हैं कि एक नर्तक, वकील, डाक्टर, दार्शनिक, अभिनेता या परमाणुओं के विभिन्न रूपों की जाँच करनेवाले या किसी वस्तु के माध्यम की परीक्षा करनेवाले व्यक्ति की हैसियत से हम जो काम करते हैं वह मानव-शरीर-यंत्र के अंगों की आवश्यक क्रियाएँ हैं। जिस तरह यह प्रश्न नहीं उठ सकता कि मस्तिष्क के तंतु का पुट्ठों के तंतुओं के श्रम से लाभ उठाना अन्यायपूर्ण है या नहीं, उसी तरह यह प्रश्न भी नहीं उठ सकता कि दूसरों के श्रम का उपभोग करना मेरे लिए उचित है या नहीं। मैं तो वही कर सकता हूँ जो मुझे भाता है।

तो भला हम ऐसे व्यावहारिक सिद्धांत को कैसे अस्वीकार कर सकते हैं, जो हमें इस योग्य बना देता है कि हम अपनी आत्मा को सदा के लिए जेब में रखकर

शांति के साथ निरंकुश पशु-जीवन व्यतीत करें और साथ ही यह भी अनुभव करते रहें कि हमें आधुनिक विज्ञान का अटल समर्थन प्राप्त है? यही वह नया मत है, जिसके आधार पर आजकल मनुष्यों की अकर्मण्यता और क्रूरता को उचित ठहराया जाता है।

कॉम्टे की साकारवादी विचारधारा

इस मत को प्रचलित हुए अभी थोड़े ही दिन हुए हैं—यही कोई पचास वर्ष। इसका मुख्य संस्थापक फ्रांसीसी दार्शनिक आगस्ट कॉस्टे था। वह सुव्यवस्थित जीवन में विश्वास करनेवाला एक धार्मिक व्यक्ति था। विशाट[1] के शरीर-संबंधी अभिनव अन्वेषणों से प्रभावित होने के कारण कॉम्टे पर मेनेनियस एग्रीप द्वारा बहुत पहले व्यक्त किए गए इस पुराने विचार का गहरा असर पड़ा कि समस्त मानव-समाज, यहाँ तक कि समस्त मानवता को एक समष्टि, एक शरीर-यंत्र माना जा सकता है और मनुष्य विभिन्न इंद्रियों के सजीव तंतु माने जा सकते हैं, जिनमें से प्रत्येक का समष्टि-शरीर के प्रति एक निश्चित कर्तव्य होता है। यह विचार कॉम्टे को इतना पसंद आया कि उसने इसके आधार पर एक दर्शन-सिद्धांत की रचना कर दी। इस सिद्धांत के प्रवाह में वह इस प्रकार बह गया कि उसे इतना भी स्मरण न रहा कि जिस उपमा के आधार पर उसने अपने सिद्धांत की नींव डाली है वह कथा-कहानियों के लिए तो उपयुक्त हो सकता है, किंतु विज्ञान का उपयुक्त आधार नहीं बन सकता। जैसा कि बहुधा होता है, उसने अपनी इस प्रिय मान्यता को एक स्वयंसिद्ध सूत्र मान लिया और सोचा कि उसके सिद्धांत की भित्ति अकाट्यतम वैज्ञानिक प्रयोगों पर खड़ी है। उसके सिद्धांत के अनुसार मानव-समाज एक शारीरिक यंत्र के सभान था, अतएव इस बात का ज्ञान कि मनुष्य क्या है और विश्व के साथ उसका कैसा संबंध होना चाहिए, केवल उस यंत्र के गुणों का अध्ययन करने से प्राप्त हो सकता है। इन गुणों के समझने के लिए मनुष्य अन्य—अर्थात् छोटे-छोटे—शारीरिक यंत्रों का अध्ययन कर सकता था और उनसे परीक्षण के आधार पर निष्कर्ष निकाल सकता था। इसलिए कॉम्टे के मतानुसार सबसे पहली बात तो यह है कि विशेष परीक्षणों के आधार पर निष्कर्ष निकालने की रीति ही सच्ची और वैज्ञानिक रीति है और सच्चा विज्ञान वही है जिसका आधार

1. *प्रसिद्ध फ्रांसीसी शरीर-शास्त्रज्ञ (1771—1802)।*

प्रयोग हो। दूसरी बात यह कि विज्ञान का उद्देश्य तथा अंतिम लक्ष्य यह नया विज्ञान है जिसमें मनुष्य की कल्पना एक शरीर-यंत्र के रूप में की जाती है। इस नए काल्पनिक विज्ञान का नाम समाज-शास्त्र है। विज्ञान को इस दृष्टिकोण से देखने से साधारणतः ऐसा लगता है मानो मनुष्य का पूर्व ज्ञान गलत था और मानवीय ज्ञान का इतिहास तीन या वस्तुतः दो ही युगों में बँटा हुआ है—(1) दार्शनिक तथा धार्मिक युग—सृष्टि के आरंभ से लेकर कॉम्टे के अवतरण तक; तथा (2) सत्यविज्ञान, यानी स्वाभाविक अथवा आधारभूत विज्ञान का वर्तमान, जिसका आरंभ कॉम्टे से होता है।

देखने में बड़ा सुंदर लगता है। त्रुटि केवल एक है—वह यह कि सारा भवन रेत पर बना हुआ है, इस निराधार विश्वास पर कि मानव-समाज एक शरीर-यंत्र है।

यह मान्यता एक जबर्दस्ती की मान्यता थी, क्योंकि हमें मनुष्य-समाज को एक अदृश्य शरीर-यंत्र के रूप में स्वीकार करने का उसी प्रकार अधिकार नहीं है जैसे त्रिदेव की विद्यामानता या अन्य दार्शनिक सिद्धांतों को स्वीकार करने का।

यह मान्यता इसलिए भी अशुद्ध थी कि मनुष्य-समाज में शरीर-यंत्र के अनिवार्य लक्षण —अर्थात् अनुभूति और ज्ञान-केंद्र— के विद्यमान न होते हुए भी इसकी परिभाषा गलत तौर पर शरीर-यंत्र के रूप में की गई है। हाथी अथवा कीटाणु को शरीर-यंत्र कहने का एकमात्र कारण यह है कि हम समझते हैं कि उसमें भी ज्ञान-शक्ति और अनुभूति का वैसा ही एकीकरण है जैसा हम स्वयं अपने में अनुभव करते हैं। किंतु मानव-समाज में इस आवश्यक लक्षण का अभाव है। इसलिए मानव-समाज और शरीर में हमें चाहे कितनी ही दूसरी समानताएँ दिखाई दें, उक्त अनिवार्य संकेत के अभाव में मानव-समाज को शरीर-यंत्र मानना बिलकुल अशुद्ध है।

किंतु साकारवाद के मूल सूत्र के निराधार और अशुद्ध होने पर भी शिक्षित समुदाय ने उसे बड़े प्रेम से अपनाया। इसका कारण यह था कि उस समय मनुष्य-समाज में प्रचलित हिंसात्मक नियमों को न्याययुक्त सिद्ध करके इस साकारवाद ने अपने आपको उनके लिए बड़ा महत्त्वपूर्ण बना लिया था। इस संबंध में सबसे बड़े मार्के की बात यह है कॉम्टे को दो कृतियों—साकारवादी दर्शन तथा साकारवादी राजनीति—में से हमारे शिक्षित समाज ने केवल उस भाग को माना जो नए अनुभावात्मक सिद्धांतों के आधार पर मनुष्य-समाज की तत्कालीन बुराइयों को उचित बताता था। दूसरा भाग, जिसमें समस्त मानवता को शरीर-यंत्र मानने के कारण उत्पन्न होनेवाले धार्मिक और नैतिक कर्तव्यों की चर्चा की गई थी, न केवल महत्त्वहीन बल्कि नगण्य और अवैज्ञानिक भी माना गया।

जो बात कैंट[1] के दर्शन-शास्त्र के दो भागों के साथ हुई थी वही कॉम्टे की कृतियों के साथ भी हुई शुद्ध बुद्धिवाद की आलोचना को तो विद्वद्मंडली ने स्वीकार कर लिया, किंतु व्यावहारिक बुद्धिवाद की आलोचना को, जिसमें कैंट के नैतिक शिक्षण का सार भरा था, अस्वीकार कर दिया। कॉम्टे द्वारा प्रचारित सिद्धांतों में से उन्होंने उस भाग को वैज्ञानिक माना, जिसमें तत्कालीन बुराइयों का समर्थन किया गया था, किंतु जनसमुदाय द्वारा स्वीकृत यह दर्शन मिथ्या और अपरिपक्व आधार पर अवलंबित होने के कारण इतना डांवाडोल था कि स्वयं अपने बल पर टिके रहना, उसके लिए असंभव था 'और तब' तथाकथित विज्ञान की अनेक कपोल-कल्पित धारणाओं में से ऐसे सिद्धांत की उत्पत्ति हुई, जिसमें न तो कोई नवीनता थी और न सत्य। वह सिद्धांत यह था कि प्राणी अर्थात् शरीर-यंत्र न केवल एक दूसरे से उत्पन्न होता है, बल्कि एक शरीर-यंत्र अनेक शरीर यंत्रों से उद्भूत होता है; उदाहरण के लिए यह अनिवार्य नहीं है कि कोई मछली या बत्तख बहुत लंबें अरसे से (मान लीजिए 1,00,000 वर्ष से) किसी एक ही योनि में उत्पन्न होती चली आई हो। यह भी संभव है कि एक ही जीव की सृष्टि विभिन्न जीवों से हुई हो। उदाहरण के लिए मधुमक्खियों के एक झुंड से अकेले किसी एक पशु की उत्पत्ति हो सकती है।

यह अशुद्ध और निराधार सिद्धांत शिक्षित समुदाय द्वारा और भी अधिक उत्साह के साथ अपनाया गया। इस सिद्धांत को निराधार कहने का कारण यह है कि आज तक किसी ने यह नहीं देखा है कि एक विशिष्ट प्रकार का जीव दूसरे जीवों से किस प्रकार आविर्भूत होता है। अत: जीवयोनियों की उत्पत्ति की धारणा कल्पनामात्र रह जाती है और कभी अनुभव-सिद्ध नहीं होती। इस धारणा के अशुद्ध होने का एक दूसरा कारण यह है कि योनि-उत्पत्ति के प्रश्न का यह कहकर समाधान करना कि जीवयोनियाँ पैतृक वंश-परंपरा के नियमों के अनुसार अत्यंत दीर्घकाल में उत्पन्न हुई हैं और समाधान नहीं है; बल्कि उसी प्रश्न की एक नए रूप में पुनरावृत्ति-मात्र है। इस समस्या का जो हल हजरत मूसा ने बतलाया था, उसके अनुसार योनियों की विभिन्नता का कारण ईश्वर की इच्छा और उसकी अनंत शक्ति है; किंतु जीव-विकास के सिद्धांत से सिद्ध होता है कि योनियों की विभिन्नता स्वयं अपने आपमें से, दीर्घकालीन पैतृक वंश-परंपरा और परिस्थिति की कमी समाप्त न होनेवाली विभिन्न स्थितियों के अनुसार उत्पन्न हुई है। सीधे-सादे शब्दों में जीव-विकास के सिद्धांत् से केवल इतना सिद्ध होता है कि दीर्घकाल में एक वस्तु दूसरी वस्तु से हमारे इच्छानुसार उत्पन्न हो सकती है।

1. *इमैन्यूयेल कैंट—लब्धप्रतिष्ठ जर्मन दार्शनिक और विज्ञानवेत्ता (1724—1804)*

वस्तुत: यह प्रश्न का उत्तर नहीं, बल्कि उसका रूपान्तर-मात्र है। ईश्वरेच्छा का स्थान घटना-चक्र को दे दिया गया है और अनंत को शक्ति से हटाकर काल के साथ जोड़ दिया गया है। किंतु इस नए सिद्धांत से—जिसे डार्विन के अनुयायियों ने और भी अधिक निराधार और मिथ्या बना दिया—कॉम्टे के पहले सिद्धांत का समर्थन हुआ और इसलिए वह हमारे युग का दैवी प्रकाश और समस्त शास्त्रों—यहाँ तक कि इतिहास, भाषाविज्ञान और धर्म तक—का आधार बन गया। इससे भी बड़ी बात यह हुई कि इस सिद्धांत के संस्थापक डार्विन ने स्वयं स्वीकार किया कि उनके मन में इस सिद्धांत का प्रादुर्भाव माल्थस के सिद्धांत के अध्ययन के परिणामस्वरूप हुआ था और उसी से प्रभावित होकर उन्होंने यह सिद्धांत निकाला कि जीवन का आधारभूत नियम यह है कि प्राणीमात्र को—जिसमें मनुष्य भी सम्मिलित हैं—जीवन के साथ संघर्ष करना पड़ता है। हम देखते हैं कि काहिल लोगों को अपनी स्थिति को भी औचित्यपूर्ण ठहराने के लिए बिल्कुल ऐसी ही वस्तु की आवश्यकता थी।

इस प्रकार दो निर्बल सिद्धांत, जो पृथक्-पृथक् अपने पैरों पर खड़े होने में असमर्थ थे, एक-दूसरे का समर्थन करने लगे और स्थायी सिद्धांत से दिखाई देने लगे। दोनों सिद्धांतों में वही अर्थ निहित था, जो जनता को इतना प्रिय लगता था—अर्थात् यह कि मानव-समाज में जो बुराइयाँ फैली हुई हैं उनके लिए मनुष्य दोषी नहीं ठहराया जा सकता; वर्तमान स्थिति वैसी ही है जैसी होनी चाहिए। बस, इस नए सिद्धांत को लोगों ने अपने आवश्यकतानुकूल अर्थ में पूर्ण विश्वास और अभूतपूर्व उत्साह के साथ अपना लिया और ये ही दो निराधार तथा अशुद्ध धारणाएँ, जो लोगों के लिए अंधविश्वास बन गई, नए विज्ञानवाद का आधार बनीं।

विषय और रूप दोनों ही में यह सिद्धांत ईसाई सिद्धांतों से अत्यधिक मिलता-जुलता है। जहाँ तक विषय का प्रश्न है, दोनों में सादृश्य यह है कि दोनों ही में एक वास्तविक वस्तु को एक विचित्र मिथ्या अर्थ दे दिया जाता है और फिर इसी कृत्रिमता का शोध का विषय बना लिया जाता है।

यह एक विचित्र बात है कि ईसाई धर्म में ईसा को स्वयं ईश्वर माना गया है, यद्यपि वह इस संसार के ही एक प्राणी थे। इसी प्रकार साकारवादी सिद्धांत के अनुसार सदेह मानव को एक यंत्र माना गया है। बाह्य रूप से इन दोनों सिद्धांतों में उल्लेखनीय सादृश्य है; क्योंकि दोनों ही में कुछ थोड़े-से व्यक्तियों द्वारा प्रतिपादित विचारधारा को एकमात्र नितांत सत्य विचारधारा स्वीकार कर लिया गया है। ईसाई धर्म में यह मान लिया गया है कि जो लोग अपने को ईसा के अनुयायी कहते हैं, उन्हें ईश्वर का दर्शन होना पुनीत और एकांत सत्य है। इसी प्रकार साकारवादियों का विश्वास है कि जो लोग अपने को विज्ञानवेत्ता कहते है, उन्हें विज्ञान का ज्ञान होना

असंदिग्ध और सत्य है। जिस प्रकार ईसाई लोग यह स्वीकार करते हैं कि प्रभु के सच्चे ज्ञान का प्रादुर्भाव गिरजा से ही होता है और अपने से पहले के आस्तिकों को वे केवल शिष्टतावश ईसाई धर्म का अवलंबी मान लेते हैं, उसी प्रकार वैज्ञानिकों का दावा है कि साकारवादी विज्ञान का सूत्रपात कॉम्टे से ही हुआ था और यह तो उनकी भद्रतामात्र है कि वे स्वीकार कर लेते हैं कि उनसे पहले भी विज्ञान का अस्तित्व था और वह भी अरस्तू आदि जैसे कुछ इने-गिने व्यक्तियों में। ईसाई धर्म के अवलम्बियों की ही भाँति साकारवादी विज्ञानवेत्ता भी शेष मानव-समाज में ज्ञान के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते और अपने क्षेत्र में बाहरवालों के ज्ञान को एक भूलमात्र मानते हैं।

यह साम्यता आगे भी दिखाई देती है। जिस प्रकार ईसा और त्रिदेव के देवत्व का समर्थन करने के लिए इस पुराने सिद्धांत का आश्रय लिया गया कि मानव का पतन होने पर ईसा ने अपने शरीर का त्याग कर उसको मुक्ति दी और जिस प्रकार इसी सिद्धांत को एक नया अर्थ देकर दोनों के मेल से लोकप्रिय ईसाई धर्म का निर्माण हुआ उसी प्रकार हमारे युग में कॉम्टे के शरीर-यंत्र संबंधी मूलभूत सिद्धांत को प्रेरणा देने के लिए विकासवाद के पुराने सिद्धांत का सहारा लिया गया और उसे एक नया अर्थ प्रदान कर दोनों के संयोग से लोकप्रिय वैज्ञानिक मत का आविर्भाव किया गया।

दोनों ही क्षेत्रों में पुरानी नीति के समर्थन के लिए नई नीति आवश्यक थी और वह वहीं तक समझ में आती है जहाँ तक कि उसका आधारभूत नीति से संबंध है। यदि ईसा के देवत्व में विश्वास करनेवाले व्यक्ति को यह समझ में नहीं आता कि ईश्वर इस पृथ्वी पर अवतरित क्यों हुआ, तो उस अवस्था में मुक्ति का सिद्धांत इसकी व्याख्या करने के लिए आ उपस्थित होता है। इसी प्रकार मनुष्य-समाज को यंत्र माननेवाले व्यक्ति को यदि यह स्पष्ट नहीं होता कि व्यक्तियों के समूह को शरीर-यंत्र क्यों माना जाता है तो विकासवाद का सिद्धांत इसका स्पष्टीकरण कर देता है।

पहले मत और वास्तविकता के बीच विरोध की जो खाई है, उसे पाटने के लिए मुक्ति के सिद्धांत की आवश्यकता पड़ती है। ईश्वर पृथ्वी पर मानव की रक्षा के लिए आया, किंतु मानव की रक्षा नहीं हुई, इस विरोध का निराकरण कैसे हो? मुक्ति का सिद्धांत इसका उत्तर देता है, "ईश्वर ने उन व्यक्तियों की मुक्ति की है, जो मुक्ति में विश्वास रखते हैं; यदि आपको इसमें आस्था है तो आपकी भी मुक्ति होगी।"

इसी प्रकार पहले सिद्धांत और वास्तविकता के विरोधाभास को दूर करने के लिए विकासवाद का सिद्धांत प्रयोजनीय है। मानव-समाज एक यंत्र है, फिर भी हम देखते हैं कि उसमें यंत्र का प्रमुख लक्षण नहीं है—इस विरोध को कैसे दूर किया जाए? इसका उत्तर हमें विकासवाद के सिद्धांत से मिलता है, "मानव एक ऐसा यंत्र

है, जो अभी विकास की अवस्था में है। यदि आप इससे सहमत हैं तो आप मानव को एक यंत्र मान सकते हैं।"

जिस प्रकार त्रिदेव और ईसा के देवत्व-संबंधी धार्मिक विश्वासों को न माननेवाले लोगों के लिए मुक्ति के सिद्धांत के अर्थ तक को समझ सकना असंभव है और जिस प्रकार इस अर्थ की व्याख्या केवल इस आधारभूत मत को मानकर ही की जा सकती है कि ईसा स्वयं ईश्वर है—उसी तरह साकारवादी अंधविश्वासों से मुक्त मानव के लिए यह समझना तक असंभव है कि मानव (Species) के आविर्भाव के संबंध में जो बातें सिखाई जाती हैं, उनका वास्तविक मूल किस वस्तु में निहित है और इसका स्पष्टीकरण तभी होता है जब मनुष्य इस आधारभूत सिद्धांत को ग्रहण कर लेता है कि मानव-समाज एक शारीरिक यंत्र है।

और जिस प्रकार धार्मिक सिद्धांतों की सारी बारीकियाँ केवल मौलिक सिद्धांतों में विश्वास करनेवाले व्यक्तियों की ही समझ में आती हैं, उसी प्रकार समाज-शास्त्र की समस्त सूक्ष्मताएँ—जिनपर आज नए-से-नए और धुरंधर-से-धुरंधर विज्ञानवेत्ता अपना मस्तिष्क खपा रहे हैं—केवल उनमें विश्वास करनेवाले लोगों की समझ में आती हैं।

दोनों सिद्धांतों की सदृश्यता एक और बात में भी दिखाई देती है और वह यह कि जो बातें आस्थापूर्वक स्वीकार की जाती हैं और जिनमें आगे छिद्रान्वेषण करने का कोई प्रश्न ही शेष नहीं रहता वे विचित्र-से-विचित्र सिद्धांतों का आधान बन जाती हैं। इतना ही नहीं, बल्कि इन सिद्धांतों के प्रचारक, जिन्हें अपने को धार्मिक बातों से पुनीत और वैज्ञानिक बातों में बुद्धिमान मानने अर्थात् अपने को अचूक समझने के अधिकार पर जोर देने की आदत पड़ गई है, वे बहुत ही मनमाने, अव्यावहारिक और पूर्णत: निराधार निष्कर्ष निकालते हैं और इन्हें दूसरों के सामने बड़ी गंभीरता और पवित्रता के साथ व्यक्त करते हैं। किंतु जो लोग आधारभूत सिद्धांतों को स्वीकार करते हुए भी विस्तार की बातों पर मतभेद रखते हैं वे निष्कर्षों के विचार पर उतनी ही गंभीरता और पवित्रता के साथ वादविवाद करते हैं।

उदाहरण के लिए इस सिद्धांत के महान् पोषक हरबर्ट स्पेन्सर[1] ने अपनी एक प्रारंभिक पुस्तक में लिखा है—समाज और शरीर-यंत्र का निम्नलिखित बातों में एक-दूसरे से सादृश्य है—

(क) छोटे आकार में आरंभ होकर वे अदृश्य रूप में बढ़ते रहते हैं, यहाँ तक कि कभी-कभी वे अपने मूल आकार से दस हज़ार गुना बड़े हो जाते हैं।

1. *प्रसिद्ध ब्रिटिश दार्शनिक (1820—1930)—संश्लेषात्मक दर्शन के समर्थक।*

(ख) आरंभ में उनकी रूपरेखा इतनी सरल होती है कि कहा जा सकता है कि उनकी कोई रूपरेखा ही नहीं है, किंतु जैसे-जैसे उनका विकास होता जाता है वैसे-वैसे उनकी जटिलता में वृद्धि होती जाती है।

(ग) प्रारंभिक और अविकसित काल में इनके विभिन्न भागों में परस्पर निर्भरता नहीं के बराबर होती है, किंतु क्रमशः वे एक-दूसरे पर अधिक आश्रित होते हैं और अंत में यह निर्भरता इतनी प्रबल हो उठती है कि प्रत्येक भाग की क्रिया और जीवन शेष भागों की क्रिया और जीवन द्वारा ही संभव हो पाता है।

(घ) समाज का जीवन और विकास उसकी विभिन्न इकाइयों के जीवन और विकास से स्वतंत्र और अधिक दीर्घजीवी होता है। इकाइयों का जन्म, विकास, कार्य पुनर्जन्म और मरण तो निरंतर चलता ही रहता है, जबकि उनसे बना हुआ समुदाय पीढ़ी-दर-पीढ़ी तक जीवित रहता है और अपने ढाँचे की संपूर्णता और क्रियाशीलता के कारण आकार में निरंतर वृद्धि पाता रहता है।

इसके बाद हरबर्ट स्पेन्सर शरीर-यंत्र और समाज के विभेदों की चर्चा करते हुए यह बताने की चेष्टा करते हैं कि ये भेद देखने-भर को है पर वास्तव में शरीर और समाज बिल्कुल एक जैसे होते हैं।

एक नए व्यक्ति के हृदय में स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि आखिर आप कह क्या रहे हैं? समाज एक शारीरिक यंत्र क्योंकर है? इनमें समानता कहाँ से आई? आप कहते हैं कि ऊपर लिखे चार लक्षणों के कारण ही समाज शरीर-यंत्र से मिलता-जुलता है; लेकिन इसमें तो लेशमात्र भी सचाई नहीं। आप तो शरीर-यंत्र के कुछ इने-गिने लक्षणों को ही लेते हैं और उन्हीं के अंतर्गत मानव-समाज की भी गणना कर लेते हैं। पहले तो आप समानता के चार लक्षण दिखाते हैं और फिर भेदों की चर्चा करते हैं। लेकिन आपकी राय में ये भेद सिर्फ दिखावटी हैं, इसलिए आप इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मानव-समाज को शरीर-यंत्र माना जा सकता है। लेकिन यह तो केवल एक वाक्पटुता हुई; इस आधार पर तो आप, जिस वस्तु को भी चाहें, शरीर-यंत्र के लक्षणों के अंतर्गत गणना कर सकते हैं।"

उदाहरण के लिए, एक जंगल को ले लीजिए जो मैदान में लगाया जाता है और धीरे-धीरे बढ़ता जाता है।

(क) स्पेन्सर ने पहली बात यह कही है कि छोटे आकार में आरंभ होकर ये अदृश्य रूप से बढ़ते रहते हैं...आदि-आदि। यही तो खेतों के साथ भी होता है। बीज धीरे-धीरे मैदान में जड़ जमा लेते हैं और मैदान वृक्षों से भर जाता है।

(ख) स्पेन्सर की दूसरी बात यह है कि प्रारंभ में ढाँचा बिल्कुल सरल होता है। किंतु बाद में बढ़ता जाता है। ठीक यही तो जंगल के साथ भी होता है। सबसे पहले केवल कोमल तरु होते हैं और उसके साथ झाड़-झंकाड़। पहले ये सभी सीधे उगते हैं, परंतु बाद में इनकी शाखाएँ एक-दूसरे से लिपट जाती हैं।

(ग) स्पेन्सर ने तीसरी बात यह कही है कि विभिन्न भागों की परस्पर निर्भरता बढ़ती जाती हैं, यहाँ तक कि प्रत्येक भाग का जीवन शेष भागों के जीवन और क्रिया पर आश्रित हो जाता है...। यही वृक्षों के साथ भी होता है। झाड़ियों से वृक्षों के तनों को गर्मी पहुँचती है। इसी प्रकार यदि उन्हें काट डाला जाए तो दूसरे वृक्षों को जाड़े में पाला मार जाए। सीमावर्ती पेड़ों से जंगल की हवा से रक्षा होती है और बीजवाले पेड़ों का उत्पादनकार्य जारी रहता है। लंबे और पत्तीदार वृक्ष छाया प्रदान करते हैं और एक वृक्ष का जीवन दूसरे वृक्ष के जीवन पर आश्रित होता है।

(घ) स्पेन्सर की चौथी मान्यता यह है कि भिन्न-भिन्न भागों का नाश हो सकता है किंतु उनसे बनी हुई संपूर्णता अमर रहती है...। यही बात जंगल के लिए भी कही जा सकती है। कहावत भी है कि जंगल किसी एक वृक्ष के लिए रुदन नहीं करता।

शरीर-यंत्र के सिद्धांत के समर्थक साधारणतः जो उदाहरण देते हैं, उसकी भी यही बात है। वे कहते हैं कि शरीर से यदि आप भुजा को काट डालें तो वह भुजा नष्ट हो जाती है। हम कहते हैं कि किसी वृक्ष को जंगल की छाया और भूमि से हटा दीजिए और वह नष्ट हो जाएगा।

इस सिद्धांत में और ईसाई सिद्धांत व विश्वास के आधारपर संस्थापित सभी दूसरे सिद्धांतों में एक मार्के की समानता है। वह यह कि ये सिद्धांत तर्क द्वारा खंडित नहीं किए जा सकते। सैद्धांतिक रूप से यह प्रमाणित करके कि हमें एक जंगल को भी शरीर-यंत्र मानने का अधिकार है हम समझते हैं कि हमने वैज्ञानिकों के सामने उनकी परिभाषा की अशुद्धता प्रकट कर दी है, किंतु यह बात लेशमात्र भी सत्य नहीं है। वैज्ञानिक लोग शरीर-यंत्र की जो परिभाषा करते हैं, वह इतनी अनिश्चित और लचीली होती है कि वे उसके अंतर्गत जो चाहें वही सम्मिलित कर सकते हैं। वे जंगल को भी एक यंत्र मान सकते हैं। जंगल भी तो एक-दूसरे को क्षति न पहुँचानेवाले भिन्न-भिन्न अंगों की शांतिपूर्ण क्रिया-प्रतिक्रिया ही है; वह भी तो एक

ऐसी समाविष्ट वस्तु है, जिनके पृथक-पृथक अंगों का एक-दूसरे से घनिष्ठ संयोग हो सकता है और जो मधुमक्खियों के झुंड की तरह एक बन सकते हैं।

इसके उत्तर में आप कह सकते हैं कि तब तो उस जंगल के पक्षी और कीड़े-मकोड़े भी— जिनकी एक-दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती है, किंतु जो एक-दूसरे को नष्ट नहीं करते—यहाँ तक कि उस जंगल के वृक्ष भी शरीर-यंत्र माने जा सकते हैं।

वैज्ञानिक लोग आपकी इस मान्यता को भी स्वीकार कर लेंगे। उनके सिद्धांत के अनुसार जीवित पदार्थों का हर वह समन्वय, जिसके पृथक्-पृथक अंगों की आपस में प्रतिक्रिया होती रहती है, किंतु जो एक-दूसरे को नष्ट नहीं करते, एक शरीर-यंत्र माना जा सकता है। आप जिन पदार्थों में भी चाहें, पारस्परिक संबंध और सहयोग की मान्यता कर सकते हैं और कह सकते हैं कि जिस चीज को भी चाहें उसीके विकास से दीर्घ काल में मनचाही वस्तु उत्पत्ति हो सकती है।

प्रभु के त्रिदेव-रूप में विश्वास करनेवाले लोगों के सामने यह सिद्ध करना असंभव है कि भगवान के तीन रूप नहीं हैं; फिर भी यह बताना तो संभव है ही कि उनका मत ज्ञान पर नहीं, बल्कि धार्मिक विश्वास पर आधारित है; और यदि वे यह कहते हैं कि भगवान तीन हैं तो हम यह भी साधिकार कह सकते हैं कि भगवान 17½ हैं।

इतने ही विश्वास के साथ बल्कि और भी अधिक विश्वास के साथ साकारवादी और विकासवादी विज्ञान के समर्थकों को भी यही उत्तर दिया जा सकता है। उस विज्ञान के आधार पर तो कोई कुछ भी प्रमाणित कर सकता है। लेकिन सबसे बड़े मार्के की बात तो यह है कि यही साकारवादी विज्ञान वैज्ञानिक प्रणाली को सत्य ज्ञान का संकेत मानता है। और जिसे वह वैज्ञानिक प्रणाली कहता है, उसकी उसने स्वयं परिभाषा भी कर दी है। वास्तव में जिसे वह वैज्ञानिक प्रणाली कहकर पुकारता है वह और कुछ नहीं, बल्कि साधारण बुद्धि है और यही साधारण बुद्धि पद-पद पर उसकी त्रुटियाँ दिखाती है।

जो लोग साधु-संतों के पद पर आसीन थे, उन लोगों ने जैसे ही यह अनुभव किया कि उनमें अब साधुत्व की कोई बात शेष नहीं रह गई है और वे अब अभिशापित हो गए हैं वैसे ही उन्होंने अपने को (पोप और धर्मसभा की भाँति पुनीत ही नहीं, बल्कि महापुनीत कहना आरंभ कर दिया।) उसी प्रकार, जैसे ही विज्ञान ने देखा कि अब उसमें कोई तर्कसंगत बात नहीं रह गई है वैसे ही उसने अपने को तर्कसंगत तथा 'वैज्ञानिक' या 'शास्त्रीय' विज्ञान कहना आरंभ कर दिया।

श्रम-विभाजन की भ्रामक धारणा

कहा जाता है कि श्रम-विभाजन का नियम तो संसार के सभी पदार्थों में पाया जाता है, इसलिए उसका मानव-समाज में भी होना अनिवार्य है। बहुत संभव है कि बात ऐसी हो; किंतु इसके बावजूद यह प्रश्न तो बना रहता है कि क्या श्रम-विभाजन ठीक वैसा ही होना चाहिए जैसा कि वह आज के मानव-समाज में पाया जाता है? यदि श्रम-विभाजन की कोई एक प्रणाली लोगों को अनुचित और अन्यायपूर्ण प्रतीत हो तो फिर किसी भी विज्ञान के लिए यह प्रमाणित करना संभव नहीं कि यही प्रणाली—जिसे लोग अनुचित और अन्यायपूर्ण समझते हैं—जारी रहनी चाहिए।

ईसाई धर्म ने यह सिद्धांत प्रतिपादित किया था कि शक्ति ईश्वर प्रदत्त है। बहुत संभव है कि ऐसा ही हो भी; किंतु यह प्रश्न तो शेष रह ही गया था, "ईश्वर ने यह शक्ति किसको दी है—कैथरीन[1] को या भूगोश्योफ[2] को?" निस्संदेह धर्म की कोई भी व्याख्या इस शंका का समाधान नहीं कर सकती।

इसी प्रकार आत्मा के विकास में विश्वास करनेवाले दर्शन-शास्त्र ने बताया था कि राज्य और कुछ नहीं, व्यक्तित्व के ही विकास का एक रूप है। किंतु इससे इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिला, "क्या नीरो[3] और चंगेज खाँ[4] के राज्य को व्यक्तित्व के विकास का प्रतिरूपक माना जा सकता है?" निस्संदेह उच्च-से-उच्च दर्शन-वाणी भी इस शंका को नहीं मिटा सकती।

यही बात विज्ञान पर भी लागू होती है। वैज्ञानिकों के मतानुसार श्रमविभाजन शरीर-यंत्रों अर्थात् मानव-समाज के जीवन का एक अनिवार्य आधार है। किंतु मानव-समाज में हम किस वस्तु को इंद्रियों का श्रम-विभाजन मानें? कृमि-तंतुओं के श्रम-विभाजन का अध्ययन विज्ञान चाहे जितना भी करे, उसका यह कार्य मनुष्य को यह बात मानने के लिए प्रेरित नहीं कर सकता कि जिस श्रम-विभाजन को उसकी बुद्धि और आत्मा अंगीकार नहीं करती वह न्यायपूर्ण है।

1. *रूस की महारानी कैथरीन द्वितीय (महान्), राज्यकाल—1761 से 1796।*
2. *भूगोश्योफ ने 1772 से 1775 तक एक बड़े ही भयंकर किसान-विद्रोह का नेतृत्व किया था। इसने कितने ही नगरों पर अधिकार कर लिया था।*
3. *रोम के कुख्यात सम्राट् क्लाडियस सीजर नीरो (ईसा पूर्व 37-68) का चौदह वर्ष का शासनकाल विश्व के इतिहास में क्रूरता और व्यभिचार के लिए प्रसिद्ध है।*
4. *मंगोलिया का प्रसिद्ध बर्बर शासक, जिसने दो बार चीन पर आधिपत्य जमाया और तुर्कों को यूरोपीय सीमा से बाहर निकलने पर बाध्य किया—(1162—1227)।*

शरीर के जिन तंतुओं की हम खोज-बीन करते हैं, उनमें श्रम-विभाजन का हमें चाहे कितना भी अकाट्य प्रमाण क्यों न मिले, यदि हमारी बुद्धि बिल्कुल मारी नहीं गई है तो हम यही कहेंगे कि किसी मनुष्य को जन्मभर सूती कपड़ा ही बुनते रहना अर्थात् एक ही प्रकार के कार्य में जुटे रहना प्रयोजनीय नहीं है; इस प्रकार की व्यवस्था श्रम-विभाजन नहीं, बल्कि मनुष्य पर अत्याचार है।

स्पेंसर[1] और दूसरे लोग कहते हैं कि जुलाहों का एक पूरा-का-पूरा वर्ग है, इसलिए उसकी क्रियाएँ अवश्य ही इंद्रियों के श्रम-विभाजन पर आधारित होंगी। किंतु यह तो ठीक वही बात हुई, जो धार्मिक आचार्य कहा करते थे। धर्मवेत्ताओं के कथनानुसार इस संसार में एक शक्ति है, इसलिए वह ईश्वरप्रदत्त है चाहे वह कैसी भी क्यों न हो। इसी प्रकार स्पेंसर आदि के कहने का अर्थ यह हुआ कि चूँकि इस संसार में जुलाहे हैं, इसीलिए श्रम-विभाजन का भी यही उचित रूप है। इस तर्क में कुछ तथ्य हो सकता था यदि उपर्युक्त शक्ति और जुलाहों की उत्पत्ति स्वयं उत्पन्न हुई होती। किंतु हम जानते हैं कि वे स्वयं नहीं हुए हैं, बल्कि हमने उन्हें जन्म दिया है। इसलिए हमें यह देखना होगा कि हमने उस शक्ति को ईश्वर के इच्छानुसार उत्पन्न किया है या स्वयं अपनी इच्छा से। और इसी प्रकार यह भी देखना होगा कि हमने इन जुलाहों को इंद्रिय-संबंधी नियम के अनुसार जन्म दिया है या किसी और वस्तु के आधार पर।

लोग खेतीबारी करके अपना जीवन-निर्वाह करते हैं, जैसा कि सब लोगों के लिए करना उचित है। मान लीजिए कि इनमें से एक आदमी लुहार की धौंकनी जगा लेता है और अपने हल की मरम्मत आप कर लेता है। उसे ऐसा करते देख उसका पड़ोसी उसके पास आता है और कहता है कि मेरे हल की मरम्मत कर दो, इसके बदले में मैं तुम्हें काम या रुपया दूँगा। इसी तरह फिर कोई तीसरा आदमी आता है, फिर चौथा और सिलसिला आगे चल पड़ता है। अब इन लोगों में आप-से-आप श्रम-विभाजन की स्थापना हो जाती है और एक आदमी लुहार का काम ले बैठता है। इसी तरह मान लीजिए कि कोई दूसरा आदमी अपने बच्चों को अच्छी तरह से पढ़ा-लिखा लेता है, जिसे देखकर और लोग भी उसके पास अपने बच्चे लाकर पढ़ाने को कहते हैं। अब वह आदमी अध्यापक बन बैठता है। लेकिन स्मरण रखिए कि ये लुहार और अध्यापक दोनों ही अस्तित्व में केवल इसलिए आए कि समाज ने उन्हें लुहारी और अध्यापन का कार्य करने को कहा और वे लुहार और अध्यापक उसी समय तक रह सकते हैं, जब तक कि समाज उन्हें लुहारी और अध्यापन का

1. *प्रसिद्ध मनोविज्ञानवेत्ता हर्बर्ट स्पेंसर (1820—1903)।*

कार्य करने के लिए कहता रहे। अब यदि ऐसा हो जाए कि बहुत-से लुहार और अध्यापक पैदा हो जाएँ और उनके काम की दूसरों को आवश्यकता न रह जाए तो ऐसी दशा में साधारण बुद्धि यही कहती है कि वे लोग फौरन इन पेशे को छोड़कर फिर से खेतीबारी करने लग जाएँगे। जहाँ-कहीं भी उचित श्रमविभाजन की व्यवस्था के भंग होने का कोई कारण नहीं होता वहाँ सदा ऐसा ही होता भी है।

जो लोग ऐसा करते हैं वे अपनी बुद्धि और अंतरात्मा की प्रेरणा ही से करते हैं। अतएव हम लोग, जिन्हें भगवान् ने बुद्धि और अंतरात्मा प्रदान की है, इस प्रकार के श्रम-विभाजन को उचित मानते हैं। किंतु यदि स्थिति ऐसी हो जाए कि लुहार दूसरों को अपना काम करने के लिए विवश कर सकें और घोड़े की नाल बनाने का काम उस समय भी जारी रखें जब नालों की किसी को आवश्यकता ही न हो और इसी प्रकार यदि अध्यापक अपने अध्यापन का कार्य उस समय भी चलाते रहें जब कोई पढ़नेवाला ही न हो तो बुद्धि और अंतरात्मा से विभूषित प्रत्येक दर्शक को यही लगेगा कि यह तो श्रम-विभाजन नहीं, बल्कि दूसरे लोगों के श्रम का शोषण है; क्योंकि इस प्रकार के कार्य उस कसौटी पर खरे नहीं उतरते जो श्रम-विभाजन के औचित्य को परखने का एकमात्र साधन है। कसौटी यह है कि लोग जो काम करते हैं, उसकी माँग दूसरे आदमियों में हो और लोग उसके लिए स्वेच्छा से पारिश्रमिक देने को तैयार हों। फिर भी वैज्ञानिक लोग इसी शोषण को श्रम-विभाजन कहते हैं।

लोग ऐसी चीजें बनाते हैं, जिनकी दूसरों को आवश्यकता नहीं होती; फिर भी वह चाहते हैं कि उनके इस कार्य के बदले उनका भरण-पोषण किया जाए। इतना ही नहीं, वे तो यह भी कहते हैं कि श्रम-विभाजन के नियमों के अनुकूल होने के कारण उनका यह कार्य उचित है।

हमारे ही देश में नहीं, बल्कि सभी स्थानों में जिस सबसे बड़े दूषण का जनता को दु:ख उठाना पड़ता है, वह है उस देश की सरकार और उसके अंतर्गत कार्य करनेवाले अनगिनित अधिकारी। अंग्रेजों के कथनानुसार हमारे आज के आर्थिक कष्ट का कारण 'आवश्यकता से अधिक उत्पादन' है। अर्थात्, उनका कहना है कि ऐसे पदार्थों का अत्यधिक परिमाण में उत्पादन होता है, जिन्हें कोई चिंता नहीं या जिनके संबंध में लोगों को यह समझ में नहीं आता कि इनका क्या किया जाए। यह सब उस विचित्र भावना का परिणाम है, जो हमारे मस्तिष्क में श्रम-विभाजन के संबंध में बैठी हुई है।

यदि कोई मोची लगातार ऐसे जूते बनाता रहे, जिनकी बहुत दिनों से किसी को आवश्यकता ही नहीं रह गई है, और यदि वह यह सोचे कि उसके इस कार्य के बदले उसका भरण-पोषण करना लोगों का कर्तव्य है, तो हमें बड़ा आश्चर्य होगा।

किंतु जो लोग शासन-व्यवस्था, गिरजा, विज्ञान और कला से संबंधित हैं, उनके लिए क्या कहा जाए? वे तो जनता के लिए कोई भी ग्राह्य या उपयोगी वस्तु नहीं बनाते। उनकी बनाई चीजों की किसी को आवश्यकता नहीं; फिर भी वे श्रम-विभाजन की दुहाई देते हुए बड़ी निर्भीकता के साथ कहते हैं कि हमें अच्छा खाना और कपड़ा मिले।

ऐसे जादूगर तो हो सकते हैं जिनके खेलों को जनता पसंद करे और उन्हें खूब खिलाए-पिलाए; लेकिन ऐसे जादूगरों की तो कल्पना तक नहीं की जा सकती जिनके तमाशे किसी को पसंद न हों और फिर भी वे अपनी करामातों के बदले निर्भीकतापूर्वक बढ़िया खाने-पीने की माँग करें। किंतु आज सरकारी लोग, गिरजा में काम करनेवाले और विज्ञान या कला के विशेषज्ञ, संसार के सभी लोग यही तो कर रहे हैं और यह सब श्रम-विभाजन की मिथ्या कल्पना का ही तो परिणाम है—एक ऐसी कल्पना जो मनुष्य की अंतरात्मा से उद्भूत नहीं हुई है, बल्कि उन निष्कर्षों पर अवलंबित है, जिन्हें वैज्ञानिक लोगों ने एक स्वर से स्वीकार कर लिया।

श्रम-विभाजन तो सदा रहा है और अब भी है; किंतु वह उचित तभी होता है जब उसकी रूपरेखा का निर्णय मनुष्य की बुद्धि और अंतरात्मा कहती हैं, न कि केवल उसके प्रचलन को देखकर ही उसे स्वीकार कर लिया जाता है। सभी मनुष्यों की बुद्धि और अंतरात्मा इस रूपरेखा का निर्णय बड़े ही सरल और असंदिग्ध रूप में एक स्वर के साथ करती हैं—वह यह कि श्रम-विभाजन उचित तभी होता है जब किसी एक व्यक्ति की विशेष क्रिया की दूसरे लोगों को इतनी आवश्यकता होती है कि वे न केवल उससे उस कार्य को करने को कहते हैं, बल्कि उसकी सेवाओं के बदले स्वेच्छापूर्वक उसका भरण-पोषण भी करने को तत्पर हो जाते हैं। किंतु यदि कोई व्यक्ति अपने बचपन से लेकर तीस वर्ष की आयु तक दूसरों के सहारे जीवनयापन करता हुआ यह वचन देता रह सकता है कि पढ़-लिखकर मैं आपके लिए कोई उपयोगी काम करूँगा—ऐसा कार्य जो कोई उससे करने के लिए नहीं कहता—और यदि तीस वर्ष की आयु के बाद से मृत्यु पर्यंत भी वह इसी प्रकार जीवन बिताता रह सकता है और ऐसे कार्यों के करते रहने का वचन देता रह सकता है, जिसे लोग उसे करने को नहीं कहते, तो यह श्रम-विभाजन नहीं माना जा सकता; और वास्तव में यह श्रम-विभाजन है भी नहीं, यह तो शक्तिशालियों द्वारा निर्बलों के श्रम का शोषण-मात्र है। यह तो वही डकैती है जिसे धर्माचार्य 'ईश्वरीय विधान' कहकर पुकारते थे, जिसे बाद में दार्शनिकों ने 'जीवन का आवश्यक रूप' कहकर पुकारा और जिसे आज वैज्ञानिक लोग इंद्रियों का श्रम-विभाजन कहते हैं। यही वह एकमात्र तथ्य है, जिसमें आज के सत्ताधारी विज्ञान का सारा महत्त्व निहित है।

आज का विज्ञान हमारी अकर्मण्यता के लिए प्रमाण-पत्र देने लगा है; क्योंकि अकेले उसी को अपनी शोधशाला में बैठकर इस बात का निर्णय करने का अधिकार है कि समाज-रूपी शरीर-यंत्र में कौन-सा कार्य इंद्रिय-संबंधी नियमों के अनुसार हो रहा है और कौन-सा उसके विरुद्ध। इसका आशय तो यह हुआ कि इस बात का निर्णय हर आदमी स्वयं अपनी बुद्धि और अंतरात्मा से पूछकर नहीं कर सकता; यद्यपि सत्य यह है कि उसकी बुद्धि और अंतरात्मा का निर्णय कहीं अधिक सच्चा और तात्कालिक होता है।

जिस प्रकार पहले धर्माचार्यों के संबंध में और बाद में सरकारी अधिकारियों के बारे में यह संदेह नहीं किया जा सकता था कि समाज के लिए वे ही सबसे अधिक आवश्यक हैं, उसी प्रकार आज वैज्ञानिकों के संबंध में ऐसा लगता है कि उनकी क्रियाएँ शरीर-यंत्र के नियमों के बिलकुल अनुकूल हैं अर्थात् वैज्ञानिक और कलाकर ही शरीर-यंत्र के सबसे बहुमूल्य मेधा-तंतु हैं। लेकिन भगवान इनका भला करें! इसमें तो कोई बुराई नहीं कि ये लोग भी पुराने ज़माने के पुरोहितों और दार्शनिकों की तरह लोगों पर शासन करें और खाएँ-पिएँ, मौज उड़ाएँ; किंतु शर्त यह है कि वे उनकी तरह जनता को कुमार्ग पर न ले जाएँ।

चूँकि मनुष्य तर्कशील व्यक्ति है इसलिए वह सदा अच्छे और बुरे में अंतर करता आया है और इस दिशा में अपने पूर्वजों के अनुभव से भी लाभ उठाता रहा है। मनुष्य बुद्धि से संघर्ष करता रहा है, सत्य और सर्वोत्तम मार्ग को ढूँढ़ता रहा है और धीरे-धीरे किंतु, दृढ़ता के साथ उस मार्ग पर बढ़ता रहा है। उसके इस मार्ग में बाधा डालने के लिए बहुत-से भ्रम खड़े किए जाते रहे हैं ताकि उसे बहकाया जा सके कि वह जो कुछ भी कर रहा है ठीक नहीं है और उसे पुराने लोगों की तरह से ही जीवन बिताते रहना चाहिए। सबसे पहले तो ईसाई धर्म के वे पुराने भयंकर भ्रम सामने आए, जिनसे मनुष्य ने बड़े ही संघर्ष और श्रम के पश्चात् अपने को धीरे-धीरे मुक्त किया; किंतु उनसे पूरी तरह से पिंड छूटने से पहले ही एक नया धोखा आ खड़ा हुआ और वह था राज्य-दर्शन का धोखा। मनुष्य ने इस जाल को भी भंग किया, किंतु अब एक नया तथा और भी अधिक भयंकर छल उसके मार्ग में बाधा देने के लिए आ खड़ा हुआ है और वह है विज्ञान का छल।

यह नया छल भी वैसा ही है जैसे कि पुराने थे; बस, इतनी विशेषता अवश्य है कि हमारी अपनी और पूर्वजों की बुद्धि और अंतरात्मा के स्थान पर एक बाह्य वस्तु का प्रयोग होने लगा है। इस बाह्य वस्तु को धर्मशास्त्रों में 'दैवी ज्ञान' कहा जाता था और इसी को अब विज्ञान में 'निरीक्षण' कहा जाता है। विज्ञान की चाल यह है कि मानवीय बुद्धि और अंतरात्मा की भयंकरतम कर्तव्यच्युतियों की तरफ ध्यान आकर्षित

करके वह बुद्धि और अंतरात्मा के प्रति मनुष्य के विश्वास को नष्ट कर देना चाहता है और अपने इस भ्रमजाल को एक वैज्ञानिक सिद्धांत का बाना पहनाकर यह विश्वास दिलाना चाहता है कि बाह्यतत्त्व का ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य उन असंदिग्ध तथ्यों की जानकारी प्राप्त कर लेता है, जो उसकेसमक्ष मनुष्य-जीवन के नियमों को स्पष्ट कर देते हैं। इसके फलस्वरूप मनुष्य का मानसिक अध:पतन हो जाता है। चूँकि उसे यह विश्वास उत्पन्न हो जाता है कि प्रत्येक वस्तु का निर्णय निरीक्षण के आधार पर ही होना उचित है—यद्यपि वास्तव में यह निर्णय बुद्धि और अंतरात्मा द्वारा होना चाहिए—इसलिए उसकी अच्छे और बुरे को समझने की चेतना नष्ट हो जाती है और वह अच्छाई और बुराई की उस व्याख्या को समझने में असमर्थ हो जाता है, जो उससे पहले का समाज करता आया था। उसकी धारणा यह हो जाती है कि ये सब बातें व्यक्तिगत और अन्य बातों पर आश्रित हैं, इसलिए इनका परित्याग कर देना चाहिए; सत्य का ज्ञान किसी एक व्यक्ति की बुद्धि या तर्कशक्ति से नहीं होता, क्योंकि मनुष्य से भूल हो सकती है। उसके कथनानुसार सत्य को समझाने का एक दूसरा मार्ग हैं, जो कि अचूक और बिल्कुल यंत्रवत् है। यह मार्ग है तथ्य का अध्ययन करना। तथ्य का अध्ययन वैज्ञानिक आधार पर होना चाहिए; अर्थात् साकारवाद और विकासवाद के उन दो सिद्धांतों के आधार पर, जो निराधार हैं, किंतु हमारे समक्ष असंदिग्ध सत्य कहकर प्रस्तुत किए जाते हैं।

आज का विज्ञान, जिसका इतना बोलबाला है और जिसकी गंभीरता गिरजा-धर्म से कम भ्रामक नहीं है, यह घोषणा करता है कि जीवन-संबंधी सभी प्रश्नों का एकमात्र हल प्रकृति—विशेषत: शरीर-यंत्रों—के तथ्यों का अध्ययन करना है। इस घोषणा का न तो अब तक प्रतिकार ही हुआ है और न सच पूछिए तो उसकी आलोचना करने की ही चेष्टा की गई है। उसकी नवीनता से प्रभावित होकर कुछ खिलवाड़ी नवयुवक प्राकृतिक विज्ञान के इन तथ्यों का अध्ययन करने दौड़ पड़ते हैं और उस मार्ग का अनुसरण करने लगते हैं, जो प्रचलित सिद्धांत के अनुसार हमें जीवन-संबंधी प्रश्नों के स्पष्टीकरण की ओर ले जानेवाला एकमात्र मार्ग है। किंतु ये विद्यार्थी इसका जितना ही अध्ययन करते हैं, उतना ही वे जीवन की समस्याओं को हल करने की न केवल संभावना से, बल्कि कल्पना तक से दूर हटते चले जाते हैं। और जितना ही वे अपने निरीक्षण पर अवलंबित न रहकर दूसरों के निरीक्षण के आधार पर बताई गई बातों को विश्वासपूर्वक ग्रहण करने के आदी बनते जाते हैं उतना ही आंतरिक सत्य उनकी आँखों से ओझल होता चला जाता है, और उतना ही वे अच्छे और बुरे को समझने की अपनी चेतना को खोते चले जाते हैं तथा अपने पूर्ववर्ती मानव-समाज द्वारा निर्धारित अच्छाई-बुराई की व्याख्या को समझ सकने

की उनकी शक्ति लुप्त होती चली जाती है। इसी प्रकार जितना ही वे विज्ञान के अनर्गल सिद्धांत का अनुकरण करते जाते हैं—जिसका कि मनुष्य के लिए कोई महत्त्व नहीं होता—उतना ही वे बिल्कुल अंधकारपूर्ण निरीक्षण के टूटे-फूटे खंडहरों में खोए फिरते हैं और उतना ही वे स्वतंत्रतापूर्वक सोचने की अपनी शक्ति को ही नहीं खो बैठते, बल्कि अपने सिद्धांत की सीमा से बाहर दूसरे लोगों के नवीन विचारों को समझने की क्षमता से भी हाथ धो बैठते हैं। सबसे बड़े महत्त्व की बात तो यह है कि अपनी आयु के सर्वोत्कृष्ट वर्ष वे जीवन, अर्थात् श्रम, के प्रति अनभ्यस्त बनने में बिता देते हैं और अपनी स्थिति को न्यायसंगत मानने के आदी हो जाते हैं, जबकि शरीर से वे बिलकुल निरर्थक पंगु बन जाते हैं। दार्शनिकों और तालमद[1] के अनुयाइयों की तरह उनकी मेधा-शक्ति का लोप हो जाता है, वे मानसिक जनखे बन जाते हैं और जैसे-जैसे उनकी बुद्धि मंद होती जाती है वैसे-वैसे उनके मन में एक प्रकार की आत्मविश्वास की भावना उदित होती हैं, जो उन्हें सरल, स्पष्ट और मानवीय विचार-शैली को पुन: अपना सकने की संभावना से सदा के लिए वंचित कर देती है।

बुद्धिजीवियों के थोथे वचन

श्रम-विभाजन मानव-समाज में सदा रहा है और कदाचित् सदा रहेगा; किंतु प्रश्न श्रम-विभाजन की विद्यमानता का नहीं, बल्कि उस कसौटी का है जिस पर कसकर हम श्रम-विभाजन को खरा मान सकते हैं। यदि हम निरीक्षण को कसौटी मानें तो इसका अर्थ यह है कि हमें अन्य सभी कसौटियाँ अस्वीकार्य हैं और समाज में प्रचलित जो कोई भी श्रम-विभाजन हमें उचित दिखाई देगा, उसी को हम ठीक मानने को तैयार हो जाएँगे। वास्तव में यही वह दिशा है जिधर आज का सत्ताधारी विज्ञान हमें ले जा रहा है।

"श्रम-विभाजन! कुछ लोग मानसिक और आत्मिक श्रम में संलग्न हैं, तो कुछ शारीरिक श्रम में"—यह बात लोग कितने विश्वास के साथ कहते हैं। वास्तव में वे ऐसा ही विश्वास भी करना चाहते हैं और समझते हैं कि इस संसार में सभी लोगों की सेवाओं का एक-दूसरे से बिल्कुल ठीक विनिमय हो रहा है। किंतु आज जो श्रम-विभाजन प्रचलित है वह वास्तव में बलात्कार और शोषण का ही सरल और

1. *यहूदी कानूनों और पौराणिक कथाओं के संग्रह का नाम तालमद है।*

अत्यंत पुराना रूप है।

लोग कहते हैं, ''तू या तुम लोग (क्योंकि एक आदमी को खिलाने के लिए प्रायः अनेक आदमियों की आवश्यकता होती है) मुझे खाना खिलाओ, कपड़े दो, मेरे लिए वह सभी कठोर कार्य करो, जो मैं तुमसे करने के लिए कहूँ और जिनको तुम मेरे लिए बचपन से ही करते आए हो। अगर तुम ऐसा करोगे तो इसके बदले मैं तुम्हारे लिए वह मानसिक कार्य करूँगा, जिसके करने में मैं समर्थ हूँ और जिसका मुझे अभ्यास है। तुम मुझे शारीरिक भोजन दो और मैं तुम्हें आत्मिक भोजन दूँगा।'' यह लेखा-जोखा मालूम तो बिल्कुल ठीक होता है और वास्तव में ठीक है भी, बशर्ते कि सेवाओं का यह विनिमय स्वेच्छापूर्वक हो और जो लोग शारीरिक भोजन देते हैं, उन्हें आत्मिक भोजन प्राप्त करने से पहले उसे देने के लिए विवश न होना पड़े। आत्मिक भोजन का उत्पादक कहता है, ''मैं तुम्हें आत्मिक भोजन दे सकूँ, इसके लिए तुम मुझे खाना-कपड़ा दो और मैं जो गंदगी करूँ उसे साफ करो। किंतु शारीरिक भोजन के उत्पादक को यह सब काम कोई माँग उपस्थित किए बिना ही करना पड़ता है; और यदि उसे आत्मिक भोजन न भी मिले तो भी उसे शारीरिक भोजन देना ही होता है। यदि सेवाओं का विनिमय स्वेच्छापूर्वक होता तो दोनों की स्थिति एक समान होती।

हम मानते हैं कि मनुष्य के लिए आत्मिक भोजन भी उतना ही आवश्यक है, जितना कि शारीरिक भोजन; किंतु विद्वान् और कलाकार कहते हैं, ''इसके पहले कि हम जनसाधारण को आत्मिक भोजन दें, हम चाहते हैं कि वे हमें शारीरिक भोजन दें।'' यदि वे ऐसा कह सकते हैं तो क्या शारीरिक भोजन के उत्पादक यह नहीं कह सकते कि इसके पहले कि हम शारीरिक भोजन दें, हमें आत्मिक भोजन की आवश्यकता है और जब तक वह नहीं मिलेगा, तब तक हम कार्य नहीं कर सकते?

वैज्ञानिक और कलाकार कहते हैं, ''इसके लिए कि मैं आत्मिक भोजन तैयार कर सकूँ मुझे एक हल चलानेवाले लुहार, मोची, बढ़ई, ईंट पाथनेवाले, भंगी और दूसरे लोगों की सेवाओं की आवश्यकता है।'' इसी तरह हर मज़दूर को यह कहने का अधिकार है, ''इसके पहले कि मैं तुम्हारे लिए शारीरिक भोजन तैयार करने के लिए कार्य आरंभ करूँ, मुझे तुम्हारे आत्मिक कार्य का लाभ मिल जाना चाहिए। मुझे अपने कार्य के लिए शक्ति प्राप्त करने के निमित्त धार्मिक शिक्षा, सुव्यवस्थित सामाजिक जीवन, वैज्ञानिक प्रयोगों के लाभ और कला से उत्पन्न आनंद और संतोष की आवश्यकता है। मेरे पास इतना समय नहीं कि जीवन के अर्थ की मैं स्वयं व्याख्या करूँ—यह व्याख्या तुम स्वयं करके दो। मेरे पास इसके लिए भी समय नहीं कि मैं सामाजिक जीवन के लिए उन नियमों का निर्माण करूँ, जिससे न्याय का

उल्लंघन रोका जा सकता है—उन्हें तुम स्वयं मुझे बनाकर दो। इसी प्रकार मेरे पास अर्थशास्त्र, पदार्थविज्ञान, रसायनशास्त्र और शिल्प-विद्या के अध्ययन में लगाने के लिए समय नहीं है—मुझे तो ऐसी पुस्तकें दे दो जो मेरे औजारों, मेरी कार्यप्रणाली, मेरे निवासस्थान और गरमी तथा प्रकाश प्राप्त करने के साधनों को सुधारने की युक्ति बता सकें। काव्य, संगीत और शिल्पकला में व्यस्त रहने के लिए भी मेरे पास समय नहीं, मुझे तो कला से उद्‌भूत होनेवाली वे प्रेरणाएँ और संतोष प्रदान कर दो, जिनकी जीवन को आवश्यकता है।'' कलाविद् और विज्ञानवेत्ता कहते हैं, ''मजदूर लोग हमारे लिए जो काम कर देते हैं, उसे वे न करें तो हम अपनी आवश्यकता और महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर ध्यान नहीं दे सकेंगे।'' किंतु मज़दूर कहता है कि यदि मुझे मेरी बुद्धि और अंतरात्मा की माँग के अनुसार धार्मिक शिक्षा नहीं मिलती, मेरे श्रम को सुरक्षित रखने के लिए उचित राज्य-व्यवस्था प्राप्त नहीं होती, मेरे कार्य को सुविधा प्रदान करनेवाला ज्ञान और मेरे श्रम को सुख देनेवाला कला का आनंद प्राप्त नहीं होता तो मैं हल चलाने, खाद ढोने और गंदगी की सफाई करने के उन कामों को नहीं कर सकता, जो कम महत्त्वपूर्ण और आवश्यक नहीं हैं। मज़दूर यह भी कहता है कि आत्मिक भोजन के रूप में तुमने अब तक मुझे जो कुछ भी दिया है वह मुझे अनुकूल नहीं पड़ता, मैं तो समझ नहीं सकता कि इससे किसी का क्या भला हो सकता है। इसलिए जब तक मुझे अपने लिए उपयोगी भोजन नहीं मिलता—जैसा कि प्रत्येक व्यक्ति को मिलना चाहिए—तब तक मैं तुमको वह शारीरिक भोजन नहीं दे सकता जोकि मैं उत्पन्न करता हूँ।

अगर सभी मज़दूर लोग ऐसा कहने लगें तो कैसा रहे? आप अच्छी तरह से जानते हैं कि ये बातें कोरी मज़ाक की नहीं, बल्कि सीधी-सादी न्याय की बातें होंगी। यदि मजदूर ऐसा कहें तो उनकी यह बात मानसिक कार्यकर्ताओं से कहीं अधिक न्यायसंगत होगी; क्योंकि श्रमजीवियों का काम बुद्धिजीवियों के काम की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण और अनिवार्य होता है। और जहाँ बुद्धिजीवियों को अपने वचन के अनुसार श्रमजीवियों को आत्मिक भोजन देने में कोई अड़चन नहीं पड़ती, वहाँ श्रमजीवियों को शारीरिक भोजन देने में कठिनाई पड़ती है, क्योंकि वह भोजन स्वयं उसके लिए पर्याप्त नहीं होता।

यदि हम-जैसे बुद्धिजीवियों के समक्ष इस प्रकार की सरल और न्यायसंगत माँगे रखी जाएँ तो हम उनका क्या उत्तर देंगे? हम उन्हें किस प्रकार संतुष्ट करेंगे? क्या हम उन्हें इधर-उधर की धार्मिक पुस्तकें और भिन्न-भिन्न मठों और गिरजाघरों से प्रकाशित परचे देकर उनकी धार्मिक शिक्षा की माँग को पूरा कर देंगे? क्या हम कानूनी पुस्तकों, अदालतों के विभिन्न निर्णयों और अनेकानेक कमेटियों और कमीशनों

के नियमों को उपस्थित करके उनकी सामाजिक न्याय की भूख मिटा सकेंगे? इसी प्रकार क्या हम उनकी ज्ञान की पिपासा को नक्षत्रों और ग्रहों की बनावट, आकाश-गंगा की नापतौल, शुष्क रेखागणित, सूक्ष्म यंत्रों द्वारा किए गए शोधों, आत्म-अनात्मवाद के झगड़ों और वैज्ञानिक विद्यालय की कार्रवाइयों द्वारा संतुष्ट कर सकेंगे? और फिर हम उनकी कलात्मक माँगों की पूर्ति कैसे करेंगे? पुश्किन[1], डोस्टोवस्की[2], तुर्गनेव[3] और टॉल्सटॉय से? फ्रांस के या अपने देश के ही चित्रकारों के उन चित्रों से जिनमें नंगी औरतों, साटन, मखमल, प्राकृतिक दृश्य आदि के चित्रण किए गए हैं? वैगनर[4] या अपने ही यहाँ के किसी संगीतज्ञ के संगीत से?—इनमें से कोई भी वस्तु न उसके अनुकूल पड़ती, न पड़ सकती है; चूंकि हमें दूसरों के श्रम का प्रयोग करने का अधिकार मिल गया है और आत्मिक भोजन के उत्पादन का हम पर कोई अनिवार्य उत्तरदायित्व नहीं है, इसलिए वह उद्देश्य जो हमारे कार्यों का होना चाहिए हमारी आँखों से बिलकुल ओझल हो गया है। हम यह जानते तक नहीं कि श्रमजीवियों की आवश्यकता क्या है? हम उनके जीवनयापन के ढंग को, उनके दृष्टिकोण को और उनके बोलने की तरीकों को भूल गए हैं। हम खुद मज़दूर तक को भूल गए हैं और हम उनका ठीक उसी तरह से अध्ययन करते हैं जैसे कोई किसी दुर्लभ जाति या नवज्ञात अमरीका का अध्ययन करता है।

इस प्रकार अपने लिए शारीरिक भोजन की माँग करते हुए हमने अपने ऊपर आत्मिक भोजन प्रदान करने का उत्तरदायित्व ग्रहण कर लिया है।

किंतु एक काल्पनिक श्रम-विभाजन के फलस्वरूप—जिसने हमें न केवल कार्य करने से पहले भोजन करने की अनुमति दे रखी है, बल्कि जिसकेअनुसार हम पीढ़ियों तक बिना कुछ उत्पादन किए ही खूब मौज उड़ा सकते हैं—हमने अपने भरण-पोषण के बदले में देने के लिए ऐसी चीजें तैयार की हैं जो कि केवल विज्ञान और कला के लिए उपयोगी प्रतीत होती हैं, किंतु जो उन लोगों के लिए बिल्कुल निरर्थक, अग्राह्य और घृणास्पद हैं और जिनके श्रम का शोषण हमने बदले में आत्मिक भोजन देने का बहाना करके कर लिया है। अपने कंधों पर हमने जो उत्तरदायित्व ग्रहण किया है, उसे अंधतावश हमने अपनी आँखों से इतना ओझल कर दिया है कि हम यह भी भूल गए हैं कि हम जो कार्य कर रहे हैं उसका उद्देश्य

1. *प्रख्यात रूसी कवि और साहित्यकार (1799—1830)*
2. *रूस के महानतम उपन्यासकारों में से एक (1821—81)*
3. *प्रसिद्ध रूसी उपन्यासकार और कहानीकार (1818—83)*
4. *यूरोप का क्रांतिकारी संगीतज्ञ (1813—83)*

क्या है; यहाँ तक कि जिन लोगों की सेवा करने का भार हमने लिया था, उन्हीं को अपनी वैज्ञानिक और कलात्मक क्रिया का विषय बना लिया है। हम उनका अध्ययन करते हैं और अपने विनोद और मनोरंजन के लिए उनके जीवन का चित्रण करते हैं। इस बात को हम बिल्कुल भूल गए हैं, कि हमें उनका अध्ययन और चित्रण नहीं, बल्कि उनकी सेवा करनी चाहिए।

अपने कंधों पर ग्रहण किए हुए उत्तरदायित्वों को हमने इतना अधिक भुला दिया है कि हम यह नहीं देख पाते कि विज्ञान और कला के क्षेत्रों में हमने जो कुछ भी करने की जिम्मेदारी ली थी उसे हमने नहीं, दूसरों ने किया है और हमारा अपना स्थान भरा हुआ है। ऐसा मालूम होता है कि जिस समय हम कभी शरीर-यंत्रों की आकस्मिक उत्पत्ति, कभी अध्यात्मवाद, कभी परमाणुओं के रूप, कभी विभिन्न अंगों की स्वयंभू पुनरुत्पत्ति और कभी वनस्पतियों व प्राणियों के जीवन-संबंधी आचार-तत्त्वों आदि के संबंध में तर्क-वितर्क कर रहे थे—ठीक वैसे ही जैसे कि दार्शनिक लोग वर्जिन मेरी के निर्दोष, मूलभूत पाप-कर्म से अछूते जन्म के संबंध में वादविवाद करते थे—जन-साधारण को आध्यात्मिक भोजन की आवश्यकता हुई और जो लोग विज्ञान तथा कला के क्षेत्र में असफल होकर तिरस्कृत हो चुके थे, उन्होंने एकमात्र आर्थिक लाभ के लिए चिन्तित रहनेवाले व्यापारियों के आदेश पर जनता को आत्मिक भोजन देना आरंभ कर दिया और तब से वे निरंतर ऐसा करते आ रहे हैं। यूरोप के अन्य भागों में प्राय: चालीस वर्षों में और इसमें भी पिछले लगभग दस वर्षों में करोड़ों पुस्तकें, चित्रों और गानों की किताबें जन-साधारण में छापकर बाँटी गई हैं और लोगों के सामने प्रदर्शन किए गए हैं। जन-साधारण इन्हें देखते हैं, गाते हैं और अपना आत्मिक भोजन प्राप्त करते हैं। इस भोजन को देने का उत्तरदायित्व तो हमने लिया था, किंतु उन्हें यह मिलता है किसी और से; और हम जो इस आत्मिक भोजन को प्रदान करने के नाम पर अपनी अकर्मण्यता को उचित ठहराते हैं, चुपचाप बैठे-बैठे आँखें फाड़े देखते रहते हैं। किंतु हमें इस तरह आँखें फाड़कर नहीं देखना चाहिए क्योंकि हमारे पक्ष की अंतिम दलील भी लोप होती जा रही है। हम सोचते हैं कि हमने किसी एक विषय में विशेषता प्राप्त की है, इसलिए हमारा कार्य भी एक विशेष प्रकार का है। हम सोचते हैं कि हम जनता के मस्तिष्क हैं, जनता हमें भोजन देती है, हमने उसे शिक्षित बनाने का उत्तरदायित्व अपने कंधों पर लिया है और यही एकमात्र कारण है कि हमने अपने को श्रम से मुक्त कर लिया है — लेकिन प्रश्न तो यह है कि हमने श्रमजीवियों को क्या सिखाया है और क्या सिखा रहे हैं? वे एक वर्ष, दस वर्ष, सैकड़ों वर्षों से प्रतीक्षा करते आ रहे हैं और अब भी हम वाद-विवाद ही कर रहे हैं और उन लोगों को भुलाकर स्वयं अपने को सिखा

और एक-दूसरे का मनोरंजन कर रहे हैं। हम उन्हें इतना अधिक भूल गए हैं कि दूसरे लोगों ने उन्हें सिखाना और उनका मनोरंजन करना आरंभ कर दिया है। मजे की बात तो यह है कि हमें इस बात का पता भी नहीं चला। इससे यह बिल्कुल स्पष्ट है कि हमलोग जनता का परोपकार करने की जो बड़ी-बड़ी बातें बनाते हैं वह केवल एक निर्लज्ज बहाना-मात्र है।

पथभ्रष्ट वैज्ञानिक और कलाकार

एक समय था जब हमारे समाज के जीवन की बागडोर धर्माचार्यों के हाथों में थी। गिरजा-धर्म ने लोगों के कल्याण का वचन दिया और इसके बहाने से अपने को मानव-समाज के जीवन-संघर्ष में योग देने से मुक्त कर लिया। किंतु ज्योंही ऐसा हुआ, धर्म के ठेकेदार अपने कर्तव्यपथ से विचलित हो गए और जनता भी उस धर्म की ओर से विमुख हो गई। गिरजा-धर्म के विनाश का कारण स्वयं उसकी त्रुटियाँ या भूलें नहीं थीं, बल्कि यह कि उसके अनुयायियों ने कौन्स्टैन्टाइन[1] के राज्यकाल में सरकारी अधिकारियों का योग पाकर श्रम के नियमों का परित्याग कर दिया था और उसके फलस्वरूप उनमें जो अकर्मण्यता और विलासिता घुसी उसी ने ईसाई धर्म में त्रुटियों को जन्म दिया। ज्योंही गिरजा के धर्माचार्यों को श्रम से मुक्ति मिली त्योंही उन्होंने उस मानव-समाज के हित का ध्यान छोड़ दिया जिसकी सेवा का भार उन्होंने अपने कंधों पर लिया था और स्वयं अपनी चिंता में संलग्न हो गए। इसी के फलस्वरूप वे अकर्मण्यता और विलासिता के शिकार बने। इसके बाद राज्यतंत्र ने लोकजीवन के नेतृत्व का भार ग्रहण किया। उसने जनता को न्याय, शांति, सुरक्षा, सुव्यवस्था और उसकी आत्मिक तथा भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति का वचन दिया और इसके बदले जिन लोगों ने राज्य की सेवा की उन्हें जीवन के संघर्ष से मुक्ति मिल गई। और जैसे ही सरकारी कर्मचारी दूसरों के श्रम का शोषण करने में समर्थ बने वैसे ही उन्होंने भी वही करना आरंभ कर दिया, जो गिरजा के कर्मचारियों ने किया था। उनके कार्य का लक्ष्य लोक-कल्याण नहीं, बल्कि राज्य का कल्याण बन गया और रोम, फ्रांस, इंग्लैंड, रूस और अमरीका में सभी राज्य-कर्मचारियों ने—शासक से लेकर छोटे-से-छोटे अफसर और कार्यकर्ता तक ने—अपने को अकर्मण्यता और आलस्य में डुबो दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि राज्य पर से

1. रोम का सम्राट् कौन्स्टैन्टाइन महान् (227—337)

लोगों का विश्वास उठ गया और आज हम सभी जगह अराजकता को जानबूझकर एक आदर्श के रूप में उपस्थित किए जाते देख रहे हैं। जनता की आँखों में राज्य के लिए आकर्षक न रह जाने का एकमात्र कारण यह था कि उसके कर्मचारियों ने दूसरे के श्रम का शोषण करना अपना अधिकार समझा।

यही बात वैज्ञानिकों और कलाकारों ने भी राज्य-कर्मचारियों की सहायता से की है। उन्होंने भी अकर्मण्य बनने और दूसरों के श्रम का शोषण करने का अधिकार प्राप्त करने की चेष्टा की और अब वे भी अपने कर्तव्य से च्युत हो गए हैं। वास्तव में इनसे भी भूल केवल इसलिए हुई कि श्रम-विभाजन के अशुद्ध सिद्धांत को स्वीकार करने के पश्चात् उन्होंने दूसरों के श्रम का शोषण करना अपना अधिकार मान लिया और वे स्वयं अपने कर्तव्य के अर्थ को भूल गए। उन्होंने लोकहित को अपने कार्यों का लक्ष्य न मानकर विज्ञान और कला के रहस्यमय कल्याण को अपना ध्येय माना। अपने पूर्वजों की भाँति उन्होंने भी अकर्मण्यता और विलासिता के समक्ष सिर झुका दिया यद्यपि वह विलासिता उतनी शारीरिक नहीं जितनी बौद्धिक थी।

कहा जाता है कि विज्ञान और कला ने मानव-समाज के लिए बहुत कुछ किया है। यह बिलकुल ठीक भी है। ईसाई धर्म और राज्यतंत्र ने भी मानव-समाज को बहुत-कुछ दिया था, किंतु ऐसा इसलिए नहीं हुआ कि उन्होंने अपनी शक्ति का दुरुपयोग किया और उनके कर्मचारियों ने जीवनयापन के लिए निरंतर श्रम करते रहने के उस मानवीय कर्तव्य को भुला दिया, जो सभी मनुष्यों के लिए एक समान है; बल्कि ऐसा इन सब बातों के बावजूद हुआ था।

इसी प्रकार विज्ञान और कला ने भी मानव-समाज को बहुत-कुछ दिया है; किंतु इसका कारण यह नहीं था कि श्रम-विभाजन का बहाना लेकर वैज्ञानिकों को कलाकारों ने श्रमजीवियों की पीठ पर सवारी की, बल्कि असलियत यह थी कि उनके ऐसा करने के बावजूद मानव-समाज को लाभ पहुँचा। रोम का जनतंत्र शक्तिशाली था; इसलिए नहीं कि उसके नागरिक विलासितापूर्ण जीवन व्यतीत करने में समर्थ थे, बल्कि इसलिए कि वहाँ के कुछ नागरिक बड़े ही योग्य थे।

और यही बात कला और विज्ञान की भी है। इसमें संदेह नहीं कि कला और विज्ञान ने मानव-समाज को बहुत-कुछ प्रदान किया है, किंतु इसका कारण यह नहीं है किउनसे संबंधित व्यक्तियों को पहले कभी-कभी और आज सदा अपने श्रम से मुक्त रखने का अवसर प्राप्त है; बल्कि इसका कारण यह है कि ये लोग बड़े ही प्रतिभाशाली व्यक्ति थे और उन्होंने श्रम से मुक्त होने के अवसर से लाभ न उठाकर मानव-समाज को आगे बढ़ाया। जो विद्वान और कलाविद् झूठे श्रम-विभाजन के आधार पर दूसरों के श्रम से लाभ उठाने का अधिकार माँगते हैं, वे सच्चे विज्ञान और सच्ची कला की

सफलता में योग नहीं दे सकते, क्योंकि झूठ सत्य को जन्म नहीं दे सकता।

हम लोग बुद्धिजीवियों को खा-पीकर मस्त, मोटे या दुर्बल देखने के इतने आदी हो गए हैं कि किसी विद्वान् या कलाकार का हल जोतना या खाद ढोना बर्बरतापूर्ण मालूम होता है। हमें ऐसा लगता है कि उसकी सारी विद्वत्ता नष्ट हो जाएगी या खाद की गाड़ी में ही छिन्न-भिन्न हो जाएगी; और उसके हृदय में जो महान् कलात्मक मूर्त्तियाँ विद्यमान हैं वे खाद से गंदी हो जाएँगी। किंतु जब हम यह देखते हैं कि एक वैज्ञानिक अर्थात् सत्य को सिखानेवाला जनसेवक जिस कार्य को स्वयं कर सकता है, उसे करने के लिए वह दूसरों को विवश कर रहा है और अपना आधा समय स्वादिष्ट भोजन को खाने, धूम्रपान करने, गप्पें लड़ाने, वाक्विनोद करने, अखबारों और उपन्यासों को पढ़ने और थिएटर जाने में बिता देता है तो हमें बिलकुल आश्चर्य नहीं होता; क्योंकि हम उसे ऐसा करते देखने के बिलकुल अभ्यस्त हो गए हैं। हम किसी दार्शनिक को किसी जलपानशाला, थिएटर या नाच में देखकर चकित नहीं होते और न हमें यही जानकर ताज्जुब होता है कि हमारी आत्मा को सुख पहुँचानेवाले और ऊँचा उठानेवाले कलाकार यदि अधिक बुरा काम नहीं करते तो कम-से-कम शराब पीने, ताश खेलने और दुश्चरित्र स्त्रियों की संगति में अपना जीवन अवश्य व्यतीत करते हैं।

विज्ञान और कला बड़ी सुंदर वस्तुएँ हैं और यही तो कारण है, उन्हें विलासिता के संसर्ग से दूषित नहीं होने देना चाहिए; अर्थात् वैज्ञानिकों और कलाकारों को अपने को इस मानवीय कर्तव्य से मुक्त नहीं करना चाहिए कि उन्हें स्वयं अपने और दूसरों के जीवन के लिए श्रम करना आवश्यक है। कला और विज्ञान ने मानव-समाज को उन्नति के पथ पर बढ़ाया है, यह बिल्कुल ठीक है; किंतु इसका कारण यह नहीं है कि वैज्ञानिकों और कलाकारों ने श्रम-विभाजन की दुहाई देकर अपने वचन और कर्म से लोगों को बलात्कार का प्रयोग करना सिखाया है और उन्हें दूसरों की निर्धनता और यातना से लाभ उठाने की शिक्षा दी है या प्रकृति के साथ होनेवाले उस संघर्ष में, जिसका सभी मनुष्यों को सामना करना पड़ता है, स्वयं अपने हाथ से कार्य करने के सर्वप्रथम और अत्यंत असंदिग्ध मानवीय कर्तव्य से मुक्त रहने का पाठ पढ़ाया है।

क्या विज्ञान और कला जनता के लिए नहीं हैं?

''लेकिन आज के दिन हम विज्ञान की जो असाधारण उन्नति देखते हैं वह केवल इस श्रम-विभाजन का ही तो फल है और उसका यही तो कारण है कि विज्ञानवेत्ता

और कलाकार अपना भोजन आप उत्पन्न करने की आवश्यकता से मुक्त कर दिए गए हैं''—यह है वह उत्तर जो बुद्धिजीवी देते हैं। वे कहते हैं, ''यदि हरएक व्यक्ति के लिए हल जोतना अनिवार्य होता तो हमें इतनी अद्भुत सफलता न मिल पाती, जितनी कि आज मिली है; आज न तो वह उल्लेखनीय उन्नति दिखाई देती जिसके कारण प्रकृति पर मनुष्य के अधिकार में इतनी वृद्धि हुई है, और न नक्षत्र-संबंधी अन्वेषण ही हो पाते, जिन्होंने मनुष्य के मस्तिष्क पर इतना शक्तिशाली प्रभाव डाला है और हजारों का आना-जाना सुरक्षित बना दिया है— और न हमें आज के स्टीमर, रेल, आश्चर्यजनक पुल, सुरंगें, भाप से चलनेवाले इंजन, तार, फोटो, टेलीफोन, सीने की मशीनें, फोनोग्राफ, बिजली, दूरदर्शी यंत्र, रश्मि-विश्लेषण यंत्र, सूक्ष्मदर्शी यंत्र, क्लोरोफार्म, विषनाशक औषधियाँ और कारबोलिक एसिड ही दिखाई देते। इस प्रकार के जिन पदार्थों पर आज हमारे युग को गर्व है, उन्हें मैं यहाँ गिनाने की चेष्टा नहीं करूँगा। यह काम तो आज प्रायः सभी समाचारपत्रों और लोकप्रिय पुस्तकों में हो रहा है और उनमें आज के युग की सफलताओं के प्रशंसा के खूब पुल बाँधे जा रहे हैं। हम अपनी ये प्रशंसाएँ इतनी अधिक करते हैं और हम अपनी सफलताओं पर इतने अधिक आह्लादित होते हैं कि हमें जूल्स वर्ने[1] की तरह इस बात का पक्का विश्वास हो गया है कि विज्ञान और कला ने जितनी उन्नति हमारे काल में की है, उतनी कभी नहीं की; और चूँकि यह आश्चर्यजनक सफलता श्रम-विभाजन के फलस्वरूप मिली है, इसीलिए यह कैसे संभव है कि हम उसकी सराहना न करें।

मान लिया कि वर्तमान युग में हमने जो उन्नति की है वह वास्तव में अत्यंत उल्लेखनीय, आश्चर्यजनक और असाधारण है। यह भी मान लिया कि हमारे लिए यह परम सौभाग्य की बात है कि हम ऐसे असाधारण युग में रह रहे हैं; लेकिन हमें इन सफलताओं के मूल्य को आत्म-संतुष्टि की तुला पर नहीं आँकना चाहिए, बल्कि श्रम-विभाजन के उसी सिद्धांत की कसौटी पर कसना चाहिए, जिसके समर्थन में ये बातें बखानी जाती हैं। दूसरे शब्दों में हमें आज की सफलताओं का मूल्य इस आधार पर आँकना चाहिए कि वैज्ञानिकों के बौद्धिक श्रम से उन लोगों को कितना लाभ पहुँचा है, जिन्हें वैज्ञानिकों और कलाकारों को श्रम से मुक्त करने के लिए स्वयं श्रम करना पड़ता है। निस्संदेह ये सारी सफलताएँ अत्यंत अद्भुत हैं। किंतु किसी दुर्भाग्य के कारण—जिसे वैज्ञानिक लोग स्वयं स्वीकार करते हैं—इन

1. *विस्मयकारी कहानियाँ लिखनेवाला यूरोप का एक अत्यंत लोकप्रिय कहानीकार (1828—1905)*

सफलताओं से अभी तक श्रमजीवियों की स्थिति सुधरी नहीं, बल्कि हीनतर ही बनी हुई है। यह ठीक है कि आज का मज़दूर पैदल चलने के बजाए रेलगाड़ी से आ-जा सकता है, किंतु इन रेलों के ही कारण तो उसके जंगल जला दिए गए हैं, उसकी रोटी उसकी आँखों से दूर हटा दी गई है और वह ऐसी स्थिति में पहुँचा दिया गया है कि एक प्रकार से वह रेल के मालिकों का दास बन गया है।

इसी तरह यह तो सत्य है कि भाप के इंजिनों और मशीनों की कृपा से आज मज़दूर लोग छपे हुए रद्दी सूती कपड़े खरीद सकते हैं, किंतु इन इंजिनों और मशीनों ने उनकी घर बैठी रोज़ी छीन ली है और उन्हें मिल-मालिकों का पूरी तरह से दास बना दिया है। ऐसे ही यदि यह सत्य है कि आज मज़दूरों को टेलीफोन का प्रयोग करने की स्वतंत्रता है—यद्यपि उनकी आर्थिक स्थिति उन्हें ऐसा करने की अनुमति नहीं देती—तो यह भी छिपा नहीं कि इस टेलीफोन की ही महिमा से उसकी फसल कीमत के बढ़ते ही—और बेचारे को यह मालूम हुए बिना ही कि उसकी फसल की कहीं माँग है—फौरन पूँजीपतियों द्वारा खरीद ली जाती है। यही बात टेलीफोन, दूरदर्शी यंत्रों, काव्य-पुस्तकों, उपन्यासों, थिएटरों, नाचों, संगीतों, चित्र-प्रदर्शनियों आदि की भी है। ये सब चीजें आज विद्यमान तो हैं, किंतु इनसे श्रमजीवियों के जीवन में रत्तीभर भी सुधार नहीं हुआ हैं, क्योंकि दुर्भाग्यवश ये सभी उसकी पहुँच से बाहर हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन आश्चर्यजनक आविष्कारों और कलामय कृतियों ने यदि अभी तक श्रमजीवियों के जीवन को क्षति नहीं पहुँचाई है तो कम-से-कम उनके जीवन में सुधार करने में वे बिल्कुल असफल अवश्य रही हैं—और इस बात से वैज्ञानिक भी सहमत हैं।

अतः यदि हम विज्ञान और कला की सफलता की वास्तविकता को अपनी खुशियों के आधार पर नहीं बल्कि, उसी मापदंड से नापें, जिससे श्रम-विभाजन का समर्थन किया जाता है; अर्थात् यदि हम यह देखें कि इन सफलताओं से मज़दूरों को वास्तव में कितना लाभ हुआ है तो हम देखेंगे कि हम इतनी तत्परता के साथ जो हर्ष और संतोष प्रदर्शित करते हैं उसके लिए कोई दृढ़ आधार नहीं है। माना कि एक किसान रेल की सवारी करता है, उसकी स्त्री छपा हुआ सूती वस्त्र खरीदती है, उनके झोंपड़े में लकड़ी के दीवट के बजाए लैंप जलता है और किसान अपनी सिगरेट दियासलाई से जलाता है। माना कि यह सब है तो सुविधाजनक; किंतु इतने ही से हमें यह कहने का अधिकार कहाँ मिल जाता है कि रेलों और कारखानों से जनता का कल्याण हुआ है? यदि किसान रेल में यात्रा करता है और लैंप, छपे हुए सूती कपड़े और दियासलाइयाँ खरीदता है तो इसका कारण यह है कि उसे ऐसा

करने से रोकना असंभव है। यह बात तो हम सभी लोग जानते हैं कि रेलों और कल-कारखानों का निर्माण मज़दूर जनता के कल्याण के लिए नहीं किया गया है। ऐसी दशा में इन आकस्मिक सुविधाओं को, जिनसे कि किसान संयोगवश लाभ उठा लेते हैं, रेलों आदि की उपयोगिता के प्रमाणस्वरूप क्यों उपस्थित किया जाए? हम सभी लोग जानते हैं कि यदि रेलों और कारखानों का निर्माण करनेवाले विशेषज्ञों और पूँजीपतियों को मजदूरों का कुछ ध्यान आया भी होगा तो केवल यह सोचने के लिए कि उनसे किस प्रकार अधिक-से-अधिक मेहनत कराई जाए और—जैसा कि हम स्वयं रूप में और यूरोप तथा अमरीका में भी देख चुके हैं—उन्हें अपने इस कार्य में पूर्ण सफलता मिली है।

यों तो हर बुरी चीज में कोई-न-कोई अच्छाई होती है। किसी अग्नि-दुर्घटना के बाद हम सुलगते हुए कोयलों से अपना शीत भगा सकते हैं और अपनी सिगरेटें भी जला सकते हैं; लेकिन हम यह कैसे कह सकते हैं कि आग लगाना उपयोगी है। हमें कम-से-कम अपने को धोखे में नहीं रखना चाहिए। रेलों और फैक्टरियों के निर्माण और मिट्टी के तेल और दियासलाइयों के उत्पादन के पीछे जो उद्देश्य छिपा हुआ है उसे हम अच्छी तरह से जानते हैं। इंजीनियर लोग रेलों को या तो सरकार की लिए सैनिक कार्यों के निमित्त बनाते हैं या पूँजीपतियों के लिए आर्थिक उद्देश्यों की परिपूर्ति की दृष्टि से। इसी तरह वे मशीन मिल-मालिक के लिए या स्वयं अपने लाभार्थ या पूँजीपति के लाभ की दृष्टि से बनाते हैं। वे जो-कुछ भी बनाते या सोचते हैं, सरकार या पूँजीपति और धनाढ्य व्यक्तियों के लाभ के लिए करते हैं। उनके आविष्कारों में से जो सबसे अधिक चातुर्यपूर्ण होते हैं—जैसे तोप, टारपीडो, एकांत कारावास की कोठरियाँ, तार आदि—उनका उद्देश्य या तो प्रत्यक्ष रूप से जनता को क्षति पहुँचाना होता है या ऐसे पदार्थों का उत्पादन करना, जो न केवल अनुपयोगी होते हैं बल्कि जनता की पहुँच से भी बाहर होते हैं, जैसे कि बिजली की रोशनी, टेलीफोन और विलासिता बढ़ानेवाले अन्य असंख्य यंत्र। उनका उद्देश्य ऐसी वस्तुओं का निर्माण करना ही होता है, जिनसे लोगों को भ्रष्ट किया जा सकता है और उन्हें अपनी बची-खुची पूँजी को पानी की तरह बहा डालने को प्रेरित किया जा सकता है, जैसे सबसे पहले वोडका, शराब, बीअर, अफीम, तंबाकू और फिर बाद में छपे हुए सूती कपड़े, रूमाल और ऐसी-ही-ऐसी हर तरह की छोटी-मोटी चीजें।

यदि वैज्ञानिकों के आविष्कार और इंजीनियरों के काम जनता के लिए कभी-कभी उपयोगी सिद्ध होते हैं—जैसे कि रेल, छपे हुए सूती कपड़े, लोहे के बर्तन, हँसिया आदि—तो इससे यही प्रमाणित होता है कि संसार की प्रत्येक वस्तु एक-दूसरे से संबंधित है और प्रत्येक क्षतिपूर्ण कार्य से भी उन लोगों तक को लाभ होने

की संभावना हो सकती है जिनके लिए ये क्रियाएँ साधारणत: हानिकारक होती हैं।

वैज्ञानिक और कलाकार अपनी क्रियाओं को जनता के लिए उपयोगी होने का दावा तभी कर सकते हैं, जब वे मजदूरों की सेवा करना अपना लक्ष्य बना लें—ठीक उसी तरह जैसे आज उन्होंने सरकारों और पूँजीपतियों की सेवा को अपना ध्येय मान रखा है। हम भी उनके कार्यों की उपयोगिता को तभी स्वीकार कर सकते हैं जब वे जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति को अपना ध्येय मानें। किंतु उनमें से एक भी ऐसा नहीं करता।

वैज्ञानिक लोग तो अपने उन पुनीत कार्यों में लगे हुए हैं जिनसे वनस्पति तथा प्राणियों के जीवन के आधारतत्त्व का ज्ञान प्राप्त होता है और तारकों के दृष्टक विश्लेषण आदि फलीभूत होते हैं, किंतु किस प्रकार की कुल्हाड़ी से या किस ढंग के कुल्हाड़ी के हत्थे से काटने का काम सबसे अच्छा हो सकता है, किस तरह की आरी सबसे अच्छा काम देती है, किस ढंग से आटा सबसे अच्छा गूँधा जा सकता है, किस तरह के आटे का प्रयोग करना चाहिए, किस तरह उसका खमीर उठाया जाए, किस तरह आग जलानी चाहिए, किस तरह चूल्हा सुलगाना चाहिए, क्या खाना और क्या पीना चाहिए, किस तरह का कुकुरमुत्ता खाया जा सकता है और किस तरह उसकी सब्जी सबसे अच्छी तरह बनाई जा सकती है? इन सब प्रश्नों पर विज्ञान कभी ध्यान नहीं देता, यद्यपि सच पूछिए तो ये सब विज्ञान के ही काम हैं।

मैं जानता हूँ कि विज्ञान की व्याख्या ही यह है कि वह एक निरर्थक वस्तु हैं, किंतु ऐसा कहना एक अत्यंत धृष्टतापूर्ण बहाना-मात्र है। विज्ञान का काम लोगों की सेवा करना है। हमने तार, टेलीफोन और फोनोग्राफ तो बनाए हैं, किंतु लोगों के वास्तविक जीवन और कार्यों में हमने क्या उन्नति की है? यह कि हमने बीस लाख जंतुओं का पता लगा लिया है? किंतु क्या हमने बाइबिल के युग के बाद से किसी एक भी नए पशु को पालतू बनाया है? आज जितने भी पशु हैं, वे तो उससे भी पहले के पालतू बनाए हुए हैं। हिरण, बारहसिंगा, तीतर, बटेर आदि ये सब अभी जंगली अवस्था में ही हैं। हमारे वनस्पति-विज्ञानवेत्ताओं ने तंतु का पता लगा लिया है और तंतु के अंदर वनस्पति तथा प्राणियों के जीवन के आधारतत्त्व का, और इस तत्त्व के अंदर किसी अन्य वस्तु का, और उस अन्य वस्तु के भीतर भी किसी दूसरी वस्तु को ढूँढ़ निकाला है। स्पष्टत: अभी यह क्रम बहुत दिनों तक समाप्त नहीं होगा; क्योंकि उसका कोई अंत हो ही नहीं सकता। यही कारण है कि वैज्ञानिक अपना ध्यान उन पदार्थों पर नहीं दे पाते, जिनकी जनता को आवश्यकता है। और फिर, प्राचीन मिस्री और यहूदी काल से—जबकि गेहूँ और मसूर की खेती पहले से ही हुआ करती थी—आजकल हमने आलू को छोड़कर जनता के खाद्य पदार्थों में

एक पौधे की भी वृद्धि नहीं की और आलू भी हमें विज्ञान ने नहीं दिया है। विज्ञान ने तो पनडुब्बियों को नष्ट करनेवाले गोलों, शौचालयों के लिए नालियों आदि का आविष्कार किया है। लेकिन हमारे चर्खे, किसान स्त्रियों के करघे, गाँव के हल, कुल्हाड़ी, मूसल, हेंगी, जुआ और बाल्टी आदि आज भी उसी अवस्था में हैं, जिस अवस्था में रूरिक[1] के समय में थे, और यदि इनमें कुछ परिवर्तन हुआ भी है तो वह वैज्ञानिकों ने नहीं किया है।

यही बात कला के संबंध में भी सत्य है। आज अनगिनत लोग उच्च कोटि के लेखक माने जाते हैं। हमने उनका बड़ी सूक्ष्मता के साथ विश्लेषण किया है, उन पर ढेरों आलोचनाएँ लिखी हैं और उन आलोचनाओं की आलोचनाएँ और फिर उनकी आलोचलाएँ की हैं। हमने चित्रों के संग्रह किए हैं, कला की सभी शैलियों का ध्यानपूर्वक मनन किया है और इतने वृन्दवादनों तथा नाट्यसंगीतों का आविष्कार किया है कि उन्हें सुनना स्वयं हमारे लिए कठिन हो गया है। किंतु हमने लोकगाथाओं और लोकगीतों में क्या वृद्धि की है? हमने जनता को कौन-से चित्र और कौनसे संगीत दिए हैं? जन-साधारण के लिए तो पुस्तकें और तस्वीरें निकोलस की गली[2] में तैयार होती हैं और तूला[3] में बाजे आदि बनते हैं; लेकिन इनके निर्माण में बुद्धिजीवियों ने कोई भाग नहीं लिया है।

सबसे अधिक स्पष्ट और आश्चर्य की बात तो यह है कि विज्ञान और कला के जिन विभागों को जनता के लिए उपयोगी होना चाहिए, उनके ही कार्य की दिशा गलत है और इस ग़लत दिशा के कारण वे उपयोगी न होकर हानिकारक सिद्ध होते हैं। इंजीनियर, डॉक्टर, अध्यापक, कलाकार, लेखक इन सभी को स्वयं अपने पेशे के कारण जनता की सेवा करनी चाहिए; किंतु वास्तव में होता क्या है? आज की जो प्रवृत्ति है, उससे लोगों को उल्टे हानि पहुँच रही है।

इंजीनियरों और मिस्त्रियों का काम करने के लिए पूँजी चाहिए, बिना पूँजी के वे कुछ नहीं कर सकते। उनका सारा ज्ञान ही कुछ इस प्रकार का होता है कि उसे व्यवहार में लाने के लिए, उन्हें पूँजी और काफी मजदूरों की आवश्यकता है। स्वयं अपने खर्च के लिए, उन्हें प्रतिवर्ष कम-से-कम 1500 से 2000 रूबल तक चाहिए और यही कारण है कि वे गाँव में नहीं रह सकते; क्योंकि वहाँ कोई उन्हें इतना

1. *रूस का प्रथम राजकुमार (830—879)*
2. *यह गली मास्को के बीचोबीच है जहाँ टॉल्सटॉय के समय में किसानों आदि के लिए सस्ती पुस्तकें बिका करती थीं।*
3. *मास्को का संगीत-केंद्र।*

पारिश्रमिक नहीं दे सकता। अर्थात् उनका पेशा ही उन्हें जनता की सेवा करने से रोकता है। अंकगणित का उच्च ज्ञान होने के कारण वे किसी पुल के मेहराब का आकार निश्चित कर सकते हैं, किसी मोटर की शक्ति और कार्यक्षमता को आँक सकते हैं और ऐसे-ऐसे ही दूसरे कार्य भी कर सकते हैं; किंतु जब उनके सामने किसान की मेहनत की सीधी-सीधी समस्याएँ आ खड़ी होती हैं तो वे मानो किंकर्तव्यविमूढ हो जाते हैं। हल और बैलगाड़ी का सुधार किस तरह से किया जाए और नदी, नालों से खेतों को पानी किस तरह से पहुँचाया जाए, ये सब बातें ऐसी हैं, जिन्हें वे छोटे-से-छोटे किसान से भी कम जानते और समझते हैं। उन्हें तो बड़े-बड़े कारखाने चाहिए, अपनी आवश्यकतानुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के काम करनेवाले व्यक्ति चाहिए। और इतना ही नहीं, बल्कि विदेशों से मंगाई हुई मशीनें चाहिए और तब जाकर वे कोई प्रबंध कर सकते हैं। किंतु आज जो लाखों मजदूरों की दशा है, उसमें वे किसी प्रकार का भी सुधार करने में असमर्थ हैं। उनके अपने पेशे, अपनी आदतें और आवश्यकताएँ ऐसी हैं, जो उन्हें ऐसे काम के लिए बिल्कुल असमर्थ बना देती हैं।

डॉक्टरों को स्थिति तो और भी खराब है। उनकी कल्पित विद्या भी कुछ इस प्रकार की है कि वे केवल उन्हीं लोगों को आरोग्य प्रदान कर सकते हैं, जो स्वयं कुछ नहीं करते और दूसरों के श्रम पर अधिकार जताते हैं। वैज्ञानिक रूप से काम करने के लिए, उनको अनगिनत प्रकार के क़ीमती औज़ारों, दवाओं, स्वास्थ्यप्रद कमरों, भोजन जल आदि की आवश्यकता होती है। उन्हें अपनी तनख्वाह तो चाहिए ही, साथ-ही-साथ उन्हें ये खर्चे भी चाहिए, ताकि एक रोगी को अच्छा करने में वे उन सैकड़ों व्यक्तियों को भूखा मार सकें, जो इन खर्चों को बरदाश्त करते हैं। उन्होंने राजधानियों में ऐसे लब्धप्रतिष्ठ व्यक्तियों की देख-रेख में रहकर अध्ययन किया है, जो केवल उन लोगों की चिकित्सा करते हैं, जिन्हें वे अस्पतालों में रख सकते हैं या जो चिकित्सा कराते समय उन यंत्रों को खरीद सकते हैं, जिनकी चिकित्सा के लिए आवश्यकता है और जो फौरन जलवायु-परिवर्तन के लिए एक छोर से दूसरे छोर पर जा सकते हैं। इन लोगों की विद्या कुछ इस प्रकार की होती हैं कि छोटे स्थानों और गाँवों में काम करनेवाले डॉक्टरों को हर समय यह शिकायत बनी रहती है कि उन्हें किसानों और मजदूरों की चिकित्सा करने के साधन प्राप्त नहीं हैं, और वे इतने निर्धन हैं कि रोगियों को स्वास्थ्यप्रद परिस्थितियों में नहीं रख सकते। साथ-ही-साथ ये डॉक्टर यह भी शिकायत करते हैं कि उनके पास अस्पताल नहीं हैं, वे सारे काम को अकेले नहीं कर सकते, उन्हें और अधिक सहकारी डॉक्टर और शिक्षित सहयोगी चाहिए, इस सबका मतलब क्या है? इसका मतलब यह है कि जीवन-निर्वाह के

साधनों की कमी ही जनसाधारण की सबसे बड़ी विपदा है, इसी के कारण उन्हें बीमारियाँ होती हैं, इसी के कारण बीमारियाँ फैलती हैं तथा इसी के कारण उनकी चिकित्सा नहीं हो पाती। और विज्ञान है कि श्रम-विभाजन का झंडा लहराकर अपने सहकारियों को इन लोगों की सहायता के लिए बुलाता है। उसने अपने को पूर्णरूप से धनिकों के अनुकूल बना लिया है और फलस्वरूप उसे केवल उन लोगों की चिकित्सा करने की चिंता रहती है, जो सर्वसम्पन्न हैं। ये दवाएँ और तरीके वे उन लोगों को भी बताते हैं जिनके पास खर्च करने को फूटी कौड़ी भी नहीं है। किंतु डाक्टरों के पास साधन नहीं है और इसलिए ये साधन इन किसानों से प्राप्त किए जाने चाहिए, जो बीमार पड़ते हैं और साधनों की कमी के कारण अच्छे नहीं किए जाते।

जन-चिकित्सा के समर्थक सदा यही कहते रहते हैं कि अभी इस विद्या का बहुत ही कम विकास हुआ है और स्पष्टत: ऐसी ही बात है भी; क्योंकि —भगवान् बचाए—यदि यह विद्या अधिक विकसित हुई और (जैसा कि प्रस्ताव किया जाता है) एक-एक जिले में दो-दो डॉक्टरों, दाइयों और शिक्षित महिला सहकारियों के बजाए बीस-बीस लोग जनता के सिर पर बोझ बनाकर भेजे गए तो फिर शीघ्र ही वह अवस्था आ जाएगी जब कोई व्यक्ति नीरोग करने के लिए रह ही नहीं जाएगा। चिकित्सा-शास्त्र के समर्थक जनता को वैज्ञानिक ढंग से डॉक्टरी सहायता पहुँचाने की जो बात किया करते हैं वह बिल्कुल ही भिन्न प्रकार की होती है और इस प्रकार की चिकित्सा-पद्धति अभी आरंभ भी नहीं हुई। इसका सूत्रपात तभी हो सकता है जब वैज्ञानिक लोग, शिल्पवेत्ता या डॉक्टर श्रम-विभाजन को उचित नहीं समझेंगे; अर्थात् आज दूसरे लोगों के श्रम का जो शोषण किया जाता है, उसे अनुचित मानेंगे और जनता को वे जो सहायता देते हैं, उसके बदले लाखों रूबल तो दूर रहें, एक हजार या पाँच सौ रूबल माँगना भी अपना अधिकार नहीं समझेंगे, बल्कि मजदूरों और किसानों के बीच उन्हीं जैसी परिस्थितियों में रहकर जनता की मिस्त्रीगिरी, इंजीनियरी, सफाई और दवा-संबंधी समस्याओं को हल करने में अपने ज्ञान का उपयोग करेंगे। किंतु इस समय तो वैज्ञानिक लोग, जो मज़दूर जनता के श्रम के भरोसे जीवन-निर्वाह करते हैं, जनता के जीवन की स्थिति को बिल्कुल भूल गए हैं। वास्तव में उनकी इस स्थिति की वे उपेक्षा करते हैं और इस पर क्रोध प्रकट करते हैं कि उनका मिथ्या ज्ञान जनसाधारण के व्यवहार में नहीं आता।

इंजीनियरिंग की तरह चिकित्सा का क्षेत्र भी अभी अछूता है। श्रमजीवियों की वर्तमान वास्तविक अवस्था को दृष्टि में रखते हुए श्रम के समय का किस प्रकार सबसे अच्छा विभाजन किया जाए, किस प्रकार अपने को सबसे अधिक पोषण दिया

जाए, कौन-सा वस्त्र किस रूप में, कब और कैसे पहनने से सबसे मनोरम दिखाई देगा, किस प्रकार पैरों को ढँककर रखा जाए, किस प्रकार ठंड और सील से बचा जाए, किस प्रकार बच्चों को अच्छी तरह नहलाया-धुलाया और भोजन दिया जाए—ये सब प्रश्न ऐसे हैं, जिन पर अभी तक विचार नहीं किया गया है। यही बात वैज्ञानिक शिक्षकों के संबंध में भी कही जा सकती है। विज्ञान ने भी शिक्षण की व्यवस्था कुछ ठीक इसी ढंग से कर रखी है कि वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार केवल धनिकों को ही शिक्षा मिल पाती है और इंजीनियरों तथा डॉक्टरों की भाँति ये शिक्षक भी अनायास ही पैसे के आगे सिर झुका देते हैं। रूस में तो ये लोग विशेष रूप से सरकार के दास बन जाते हैं।

इसके सिवा और हो ही क्या सकता है? आज की आदर्श व्यवस्थाओं से विभूषित स्कूल—जिनमें बेंचें, ग्लोब, नक्शे, पुस्तकालय, विद्यार्थियों और अध्यापकों के लिए कार्य सूची आदि होते हैं,—ऐसे होते हैं जिनसे गाँव का खर्चा दुगुना हो जाता है। साधारणत: स्कूल जितने ही वैज्ञानिक ढंग से सुव्यवस्थित होते हैं, उतने ही वे अधिक खर्चीले होते हैं। विज्ञान का प्रबंध है ही ऐसा।

आजकल लोगों को काम के लिए अपने बच्चों की जरूरत पड़ती है और लोग जितने अधिक निर्धन होते हैं, उतनी ही अधिक उनकी यह आवश्यकता होती है। विज्ञान के समर्थक कहते हैं कि शिक्षा से अब भी लोगों को लाभ होता है और जब यह विज्ञान और भी विकसित हो जाएगा तो और भी अच्छा रहेगा। किंतु यदि शिक्षा का विकास हुआ और एक जिले में बीस स्कूलों के बदले सौ वैज्ञानिक स्कूल स्थापित हो गए और यदि इन स्कूलों के लिए जनसाधारण को व्यय करना पड़ा तो वे और भी निर्धन हो जाएँगे और उन्हें बच्चों से मेहनत कराने की और अधिक आवश्यकता पड़ेगी।

'तो फिर क्या किया जाए?' लोग पूछते हैं। उत्तर मिलता है कि सरकार स्कूल स्थापित करेगी और शिक्षा को अनिवार्य बना देगी, जैसा कि यूरोप में होता है। किंतु रुपया तो फिर भी जनसाधारण से ही लिया जाएगा, जिन्हें और भी अधिक परिश्रम करना पड़ेगा तथा जिन्हें और भी कम अवकाश मिलेगा। अत: अनिवार्य शिक्षा सफल नही हो सकेगी। ऐसी अवस्था में शिक्षकों के लिए मुक्ति का एक ही मार्ग रह जाएगा, वह यह कि वे मजदूरों-जैसा जीवन बिताएँ और उन्हें शिक्षा प्रदान करने के बदले में मजदूर लोग जो कुछ भी स्वेच्छा से दें वही स्वीकार करें। अपनी इस ग़लत प्रवृत्ति के कारण विज्ञानवेत्ता जनता की सेवा नहीं कर पाते, जो कि उनका कर्तव्य है। हमारे बुद्धिजीवियों की यह प्रवृत्ति कला के क्षेत्र में तो और भी स्पष्ट हो जाती है। कला को स्वभावत: जनता के लिए सुलभ होना चाहिए। विज्ञान तो इस

मूर्खतापूर्ण बहाने की आड़ ले भी सकता है कि विज्ञान विज्ञान के लिए काम कर रहा है और जब वैज्ञानिक लोग विज्ञान का पूर्ण तरह से विकास कर लेंगे तो वह जनता की भी पहुँच के भीतर आ जाएगा। किंतु कला—यदि वह सच्ची कला है तो—ऐसी होनी चाहिए कि सब लोग, विशेष रूप से वे लोग जो उसकी सृष्टि करते हैं, उसतक आसानी से पहुँच जाएँ। किंतु स्थिति इसके बिल्कुल विपरीत है। आज कलाकारों पर स्पष्ट रूप से यह दोषारोपण किया जा सकता है कि वे न जनता की सेवा करना चाहते हैं और न ऐसा करने में समर्थ ही हैं।

चित्रकार को अपनी महाकृतियों की रचना के लिए इतनी बड़ी चित्रशाला चाहिए, जिसमें ऐसे कम-से-कम चालीस बढ़ई या मोची एक साथ बैठकर काम कर सकें जो आज या तो स्थानाभाव के कारण ठिठुर रहे हैं या किसी बंद गंदी जगह में पड़े-पड़े घुट-घुटकर मर रहे हैं। इतना ही काफी नहीं है, उस चित्रकार को प्रकृति, पोशाक और यात्रा की भी आवश्यकता है। कला- विद्यापीठ ने जन-साधारण से जमा किए हुए लाखों रूबल कला को प्रोत्साहन देने के लिए व्यय किए हैं, किंतु कला-कृतियाँ केवल महलों में लटकती हैं; जनता तो इन्हें न समझती है न चाहती है।

इसी तरह संगीतज्ञों को अपने महान् संगीत का प्रदर्शन करने के लिए सफेद नेकटाई की एक विशेष ढंग की पोशाक पहने हुए लगभग 200 व्यक्तियों को एकत्र करने की आवश्यकता पड़ती है और एक नृत्य-संगीत के लिए लाखों रूबल खर्च करने पड़ते हैं। फिर भी यदि जन-साधारण को कभी कला की इस रचना को सुनने का सौभाग्य प्राप्त हो भी जाए तो भी उसमें बेचैनी और क्लांति के अतिरिक्त और किसी भावना की उत्पत्ति नहीं होगी।

लेखों और कहानियों के संबंध में तो यह सोचा जा सकता है कि उन्हें किन्हीं विशेष परिस्थितियों, रंगशालाओं, प्राकृतिक दृश्यों; वृंदवादकों और अभिनेताओं की आवश्यकता नहीं है। किंतु हम देखते हैं कि एक लेखक को भी अपने महाग्रन्थ के निर्माण के लिए आरामदेह मकान और जीवन-संबंधी समस्त मनोरंजनों के अतिरिक्त कितने ही अन्य उपकरणों की भी आवश्यकता है, जैसे यात्रा, राजमहल, अध्ययनशाला, थिएटर, संगीत आदि। यदि लेखक स्वयं नहीं कमा पाते तो उन्हें पेंशन दी जाती है, जिससे कि वे पहले की अपेक्षा, अच्छा लिख सकें। किंतु अंतत: परिणाम वही निकलता है। उनकी जिन रचनाओं का हम इतना आदर करते हैं, वे जनता के लिए कूड़े का ढेरमात्र होती है; क्योंकि उसे इनकी आवश्यकता ही नहीं।

अब मान लीजिए कि वैज्ञानिकों और कलाकारों की इच्छा के अनुसार आत्मिक भोजन उत्पन्न करनेवालों की संख्या बढ़ा दी जाए और हर गाँव में एक चित्रशाला बनाना, एक वृंदवादन की स्थापना करना और कलाकार जैसी परिस्थिति को आवश्यक

समझते हैं वैसी परिस्थिति में एक लेखक रखना अपरिहार्य कर दिया जाए, तो फिर क्या हो ? मैं समझता हूँ कि श्रमजीवी लोग इन निरर्थक व्यक्तियों का पेट भरने के लिए विवश होने से पहले इस बात की शपथ ले लेंगे कि वे न कभी कोई चित्र देखेंगे, न संगीत सुनेंगे, न कोई कविता या कहानी पढ़ेंगे।

लेकिन पूछा जा सकता है कि कलाकार जनता की सेवा क्यों न करें ? हर झोंपड़े में मूर्तियाँ और चित्र होते हैं। हर किसान मर्द और हर किसान औरत गाती है। उसमें से बहुतों के पास तो बाजे भी होते हैं और ये सब कहानियाँ कहते हैं और कविताओं का पाठ करते हैं और कितने ही तो पढ़ते भी हैं। ऐसी अवस्था में क्या कारण है कि ये दो चीजें, जो एक-दूसरे के लिए ताले और ताली की तरह बनाई गई हैं, एक-दूसरे से इतनी पृथक् हो गई हैं कि उन्हें मिलाने की अब कोई संभावना ही दिखाई नहीं देती है।

किसी चित्रकार से ज़रा यह तो कहिए कि वह चित्रशाला, नग्न नमूनों और वेश-भूषाओं के बिना ही सस्ती तस्वीरें बनाया करे! वह तत्काल आपको उत्तर देगा कि यह तो कला का परित्याग है। इसी तरह किसी संगीतज्ञ से कहकर देखिए कि वह हारमोनियम या सितार बजाकर गाँव की स्त्रियों को गाना सिखाया करे। किसी कवि या लेखक से कहकर देखिए कि वह काव्य, उपन्यास या व्यंग्य लिखना छोड़कर निरक्षर जनता की समझ में आने योग्य गीत, पुस्तकें, कथाएँ और परियों की कहानियाँ लिखा करें! ये सब-के-सब आपको उत्तर देंगे कि आप पागल हो गए हैं। किंतु क्या यह और भी बड़ा पागलपन नहीं है कि जिन लोगों ने हमारा पालन-पोषण किया है, जो हमें खाना और कपड़ा देते हैं, उन्हें आध्यात्मिक भोजन देने का विश्वास दिलाकर हमने अपने को श्रम से मुक्त तो कर लिया है, किंतु अब अपने वचन को इतना भूल गए हैं कि हमें उन लोगों के योग्य भोजन तैयार करने की कला ही याद नहीं रह गई है और हम अपनी इस कर्तव्यच्युति को अपना एक विशेष गुण मानने लगे हैं ?

'लेकिन ऐसा तो सभी जगह होता है', उत्तर में कहा जाता है। यदि ऐसा सभी जगह होता है तो वह निस्संदेह अमानुषिक है, और उस समय तक अमानुषिक रहेगा जब तक कि लोग श्रम-विभाजन का बहाना लेकर और जनसाधारण को आत्मिक भोजन का वचन देकर उनके श्रम के प्रति फल को स्वयं हड़पते रहेंगे। विज्ञान और कला से जनसाधारण की सेवा तभी संभव है जब वैज्ञानिक और कलाकार जनसाधारण के साथ जनसाधारण के समान ही जीवन बिताएँ और बदले में कुछ माँगे बिना ही उन्हें अपनी वैज्ञानिक और कला-संबंधी सेवाएँ समर्पित करें—ऐसी सेवाएँ जिन्हें स्वीकार और अस्वीकार करने की पूर्ण स्वतंत्रता जनसाधारण को हो।

झूठा दावा

यह कहना कि विज्ञान और कला की क्रियाओं से मानव-समाज की उन्नति में सहायता मिलती है, ऐसा ही कहने-जैसा है कि धार पर बहती हुई नौका में बैठे हुए लोगों का ऊटपटाँग ढंग से पतवार पटकना उसकी गति में सहायक होता है। सत्य यह है कि इस क्रिया से नौका की गति में रुकावट-भर पड़ती है। आज का तथाकथित श्रम-विभाजन, अर्थात् दूसरों के परिश्रम के प्रतिफल को बलात् हड़प जाने की प्रवृत्ति—जो कि हमारे युग के वैज्ञानिकों और कलाकारों के क्रियाकलाप का आवश्यक आधार बन गई है— सदा से ही मानव-समाज की प्रगति की मंदता का मुख्य कारण रही है और अब भी है। इसका प्रमाण हमें स्वयं वैज्ञानिकों के इस कथन में मिलता है कि संपत्ति का असमान वितरण होने के कारण विज्ञान और कला की सफलताओं से लाभ उठाना मजदूरों की क्षमता से बाहर है।

मार्के की बात तो यह है कि कला और विज्ञान में जितनी सफलता मिल रही है, उसके अनुपात में संपत्ति-विभाजन का यह अनौचित्य घट नहीं रहा है, बल्कि बढ़ता ही जा रहा है। इसमें कोई आश्चर्य की बात भी नहीं है क्योंकि धन का अनुचित विभाजन उस श्रम-विभाजन के सिद्धांत का परिणाम-मात्र है जो वैज्ञानिक और कलाकार लोग अपने स्वार्थ के लिए सिखाते फिरते हैं। विज्ञान श्रम-विभाजन का समर्थन यह कहकर करता है कि यह तो एक अपरिवर्तनीय नियम है। वह यह देखता है कि श्रम-विभाजन पर आधारित धन-विभाजन अनुचित और अमंगलकारी होता है; फिर भी यह दावा करता है कि उसके कार्यों से (जिनमें श्रम-विभाजन का सिद्धांत स्वीकार कर लिया गया है) मानव-समाज को लाभ होगा। इसका तो अर्थ यह हुआ कि जो लोग दूसरों के श्रम का उपभोग करते हैं वे यदि ऐसा बहुत अधिक समय तक और दिन-प्रति-दिन अधिक मात्रा में करते जाएँ तो संपत्ति का यह अनुचित विभाजन, अर्थात् दूसरों के श्रम का शोषण, समाप्त हो जाएगा।

कुछ लोग ऐसे हैं, जो एक सतत गतिशील झरने के पास खड़े होकर, उसके जलप्रवाह को प्यासे लोगों की ओर से मोड़ने का प्रयत्न करते रहते हैं, फिर भी दावा यह करते हैं कि वे ही उस जल को उत्पन्न करते हैं और थोड़े ही समय में सबके लिए प्रचुर मात्रा में जल एकत्र हो जाएगा। किंतु यह जल तो सदा प्रवाहित होता रहा है और अब भी अबाध रूप से बहता हुआ समस्त मानव-समाज की तृष्णा को शांत करता है। निस्संदेह वह उन लोगों के उद्यम के फलस्वरूप उत्पन्न नहीं हुआ, जो स्रोत के पास खड़े होकर जल-प्रवाह को रोकने का प्रयत्न करते रहते हैं। असलियत तो यह है कि उनकी चेष्टाओं के बावजूद यह जल बहता और फैलता ही रहता है।

एक सच्चे गिरजाघर का अस्तित्व सदा रहा है। दूसरे शब्दों में यों कहिए कि ऐसे व्यक्ति सदा पाए जाते रहते हैं जो अपने समय के उच्चतम सत्य के संबंध में एकमत रहे हैं और उनका संगठन सदा ही उस गिरजे से भिन्न रहा है जो अपने को गिरजा कहने का दावा करता है। इसी प्रकार विज्ञान और कला का भी अस्तित्व इस संसार में सदा रहा है; किंतु यह विज्ञान और कला वह नहीं है जो आज अपने को विज्ञान और कला कहकर पुकारते हैं।

जो लोग अपने को एक विशेष काल के विज्ञान और कला का प्रतिनिधि मानते हैं वे सदा यह समझते हैं कि उन्होंने बड़े-बड़े आश्चर्यजनक कार्य किए थे और अब भी कर रहे हैं। वे यह भी समझते हैं कि उनसे विलग होकर न किसी सच्चे विज्ञान और कला का अस्तित्व कभी था और न अब है यह धारणा पूर्वकाल के भिन्न-भिन्न वैज्ञानिकों और कलाकारों की रही है और आज के भी वैज्ञानिकों और कलाकारों की है।

विज्ञान और कला की प्राचीनता

"किंतु विज्ञान और कला को अस्वीकार करने का अर्थ यह है कि आप उस वस्तु को अस्वीकार कर रहे हैं, जिस पर मानव-समाज का जीवन आश्रित हैं।"—यह उत्तर मुझे लोग सदा दिया करते हैं और मेरे तर्कों को इसी तरह कुछ विचार किए बिना ही टाल देते हैं। वे मेरे संबंध में कहते हैं, "अरे, वह तो विज्ञान और कला को नहीं मानता। वह तो चाहता है कि मनुष्य एक बार फिर अपनी जंगली अवस्था में रहने लगे, इसलिए उसकी बातों को सुनने और उससे वाद-विवाद करने से क्या लाभ?"

किंतु यह मेरे प्रति अन्याय है। यही नहीं कि मैं विज्ञान की (अर्थात् मानव-समाज के तर्कसंगत कार्य-कलाप की) और कला की (अर्थात् उक्त तर्कसंगत कार्य-कलाप की अभिव्यक्ति की) अवहेलना नहीं करता, बल्कि मैं जो कुछ भी कहता हूँ, विज्ञान और कला की खातिर ही कहता हूँ; ताकि वर्तमान युग की भ्रामक शिक्षा की कृपा से आज मानव-समाज जिस जंगली अवस्था की ओर बड़ी तेज़ी के साथ बढ़ा जा रहा है उससे वह बच सके। मेरे तर्क-वितर्क का एकमात्र उद्देश्य यही है।

मानव-समाज के लिए विज्ञान और कला उतने ही आवश्यक हैं, जितने अन्न, जल और वस्त्र— बल्कि इनसे भी अधिक आवश्यक हैं। किंतु उनके आवश्यक होने का कारण यह नहीं है कि हम उन्हें ऐसा समझते हैं, बल्कि केवल यह कि वे वास्तव में मानव-समाज के लिए आवश्यक हैं। यदि लोग सूखी घास मनुष्य के

शारीरिक उपभोग के लिए तैयार करते हैं तो मेरा केवल यह मान लेना कि वह मनुष्य का खाद्य पदार्थ है, उसे खाद्य पदार्थ नहीं बना सकता। मुझे यह नहीं कहना चाहिए कि अगर सूखी घास एक आवश्यक खाद्य पदार्थ है तो उसे आप खाते क्यों नहीं। खाद्य पदार्थ आवश्यक तो होता है, किंतु मैं जो चीज़ खाने को कह रहा हूँ वह शायद खाने लायक नहीं है।

यह बात विज्ञान और कला के साथ भी हुई है। हम समझते हैं कि यदि किसी यूनानी शब्द के साथ 'लॉजी' अर्थात् 'शास्त्र' शब्द जोड़ दें और उसे विज्ञान कहने लगें तो वह विज्ञान हो जाएगा। इसी प्रकार हम सोचते हैं कि यदि किसी अश्लील कार्य को—जैसे कि नग्न स्त्रियों के नृत्य को—किसी युनानी शब्द से संबंधित करने लगें और उसे कला कहकर पुकारने लगे तो वह कला हो जाएगा। किंतु हम इस प्रकार की बातें चाहें कितनी भी क्यों न कहें, विज्ञान और कला के नाम पर आजकल हम जिन कार्यों में संलग्न हैं—जैसे कि कीटाणुओं की गणना करना, आकाश-गंगा के रासायनिक अंगों का अन्वेषण करना, जलपरियों और ऐतिहासिक दृश्यों का चित्रण करना या कहानियाँ और नाटक लिखना—ये सब कार्य उस समय तक विज्ञान या कला नहीं हो सकते जब तक कि वे लोग जिनके लिए ये किए जाते हैं, इन्हें स्वेच्छा से इस रूप में स्वीकार न कर लें। अभी तक ये इस रूप में स्वीकार नहीं किए गए हैं।

खाद्य पदार्थ उत्पन्न करने का अधिकार यदि केवल कुछ इने-गिने लोगों के हाथों में हो और शेष लोगों को इस अधिकार से वंचित कर दिया जाए या ऐसा करना उनके लिए असंभव कर दिया जाए तो मैं समझता हूँ कि भोजन के गुण में न्यूनता आ जाएगी। यदि अन्न के उत्पादन का एकाधिकार रूसी किसानों को दे दिया जाए तो काली रोटी, क्वास, आलू और प्याज़ के अतिरिक्त और कुछ उत्पन्न ही न हो, क्योंकि ये ही खाद्य पदार्थ उन्हें प्रिय तथा अनुकूल हैं। इसी प्रकार यदि विज्ञान और कला का एकाधिकार भी किसी जाति-विशेष को सौंप दिया जाए तो मानव-समाज के इन श्रेष्ठतम कामों की भी ऐसी ही दशा हो जाएगी। अंतर केवल यह होगा कि खाद्य पदार्थ—अर्थात् शारीरिक भोजन—तो प्रकृति से कुछ भिन्न नहीं होगा, क्योंकि काली रोटी और प्याज़ दोनों ही अधिक स्वादिष्ट न होते हुए भी स्वास्थ्यदायक तो हैं ही; किंतु मानसिक भोजन में अत्यधिक अंतर पड़ने की संभावना रहेगी और कुछ लोगों को ऐसे मानसिक भोजन पर दीर्घ काल तक आश्रित रहना पड़ेगा जो उनके लिए न केवल नितांत अनावश्यक, बल्कि हानिकारक और विषपूर्ण भी होगा। वे अफीम खा-खाकर और शराबें पी-पीकर धीरे-धीरे अपनी मृत्यु तक बुला लेंगे और जनता को भी इन्हीं का उपयोग करने को कहेंगे।

हमारे साथ यही बात हुई है और इसका कारण यह है कि वैज्ञानिकों और कलाकारों को एक विशिष्ट पद प्राप्त है। इसके अतिरिक्त अब विज्ञान और कला संपूर्ण मानव-समाज की तर्कसंगत प्रवृत्ति के प्रतिरूपक नहीं रह गए हैं, बल्कि उन इने-गिने व्यक्तियों की क्रियाएँ बन गए हैं, जिनको इन पर एकाधिकार प्राप्त हो और जो अपने को वैज्ञानिक और कलाकार कहने का अभिमान करते हैं। इन लोगों ने विज्ञान और कला की मूल भावना को ही विकृत बना दिया है। वे अपने कर्तव्य के अर्थ को भूल गए हैं और अपना सारा समय केवल कुछ थोड़े-से आलस्यपूर्ण उपभोक्ताओं का मनोरंजन करने में तथा उन्हें उस मानसिक क्लांति से, जो दिन-रात उन्हें सताती रहती है, मुक्ति दिलाने में व्यतीत करते हैं।

इस भूमंडल पर मानव के जन्म लेने के समय से ही विज्ञान उसके पास अपने स्पष्टतम और अधिक-से-अधिक व्यापक अर्थ में विद्यमान रहा है। वह विज्ञान, जिसे हम सब मनुष्यों का ज्ञान कह सकते हैं, इस संसार में सदा रहा है और अब भी है। सच पूछिए तो इसके बिना जीवन की कल्पना ही नहीं की जा सकती। यह न तो हमें आक्रमण करने को कहता है न रक्षात्मक युक्तियाँ ही सिखाता है। बात केवल इतनी है कि ज्ञान का क्षेत्र इतना विविध है और उसमें लोहा उत्पन्न करने के ज्ञान से लेकर देवी-देवताओं की हलचलों तक के ज्ञान की इतनी बातें सम्मिलित हैं कि मनुष्य उनमें खो जाता है और अपना मार्ग उस समय तक नहीं ढूँढ़ पाता जब तक उसको यह निर्णय करने के लिए कोई संकेत न मिल जाए कि इनमें से कौन-सी बातें उसके लिए सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और कौन-सी बातें कम महत्त्व की हैं। यही कारण है कि मानवीय बुद्धिमत्ता का परम लक्ष्य सदा से ही उस संकेत को प्राप्त करने का रहा है जिससे विदित हो सके कि हमारे ज्ञान का क्रम क्या होना चाहिए, अर्थात् उसमें से कौन-सी बात पहले आनी चाहिए और कौन-सी बाद में। वास्तव में यही वह ज्ञान है जो दूसरे प्रकार के ज्ञान का निर्देशन करता है और जिसे मनुष्य सदा ही वास्तविक अर्थ में विज्ञान कहता आया है। इस प्रकार का विज्ञान मानव-समाज में जंगली अवस्था में से निकलने के बाद से सदा से ही विद्यमान रहा है और आज भी है।

मानव-समाज के उत्पत्तिकाल से ही ऐसे शिक्षकों का प्रादुर्भाव होता आया है जो विज्ञान का उसके वास्तविक अर्थ में निर्माण करते रहे हैं; अर्थात् मनुष्य को वह ज्ञान प्रदान करते रहे हैं, जिससे वह जान सके कि उसे किस वस्तु की सबसे अधिक आवश्यकता है। इस प्रकार का विज्ञान हमें सदा यह बताता रहा है कि प्रारब्ध क्या है और इसीलिए वह प्रत्येक मनुष्य को उसके सच्चे कल्याण का ज्ञान कराता रहा है। यही वह विज्ञान है, जो ऊपर लिखे हुए संकेत का काम करता है और हमें यह निश्चय करने में सहायता देता रहा है कि दूसरे प्रकार के ज्ञान का और उसे व्यक्त

करनेवाली क्रिया—अर्थात् कला—का कितना महत्त्व है।

मनुष्य के भविष्य और कल्याण से संबंध रखनेवाले आधारभूत विज्ञान को जिस प्रकार के ज्ञान से सबसे अधिक सहायता मिली और जिस प्रकार का ज्ञान उसके सबसे निकटतम आया वही जनता की दृष्टि में सबसे उच्च माना गया और जिस प्रकार के ज्ञान सबसे कम उपयोगी थे, उन्हें सबसे निम्न स्तर पर स्थान मिला। कन्फ्यूशियस, बुद्ध, मूसा, सुकरात, ईसा और मुहम्मद का विज्ञान इसी प्रकार का था। विज्ञान होता भी इसी प्रकार का है और हम-जैसे कथित शिक्षितों को छोड़कर सभी लोग ऐसे ही विज्ञान को समझते रहे हैं और अब भी समझते हैं।

इस प्रकार के विज्ञान को न केवल सदा समस्त विज्ञानों में प्रथम पद मिलता आया है, बल्कि अकेले इसी से दूसरे विज्ञानों का महत्त्व भी आँका जाता रहा है। और इस महत्ता का यह कारण नहीं है कि कुछ धूर्त प्रचारकों और शिक्षकों ने इसे यह महत्ता प्रदान की—जैसी कि आजकल के कथित शिक्षित व्यक्तियों की मान्यता है—बल्कि इसका कारण यह है कि मनुष्य के भाग्य और कल्याण-संबंधी विज्ञान के बिना किसी दूसरे विज्ञान या कला का मूल्यांकन या चुनाव हो ही नहीं सकता और न उसके फलस्वरूप विज्ञान का अध्ययन ही हो सकता है क्योंकि जिन-जिन विषयों से विज्ञान का संबंध है, उनकी संख्या अपरिमित है। यह एक ऐसी बात है, जिसे प्रत्येक व्यक्ति अपने आंतरिक अनुभवों से जान सकता है। इस बात का ज्ञान प्राप्त किए बिना कि समस्त मानव-जीवन का भविष्य और कल्याण किस वस्तु में निहित है, दूसरे प्रकार के विज्ञान और कला केवल निरर्थक और हानिकारक मनोरंजन मात्र रह जाते हैं, जैसा कि आज हम लोगों में हो रहा है। मनुष्य-समाज का अस्तित्व तो बहुत पुराना है, किंतु ऐसा कभी नहीं हुआ कि उसके भविष्य और कल्याण का निर्देशन करनेवाला विज्ञान न रहा हो। यह सत्य है कि बाह्य दृष्टि से मानव-कल्याण-संबंधी विज्ञान का स्वरूप बौद्धों, ब्राह्मणों, यहूदियों, ईसाइयों और कन्फ्यूशियस तथा लाओ-त्से के अनुयायियों में भिन्न-भिन्न दिखाई देता है—यद्यपि इन महापुरुषों के उपदेशों पर विचार करते ही पता चल जाता है कि उनका सार एक ही है—किंतु हमें जहाँ-कहीं भी जंगली अवस्था से निकले हुए मनुष्य मिलते हैं वहीं हमें यह विज्ञान भी मिलता है; और आज एकाएक ऐसा लग रहा है कि जिस विज्ञान ने अब तक समस्त मानवों के ज्ञान का पथ-प्रदर्शन किया है, उसी को हम आज समस्त वस्तुओं की उन्नति में बाधक समझने लगे हैं।

लोग मकान बनाते हैं; एक शिल्पी एक तरह का नक्शा तैयार करता है तो दूसरा दूसरी तरह का और तीसरा तीसरी तरह का। इन नक्शों में थोड़ा-बहुत अंतर तो अवश्य होता है, किंतु वे होते सभी ठीक हैं; क्योंकि उन्हें बनानेवाले सभी शिल्पियों

के समक्ष एकमात्र यही विचार होता है कि यदि नक्शे के अनुसार कार्य हुआ तो मकान अवश्य बन जाएगा। कनफ्यूशियस, बुद्ध, मूसा और ईसा ऐसे ही शिल्पी थे।

किंतु कुछ लोग अकस्मात् आकर हमें यह विश्वास दिलाते हैं कि मुख्य वस्तु किसी नक्शे का बनाना नहीं, बल्कि किसी भी प्रकार मकान का निर्माण कर लेना है। इस 'किसी तरह' को ही ये लोग सर्वश्रेष्ठ विज्ञान कहकर पुकारते हैं, ठीक वैसे ही जैसे पोप अपने को सबसे पुनीत कहकर पुकारते हैं। जिस विज्ञान से मनुष्य के भविष्य और कल्याण का निर्णय होता है, उसी विज्ञान को लोग अस्वीकार करते हैं और इस अस्वीकृति को ही विज्ञान मानते हैं। मानव के सृष्टि-काल से ही बड़े-से-बड़े बुद्धिवेत्ता पैदा हुए हैं जो अपने तर्क और अपनी आत्मा की पुकार से संघर्ष करते हुए सदा अपने से यही प्रश्न पूछते रहे हैं कि अकेले उनका ही नहीं, बल्कि समस्त मानव-समाज का भविष्य और कल्याण किस वस्तु में निहित है। वे इसी प्रश्न पर विचार करते रहे हैं कि जिस शक्ति ने हमें उत्पन्न किया और जो हमारा पथ-प्रदर्शन करती है वह हममें से प्रत्येक मनुष्य से क्या चाहती है और हमारे मन में स्वयं अपने तथा समस्त संसार के कल्याण के लिए जो आकांक्षा छिपी हुई है, उसे संतुष्ट करने के लिए हमें क्या करना चाहिए।

वे अपने-आपसे यह प्रश्न करते रहे हैं, "मैं 'संपूर्ण' हूँ और फिर भी 'अनंत अपरिमित' का अंश हूँ। अपने ही जैसे दूसरे अंशों से मेरा क्या संबंध है? अर्थात् मेरा व्यष्टि और समष्टि से क्या संबंध है?"

अपनी आत्मा तथा बुद्धि की पुकार के आधार पर और इस बात को दृष्टि में रखते हुए कि उनके पूर्वजों तथा समकालीन व्यक्तियों ने भी अपने-आपसे यही प्रश्न पूछकर क्या उत्तर दिया था, इन महान शिक्षकों ने एक ऐसा सिद्धांत निर्धारित किया है, जो सबके लिए अत्यंत सरल, स्पष्ट, बोधगम्य और व्यवहार-योग्य है।

इस प्रकार के उच्च-से-उच्च और निम्न-से-निम्न कोटि के व्यक्ति हुए हैं। संसार उनसे भरा पड़ा है। ये सभी लोग अपने से यही प्रश्न करते हैं, "हमारी आत्मा और बुद्धि में समस्त मानव-समाज के कल्याण के लिए जो आकांक्षा भरी हुई है, उसका हम वैयक्तिक हित की भावना से कैसे मेल मिलावें?" इस सामान्य मूल भावना से धीरे-धीरे किंतु निरंतर जीवन के ऐसे नए रूपों का निर्माण हो रहा है, जो हमारी बुद्धि और आत्मा की पुकार के अधिक अनुकूल होते हैं।

अचानक एक नए वर्ग के लोगों का प्रादुर्भाव होता है और वे कहते हैं, "यह सब वाहियात है, इसे त्याग देना चाहिए यह तो निष्कर्ष निकालने की वह प्रणाली है, जिनमें किसी सर्वसम्मत स्वीकृत सिद्धांत को आधार मान लिया जाता है और जो धार्मिक तथा दार्शनिक युगों के लिए ही ठीक थी।" लोग यह कहते तो हैं, किंतु

अभी तक कोई यह समझ नहीं पाया है कि निष्कर्ष निकालने की इस प्रणाली में और उस प्रणाली में जिसमें पृथक्-पृथक् उदाहरणों को देखकर व्यापक नियम निर्धारित किए जाते हैं, अंतर क्या है।

इस नए वर्ग के लोग यह भी कहते हैं कि आंतरिक अनुभूति के आधार पर मनुष्य अब तक जो कुछ भी जान पाया है, जीवन-धर्म की चेतना के संबंध में—जिसे नए वर्ग के लोग शारीरिक क्रिया कहकर पुकारते हैं—मनुष्य ने एक-दूसरे को जो कुछ भी बताया है और सृष्टि के आरंभ से आज तक बड़े-बड़े विद्वानों ने इस दिशा में जितनी भी सफलता प्राप्त की है, वह सब कूड़ा-कर्कट और महत्त्वहीन है।

इस नई विचारधारा के अनुसार ऐसा लगता है जैसे हम शरीर-यंत्र के एक तंतु हों और हमारी तर्कसंगत क्रिया का एकमात्र उद्देश्य हमारी शारीरिक क्रिया का निर्णय करना है तथा ऐसा करने के लिए हमको केवल अपने चारों ओर फैले हुए जगत् का निरीक्षण-मात्र करने की आवश्यकता है। यह बात कि हम एक ऐसे तंतु हैं, जो सोचता है, दुःख उठता है, बोलता है, समझता है और इसलिए हम अपने ही जैसे बोलनेवाले दूसरे तंतु से यह प्रश्न कर सकते हैं कि क्या वह भी हमारी ही तरह से दुःख और सुख का अनुभव करता है और इस प्रकार यह निश्चय करता है कि हमारा अनुभव कहाँ तक ठीक है; यह बात कि हमसे पहले के तंतु जिस प्रकार जीवित रहते थे, दुःख-सुख का अनुभव करते थे, विचार करते थे और बोलते थे तथा इस संबंध में उन्होंने जो कुछ लिखा है, उससे हम लाभ उठा सकते हैं; यह बात कि हमसे पहले के तंतुओं ने अपने जो अनुभव व्यक्त किए हैं, उनसे सहमत होने के कारण लाखों दूसरे तंतु भी हमारे इन विचारों का समर्थन करते हैं और इन सबसे बड़ी बात यह है कि हम स्वयं एक जीवित तंतु हैं और अपने प्रत्यक्ष अनुभव से अपने कर्तव्यों के औचित्य और अनौचित्य को समझते हैं ये सब बातें निरर्थक हैं, निष्कर्ष निकालने की यह एक बहुत ही दोषयुक्त और अशुद्ध प्रणाली है। सच्चा वैज्ञानिक ढंग यह है—यदि हम जानना चाहते हैं कि हमारा व्यक्तिगत कर्तव्य क्या है अर्थात् यह जानना चाहते हैं कि हमारा ही नहीं, बल्कि मानव-समाज और सारे संसार का कर्तव्य और हित किस वस्तु में निहित है तो हमको सबसे पहले अपनी आत्मा की बुद्धि और आवाज़ को सुनना बंद करना होगा, हमको उन बातों पर विश्वास करना छोड़ना होगा जो मानव-समाज के महान शिक्षक अपनी बुद्धि और अपनी आत्मा के संबंध में कह गए हैं, हमको इन सब बातों को नगण्य समझकर नए सिरे से विचार करना होगा। ऐसा करने के लिए हमको एक खुर्दबीन के द्वारा छोटे-छोटे कीड़ों और क्रिमियों के तंतुओं की हरकत को देखना होगा। इससे भी आसान ढंग यह है कि जिन लोगों को निर्दोष होने का प्रमाणपत्र मिल चुका है वे इन वस्तुओं के संबंध में

कुछ भी कहें उसी पर विश्वास कर लिया जाए। छोटे-छोटे कीड़ों और तंतुओं को देखकर या जो कुछ दूसरों ने देखा है, उसे पढ़कर हमको इन तंतुओं के संबंध में अपनी मानवीय भावनाओं के आधार पर यह अनुमान लगाना होगा कि वे क्या चाहते हैं, किस बात के लिए प्रयत्नशील हैं और उन्हें क्या सोचने तथा समझने का अभ्यास है। इन्हीं बातों से, जिनका कि एक-एक शब्द अशुद्ध है, हमको तुलनात्मक आधार पर यह निश्चय करना होगा कि हम क्या करते हैं, हमारा कर्तव्य क्या है और हमारा तथा हम-जैसे दूसरे तंतुओं का भला किस बात में है? अपने को समझने के लिए हमको न केवल द्रष्टव्य क्रिमियों का बल्कि उन लघुत्तम जंतुओं का भी अध्ययन करना होगा, जिन्हें हम मुश्किल से देख सकते हैं। इसके अतिरिक्त हमको एक जीव का दूसरे जीव के रूप में परिवर्तित होने की क्रिया को भी देखना होगा, जिसे न तो अब तक कोई देख सका है और न जिसे हम निश्चय ही कभी देख सकेंगे।

यही बात कला की भी है। जहाँ कहीं भी सच्चा विज्ञान विद्यमान रहा है वहाँ कला सदा से ही मनुष्य के कर्तव्य और हित के लिए ज्ञान की अभिव्यक्ति करती रही है। मुनष्य के जिन संपूर्ण कार्य-कलापों से भिन्न-भिन्न प्रकार के ज्ञान का उपार्जन होता है, उनमें से लोग सृष्टि के आरंभकाल से ही उस प्रधान क्रिया को चुनते आए हैं जिससे मनुष्य के कर्तव्य और कल्पना का ज्ञान होता है। इस ज्ञान के प्रतिफल की अभिव्यक्ति ही कला कहलाती रही है। मानव-जीवन के आरंभ-काल से ही ऐसे मनुष्य होते आए हैं जो मानव-जाति के कर्तव्य और कल्याण के उपदेशों के प्रति विशेष रूप से जागरूक और उत्सुक रहे हैं तथा जिन्होंने अपने को कर्तव्यच्युत करनेवाली भ्रांतियों के विरुद्ध हर प्रकार से संघर्ष किया है। उन्होंने इस संघर्ष की यातनाओं का भी बखान किया है कि नेकी की विजय पर आशा तथा बुराई की विजय पर निराशा व्यक्त की है और भावी सुख के प्रति हर्ष की अभिव्यक्ति की है।

सृष्टि के आरंभ से ही सच्ची कला का—जिसका सदा ही अत्यधिक सम्मान होता रहा है—एकमात्र उद्देश्य यही रहा है कि वह मनुष्य के कर्तव्य और कल्याण की अभिव्यक्ति करे। कला ने तो आरंभ से लेकर आज तक सदा ही उस जीवनोपदेश का अनुगमन किया है, जो बाद में धर्म के नाम से पुकारा गया और सच पूछिये तो सदा केवल इसी प्रकार की कला का सम्मान भी हुआ है। किंतु जब से मनुष्य के कर्तव्य और कल्याण का ज्ञान करानेवाले विज्ञान के स्थान पर एक ऐसे विज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ है जो विश्व की समस्त बातों का ज्ञान प्राप्त कराने का दावा करता है—अर्थात् जब से विज्ञान का असली अर्थ और उद्देश्य नष्ट हो गया है और सच्चे विज्ञान को लोग घृणापूर्वक धर्म के नाम से पुकारने लगे हैं—तभी से कला का मनुष्य की एक महत्त्वपूर्ण क्रिया के रूप में लोप हो गया है।

जब तक हमारे कर्तव्य और कल्याण का निर्देशन धर्म की ओर से होता रहा जब तक कला धर्म की सेवा में ही लीन रही और सच्ची कला बनी रही; किंतु जब से वह धर्म का साथ छोड़कर विज्ञान की सेविका बनी तब से उसकी महत्ता जाती रही है। यद्यपि आज भी वह अपनी प्राचीन प्रतिष्ठा के आधार पर यह मूर्खतापूर्ण दावा करती है कि कला कला के लिए है, तथापि उसने मनुष्य को वांछनीय पदार्थ जुटानेवाले एक व्यवसाय का रूप ग्रहण कर लिया है और वह अनिवार्य रूप से नाखून रंगने और शृंगार करने की कलाओं में घुल-मिल गई हैं। मार्के की बात तो यह है कि इन सौंदर्य-प्रसाधनों के उत्पादक भी अपने को कलाकार कहने का उतना ही अधिकारी मानते हैं, जितने आजकल के कवि, चित्रकार और संगीतज्ञ।

हम अपने लंबे अतीत पर दृष्टि डालते हैं कि पिछले हजारों वर्षों में लाखों और करोड़ों व्यक्तियों के बीच में से कन्फ्यूशियस, बुद्ध, सोलन, सुकरात, सुलेमान, होमर, ईसइया और दाऊद-जैसे कुछ थोड़े-से ही विशिष्ट व्यक्ति हुए हैं। स्पष्ट है कि इस प्रकार के व्यक्ति इस संसार में बहुत कम हुए हैं, यद्यपि उनका जन्म किसी जातिविशेष में नहीं अपितु जनसाधारण में ही हुआ था। दूसरे शब्दों में यों कहिए कि आत्मिक भोजन को उत्पन्न करनेवाले इस प्रकार के सच्चे वैज्ञानिक और कलाकार अत्यंत दुर्लभ हैं और मानव-समाज उनका इतना जो सम्मान करता आया है वह अकारण नहीं है। किंतु आज ऐसा लगता है कि जैसे विज्ञान और कला की ये महान विभूतियाँ हमारे लिए निरर्थक हो गई हैं, जैसे आज विज्ञान और कला के उत्पादक श्रम-विभाजन के नियमानुसार कारखानों में पैदा किए जा सकते हैं और सृष्टि के आरंभ से अब तक जितने भी वैज्ञानिक और कलाकार हुए हैं, उनसे कहीं अधिक वैज्ञानिक और कलाकार हम दस वर्ष में पैदा कर सकते हैं। आजकल तो वैज्ञानिकों और कलाकारों का जैसे एक संघ-सा खुल गया है, जहाँ मनुष्य जाति के लिए, जितने भी आत्मिक भोजन की आवश्यकता है वह सब एक निर्दोष ढंग पर तैयार कर लिया जाता है। और यह आत्मिक भोजन इतने अधिक परिणाम में तैयार कर लिया गया है कि अब पहले के प्रतिभा-संपन्न विद्वानों को स्मरण करने तक की आवश्यकता नहीं रह गई है। कहा जा सकता है कि उनका कार्य तो धार्मिक और दार्शनिक युग का काम था, इसलिए उसे मिटा देना चाहिए; सच्चे तर्क-संगत कार्य को आरंभ हुए तो अभी पचास वर्ष ही बीते हैं और इन पचास वर्षों में हमने इतने महान् पुरुष उत्पन्न कर लिए हैं कि आज अकेले एक जर्मन विश्वविद्यालय में इतने विद्वान हैं, जितने समस्त संसार में नहीं हुए। विज्ञान भी हमने इतने उत्पन्न कर लिए हैं—सौभाग्यवश इन्हें उत्पन्न करना आसान भी है, क्योंकि हमें तो केवल किसी यूनानी संज्ञा के साथ 'शास्त्र' शब्द जोड़कर उसे बनी-बनाई तालिकाओं में श्रेणी-बद्ध करने-भर की

आवश्यकता है और फिर तो वह आपसे-आप विज्ञान बन जाती है—कि न केवल हमारे लिए इन समस्त विज्ञानों का ज्ञान प्राप्त करना असंभव है, बल्कि किसी एक व्यक्ति के लिए उन सबका नाम तक याद रखना संभव नहीं। उनके नाम से ही एक मोटा कोष तैयार हो सकता है और नए विज्ञानों का तो दिन-प्रति-दिन प्रादुर्भाव हो ही रहा है। बहुत से विज्ञान ऐसे बनाए गए हैं, जिनसे हमें फिनलैंड के उस अध्यापक की स्मृति हो आती है जो एक ज़मींदार के लड़कों को फ्रांसीसी भाषा के बजाए फिनिश भाषा पढ़ाया करता था। उसने पढ़ाया तो खूब, लेकिन दु:ख इस बात का है कि उसके सिवाय और कोई उसका एक शब्द भी नहीं समझा। अन्य सभी लोग उसे एक निरर्थक कूड़ा समझते हैं। किंतु इसका भी एक जवाब है। कहा जा सकता है वैज्ञानिक ज्ञान की समस्त उपयोगिता को लोग समझ नहीं पाते, क्योंकि लोग अब भी धार्मिक युग की बताई गई बातों के प्रभाव में हैं—बड़ी मूर्खतापूर्ण युग जब संसार के सभी लोग—हिब्रू, चीनी, हिंदू और यूनानी, सभी अपने महान उपदेशकों द्वारा बताई गई समस्त बातों को समझते थे।

जो कुछ भी हो, सत्य यह है कि विज्ञान और कला का अस्तित्व सदा से ही मनुष्य-समाज में रहा है। जब वे अपने सच्चे स्वरूप में विद्यमान थे तब जनता को उनकी आवश्यकता थी और वह उन्हें समझ भी लेनी थी। आज हम एक ऐसी वस्तु के पीछे पड़े हैं जिसे हम कहते तो विज्ञान और कला हैं, किंतु वास्तविकता यह है कि हम आज जो कुछ भी कर रहे हैं, उसे विज्ञान अथवा कला कहलाने का अधिकार नहीं है।

कष्ट-सहन बिना सच्ची सेवा असंभव

लोग मुझे जवाब देते हैं, ''लेकिन आप तो विज्ञान और कला की एक दूसरी परिभाषामात्र दे रहे हैं, जो पहले से भी अधिक संकीर्ण है और जिससे विज्ञान सहमत नहीं है। और फिर शेष बातें इससे बाहर कब हैं? संसार में अब भी गैलीलियो[1], ब्रूनो[2], होमर[3], माइकेल आंजेलो, ब्रीथोवेन और वैगनर जैसे महान वैज्ञानिकों और कलाकारों तथा उनके अतिरिक्त उन छोटे-छोटे विज्ञानवेत्ताओं और

1. *इटली का जगद्‌विख्यात खगोल-वेत्ता*
2. *इटली*
3. *प्रसिद्ध यूनानी कवि*

कलाविदों की भी हलचल जारी है, जिन्होंने अपना समस्त जीवन ही विज्ञान और कला की सेवा में लगा दिया है।''

यह बात प्राय: इसलिए कही जाती है कि पहले के और आज के वैज्ञानिकों तथा कलाकारों के बीच एक कड़ी स्थापित की जा सके। ऐसा करते समय लोग श्रम-विभाजन के उस विशेष नए सिद्धांत को भूलने का प्रयत्न करते हैं, जिसके आधार पर आज विज्ञान और कला को विशिष्ट स्थान प्राप्त है।

सबसे पहली बात यह है कि प्राचीन और वर्तमान कार्यकर्ताओं के बीच ऐसी कोई कड़ी स्थापित करना असंभव है। जिस प्रकार प्रारंभिक ईसाइयों के पवित्र जीवन और आजकल के पोपों के जीवनों में कोई तारतम्य नहीं हैं, उसी प्रकार गैलीलियो, शेक्सपियर और बीथोवेन जैसे व्यक्तियों के कार्यों की टिंडल, विक्टर ह्यूगो और वेगनर-जैसे व्यक्तियों के कार्यों से कोई समता नहीं है। जिस प्रकार प्राचीनकाल के पुनीत धर्म-पिता पोपों के साथ अपना कोई संबंध मानना स्वीकार नहीं करते उसी प्रकार प्राचीन काल के प्रमुख विज्ञानवेत्ता आज के वैज्ञानिक नेताओं के साथ किसी प्रकार का संबंध रखने से इंकार कर देते हैं।

दूसरी बात यह है कि विज्ञान और कला स्वयं को जो महत्त्व देने लगे हैं, उससे हमें उनके ही द्वारा संस्थापित एक अत्यंत स्पष्ट मापदंड मिल गया है, जिससे हम यह निश्चय कर सकते हैं कि विज्ञान और कला का उद्देश्य पूरा हो रहा है या नहीं। इस प्रकार हम स्वेच्छा से नहीं, बल्कि एक स्वीकृत मापदंड के अनुसार यह निश्चय कर सकते हैं कि जो वस्तु अपने को विज्ञान और कला कहती है, उसे ऐसा कहने का अधिकार है या नहीं।

पुराने ज़माने में मिस्र और यूनान के धर्माचार्य ऐसे रहस्यपूर्ण कार्य किया करते थे जिनका भेद उनके सिवा और किसी को न मालूम होता था; और वे कहते थे कि इन रहस्यों में ही समस्त विज्ञान और कला सन्निहित है, किंतु हम उनके कार्यों द्वारा जनता को पहुँचाए गए लाभ को आधार मानकर यह निर्णय नहीं कर सकते थे कि उनका विज्ञान सही है, क्योंकि वे स्वयं उन्हें दैवी मानते थे। किंतु अब हमारे सामने एक बिल्कुल ही स्पष्ट और सरल मापदंड है जिसमें किसी दैवी तत्त्व को स्थान नहीं। समाज अथवा मानव-जाति के कल्याण के लिए आज विज्ञान और कला मनुष्य के मानसिक कार्य करने को तत्पर हैं। अत: हमें इस बात का अधिकार है कि हम केवल ऐसे कार्यों को 'विज्ञान और कला' का नाम दें, जिनके सामने उक्त लक्ष्य हो और जो उसे प्राप्त करें।

इसलिए वे विद्वान और कलाकार, जो दंडविधान और नागरिक तथा अंतर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धांतों का निर्णय करते हैं, जो नए अस्त्र-शस्त्रों और विस्फोटकों का

अन्वेषण करते हैं और जो अश्लील नाटक अथवा उपन्यास लिखते हैं, वे अपने का चाहे कुछ भी कहें, हमें उनके ऐसे कार्यों को विज्ञान और कला कहने को कोई अधिकार नहीं है; क्योंकि उन कार्यों का लक्ष्य समाज अथवा मानव-जाति का कल्याण करना नहीं होता, बल्कि इसके विपरीत वे मानव-जाति को हानि पहुँचाते हैं। अत: ये सब विज्ञान या कला नहीं है। इसी प्रकार वे विद्वान्, जो अपने सरल स्वभाव के कारण अपना सारा जीवन सूक्ष्मदर्शक और दूरदर्शक यंत्रों द्वारा दिखाई पड़नेवाले तत्त्वों आदि के अध्ययन में लगा देते हैं अथवा वे कलाकार जो प्राचीन स्मारकों का परिश्रमपूर्वक अध्ययन कर ऐतिहासिक उपन्यास लिखने, चित्र बनाने या मधुर राग-रागिनियाँ और कविताएँ रचने में लगे हुए हैं, वे अपने आपको चाहे कुछ भी क्यों न कहें, उत्साही होते हुए भी वे वैज्ञानिक परिभाषा के अनुसार वैज्ञानिक और कलाकार नहीं कहे जा सकते। इसके कई कारण हैं—पहले तो उनके 'विज्ञान विज्ञान के लिए' और 'कला कला के लिए' के सिद्धांत पर किए गए कार्यों में मानवीय कल्याण का उद्देश्य नहीं होता; दूसरे हम उनके कार्यों को समाज और मानवता के लिए कल्याणप्रद नहीं पाते। यह बात कि उनके कार्य से कभी-कभी कुछ व्यक्तियों का मनोरंजन और लाभ हो जाता है, हमें इस बात की बिल्कुल अनुमति नहीं देती कि स्वयं उनकी ही वैज्ञानिक परिभाषा के अनुसार हम उन्हें वैज्ञानिक और कलाकार समझें।

ठीक इसी प्रकार जो लोग बिजली से प्रकाश, गर्मी अथवा शक्ति प्राप्त करने के लिए प्रयोग करते हैं या नए रासायनिक प्रयोगों से बारूद अथवा सुंदर रंग तैयार करते हैं या शास्त्रीय संगीत शुद्ध रूप से प्रस्तुत करते हैं, या रंगमंच पर अच्छा अभिनय करते हैं और सुंदर चित्र बना सकते हैं, या मनोरंजक उपन्यास लिख सकते हैं—वे अपने को कुछ भी कहें, उनके कार्य को—जिसका उद्देश्य धनी वर्गों की नीरसता को दूर करना मात्र है—विज्ञान और कला नहीं कहा जा सकता; क्योंकि इनके कार्य का लक्ष्य शरीर-यंत्र के मानसिक कार्य की भाँति समस्त मानव-जाति का कल्याण नहीं होता। इसका एकमात्र उद्देश्य तथाकथित कला के आविष्कारों और उत्पादनों से व्यक्तिगत लाभ, सुविधाएँ और धन प्राप्त करना ही होता है। अत: ऐसे कार्य को दूसरे प्रकार के स्वार्थरत व्यक्तिगत कार्यों—जैसे रेस्तराँ खोलना, घुड़सवारी करना, वेश्यावृत्ति करना आदि—से किसी प्रकार भी पृथक् नहीं किया जा सकता। इन कार्यों का लक्ष्य केवल जीवन के आनंद में अभिवृद्धि करना है और ये विज्ञान और कला की परिभाषा के अंतर्गत नहीं आते। विज्ञान और कला से तो हमें श्रम-विभाजन के आधार पर मानव-जाति अथवा समाज के कल्याण का आश्वासन मिलता है।

विज्ञान ने विज्ञान और कला की जो परिभाषा बताई है वह बिल्कुल सही है;

किंतु दुर्भाग्यवश आज के विज्ञान और कला की हलचलें उसके अंतर्गत नहीं आतीं। उनके कुछ प्रतिनिधि ऐसे कार्य कर रहे हैं, जो प्रत्यक्ष रूप से हानिकारक हैं; कुछ व्यर्थ का परिश्रम कर रहे हैं और कुछ ऐसे कार्य कर रहे हैं जो महत्त्वहीन हैं और जिनसे केवल धनिकों का ही लाभ हो सकता है।

शायद ये सभी लोग नेक आदमी हैं; लेकिन वे उन कामों को नहीं करते जिन्हें करने का उन्होंने अपनी परिभाषा के अनुसार ठेका लिया है। अत: उन्हें अपने को विज्ञानवेत्ता और कलाकार समझने का उतना ही कम अधिकार है जितना कि अपने उत्तरदायित्वों का पालन न करनेवाले आज के धर्माचार्यों को अपने को सत्य के ठेकेदार और उपदेशक कहने का है।

आप जो लोग विज्ञान और कला में लगे हुए हैं वे अपने कर्तव्यों का पालन क्यों नहीं करते या कर सकते, यह समझना कुछ मुश्किल नहीं है। वे अपने कर्तव्यों का पालन इसलिए नहीं कर पाते कि उन्होंने अपने कर्तव्यों को अधिकार बना लिया है।

वैज्ञानिक और कलात्मक कार्य अपने वास्तविक अर्थों में तभी फलप्रद हो सकते हैं, जब वे अधिकारों की चिंता त्यागकर केवल कर्तव्यों का ध्यान रखें। उनकी एकमात्र इसी विशेषता के कारण मानवता उनका इतना अधिक सम्मान करती है।

जो लोग वास्तव में मानसिक परिश्रम करके दूसरों की सेवा करना चाहते हैं, उन्हें ऐसा करते समय सदा यातनाएँ सहनी पड़ती हैं। जिस प्रकार प्रसव-पीड़ा के पश्चात् ही शिशु का जन्म होता है, उसी प्रकार यातनाओं को सहन करने के बाद ही आध्यात्मिकता का निर्माण होता है।

विचारकों और कलाकारों के भाग्य में उत्सर्ग और कष्ट का होना अनिवार्य है, क्योंकि उनका उद्देश्य मानव का कल्याण होता है। मनुष्य दु:खी होते हैं, वे कष्ट भोगते हैं और मर जाते हैं। ठहरने और अपने में फिर से स्फूर्ति लाने का अवकाश किसे मिलता है?

विचारक और कलाकार किसी एकांत चोटी पर जाकर नहीं बैठ जाते, जैसा कि प्राय: हम समझ लेते हैं। उनके चित्त में तो सदा चिंता और खलबली मची रहती हैं। वे ऐसी बातों को प्रकाश में लाने की चेष्टा करते हैं, जो मनुष्य के लिए वरदान सिद्ध हो सकती हैं और उसे यातनाओं से बचा सकती हैं। किंतु अभी तक वे इन बातों का पता नहीं लगा पाए हैं—और संभव है कि कल तक ऐसा करने के लिए बहुत देर हो जाऐ—संभव है तब तक मनुष्य की जीवन-लीला ही समाप्त हो जाए।

वह व्यक्ति कभी विचारक और कलाकार नहीं हो सकता जिसने किसी ऐसी संस्था में शिक्षा, योग्यता और उपाधि ग्रहण की हो, जो दावा तो करती है विद्वानों और कलाकारों को जन्म देने का, किंतु वास्तव में पैदा करती है विज्ञान और कला की

हत्या करनेवालों को। सच्चा कलाकार और विद्वान तो वह है जो यह सोचता ही नहीं और न प्रकट ही करता कि उसकी अंतरात्मा में क्या है। वह तो उन कार्यों को किए बिना रह ही नहीं सकता, जिन्हें करने के लिए दो प्रबल शक्तियाँ—आंतरिक आवश्यकता और जनता की माँग—उसे प्रेरित करती रहती है।

जो लोग मोटे-ताज़े और आत्म-संतुष्ट हैं तथा छक-छककर जीवन के आनंदों का उपभोग करते हैं वे विचारक और कलाकार हो ही नहीं सकते।

जिस प्रकार मानसिक कार्य और उसकी अभिव्यक्ति की वास्तव में दूसरों को आवश्यकता है, उसकी साधना मनुष्य के लिए सबसे अधिक कठिन और कष्टकारी हैं। धर्मशास्त्र के शब्दों में वह उसके लिए सूली का तख्ता है। यदि किसी में इसके लिए लगन है तो उसका एकमात्र और असंदिग्ध लक्षण यह है कि वह स्वार्थ का त्याग कर देता है और स्वयं में निहित शक्तियों का दूसरे के लाभार्थ व्यवहार करने में अपने को निछावर कर देता है।

यह तो संभव है कि हम बिना कष्ट उठाए यह सिखला सकें कि संसार में कितने कीट-पतंग हैं, या सूर्य के धब्बों की जाँच कर सकें या उपन्यास तथा संगीत-नाटक की रचना कर सकें; किंतु दूसरों को यह बताना कि उनके कल्याण का मार्ग आत्म-त्याग और परोपकार में निहित है और साथ-ही-साथ इस सिद्धांत का बलपूर्वक प्रतिपादन करना, कष्ट उठाए बिना असंभव है।

ईसाई धर्म के आचार्यों में जब तक सहन-शक्ति और कष्ट उठाने की क्षमता थी तब तक उसका अस्तित्व बना रहा; किंतु जब वे भोग-विलास में पड़कर आलसी बन गए तो उनका शिक्षण-कार्य समाप्त हो गया।

जैसा कि किसान कहते हैं, "पहले सोने के पुजारी और लकड़ी के कमंडलु हुआ करते थे; किंतु अब कमंडलु सोने के हो गए हैं और पुजारी लकड़ी के।"

ईसामसीह का सूली पर प्राण देना निष्प्रयोजन नहीं था; बलिदानपूर्ण कष्ट-सहन सब पर विजय प्राप्त कर लेता है।

आज विज्ञान और कला को सब प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त हैं और वे प्रामाणिक हैं, फिर भी लोगों को एकमात्र यही चिंता लगी रहती है कि उनके लिए और अधिक सुविधाओं की व्यवस्था की जाए, अर्थात् उन्हें ऐसा बना दिया जाए कि उनसे मानव-जाति की सेवा हो ही न सके।

सच्चे विज्ञान और सच्ची कला के दो निश्चित लक्षण होते हैं; पहला आंतरिक—अर्थात् विज्ञानवेत्ता तथा कलाकार अपने कर्तव्य का पालन लाभ के लिए नहीं, वरन् आत्म-त्याग के लिए करते हैं; और दूसरा बाह्य—अर्थात् विज्ञान और कला के विशेषज्ञों के कार्य उन सब व्यक्तियों की समझ में आ सकते हैं, जिनकी भलाई को

दृष्टि में रखकर वे किए जाते हैं।

मनुष्य चाहे किसी भी वस्तु को अपने पेशे और हित का प्रतिनिधि क्यों न माने, विज्ञान उसकी शिक्षा अवश्य देगा और कला उस शिक्षा को अभिव्यक्त करेगी। सोलन और कन्फ्यूशियस के आध्यात्मिक सिद्धांत हों, चाहे मूसा और ईसा के धार्मिक उपदेश—वे सभी विज्ञान हैं। इसी प्रकार एथेंस के भवन हों, चाहे दाऊद के भजन और चाहे गिरजाघर की पूजा—ये सब कला है; किंतु पदार्थ के चौथे अंश का अध्ययन करना और रासायनिक मिश्रणों को क्रमबद्ध करना कभी विज्ञान नहीं रहा है और न होगा। हमारे युग में सच्चे विज्ञान का स्थान धर्म-शास्त्रों ने और सच्ची कला का स्थान रीति-रिवाज़ों और राजकीय समारोहों ने ले लिया है। जनता को इनमें से किसी में भी विश्वास नहीं है और कोई भी इन्हें गंभीरता के साथ ग्रहण नहीं करता। लेकिन हमारे यहाँ जिसे विज्ञान और कला कहा जाता है वह आलसी विचारकों और भावुकों की उपज है और उसका उद्देश्य इसी प्रकार के दूसरे आलसी विचारकों और भावुकों पर प्रभाव डालना है। ये चीज़ें जनता की समझ में नहीं आती और न उसके काम की ही होती, क्योंकि इनमें जन-कल्याण की कोई भावना नहीं होती।

मानव-जीवन के प्रारंभ से ही हमें सर्वत्र और सदैव एक ऐसा सिद्धांत दिखाई देता है, जो छलपूर्वक अपने को विज्ञान कहता है और जो जनता को जीवन का अर्थ समझाने के बजाए छिपाता है। यही बात मिस्रियों, हिंदुओं, चीनियों और कुछ सीमा तक यूनानियों में थी और बाद में रहस्यवादियों, ज्ञानवादियों और तंत्रवादियों में आई। फिर यह मध्ययुग के अध्यापकों और रसायनवेत्ताओं में विद्यमान रही और इस प्रकार हमारे युग तक चली आई।

हमारे लिए तो यह विशेष सौभाग्य की बात है कि हम एक ऐसे समय में रह रहे हैं जब अपने को विज्ञान कहनेवाली विचारधारा न केवल दोषरहित है बल्कि—जैसा कि हमें निरंतर आश्वासन दिया जाता है—असाधारण रूप से सफल भी है। क्या इस सौभाग्य का कारण यह नहीं कि मनुष्य स्वयं अपनी कुरूपता को न तो स्वीकार कर सकता है और न करेगा? फिर ऐसा क्यों हुआ कि जब अन्य विज्ञानों, नीतिशास्त्रों आदि में शब्दों के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह गया, हम विशेष रूप से इतने सौभाग्यशाली बने रहे?

स्मरण रखिए कि संकेत बिल्कुल उसी प्रकार के हैं। हममें वही आत्मसंतुष्टि और अंध-आश्वासन विद्यमान है कि हम—और केवल हम—सच्ची राह पर हैं और उस पर चलनेवाले पहले ही राही हैं; वही आशा भरी हुई है कि हम कोई-न-कोई असाधारण बात खोज निकालेंगे; और इन सबसे अधिक हममें हमारी पोल खोलनेवाला वही लक्षण विद्यमान है अर्थात् यह कि हमारा सारा ज्ञान हममें ही केंद्रित होकर रह

जाता है जबकि जनता न उसे समझती है न स्वीकार करती है और न उसक आवश्यकता ही है। हमारी स्थिति ही बड़ी करुणाजनक है। किंतु क्यों न उसक उसी रूप में सामना किया जाए, जिस रूप में वह है।

अब समय आ गया है कि हम चेतें और अपने चारों ओर देखें। हमारी अवस्थ बिल्कुल उन मुंशियों और फ़ारीसियों-जैसी है, जो मूसा की गद्दी पर बैठ गए हों औ जिन्होंने स्वर्ग की कुंजी अपने हाथ में ले ली हो। किंतु जो न स्वयं उसमें घुसते ह और न दूसरों को घुसने देते हों। हमलोग, जो अपने को विज्ञान और कला के पुजार मानते हैं, सबसे बड़े प्रपंची हैं। हमें इस पद पर बने रहने का उतना भी अधिका नहीं है, जितना कि मक्कार-से-मक्कार और दुराचारी-से-दुराचारी धर्माचार्य क होता है। हमें इस ऊँची स्थिति पर बने रहने का कोई अधिकार नहीं है, हमने उसे कपट से प्राप्त किया है और अब हम उसे छल से कायम रख रहे हैं।

मूर्तिपूजक पुजारी और हमारे अपने तथा कैथोलिक संप्रदाय के धर्माचार्य चाहे कितने भी दुराचारी क्यों न हों या रहें हों, अपनी स्थिति के कारण उन्हें यह श्रेय तो प्राप्त हुआ है कि उन्होंने और कुछ नहीं तो कम-से-कम जनता को जीवन की शिक्षा देने और मुक्ति का मार्ग बताने का विचार तो किया। हमने उन्हें पीछे धकेल दिया और यह सिद्ध करके कि वे धोखेबाज थे स्वयं उनका स्थान ग्रहण कर लिया है; किंतु हम जनता को जीवन का तरीका नहीं सिखाते, बल्कि साफ-साफ शब्दों में कहते हैं कि इन सब बातों को सीखने का प्रयत्न करने से कोई लाभ नहीं। फिर भी हम जनता का सत निचोड़ लेते हैं और बदले में अपने बच्चों को यूनानी और लैटिन व्याकरण की उल्टी-सीधी बातें सिखाते हैं, जिससे कि हमारी भाँति वे भी पंगु बने रहें।

हम कहते हैं कि पहले जाति-विभाजन था किंतु अब नहीं है; लेकिन ऐसा क्यों है कि कुछ व्यक्ति और उनके बच्चे तो काम करते हैं और कुछ व्यक्ति और उनके बच्चे नहीं करते? किसी हिंदू को लाइए जो हमारी भाषा नहीं जानता और उसे रूढ़ियों से चली आती हुई हमारी जीवन प्रणाली का अध्ययन करने को कहिए। वह उसमें भी वही मुख्य, स्पष्ट जातियाँ देखेगा जो उसके अपने समाज में विद्यमान हैं; एक वह जाति जो काम करती है और दूसरी वह जो काम नहीं करती। जैसा कि उनमें हैं, हममें भी काम न करने का अधिकार एक विशेष प्रेरणा से मिलता है जिसे हम विज्ञान और कला और आम तौर पर 'शिक्षा' कहते हैं। आज हमारी आँखों पर जिस पागलपन का परदा छाया हुआ है और जिसके कारण हम इतनी स्पष्ट और असंदिग्ध बातें भी नहीं देख पाते उसका एकमात्र कारण यही शिक्षा है और इसी शिक्षा के कारण हमारी बुद्धि भ्रमित हो गई हैं।

हम अपने भाइयों को चूसते रहते हैं, फिर भी अपने को ईसाई, दयालु और शिक्षित मानते हैं और समझते हैं कि हम जो कुछ भी कर रहे हैं वह पूर्ण रूप से औचित्यपूर्ण है।

तब फिर हम क्या करें ?

'तब फिर हम क्या करें? हमें करना क्या चाहिए?' यह प्रश्न—जिसमें यह स्वीकारोक्ति निहित है कि हमारे जीवन का ढंग ग़लत और बुरा है, साथ ही यह संकेत भी है कि उसे बदलना असंभव है—मैं सब तरफ से सुनता हूँ और यही कारण है कि मैंने अपनी पुस्तक का नाम भी यही चुना है।

इस प्रश्न के संबंध में मैंने जो कष्ट झेले हैं, जो खोज की है और जो हल निकाला है, उसी का मैंने इस पुस्तक में वर्णन किया है। मैं भी दूसरों ही जैसा एक इनसान हूँ, और यदि मैं अपने आस-पास के किसी साधारण जन से किसी बात में भिन्न हूँ भी तो मुख्यतः इसमें कि मैंने दुनिया में झूठे उपदेशों के प्रचार में उससे अधिक योग दिया है, मुझे सत्ता-प्राप्त विचारोंवाले व्यक्तियों से अपेक्षाकृत अधिक प्रशंसा मिली है और इस कारण मेरा दिमाग अधिक फिर गया है ओर मैं दूसरों की अपेक्षा अधिक पथ-भ्रष्ट हो गया हूँ।

और इसलिए मैं सोचता हूँ कि मैंने अपने लिए जो हल निकाला है, वह उन सभी ईमानदार व्यक्तियों के लिए ठीक होगा, जो स्वयं से यही प्रश्न करते हैं। सबसे पहला प्रश्न है, ''हम क्या करें?'' इसका मैंने स्वयं को यह उत्तर दिया, ''मुझे अपने से या दूसरों से झूठ नहीं बोलना चाहिए और न सत्य से भयभीत होना चाहिए, चाहे उसका कुछ भी परिणाम क्यों न निकले। यह बात हम सब जानते हैं कि दूसरों से झूठ बोलने का क्या अर्थ है। फिर भी हम सुबह से शाम तक लगातार झूठ बोलते रहते हैं। 'घर पर नहीं हैं' जबकि हम घर पर होते है; 'बहुत खुशी हुई', जबकि हमें बिल्कुल खुशी नहीं होती; 'आदर सहित', जबकि हममें आदर की कोई भावना नहीं होती; 'मेरे पास पैसा नहीं है', जबकि हमारे पास खूब पैसा होता है, आदि-आदि। हम यह तो जानते हैं कि दूसरे व्यक्तियों से झूठ बोलना—विशेषकर कुछ विशेष बातों में—बुरा होता है, किंतु स्वयं से झूठ बोलने में हमें ज़रा भी डर नहीं लगता। हम यह सोचने की चेष्टा ही नहीं करते कि दूसरों से बोले गए सबसे बुरे, निकृष्ट और छलपूर्ण झूठ का भी परिणाम उस झूठ की तुलना में कुछ नहीं होता जो हम स्वयं से बोलते हैं और जिसके आधार पर हम अपने सारे जीवन की रूपरेखा

बनाते हैं। इसलिए यदि हम इस प्रश्न का उत्तर देना चाहते हैं कि हम क्या करें तो हमें स्वयं अपने से इस झूठ बोलने का अपराधी नहीं होना चाहिए।

किंतु जब हमारे सारे काम, हमारा सारा जीवन झूठ पर टिका है और हम बड़ी सावधानी से इस असत्य को दूसरों के सामने और स्वयं अपने सामने भी सत्य कहकर रखते हैं तो फिर हमारे लिए इस प्रश्न का उत्तर देना कैसे संभव हो सकता है? झूठ न बोलने का मतलब है सत्य से न डरना; बुद्धि और अंतरात्मा के निष्कर्षों को स्वयं से छिपाने के लिए बहाने न खोजना और जब दूसरे इस प्रकार के बहाने बनाएँ तो उन्हें स्वीकार न करना; अपने चारों ओर के व्यक्तियों से मतभेद रखने में भयभीत न होना; इस बात से न घबराना कि हमारी बुद्धि और अंतरात्मा जो कुछ कहती है उसे माननेवाला कोई दूसरा नहीं; इस बात से भी न डरना कि सत्य हमें किस स्थिति पर पहुँचा देगा। हमें यह दृढ़ विश्वास रखना चाहिए कि सत्य और अंतरात्मा की पुकार चाहे हमें किधर भी क्यों न ले जाए वह झूठ पर आधारित जीवन से बुरा नहीं हो सकता। ऊँची स्थितिवाले हम-जैसे विचारकों के लिए झूठ न बोलने का अर्थ है अपने लेखे-जोखे से भय न खाना। शायद हम पहले से ही दूसरों के इतने ऋणी हैं कि उससे उर्ऋण नहीं हो सकते, फिर भी अपनी स्थिति को न जानने से तथ्यों का सामना करना अधिक अच्छा है। असत्य मार्ग पर हम चाहे कितने भी दूर क्यों न जा चुके हों, वहाँ से लौट पड़ना उस पर चलते रहने की अपेक्षा बेहतर है। दूसरों से झूठ बोलने में हानि ही होती है। सारी उलझनें झूठ की अपेक्षा सत्य से ही अधिक प्रत्यक्ष रूप से और अधिक शीघ्रतापूर्वक सुलझाई जा सकती हैं। दूसरे से झूठ बोलने से केवल गुत्थी उलझ जाती है और उसके हल में बाधा पड़ जाती है, किंतु स्वयं अपने सामने किसी झूठ को सत्य कहकर उपस्थित करने से मनुष्य का समस्त जीवन ही नष्ट हो जाता है।

गलत रास्ते पर चलना आरंभ करके भी यदि कोई व्यक्ति उसे ही ठीक समझे तो उस रास्ते पर उठाया गया उसका ही क़दम उसे उसके लक्ष्य से अधिक दूर ले जाता है। यदि कोई मनुष्य बहुत समय तक झूठे रास्ते पर चलता रहता है, फिर उसे पता चलता है, या बताया जाता है कि वह गलत मार्ग पर है, तब भी इस विचार से डरकर कि वह इस मार्ग पर बहुत दूर निकल आया है, यदि वह अपने को यह कहकर आश्वासन देता है कि इसी मार्ग पर चलकर वह अब भी ठीक राह पर पहुँच जाएगा, तो वह कभी भी ठीक रास्ते पर नहीं पहुँचेगा। यदि कोई मनुष्य सत्य से डरता है और उसे देखकर उसे अंगीकार न कर झूठ को ही सत्य मान लेता है तो वह यह कभी नहीं समझ सकेगा कि उसे क्या करना चाहिए।

हम लोग, जो न केवल धनिक हैं, वरन् विशेष स्थिति में हैं और शिक्षित कहे

जाते हैं, झूठे मार्ग पर इतनी दूर बढ़ चुके हैं कि हमारे लिए स्वयं को समझ पाना और उस झूठ को स्वीकार करना, जिसके बीच हम जीवन बिता रहे हैं, तभी संभव हो सकता है, जब या तो हममें दृढ़ निश्चय हो, या हमने मार्ग के घोर कष्टों के अनुभव प्राप्त कर रखे हों।

धन्यवाद है उन कष्टों को, जो मुझे झूठे मार्ग पर चलने के कारण भोगने पड़े। मैंने जीवन के असत्य को देख लिया और उसे स्वीकार कर मैं अपने में इतना साहस ला पाया (पहले केवल मन में ही) कि बिना परिणाम की चिंता किए बुद्धि और अंतरात्मा के बताये मार्ग पर चल सकूँ, और मुझे उस साहस का पुरस्कार मिला। मेरे चारों ओर जीवन का जो जटिल, अस्त-व्यस्त, भ्रामक और अर्थहीन रूप बिखरा हुआ था वह तत्काल स्पष्ट हो गया और मेरी जो स्थिति पहले विचित्र और बोझिल थी वह अकस्मात् स्वाभाविक और सरल बन गई। इस नई स्थिति में मेरे कार्य ने अपनी ठीक दिशा निश्चित कर ली और उसका रूप वैसा नहीं रह गया जैसा मैंने पहले सोचा था। यह नया कार्य कहीं अधिक शांतिदायक, सुरुचिपूर्ण और आनंदप्रद था। वे ही चीजें, जिनसे पहले मैं भयभीत होता था, आकर्षक बन गई।

इसलिए मैं सोचता हूँ कि जो मनुष्य ईमानदारी से अपने से यह प्रश्न करता है कि मैं क्या करूँ और उसका उत्तर देने में स्वयं से झूठ नहीं बोलता, बल्कि बुद्धि द्वारा निर्देशित मार्ग को ग्रहण करता है, वह इस प्रश्न का उत्तर दे चुकता है। यदि वह अपने से केवल झूठ-भर न बोले तो उसे मालूम हो जाएगा कि उसे क्या करना चाहिए, कहाँ जाना चाहिए और किस प्रकार कार्य करना चाहिए। एकमात्र जो वस्तु उसे अपना मार्ग खोज निकालने में बाधक हो सकती है, वह है अपना और अपनी स्थिति का झूठा तथा बहुत ऊँचा अनुमान लगाना। यही बात मेरे साथ थी और इसीलिए इस प्रश्न का कि हम क्या करें? मुझे पहले मेरे उत्तर से ही उद्‌भूत होनेवाला एक दूसरा उत्तर समझ में आया—वह यह कि सच्चे अर्थ में पश्चात्ताप किया जाए; अर्थात् अपनी स्थिति और कार्य का हमने जो मूल्यांकन कर रखा है, उसे पूरी तरह से बदल दिया जाए। अपनी स्थिति को उपयोगी और महत्त्वपूर्ण समझने के बजाए हमें उसकी हानि और तुच्छता स्वीकार करनी चाहिए, अपनी शिक्षा पर अहंकार करने के बजाए हमें अपने अज्ञान को स्वीकार करना चाहिए; अपनी दया और नैतिकता पर गर्व करने के बजाए हमें अपनी अनैतिकता और निर्दयता को स्वीकार करना चाहिए, और अपने महत्त्व के बजाए अपनी नगण्यता को स्वीकार करना चाहिए।

मैं कहता हूँ कि अपने से झूठ न बोलने के अलावा मुझे पश्चात्ताप भी करना पड़ा; क्योंकि यद्यपि एक का उद्‌भव दूसरे से होता है, तथापि अपनी उच्चता की

झूठी छाप मेरे मन पर इतनी गहरी बैठ गई थी कि सच्चे हृदय से पश्चात्ताप किए बिना और अपने झूठे अहंभाव को दूर किए बिना मैं अपने द्वारा बोले जाने पर झूठ का अधिकांश नहीं देख पाया। पश्चात्ताप करने के बाद ही, अर्थात् यह समझना बंद करने पर कि मैं विशिष्ट व्यक्ति हूँ और अपने को दूसरों-जैसा समझने पर ही मैं अपने जीवन-मार्ग को साफ-साफ देख सका।

उससे पहले मैं 'क्या करें' प्रश्न का उत्तर नहीं दे सका था; क्योंकि मैंने इस प्रश्न को अपने सामने बहुत ही गलत ढंग से रखा था। पश्चात्ताप करने से पहले मैंने प्रश्न पर इस दृष्टिकोण से विचार किया था—मैंने जो शिक्षा प्राप्त की है और मुझमें जो प्रतिभा है, उसको देखते हुए मुझे अपने जीवन में क्या कार्य करना चाहिए? अपनी इस शिक्षा और प्रतिभा द्वारा मैंने किसानों से जो कुछ लिया है, और अब भी ले रहा हूँ, उसका मैं किस प्रकार बदला चुका सकता हूँ!—प्रश्न को इस रूप में रखना ग़लत था; क्योंकि इसमें यह झूठी भावना निहित थी कि मैं अन्य व्यक्तियों के समान न होकर एक विशिष्ट व्यक्ति हूँ और इसलिए मेरा यह कर्तव्य है कि मैं अपने चालीस वर्षों के अभ्यास से प्राप्त प्रतिभा और शिक्षा द्वारा जनता की सेवा करूँ। मैंने अपने से प्रश्न तो किया, किंतु अपनी रुचि के अनुसार अपने कार्य का पहले से ही निश्चय करके मैंने अग्रिम उत्तर भी दे दिया। वास्तव में मैंने अपने से पूछा, "मेरे-जैसा विलक्षण लेखक, जिसने इतना ज्ञान प्राप्त कर लिया है और जो इतने गुणों से सम्पन्न हैं, वह अपने इन गुणों और इस ज्ञान का मानव-जाति की सेवा में किस प्रकार उपयोग करें?" यह प्रश्न मुझे अपने सामने उसी प्रकार उपस्थित करना चाहिए था, जिस प्रकार समस्त धर्म-ग्रंथों में पारंगत और विज्ञान की सारी जटिलताओं का ज्ञान रखनेवाले एक शिक्षित यहूदी धर्माचार्य के सामने उपस्थित होता है। यहूदी धर्माधिकारी और मेरे दोनों के लिए, यह प्रश्न इस प्रकार होना चाहिए था, "मैं जो अपनी दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति के कारण अध्ययन के सर्वोत्तम वर्षों में श्रम करना सीखने के बजाए फ्रांसीसी भाषा, पियानो, व्याकरण, भूगोल, न्यायशास्त्र, कविता, कहानियाँ उपन्यास, दार्शनिक सिद्धांत और सैनिक विद्या सीखता रहा—मैं जो अपने जीवन के सर्वोत्तम वर्ष आत्मा को भ्रष्ट करनेवाले व्यर्थ के कार्यों में बिताता रहा—इन बीती हुई दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थितियों के बावजूद ऐसा क्या करूँ जिससे मैं उन लोगों का बदला चुका सकूँ जो अब तक मुझे भोजन और वस्त्र प्रदान करते रहे हैं, और जो अब भी मुझे भोजन और वस्त्र दे रहे हैं?" यदि यह प्रश्न मेरे सामने उस रूप में आया होता, जिस रूप में मेरे पश्चात्ताप करने के बाद आया-अर्थात् इस रूप में कि मुझ-जैसे सिर-फिरे आदमी को क्या करना चाहिए—तो उसका उत्तर सरल और इस प्रकार होता—सबसे पहले ईमानदारी के साथ अपना पेट पालने की कोशिश करो, अर्थात् दूसरों पर आश्रित रहना छोड़ दो; और जिस समय यह सीख रहे हो तथा सीख चुको उस समय अपने हाथ, पैर, दिल-दिमाग़ और उन सारी शक्तियों से—जो तुम्हारे पास हैं और जिनसे लोग लाभ उठाना चाहते हैं—दूसरों की सेवा करने के प्रत्येक अवसर को काम में लाओ।

और इसलिए मैं कहता हूँ कि हमारे वर्ग के व्यक्तियों के लिए स्वयं से और दूसरों से झूठ न बोलने के अतिरिक्त पश्चात्ताप करना और घमंड को दूर करना भी आवश्यक है—शिक्षा का घमंड, संस्कृति का घमंड और गुणों का घमंड। हमारे लिए यह भी स्वीकार करना आवश्यक है कि हम दूसरों के हितैषी और उनसे बड़े-चढ़े नहीं हैं और न ही अपनी उपयोगी संपत्ति में दूसरों को भी भागीदार बनाने के लिए उत्सुक हैं। इतना ही नहीं, हमें यह भी मानना ज़रूरी है कि हम सब तरह से अपराधी, बिगड़े हुए और बिल्कुल निकम्मे आदमी हैं। हमें परोपकारी बनने की कामना न करके स्वयं अपना सुधार करने और दूसरों के प्रति अपराध और अन्याय बंद रखने की आकांक्षा रखनी चाहिए।

कितने ही नेक नवयुवक, जिन्हें मेरे लेखों के नकारात्मक भाग से सहानुभूति है, मुझसे प्रायः पूछते हैं, "तो फिर मैं क्या करूँ? मुझे करना क्या चाहिए? मैंने विश्वविद्यालय आदि से उपाधि प्राप्त की है। मैं अपने को उपयोगी बनाने के लिए क्या करूँ?"

ये नवयुवक ऐसा पूछते तो हैं, लेकिन मन-ही-मन में उन्होंने पहले से ही यह निश्चय कर लिया है कि उन्हें जो शिक्षा मिलती है वह उनके लिए अत्यंत लाभदायक है और बस उसी लाभ के द्वारा वे जनता की सेवा करना चाहते हैं। यही कारण है कि वे कभी अपनी कथित शिक्षा की जाँच ईमानदारी के साथ और आलोचनात्मक भाव से नहीं करते और न स्वयं से यह पूछते कि वह अच्छी है या बुरी। यदि वे ऐसा करें तो वे अनिवार्यतः अपनी शिक्षा का विरोध करने लगेंगे और फिर से शिक्षा प्रारंभ करने के लिए बाध्य हो जाएँगे। ठीक इसी बात की आवश्यकता भी है। इस प्रश्न का कि 'हम क्या करें' वे बिल्कुल भी निर्णय नहीं कर पाते, क्योंकि उस प्रश्न, को वे उसके सच्चे प्रकाश में देख ही नहीं पाते।

प्रश्न इस प्रकार रखा जाना चाहिए, "मेरे-जैसा असहाय और नाकारा आदमी, जिसने दुर्भाग्यवश अपने जीवन के सर्वोत्तम वर्ष आत्मा और शरीर के लिए हानिकारक वैज्ञानिक शास्त्रों के अध्ययन में लगा दिए हैं, किस प्रकार इस भूल का सुधार करे और मनुष्य की सच्ची सेवा करना सीखे?" किंतु यह प्रश्न उनके सामने आता इस रूप में है, "मैंने जो इतना प्रशंसनीय ज्ञान प्राप्त किया है, उसके द्वारा मैं किस प्रकार समाज के लिए उपयोगी बन सकता हूँ?" यही कारण है कि जब तक मनुष्य अपने

को धोखा देना बंद नहीं कर देता और पश्चात्ताप नहीं करता, तब तक वह इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकता कि उसे क्या करना चाहिए। पश्चात्ताप कोई भयावनी चीज़ नहीं है, ठीक वैसे ही जैसे सत्य भयावना नहीं है, बल्कि वह उसी के समान सुखदायक और फलप्रद है। हमें केवल सत्य को पूर्ण रूप से स्वीकार करने और पूरा-पूरा पश्चात्ताप करने की आवश्यकता है, जिससे हम यह समझ सकें कि किसी को न विशेष अधिकार और सुविधाएँ प्राप्त हैं और न वह उन्हें प्राप्त कर सकता; उसके सामने तो केवल कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों का एक अनंत सागर लहराता रहता है; मनुष्य का पहला तथा निर्विवाद कर्तव्य यह है कि वह अपने और दूसरों के जीवन का भार वहन करने के लिए प्रकृति के साथ संघर्ष में भाग ले।

और मनुष्य के कर्तव्य की यह स्वीकारोक्ति ही 'क्या करें' प्रश्न के तीसरे उत्तर का सार है।

मैंने अपने से झूठ न बोलने का प्रयत्न किया। मैंने अपने मन से अपनी शिक्षा और योग्यता के झूठे अहंकार को निकाल फेंकने और पश्चात्ताप करने का प्रयत्न किया। किंतु 'क्या करें?' प्रश्न को सुलझाते समय एक नई कठिनाई आ खड़ी हुई। काम इतने थे कि इस बात का संकेत मिलना आवश्यक था कि इनमें से कौन-सा कार्य विशेष रूप से किया जाए। इस प्रश्न का उत्तर उस बुराई के लिए सच्ची तरह पश्चात्ताप करने में मिला, जिसमें मैं रह रहा था। "क्या करें? आखिर करें क्या?"—प्रत्येक मनुष्य यही पूछता है और मैं भी उस समय तक यही प्रश्न पूछता रहा जब तक कि अपने व्यवसाय की ऊँची धारणा से प्रभावित होने के कारण मैंने यह नहीं देख लिया कि मेरा पहला और निर्विवाद कार्य स्वयं अपने लिए भोजन, वस्त्र, गरमाई और निवास-स्थान प्राप्त करना है और इसे करते हुए दूसरों की सेवा करना है; क्योंकि सृष्टि के प्रारंभ होने से अब तक मनुष्य का यही पहला और अनिवार्य कर्तव्य रहा है।

मनुष्य अकेले इसी कार्य में जुटा रहकर पूर्ण शारीरिक और आध्यात्मिक संतुष्टि प्राप्त कर सकता है। अपनी और प्रिय जनों की सुख-सुविधाओं की व्यवस्था करने से मनुष्य की शारीरिक आवश्यकताओं की परिपूर्ति होती है और उसका दूसरों के लिए यही करना उसकी आध्यात्मिक आवश्यकताओं को पूर्ण करता है।

मनुष्य के दूसरे सब कार्य तभी औचित्यपूर्ण हो सकते हैं जब उसकी यह प्राथमिक आवश्यकता पूर्ण हो जाए।

मनुष्य अपने लिए कोई भी व्यवसाय क्यों न चुने—चाहे वह शासक बने, चाहे अपने देशवासियों की रक्षा का काम करे, चाहे धर्म की सेवा करे, चाहे शिक्षक बने, चाहे जीवन के आनंद में वृद्धि करने की युक्ति ढूढ़ें, चाहे प्रकृति के नियमों की खोज

करें, चाहे शाश्वत सत्य को कला-कृतियों में अंकित करें—उसका सर्वप्रथम और असंदिग्ध कर्तव्य सदा यही होगा कि वह अपना तथा दूसरों का पोषण करने के लिए प्रकृति के साथ संघर्ष में भाग ले। यह कर्तव्य हमेशा मनुष्य का पहला कर्तव्य रहेगा, क्योंकि उसको सबसे अधिक आवश्यकता जीवन की है। इसलिए मनुष्य की रक्षा करने, उसे शिक्षित बनाने और उसके जीवन को अधिक मधुर बनाने के लिए यह आवश्यक है कि स्वयं जीवन की रक्षा की जाए। हमारा उस संघर्ष में भाग न लेना और दूसरे व्यक्तियों के परिश्रम का उपभोग करना निस्संदेह मनुष्य के जीवन को नष्ट कर देता है। इसलिए एक हाथ से मनुष्य के जीवन को नष्ट करना और दूसरे हाथ से उसकी सेवा का प्रयत्न करना दुस्साहस और पागलपन नहीं तो और क्या है?

जीविका के लिए प्रकृति के साथ संघर्ष करना सदा मनुष्य का सबसे पहला और निश्चित कर्तव्य रहेगा; क्योंकि वह जीवन का नियम है और इसकी अवज्ञा करने पर मनुष्य को अपने भौतिक अथवा बौद्धिक जीवन के अनिवार्य विनाश के रूप में दंड मिलता है। यदि कोई व्यक्ति एकांत में रहकर प्रकृति के साथ संघर्ष से बचने की चेष्टा करता है तो उसे तत्काल दंड मिलता है अर्थात् उसका शरीर नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार यदि किसी समाज में रहता हुआ मनुष्य स्वयं को कर्तव्य से मुक्त रखकर दूसरों से अपना काम कराता है और उनके जीवन को क्षति पहुँचाता है तो उसे तुरंत ही उसका दंड मिलता है; उसका जीवन विवेकशून्य और अनौचित्यपूर्ण हो जाता है।

अपने विगत जीवन से मैं इतना बुद्धि-भ्रष्ट हो गया था और हमारे समाज में विधाता अथवा प्रकृति के प्राथमिक और निर्विवाद नियम पर इतना पर्दा पड़ा हुआ है कि मुझे उस नियम का पालन करना बड़ा विचित्र—यहाँ तक कि भयंकर और लज्जाजनक—लगा, मानो एक शाश्वत और निर्विवाद नियम की अवज्ञा नहीं, बल्कि उसका पालन विचित्र, भयंकर और लज्जाजनक हो।

पहले-पहल मुझे ऐसा लगा कि मोटे शारीरिक कार्य के लिए किसी विशेष प्रबंध अथवा संगठन की आवश्यकता है—एक-से विचारवाले व्यक्ति होने चाहिए, मेरे परिवारवालों की अनुमति होनी चाहिए या मुझे देहात में जाकर रहना चाहिए। उस समय शारीरिक श्रम करने का प्रयत्न करने में मुझे कुछ लज्जा अनुभव होती थी; क्योंकि हमारे वर्ग के लोगों के लिए यह कुछ असाधारण-सी बात थी और मेरी समझ में नहीं आता था कि मैं उसे किस प्रकार प्रारंभ करूँ।

किंतु मुझे इतना समझने-भर की आवश्यकता थी कि किसी विशेष योजना अथवा प्रबंध की आवश्यकता नहीं थी, बल्कि जीवन की जिस झूठी स्थिति में मैं रहा था, उससे स्वाभाविक स्थिति में लौटने-मात्र की आवश्यकता थी—केवल उस

झूठ का परिमार्जन करने की आवश्यकता थी, जिसमें मैं रह रहा था। अपनी सारी कठिनाइयों को दूर करने के लिए बस इतना ही स्वीकार करना था। इस बात की बिल्कुल भी आवश्यकता नहीं थी कि कोई प्रबंध किया जाए, अपने को उसके अनुकूल बनाया जाए अथवा दूसरों की स्वीकृति की प्रतीक्षा की जाए; क्योंकि मैं चाहे किसी भी अवस्था में रहूँ, ऐसे व्यक्ति सदा मौजूद थे, जो न केवल अपने लिए वरन् मेरे लिए भी भोजन, वस्त्र और गरमी का प्रबंध करते थे यदि मेरे पास पर्याप्त समय और बल होता तो मैं भी ऐसा अपने लिए और उनके लिए सर्वत्र किसी भी अवस्था में कर सकता था।

जिन कामों का मुझे अभ्यास नहीं था और जिनसे दूसरों को आश्चर्य सा लगता था, उनके लिए मुझे झूठी लज्जा भी अनुभव करने की आवश्यकता नहीं थी; क्योंकि उन्हें न करने में मैं स्वयं पहले से ही झूठी नहीं, लेकिन सच्ची शर्म महसूस कर रहा था। और जब मुझे इसकी चेतना हुई और मैं इसके व्यावहारिक निष्कर्षों पर पहुँचा तो मुझे इसका पूरा-पूरा पुरस्कार भी मिल गया। मैं बुद्धि के निष्कर्षों से भयभीत नहीं हुआ और ये निष्कर्ष मुझे जिस दिशा में ले गए मैं उसी दिशा में गया।

इस व्यावहारिक निष्कर्ष पर पहुँचने पर मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वे सारे प्रश्न जो मुझे इतने कठिन और उलझे हुए दिखाई देते थे, कितनी सरलता और आराम से स्वयमेव सुलझ गए।

'मैं क्या करूँ?'—इस प्रश्न के उत्तर में मुझे जो उत्तर सबसे अधिक असंदिग्ध प्रतीत हुआ वह यह था, ''मुझे जिन कामों की सबसे अधिक आवश्यकता है उन्हें मैं स्वयं करूँ—अपने कमरे की सफाई करूँ, अपने चूल्हे को स्वयं जलाऊँ, अपना पानी स्वयं लाऊँ, अपने कपड़ों की देखभाल आप करूँ—अर्थात् वे सब काम करूँ, जिन्हें मैं स्वयं कर सकता हूँ।'' मैं समझता था कि मेरा ऐसा करना नौकरों को अजीब-सा लगेगा, लेकिन यह अजीबपन केवल एक सप्ताह तक ही रहा और बाद में तो ऐसा लगने लगा कि यदि मैं अपनी पुरानी आदतें फिर से ग्रहण कर लूँ तो वे आदतें मुझे अजीब-सी लगने लगेंगी।

इस प्रश्न के उत्तर में कि क्या इस शारीरिक श्रम को व्यवस्थित करने की आवश्यकता है और क्या इसके लिए ग्रामवासियों का कोई संगठन बनाना चाहिए, मैंने अनुभव किया कि यह सब अनावश्यक है, क्योंकि यदि इस श्रम का उद्देश्य व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति करना है न कि बेकारी में योग देना या दूसरे व्यक्तियों की मेहनत का लाभ उठाना (जैसा कि धन कमानेवाले व्यक्ति करते हैं) तो वह उद्देश्य स्वभावतः मनुष्य को नगर से देहात की ओर खींच ले जाएगा जहाँ इस प्रकार का श्रम सबसे अधिक लाभदायक और सबसे अधिक सुखकारी होता है।

श्रमिकों की किसी जाति-विशेष का संगठन भी अनावश्यक प्रतीत हुआ, क्योंकि जो व्यक्ति स्वयं परिश्रम करता है वह स्वभावतः श्रमजीवियों के विद्यमान वर्ग में सम्मिलित हो जाता है।

मेरे सामने यह भी प्रश्न था—क्या यह कार्य मेरा सारा समय नहीं ले लेगा और क्या इसके कारण मेरे उस मानसिक कार्य में रुकावट नहीं पड़ेगी जो मुझे पसंद है, जिसका मैं अभ्यस्त हूँ और जिसे मैं कभी-कभी उपयोगी भी मानता हूँ? इस प्रश्न के उत्तर में मुझे एक अत्यंत अप्रत्याशित उत्तर मिला। जितना अधिक मैंने शारीरिक श्रम किया, उतना अधिक मेरे मानसिक श्रम की शक्ति भी बढ़ गई और मुझे व्यर्थ की बातों से मुक्ति मिल गई।

परिणाम यह निकला कि शारीरिक श्रम में आठ घंटे लगाने के बाद भी, अर्थात् आलस्य दूर करने के कठोर प्रयत्न में पहले जो पूरा दिन यों ही बीत जाता था, उसके आधे भाग तक शारीरिक श्रम करने के बाद भी मेरे पास आठ घंटे शेष बच जाते थे, जिनमें से मानसिक कार्य के लिए मुझे केवल पाँच घंटों की आवश्यकता थी।

यह भी स्पष्ट दिखाई दिया कि यद्यपि मैं एक अत्यंत उर्वर लेखक था और मैंने चालीस वर्षों तक लिखने के अतिरिक्त और कोई कार्य नहीं किया था और लगभग 5,000 पृष्ठ लिखे थे, तथापि यदि मैं इन समस्त चालीस वर्षों में एक किसान का साधारण कार्य करता रहा होता, तो जाड़े की संध्याओं और बेकार दिनों को न गिनते हुए भी प्रतिदिन केवल पाँच घंटे अध्ययन-मनन कर और केवल अवकाश के दिनों के ही दो पृष्ठ प्रतिदिन की गति से लिखकर मैंने चौदह वर्षों में ये पाँच हजार पृष्ठ लिख लिए होते। स्मरण रहे कि कभी-कभी मैंने एक दिन में सोलह पृष्ठ भी लिखे हैं।

यह एक आश्चर्यजनक तथ्य था—गणित का एक बहुत ही सरल हिसाब—जिसे एक सात वर्ष का बच्चा भी हल कर सकता था, लेकिन मैंने पहले कभी हल करने की चेष्टा नहीं की थी। एक दिन में चौबीस घंटे होते हैं। आठ घंटे हम सोते हैं, इसलिए सोलह बचते हैं। यदि कोई बुद्धिजीवी अपने काम में पाँच घंटे प्रतिदिन भी लगाए तो वह बहुत कार्य कर लेगा। ग्यारह घंटे तो फिर भी शेष रह गए। आखिर इनका क्या होता है?

मैंने पाया कि शारीरिक परिश्रम ने मानसिक कार्य को असंभव बनाने के बजाए उसे सुधारा और सहायता पहुँचाई।

इस प्रश्न के उत्तर में कि क्या यह शारीरिक कार्य मुझे उन अनेक निर्दोष आनंदों से वंचित नहीं कर देगा, जो मनुष्य के लिए स्वाभाविक है (जैसे, विभिन्न कलाओं का आनंद लेना, ज्ञान प्राप्त करना, अन्य व्यक्तियों के संपर्क में आना और जीवन के

अन्य साधारण सुखों को भोगना), मुझे विपरीत बात ही सही मलूम दी। मैंने जितना अधिक कार्य किया और उसमें किसानों के मोटे काम से जितनी अधिक समता आई, उतना ही अधिक आनंद और ज्ञान मुझे प्राप्त हुआ, उतना ही अधिक घनिष्ठ और मधुर दूसरों से मेरा संपर्क रहा और उतना ही अधिक मुझे जीवन का सुख मिला।

रहा एक और प्रश्न, जो मैंने अक्सर उन लोगों से सुना है, तो पूरे ईमानदार नहीं होते—परिश्रम के जिस सागर का मैं उपभोग करता हूँ, उसमें मेरा श्रम तो एक नन्हीं बूँद के समान है, इसलिए उससे क्या लाभ होगा ?

इसका भी मुझे एक बहुत ही आश्चर्यजनक और अप्रत्याशित उत्तर मिला। मैंने अनुभव किया कि अपने जीवन में मुझे शारीरिक श्रम का अभ्यस्त-भर होने की आवश्यकता है, फिर तो मेरे अंदर शारीरिक बेकारी के फलस्वरूप जो बुरी और खर्चीली आदतें तथा आवश्यकताएँ पैदा हो गई हैं वे आप-से-आप बिना मेरी ओर से लेशमात्र प्रयत्न किए ही समाप्त हो जाएँगी। रात को दिन और दिन को रात बनाने की बात तो दूर रही, और उस प्रकार के बिस्तर, वस्त्र तथा परंपरागत सफाई की भी बात दूर रही, जो शारीरिक श्रम करते समय बिल्कुल असंभव और कष्टकर होते हैं, मेरी भोजन-संबंधी आवश्यकताएँ तक पूरी तरह से बदल गई। पहले मुझे मिठाइयाँ और तरह-तरह के अमीराना तथा मसालेदार भोजन अच्छे लगते थे; किंतु अब उनकी अपेक्षा सादा-से-सादा भोजन—जैसे, गोभी का रसा, गेहूँ का दलिया, काली रोटी और चाय—सबसे मधुर लगने लगा।

जिन सीधे-सादे किसानों के संपर्क में मैं आया उनके साधारण जीवन की तो बात ही अलग है, क्योंकि उन्हें तो थोड़े में संतुष्ट रहने की आदत थी ही, मेरी अपनी माँगे मेरे परिश्रमी जीवन के अनुरूप अदृश्य रूप से बदलने लगीं और जैसे-जैसे मुझमें परिश्रम की आदत पड़ती और बढ़ती गई मेरा परिश्रम भी, जो पहले सागर में एक बूँद के समान था, धीरे-धीरे महत्ता धारण करने लगा। जिस अनुपात से मेरा परिश्रम अधिकाधिक उत्पादनशील होता गया, उसी अनुपात से दूसरों के परिश्रम से लाभ उठाने की आवश्यकता कम होती गई और मेरा जीवन अनायास ही बिना किसी प्रयत्न अथवा कष्ट के इतना सरल हो गया कि उसकी मैं परिश्रम के नियमों का पालन किए बिना स्वप्न में भी कल्पना नहीं कर सकता था। मैंने अनुभव किया कि मेरे जीवन की सबसे पहली खर्चीली जरूरतें, झूठी शान और मनोरंजन की आकांक्षाएँ, सबकुछ मेरे आलस्यपूर्ण जीवन का ही प्रत्यक्ष प्रमाण थीं।

जब मैं स्वयं शारीरिक श्रम करने लगा तो झूठी शान और मनोरंजन के लिए कोई गुंजाइश ही नहीं रह गई; क्योंकि काम में मेरा समय सुखपूर्वक कट जाता था और थकान आने पर आराम से चाय पीते हुए किसी पुस्तक को पढ़ना अथवा किसी

पड़ोसी से बातचीत करना क्लांति मिटाने के अन्य साधनों—नाटकों, ताश, संगीत अथवा सभा—से, जिनमें बड़ा खर्च होता था, अधिक रुचिकर प्रतीत होने लगा।

एक सवाल यह था कि कहीं इस शारीरिक परिश्रम से, जिसका मुझे अभ्यास नहीं था, मेरे उस स्वास्थ्य को हानि तो नहीं पहुँचेगी जो दूसरे व्यक्तियों के प्रति मेरे उपयोगी होने के लिए आवश्यक है ? मैंने देखा कि प्रमुख चिकित्सकों के इस दृढ़ मत के बावजूद कि कठोर शारीरिक श्रम—विशेषकर मेरी-जैसी आयु में—स्वास्थ्य को हानि पहुँचा सकता है और मेरे लिए हल्का व्यायाम, मा़लिश आदि ही ठीक रहेगा, मैंने जितना ही अधिक परिश्रम किया उतना ही अधिक अपने को स्वस्थ, प्रसन्नचित्त और दया से परिपूर्ण अनुभव किया। अतः मुझे इस बात में लेशमात्र भी संदेह नहीं रह गया कि मनोरंजन की सभी आधुनिक युक्तियाँ—जैसे समाचारपत्र, नाटक, संगीत, भ्रमण, नृत्य, ताश, पत्रिकाएँ और उपन्यास—मनुष्य के मानसिक जीवन को, दूसरों के लिए मेहनत की स्वाभाविक अवस्था पैदा किए बिना, कायम रखने के साधन-मात्र हैं। यही बात खाने-पीने, रहने, प्रकाश, गरमी, वस्त्र, दवाओं, सोडा-लेमन, मालिश, व्यायाम, विद्युत-चिकित्सा आदि के संबंध में बताई जानेवाली डॉक्टरी युक्तियों के बारे में है। इन सब बातों से मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि ये सब छलपूर्ण युक्तियाँ हैं और कुछ नहीं, बल्कि श्रम का अभ्यास न रह जाने पर मनुष्य को अपने शारीरिक जीवन को वहन करने में समर्थ बनाने के साधन-मात्र हैं। यह तो कुछ ऐसी ही बात है जैसे किसी पूरी तरह से बंद कमरे में पौधों को वायु प्रदान करने के लिए रासायनिक प्रक्रिया द्वारा पानी का भाप बनाया जाए, जबकि वास्तव में यह काम केवल खिड़की खोल देने से ही हो सकता है। दूसरे शब्दों में आवश्यकता केवल इस बात की है कि भोजन करने से जो शक्ति उत्पन्न होती है, उसे शारीरिक श्रम द्वारा उपयोग में लाया जाए—ऐसा काम केवल मनुष्य ही नहीं, बल्कि पशुओं के लिए भी स्वाभाविक है।

हमारे वर्ग के लिए चिकित्सा और स्वास्थ्य की ये उलझनें वैसी ही हैं जैसे कोई मिस्त्री पहले तो किसी बायलर को गरम करे और उसके समस्त द्वारों को कसकर बंद कर दे और फिर उसे फटने न देने के लिए उपाय खोजता फिरे।

और स्पष्ट हो जाने पर मुझे यह सब बड़ा हास्यास्पद प्रतीत हुआ। अनेकानेक संदेह, खोजों और विचारों के बाद मैं इस असाधारण सत्य पर पहुँचा हूँ कि मनुष्य को आँखें देखने के लिए, कान सुनने के लिए, टाँगें चलने के लिए और हाथ तथा पीठ काम करने के लिए मिले हैं; और यदि वह इसका स्वाभाविक उपयोग नहीं करेगा तो इससे उसे हानि ही होगी।

मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि हम-जैसे ऊँचे वर्ग के व्यक्तियों के साथ वैसा ही

होता है जैसा मेरे एक परिचित के घोड़ों के साथ हुआ था। उनके सईस को घोड़ों की रत्तीभर भी परवाह नहीं थी और वह घोड़ों की बाबत कुछ समझता भी नहीं था। एक बार जब उसके मालिक ने उसे सर्वोत्तम घोड़ों को बाज़ार ले जाने का आदेश दिया तो उसने उनमें से कुछ को चुनकर दुकानों में ले जाकर खड़ा कर दिया। उसने उन्हें जौ खिलाए और पानी पिलाया और उन बहुमूल्य घोड़ों की विशेष रूप से सावधानी रखने के उद्देश्य से उसने उन पर किसी को सवारी नहीं करने दी और न ही उन्हें कहीं बाहर ले जाने अथवा अभ्यास करने की अनुमति दी। फल यह हुआ कि सब घोड़ों की टाँगें खराब हो गई और वे बेकार हो गये।

यही बात हमारे साथ हुई। अंतर केवल इतना है कि घोड़ों को किसी प्रकार का धोखा नहीं दिया जा सकता और उन्हें भागने न देने के लिए बाँधकर रखना पड़ता है। हम लोभ के पाश में फँसाए और बाँधे जाकर इसी प्रकार की अस्वाभाविक और विनाशकारी अवस्थाओं में रखे जाते हैं। हमने अपने लिए एक ऐसे जीवन की व्यवस्था की है, जो मनुष्य के नैतिक और शारीरिक दोनों प्रकार के स्वभाव के विपरीत है और हम अपनी सारी मानसिक शक्ति लगाकर मनुष्यों को यह समझाने की चेष्टा करते हैं कि जीवन ऐसा ही होना चाहिए। जिसे हम संस्कृति, विज्ञान, कला तथा जीवन की सुख-सुविधाओं का परिष्कार कहते हैं, वह मनुष्य की नैतिक और स्वाभाविक माँगों को धोखा देने का प्रयत्न है; हम जिसे स्वास्थ्य और चिकित्सा कहते हैं वह मानवीय स्वभाव की प्राकृतिक शारीरिक माँगों को छलने का प्रयत्न है। किंतु इन प्रवंचनाओं की भी सीमा है और हम प्राय: उस सीमा तक पहुँच गए हैं।

शॉपेनहावर और हार्टमैन की प्रचलित और अत्यंत सुरुचिपूर्ण विचारधारा तो यह है कि यदि मनुष्य का सच्चा जीवन ऐसा ही है जैसा कि वह आजकल दिखाई देता है तब तो इससे अच्छा यह है कि हम बिल्कुल जियें ही नहीं। ऊँचे वर्गों में आत्मघातों की बढ़ती हुई संख्या भी यही कहती है कि यदि यही जीवन है तो इससे तो न जीना अच्छा। डॉक्टरी ज्ञान, विज्ञान और नारी की प्रजनन-शक्ति को नष्ट करने के आविष्कार भी यही कहते हैं, ''यदि यही जीवन है, तो अच्छा है कि आनेवाली संतति जन्म ही न ले।''

बाइबिल में कहा गया है कि परिश्रम से थक जाने पर रोटी खाना और दु:ख में बच्चे पैदा करना मानवीय नियम है।

बोंदारेफ़ नामक एक किसान ने, जिसने इस संबंध में एक लेख लिखा था, मेरे सामने इस कहावत की बुद्धिमत्ता को स्पष्ट कर दिया। (मेरे जीवन में दो रूसी विचारकों ने मुझ पर बड़ा गहरा नैतिक प्रभाव डाला है, उन्होंने मेरे विचारों को परिपुष्ट किया है और जीवन के प्रति मेरे दृष्टिकोण को स्पष्ट किया है। ये दोनों

व्यक्ति न कवि थे, न विद्वान् और न शिक्षक। वे अद्भुत व्यक्ति थे, जो अब भी जीवित हैं। दोनों किसान हैं एक सुताएफ़ और दूसरा बोंदारेफ़।)

मोलियर के एक नाटक के एक पात्र ने चिकित्सा-संबंधी विषयों में भूल करते हुए एक स्थान पर कहा है कि यकृत बाईं ओर है। इसी प्रकार कहा जाता है कि मनुष्य को अपने भोजन के लिए कार्य करना आवश्यक नहीं है, मशीनें ही सब काम करेंगी। कहा तो यहाँ तक जाता है कि महिलाओं को भी बच्चे पैदा करने की आवश्यकता नहीं है, विज्ञान हमें बहुत-से उपाय सिखा देगा। इस प्रकार की बातें सोचनेवाले व्यक्तियों की संख्या भी बहुत अधिक है।

क्रापीवेंस्की जिले[1] में एक फटेहाल किसान है जो इधर-उधर घूमता रहता है। युद्ध के दिनों में एक सैनिक अधिकारी ने उसे अन्न की खरीद के काम के लिए भरती किया। अधिकारी के निकट संपर्क में रहने के कारण ऐसा मालूम होता है कि उस किसान के दिमाग़ में यह फितूर बैठ गया कि उच्च वर्ग के लोगों की तरह उसे भी काम करने की आवश्यकता नहीं है, उसे तो अपने जीवन-निर्वाह के लिए सम्राट् से वेतन मिलता ही रहेगा। अब वह अपने को 'सब प्रकार की सैनिक सामग्री का ठेकेदार, महामान्य सैनिक राजकुमार ब्लोखिन' कहता है। वह कहता है कि उसने सैनिक सेवा की सारी अवस्था पार कर ली हैं और चूँकि उसकी सैनिक सेवाएँ पूर्ण हो चुकी हैं, इसलिए अब उसे सम्राट् से 'नकदी, वस्त्र, वर्दी, घोड़े, गाड़ी, चाय, मोटर, नौकर और सब वस्तुएँ प्राप्त होनी चाहिए। उससे जब पूछा जाता है कि क्या कुछ काम करोगे, तो वह इस प्रश्न के उत्तर में सदा गर्व के साथ कहता है, ''बहुत-बहुत धन्यवाद! यह सब काम किसान कर लेंगे।''

यदि कोई उससे यह कहे कि संभव है कि किसान भी काम करना न चाहें, तो वह उत्तर देता है, ''किसानों के लिए परिश्रम करने में कोई कठिनाई नहीं होती। अब किसानों की सुविधा के लिए मशीनें ईजाद कर दी गई हैं। उनके लिए मेहनत करना अधिक कष्टदायक नहीं है।'' जब कोई उससे पूछता है कि तुम किसलिए हो, तो वह उत्तर देता है, ''समय काटने के लिए।''

मैं इस आदमी को सदा एक दर्पण के रूप में देखता हूँ। उसमें मैं स्वयं का और अपने समस्त वर्ग का प्रतिबिंब देखता हूँ।

अपने जीवन का अंतिम ध्येय यह बनाना कि हम किसी तरह ऐसे पद पर पहुँच जाएँ, जिससे अपना समय सुखपूर्वक काट सकें या धन कमाने को अपना लक्ष्य मानना और यह सोचना कि सारा श्रम तो किसान को करना चाहिए, क्योंकि मशीनों

1. *यह वही जिला है जिसमें टॉल्सटॉय का निवास-स्थान याशनाया पालियाना स्थित है।*

की ईजाद से अब उसके लिए श्रम करना कष्टकर नहीं रह गया है—ये सब बातें हमारे वर्ग की विवेकशून्य विचारधारा का परिचय देती हैं।

जब हम पूछते हैं 'तब हम क्या करें?' तो वास्तव में हम कुछ पूछते नहीं, बल्कि केवल स्वीकार करते हैं कि हम कुछ करना नहीं चाहते; यद्यपि हमारी यह स्वीकारोक्ति उतनी स्पष्ट नहीं, जितनी उस 'महामान्य सैनिक राजकुमार ब्लोखिन' की है, जिसकी बुद्धि पूरी तरह से भ्रष्ट हो चुकी है।

जो समझ से काम लेता है वह ऐसे प्रश्न नहीं कर सकता; क्योंकि एक ओर वह जिस वस्तु का प्रयोग करता है, वह बनाई गई है और मनुष्य के हाथों से बनाई गई है; और दूसरी ओर सचाई यह है कि एक स्वस्थ मनुष्य जागने और कुछ भोजन करने के तत्काल बाद ही अपने हाथ-पैर और दिमाग़ से काम करने की आवश्यकता अनुभव करता है। जो आदमी काम ढूँढ़ना और करना चाहता है, उसके लिए काम की कमी नहीं; आवश्यकता केवल इतनी है कि वह अपने को रोके नहीं। केवल वे लोग जो काम करने में शर्म महसूस करते हैं—उस महिला की भाँति जो अपने अतिथियों से कहती है कि द्वार खोलने का कष्ट न कीजिए, ठहरिए मैं अभी नौकर को बुलाती हूँ—केवल वे ही अपने से यह प्रश्न कर सकते हैं, "हम क्या करें?"

आवश्यकता काम ईजाद करने की नहीं है—आखिर हम वह सारा काम कर भी तो नहीं सकते, जिसकी हमें और दूसरे व्यक्तियों को जरूरत है! आवश्यकता इस बात की है कि हम जीवन के इस दूषित दृष्टिकोण से छुटकारा पा जाए कि हम अपने सुख के लिए खाते और सोते हैं। साथ-ही-साथ आवश्यकता इस बात की है कि जीवन का वह सरल तथा सच्चा दृष्टिकोण अपनाया जाए जिसे किसान विकसित करते और कायम रखते हैं; अर्थात् यह कि मनुष्य मुख्यतः एक मशीन है, जिसे चलाने के लिए भोजन की आवश्यकता होती है और इसलिए काम न करना और केवल खाते जाना लज्जाजनक, कष्टदायक और असंभव है। खाना और काम करना एक बड़ी ही भयंकर बात है, जिसकी अग्निकांड से तुलना की जा सकती है। यदि मनुष्य में केवल इतनी चेतना हो तो उसके पास काम की कमी कभी नहीं रहेगी और वह काम न केवल सुखदायक बल्कि उसके शरीर और आत्मा की माँगों को संतुष्ट करनेवाला भी होगा। मेरे सामने इस समस्या का रूप इस प्रकार था—हमारा भोजन हमारे दिन को चार भागों में बाँट देता है—(1) नाश्ते तक, (2) नाश्ते से दोपहर के भोजन तक, (3) दोपहर के भोजन से सायंकाल के भोजन तक और (4) सायंकाल। मनुष्य का कार्य भी चार भागों में विभाजित किया जाता है—(1) मांसपेशियों का कार्य; अर्थात् हाथ, पैर कंधों और पीठ का कार्य जो गाढ़े पसीने का कार्य होता है, (2) उँगलियों और कलाइयों का कार्य अर्थात् शिल्प का कार्य,

(3) मस्तिष्क और विचार का कार्य, और (4) सामाजिक कार्य। हमें जो लाभ मिलते हैं, उन्हें भी चार श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम, मोटे शारीरिक श्रम का प्रतिफल—जैसे अन्न, पशु, इमारत, कुएँ आदि; दूसरे, शिल्प का प्रतिफल—जैसे कपड़े, जूते, बर्तन आदि; तीसरे, मानसिक कार्य के प्रतिफल—जैसे विज्ञान और कला; तथा चौथे, अन्य व्यक्तियों के साथ संपर्क, परिचय आदि। मुझे ऐसा लगा कि सबसे अच्छी बात यह होगी कि दिनचर्या में इस प्रकार उलट-फेर किया जाए कि मनुष्य की चारों क्षमताएँ कार्य में लाई जा सकें और हम जिन चारों प्रकार के प्रतिफलों से लाभ उठाते हैं, उनका इस प्रकार पुनः निर्माण किया जाए कि हमारे दिन के चारों भाग चारों प्रकार के कामों में लगे रहें—जैसे, पहले में शारीरिक श्रम, दूसरे में मानसिक श्रम, तीसरे में शिल्प-कार्य और चौथे में साथियों से मिलना-जुलना।

यदि हम अपने कार्यों की इस प्रकार व्यवस्था कर लें तब तो बहुत ही अच्छा हो, किंतु यदि ऐसा संभव न हुआ तो सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि हम कार्य के प्रति चेतना का भाव बनाए रखें—अर्थात् समय के प्रत्येक भाग का लाभपूर्वक उपयोग करें।

मुझे ऐसा लगा कि ऐसी व्यवस्था होने पर ही समाज से श्रम का झूठा विभाजन मिट सकेगा और उस उचित विभाजन की स्थापना हो सकेगी, जो मनुष्य के आनंद-भोग में बाधक सिद्ध नहीं होगा।

उदाहरण के लिए, मैंने अपने को जीवन-भर मानसिक कार्य में ही लगाए रखा है। मैं सोचता था कि मैंने श्रम का विभाजन कुछ इस प्रकार कर लिया है कि लिखना अर्थात् मानसिक श्रम मेरा विशेष व्यवसाय बन गया है। दूसरे आवश्यक कार्य में दूसरों को करने के लिए छोड़ देता था, या यों कहिए कि जबर्दस्ती उनसे करवाता था। यह प्रबंध, जो स्पष्ट रूप से मानसिक श्रम के लिए सबसे अधिक लाभकारी था, अंत में मानसिक श्रम के लिए हानिकारक निकला। वह अन्याययुक्त तो था ही।

जीवन-भर मैंने लिखने का ही काम किया और अपने भोजन, निद्रा तथा मनोरंजन की व्यवस्था इसी विशेष कार्य के घंटों के अनुसार की। इसके अतिरिक्त मैंने कुछ नहीं किया।

फल यह हुआ कि मैंने अपने निरीक्षण और ज्ञान का क्षेत्र बहुत संकुचित बना लिया। प्रायः ऐसा होता कि मुझे अध्ययन के लिए कोई विषय ही न मिलता और बहुधा जब मैं व्यक्तियों के जीवन का वर्णन करने बैठता तो मुझे अपने इस अज्ञान का आभास होता और मुझे बहुत-सी ऐसी बातें सीखनी और पूछनी पड़ती जिनके बारे में प्रत्येक व्यक्ति, जो किसी विशेष कार्य में नहीं लगा हुआ है, जानता है। दूसरे

मैंने देखा कि जब कभी मैं लिखने बैठता हूँ तो कोई आंतरिक प्रेरणा मुझे ऐसा करने के लिए विवश नहीं करती। इसके अतिरिक्त किसी ने भी मुझसे यह माँग नहीं की कि मैं लिखने के लिए लिखूँ। अर्थात् किसी को मेरे विचारों की आवश्यकता नहीं थीं; लोग तो केवल आर्थिक लाभ के लिए पत्रों में मेरा नाम दे देना चाहते थे। ऐसे समय में मैं अपने से जो कुछ भी निचोड़ सकता था, निचोड़ने का प्रयत्न करता था। कभी मैं कुछ नहीं दे पाता था, कभी केवल निकृष्ट साहित्य ही दे पाता था और असंतुष्ट तथा बुझा-बुझा-सा रहता था। इसलिए दिन और हफ़्ते निकल जाते और मैं कुछ न लिख पाता; लिखता भी तो ऐसी चीजें जिनकी किसी को आवश्यकता नहीं थी। मैं केवल खाता, पीता, सोता और अपने को गरम रखता। दूसरे शब्दों में, यों कहिए कि मैंने ऐसा स्पष्ट और भद्दा अपराध किया जैसा मज़दूर-वर्ग के किसी व्यक्ति ने कदाचित ही कभी किया हो। लेकिन जब मैंने शारीरिक कार्य—साधारण और कलात्मक दोनों—की आवश्यकता अनुभव की तो बात कुछ और ही हो गई; मेरा सारा समय व्यस्त रहने लगा, जो नगण्य होते हुए भी मेरे लिए निश्चित रूप से उपयोगी तथा सुखदायक और शिक्षाप्रद था। अब मैं अपने को इस असंदिग्ध रूप से उपयोगी तथा सुखदायक कार्य से तभी विलग करता और लिखने के अपने विशेष कार्य को तभी अपनाता जब मुझे उसकी आंतरिक आवश्यकता अनुभव होती और जब मैं देखता कि एक लेखक के रूप में मेरे कार्य के लिए प्रत्यक्ष रूप से माँग की गई है। इससे मेरे विशिष्ट कार्य—लेखन—का ओज बढ़ गया और स्वभावतः उसके मूल्य तथा सुख प्रदान करने की शक्ति में भी वृद्धि हुई।

अतः परिणाम यह निकला कि मेरे शारीरिक श्रम में लगे रहने से—जो मेरे लिए भी उतना ही आवश्यक था जितना और लोगों के लिए—मेरे मानसिक कार्य में न केवल बाधा ही नहीं पहुँची, बल्कि उसकी उपयोगिता, गुण और मधुरता के लिए वह एक आवश्यक शक्ति सिद्ध हुआ।

पक्षी की बनावट कुछ इस प्रकार की होती है कि उसके लिए उड़ना, चलना, चुगना और विचार करना आवश्यक होता है और जब वह ये सब कार्य करता है तो उसे संतुष्टि और प्रसन्नता होती है। एक शब्द में, तब वह वास्तव में पक्षी बन जाता है। ठीक ऐसी ही बात आदमी के साथ है। जब वह चलता है, फिरता है, वस्तुओं को उठाता है, घसीटता है, अपनी उँगली, आँख, कान, जीभ, और दिमाग़ से काम करता है—तब, और केवल तभी, वह संतोष प्राप्त करता है और वस्तुतः मनुष्य बनता है।

जिस व्यक्ति ने मेहनत करना अपना कर्तव्य समझ लिया है वह स्वभावतः अपनी मेहनत का कार्यक्रम कुछ इस प्रकार से बनायेगा कि उससे उसकी आंतरिक

तथा बाह्य आवश्यकताएँ स्वाभाविक रूप से पूरी हो जाएँ। इस क्रम को वह तब तक नहीं बदलेगा जब तक किसी अन्य विशेष कार्य के लिए उसके अंतर में एक दुर्दमनीय उत्कंठा न जाग्रत हो और जब तक दूसरे लोग भी उससे ऐसा कार्य करने की माँग न करें।

श्रम की विशेषता ही यह है कि मनुष्य को अपनी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इतने भिन्न प्रकार के कार्य करने पड़ते हैं कि उससे श्रम बोझिल न रहकर मधुर बन जाता है। परिश्रम को अभिशाप मानने की झूठी धारणा ही एक ऐसी वस्तु है, जो मनुष्य में कार्य से मुक्त रहने की भावना उत्पन्न कर सकती है और जिसके फलस्वरूप अन्य व्यक्तियों को विशिष्ट कार्यों में व्यस्त होने के लिए बाध्य होना पड़ता है। इसी को हम 'श्रम-विभाजन' कहते हैं।

कार्य-व्यवस्था की इस मिथ्या धारणा के हम इतने अभ्यस्त हो गए हैं कि हमें सचमुच यही उचित प्रतीत होता है कि मोची, मिस्त्री, लेखक अथवा गायक को साधारण मनुष्योचित श्रम से मुक्त रखा जाए।

जहाँ जबर्दस्ती दूसरों के श्रम से लाभ उठाने की प्रेरणा नहीं होती, और जहाँ निठल्लेपन को सुखकर समझने की मिथ्या धारणा नहीं होती वहाँ कोई भी व्यक्ति यह नहीं चाहता कि वह अपने मनपसंद कार्य को करने के लिए अपने को उस शारीरिक श्रम से मुक्त कर ले, जो उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक है। इसका कारण यह है कि विशिष्ट कार्य करना कोई लाभ की बात नहीं हैं; बल्कि उसे न करने में एक ऐसा त्याग है, जो मनुष्य को अपने विशेष झुकाव तथा अपने साथियों के प्रति करना पड़ता है।

मान लीजिये कि गाँव का एक मोची खेती के अपने परंपरागत और सुखदायक काम को छोड़कर पड़ोसियों के जूतों की मरम्मत करने या बनाने का काम अपना लेता है। वह अपने को इस अत्यंत सुखप्रद और उपयोगी कृषि-कार्य से इसलिए वंचित करता है कि उसे जूता सीना पसंद है और वह जानता है कि इस कार्य को उसकी-जैसी कुशलता के साथ दूसरा कोई आदमी न कर सकेगा, और लोग इस कार्य के लिए उसके प्रति कृतज्ञ होंगे। किंतु उसकी यह इच्छा कभी नहीं हो सकती कि वह जीवनभर और कोई कार्य कर ही न सके और इस प्रकार कार्य के परिवर्तन से जो सुख मिलता है उससे वंचित रहे। यही बात गाँव के मुखिया, मिस्त्री, लेखक अथवा विद्वान् के साथ भी है केवल हम-जैसे भ्रष्ट बुद्धिवाले यह समझते हैं कि अगर कोई मालिक अपने क्लर्क को दफ़्तर से बरखास्त कर देता है और उसे किसान की भाँति कार्य करने को वापस भेज देता है या यदि कोई मंत्री पदच्युत और निर्वासित कर दिया जाता है तो ऐसा उसे दंड देने के लिए किया जाता है और उसकी अवनति कर

दी जाती है। सच तो यह है कि इससे उसे लाभ होता है, उसका विशेष कष्टकर और जटिल कार्य मधुर श्रम में बदल जाता है।

जहाँ समाज अपनी स्वाभाविक अवस्था में होता है वहाँ यह बात बिल्कुल भिन्न होती हैं। मैं एक ऐसे समाज[1] को जानता हूँ जहाँ लोग स्वयं अपना अन्न पैदा करते हैं। उक्त समाज का एक सदस्य अन्य सदस्यों की अपेक्षा अधिक शिक्षित था और उसे व्याख्यान देने पड़ते थे, जिन्हें वह दिन में तैयार करता और सायंकाल उगल देता। उसने यह कार्य स्वेच्छा से किया; क्योंकि वह अनुभव करता था कि वह दूसरों के लिए एक उपयोगी और भला कार्य कर रहा है। किंतु वह कोरा मानसिक श्रम करते-करते ऊब गया और उसका स्वास्थ्य भी बिगड़ गया। समाज के सदस्यों को उस पर दया आई और उन्होंने उसे खेतों में कार्य करने के लिए बुला लिया।

जो लोग श्रम को जीवन का सार और आनंद मानते हैं, उसके जीवन का आधार सदा वह संघर्ष ही रहेगा, जो मनुष्य प्रकृति के साथ करता है—जैसे कृषि-कार्य, कला-कौशल, मानसिक कार्य और व्यक्तियों के बीच पारस्परिक संपर्क।

इस प्रकार के एक या अनेक कार्यों को छोड़कर किसी कार्य में विशेषता प्राप्त करना भी संभव होगा, जब वह विशेषज्ञ उस कार्य के प्रति अनुरक्ति रखते हुए और यह जानते हुए भी कि वह उस कार्य को दूसरे लोगों से अच्छा कर सकेगा, अपने लाभ की चिंता न करे और उन कार्यों को करे, जिनकी दूसरे लोग उससे प्रत्यक्ष रूप से अपेक्षा रखते हैं। श्रम के बारे में जब हम इस प्रकार का मत बनाएँगे और उसके फलस्वरूप जब श्रम का स्वाभाविक विभाजन होगा तभी शारीरिक श्रम का अभिशाप मिट पायगा। और तब, सारा परिश्रम आनंद का रूप ग्रहण कर लेगा; क्योंकि उस समय मनुष्य या तो निर्विवाद रूप से उपयोगी और आनंद-दायक कार्य करेगा या फिर उसे इस बात का आत्म-संतोष होगा कि दूसरों की भलाई के लिए एक अधिक कठिन और असाधारण कार्य करने में वह स्वार्थ का त्याग कर रहा है।

''लेकिन श्रम का उपविभाजन तो और भी लाभदायक होता है,'' यह अक्सर कहा जाता है।

किंतु प्रश्न यह है कि वह किसके लिए अधिक लाभदायक है?

इसके उत्तर में कहा जाता है कि इस विभाजन से जूतों और वस्त्र का अधिक

1. *टॉल्सटॉय का अभिप्राय उस समाज से है, जो चैकोवस्की ने 18वीं शताब्दी में कन्सास राज्य में स्थापित किया था। जिस व्यक्ति की उसमें चर्चा आई है, उसका नाम हीन्स था। उसने अपना नाम बदलकर विलियम फ्रे रख लिया था और टॉल्सटॉय से याशनाया पोलियाना में मिला था।*

उत्पादन होता है।

''लेकिन ये जूते और कपड़े किसको बनाने पड़ेंगे?''

''ऐसे लोगों को जो पीढ़ियों से पिनों की घुंडियाँ ही बनाते आए हैं और जिन्होंने इसके अलावा और कुछ नहीं किया है।''

''तो फिर यह उनके लिए लाभदायी कैसे हो सकता है?''

यदि मुख्य उद्देश्य केवल अधिक-से-अधिक मात्रा में कपड़ा और पिन तैयार करना हो तब तो यह सब ठीक है। किंतु जिस बात का मुख्य रूप से ध्यान रखना है वह है मनुष्य और उसका कल्याण। मनुष्यों का कल्याण उनके जीवन में है और उनका जीवन उनके कार्य में है। ऐसी अवस्था में यह कैसे हो सकता है कि कष्टदायक और निम्न कोटि का कार्य लाभदायक सिद्ध हो?

यदि जीवन का लक्ष्य समस्त समुदाय की चिंता न करते हुए कुछ विशेष व्यक्तियों को ही लाभ पहुँचाना हो तो सबसे फायदे की बात यह है कि कुछ लोग दूसरे लोगों को खा जाएँ। कहा जाता है कि मनुष्य का मांस बड़ा स्वादिष्ट होता है। किंतु जिस वस्तु की कामना मैं स्वयं करता हूँ वही समस्त समुदाय के लिए भी सबसे अधिक लाभदायक होती है। अर्थात् यह कि शरीर और आत्मा ही नहीं, बल्कि अंतरात्मा और बुद्धि का भी अधिक-से-अधिक कल्याण हो और उनकी आवश्यकताओं की अधिक-से-अधिक पूर्ति हो। मैंने व्यक्तिगत रूप से अनुभव किया कि अपनी भलाई और आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मुझे केवल उस पागलपन से मुक्त होने की आवश्यकता है, जिसमें मैं क्रापीवेंस्की के पागल व्यक्ति की भाँति पड़ गया था और यह समझता था कि भद्र पुरुषों को परिश्रम करने की आवश्यकता नहीं है, वह सब तो दूसरे व्यक्तियों को करना चाहिए। जब मुझे यह बात मालूम हुई, तो मुझे विश्वास हो गया कि अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जो कार्य किया जाता है वह अपने को स्वभावतः विभिन्न प्रकार के कार्यों में विभाजित कर लेता है, जिसमें से प्रत्येक का अपना आकर्षण होता है। यह कार्य न केवल बोझिल नहीं होता, बल्कि दूसरे प्रकार के परिश्रमों से विश्राम दिलाने में सहायक होता है।

इस कार्य को मैंने मोटे तौर पर अपने जीवन की आवश्यकताओं के अनुसार चार भागों में विभाजित किया है और उसी आधार पर कार्य करते हुए मैं अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने का प्रयत्न करता हूँ।

सारांश यह कि मुझे 'हम क्या करें' प्रश्न के जो उत्तर मिले वे ये हैं—

पहला—अपने से झूठ न बोलना और—मेरी बुद्धि ने जिस सत्य-मार्ग को सामने ला दिया है, उससे मेरा जीवन-पथ कितना ही दूर क्यों न हो, सत्य से न

डरना।

दूसरा—अपने को दूसरों से अधिक पुण्यात्मा, ऊँचा और सम्मानीय समझने के विचार को ठुकरा देना और अपने को अपराधी स्वीकार करना।

तीसरे—मानवता के शाश्वत, असंदिग्ध नियम का पालन करना और अपने तथा दूसरे व्यक्तियों के जीवन का पोषण करने के लिए शक्तिभर प्रकृति के साथ संघर्ष करना।

सारी मुसीबतों की जड़ संपत्ति

अपने बारे में मुझे जो कुछ कहना था, कह चुका; किंतु जिन बातों का संबंध हर व्यक्ति से है, उन्हें भी कहे बिना जी नहीं मानता। इसके अतिरिक्त मैं जिन निष्कर्षों पर पहुँचा हूँ, उन्हें साधारण जीवन की कसौटी पर कसना चाहता हूँ।

मैं यह बताना चाहता हूँ कि मुझे ऐसा क्यों लगता है कि हमारे वर्ग के अधिकांश व्यक्तियों को उसी निष्कर्ष पर पहुँच जाना चाहिए, जिस पर मैं पहुँचा हूँ। मैं यह भी बताना चाहता हूँ कि यदि थोड़े-से व्यक्ति भी इसी निष्कर्ष पर पहुँच गए तो उसका क्या परिणाम निकलेगा।

मेरा ख्याल है कि बहुत-से लोग इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे, जिस पर मैं पहुँचा हूँ; क्योंकि यदि हमारे वर्ग के, हमारी जाति के लोग केवल अपने चारों ओर गंभीरतापूर्वक देखने-भर की चेष्टा करें तो व्यक्तिगत सुख की आकांक्षा रखनेवाले नवयुवक अपने जीवन के निरंतर बढ़ते हुए उन कष्टों से भयभीत हो उठेंगे, जो उन्हें साफ तौर पर विनाश की ओर खींचे लिए जा रहे हैं। इसी तरह समझदार लोग अपने क्रूर और अन्यायपूर्ण जीवन से सहम जाएँगे और कायर लोग अपने जीवन के संकटों से काँप उठेंगे।

हमारे जीवन का विषाद? हम अपने जीवन के मिथ्या आचरण में विज्ञानों और कलाओं की सहायता से चाहे कितनी भी थेगलियाँ क्यों न लगाएँ, हमारा यह जीवन वर्ष-प्रतिवर्ष अधिक क्षीण, अधिक रोगयुक्त और अधिक दुःखदायी होता जा रहा है। हर साल आत्महत्याओं और गर्भपातों की संख्या बढ़ती जा रही है; हर साल इस वर्ग के लोग अधिक दुर्बल होते जा रहे हैं और हर साल हम अनुभव करते हैं कि हमारे जीवन का अंधकार बढ़ता जा रहा है।

स्पष्ट है कि जीवन का ऐशो-आराम बढ़ाने से या औषधियों का सेवन करने से या कृत्रिम दाँतों और बालों का प्रयोग करने से या प्राणायाम और मालिश करने से

मुक्ति नहीं मिल सकती। यह सत्य इतना स्पष्ट हो गया है कि जब समाचारपत्रों में अमीरों के लिए पाचक चूर्णों का विज्ञापन छपता है तो उसे 'गरीबों के लिए वरदान' शीर्षक से प्रकाशित किया जाता है। उसमें कहा जाता है कि गरीबों की पाचन-शक्ति अच्छी होती है, किंतु अमीरों को भोजन पचाने के लिए ऊपरी सहायता की आवश्यकता होती है, जिसमें ये चूर्ण भी शामिल हैं।

किंतु अमीरों के पाचन-विचार का इलाज मनोरंजन, ऐशोआराम या चूर्ण से नहीं हो सकता—यह बीमारी तो केवल जीवन में परिवर्तन करने से ही दूर हो सकती है।

हमारे जीवन के साथ हमारी अंतरात्मा का विग्रह! मानवता के प्रति हम जो विश्वासघात करते हैं, उसको न्यायपूर्ण सिद्ध करने का हम चाहे कितना भी प्रयत्न क्यों न करें, स्पष्ट तथ्यों के सामने हमारे सब बहाने धूल में मिल जाते हैं। हम देखते है कि हमारे चारों ओर लोग अत्यधिक श्रम और अभाव के कारण मर रहे हैं और फिर भी हम उनके द्वारा तैयार किए गए भोजन और वस्त्र का तथा उनके परिश्रम का भी केवल परिवर्तन की दृष्टि से उपभोग कर डालते हैं। इसलिए हमारे वर्ग के लोगों की अंतरात्मा—यदि अंतरात्मा नाम की वस्तु उनके रह गई है तो—चैन से नहीं बैठ पाती। वह जीवन के उस सारे सुख-विलास को विषाक्त बना देती है, जो हमें अपने भाइयों के श्रम के फलस्वरूप प्राप्त होता है—ऐसे भाई जो हमारे लिए श्रम करते-करते मर-मिटते हैं।

इस बात को हर समझदार आदमी स्वयं महसूस करता है। वह उसे भूलना पसंद करेगा; लेकिन हमारे युग में ऐसा करना संभव नहीं है। इसके अतिरिक्त विज्ञान और कला के सभी सर्वोत्तम अंश—वे अंश जिन्होंने अपने उद्देश्य को भुलाया नहीं है—हमें लगातार निर्दयता और अनौचित्यपूर्ण स्थिति का ध्यान दिलाते रहते हैं। विज्ञान और कला की सार्थकता को प्रमाणित करनेवाले जितने भी पुराने और दृढ़ तत्त्व थे वे सब नष्ट हो गए हैं; 'विज्ञान विज्ञान के लिए' और 'कला कला के लिए' के नए नपुंसक तर्क सरल सामान्य बुद्धि को ग्राह्य नहीं हैं।

मनुष्य की आत्मा नए बहानों की आड़ पाकर संतुष्ट नहीं हो सकती; उसे तो जीवन के परिवर्तन से ही संतोष मिल सकता है। और उस अवस्था में किसी व्यक्ति के लिए अपने औचित्य को सिद्ध करने की आवश्यकता ही नहीं रह जाएगी, क्योंकि फिर ऐसी कोई वस्तु रह ही नहीं जाएगी, जिसे अपनी सार्थकता सिद्ध करने की जरूरत हो।

हमारी जीवन-प्रणाली का संकट! हम जिनका शोषण कर रहे हैं, उनका धैर्य एक दिन समाप्त हो सकता है। इस सरल और अत्यंत स्पष्ट संकट को हम अपने से छिपाने का चाहे कितना भी प्रयत्न क्यों न करें, इसका हम सब तरह की धोखेबाजी,

हिंसा और टालमटोल से कितना ही निराकरण करने का प्रयत्न क्यों न करें। यह संकट प्रतिदिन और प्रतिघंटा बढ़ता जा रहा है। वैसे तो हमें इसका बहुत समय से खटका रहा है; किंतु अब यह संकट इतना बढ़ गया है कि गरजते सागर में हमें अपनी छोटी-सी जीवन-नौका को सँभालना कठिन हो रहा है। उसकी तूफानी लहरें हमतक आ पहुँची हैं और क्रुद्ध होकर हमें निगल जाने की धमकी दे रही हैं। विनाश और हत्याकांड से भरी हुई मज़दूरों की क्रांति हमें केवल भयभीत नहीं कर रही, है बल्कि उसी क्रांति में से होकर हमने तीस वर्ष निकाल भी दिये हैं और इधर-उधर की अस्थायी युक्तियों से किसी प्रकार उसके विस्फोट को कुछ समय के लिए टालने में सफल हो सके हैं। यही यूरोप की दशा है, यही हमारी दशा है। हमारे लिए तो यह और भी खतरनाक हैं, क्योंकि हमारे पास सुरक्षा के साधन नहीं हैं। सर्वसाधारण की दृष्टि में अब ज़ार के अतिरिक्त जनता का दमन करनेवाले किसी भी वर्ग की कोई सार्थकता नहीं रह गई है। जनता तो आज केवल हिंसा, मक्कारी और अवसरवादिता के बल पर ही दबाकर रखी जा रही है, किंतु उसके प्रतिनिधियों में हमारे प्रति घृणा और तिरस्कार की भावना प्रतिघंटे बढ़ती जा रही हैं।

पिछले तीन या चार वर्षों में हम लोगों के बीच एक नए महत्त्वपूर्ण शब्द का आम प्रयोग होने लगा है, जिसे मैंने पहले कभी नहीं सुना था। यह राह चलते गाली के रूप में प्रयुक्त होता है और इसका अर्थ मुफ्तख़ोर होता है।

शोषित जनता में घृणा की भावना बढ़ती जा रही है तथा धनिक वर्गों की शारीरिक और नैतिक शक्तियाँ क्षीण होती जा रही हैं। प्रवंचना के जिस पर्दे में सबकुछ छिपा था, वह छिन्न-भिन्न हो रहा है और इस भयंकर संकट के समय धनिक वर्गों के पास ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिससे वे अपने को सांत्वना दे सकें।

पुराने तरीक़ों को फिर से अपनाना असंभव है, नष्ट प्रतिष्ठा को फिर कायम करना नामुमकिन है। जो लोग अपने जीवन का ढंग नहीं बदलना चाहते, उनके लिए केवल एक चीज़ बाकी रह गई है और वह है यह आशा कि हमारे जीवन-काल में तो यही हालत रहेगी—बाद में जो कुछ होना है होता रहे।

यह है वह कार्य जिसे धनिकों को अंधा समाज कर रहा है; लेकिन संकट बराबर बढ़ रहा है और विनाश की घड़ी दिर-पर-दिन पास आती जा रही है।

तीन कारण हैं जो धनिक वर्ग को अपने जीवन का ढंग बदलने की आवश्यकता का संकेत करते हैं—(1) अपनी तथा अपने निकटस्थों की भलाई की आवश्यकता, जो उस रास्ते पर चलने से नहीं मिल सकती, जिस पर कि धनिक वर्ग के लोग चल रहे हैं; (2) अंतरात्मा की पुकार का पालन करने की आवश्यकता, जो वर्तमान मार्ग पर चलते हुए एकदम असंभव है; और (3) जीवन के प्रति निरंतर बढ़ता हुआ

संकट, जिसे कभी भी बाहरी युक्ति से नहीं टाला जा सकता। इन तीनों बातों के कारण धनिक वर्ग के लोगों को अपने जीवन का ढंग बदलने के लिए प्रेरित होना चाहिए, जिससे उनकी भलाई हो, वे अपनी अंतरात्मा की आवाज़ पर चल सकें और संकट को टाल सकें।

इस प्रकार का परिवर्तन केवल एक है और वह है धोखा देना बंद करना, पश्चात्ताप करना और यह स्वीकार करना कि परिश्रम अभिशाप नहीं, बल्कि जीवन का आनंदप्रद व्यापार है।

इसके उत्तर में लोग कहते हैं—किंतु जिस शारीरिक श्रम को हज़ारों किसान मेरे रुपयों के बदले में प्रसन्नता से करने को तैयार हो जाएँगे उसे यदि मैं प्रतिदिन दस, आठ या पाँच घंटे करूँ तो इससे क्या लाभ होगा?

इसका एक सबसे सरल और निश्चित परिणाम यह होगा कि आप पहले से अधिक प्रसन्न, स्वस्थ, कुशल और दयालु हो जाएँगे और यह सीख जाएँगे कि वास्तविक जीवन क्या है, जिससे आप अपने को आज तक छिपाए हुए थे अथवा जो आपसे अब तक छिपा हुआ था।

दूसरे, यदि आपके पास अंतरात्मा है तो उसे दूसरे व्यक्तियों को श्रम करते हुए देखकर—जिसकी कठोरता का हम अपने अज्ञानवश बढ़ा-चढ़ाकर अथवा कम मूल्याँकन करते हैं—अब की भाँति पीड़ित नहीं होना पड़ेगा। इसके विपरीत आप हर समय इस मधुर चेतना का अनुभव करेंगे कि आप अपनी अंतरात्मा की माँगों को प्रतिदिन अधिकाधिक पूरा करते जाते हैं और अपने जीवन में बुराइयों का संग्रह करने की भयंकर स्थिति से दूर हटते जाते हैं, जिसके कारण आपके लिए दूसरों की भलाई करना असंभव हो गया है। आप एक ऐसे उन्मुक्त जीवन की मधुरता का अनुभव करेंगे, जिससे आप दूसरों की भलाई कर सकेंगे। आप अपने जीवन में एक ऐसी खिड़की खोल सकेंगे, जिससे होकर नैतिक विश्व के आकाश से प्रकाश-रेखा आप तक पहुँच सकेगी, जिससे अब तक आप वंचित रहे हैं। आप जो बुराई करते हैं, उसका आपको बदला मिलेगा—इस निरंतर भय में रहने के बजाए आप यह अनुभव करेंगे कि आप दूसरों को प्रतिशोध से बचा रहे हैं। सबसे बड़ी अनुभूति तो आपको यह होगी कि आप दलितों को घृणा और बदले की भीषण भावना से बचा रहे हैं।

इसके उत्तर में लोग आम तौर से कहते हैं, "किंतु सचमुच ही यह एक बड़ी हास्यास्पद बात होगी कि हम लोग—जिनके सामने गंभीर दार्शनिक, वैज्ञानिक, राजनीतिक, कलात्मक, धार्मिक और सामाजिक समस्याएँ हैं और जो राज्यों के मंत्री, सभासद, शिक्षाविद, अध्यापक, कलाकार और संगीतज्ञ हैं और जिनका एक-एक क्षण बहुमूल्य है—ऐसी छोटी-छोटी बातों पर समय नष्ट करें जैसे कि अपने जूते

साफ करना, अपनी कमीज़ें धोना, ज़मीन खोदना, आलू धोना, अपनी मुर्गियों, गायों आदि को दाना खिलाना आदि। ये तो ऐसे कार्य हैं, जिन्हें हमारे लिए न केवल हमारे नौकर-चाकर और रसोइए ही, बल्कि वे हज़ारों व्यक्ति भी हर्षपूर्वक कर देते हैं जो हमारे समय की कद्र करते हैं।'' किंतु हम स्वयं कपड़े क्यों पहनते हैं, स्वयं क्यों नहाते हैं, अपने बालों में अपने हाथों से कंघा क्यों करते है, स्वयं शीशे में मुँह क्यों देखते हैं, हम क्यों चलते हैं, महिलाओं और अतिथियों के आने पर उन्हें कुर्सियाँ क्यों पकड़ाते हैं, दरवाजे क्यों बंद करते और खोलते हैं, आदमियों को गाड़ियों में क्यों बैठाते हैं और इसी प्रकार के सौ और ऐसे काम क्यों करते हैं, जिन्हें हमारे दास हमारे लिए किया करते थे और कर सकते हैं?

क्योंकि हम कह सकते हैं कि ऐसा ही होना चाहिए, ऐसा करना मनुष्य की मर्यादा के अनुकूल है, यही मनुष्य का कर्तव्य और धर्म है।

यही बात शारीरिक श्रम के लिए है। मनुष्य की यह मर्यादा है, उसका यह पवित्र धर्म और कर्तव्य है कि वह अपने हाथ-पैर से वह काम ले जिसके लिए वे उसे मिले हैं। जिस अन्न का मनुष्य उपभोग करता है उसकी सहायता से उसे ऐसे श्रम करने चाहिए, जिनसे अन्न की पुन: उत्पत्ति हो, अर्थात् मनुष्य को अपने हाथ-पैरों को निरर्थक नहीं रहने देना चाहिए, उन्हें केवल धो-धाकर साफ ही न रखना चाहिए और न उनसे केवल मुँह में अन्न, पान और सिगरेट रखने का काम लेना चाहिए।

शारीरिक श्रम का यह महत्त्व प्रत्येक समाज में और प्रत्येक मनुष्य के लिए है। किंतु हमारे समाज में—जहाँ दुर्भाग्यवश समूचा-का-समूचा वर्ग प्रकृति के इस नियम की अवज्ञा करता है—शारीरिक श्रम का एक और भी महत्त्व हो गया है, वह एक ऐसा मंत्र और एक ऐसा कार्य बन गया है, जो मानवता को अपने ऊपर मंडरानेवाले संकटों के बादलों से बचाता है। यह कहना कि शारीरिक श्रम करना शिक्षित व्यक्ति के लिए एक महत्त्वहीन कार्य है ऐसा ही है जैसे किसी मंदिर का निर्माण करते समय यह पूछना कि अमुक पत्थर को अपने स्थान पर ढंग से लगाने का क्या महत्त्व है।

जितने भी अधिक-से-अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य होते हैं वे सब अनायास ही नम्रतापूर्वक और बिना किसी आडंबर के हुआ करते हैं। न तो हल चलाने का कार्य और न इमारत बनाने या पशु चराने या सोचने के कार्य ही वर्दी पहनकर, दीपों की चमक-दमक में और तोपों के गर्जन के बीच किए जा सकते हैं। इसके विपरीत दीपों की जगमगाहट, तोपों की गड़गड़ाहट, संगीत, वर्दी, सफाई और चमक-दमक (जिन्हें हम किसी कार्य के महत्त्व का प्रतीक मानने के आदी हो गए हैं) यह प्रकट करते हैं कि उनके बीच जो कुछ भी हो रहा है वह सब महत्त्वहीन है। महान और

सच्चे कार्य सदा ही सरल और विनम्र होते हैं।

और यही बात हमारी सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या के बारे में हैं, उन भयंकर विरोधाभासों का हल निकालना जिनके मध्य हम रह रहे हैं।

इन विरोधाभासों को सुलझानेवाले कार्य में विनम्र आडंबरविहीन कार्य ही हैं: अर्थात् अपना कार्य स्वयं करना और अपने लिए तथा यथासंभव दूसरों के लिए भी शारीरिक श्रम करना। यदि हम धनिकों में अपने जीवन के दुर्भाग्य, अन्याय और संकटपूर्ण स्थिति को समझने की क्षमता है तो हमें ऐसा करना ही होगा।

यदि मैं और मेरे-जैसे एक-दो दर्जन दूसरे लोग शारीरिक श्रम से घृणा न कर उसे आत्मिक संतोष और सुरक्षा के लिए आवश्यक समझने लगें तो उसका क्या परिणाम होगा? परिणाम यह होगा कि एक, दो या तीन दर्जन व्यक्ति, बिना किसी से लड़े-झगड़े और बिना किसी सरकारी या क्रांतिकारी हिंसा के अपनी इस समस्या को सुलझा लेंगे, जो देखने में असंभव प्रतीत होती है, किंतु जो सारी दुनिया के सामने है। इतना ही नहीं, वे उसे ऐसे ढंग से सुलझा लेंगे कि वे पहले की अपेक्षा अधिक अच्छा जीवन बिता सकेंगे, उनकी आत्मा को अधिक शांति मिलेगी और उन्हें दमन का भूत अधिक नहीं सताएगा। परिणाम यह होगा कि दूसरे व्यक्ति देखेंगे कि जिस अच्छाई को वे सब जगह ढूँढ़ते-फिरते थे वह अपने पास ही है, और उनकी अंतरात्मा तथा साँसारिक विधान के बीच जो विरोधाभास देखने में विषम मालूम देते थे वे अत्यंत सरल और सुखद ढंग से सुलझ गए हैं। इसीलिए उन्हें अपने आसपास के लोगों से भयभीत होने के बजाए उनके पास आना तथा उन्हें प्यार करना चाहिए।

प्रकट रूप से विषय प्रतीत होनेवाला आर्थिक और सामाजिक प्रश्न क्राईलाफ के बक्स[1] के समान है। वह सरलता से खुल सकता है लेकिन वह खुले तो तब जब लोग उसे खोलने की सबसे पहली और सरल क्रिया करें, अर्थात् उसके ढक्कन को उठाएँ।

तो प्रगट रूप से विषय प्रतीत होनेवाला यह प्रश्न वही पुराना है—कुछ व्यक्तियों द्वारा अन्य व्यक्तियों के श्रम का शोषण। हमारे समय में इस प्रश्न की अभिव्यक्ति संपत्ति के रूप में होती है। पहले लोग बल-प्रयोग से दूसरों को गुलाम बनाकर उनसे परिश्रम कराते थे। आज हम संपत्ति के बल पर कराते हैं।

---

1. क्राईलाफ़ की कहानियों में एक ऐसे बक्स की चर्चा है जिसके ताले को बहुत-से लोगों ने खोलने की चेष्टा की, किंतु खोल न सके। बात यह थी कि उस बक्स में ताला लगा ही नही था, उसके ढक्कन को उठाने भर की आवश्यकता थी।

आज संपत्ति ही सब बुराइयों की जड़ है। जो इससे संपन्न हैं वे और जो इससे वंचित हैं वे भी, बस इसी से त्रसित हैं। यही उन व्यक्तियों की अंतरात्मा के क्रन्दन की जड़ है, जो इसका दुरुपयोग करते हैं और यही उन दो वर्गों के संघर्ष की जड़ है, जिनमें से एक के पास इसकी बहुलता है और दूसरे के पास इसका अभाव। इस प्रकार बुराई की जड़ होते हुए भी संपत्ति ही आज हमारे समाज की समस्त हलचलों का उद्देश्य है। यही सारी दुनिया की क्रियाओं का निर्देशन करती है।

राज्य और सरकारें संपत्ति के लिए षड्यंत्र करती और लड़ती हैं। साहूकार, व्यापारी, निर्माता और जमींदार संपत्ति के लिए ही कार्य करते, योजना बनाते और अपने को तथा दूसरों को कष्ट में डालते हैं। अधिकारीगण और कारीगर संपत्ति के लिए ही संघर्ष करते, धोखा देते, दमन करते और कष्ट भोगते हैं। हमारे न्यायालय और हमारी पुलिस संपत्ति की ही रक्षा करती है। हमारी दंड-व्यवस्थाएँ, हमारे बंदीगृह और अपराध के तथाकथित शमन के हमारे सारे साधन संपत्ति के कारण ही विद्यामान हैं।

संपत्ति सारी बुराइयों की जड़ है और इसी के बँटवारे तथा रक्षा की सारी दुनिया को चिंता है।

तब संपत्ति क्या है?

लोग यह सोचने के आदी हैं कि संपत्ति सचमुच ही कुछ ऐसी वस्तु हैं, जिस पर किसी व्यक्ति का अधिकार होता है। यही कारण है कि वे उसको 'संपत्ति' कहते हैं। हम अपने घर और अपने हाथ के बारे में एक ही बात कहते हैं—यह 'मेरा अपना' हाथ है, यह 'मेरा अपना' घर है।

किंतु वास्तव में यह एक भूल और अंधविश्वास है। हम जानते हैं—और नहीं जानते तो आसानी से जान सकते हैं—कि संपत्ति दूसरे व्यक्तियों के कार्य को हड़पने का साधनमात्र है। दूसरे व्यक्तियों का कार्य निश्चय ही अपना नहीं हो सकता। इसका संपत्ति की वैयक्तिक धारण के साथ कोई मेल नहीं और यह धारणा एकदम ठीक तथा निश्चित है। जिस वस्तु में मनुष्य की रुचि है और जो उसकी चेतना अर्थात् उसके अपने शरीर से संबंधित है, उसे मनुष्य ने सदा 'मेरी अपनी' कहा है और सदा कहता भी रहेगा। मनुष्य का शरीर ही उसकी सच्ची संपत्ति कहाता है, जो उसका शरीर नहीं है किंतु जिसे वह अपने शरीर की भी भाँति अपनी इच्छा के अधीन रखना चाहता है, तो वह गलती करता है, भ्रम और कष्ट में पड़ता है तथा दूसरों को कष्ट देने के लिए बाध्य होता है।

मनुष्य अपनी पत्नी, अपने बच्चों, अपने नौकरों और अपनी अन्य वस्तुओं को अपना कहता है; किंतु वास्तविकता उसे सदा उसकी गलती बता देती है। इसलिए उसे या तो वह अंधविश्वास त्यागना पड़ता है या स्वयं दु:ख उठाकर दूसरों को दु:ख में डालने पर विवश होना पड़ता है।

आज के युग में चूँकि रुपए का चलन हो गया है और सरकार उसका संग्रह करती है, हम नाममात्र के लिए मनुष्यों पर अपना स्वामित्व त्यागकर रुपए-पैसे पर स्वामित्व जतलाने लगे हैं अर्थात् दूसरे लोगों के श्रम पर अपना अधिकार जताने लगे हैं।

किंतु पत्नी, पुत्र, नौकर या घोड़े के स्वामित्व के अधिकार की बात एक कोरी कल्पना है। वास्तविकता ने इसे छिन्न-भिन्न कर दिया है और जो इसमें अब भी विश्वास करते हैं उन्हें दु:ख ही होता है; क्योंकि हमारी पत्नी अथवा हमारा पुत्र कभी हमारे शरीर की भाँति हमारी इच्छा की दासता स्वीकार नहीं करेंगे और केवल हमारा शरीर ही हमारी वास्तविक संपत्ति रहेगा। इसी प्रकार रुपया-पैसा भी कभी हमारा अपना नहीं हो सकेगा।

वह तो केवल आत्म-प्रवंचना और कष्ट का स्रोत ही होगा, जबकि हमारी वास्तविक संपत्ति फिर भी हमारा शरीर ही होगा, जो सदा हमारी आज्ञा का पालन करता है और हमारी चेतना के साथ बँधा हुआ है।

केवल हम-जैसे लोग, जो अपने शरीर के अतिरिक्त दूसरी वस्तुओं को भी अपनी 'संपत्ति' कहने के आदी हैं, यह सोच सकते हैं, कि इस प्रकार का बेसिर-पैर का अंधविश्वास लाभदायक हो सकता है और उससे हमें कोई हानि नहीं पहुँचेगी। वास्तविकता पर थोड़ा-सा विचार करने से ही पता लग जाएगा कि इस अंधविश्वास में भी अन्य अंधविश्वासों की भाँति भयंकर परिणाम छिपे हुए हैं।

एक सरलतम उदाहरण लीजिये।

मैं स्वयं को और किसी एक दूसरे व्यक्ति को भी अपनी संपत्ति समझता हूँ। मैं अपने को भोजन तैयार करने योग्य बनाना चाहता हूँ। यदि मेरे मन में यह अंधविश्वास न हो कि उस दूसरे व्यक्ति पर मेरा अधिकार है तो मैं यह कार्य—और दूसरी आवश्यक कलाएँ भी—अपनी संपत्ति, अर्थात् स्वयं अपने शरीर को सिखाऊँगा। किंतु स्थिति यह है, कि यह कार्य मैं अपनी काल्पनिक संपत्ति को सिखाता हूँ। परिणाम यह होता है, कि जब मेरा रसोइया मेरा कहना नहीं मानता या मुझे खुश करना नहीं चाहता, अथवा भाग जाता है, तो मेरे सामने एकमात्र विकल्प यही रह जाता है कि अपनी व्यवस्था मैं आप करूँ। किंतु मुझे सीखने का अभ्यास तो होता नहीं; केवल यह अनुभूति-भर होती है कि जितना समय मैंने रसोइए की चिंता करने में लगाया, उतने में मैं स्वयं रसोई बनाना सीख जाता। यही बात इमारतों, कपड़ों, बर्तनों, जायदाद और रुपए के बारे में भी है। जितनी भी काल्पनिक संपत्तियाँ हैं, वे

मेरे मन में ऐसी अनुपयुक्त आकांक्षाएँ जागृत कर देती हैं, जो सदा पूरी नहीं हो सकतीं और साथ-ही-साथ मेरे लिए यह संभावना नहीं रह जाती कि कभी मैं अपनी सच्ची और निर्विवाद संपत्ति, अर्थात् अपने शरीर, के उस ज्ञान, उस कुशलता, उन आदतों और उस पूर्णता की प्राप्ति कर सकता हूँ, जो मुझे करनी चाहिए।

इसका परिणाम सदा यह होता है कि मैं अपने लिए या अपनी सच्ची संपत्ति के लिए कोई लाभ उठाए बिना ही ऐसी संपत्ति पर, जो मेरी नहीं थी और मेरी नहीं हो सकती थी, अपनी शक्ति और कभी-कभी संपूर्ण जीवन व्यतीत कर देता हूँ।

मैं उन चीजों को सजाता हूँ, जिन्हें मैं अपना पुस्तकालय, अपनी चित्रशाला, अपने कमरे और वस्त्र मानता हूँ। मैं अपनी रुचि की वस्तुएँ खरीदने के लिए अपना 'निजी' धन प्राप्त करता हूँ, और इस सबका अंत यह होता है कि मैं अपनी काल्पनिक संपत्ति में उलझकर—जैसे वह वास्तव में मेरी ही हो—यह बिल्कुल भूल जाता हूँ, कि मेरी निजी संपत्ति में—जिसपर मैं वास्तव में परिश्रम कर सकता हूं, जो मेरे काम आ सकती है, और सदा मेरे नियंत्रण में रहेगी—तथा उस संपत्ति में, जिसे मैं चाहे कुछ कहूँ, लेकिन मेरी नहीं है और मेरी नहीं हो सकती, और न ही मेरे परिश्रम का उद्देश्य बन सकती—क्या अंतर है।

शब्दों का अर्थ हमेशा स्पष्ट होता है, जबतब कि हम जान-बूझकर उनको झूठा अर्थ न प्रदान करें।

तब संपत्ति का क्या अर्थ है ? संपत्ति वह है जिस पर मेरा, केवल मेरा, अधिकार है, जिसका मैं जब जो चाहूँ कर सकता हूँ, जिसे कोई मुझसे छीन नहीं सकता, जो जीवन-पर्यंत मेरी ही रहती है, और जिसे मुझे उपयोग में लाना, बढ़ाना और सुधारना चाहिए।

इस प्रकार की संपत्ति स्वयं मनुष्य अपने लिए हो सकता है।

किंतु ठीक यही अर्थ उस काल्पनिक संपत्ति को भी दिया जाता है, जिसे प्राप्त करने के लिए संसार की समस्त भयंकर बुराइयों का जन्म होता है; जैसे युद्ध, फाँसी, न्यायालय, बंदीगृह, विलास, पाप, हत्या और जनता का विनाश। स्मरण रहे कि यह एक असंभव को संभव बनाने का प्रयत्न होता है, ऐसे पदार्थों को प्राप्त करने का प्रयत्न होता है, जो हमसे बाहर हैं और जो हमारे अपने कदापि नहीं हो सकते।

इसलिए यदि एक दर्जन व्यक्ति आवश्यकतावश नहीं, बल्कि यह सोचकर कि मनुष्य को श्रम करना चाहिए और वह जितना ही श्रम करेगा उतना ही उसके लिए अच्छा होगा, हल चलाएँ या लकड़ी चीरें या जूते गाँठें, तो इसका क्या परिणाम होगा ? परिणाम यह होगा कि एक दर्जन व्यक्ति या अकेला एक व्यक्ति ही अपनी बुद्धि और अपने कार्यों से अन्य व्यक्तियों को बतला देगा कि मनुष्य जिस भयंकर

दुःख से पीड़ित है वह न तो प्रारब्ध का नियम है, न ईश्वरीय इच्छा और न ही कोई ऐतिहासिक आवश्यकता है, वह तो एक कोरा अंधविश्वास है—एक ऐसा अंधविश्वास जो न तो बहुत दृढ़ है और न भयंकर ही। वह एक दुर्बल और महत्त्वहीन अंधविश्वास है और उससे छुटकारा पाने के लिए आवश्यकता इस बात की है कि उस पर विश्वास ही न किया जाए और उसे गंदे जाले की भाँति नष्ट कर दिया जाए।

जो मनुष्य अपने जीवन के सुखद नियम का पालन करने के लिए श्रम करते हैं, अर्थात् जो श्रम के नियम का पालन करने के लिए श्रम करते हैं, वे अपने को निजी संपत्ति के अंधविश्वास से, जो इतने दुर्भाग्यों से परिपूर्ण है, अवश्य मुक्त कर लेंगे और तब संसार की वे समस्त संस्थाएँ, जो मनुष्य के शरीर के अतिरिक्त दूसरे प्रकार की तथाकथित संपत्ति की रक्षा के लिए बनी हुई हैं, उनके लिए केवल अनावश्यक ही नहीं, बल्कि भारस्वरूप हो जाएँगी और यह बात सबको स्पष्ट हो जाएगी कि ये संस्थाएँ न केवल अनिवार्य ही नहीं हैं, बल्कि हानिकारक, कृत्रिम और झूठी भी हैं।

जो व्यक्ति श्रम को अभिशाप नहीं, बल्कि आनंद समझता है, उसके लिए निजी शरीर के अतिरिक्त और कोई संपत्ति अर्थात् दूसरे मनुष्य के श्रम का उपयोग करने की सत्ता न केवल व्यर्थ बल्कि कष्टदायक भी होगी।

यदि मैं अपना भोजन तैयार करना चाहता हूँ और यदि मुझे ऐसा करने का अभ्यास है तो किसी दूसरे व्यक्ति का मेरे लिए भोजन तैयार करना मुझे एक अभ्यस्त कार्य से वंचित कर देता है, और मुझे आत्मसंतोष भी प्रदान नहीं करता। इसके विपरीत जो व्यक्ति श्रम को ही जीवन समझता है, अपने जीवन को श्रम से परिपूर्ण कर लेता है और इसलिए जिसे अन्य व्यक्तियों के श्रम की कम-से-कम आवश्यकता है अर्थात् जिसे अपने जीवन के आलस्यपूर्ण समय को सुख और आनंद से भरने के लिए संपत्ति की कम-से-कम आवश्यकता है, उसके लिए काल्पनिक संपत्ति बेकार है।

यदि किसी व्यक्ति का जीवन श्रम से परिपूर्ण हो तो उसे कमरों, मेजों, कुर्सियों और तरह-तरह के सुंदर वस्त्रों की आवश्यकता नहीं। उसे कम खर्चीले भोजन की आवश्यकता होगी और यातायात तथा मन-बहलाव के साधन भी उसके लिए निरर्थक होंगे।

सबसे बड़ी बात यह है कि जो आदमी श्रम को अपने जीवन का कर्तव्य और आनंद समझता है वह दूसरों के श्रम से लाभ उठाकर अपने परिश्रम को कम करना पसंद नहीं करेगा।

जो व्यक्ति अपने जीवन को कर्मक्षेत्र मानता है वह अपना यह लक्ष्य बना लेगा कि जितनी ही उसकी कुशलता और सामर्थ्य में वृद्धि होगी, उतना ही अधिक वह

परिश्रम करेगा और इस प्रकार अपने जीवन को उत्तरोत्तर पूर्ण बनाता जाएगा।

ऐसे व्यक्ति के लिए जो कर्म के परिणाम में नहीं, बल्कि स्वयं कर्म में विश्वास करता है और जो काल्पनिक संपत्ति को प्राप्त करना अर्थात् दूसरों के श्रम का शोषण करना ध्येय नहीं मानता उसके लिए कभी श्रम के साधनों का कोई प्रश्न ही पैदा नहीं हो सकता।

ऐसा व्यक्ति स्वभावत: सदा सबसे अधिक उत्पादन करनेवाले साधन को ही चुनेगा। फिर भी उसे सबसे कम उत्पादन करनेवाले साधन का प्रयोग करने पर भी समान रूप से ही संतोष मिलेगा। यदि उसके पास इंजन से चलनेवाला हल होगा तो वह उससे खेत जोतेगा; और यदि नहीं हुआ तो किसानवाला लकड़ी का हल ही काम में लायगा। यदि यह हल भी न हुआ तो वह फावड़े से ही खेत खोद लेगा। सारांश यह है कि प्रत्येक दशा में वह अपने जीवन को दूसरों के लिए उपयोगी बनाने के लक्ष्य में समान रूप से सफलता प्राप्त कर लेगा और इस प्रकार उसे पूर्ण संतोष मिलेगा।

ऐसा मनुष्य, बाह्य तथा आंतरिक, दोनों प्रकार से उस मनुष्य की अपेक्षा अधिक सुखी होगा, जो संपत्ति-संग्रह को अपने जीवन का लक्ष्य बना देता है। बाह्य दृष्टि से ऐसे मनुष्य को कभी अभाव का सामना नहीं करना पड़ेगा; क्योंकि लोग श्रम के प्रति उसकी उत्कंठा को देखकर उसके कार्य को सदा अधिक-से-अधिक लाभदायक बनाने का प्रयत्न करेंगे और ऐसा करने के लिए वे उस मनुष्य के भौतिक अस्तित्व को सुरक्षित बना देंगे। यह एक ऐसा कार्य है, जो लोग संपत्ति के पीछे भागनेवाले व्यक्तियों के लिए नहीं करते, और यह जानी हुई बात है कि भौतिक सुरक्षा में ही मनुष्य की संपूर्ण आवश्यकता निहित है।

भीतरी रूप से भी ऐसा व्यक्ति संपत्ति के लिए लालायित रहनेवाले व्यक्ति की अपेक्षा सदा अधिक सुखी होगा; क्योंकि संपत्ति की तृष्णा में जीवन व्यतीत करनेवाला मनुष्य अपनी मनोवांछित वस्तु कभी प्राप्त नहीं कर सकेगा, जबकि दूसरा व्यक्ति उसे अपनी शक्ति-भर अवश्य प्राप्त कर लेगा कमजोरी में, वृद्धावस्था में, मरते हुए भी वह अपने हाथ में हथियार लिए पूर्ण संतोष का अनुभव करेगा और दूसरे लोगों की प्रीति तथा सहानुभूति प्राप्त कर लेगा।

अत: यदि थोड़े-से पागल और सनकी लोग दिन में दस घंटे—इतना समय तो सभी बुद्धिजीवियों के पास फालतू रहता है—सिगरेट पीने, ताश खेलने और सर्वत्र अपनी सुस्ती साथ लिए मोटर में घूमने के बजाए हल चलाएँ, जूते बनाएँ और इसी प्रकार के कार्य करें तो इसका क्या परिणाम होगा?

परिणाम यह होगा कि ये सनकी व्यक्ति ही व्यवहार रूप में दिखला देंगे कि

जिस काल्पनिक संपत्ति के कारण मनुष्य स्वयं दु:ख भोगते और दूसरों को दु:ख देते हैं वह सुख के लिए आवश्यक नहीं है, बल्कि बाधक है और एक अंधविश्वास के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वे सिद्ध कर देंगे कि संपत्ति—वास्तविक संपत्ति—मनुष्य का अपना मस्तिष्क और अपने हाथ-पैर हैं तथा इस वास्तविक संपत्ति का प्रसन्नता के साथ लाभ उठाने के लिए यह आवश्यक है कि हम अपने निजी शरीर से बाहर की संपत्ति की उस झूठी धारणा को त्याग दें, जिसके लिए हम अपने जीवन की अधिकांश शक्ति खर्च कर देते हैं। ये व्यक्ति यह भी दिखला देंगे कि मनुष्य काल्पनिक संपत्ति में विश्वास करना तभी बंद करेगा जब वह अपनी वास्तविक संपत्ति—अपनी सामर्थ्य, अपने शरीर—का विकास कर लेगा ताकि वह उससे सौ गुणा लाभ और सुख प्राप्त कर सके, जिसकी हमें कल्पना तक नहीं है। वह व्यक्ति इतना उपयोगी, शक्तिशाली और दयालु बन जाएगा कि उसे जीवन के चाहे किसी भी क्षेत्र में जाना पड़े वह सदा अपने पाँवों पर खड़ा रहेगा, सब जगह और सबके साथ वहअपना बन्धुत्व दिखाएगा और सब लोग उसके महत्त्व को समझेंगे तथा उसका सम्मान करेंगे। लोग इस एक पागल को या उन-जैसे अनेक पागलों को देखकर समझ जाएँगे कि संपत्ति के अंधविश्वास ने उन्हें जिस भयंकर ग्रंथि में जकड़ रखा है, उसे खोलने और उससे मुक्ति पाने के लिए उन्हें क्या करना चाहिए। यह एक ऐसी ग्रंथि है, जिसमें जकड़े रहकर लोग कराहते तो रहते हैं, किंतु उससे छुटकारा पाने की युक्ति नहीं जानते।

लेकिन एक अकेला आदमी ऐसी भीड़ में क्या कर सकता है, जहाँ कोई उसके विचारों से सहमत ही न हो?

जो लोग इस प्रकार का तर्क करते हैं, उनकी बेईमानी का इससे अधिक स्पष्ट परिचय और क्या हो सकता है? बहुत-से मल्लाह मिलकर एक नौका को धारा के विपरीत खींच ले जाते हैं। क्या उनमें से कोई मल्लाह इतना मूर्ख भी हो सकता है कि अपनी रस्सी को यह कहकर पकड़ने से इनकार कर दे कि अकेले उसमें नौका को धारा के विपरीत खींच ले जाने की पर्याप्त शक्ति नहीं है। जो मनुष्य यह अनुभव करता है कि उसके पशु-जीवन के अधिकार—अर्थात् खाने और सोने—के अतिरिक्त कुछ मानवीय कर्तव्य भी हैं, वह अपने कर्तव्य को खूब अच्छी तरह समझता है, ठीक उसी प्रकार जैसे मल्लाह अपने कर्तव्य को जानता है। मल्लाह अच्छी तरह जानता है कि उसे नौका को धारा के विपरीत खींचने के लिए केवल अपनी शक्ति लगानी है। वह किसी और काम को करने की चिंता तभी करेगा जब उसके हाथ में रस्सी नहीं होगी। और जो बात मल्लाहों के साथ है, वह बात समान कार्य में लगे हुए सब व्यक्तियों के साथ है; प्रत्येक व्यक्ति को इस बात का ध्यान रखना है कि

रस्सी छूटने न पाए, बल्कि मालिक ने जो दिशा बताई है उसी ओर रस्सी खींची जाती रहे। दिशा सदा एक ही रहे, इसके लिए हमें बुद्धि प्रदान की गई है।

यह दिशा समस्त मनुष्यों के जीवन और अंतरात्मा में और उनकी बुद्धिमत्ता की सभी अभिव्यक्तियों में इतनी स्पष्ट और असंदिग्ध रूप से लक्षित कर दी गई है कि केवल वे ही व्यक्ति, जो श्रम करना नहीं चाहते, यह कह सकते हैं कि उन्हें यह दिशा दिखाई नहीं पड़ती।

अतः इसका परिणाम क्या होगा?

यही कि एक-दो आदमी नाव को खींचकर ले चलेंगे और उन्हें देखकर एक-के-बाद एक दूसरे लोग भी योग देने लगेंगे, यहाँ तक कि बजड़ा इतनी सरलता के साथ आगे बढ़ने लगेगा मानो आप ही चल रहा हो। इससे प्रेरित होकर ऐसे लोग भी योग देने लगेंगे, जो यह जानते ही नहीं कि क्या और क्यों किया जा रहा है।

जो लोग चेतनतापूर्वक ईश्वर के नियमों का पालन करते हैं उनके कंधे-से-कंधा सबसे पहले वे व्यक्ति भिड़ाएँगे, जो ईश्वरीय नियमों को अंधचेतनता और अंधविश्वास के साथ स्वीकार करते हैं। बाद में आगे बढ़े हुए व्यक्तियों पर केवल विश्वास होने के कारण बहुत-से लोग योग देने लगेंगे और तब मनुष्य अपना सर्वनाश न करके सुख प्राप्त करेंगे। यह काम बहुत ही शीघ्रता के साथ हो सकता है यदि हमारे वर्ग के लोग और उनके पीछे चलनेवाले कर्मजीवियों का विशाल बहुमत मल-मूत्र उठाने और फेंकने में लज्जा न करे, बल्कि दूसरे—अपने भाइयों—द्वारा साफ कराने में शर्म करे; यदि वह अपने हाथों से बनाए हुए जूते पहनकर पड़ोसियों से मिलने में लज्जित न हो, बल्कि बूट-जूते और मोजे पहनकर उन व्यक्तियों में जाते हुए शरमाए, जिनके पैरों में पहनने को कुछ भी नहीं है; यदि वह फ्रांसीसी भाषा अथवा सबसे ताजे समाचार न जानने पर लज्जित न हो, बल्कि रोटी बनाना न जानने के कारण रोटी खाने में शरमाए; यदि कलफ लगे हुए और चिट्टे कपड़े न पहनने पर लज्जित न हो, बल्कि ऐसे साफ कपड़े पहनकर घूमने में शरमाए जो उसकी बेकारी के परिचायक हों और यदि वह अपने मैले हाथों पर लज्जित न हो, बल्कि अपने हाथों पर शरमाए जो श्रम न करने के कारण सुकुमार बने हुए हैं।

यह सब तभी होगा जब जनता इसकी माँग करेगी और जनता इसकी माँग तब करेगी जब उसके मस्तिष्क से भ्रम का वह पर्दा हट चुकेगा, जो सत्य को उससे छिपाए रहता है। मेरी अपनी याद में ही इस दिशा में बड़े-बड़े परिवर्तन हो चुके हैं और ये परिवर्तन इसीलिए हुए कि जनता का मत बदल गया। मुझे वह समय याद है जब अमीर लोग चार घोड़ों की गाड़ी और दो नौकरों के बिना बाहर निकलने में

लज्जा अनुभव करते थे। यदि उनके पास कपड़े और जूते पहनाने, नहलाने आदि के लिए कोई नौकर या नौकरानी न होती थी तो इसे वे अपनी हेठी समझते थे। किंतु अब वे इस बात से शरमाने लगे हैं कि वे अपने कपड़े व जूते स्वयं क्यों नहीं पहनते और नौकरों के साथ बाहर क्यों जाते हैं। ये सब परिवर्तन जनमत के कारण ही हुए हैं।

आज जनता की चेतना में तो परिवर्तन हो रहे हैं वे क्या स्पष्ट नहीं हैं? पच्चीस वर्ष पहले की दास-प्रथा को उचित ठहरानेवाली मिथ्या भावना को नष्ट-भर करने की आवश्यकता थी, उसके बाद तो क्या प्रशंसनीय है और क्या लज्जाजनक, इसके बारे में जनता का मत अनायास बदल गया और उसके जीवन में भी परिवर्तन हो गया। इसी प्रकार आज केवल उस मिथ्या भावना को नष्ट करने की आवश्यकता है जो मनुष्य पर पैसे के बोलबाले को उचित मानती है; फिर तो क्या सराहनीय है और क्या लज्जाजनक, इस बारे में जनता का मत आपसे-आप बदल जाएगा और उसके साथ उसका जीवन भी बदल जाएगा।

और इस मिथ्या धारणा का नाश तथा उसके बारे में जनमत का परिवर्तन काफी तेजी से हो रहा है। इस मिथ्या धारणा की पोल खुल गई है, अब वह सत्य को छिपाने में असमर्थ है। यदि हम ध्यानपूर्वक देखें तो हमें पता चल जाएगा कि जनमत का यह परिवर्तन न केवल होना ही चाहिए, वरन् हो भी चुका है। कमी केवल इस बात की है कि अभी वह स्वीकार नहीं किया गया है और शब्दों में व्यक्त नहीं किया गया है। हमारे युग के जो थोड़े-बहुत पढ़े-लिखे व्यक्ति हैं, उन्हें केवल अपने संसार-संबंधी विचारों से फलित होनेवाले परिणामों पर विचारभर करने की आवश्यकता है। ऐसा करने पर उन्हें तत्काल पता चल जाएगा कि अच्छे और बुरे, सराहनीय और लज्जास्पद का जो मूल्यांकन अब भी उनके जीवन का मार्ग-निर्देशन करता है वह उनकी जीवन-संबंधी धारणाओं के एकदम विपरीत है।

हमारे समय के लोग यदि अपने आलस्य में बिताए जानेवाले जीवन से एक क्षण को अलग हटकर उसकी तुलना अपनी विश्व-संबंधी धारणाओं के साथ निष्पक्षतापूर्वक करें तो उन्होंने अपनी धारणाओं के साथ जीवन की जो परिभाषा निश्चित कर रखी है वह उन्हें भयभीत कर देगी।

उदाहरण के लिए, धनिक वर्ग के एक नवयुवक को ले लीजिये, चाहे उसकी प्रवृत्तियाँ कैसी भी क्यों न हों। स्मरण रहे कि नवयुवकों में जीवनशक्ति अधिक तीव्र और आत्म-चेतना अधिक धुँधली होती है। प्रत्येक सभ्य नवयुवक बुड्ढे, बच्चे अथवा महिला की सहायता न करने में लज्जा अनुभव करता है। वह सोचता है कि दूसरे व्यक्ति के स्वास्थ्य अथवा जीवन को संकट में डालना और स्वयं को बचाना

लज्जाजनक है। तूफान आने पर खिरगिज क्या करते हैं, इस संबंध में शुएलर[1] हमें जो बातें बताता है, उसे हरेक व्यक्ति लज्जाजनक और बर्बरतापूर्ण समझता है। तूफान के समय वे अपनी पत्नियों तथा बड़ी-बूढ़ियों को तंबू के खूँटे पकड़े रहने के लिए भेज देते हैं और स्वयं तंबू में बैठें शराब पीते रहते हैं। किसी दुर्बल व्यक्ति से जबर्दस्ती अपना काम कराने में प्रत्येक व्यक्ति को लज्जा आती है और इससे भी अधिक शर्म की बात तब होती है जब किसी संकट के समय—उदाहरण के लिए जहाज़ में आग लग जाने पर—ताक़तवर लोग कमज़ोरों को एक ओर धकेल देते हैं और उन्हें संकट में छोड़कर स्वयं रक्षा-नौका पर पहले चढ़ने का प्रयत्न करते हैं। नवयुवक इस सबको लज्जास्पद समझते हैं और कुछ असाधारण परिस्थितियों में भी ऐसा कभी नहीं करेंगे। किंतु दैनिक जीवन में इसी प्रकर के, वरन् इनसे भी बुरे कार्य, वे नित्य करते रहते हैं यद्यपि प्रलोभनवश ये काम उनकी आँखों से छिपे रहते हैं। इन बातों पर यदि वे सोचें-भर, तो इनके परिणामों को देखकर वे काँप उठेंगे।

एक नवयुवक रोज़ धुली हुई कमीज़ पहनता है। उसे नदी पर कौन धोता है? एक महिला, जो प्राय: वृद्धा होती है और जो नवयुवक की दादी या माँ की उम्र की हो सकती है और कभी-कभी बीमार भी हो जाती है। यह नवयुवक यदि किसी दूसरे व्यक्ति को केवल सनक के कारण अपनी साफ़ कमीज़ उतारकर एक ऐसी वृद्धा को धोने के लिए देते हुए देखे जो उसकी माँ की आयु की हो सकती है, तो उसके प्रति उसकी क्या भावना बनेगी?

मान लीजिए, एक नवयुवक शान दिखाने के लिए कुछ घोड़े रखता है। संकट के समय इन घोड़ों को एक ऐसा आदमी सँभालता है, जो उसके पिता या पितामह की आयु का होता है। स्वयं नवयुवक इन घोड़ों पर तब चढ़ता है जब संकट निकल जाता है। यह नवयुवक उस व्यक्ति को क्या समझेगा, जो अपने आनंद के लिए स्वयं अपना बचाव करके दूसरे को संकट में झोंक देता है?

अमीरों का सारा जीवन ही इस प्रकार के कार्यों का समूह होता है। हम अपने जीवन में बूढ़ों, महिलाओं और बच्चों से बेहद परिश्रम कराते हैं और दूसरों की जान जोखम में डालकर उनसे काम लेते हैं। यह सब हम इसलिए नहीं करते कि हमें कुछ कार्य करने का समय मिल जाए, बल्कि इसलिए कि हमारी सनक पूरी हो सके। मछेरा हमारे लिए मछलियाँ पकड़ता हुआ डूब जाता है; धोबिन ठंड खाकर मर जाती है, लुहार अंधे हो जाते हैं, मज़दूर बीमार पड़ जाते हैं और मशीनों से क्षत-

1. *यूजिन शुएलर (1840—99) पीटर्सबर्ग में सन् 1873 से 76 तक अमरीकी दूतावास का सेक्रेटरी था। सन् 1873 में उसने मध्य एशिया का दौरा किया था।*

विक्षत हो जाते हैं, लकड़हारे पेड़ गिराते समय उनके नीचे दब जाते हैं, राज छत पर से गिर पड़ते हैं और दरजिनें क्षय-ग्रस्त हो जाती हैं। जीवन के सभी सच्चे काम क्षति और जोखम उठाकर किए जाते हैं। इसे छिपाना और न देखना असंभव है। इस स्थिति से बाहर निकालने का एकमात्र मार्ग यही है कि दूसरों से केवल वही काम लिया जाए जो जीवन के लिए आवश्यक है और वास्तविक कार्य स्वयं अपने जीवन की क्षति और जोखम उठाकर किए जाएँ।

शीघ्र ही वह समय आएगा—सच पूछिए तो आने लगा है—जब न केवल नौकरों द्वारा परोसा गया विविध व्यंजनोंवाला भोजन खाना लज्जाप्रद और अपमानजनक समझा जाएगा, बल्कि जिस भोजन को स्वयं मेजवानों ने अपने हाथ से न बनाया हो, उसे ग्रहण करना भी समान रूप से लज्जाप्रद और अपमानजनक होगा। जबकि पैरों से काम लिया जा सकता है तो तेज घोड़ोंवाली बग्घी की बात तो दूर रही, एक साधारण घोड़ा-गाड़ी में घूमना भी लज्जाजनक होगा। काम के दिनों में ऐसे कपड़े, जूते या दस्ताने पहनना, जिनसे काम न हो सके, अथवा अधिक या कम कीमत का ऐसा पियानो बजाना, जिसके लिए दूसरे अजनबी व्यक्तियों को परिश्रम करना पड़े; कुत्ते को दूध और डबलरोटी खिलाना जबकि ऐसे भी आदमी हैं, जिन्हें दूध और साधारण रोटी मयस्सर नहीं; और मोमबत्तियाँ या स्टोव जलाना; जबकि दूसरों के पास आग या प्रकाश का अभाव है, ये सब कार्य लज्जास्पद हो जाएँगे। ऐसी विचारधारा की ओर हम अनिवार्य रूप से और तेजी से बढ़ रहे हैं। हम एक नए जीवन के किनारे पर आ खड़े हैं। इस नए जीवन को संस्थापित करना जनमत का कार्य है और इस प्रकार का जनमत तेजी से बनता जा रहा है। महिलाएँ ही जनमत बनाती हैं और हमारे युग में तो महिलाएँ विशेष रूप से प्रभावशालिनी हैं।

स्त्रियों का कार्य-क्षेत्र

जैसा कि बाइबिल में कहा गया है, पुरुष के लिए मेहनत-मजूरी का नियम बनाया गया है और स्त्री के लिए संतानोत्पत्ति का। विद्वान् चाहे कुछ भी कहें, इन नियमों में परिवर्तन नहीं होता, ठीक उसी प्रकार जैसे यकृत सदा अपने ही स्थान पर रहता है। इस नियम को भंग करने की एक मात्र सजा आज भी मृत्यु ही है।

अंतर केवल इतना है कि यदि पुरुष अपने कर्तव्य की अवहेलना करेंगे तो उनको मृत्यु-दंड निकट-भविष्य में ही मिल जाएगा, जिसे हम वर्तमान कह सकते हैं; किंतु यदि स्त्रियाँ ऐसा करेंगी तो उसकी सजा उन्हें कुछ सुदूर भविष्य में

मिलेगी। समस्त पुरुषों द्वारा नियम का उल्लंघन होने पर मनुष्य-जाति तत्काल नष्ट हो जाती है, जबकि समस्त स्त्रियों द्वारा उल्लंघन होने पर अगली पीढ़ी नष्ट होती है। किंतु कुछ पुरुषों और कुछ स्त्रियों द्वारा नियम-भंग होने पर समस्त मानव-जाति नष्ट नहीं होती, उससे केवल अपराधियों के मानवीय गुणों का ह्रास हो जाता है।

जिन वर्गों के लोग दूसरों पर बलात्कार करने में समर्थ थे, उनमें पुरुषों ने अपने कर्तव्य की अवज्ञा बहुत पहले आरंभ कर दी थी। वह सतत बढ़ती जा रही है और अब हमारे समय में आकर उसने पागलपन का रूप ग्रहण कर लिया है। श्रम के नियम का यह उल्लंघन अब एक आदर्श बन गया है, जिसे राजकुमार ब्लोखिन ने अपने सिद्धांतों में व्यक्त किया है और जिसका रेनॉ तथा समस्त शिक्षित संसार ने समर्थन किया है। उनके कथनानुसार मशीनें काम करने के लिए हैं, जबकि मनुष्य आनंद-भोग करनेवाले स्नायुओं का पुतला है। स्त्रियों के कर्तव्यच्युत होने के उदाहरण प्राय: नहीं-से रहे हैं। कभी-कभी वेश्यावृत्ति और भ्रूण-हत्या के रूप में यह अभिशाप प्रकट हुआ है। धनिक वर्गों में जब पुरुषों ने अपना कर्तव्य-पालन बंद कर दिया, स्त्रियाँ अपने कर्तव्यों का पालन करती रहीं, जिसका परिणाम यह हुआ कि स्त्रियों का प्रभाव बढ़ गया तथा वे पुरुषों पर शासन करने लगीं। वे आज भी ऐसा कर रही हैं, जैसा कि होना भी चाहिए। पुरुषों ने अपने नियम को भंग किया और परिणामत: उनकी विवेक-शक्ति नष्ट हो गई।

प्राय: कहा जाता है कि स्त्रियाँ—विशेषकर पेरिस की संतानहीन स्त्रियाँ—सभ्यता के समस्त साधनों का उपभोग कर इतनी मोहक बन गई हैं कि उन्होंने अपनी मोहिनी से पुरुषों पर जादू कर दिया है। यह धारणा न केवल गलत है, बल्कि सत्य के बिल्कुल विपरीत है। पुरुष पर जादू संतानहीन स्त्री ने नहीं, बल्कि माँ ने किया है, जो पुरुष के कर्तव्यच्युत होने पर भी अपने प्राकृतिक नियम का पालन करती रही है।

जो स्त्री बनावटी उपायों से अपने को संतानवती होने से बचाती है और अपने ऊँचे कंधों तथा घुंघराले बालों का प्रदर्शन कर पुरुष को मोहने की चेष्टा करती है, वह पुरुष को वश में करनेवाली स्त्री नहीं है, वह तो पुरुष से भ्रष्ट होकर उसके ही स्तर पर उतर आई है, और उसने भी पुरुष की ही भाँति अपने कर्तव्य को छोड़ दिया है, और उसकी जीवन-संबंधी समस्त बुद्धिसंगत धारणाएँ नष्ट हो चुकी हैं।

इसी भूल से उस वितंडावाद का जन्म हुआ है, जिसे स्त्रियों के अधिकार कहकर पुकारा जाता है।

इन अधिकारों का आधारसूत्र यह है : स्त्री कहती है, "ओ पुरुष, तूने तो अपने सच्चे कार्य को त्याग दिया है, और तू हमसे चाहता है कि हम अपना बोझा उठाती फिरें। नहीं! यदि ऐसा है, तो हम भी तुम्हारी ही तरह बैंकों, मंत्रालयों, विश्वविद्यालयों, शिक्षालयों तथा कलाशालाओं में कार्य करके श्रम का ढोंग रच सकती हैं। हम भी तुम्हारी ही तरह दूसरे लोगों के परिश्रम का फायदा उठाना चाहती हैं और श्रम-विभाजन के बहाने केवल अपनी वासनाओं की पूर्ति में ही जीवन बिताना चाहती हैं।"

वे ऐसा कहती ही नहीं हैं, बल्कि करके दिखला देती हैं कि वे श्रम का ढोंग पुरुषों से बुरा नहीं वरन् अच्छा ही रच सकती हैं।

स्त्रियों के तथाकथित अधिकारों का प्रश्न ऐसे पुरुषों में उठा—और ऐसे ही पुरुषों में वह उठ भी सकता था—जिन्होंने अपने सच्चे परिश्रम के नियम का उल्लंघन किया। अत: यदि हम अब एक बार फिर श्रम के उसी नियम पर वापस लौट जाएँ तो स्त्रियों के अधिकार का प्रश्न ही न उठे।

जो स्त्री स्वयं अपने लिए निर्दिष्ट किए गए कार्यों में संलग्न रहती है वह कभी खान खोदने में अथवा हल चलाने में पुरुष का हिस्सा बँटाने का अधिकार नहीं माँगेगी। वह तो केवल धनिक वर्ग के झूठे श्रम में ही हिस्सा माँग सकती है।

हमारे वर्ग की स्त्री पुरुष से अधिक शक्तिशाली है, इसका कारण यह नहीं है कि वह आकर्षक है या पुरुष की ही भाँति श्रम का ढोंग रचने में पटु है। इसका कारण यह है कि उसने अपने कर्तव्य का उल्लंघन नहीं किया और जान को जोखम में डालकर तथा अधिक-से-अधिक चेष्टा करके सच्चे परिश्रम को वहन किया—उस सच्चे परिश्रम को जिससे धनिक वर्ग के पुरुष ने अपने को मुक्त कर लिया था।

स्त्रियों का पतन, उनकी अपने कर्तव्य की अवहेलना करने की प्रवृत्ति मेरी याद में ही आरंभ हुई और मेरी याद में ही वह दिन-दूनी रात-चौगुनी फैलती गई हैं। स्त्रियों ने अपने सच्चे कर्तव्य को भूलकर यह सोच लिया है कि उनकी शक्ति उनके सौंदर्य के आकर्षण में है या इस बात में कि पुरुष जिस झूठे परिश्रम का स्वांग रचते हैं, उसकी वे कितनी चतुराई से नकल कर सकती हैं।

किंतु संतान इन दोनों बातों में बाधक होती है। इसलिए मेरे देखते-ही-देखते धनी वर्ग के लोगों में विज्ञान की सहायता से—विज्ञान सदा ही गंदे कार्य करने को तैयार रहता है—गर्भ-निरोध के दर्जनों उपाय काम में लाए जाने लगे हैं, और इससे संबंध रखनेवाली सामग्रियाँ स्नानागार की साधारण सामग्रियाँ बन गई हैं। इस प्रकार धनिकवर्ग की माताएँ, जिनके हाथ में शक्ति थी, अब अपनी उस शक्ति को साधारण महिलाओं से होड़ करने में और उन्हें अपने से आगे न बढ़ने देने में व्यय कर रही हैं।

यह बुराई दूर-दूर तक फैल गई है, और दिन-प्रतिदिन और भी अधिक फैलती

जाती है, और वह समय दूर नहीं जब वह धनी वर्गों की समस्त स्त्रियों तक पहुँच जाएगी। तब स्त्रियाँ पुरुषों के ही धरातल पर पहुँच जाएँगी और उनकी ही भाँति जीवन के प्रति तर्कसंगत दृष्टिकोण खो बैठेंगी। उस अवस्था में उस वर्ग के उद्धार का कोई मार्ग नहीं रह जाएगा। किंतु अब भी समय है, क्योंकि इतना होने पर भी आज भी पुरुषों की अपेक्षा महिलाएँ ही अपने कर्तव्य का अधिक पालन करती हैं, और इस कारण उनमें से बहुत-सी अब भी समझदार हैं। इसलिए हमारे वर्ग की कुछ महिलाओं में अब भी अपने वर्ग की रक्षा करने की शक्ति है।

काश, ये महिलाएँ अपने मूल्य और अपनी शक्ति को समझ पातीं और इन्हें अपने पतियों, भाइयों और बच्चों—दूसरे शब्दों में यों कहिए कि समस्त मानव-जाति—की रक्षा करने के काम में ला सकतीं।

धनिक वर्गों की माताओं! आज पुरुषवर्ग जिन बुराइयों से पीड़ित है उनसे मुक्ति दिलाने की शक्ति केवल तुम्हारे हाथों में है। मेरा संकेत उन महिलाओं से नहीं हैं, जो पुरुषों को आकर्षित करने के लिए दिन-रात बनाव-सिंगार में व्यस्त रहती हैं और जो भूलवश या निराशा के कारण अपनी इच्छा के विरुद्ध बच्चे तो पैदा करती हैं, किंतु उन्हें दुधारू धात्रियों[1] को सौंप देती हैं। मेरा अभिप्राय उन महिलाओं से भी नहीं हैं, जो विश्वविद्यालयों की विभिन्न श्रेणियों में शिक्षा पाती हैं, मनोविज्ञान तथा गणित के बारे में बातचीत करती हैं और अपने विकास में बाधा न पहुँचने देने के उद्देश्य से संतानोत्पत्ति से बचने का प्रयत्न करती हैं। मेरा अर्थ उन महिलाओं से और माताओं से हैं, जो संतति-निरोध का सामर्थ्य रखते हुए भी शाश्वत नियम के आगे सहज भाव से और जानबूझकर आत्मसमर्पण कर देती हैं—यह जानते हुए कि इसके लिए कष्ट उठाना और परिश्रम करना उनका कर्तव्य है। धनिक वर्गों की इन स्त्रियों और माताओं में संसारी पुरुषों को बुराइयों से मुक्ति दिलाने की शक्ति औरों की अपेक्षा अधिक होती हैं। ऐ माताओं, ईश्वरी नियम के आगे इस प्रकार जानबूझकर समर्पण करनेवाली स्त्रियो और माताओ! हमारे दुखी और बहके हुए वर्ग में, जिसमें अब मानव होने की कोई क्षमता ही नहीं रह गई है, केवल आप ही ईश्वरीय विधान के अनुसार जीवनयापन करने के सच्चे अर्थ को जानती हैं। आप ही अपने उदाहरण से पुरुषों को दिखला सकती हैं कि जिस ईश्वरीय इच्छा से वे अपने को वंचित कर लेते हैं, उसके आगे नतमस्तक होने में ही जीवन का सुख है। केवल आप ही उस आनंद, उल्लास और सौभाग्य का पूर्ण ज्ञान रखती हैं जो ईश्वरीय नियम का उल्लंघन न करने पर ही पुरुषों को प्राप्त हो सकता है। आप अपने पति के उस प्यार

1. *रूस में धात्रियों का प्रयोग इंग्लैंड आदि की अपेक्षा अधिक होता है।*

के आनंद को जानती हैं, जो कभी समाप्त नहीं होता, जो अन्य आनंदों की भाँति भंग नहीं हो पाता, बल्कि जो वात्सल्य के नए आनंद का सूत्रपात करता है। केवल आप ही ईश्वरीय इच्छा के समक्ष सरल भाव से सिर झुकाकर श्रम के महत्त्व को जान पाती हैं—वह श्रम नहीं, जिसका वर्दियों और प्रकाश से जगमगाते भवनों में झूठा प्रदर्शन किया जाता है, बल्कि वह श्रम, जो ईश्वर ने हम पर लादा है। आप इस श्रम के पारितोषिक को तथा इससे प्राप्त होनेवाले सुख को जानती हैं।

माताओ, इस श्रम का सच्चा रूप आपके सामने तब आता है जब प्रणय के सुख-भोग के बाद आप उत्तेजना, भय और आशा के साथ गर्भावस्था की उस पीड़ा की प्रतीक्षा करती हैं, जो आपको नौ मास के लिए रुग्ण बना देती हैं, जो आपको मृत्यु के द्वार पर ले जाती है और जिसके कारण आपको असह्य यातना भोगनी पड़ती है। इन भयंकरतम पीड़ाओं के आगमन और वृद्धि की प्रसन्नतापूर्वक प्रतीक्षा करने के बाद आपके लिए एक अतुल सुख का भंडार खुल जाता है।

आपको इसकी अनुभूति तब होती है जब आप इन यातनाओं के बाद फौरन बिना विश्राम किए ही नए श्रम और नए कष्ट का भार ग्रहण कर लेती हैं—यह नया श्रम और नया कष्ट होता है शिशुपालन का, जिसमें आप तुरंत लीन हो जाती हैं और अपने कर्तव्य तथा भावनाओं के आगे मनुष्य की सबसे बड़ी आवश्यकता नींद तक को—जो एक कहावत के अनुसार माँ-बाप से भी अधिक प्यारी होती है—नगण्य समझती हैं। आप महीनों और वर्षों तक एक रात भी चैन से नहीं सो पातीं। कभी-कभी, नहीं-नहीं, अक्सर, कई-कई रातें तो बिना सोए ही निकल जाती हैं, जब आप अपनी बांहों में रुग्ण शिशु को थामे कम्पित हृदय से इधर-से-उधर टहलती रहती हैं।

और जब आप यह सब बिना किसी से प्रशंसा पाए, बिना किसी के देखे और बिना किसी से श्लाघा या पुरस्कार की आशा किए करती हैं, जब आप इसे लाभ के तौर पर नहीं, वरन् अपना कर्तव्य समझकर मजदूर के तौर पर करती हैं—तब आप जानती है कि पुरुषों की प्रशंसा के लिए की गई झूठी कल्पित मेहनत में और ईश्वरीय इच्छा की पूर्ति के लिए किए गए सच्चे श्रम में—जिसका संकेत आप अपने हृदय में महसूस करती हैं—क्या अंतर है।

आप जानती हैं कि यदि आप सच्ची माँ हैं तो केवल इतना ही नहीं होगा कि लोग आपके श्रम को देखने की चिंता नहीं करेंगे और उसके लिए आपकी प्रशंसा नहीं करेंगे, बल्कि यह भी होगा कि स्वयं वे लोग, जिनके लिए आपने परिश्रम किया है, न केवल आपको धन्यवाद ही नहीं देंगे, बल्कि प्राय: आपको सताएँगे और बुरा-भला कहेंगे। इतने पर भी आप दूसरी संतान के लिए यातना सहेंगी, फिर प्रसव

की अनदेखी भयंकर पीड़ा सहन करेंगी, फिर किसी से पुरस्कार की आशा नहीं करेंगी और फिर उसी संतोष का अनुभव करेंगी। यदि आप ऐसी महिला हैं, तो आप में पुरुषों पर प्रभाव डालने की क्षमता होनी चाहिए। सच पूछिये तो आप ही के हाथों में उनकी मुक्ति निहित है। किंतु आपकी संख्या प्रतिदिन घटती जाती है। आप में जो कुछ अपने को पुरुषों को मोहने की चेष्टा में लगाने लगी हैं, और बाजारू औरत बन गई हैं। कुछ दूसरी पुरुषों से उनके कृत्रिम, नगण्य धंधों में होड़ करने लगी हैं। कुछ ऐसी भी हैं, जो अभी अपने कर्तव्य के प्रति झूठी तो नही बनीं हैं। किंतु जो इसे मन-ही-मन बुरा समझती हैं। वे महिलाओं और माताओं के समस्त कार्यों को पूरा तो करती हैं, किंतु उन पर मातृत्व का जो भार इच्छा न रहते हुए दैवयोग से आ पड़ता है, उसे वे बड़ी ही खिन्नता के साथ वहन करती हैं, और मन-ही-मन स्वतंत्र, बन्ध्या महिलाओं से ईर्ष्या करती हैं। इस प्रकार वे अपने को श्रम के एकमात्र पुरस्कार—ईश्वरीय इच्छा की पूर्ति करने के आत्मसंतोष—से वंचित कर लेती हैं। इस प्रकार जिस सुख से उन्हें संतोष होना चाहिए उसी से वे पीड़ित होती हैं।

हम अपने जीवन के झूठे ढंग से इतने भ्रमित हो गए हैं, हमारे वर्ग के लोगों ने जीवन-ज्ञान इतना अधिक खो दिया है कि हमारे बीच में अब कोई अंतर नहीं रह गया है। जीवन के समस्त भार और खतरे को दूसरों की पीठ पर डालकर भी हम अपने को सच्चे नाम से नहीं पुकारते, जिससे कि उन लोगों को पुकारना चाहिए, जो अपने लिए समस्त सुख-सुविधाओं की व्यवस्था करने में दूसरों का सर्वनाश कर देते हैं—वह नाम है बदमाश और कायर।

किंतु स्त्रियों में अब भी दो वर्ग हैं। कुछ ऐसी हैं, जिनमें मानव के सर्वोच्च रूप के दर्शन होते हैं, और कुछ वेश्याएँ हैं। यह भेद ऐसा है, जिसे भावी संतति तो मानेगी ही, हमें भी स्वीकार करना पड़ेगा।

स्त्री चाहे जैसा भी साज-शृंगार क्यों न करे, वह अपने को चाहे किसी भी नाम से क्यों न पुकारे, और वह चाहे कितनी भी सुसंस्कृत क्यों न हो, यदि वह भोग-विलास का परित्याग किए बिना संतानोत्पत्ति से बचती है, तो वह निस्संदेह एक वेश्या है। इसी प्रकार स्त्री चाहे कितनी भी पतित क्यों न हो, यदि वह अपने को इच्छापूर्वक संतानोत्पत्ति के कार्य में लगाती है, तो वह जीवन की सर्वोत्तम और सर्वोच्च सेवा करती है, अर्थात् ईश्वर की इच्छा का पालन करती है। निश्चय ही उससे बढ़कर और कोई नहीं।

यदि आप इस प्रकार की स्त्री हैं, जो आप दो बच्चों के बाद, या बीस बच्चों के बाद भी यह नहीं कहेंगी कि आपने काफी बच्चे पैदा कर लिए हैं—ठीक उसी प्रकार जैसे एक पचास वर्ष का मजदूर जो नियमित रूप से खाता-पीता और सोता है, और

जिसकी मांसपेशियों में काम करने की शक्ति है यह नहीं कहेगा कि उसने काफी काम कर लिया है। यदि आप ऐसी स्त्री हैं तो आप अपने बच्चों के लालन-पालन का भार किसी दूसरी माँ पर नहीं डालेंगी—ठीक उसी प्रकार जैसे मजदूर एक काम को प्रारंभ करने के बाद, और उसे लगभग पूरा कर लेने पर, किसी दूसरे व्यक्ति से उसे पूरा करने को नहीं कहेगा। इसका कारण यह है कि इस प्रकार के कार्य में आपने अपना जीवन लगा दिया है और यह काम आपके पास जितना ही अधिक होगा, उतना ही अधिक आपका जीवन पूर्ण और सुखी होगा।

और यदि आप इस प्रकार की स्त्री हैं—पुरुषों के सौभाग्य से ऐसी स्त्रियाँ अब भी विद्यमान हैं—तो ईश्वरीय इच्छा-पालन के जिस नियम से आप स्वयं अपने जीवन का मार्गदर्शन करती हैं, उसे आप अपने पति के, अपने बच्चों के और अपने निकटस्थों के जीवन पर भी लागू करेंगी।

यदि आप ऐसी हैं और अपने निजी अनुभव से जानती हैं कि जो श्रम जान को जोखम में डालकर और दूसरों के जीवन के लिए अधिकतम प्रयत्नों के साथ आत्मत्याग की भावना से किया जाता है और जिसे न कोई देखता है और न जिसके लिए पारितोषिक ही मिलता है, वही श्रम मनुष्य के जीवन का उद्देश्य है और उसी से उसको संतोष और शक्ति मिलती है—यदि आप यह सब जानती हैं तो दूसरों से भी ऐसे ही श्रम की अपेक्षा करेंगी, ऐसे ही श्रम द्वारा मनुष्य की योग्यता का मूल्यॉंकन करेंगी तथा ऐसे श्रम के लिए अपने बच्चों को भी तैयार करेंगी।

केवल वह माँ जो संतानोत्पत्ति को एक अप्रिय दुर्घटना समझती है और सोचती है कि जीवन का सार प्रेमानंद, साँसारिक सुख-सुविधाओं, शिक्षा और मेलजोल में है, केवल ऐसी माँ अपने बच्चों का पालन-पोषण इस प्रकार करेगी, जिससे कि उन्हें अधिक-से-अधिक आनंद मिले और वे उनका अधिक-से अधिक उपभोग करें। वह उन्हें सुस्वादु भोजन खिलायगी, अच्छे वस्त्र पहनायगी, कृत्रिम मनोरंजन प्रदान करेगी और ऐसी शिक्षा देगी, जो उन्हें प्राणों को हथेली पर रखकर और पूर्ण प्रयत्नों के साथ त्यागमय परिश्रम करने के योग्य बनाने के बजाए उनके लिए उपाधियाँ प्राप्त करेगी और श्रम न करने का अवसर प्रदान करेगी। केवल ऐसी स्त्री—जिसके लिए जीवन का कोई महत्त्व नहीं रह जाता—अपने पति के उस छलपूर्ण और झूठे कार्य के साथ सहानुभूति रखेगी, जिसके द्वारा वह स्वयं को तो मनुष्योचित कर्तव्यों से मुक्त रखकर दूसरे व्यक्तियों के श्रम का उपयोग करता ही है साथ-ही-साथ अपनी पत्नी को भी कराता है। केवल इसी प्रकार की स्त्री अपने पति-जैसे व्यक्ति को अपनी पुत्री का पति बनाना पसंद करेगी और व्यक्तियों का मूल्यांकन उनके निजी गुणों के आधार पर नहीं, बल्कि उनसे संबंधित वस्तुओं के आधार पर करेगी जैसे सामाजिक

स्थिति, धन और दूसरे व्यक्तियों के श्रम को हड़पने की क्षमता। एक सच्ची माँ, जो अपने अनुभवों से ईश्वरीय विधान को समझ गई है, अपने बच्चों को भी उसी विधान का पालन करने के लिए तैयार करेगी। अपने बच्चे को अधिक खाते-पीते, जनाना बनते और अच्छे वस्त्र पहनते देखकर ऐसी माँ को दु:ख होगा; क्योंकि वह जानती है कि ये चीजें उसके लिए ईश्वर की इच्छा का पालन करना कठिन बना देंगी।

इस प्रकार की माँ अपने पुत्र या पुत्री को ऐसी शिक्षा नहीं देगी, जिससे वह श्रम से बचने के लोभ का शिकार बन जाए; बल्कि ऐसी शिक्षा देगी, जिससे वह जीवन के श्रम को वहन करने योग्य बन सके। उसे यह पूछने की आवश्यकता न होगी कि वह अपने बच्चों को क्या सिखाये, अथवा उन्हें किस कार्य के लिए तैयार करे। वह जानती है कि पुरुष का कार्य क्या है और उसे क्या सिखाया जाए तथा किस कार्य के लिए तैयार किया जाए। ऐसी स्त्री न केवल अपने को इस प्रकार के कृत्रिम, झूठे कार्य के प्रति प्रेरित नहीं करेगी, जिसका एकमात्र उद्देश्य दूसरे व्यक्ति के श्रम का उपयोग करना है बल्कि उन सभी कार्यों को भी, जो उसके बच्चों को दुहरा प्रलोभन प्रदान करते हैं, घृणा और भय की दृष्टि से देखेगी। ऐसी स्त्री अपनी पुत्री के लिए पति का चुनाव यह देखकर नहीं करेगी कि उस पुरुष के हाथ सफेद हैं या उसके व्यवहार सुसंस्कृत हैं, बल्कि चूँकि वह सच्चे और कृत्रिम श्रम का अंतर जानती है इसलिए वह सदा और सर्वत्र मनुष्य के सच्चे श्रम को महत्त्व देगी, जिसमें प्राणों तक का संकट होता है। साथ-ही-साथ झूठे दिखावटी श्रम को, जिसका उद्देश्य स्वयं को सच्चे कार्य से मुक्त कर लेना है, वह घृणा की दृष्टि से देखेगी। इस प्रकार के श्रम की अपेक्षा वह सर्वप्रथम अपने पति से करेगी और दूसरों से भी इसी सद्गुण की माँग करेगी।

जो महिलाएँ अपने को नारी के कर्तव्य से मुक्त रखकर भी उसके अधिकारों से लाभ उठाना चाहती हैं वे यह न कहें कि जीवन के प्रति ऐसा दृष्टिकोण माँ के लिए असंभव है। वे यह न कहें कि वे अपने बच्चों के प्रेम में इतनी अधिक पगी होती हैं कि उनके लिए यह संभव नहीं कि वे उन्हें सुस्वादु भोजन, मनोरंजन और अच्छे वस्त्र न दें और पति के पास धन न होने पर अथवा पति के अच्छी स्थिति में न होने पर अपने बच्चों की सुरक्षा की ओर से उदासीन रहें या अपनी विवाह-योग्य पुत्रियों और अशिक्षित पुत्रों के भविष्य की ओर से निश्चिंत हो जाएँ।

यह सब झूठ है, एकदम सफेद झूठ! एक सच्ची माँ ऐसा कभी नहीं कहेगी।

आप कहती हैं कि आप अपने बच्चों को मिठाई और खिलौने देने तथा सरकस ले जाने की इच्छा का संवरण नहीं कर सकतीं। किंतु क्या आप उन्हें विषैले फल खाने को नहीं देतीं? और उन्हें गणिकाओं के होटल में नहीं ले जातीं? फिर क्या

बात है कि कुछ मामलों में आप अपने को रोक सकती हैं, और कुछ में नहीं?

इसका कारण यह है कि आप जो कुछ भी कर रही हैं वह सच नहीं है।

आप कहती हैं कि आप अपने बच्चों से प्यार करती हैं, इसलिए आपको उनके जीवन की चिंता है, उनकी भूख और बीमारी की चिंता है, और आप अपने पति की स्थिति से प्राप्त सुरक्षा को महत्त्व देती हैं; हालांकि आप उस स्थिति को अनुचित मानती हैं।

आपको अपने बच्चों की भावी संभावित विपत्तियों की—अत्यंत दूरवर्ती और संदिग्ध विपत्तियों की—इतनी आशंका है कि आप अपने पति को ऐसे कार्यों के लिए प्रोत्साहित करती हैं, जिन्हें आप स्वयं अनौचित्यपूर्ण समझती हैं। किंतु वर्तमान परिस्थितियों में आप अपने बच्चों को आजकल के जीवन की अभागी घटनाओं से बचाने के लिए क्या कर रही हैं?

क्या आप दिन का अधिक भाग अपने बच्चों के साथ व्यतीत करती हैं? यदि आप उसका दसवाँ हिस्सा भी व्यतीत करती हो तो बहुत हैं।

शेष समय आपके बच्चे अपरिचितों और गली-गली फिरनेवाले नौकरों के पास रहते हैं, या ऐसी संस्थाओं में रहते हैं, जहाँ शारीरिक तथा नैतिक छूत के लिए निरंतर भय बना रहता है। आपके बच्चे खाते हैं और पोषण प्राप्त करते हैं। उनका भोजन कौन तैयार करता है, और उस भोजन में क्या-क्या होता है? अधिकांश में आप इस बात को नहीं जानतीं। इसी प्रकार आप यह भी नहीं जानतीं कि कौन उनमें नैतिक भावनाएँ भरता है? इसलिए यह न कहिए, कि आप अपने बच्चों की भलाई की खातिर बुराइयाँ सहन करती हैं। यह सच नहीं है। आप बुराई इसलिए करती हैं कि वह आपको पसंद है।

एक सच्ची माँ, जो संतान की उत्पत्ति और उसके पालन-पोषण में त्यागपूर्ण कर्तव्य और ईश्वरीय इच्छा की पूर्ति देखती हैं, ऐसी बात नहीं कहेगी। वह ऐसा नहीं कहेगी, क्योंकि वह जानती है, कि उसका कार्य अपने बच्चों को अपनी इच्छा अथवा समय की प्रचलित प्रवृत्ति के अनुसार ढालना नहीं हैं। वह जानती है, कि मनुष्य को जो सबसे बड़ी और पवित्र वस्तु देखने को मिली है वह ये बच्चे ही हैं—हमारी भावी पीढ़ी। वह यह भी जानती है, कि इस पवित्र वस्तु के तन-मन से सेवा करना ही उसका जीवन है।

सतत जीवन और मृत्यु के बीच झूलते रहने के कारण और एक प्रस्फुटित होते हुए जीवन की रक्षा का भार होने के कारण वह स्वयं जानती है कि जीवन और मृत्यु उसके अधिकार में नहीं है; उसका काम तो जीवन की सेवा करना है। इसलिए वह इस सेवा के लिए दूर के रास्ते नहीं खोजेंगी, बल्कि जो मार्ग निकटस्थ है, उसकी

अवहेलना नहीं करेगी।

ऐसी माँ बच्चे पैदा करेगी, स्वयं उनका पालन-पोषण करेगी, अपने से पहले उनको खाना खिलाएगी, बच्चों के लिए भोजन तैयार करेगी, उनके कपड़े सिएगी और धोएगी, उन्हें शिक्षा देगी और उनके साथ सोएगी, तथा बात करेगी; क्योंकि वह देखती है, कि इसी में उसके जीवन का कार्य है। वह जानती है कि प्रत्येक जीवन की सुरक्षा श्रम में और श्रम करने की क्षमता में है, और इसलिए वह अपने पति के धन में या बच्चों की उपाधियों में बाह्य सुरक्षा की खोज नहीं करेगी, बल्कि उनमें भी ईश्वरीय इच्छा के उत्सर्गपूर्ण परिपालन की उसी क्षमता का विकास करेगी, जिसकी अनुभूति वह स्वयं अपने में करती रही है, और जिसका सच्चा रूप प्राणों को संकट में डालकर भी परिश्रम करने की भावना में दिखाई देता है। ऐसी माँ दूसरों से नहीं पूछेगी कि उसे क्या करना है, उसे इन सब बातों का स्वयं ज्ञान होगा। वह किसी बात का भय नहीं करेगी और सदा शांत रहेगी, क्योंकि उसे पता होगा कि उसने वही किया है, जो उसे करना चाहिए था।

पुरुषों और संतानविहीन स्त्रियों के लिए तो ईश्वर की इच्छा का पूर्ण करने के उपायों के बारे में संदेह हो सकता है, किंतु माँ का मार्ग तो एकदम स्पष्ट है, और यदि वह सरल हृदय से उसे विनम्रतापूर्वक पूरा करती रहे तो वह मानव-जीवन की पूर्णता के सर्वोच्च स्थान पर जा खड़ी होती है और सबके लिए ईश्वरीय इच्छा के उस पूर्ण पालन की प्रतिमा बन जाती है, जिसकी आकांक्षा सभी लोगों में होती है।

यह क्षमता केवल माँ में है, कि जिस ईश्वर ने उसे इस संसार में भेजा और जिसकी सेवा उसने बच्चे पैदा करके, उनका लालन-पालन करके तथा अपने प्राणों से भी अधिक प्यार करके की है, उससे वह अपनी मृत्यु से पूर्व यह कहे, "हे प्रभु! अब अपनी दासी को शांति के साथ इस संसार से विदा लेने दो।" यह क्षमता मानव-जीवन की सबसे उच्च पूर्णता है, जिसकी कोई भी मनुष्य कामना कर सकता है।

ऐसी स्त्रियाँ, जो अपने ज़ीवनोद्देश्य को पूरा कर लेती हैं, पुरुषों पर शासन करती हैं और मानवजाति के लिए ध्रुवतारे की भाँति पथप्रदर्शक बन जाती हैं। ऐसी स्त्रियाँ जनमत का निर्माण करती हैं, और भावी संतति को तैयार करती हैं। यही कारण है कि उनके हाथों में सबसे बड़ी शक्ति रहती है—वह शक्ति है वर्तमान समय की प्रचलित और भयावनी बुराइयों से पुरुष की रक्षा करना।

हाँ, नारियो और माताओ, इस संसार की मुक्ति सबसे अधिक तुम्हारे ही हाथों में है।

●

बुराई कैसे मिटे

अनुवादक

शोभालाल गुप्त

मानव-समाज में शोषण

सारा मानव-समाज पशुओं के उस झुंड के समान है, जिसमें बैल, गाय और बछड़े सभी हैं, और जो तारों से घिरे बाड़े में बंद हैं। बाड़े के बाहर सुंदर हरा-भरा चरागाह है और खाद्य-सामग्री की बहुतायत है। बाड़े के भीतर पशुओं के लिए खाने को काफी घास नहीं है। फलस्वरूप बाड़े में जो भी घास है, उसको पाने के लिए वे पशु एक-दूसरे पर हमला कर रहे हैं और एक-दूसरे को पैरों तले कुचल रहे हैं। पशुओं का मालिक भला और सदाशयी व्यक्ति है। उसे पशुओं की हालत देखकर बड़ा रंज होता है। वह सोचने लगता है कि पशुओं की हालत किस प्रकार सुधारी जाए। सोचते-सोचते उसने गायों के रात के विश्राम के लिए हवा और नालीदार सुंदर छप्पर बंधवा दिए। उसने उनके सींगों के सिरे मढ़वा दिए ताकि वे जिंदगी की लड़ाई में अपने सीगों का उतनी भयंकरता से प्रयोग न करें। उसने बूढ़े बैलों और गायों के लिए उस बाड़े के भीतर एक और हदबंदी बना दी, ताकि वे अपने बुढ़ापे में जिंदगी की लड़ाई से बच जाएँ और घास के लिए निश्चित हो जाएँ। चूँकि बछड़ों को मारा जा रहा था; वे भूख से भी मर रहे थे और उपयोगी पशु न बन पाते थे, इसलिए उसने ऐसी व्यवस्था कर दी कि उन्हें रोज सवेरे थोड़ा दूध पीने के लिए मिल जाया करे। इस प्रकार, यद्यपि सब बछड़ों को काफी पोषण न भी मिलता था तो भी उन्हें इतना जरूर मिल जाता था कि वे जीवित रह सकते थे। मतलब यह कि पशुओं के स्वामी ने उनकी हालत सुधारने के लिए यथाशक्ति प्रयत्न किया, किंतु जब मैंने पशुओं के मालिक से पूछा कि आप यह सीधी-सी बात क्यों नहीं करते कि बाड़े की हदबंदी तोड़कर पशुओं को बाहर निकाल दें; तो उसका उत्तर यह था कि यदि मैं ऐसा करूँ तो फिर मुझे उनके दूध से जो हाथ धो लेना पड़ेगा।

काम का बँटवारा

मनुष्य जिस मकान में रहता है, वह अपने-आप नहीं बन जाता, उसके चूल्हे में जो ईंधन काम आता है वह भी वहाँ अपने-आप नहीं पहुँचता, न पानी अपने-आप

आता है और न रोटी आकाश से टपक पड़ती है। उसका भोजन, उसके कपड़े, उसके जूते आदि तमाम चीजों को पुराने जमाने के लोगों ने ही तैयार नहीं किया। आज भी उनको ऐसे आदमी तैयार कर रहे हैं जो सैकड़ों और हजारों की तादाद में मर रहे हैं। वे रात-दिन परिश्रम करते हैं; किंतु उन्हें अपने और अपने बच्चों के लिए काफी भोजन-वस्त्र और रहने को स्थान नसीब नहीं होता।

सभी मनुष्यों को दरिद्रता से लड़ना पड़ता है। वे जीवन-संग्राम में इतने अधिक व्यस्त हैं, फिर भी उनके माता-पिता, भाई-बहन और बाल-बच्चे मौत के घाट उतर रहे हैं। उनकी हालत उन आदमियों के समान है, जो टूटे हुए अथवा अध-डूबे जहाज में सवार हों और जिनके पास खाने-पीने का बहुत थोड़ा सामान बच रहा हो। उनको परमात्मा ने या प्रकृति ने ऐसी दशा में डाल दिया है कि अपनी जरूरतों के साथ बिना निरंतर संघर्ष उनका काम नहीं चल सकता। यदि हम उनके इस काम में बाधा डालें अथवा दूसरों के परिश्रम का इस तरह उपभोग करें कि जिससे सर्वसाधारण को कोई लाभ नहीं पहुँच सकता तो यह हमारे और उनके दोनों के लिए घातक सिद्ध होगा। तो फिर अधिकांश पढ़े-लिखे लोग क्यों खुद परिश्रम नहीं करते और चुपचाप दूसरों की मेहनत हड़प लेते हैं जो उनके खुद के जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक होती है? क्या वे ऐसे जीवन को सात्त्विक और उचित समझते हैं?

यदि कोई मोची ऐसे जूते बनाए जिनकी लोगों को जरूरत न हो और फिर यह कहे कि लोगों को उसको खाने को देना चाहिए तो यह एक अजीब बात मालूम होगी। हम उन सरकारी कर्मचारियों, धर्माधिकारियों, कलाविदों, विज्ञान-वेत्ताओं आदि के लिए क्या कहेंगे जो सर्वसाधारण के लिए कोई उपयोगी चीज पैदा नहीं करते और न जिनके काम की किसी को जरूरत है, परंतु फिर भी 'काम के बँटवारे' के सिद्धांत के नाम पर अच्छा खाना-पहनना माँगते हैं।

अवश्य ही काम का बँटवारा हमेशा से चला आया है, लेकिन वह ठीक तभी हो सकता है, जब हम विवेक और अंत:करणपूर्वक उसे करने का निर्णय करें। जो बँटवारा सब लोगों की बुद्धि और हृदय को मंजूर हो, वह सबसे अच्छा बँटवारा होगा। आम लोग उसी बँटवारे को सही समझते हैं, जिसके अनुसार किसी मनुष्य के किसी खास काम को दूसरे इतना जरूरी समझें कि वे उसके बदले उस मनुष्य को राजी-खुशी से खाना और कपड़ा देने को तैयार हो जाएँ और जो मनुष्य बचपन से लगाकर तीस वर्ष की उम्र तक दूसरों की मेहनत पर जिंदा रहता है और यह वादा करता है कि जब मैं अपनी पढ़ाई समाप्त कर लूँगा तो कोई बहुत उपयोगी काम करूँगा—हालाँकि किसी ने उसको ऐसा काम करने को नहीं कहा होता—वह अपना शेष जीवन भी उसी प्रकार बिताता है और कहता रहता है कि मैं निकट भविष्य में

कुछ-न-कुछ जरूर करूँगा, किंतु यह सही बँटवारा नहीं हो सकता। यह तो बलवानों द्वारा दूसरों की मेहनत लेना हुआ। हड़प खाने की इस क्रिया को धर्मवादी 'दैवी निर्णय', दार्शनिक 'जीवन की अनिवार्य अवस्था' और आजकल का विज्ञान 'काम का बँटवारा' कहते हैं।

काम का बँटवारा मानव-समाज में हमेशा रहा है और आगे भी रहेगा; किंतु सवाल यह है कि हम कैसी व्यवस्था करें कि जिससे यह बँटवारा ठीक-ठीक हो जाए।

लोग कहते हैं—कुछ मानसिक और आध्यात्मिक श्रम करते हैं और कुछ शारीरिक श्रम करते हैं; क्या यह काम का बँटवारा नहीं है? उनको श्रम का यह बँटवारा बिल्कुल ठीक प्रतीत होता है; किंतु है यह वास्तव में वही प्राचीन बलात्कार का नमूना।

"तुम मुझे भोजन दो, वस्त्र दो और मेरी सब तरह सेवा-चाकरी करो, क्योंकि तुम बचपन से ऐसा करने में अभ्यस्त हो और मैं तुम्हारे लिए वह मानसिक कार्य करूँगा जिसका मुझे अभ्यास है। तुम मुझे शारीरिक भोजन दो और मैं उसके बदले में तुम्हें आध्यात्मिक भोजन दूँगा।" यह कथन सही प्रतीत होता है; किंतु वास्तव में यह सही तभी हो सकता है जब सेवाओं का यह आदान-प्रदान स्वेच्छापूर्वक हो; शरीर-श्रम करनेवालों को आध्यात्मिक भोजन पाने से पहले ही अपनी सेवाएँ देने के लिए मजबूर न होना पड़ता हो। आध्यात्मिक भोजन देनेवाला व्यक्ति कहता है, "मैं यह भोजन तभी दे सकता हूँ, जब तुम मुझको भोजन दो, वस्त्र दो, और मेरे घर का कूड़ा-करकट हटाकर ले जाओ।"

किंतु शारीरिक भोजन सुलभ करनेवाले व्यक्ति को अपनी ओर से बिना किसी प्रकार की माँग किए उपर्युक्त काम करना पड़ता है। उसे आध्यात्मिक भोजन मिले या न मिले, शारीरिक भोजन देना ही होता है। यदि यह आदान-प्रदान स्वेच्छापूर्वक हो तो दोनों पक्षों के लिए उसकी शर्तें भी समान ही हों। यह सच है कि मनुष्य के लिए शारीरिक भोजन की भाँति आध्यात्मिक भोजन भी आवश्यक होता है। विद्वान व्यक्ति अथवा कलाकार कहता है, "हम मनुष्य की आध्यात्मिक भोजन द्वारा तभी सेवा कर सकते हैं, जब वे हमारे लिए शारीरिक भोजन सुलभ करें।" किंतु शारीरिक भोजन देनेवाला भी क्यों न कहे, "हम आपके लिए शारीरिक भोजन सुलभ करना शुरू करें, उसके पहले हमको आध्यात्मिक भोजन की जरूरत है; जब तक हमको वह न मिलेगा, हम शरीर-श्रम नहीं कर सकते।"

आप कहेंगे, "लोगों के लिए आध्यात्मिक भोजन तैयार करने के लिए हमको किसान, लुहार, मोची, बढ़ई, राज आदि के परिश्रम की जरूरत है।"

इसके जवाब में मजदूर भी यह कह सकता है, "मैं आपके लिए शारीरिक भोजन तैयार करने के लिए श्रम करूँ, उसके पहले मुझे आध्यात्मिक भोजन चाहिए। मुझे श्रम करने की शक्ति प्राप्त हो, इसके लिए मुझे धार्मिक शिक्षा, समतावादी समाज-व्यवस्था, श्रम के साथ बुद्धि के संयोग और कला के सुख और आनंद की जरूरत है। मेरे पास समय नहीं है कि मैं जीवन के अर्थ के संबंध में शिक्षा-प्रणाली की खोज करूँ। आप मेरे लिए उसकी व्यवस्था कीजिए।

"मेरे पास सामाजिक जीवन के विधि-विधान बनाने के लिए भी समय नहीं है, जिससे कि न्याय की अवहेलना न हो। आप ही मेरे लिए उनका निर्माण कीजिए। मेरे पास यत्न-विद्या, प्रकृति-विद्या, रसायन-विद्या आदि को अध्ययन करने का समय नहीं है। मुझे ऐसी पुस्तकें दीजिए, जिनके सहारे मैं अपने औजारों में, काम करने के तरीकों में, रहने के मकानों में और उनमें रोशनी और गर्मी की व्यवस्था करने आदि के कामों में सुधार कर सकूँ। मैं काव्य, चित्रकला और संगीत में भी अपने-आप को व्यस्त नहीं रख सकता। मुझे मनोरंजन और सुख की वह सब सामग्री दीजिए, जो जीवन के लिए आवश्यक है।"

आप कहेंगे कि यदि मजदूर-पेशा लोग आपके लिए जो श्रम करते हैं, वह न करें तो आप अपना महत्त्वपूर्ण और आवश्यक काम नहीं कर सकते। इसके जवाब में मजदूर भी यह कह सकता है, "यदि मेरे विवेक और अंतःकरण की जरूरतों के मुताबिक मुझे धार्मिक पथ-प्रदर्शन न मिले, सरकार मेरे लिए काम की गारंटी न करे, मुझे अपने श्रम को हल्का करने का ज्ञान न मिले और मैं कला का आनंद न लूट सकूँ तो मैं हल जोतने, कूड़ा-कचरा ढोने और घरों की सफाई का अपना महत्त्वपूर्ण काम, जो आपके काम जितना ही आवश्यक है, नहीं कर सकूँगा। अब तक तो आपने आध्यात्मिक भोजन के रूप में जो कुछ उपस्थित किया है, वह न केवल मेरे लिए बिल्कुल निरर्थक है, बल्कि मैं नहीं समझ सकता कि वह और किसी के भी कुछ उपयोगी हो सकता है। और जब तक मुझे वह पोषण नहीं मिलेगा जो दूसरों के समान मेरे लिए आवश्यक है, तब तक मैं आपके लिए शारीरिक भोजन पैदा नहीं कर सकता।"

यदि मजदूर ऐसा कहें तो क्या हो? और यदि यह ऐसा कहें तो यह हँसी की नहीं, बल्कि स्पष्ट न्याय की ही बात होगी। बौद्धिक परिश्रम करनेवाले की अपेक्षा एक मजदूर का उक्त कथन कहीं ज्यादा ठीक होगा। कारण, बौद्धिक-श्रम करनेवाले की अपेक्षा शरीर-श्रम करनेवाले का काम ज्यादा जरूरी होता है। दूसरे बुद्धि के स्वामी को वादाशुदा आध्यात्मिक भोजन देने में कोई रुकावट नहीं हो सकती, जबकि मजदूर भोजन के अभाव में श्रम करने में असमर्थ होता है।

ऐसी दशा में यदि हमारे सामने उक्त प्रकार की सीधी-सादी और न्यायोचित माँग रखी जाए तो हम बौद्धिक-श्रम करनेवाले व्यक्ति उसका क्या जवाब देंगे? हम उस माँग की किस प्रकार पूर्ति करेंगे? हम यह तक नहीं जानते कि मजदूरों की जरूरतें क्या हैं। हम तो उनके रहन-सहन के तरीकों, उनके विचारों और उनकी भाषा को भी भूल गए हैं। अज्ञान के वश होकर हमने अपना वह कर्तव्य भुला दिया है, जिसे हमने अपने सिर पर लिया था। हम यह भी भूल गए हैं कि हमारा श्रम किसलिए हो रहा है और जिन लोगों की सेवा करने का हमने निश्चय किया था, उन्हीं को हमने अपने वैज्ञानिक और कला-संबंधी कार्यों का लक्ष्य बना लिया है। हम अपनी ही प्रसन्नता और आनंद के लिए उनका अध्ययन करते हैं। हम यह बिल्कुल भूल गए हैं कि हमारा काम उनका अध्ययन और वर्णन करना नहीं, बल्कि उनकी सेवा करना है।

अब हमको सावधान हो जाना चाहिए और गहराई के साथ आत्म-निरीक्षण करना चाहिए । वस्तुतः हम उन पंडे-पुजारियों के समान हैं, जिनके हाथों में स्वर्ग की कुंजी तो हैं; लेकिन जो न तो खुद स्वर्ग में जाते हैं और न दूसरों को जाने देते हैं। हम अपने ही भाइयों का जीवन बर्बाद कर रहे हैं और फिर भी अपने-आपको धर्मात्मा, दयालु, शिक्षित और पुण्यात्मा समझे हुए हैं।

एक भीषण अन्याय

जन-साधारण जिस मुख्य अन्याय का शिकार है, वह राजनैतिक सुधारों द्वारा नहीं मिटाया जा सकता। वह अन्याय यह है कि जिस जमीन के टुकड़े पर मनुष्य पैदा होता है, उसका वह इस्तेमाल नहीं कर सकता, हालाँकि कुदरती तौर पर उसको यह हक हासिल होना चाहिए। इस अन्याय की जघन्यता और दुष्टता को समझने के लिए यह अनुभव करना जरूरी है कि भू-स्वामियों की ओर से निरंतर होनेवाला यह अत्याचार जब तक बंद न होगा, तब तक किसी भी राजनैतिक सुधार द्वारा जनता को आजादी नसीब नहीं हो सकती, उसका कल्याण नहीं हो सकता। जब जन-साधारण भूस्वामियों की गुलामी से मुक्त होंगे, तभी राजनैतिक सुधार राजनीतिज्ञों के हाथों के खिलौने होने की बजाए लोगों की आकांक्षाओं के सच्चे द्योतक होंगे। जो लोग अपने व्यक्तिगत उद्देश्यों की पूर्ति करना नहीं चाहते, बल्कि आम जनता की सच्ची सेवा करना चाहते हैं, उनके सामने मैं इस निबंध में यही विचार पेश करना चाहता हूँ।

आप देहातों की ओर निकल जाइए और चाहे किसी से बात करके देख

लीजिए। हरेक आपके सामने अपनी निर्धनता का रोना रोएगा। लोगों के पास पेट भरने के लिए अन्न का अभाव है और इसकी वजह यह है कि उनके पास काफी जमीन नहीं है। भूमि से वंचित कर दिए जाने के कारण देहातों में कितनी भयंकर तबाही मची हुई है, यह वहाँ जाने पर खुद-ब-खुद नजर आ जाता है। सवाल यह है कि उनको और उनके परिवारों को जिंदा कैसे रखा जाए। और इस सबकी वजह है जमीन की समस्या। आप लोगों से उनकी दुरवस्था का कारण पूछिए और यह भी पूछिए कि उन्हें क्या चाहिए तो उनकी ओर से एक ही जवाब मिलेगा। वे ऐसा सोचने के लिए विवश हैं, क्योंकि निर्वाह-योग्य भूमि की कमी की मुख्य शिकायत के अलावा उन्हें महसूस करना पड़ता है कि वे भूस्वामियों और सेठ-साहूकारों के गुलाम हैं। उन पर इसलिए आए दिन जुरमाने होते हैं, वे पिटते और अपमानित होते हैं कि कभी उनके मवेशी निकटवर्ती भूस्वामी के बाड़े में चले जाते हैं या वे वहाँ से घास का बोझा या लकड़ी का गट्ठर, जिसके बिना वे जिंदा नहीं रह सकते, उठा लाते हैं। अतः आम लोगों की दृष्टि से भूमि का सवाल सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। उनके आगे यह बिल्कुल स्पष्ट है कि कृषि पर निर्भर रहनेवाली आबादी, जिसकी तादाद बढ़ती रहती है, उस अवस्था में जिंदा नहीं रह सकती जबकि उसके पास बहुत थोड़ी जमीन हो, और उसे अपने अलावा उन तमाम परोपजीवियों का भरण-भोषण करना पड़ता हो, जो उसके साथ नत्थी हैं और उसके चारों ओर रेंगते रहते हैं।

हेनरी जार्ज ने अपने एक भाषण में कहा है, "मनुष्य क्या है? सबसे पहले वह एक जानवर है, जमीन का जानवर है, जो जमीन के बिना जिंदा नहीं रह सकता। मनुष्य जो कुछ पैदा करता है, वह जमीन से ही पैदा होता है। यदि हम गहराई से विचार करें तो हमको ज्ञात होगा कि तमाम उत्पादक श्रम तभी होता है, जब जमीन को जोता-बोया जाए, या जमीन से पैदा होनेवाली सामग्री को ऐसे रूप में परिवर्तित किया जाए कि उससे मनुष्य की आवश्यकताएँ और इच्छाएँ पूरी हो सकें। यही क्यों, खुद मनुष्य का शरीर भी पृथ्वी से ही पैदा होता है। हम पृथ्वी के बेटे हैं—खाक से पैदा हुए, खाक में मिल जाएँगे। मनुष्य से आप वे सब चीजें ले लीजिए जो जमीन से निकली हों और फिर रह जाएगी सिर्फ शरीर-रहित आत्मा। इसलिए यदि आपका किसी ऐसी जमीन पर कब्जा हो, जिस पर दूसरे मनुष्य का जीवन निर्भर हो तो आप उस मनुष्य के मालिक बन जाएँगे और वह आपका गुलाम। जिस जमीन पर मेरा जीवन निर्भर हो, उस जमीन का मालिक अपने पशुओं की भाँति ही मुझको जीवन-दान दे सकता है या मार सकता है। हम गुलामी की प्रथा को खत्म करने की चर्चा करते हैं, पर हमने गुलामी को उठाया कहाँ है? हमने केवल गुलामी के एक विकृत रूप को, दास-प्रथा को नष्ट किया है। किंतु हमको एक और गहरी और प्रच्छन्न

गुलामी को, जो कहीं ज्यादा घातक है खत्म करना है। वह है औद्योगिक गुलामी, जिसमें आजादी के नाम पर मनुष्य को प्रायः गुलाम बना दिया जाता है।"

अपने इसी भाषण के दूसरे हिस्से में हेनरी जार्ज ने कहा है, "क्या आपने कभी इस बात की विचित्रता और बेहूदगी पर विचार किया है कि सारी सभ्य दुनिया में श्रमजीवी वर्ग सबसे दरिद्र वर्ग है? एक क्षण के लिए सोचिए, यदि कोई समझदार आदमी पहले-पहल इस दुनिया में आए और आप उसको यह बताएँ कि हम इस दुनिया में किस तरह से रहते हैं, और मकान, भोजन, कपड़े और हमारी जरूरत की अन्य चीजें किस प्रकार श्रम द्वारा पैदा होती हैं तो क्या वह यह ख्याल न करेगा कि श्रमजीवी बढ़िया मकानों में रहते होंगे और श्रम के द्वारा जो भी उत्पादन होता है, उसका अधिकतर भाग उन्हें उपलब्ध होता होगा। किंतु चाहे आप उस व्यक्ति को लंदन ले जाइए, चाहे पेरिस या न्यूयार्क, वह यही देखेगा कि जिनको श्रमजीवी कहते हैं, वे सबसे खराब घरों में रहते हैं।"

सब देशों में यही हाल है। आलसी लोग भव्य राजमहलों में रहते हैं और श्रमजीवी अँधेरे और गंदे घरों में।

हेनरी जार्ज आगे कहते हैं, "यह सब कितना विचित्र मामला है, जरा सोचिए तो, हम संभवतः दरिद्रता को बुरा कहते हैं और यह उचित ही है कि हम ऐसा करें... प्रकृति श्रम को और सिर्फ श्रम को दान देती है; किसी भी चीज को पैदा करने के लिए मानव-श्रम की पहले आवश्यकता होती है। जो मनुष्य ईमानदारी से और भली प्रकार मेहनत करता है, वह धनवान होना चाहिए और जो ऐसा नहीं करता वह गरीब होना चाहिए; किंतु हमने प्रकृति के क्रम को ऐसा बदल दिया है कि हम श्रम करनेवालों को दरिद्र समझने लगे हैं।... इसका मुख्य कारण यह है कि हम श्रम करनेवालों को मजबूर करते हैं कि वे उन लोगों को कुछ दें जो श्रम करने की इजाजत देते हैं। आप किसी से कोट, कुर्ता या मकान खरीदते हैं तो आप उन चीजों के विक्रेता को श्रम का उपहार देते हैं, ऐसी चीज का मूल्य देते हैं, जो उसने पैदा की है या पैदा करनेवाले से ली है। किंतु जब आप किसी आदमी को जमीन के बदले कुछ देते हैं तो आप उसको किस चीज का बदला देते हैं? आप उसको ऐसी चीज का बदला देते हैं, जिसको किसी आदमी ने पैदा नहीं किया, जो मनुष्य के पैदा होने से पहले भी थी अथवा जिसका मूल्य उसने व्यक्तिगत रूप से स्थापित नहीं किया, बल्कि उस समाज ने किया जिसके आप भी अंग हैं।"

यही कारण है कि जिसने जमीन हस्तगत कर ली और उस पर कब्जा जमा लिया, वह धनवान है और जो जमीन को जोतता-बोता है या जमीन की पैदावार से चीजें बनाता है, गरीब है।

हम आवश्यकता से अधिक उत्पत्ति का रोना रोते हैं; किंतु जब लोगों की जरूरतें ही पूरी नहीं होतीं, तब आवश्यकता से अधिक उत्पत्ति का सवाल ही कहाँ पैदा होता है? जिन चीजों के लिए कहा जाता है कि वे आवश्यकता से अधिक पैदा हुई हैं, उनकी बहुत लोगों को जरूरत रहती है। यह चीजें उनको क्यों नहीं मिलतीं? इसलिए कि उनको खरीदने के लिए उनके पास साधन नहीं हैं, यह बात नहीं है कि उनको उन चीजों की जरूरत ही न हो। और उनके पास उन चीजों को खरीदने के साधन क्यों नहीं हैं? वे बहुत थोड़ा कमाते हैं। जब लोगों की औसत आमदनी एक या डेढ़ आना रोज हो तो ज्यादा मात्रा में चीजें नहीं बेची जा सकतीं।

तो मनुष्य इतनी कम मजदूरी पर काम करने के लिए क्यों विवश होते हैं। इसलिए कि यदि वे ज्यादा मजदूरी माँगें तो ऐसे बेकार लोगों की बहुतायत है, जो उनकी जगह काम करने को तैयार हो जाएँगे। बेकारों की इस भीड़ की वजह से ही तीव्र प्रतिस्पर्द्धा होती है कि मजदूरी की दर घटकर अल्पतम रह गई है। क्या कारण है कि लोगों को काम नहीं मिलता? क्या आपने विचार किया है कि लोगों का काम न पा सकना कितनी अजीब बात है? आदम—प्रारंभिक पुरुष—को काम पाने में कोई मुश्किल न हुई और न राबिन्सन क्रूसो को हुई। काम तलाश करने का उनके सामने सवाल ही न था।

यदि मनुष्यों को काम देनेवाला न मिले तो वे अपने-आप काम पर क्यों नहीं लग जाते? सिर्फ इसलिए कि उनको उस तत्त्व से वंचित कर दिया गया है, जिस पर कि मानव-श्रम किया जा सकता है। मनुष्यों को मजदूरी पाने के लिए एक-दूसरे के साथ प्रतिस्पर्द्धा करनी पड़ती है, क्योंकि उनको अपने-आपको काम में लगाने के प्राकृतिक साधनों से वंचित कर दिया गया है, उनको ईश्वर के राज्य में कोई ऐसी जमीन का टुकड़ा नहीं मिल सकता कि जिसको वे उपयोग में ला सकें और उसके बदले उन्हें दूसरे आदमी को कुछ न देना पड़े।

मनुष्य परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि उनकी गरीबी का अंत हो, किंतु दरिद्रता ईश्वरी-नियमों की वजह से पैदा नहीं होती। ऐसा कहना घोर नास्तिकता है। उनका जन्म होता है उस अन्याय में से, जो एक मनुष्य दूसरे मनुष्यों के साथ करता है। कल्पना कीजिए, यदि परमात्मा आपकी प्रार्थना सुन ले तो वह उसको पूरा किस प्रकार करेगा, जब तक कि वह अपने नियमों में परिवर्तन नहीं करता। सोचिए—परमात्मा हमको ऐसी कोई वस्तु नहीं देता जिसकी गणना हम दौलत में करते हैं। वह हमको केवल सच्चा माल देता है; दौलत पैदा करने के लिए मनुष्य को उसका उपयोग करना पड़ता है। क्या वह हमको कच्चा माल काफी मात्रा में नहीं दे रहा। और वह हमको ज्यादा मात्रा में भी देने लगे तो वह दरिद्रता का अंत कैसे करेगा?

कल्पना कीजिए, हमारी प्रार्थनाओं के जवाब में वह सूर्य की शक्ति को या धरती के गुणों को बढ़ा दे, वह पौधों में ज्यादा पैदावार की शक्ति भर दे या पशुओं को ज्यादा तादाद में अपनी संतान बढ़ाने के लिए समर्थ बना दे तो इसका लाभ किसको मिलेगा? ऐसे देश को सामने रखकर उत्तर दीजिए जहाँ जमीन पर चंद व्यक्तियों का एकाधिकार हो—अधिकांश सभ्य देशों में यही व्यवस्था है। सिर्फ भू-स्वामियों को। और यदि खुद परमात्मा भी हमारी प्रार्थना को सुनकर स्वर्ग से वह सब चीजें भेज दे जिनकी मनुष्यों को जरूरत है तो उनका लाभ कौन उठाएगा? भूस्वामी। वे उन सब चीजों पर अधिकार जमा लेंगे और जिन लोगों के पास जमीन न होगी, उनको काम करने के लिए मजबूर करेंगे। वे उन चीजों को बेचना शुरू कर देंगे, यहाँ तक कि भूमि-रहित लोगों को उन चीजों को खरीदने के लिए अपने बदन के कपड़े भी उतार देने पड़ेंगे। तब नतीजा यह होगा कि एक ओर वे भूखों मरने लगेंगे और दूसरी तरफ उन चीजों का ढेर लग जाएगा और भू-स्वामी शिकायत करने लगेंगे कि पैदावार आवश्यकता से बढ़ गई है।

मेरा कहने का यह आशय नहीं है कि इस मौलिक अन्याय को मिटा देने के बाद हमारे लिए करने-धरने को शेष नहीं रह जाएगा। मैं जो कहना चाहता हूँ वह तो यह है कि तमाम सामाजिक प्रश्नों के मूल में हमारी जमीन की व्यवस्था मुख्य है। मैं यह कहना चाहता हूँ कि आप जो चाहे कीजिए, चाहे जैसा सुधार कीजिए, जो व्यापक दरिद्रता फैली हुई है, उसे आप तब तक नहीं मिटा सकते, जब तक कि आप उस तत्त्व को, जिससे मनुष्यों को जिंदा रहना है, चंद व्यक्तियों की निजी जायदाद बनी रहने देते हैं। सरकार का सुधार कीजिए, टैक्स घटाकर कम-से-कम कर दीजिए, रेल की सड़कें बनाइए, सहयोग-समितियाँ खोलिए, मुनाफों को मालिकों और मजदूरों में बाँट दीजिए, पर इन सबका नतीजा क्या होगा? यही कि जमीन की कीमत बढ़ जाएगी। तमाम सुधारों का यही नतीजा नहीं होता कि जमीन का मूल्य बढ़ जाता है—वह मूल्य, जो कुछ लोग जीने का अधिकार पाने के लिए दूसरों को देते हैं।

मनुष्य-भक्षण, मानव-बलिदान, धार्मिक व्यभिचार, कमजोर लड़के-लड़कियों की हत्या, खूनी प्रतिशोध, सारी-की-सारी बस्तियों का संहार, न्यायालयों का उत्पीड़न, अग्निदाह, कोड़े-बाजी और गुलामी यह सब प्रथाएँ पहले रह चुकी हैं। किंतु यदि हम इन भयंकर प्रथाओं और रिवाजों को पार कर चुके हैं तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि अब भी ऐसी प्रथाएँ और रिवाज जारी नहीं हैं, जो जाग्रत विवेक और अंतःकरण वालों के लिए उन पुरानी प्रथाओं के समान ही घृणास्पद हैं जिनकी कि दुःस्मृति-मात्र अब शेष रह गई है। मनुष्य की सफलता का मार्ग असीम है और

हर ऐतिहासिक काल में ऐसे अंधविश्वास, भ्रम और हानिकर रिवाज रहे हैं, जिनको मानव पीछे छोड़ जाता है और जो भूतकाल की चीजें हो चुकती हैं। कुछ कुप्रथाओं का सुदूर भविष्य के कुहरे में हमें दर्शन होता है और कुछ वर्तमान काल में मौजूद होती हैं, जिनको मिटाना हमारी जिंदगी का सवाल बन जाता है। इस युग की जिन प्रथाओं को हमें मिटाना है, उनमें मृत्यु और अन्य दंडों तथा व्यभिचार, मांसाहार और सैनिकवाद का समावेश किया जा सकता है। इसी प्रकार जमीन पर व्यक्तिगत अधिकार ऐसी कुप्रथा है, जिसे मिटाना भी उक्त बुराइयों की भाँति ही जरूरी हैं। किंतु लोग परंपरागत अन्यायों को एकदम या सहृदय लोगों द्वारा उनकी हानियाँ समझ लेने के बाद फौरन ही नहीं छोड़ देते। वे आगे बढ़ते हैं, रुकते हैं, पीछे हटते हैं और फिर आज़ादी की ओर लंबी छलाँग मारते हैं। हम इस क्रिया की प्रसव-वेदना से तुलना कर सकते हैं। भूमि पर से व्यक्तिगत अधिकार उठाने के संबंध में भी यही होगा।

भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार की बुराई और अन्याय की ओर हजारों वर्ष पहले अवतारी पुरुषों ने ध्यान दिलाया है और यूरोप के प्रगतिशील विचारक अक्सर इसकी बुराई को बताते आए हैं। फ्रांस की राज्य-क्रांति में जिन्होंने प्रमुख भाग लिया था, उन्होंने खास तौर पर इसका बयान किया है। उसके बाद जनसंख्या में वृद्धि हो जाने और अधिकांश अबाधित भूमि पर धनिकों के कब्जा जमा लेने तथा शिक्षा के विस्तार के कारण यह अन्याय इतना स्पष्ट हो गया है कि प्रगतिशील लोग ही नहीं, बहुत साधारण लोग भी उसको देखने और महसूस करने लगे हैं। किंतु जो लोग जमीनों की मिल्कियत से लाभ उठाते हैं—खुद मालिक भी और वे भी जिनके स्वार्थ इस प्रथा के साथ बँध गए हैं—मौजूदा व्यवस्था के इतने आदी हो गए हैं और उससे इतने लंबे अर्से तक लाभ उठा चुके हैं कि उन्हें इसका अन्याय मालूम ही नहीं होता और वे सत्य को अपने-आप से और दूसरों की नजरों से छिपाने की हर कोशिश करते हैं, दबाते हैं। सत्य अधिकाधिक स्पष्ट रूप में प्रकट हो रहा है; किंतु वे उसे विकृत करने की कोशिश करते हैं, दबाते हैं और यदि इसमें उन्हें सफलता नहीं मिलती तो वे उसको चुप करने की कोशिश करते हैं।

गत शताब्दी के आखीर में इंग्लैंड में हेनरी जार्ज नाम के महापुरुष पैदा हुए थे। उन्होंने भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार की प्रथा के अन्याय और जुल्म को प्रकट करने और प्रचलित शासन-प्रणालियों के अधीन उसको मिटाने के उपाय सुझाने के लिए भारी मानसिक श्रम किया। उन्होंने अपने मंतव्य को इस जोर और स्पष्टता के साथ प्रकट किया है कि कोई भी निष्पक्ष व्यक्ति उससे सहमत हुए बिना न रहेगा। उसे स्वीकार करना पड़ेगा कि जब तक मौलिक अन्याय नहीं मिटाया जाएगा, लोगों की

अवस्था संतोषजनक न होगी और यह भी कि हेनरी जार्ज ने जो उपाय सुझाए हैं, वे युक्तिसंगत, न्यायपूर्ण और व्यावहारिक हैं। किंतु हुआ क्या? खुद इंग्लैंड में और आयर्लैंड में भी, जहाँ कि भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार की बुराई नग्न-रूप में विद्यमान थी, अधिकांश प्रभावशाली और पढ़े-लिखे लोग हेनरी जार्ज की शिक्षाओं के विरुद्ध हो गए। जिन लोगों ने पहले सहमति प्रगट की वे भी बाद में खिलाफ हो गए। इस प्रकार जमीन पर व्यक्तिगत मिल्कियत की प्रथा की रक्षा करने में जिनका स्वार्थ था, उनके सामूहिक प्रयत्न से हेनरी जार्ज की शिक्षाएँ अज्ञात बनी हुई हैं और ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है, उनकी तरफ और भी कम-से-कम ध्यान दिया जाता है। अधिकांश शिक्षित कहलानेवाले लोग उनको सिर्फ नाम से ही जानते हैं।

किंतु जमीन निजी संपति नहीं हो सकती, यह सत्य आधुनिक जीवन के वास्तविक अनुभवों से इतना स्पष्ट हो चुका है कि उस व्यवस्था को, जिसमें जमीन पर व्यक्तिगत स्वामित्व स्वीकार किया जाता है, कायम रखने का एक ही मार्ग है और वह यह कि उसके बारे में सोचा ही न जाए, सत्य की अवहेलना की जाए और अन्य ध्यान बँटानेवाले मामलों में अपने-आपको व्यस्त रखा जाए। आज के सभ्य देशों में यही किया जा रहा है।

यूरोप और अमरीका में राजनैतिक कार्यकर्ता लोगों की भलाई के लिए हर किस्म के कामों की ओर ध्यान देते हैं। आयात-निर्यात कर, उपनिवेश, आय-कर, फौजी और समुद्री बजट, समाजवादी असेंबलियाँ, संघ और महासंघ, सभापतियों के निर्वाचन, कूटनीतिक संबंध आदि ऐसे विषय हैं, जिन पर उनका ध्यान लगा रहता है। सिर्फ एक ही विषय ऐसा है जिसको वे नहीं छूते और वह यह है कि तमाम मनुष्यों का जमीन का उपयोग करने का जो अधिकार छिन गया है, उसको पुनः कायम किया जाए। बिना इसके लोगों की हालत नहीं सुधर सकती। यद्यपि राजनैतिक कार्यकर्ता यह महसूस किए बिना नहीं रह सकते कि औद्योगिक और सैनिक झगड़ों में वे जो कुछ कर रहे हैं, उससे राष्ट्रों की शक्ति का ह्रास ही होनेवाला है। फिर भी वे आगे की बात पर विचार नहीं करते और तात्कालिक जरूरतों के आगे सिर झुका देते हैं। वे ऐसे चक्कर में फँसे हुए हैं कि जिससे बाहर निकलने का कोई रास्ता नहीं है और मानो वे अपने-आपको उस जादू भरे तिलस्म में भुला बैठे हैं।

यूरोप और अमरीका के राजनैतिक कार्यकर्ताओं का यह क्षणिक अज्ञान दयाजनक है; किंतु इसका कारण यह है कि इन महाद्वीपों के लोग गलत रास्ते पर इतनी दूर जा चुके हैं कि उनमें से अधिकांश जमीन से जुदा हो चुके हैं, वे अपनी आजीविका या तो कारखानों में या खेतों पर मजदूरी करके कमाते हैं। इसलिए यह समझा जा सकता

है कि यूरोप और अमरीका के राजनीतिज्ञों को लोगों की अवस्था सुधारने के लिए आयात-निर्यात कर, उपनिवेश और कंपनियों का निर्माण आदि मुख्य जरिए प्रतीत होते हैं। किंतु जिन देशों में अस्सी-नब्बे प्रतिशत आबादी खेती पर निर्भर करती हो और जहाँ लोग एक ही बात की माँग करते हों कि उन्हें खेती करने का मौका दिया जाए, वहाँ स्पष्टतः और ही किसी चीज की जरूरत है। यूरोप और अमेरिका के लोगों की हालत उस मनुष्य जैसी है, जो एक रास्ते पर बहुत दूर निकल चुका है। शुरू में उसने उस रास्ते को सही समझा था। अब यद्यपि वह, ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है, अपने लक्ष्य से दूर हटता जाता है, फिर भी उसे अपनी भूल स्वीकार करने में भय मालूम होता है। किंतु जो देश चौराहे पर खड़े हैं, उन्हें तो सीधा रास्ता पकड़ना चाहिए।

लोगों की भलाई का दम भरनेवाले क्या कहते हैं? वे दावा करते हैं कि समाचार-पत्रों को स्वाधीनता दी जाए, धार्मिक सहिष्णुता बरती जाए, श्रमजीवी संघों को आजादी दी जाए, आयात-निर्यात कर लगाए जाएँ, सशर्त दंड दिए जाएँ, धर्म-संस्थाओं को राज्य-संस्था से जुदा किया जाए, श्रम के साधनों को भविष्य में राष्ट्र की संपत्ति बनाया जाए, सहयोग-संस्थाएँ खोली जाएँ और सबसे पहले प्रतिनिधि शासन कायम किया जाए, जैसा कि यूरोप और अमरीका के देशों में एक अर्से से कायम है। किंतु यह प्रतिनिधि-शासन आज तक न तो सब रोगों की रामबाण दवा भूमि-समस्या को हल कर सका है और न उसको ठीक रूप में ही सामने रख सका है।

लोगों ने गायों के एक झुंड को बाड़े में बंद कर दिया है। उनके दूध पर वे जीवित रहते हैं। गायों ने बाड़े में जो भी घास था, उसको खा डाला है या पैरों तले रौंद डाला है। वे भूखों मरती हैं और उन्होंने एक-दूसरे की पूँछों को भी चबा डाला है। वे बाड़े से बाहर निकलकर आगे चरागाह में जाने की जी तोड़ कोशिश कर रही हैं। किंतु जो लोग इन गायों के दूध पर जिंदा रहते हैं, उन्होंने बाड़े के चारों ओर खेतों में रंग और तंबाकू के पौधे लगा दिए हैं। उन्होंने फूलों की क्यारियाँ लगाई हैं, घुड़-दौड़ का मैदान बनाया है, बगीचा लगाया है और टेनिस खेलने का चौक बनाया है। कहीं गायें इन चीजों को खराब न कर दें, इसलिए वे उन्हें बाड़े से बाहर नहीं निकलने देते; किंतु गायें रँभाती हैं और दुबली हो रही हैं। लोगों को डर पैदा हो गया है कि उन्हें दूध मिलना बंद हो जाएगा। इसलिए वे गायों की दशा सुधारने के लिए तरह-तरह के उपाय करते हैं। उनके लिए छप्पर डलवाते हैं, गीले ब्रुश से गायों के बदन को रगड़वाते हैं, सींगों को सोने से मढ़वाते हैं और दूध निकालने के समय को बदलते हैं। वे बूढ़ी और बीमार गायों की देख-रेख और चिकित्सा की चिंता करते

हैं, वे दूध निकालने के नए और सुधरे हुए तरीकों का आविष्कार करते हैं और आशा करते हैं कि बाड़े में उन्होंने एक खास किस्म का जो असाधारण पोषक घास लगाया है, वह खूब उगेगा। वे इन और दूसरी अनेक बातों के बारे में चर्चा करते हैं; किंतु वह बात नहीं करते जो खुद उनके और गायों के लिए हितावह है कि बाड़े की दीवारों को तोड़ डालें और गायों को आजाद कर दें, ताकि वे अपने चारों ओर फैले हुए विस्तृत चरागाहों का आनंद लूट सकें।

लोगों का यह व्यवहार युक्तिसंगत नहीं है। उसका एक कारण है। बाड़े के चारों ओर उन्होंने जो चीजें खड़ी की हैं, उनका मोह वे नहीं छोड़ सकते। किंतु उन लोगों के लिए क्या कहा जाए, जिन्होंने अपने बाड़े के चारों ओर कुछ नहीं लगाया है, और फिर भी प्रथम श्रेणी के लोगों की नकल करके अपनी गायों को बाड़े में बंद रखते हैं और दावा यह करते हैं कि वे गायों के हित के लिए ऐसा करते हैं। हम यही कुछ कर रहे हैं। उन लोगों के लिए जो जमीन के अभाव से निरंतर पीड़ित हैं, हम हर किस्म की पश्चिमी संस्थाओं की व्यवस्था करते हैं; पर मुख्य बात को भूल जाते हैं, जिसकी लोगों को खास जरूरत है। वह यह कि जमीन पर से व्यक्तिगत स्वामित्व का खात्मा किया जाए और उस पर हरेक का समान अधिकार कायम किया जाए।

यह समझ में आने योग्य बात है कि यूरोप के जो लोग प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में अपने ही देशवासियों के श्रम पर जीवन-निर्वाह नहीं करते, किंतु जिनकी रोटी कारखानों के माल के बदले में उपनिवेशों के मजदूर कमाते हैं और जो उन्हें खिलाने और पोषण करनेवाले मजदूरों की मेहनत और पीड़ा को नहीं देखते, वे भावी समाजवादी संगठन का ढांचा खड़ा कर सकते हैं, जिसके लिए कि वे मानव-समाज को तैयार करने का दावा करते हैं और शांत चित्त से चुनाव-आंदोलनों, दलगत संघर्षों, धारा-सभाओं के वाद-विवादों, मंत्रिमंडलों की स्थापना और उत्थापना और समय गुजारने के अन्य विविध कार्यों में, जिन्हें वे विज्ञान और कला का नाम देते हैं, व्यस्त रहते हैं।

यूरोप के इन परोपजीवियों का पोषण करनेवाले असली लोग हिंदुस्तान, अफ्रीका और आस्ट्रेलिया के वे मजदूर हैं, जिन्हें वे नहीं देख पाते। किंतु जिन देशों के पास कोई उपनिवेश नहीं है और जहाँ लोगों को अपनी रोटी कमाने के लिए घोर कष्ट सहना पड़ता है, वहाँ हम अपनी अन्याय-पूर्ण अवस्था का बोझ दूरवर्ती उपनिवेशों पर नहीं डाल सकते। हमारा पाप सदा हमारी आँखों के सामने रहता है। जो लोग हमारा पोषण करते हैं, हम उनकी जरूरतों को नहीं समझते। हम न उनकी पुकार सुनते हैं और न उसका कोई उत्तर ही देने का प्रयत्न करते हैं। इसके विपरीत हम

उनकी सेवा करने के नाम पर यूरोपीय ढंग पर समाजवादी संगठन कायम करने की तैयारी करते हैं और इस बीच ऐसे कामों में समय गँवाते हैं कि जिनसे हमारा मनोरंजन हो और ध्यान बँटा रहे। हम दावा तो यह करते हैं कि हमारा उद्देश्य लोगों की भलाई करना है; किंतु हम कर यह रहे हैं कि लोगों के रक्त की अंतिम बूँद भी चूस लेते हैं, ताकि वे हम परोपजीवों का पोषण कर सकें।

लोगों की भलाई के लिए हम पुस्तकों पर से प्रतिबंध हटवाने, स्वेच्छाचारितापूर्ण निर्वासनों को रद्द करवाने, सब जगह प्राथमिक और कृषि-स्कूल खुलवाने, अस्पतालों की संख्या बढ़वाने, टैक्सों की बकाया माफ करवाने, कारखानों की कड़ी देख-भाल करवाने और घायल मजदूरों को मुआवजा दिलवाने, जमीन की पैमायश करवाने, जमीन खरीदने के लिए कृषि-बैंकों से किसानों को सहायता दिलवाने आदि कामों की कोशिश करते हैं।

पर एक बार कल्पना कीजिए लाखों लोगों के सतत कष्टों की! वृद्ध स्त्री-पुरुष और बच्चे अभाव के मारे मर रहे हैं। शक्ति से अधिक काम करने और पर्याप्त भोजन न मिलने के कारण मरनेवालों की संख्या कम नहीं है। कल्पना कीजिए कि जमीन के अभाव में देहात के लोगों को किस कदर गुलामी और अपमानों का शिकार होना पड़ रहा है, उनकी शक्ति का दुरुपयोग हो रहा है और उन्हें अनावश्यक मुसीबतें झेलनी पड़ रही हैं। ऐसी दशा में यह स्पष्ट है कि यदि लोगों की सेवा का नाम लेनेवालों के सब उद्योग सफल हो जाएँ तो भी वह सागर में एक बिंदु के बराबर ही होगा।

लोगों की भलाई का दम भरनेवाले लोगों में कुछ ऐसे भी हैं, जो गुण और परिमाण दोनों की दृष्टि से महत्त्वहीन परिवर्तनों की योजना करते हैं और इस बात की तनिक भी परवाह नहीं करते कि लाखों मजदूर जमीन पर भूस्वामियों के कब्जा जमा लेने के कारण गुलामी में सड़ रहे हैं। इतना ही नहीं, उनमें से कुछ आगे बढ़े-चढ़े सुधारक यह पसंद करेंगे कि लोगों की मुसीबतें और बढ़ जाएँ ताकि अपने पुराने देहाती जीवन के बदले कारखानों का सुधरा हुआ जीवन ग्रहण करने के लिए विवश होना पड़े। ऐसे लोगों की विचारहीनता आश्चर्यजनक है। वे अपने दिमाग से कुछ सोच नहीं सकते, बल्कि पश्चिम का अंधानुकरण करना चाहते हैं। उनके हृदय की कठोरता और निर्दयता और भी आश्चर्यजनक है।

एक समय था जब परमात्मा के नाम पर मनुष्यों को लाखों की तादाद में मारा गया, सताया गया, फाँसी पर लटकाया गया और कत्ल किया गया। अब हम अपने बड़प्पन के अभिमान में उन कामों को करनेवालों को घृणा की नजर से देखते हैं; किंतु हम गलती पर हैं। वैसे लोग आज भी हमारे बीच में मौजूद हैं। अंतर केवल

इतना ही है कि पुराने जमाने के लोगों ने ये काम परमात्मा और उसकी सच्ची सेवा के नाम पर किए, और अब लोगों के नाम पर और उनकी सच्ची सेवा के लिए किए जाते हैं। पुराने लोगों में कुछ ऐसे भी थे, जो ख्वामख्वाह और दृढ़तापूर्वक विश्वास करते थे कि उन्हें सत्य का ज्ञान है। उनमें कुछ-कुछ ऐसे भी थे, जो दंभी थे और परमात्मा की सेवा करने के बहाने अपना स्वार्थ सिद्ध कर रहे थे। जनता उन्हीं का अनुसरण करती थी, जो सबसे अधिक साहसी होते थे। अब जो लोग जनता की सेवा के नाम पर बुरा कर रहे हैं, उनमें भी ऐसे आदमी हैं, जो कहते हैं कि सिर्फ उनको ही सत्य का पता है। उन्हें मालूम है कि कौन दंभी है और जनता क्या चाहती है। परमात्मा की सेवा के ठेकेदारों ने धर्म के नाम पर अनर्थ किया; किंतु जनता के सेवकों ने अपने वैज्ञानिक सिद्धांत के नाम पर यदि कम हानि की है तो इसका कारण यह है कि उन्हें अभी काफी समय नहीं मिला। वैसे उनके सिर पर लोगों में कटुता और फूट फैलाने का बोझ तो लद चुका है। दोनों प्रकार की हलचलों की विशेषताएँ एक-सी हैं। पहले तो परमात्मा के और जनता के इन सेवकों में से अधिकांश का जीवन संयमहीन और खराब है। उन्हें अपने पद का इतना अभिमान है कि वे संयम की आवश्यकता ही नहीं समझते। दूसरी विशेषता यह है कि जिनकी वे सेवा करना चाहते हैं, उनके प्रति उनकी कोई दिलचस्पी, झुकाव या प्रेम नहीं है। दरअसल पुराने धर्म-ध्वजियों को न परमात्मा से प्रेम था और न वे उसके साथ एकात्म स्थापित करना चाहते थे। वे न तो परमात्मा को जानते थे और न जानना चाहते थे। यही हाल बहुत से जन-सेवकों का है। उनके लिए जनता की हैसियत एक पताका से अधिक नहीं। जनता से प्रेम करना या मिलना-जुलना तो दूर रहा, वे उसे जानते ही नहीं। वे तो उसको घृणा, उपेक्षा और भय की दृष्टि से देखते हैं। उनकी तीसरी विशेषता यह है कि यद्यपि वे एक ही परमात्मा अथवा एक ही जनता की सेवा में लगे हुए हैं; किंतु उनमें न केवल सेवा के साधनों के संबंध में ही मतभेद है, बल्कि जो लोग उनसे सहमत नहीं होते, उनके कामों को वे गलत और हानिकारक समझते हैं और उनको दबाने की पुकार मचाते हैं। फलस्वरूप पुराने जमाने में लोग जिंदा जला दिए जाते थे और सैकड़ों की तादाद में एक साथ मौत के घाट उतार दिए जाते थे और अब फाँसी, कैद और हत्याओं का जोर है। और आखिरी किंतु मुख्य विशेषता दोनों की यह है कि वे यह बिल्कुल नहीं जानते कि जिनकी वे सेवा करना चाहते हैं, उनकी मंशा क्या है। परमात्मा ने प्रत्यक्ष और स्पष्टरूप में बताया है कि मनुष्य अपने पड़ोसियों से प्रेम करके और दूसरों के प्रति वैसा व्यवहार करके जैसा कि वे दूसरों से अपने लिए अपेक्षा करते हैं, उसकी सेवा करें। किंतु उन्होंने परमात्मा की सेवा का यह तरीका नहीं अपनाया। वे तो बिल्कुल दूसरी ही बात चाहते हैं, जो उन्होंने अपने

दिमाग से पैदा की है और उसी को परमात्मा का आदेश बताते हैं। जनता के सेवक भी ऐसा ही करते हैं। लोग क्या करते और चाहते हैं, इसका उन्हें कुछ पता ही नहीं। वे लोगों की सेवा के लिए ऐसा काम करते हैं, जिसकी लोगों को न तो इच्छा ही होती है और न ही कल्पना ही। वे अपने ही रास्ते से लोगों की सेवा करते हैं; किंतु वह काम करने की कोशिश नहीं करते, जिसको लोग बराबर चाहते रहते हैं।

समाज-व्यवस्था में सभी जगह एक परिवर्तन निहायत जरूरी है। उसके बिना मनुष्य जीवन में एक कदम आगे बढ़ नहीं सकता। इस परिवर्तन की आवश्यकता हर वह आदमी समझता है जो पूर्वाग्रह का शिकार नहीं है। वह किसी एक देश का नहीं, बल्कि सारी दुनिया का सवाल है। मनुष्य-जाति के इस युग के तमाम कष्टों का उसके साथ संबंध है। जो लोग मजदूरी पर खेती का काम करते हैं, उनमें से अधिकांश जमीन पर व्यक्तिगत मिल्कियत को स्वीकार नहीं करते। वे इस प्राचीन बुराई को मिटाने की माँग करते रहते हैं।

किंतु इस ओर किसी का ध्यान नहीं है। इस उल्टी गंगा का कारण क्या है? जो लोग भले, दयालु और समझदार हैं—सरकारी और गैर-सरकारी सभी वर्गों में ऐसे लोग होते हैं—और जो लोगों का हित चाहते हैं, वे लोगों की एकमात्र जरूरत को क्यों नहीं समझते, जिसके लिए कि वे निरंतर कोशिश करते रहते हैं और जिसके अभाव में वे बराबर कष्ट उठाते हैं। इसके बजाए वे बहुत-सी ऐसी बातों पर क्यों शक्ति खर्च करते हैं, जिनसे लोगों का तब तक कोई भला नहीं हो सकता, जब तक कि लोग जिस बात को चाहते हैं, वह पूरी नहीं हो जाती? सरकारी और गैर-सरकारी दोनों ही किस्म को जनता के इन सेवकों का हाल उस व्यक्ति के समान है, जो कीचड़ में फँसे हुए घोड़े की सहायता तो करना चाहता है, किंतु गाड़ी में बैठा रहता है और बोझ को एक जगह से उठाकर दूसरी जगह धरता है और समझता है कि मैं घोड़े की हालत को सुधार रहा हूँ। ऐसा क्यों? हमारे जमाने के लोग, जो अच्छी तरह और सुखपूर्वक रह सकते हैं, बुरी तरह कष्टपूर्वक क्यों जी रहे हैं?

इसका कारण यह है कि हम लोगों में धार्मिक भावना का अभाव है। धर्म के बिना मनुष्य न्यायोचित जीवन नहीं बिता सकता। और दूसरों के लिए क्या अच्छा और क्या बुरा है, क्या आवश्यक और क्या अनावश्यक है यह तो वह और भी कम जान सकता है। यही कारण है कि जमाने के जन-सेवक लोगों के जीवन और जरूरतों को इतना गलत समझे हुए हैं। उनके लिए बहुत-सी बातें चाहते हैं, किंतु उस बात को भूले हुए हैं, जिनकी कि उन्हें जरूरत है।

धर्म के बिना मनुष्यों को वस्तुतः प्रेम नहीं किया जा सकता। और बिना प्रेम के यह नहीं जाना जा सकता कि लोगों को क्या चाहिए, कम चाहिए या अधिक

चाहिए। जो धार्मिक वृत्ति के नहीं हैं और इसलिए वस्तुतः प्रेम नहीं करते, वही लोगों की पीड़ा के मुख्य कारण को भुलाकर नगण्य और महत्त्वहीन सुधारों की ओर ध्यान दे सकते हैं; जो लोगों की मदद करना चाहते हैं, वही खुद एक हद तक उनके कष्ट के कारण बन जाते हैं। ऐसे ही व्यक्ति लोगों के भावी सुख के संबंध में सूक्ष्म सिद्धांतों का प्रतिपादन कर सकते हैं। वे लोगों के वर्तमान कष्टों की ओर ध्यान न देंगे, जिनके तत्काल दूर होने की आवश्यकता है और जो दूर किए जा सकते हैं। यह तो वैसी ही बात हुई कि किसी ने एक भूखे आदमी से उसका भोजन छीन लिया और बाद में उसको उपदेश देने लगा कि भविष्य में वह भोजन कैसे पा सकेगा। वह यह जरूरी नहीं समझता कि उसने जो भोजन छीन लिया है, उसमें से भूखे को कुछ हिस्सा दे दे।

सौभाग्यवश महान लोक-कल्याणकारी आंदोलन उन परोपजीवियों के बल पर सफल नहीं हुआ करते, जो लोगों का रक्त चूसकर जिंदा रहते हैं। ऐसे आंदोलनों का श्रेय उन लगनेवाले, सीधे और महान धार्मिक पुरुषों का होता है, जो अपने स्वार्थ, अहंकार या महत्त्वाकांक्षा का खयाल नहीं रखते और न बाहरी परिणामों की चिंता करते हैं। उन्हें तो परमात्मा के आगे अपने मानव-कर्तव्य का हिसाब देना होता है।

ऐसे ही व्यक्ति अपने मूक और दृढ़ कार्यों द्वारा मनुष्य जाति को आगे ले जाते हैं। वे लोगों की अवस्था सुधारने के लिए इधर-उधर के काम करके दूसरों की निगाह में ऊँचा उठने की चेष्टा नहीं करते, बल्कि वे ईश्वरीय नियम और अपने अंतःकरण के अनुसार चलने की कोशिश करते हैं और इस प्रयास में स्वभावतः उनकी आँखों के सामने ईश्वरीय नियम की सबसे बड़ी अवहेलना उपस्थित होती है और वे अपनी और दूसरों की मुक्ति के उपाय करते हैं।

इटली के महापुरुष मैजिनी ने कहा है कि समाज-व्यवस्था में बड़े सुधार महान धार्मिक आंदोलनों के द्वारा ही होते हैं। जमीन पर व्यक्तिगत मिल्कियत-रूपी पाप का अंत भी धर्म-भावना जागृत होने पर ही होगा। इसका अंत राजनैतिक सुधारों, समाजवादी व्यवस्थाओं अथवा क्रांति द्वारा न होगा। दान की रकमों से अथवा सरकारी भोजनालयों से भी यह नहीं होगा। इस प्रकार के ऊपरी उपायों से समस्या के मध्य-बिंदु पर से ध्यान हट जाता है और उसके हल होने में बाधा पैदा हो जाती है। न तो अस्वाभाविक बलिदानों की जरूरत है और न लोगों की चिंता करने की जरूरत। आवश्यकता सिर्फ यह है कि जो लोग यह पाप कर रहे हैं या उसमें हिस्सा ले रहे हैं, उन्हें उसका भान हो जाए और उससे छुटकारा पाने की उनमें इच्छा जागृत हो जाए। जिस प्रकार सत्य को भले आदमी हमेशा समझते आए हैं, उसको सब मनुष्य समझ लें कि जमीन किसी की व्यक्तिगत मिल्कियत नहीं हो सकती, और

जिनको उसकी जरूरत है, उनको उससे वंचित रखना पाप है। अपने भरण-पोषण के लिए उन्हें जमीन की जरूरत है, उनको उससे वंचित रखने में लोगों को शर्म महसूस होनी चाहिए। जरूरत-मंद लोगों को जमीन से वंचित रखने के कार्य में सहयोग देनेवाले को भी शर्म आनी चाहिए। जमीन का स्वामी होना और दूसरों के श्रम से लाभ उठाना शर्म की बात होनी चाहिए; क्योंकि दूसरे लोग तभी काम करने को विवश होते हैं, जब उनकी जमीन पर उनके उचित अधिकार से वंचित कर दिया जाता है।

दास-प्रथा के संबंध में क्या हुआ? भूस्वामियों को खुद लज्जा आने लगी, अन्यायपूर्ण और निर्दयी कानूनों पर अमल करने में सरकार को शर्म महसूस होने लगी और जो दास-प्रथा के शिकार थे, खुद उनको भी अनुभव होने लगा कि उनके साथ अन्याय हो रहा है। भू-स्वामी-प्रथा के संबंध में भी यही होनेवाला है। और यह किसी एक वर्ग के लिए ही नहीं, बल्कि सब वर्गों के लिए और एक देश के सब वर्गों के लिए ही नहीं, बल्कि सारी मानव-जाति के लिए आवश्यक है।

हेनरी जार्ज ने लिखा है—समाज-व्यवस्था में शोर मचाने और चिल्लाने, शिकायत करने और निंदा करने, पार्टियाँ बनाने अथवा क्रांतियाँ करने से सुधार नहीं होता, वह होता है भावना की जागृति और विचारों की प्रगति से। जब तक विचार ठीक न होगा, तब तक सही काम नहीं हो सकता और जब विचार ठीक होगा तो काम भी ठीक होगा।

हरेक व्यक्ति और मानव-संगठन जो समाज की हालत सुधारना चाहता है उसके लिए बड़ा काम है शिक्षा-प्रसार का, विचारों के प्रसार का। इस कार्य में हरेक विचारशील आदमी मदद दे सकता है। वह पहले खुद अपने विचारों को शुद्ध बनाए और फिर अपने संपर्क में आनेवालों के विचारों को शुद्ध करे।

यह बिल्कुल ठीक है, किंतु उस महान उद्देश्य की पूर्ति के लिए विचार के अलावा धार्मिक भावना की भी जरूरत है—जिसके फलस्वरूप गत शताब्दी में गुलामों के मालिकों ने यह महसूस किया कि वे गलती पर हैं और खुद व्यक्तिगत हानि और बरबादी उठाकर भी उन्होंने उस पाप से पीछा छुड़ाया जो उनको सता रहा था। यदि जमीन को मुक्त करने का बड़ा कार्य सिद्ध होता है तो भूस्वामियों में वैसी ही भावना जागृत होनी चाहिए और इस हद तक जागृत होनी चाहिए कि लोग उस पाप से मुक्त होने के लिए, जिसके वे शिकार थे और हैं, सब कुछ कुर्बान करने को तैयार हो जाएँ।

एक ओर सैकड़ों, हजारों और लाखों एकड़ जमीन पर स्वामित्व भोगना, जमीन का व्यवसाय करना और जमींदारी से इस या उस तरीके से लाभ उठाना, लोगों को सताकर ऐश्वर्य का जीवन बिताना और अन्याय से प्राप्त असाधारण सुविधाओं को

छोड़ने के लिए तैयार न होना और दूसरी ओर सभा-समितियों में लोगों की हालत सुधारने के बारे में चर्चाएँ करना न केवल अच्छा नहीं है, बल्कि हानिकारक और भयंकर है और सामान्य विवेक और ईमानदारी के प्रतिकूल है।

जो लोग भूमि से वंचित हैं, उनकी हालत सुधारने के चतुराईपूर्ण उपाय खोजने की जरूरत नहीं, किंतु वंचित करनेवालों को यह समझना चाहिए कि वे पाप कर रहे हैं। उन्हें हर जोखिम उठाकर उससे विरत होना चाहिए। हरेक व्यक्ति का ऐसा नैतिक काम मानव-समाज की इस समस्या का हल करेगा। रूस में गुलामों का उद्धार जार के द्वारा नहीं हुआ, बल्कि उन लोगों के द्वारा हुआ जिन्होंने गुलाम-प्रथा के पाप को समझा और अपने व्यक्तिगत लाभ का खयाल न करके उससे मुक्त होने का प्रयत्न किया। इसका श्रेय उन लोगों को है, जो दूसरों को कष्ट पहुँचाए बिना खुद कष्ट उठाने को उद्यत हुए और जिन्होंने अपनी दृष्टि के अनुसार सत्य की खातिर कष्ट सहे भी। जमीन की मुक्ति के संबंध में भी यही होना चाहिए। मेरा विश्वास है कि ऐसे लोग हैं, जो इस महान कार्य को सिद्ध करेंगे। जमीन का सवाल दास-प्रथा के सवाल जितना ही परिपक्व हो चुका है। पचास वर्ष पहले जिस प्रकार समाज में दास-प्रथा के विरुद्ध बेचैनी फैल गई थी और हर प्रकार के बाह्य उपचार किए गए, किंतु जब तक दास-प्रथा का परिपक्व सवाल हल न हुआ, कोई नतीजा नहीं निकला। इसी प्रकार आज जब तक भूमि का परिपक्व सवाल हल न होगा, तब तक बाह्य उपचारों से न कुछ सहायता मिलेगी, न मिल सकती है। यह सवाल उन लोगों द्वारा हल न होगा, जो बुराई की बुराई को कम करने, अथवा लोगों को राहत पहुँचाने अथवा भविष्य पर दार-मदार बाँधने की चेष्टा करते हैं। इसका श्रेय तो उनको मिलेगा, जो यह समझते हैं कि गलती का चाहे जितना परिमार्जन किया जाए, गलती गलती ही रहेगी। जिस आदमी को हम सता रहे हों उसको राहत पहुँचाने की कोशिश बेकार है और जब लोग कष्ट भुगत रहे हों तो उनकी पीड़ा को मिटाने का सर्वोत्तम इलाज होना चाहिए।

भूमि-समस्या को हल करने का तरीका हेनरी जार्ज ने इतना बढ़िया निकाला है कि वर्तमान राज्य-संगठन और अनिवार्य कर-वसूली के दायरे में उससे ज्यादा व्यावहारिक, न्यायपूर्ण और शांतिमय तरीका दूसरा नहीं हो सकता। मेरे खयाल से हेनरी जार्ज का यह विचार सही है कि जमीन पर व्यक्तिगत मिल्कियत के पाप का अंत निकट है। उसने जिस आंदोलन को जन्म दिया, वह प्रसव की आखिरी वेदना थी। अब नवजीवन निकट है, लोगों के लंबे कष्टों का अंत होनेवाला है। मेरा खयाल है कि इस भीषण और विश्व-व्यापी पाप का अंत मनुष्य-जाति के इतिहास में एक युगांतर होगा। मैं चाहता हूँ कि यूरोप और अमरीका के लोगों की भाँति मेरे

देशवासियों को कारखानों की शरण न लेना पड़े, वे जमीन पर व्यक्तिगत स्वामित्व का अंत करके इस समस्या को हल करें और दूसरे लोगों के सामने न्यायपूर्ण, स्वतंत्र और सुखी जीवन का उदाहरण पेश करें। आशा है हम लोग, जो दूसरों के श्रम द्वारा पोषण पाते हैं और जिन्हें दूसरों की बदौलत मानसिक कार्य करने का अवकाश मिला है, अपने पापों को पहचानेंगे और व्यक्तिगत लाभ की परवाह न करते हुए सत्य की खातिर उसको मिटा डालेंगे।

जमीन का बँटवारा

जमीन के बँटवारे के संबंध में हेनरी जार्ज की योजना यह है—जमीन के उपयोग के लाभ और सुभीते हर जगह समान नहीं होते। जो जमीन उपजाऊ, अच्छी जगह और घनी आबादी के नजदीक होगी, उसको बहुत-से लोग प्राप्त करना चाहेंगे। जमीन जितनी ही ज्यादा अच्छी और लाभदायक होगी, उतना ही लोग उसे लेना चाहेंगे। अत: इस प्रकार की तमाम जमीन की कीमत उसकी उपयोगिता के हिसाब से आँकी जानी चाहिए। जो जमीन जितनी लाभदायक हो, वह उतनी ही महँगी हो और जो कम लाभदायक हो, वह सस्ती हो। जिस जमीन के बहुत थोड़े ग्राहक हों उसकी कोई कीमत न होनी चाहिए, वह तो उन लोगों को जो देश उसे उपयोग में लेना चाहें, बिना मूल्य दे दी जाए।

जब देश की तमाम जमीन का इस प्रकार मूल्य आँक लिया जाए, तो हेनरी जार्ज का प्रस्ताव यह है कि सरकार एक कानून बनाए जिसके अनुसार अमुक वर्ष की अमुक तारीख के बाद जमीन किसी व्यक्ति-विशेष की मिल्कियत न होकर सारे राष्ट्र की यानी तमाम लोगों की हो जाए और जमीन रखनेवाला प्रत्येक व्यक्ति उस जमीन का निर्दिष्ट वार्षिक मूल्य राष्ट्र को यानी तमाम लोगों को अदा करे। इस रकम में से तमाम सार्वजनिक अथवा राष्ट्रीय कामों के लिए खर्च किया जाए और दूसरे तमाम टैक्सों की वसूली बंद कर दी जाए।

इसका परिणाम यह होगा कि कोई भी भू-स्वामी चाहे जितनी जमीन अपने अधिकार में रख सकेगा; किंतु उसके बदले में उसे काफी रकम सरकार को देनी पड़ेगी। यदि जमीन की दर पाँच रुपया बीघा हो तो दो हजार बीघा जमीन के लिए भू-स्वामी को दस हजार रुपया वार्षिक देना पड़ेगा और इतनी बड़ी रकम दे सकना उसके लिए आसान न होगा। देहातों में रहनेवाले किसान कम खर्च पर अपनी आवश्यकतानुसार जमीन पा सकेंगे। इसके अलावा उन्हें कोई टैक्स न देना पड़ेगा

और वे देशी और विदेशी तमाम माल बिना कोई कर चुकाए खरीद सकेंगे। शहरों में मालिक मकानों और कारखानों के मालिक बने रह सकते हैं, किंतु उनको अपनी जमीन की निर्दिष्ट दर सार्वजनिक कोष में भरते रहना होगा।

इस व्यवस्था के निम्नलिखित लाभ होंगे:-

1. कोई भी व्यक्ति अपने उपयोग के लिए जमीन प्राप्त करने से वंचित न रहेगा।
2. ऐसे आलसी लोगों का अस्तित्व मिट जाएगा जो ज़मीन पर कब्जा जमाए हुए हैं और उसको उपयोग में लाने की इजाजत देने के बदले दूसरों को काम करने के लिए मजबूर करते हैं।
3. जमीन उन लोगों के अधिकार में होगी, जो उसको काम में लेंगे। उनके अधिकार में नहीं जो खुद उसका उपभोग नहीं करते।
4. चूँकि जमीन पर श्रम करनेवालों को जमीन मिल जाएगी, इसलिए वे कारखानों और फैक्टरियों में मजदूर बनकर अथवा शहरों में नौकर बनकर काम न करेंगे और देहातों में बस जाएँगे।
5. मिलों, फैक्टरियाँ, कारखानों में निरीक्षकों और टैक्स वसूल करनेवालों की कोई जरूरत न रह जाएगी, सिर्फ जमीन का टैक्स वसूल करनेवालों की जरूरत पड़ेगी, और जमीन चुराई नहीं जा सकती और उस पर टैक्स वसूल करना सबसे सरल है।
6. सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह होगी कि श्रम न करनेवाले दूसरों के श्रम से नाजायज लाभ उठाने के पाप से बच जाएँगे। इस पाप के वे बहुधा अपराधी नहीं होते, क्योंकि बचपन से ही उन्हें आलस्य का पाठ पढ़ाया जाता है और वे काम करना जानते ही नहीं। वे उस बड़े पाप से भी बच जाएँगे जो उन्हें अपने पाप-कर्म समर्थन करने के लिए झूठ बोलकर करना पड़ता है। श्रमिकों को भी श्रम न करनेवालों से ईर्ष्या करने, उनकी निंदा करने और मरने-कटने के लिए उद्यत हो जाने का लोभ और पाप न करना पड़ेगा और इस प्रकार मनुष्यों-मनुष्यों में विग्रह का एक बड़ा कारण नष्ट हो जाएगा।

मालिकों का कर्तव्य

हमने दो साल तक दुष्काल-पीड़ितों की सहायता पहुँचाने का काम किया। उसके फलस्वरूप हमारा पुराना विश्वास बिल्कुल दृढ़ हो गया कि मनुष्यों के अधिकांश

प्रभावों और दरिद्रता एवं उनसे संलग्न पीड़ा और शोक का जन्म हमसे पृथक् किसी असाधारण और क्षणिक कारण से नहीं हुआ है। उनके मूल में सामान्य स्थायी कारण हैं जो हम पर आधार रखते हैं। हम पढ़े-लिखे लोगों का गरीब सीधे-सादे श्रमिकों के प्रति जो अधार्मिक और मातृत्व-विरोधी संबंध रहा है, वही सारी बुराइयों की जड़ है। जिस दु:ख और अभाव का उन्हें निरंतर सामना करना पड़ता है और उसके फलस्वरूप उन्हें जिस कटुता और कष्ट-सहन का भागीदार होना पड़ता है, वे पिछले दो सालों में और ज्यादा स्पष्ट हो गए थे। यदि इस वर्ष हमको अभाव, शीत और भूख की चर्चा नहीं सुनाई देती, हजारों लोग अति परिश्रम से थककर नहीं मर रहे और अधमरे वृद्ध और बालक नहीं दिखाई देते तो इसका यह मतलब नहीं कि ऐसा आगे होगा ही नहीं। होगा सिर्फ यही कि हम ऐसे दृश्यों को न देखेंगे, हम उन्हें भुला देंगे और अपने दिल में यकीन कर लेंगे कि उनका अस्तित्व ही नहीं है और यदि है तो वह अनिवार्य है और उसका कोई इलाज नहीं हो सकता। किंतु यह मन-समझावन ठीक नहीं। यह बिल्कुल संभव है कि उक्त दृश्यों का नामोनिशान मिटा दिया जाए। उनका अस्तित्व नहीं रहना चाहिए। समय आ रहा है, जबकि दुखदायी दृश्य मिट जाएँगे और वह समय निकट है।

हमको मजदूर वर्गों की नजर से मधु का प्याला कितनी ही अच्छी तरह छिपा हुआ क्यों न प्रतीत हो, श्रम के भार से कुचले गए और अधपेट मजदूरों के बीच अपनी मौज-शौक की जिंदगी का समर्थन करने के लिए हमारे बहाने चाहे जितने चतुराईपूर्ण, प्राचीन और सर्वमान्य क्यों न हों, जनता और हमारे संबंधों पर अधिकाधिक रोशनी पड़ रही है और हमारी हालत शीघ्र ही उस अपराधी की भाँति भयावह और लज्जाजनक हो जाएगी जो अचानक दिन निकलने पर ही पकड़ लिया जाता है। एक व्यापारी मजदूरों को निकम्मा और हानिकर माल देता है और उसकी अधिक-से-अधिक कीमत वसूल करने की कोशिश करता है अथवा मान लीजिए अच्छा उपयोगी माल देता है। वह कह सकता है कि सच्चा व्यापार करके लोगों की आवश्यकता पूर्ण करता है। कपड़ा, दर्पण, सिगरेट अथवा शराब बनानेवाला भी कह सकता है कि वह मजदूरों को काम देकर उनका पेट भरता है अथवा एक सरकारी कर्मचारी अधपेट रहनेवाले लोगों से प्राप्त रकम से हजारों रुपया वेतन लेकर भी यह मान सकता है कि वह लोगों की भलाई के लिए काम करता है। अथवा एक भूस्वामी अपने किसान को जीवन-मजदूरी भी न देकर कह सकता है कि वह खेती के तरीकों में सुधार करके देहाती जनता की खुशहाली बढ़ा रहा है। किंतु अब, जबकि लोग रोटी के अभाव में भूखे मर रहे हैं, और दूसरी तरह भू-स्वामियों के सैकड़ों बीघा खेतों में शराब बनाने के लिए आलू बोए गए हैं, उपर्युक्त बातें नहीं

कही जा सकतीं। जबकि हम ऐसे लोगों से घिरे हुए हैं जो भोजन के अभाव में और काम की अधिकता के कारण मर रहे हैं, हम यह अनुभव किए बिना नहीं कह सकते कि हम मजदूरों के श्रम से उत्पन्न सामग्री का जो उपयोग करते हैं, उसके फलस्वरूप एक ओर मजदूरों को रोटी के लाले पड़ जाते हैं और दूसरी ओर उन पर काम का बोझ इतना बढ़ जाता है कि उनकी कमर तोड़े डाल रहा है। बाग-बगीचों, कला-मंदिरों और शिकारगाहों जैसे उच्छृंखल सुखोपभोग की बातें छोड़ दें—तो भी शराब का हर गिलास, शक्कर, मक्खन और मांस का प्रत्येक कण लोगों की थाली में से आता है और जितना ही हम इन वस्तुओं का उपयोग करते हैं, उतना ही मजदूरों का भार बढ़ जाता है।

मुझे याद है कि अकाल पड़ने के कई वर्ष पहले चेकोस्लोवाकिया की राजधानी प्रेग से एक नौजवान विद्वान देहात में मुझसे मिलने आया था। वह बड़ा नीतिमान था। हम एक किसान का घर देखने गए जो दूसरों की अपेक्षा खुशहाल था। हमने देखा कि उस घर में भी घर की मालकिन को अपनी शक्ति से अधिक काम करना पड़ता है। वह असमय ही वृद्ध हो गई है और फटे-पुराने कपड़े पहने हैं। एक बीमार बालक है जो पड़ा-पड़ा बुरी तरह चिल्ला रहा है, एक दुबला-पतला बछड़ा और उसकी लँगड़ी मां बँधी है, गंदगी और नमी है, दुर्गंधित वायु फैली हुई है और घर का मालिक किसान चिंताग्रस्त और निराशा में डूबा हुआ है। मुझे याद है कि जब हम उस किसान की झोंपड़ी से बाहर निकले तो मेरा साथी मुझसे कुछ कहने लगा। इतने में अचानक उसकी आवाज बंद हो गई और वह रो पड़ा। वह कुछ महीनों मास्को और पीट्सबर्ग में रह चुका था। वहाँ पर कोलतार की सड़कों पर घूमा था, सजी-धजी दुकानें देख चुका था। वहाँ मकान भी एक-से-एक शानदार थे—अजायबघर, पुस्तकालय, राजमहल आदि की इमारतें एकदम भव्य थीं। इस सबके बाद उसने पहली बार उनको देखा जो यह सारा ऐश्वर्य सुलभ करते हैं। उनकी हालत देखकर वह दंग रह गया। वह समझता था कि मेरे देश में अपेक्षाकृत आजादी है, शिक्षा सार्वत्रिक है, हर आदमी शिक्षितों की श्रेणी में प्रवेश कर सकता है—सुखोपभोग परिश्रम का उचित पुरस्कार है और मानव-जीवन को नष्ट नहीं करता। मैं उसका यह खयाल सही नहीं मानता। लोगों ने पीढ़ी-दर-पीढ़ी कोयलों की खानों को खोदा है। उसी कोयले से हमारे सुखोपभोग की अधिकतर सामग्री पैदा होती है। यूरोपवालों को इस बात का भी क्या पता कि उपनिवेशों में दूसरी जातियों के लोग उनकी सनक की पूर्ति करने के लिए मरते-खपते रहते हैं? किंतु जो देश उपनिवेशों पर जीवित नहीं रहते, वे ऐसा नहीं समझ सकते। वहाँ यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि उस देश के धनिकों का सुखोपभोग अपने देशवासियों के

दुःखों और अभावों के लिए जिम्मेदार है। हम यह अनुभव किए बिना नहीं रह सकते कि हमारे आराम और सुखोपभोग की खातिर अनेक मनुष्यों के जीवन नष्ट हो जाते हैं।

सूरज निकल चुका है। प्रकट को हम नहीं छिपा सकते। हम सरकार की ओट में, लोगों पर शासन करने की जरूरत के नाम पर, विज्ञान अथवा कला (जो लोगों के लिए आवश्यक समझे जाते हैं) के नाम पर अथवा संपत्ति के पवित्र अधिकारों की रक्षा और अपने पूर्वजों की परंपराओं की रक्षा के नाम पर सत्य पर पर्दा नहीं डाल सकते। सूरज निकल चुका है और ये पारदर्शी पर्दे कोई बात किसी से छिपी नहीं रख सकते। हरेक आदमी अब यह समझता है और जानता है कि जो लोग सरकारी नौकरी करते हैं, वह लोगों की सेवा करने के लिए नहीं, (क्योंकि लोगों ने उनसे सेवा करने के लिए कब कहा था?) बल्कि वेतन पाने के लिए करते हैं और जो विज्ञान और कला के क्षेत्र में लगे हुए हैं, वे भी लोगों को प्रकाश देने के लिए नहीं, बल्कि तनखाहों और पेंशनों के लिए लगे हुए हैं। और जो लोगों को भूमि से वंचित रखते हैं, वे किन्हीं पवित्र अधिकारों को कायम रखने के लिए ऐसा नहीं करते। उनका उद्देश्य होता है अपनी आमदनी बढ़ाना, ताकि वे अपनी मनमानी इच्छाओं की पूर्ति कर सकें। इस सत्य को छिपाना और झूठ बोलना अब संभव नहीं रह गया है।

शासक वर्ग धनिकों और श्रम करनेवालों के लिए अब केवल दो ही मार्ग रह गए हैं। एक मार्ग तो यह है कि वे न केवल धर्म को असली अर्थों में तिलांजलि दे दें, बल्कि मानवता, न्याय और इस प्रकार के तमाम सद्‌गुणों को ताक में रख दें, और साफ-साफ कह दें, ''हमारे ये विशेषाधिकार हैं, और कुछ भी क्यों न हो, हम उनकी रक्षा करेंगे। जो भी हमको उनसे वंचित करना चाहेगा, उसको हमसे लड़ना होगा? ताकत हमारे हाथ में है। फाँसी के तख्ते, जेलखाने, अदालतें, पुलिस, सभी हमारे अधिकार में हैं।'' दूसरा मार्ग यह है कि हम अपना अपराध स्वीकार कर लें, झूठ बोलना छोड़ दें, पश्चाताप करें और लोगों की सहायता करें—थोथे शब्दों से नहीं जैसा कि हम करते आए हैं, अर्थात् लोगों को दुःख और कष्ट पहुँचाकर जो लाखों रुपया इकट्ठा किया जाता है, उसमें से हजार-दो हजार खर्च कर देते हैं, बल्कि श्रमिकों और हमारे बीच जो अप्राकृतिक दीवार खड़ी है, उसको तोड़ डालें और केवल शब्दों में ही नहीं, बल्कि वस्तुतः उनको अपना भाई स्वीकार कर लें। हम अपने जीवन-क्रम को बदल दें, अपनी सुविधाओं और विशेषाधिकारों को तिलांजलि दे दें और उसके बाद जनता के समकक्ष खड़े हों और आम लोगों के साथ शासन, विज्ञान और समता के वरदानों को प्राप्त करें, जिनको कि हम बिना उनकी इच्छा जाने बाहर से देने की कोशिश करते आए हैं। हम चौराहे पर खड़े हैं और हमको फैसला करना है कि हमको किस रास्ते पर चलना है।

पहले मार्ग का अर्थ यह है कि हम सदा के लिए असत्य को अपनाते हैं, हमको यह निरंतर डर बना रहता है कि कहीं हमारे असत्य का पर्दा फाश न हो जाए। उस दशा में यह महसूस होता है कि आगे-पीछे एक-न-एक दिन हमको उस स्थान से अलग कर दिया जाएगा, जिससे कि हम इस कदर चिपटे हुए हैं। दूसरे मार्ग का अर्थ यह है कि हम स्वेच्छापूर्वक उस बात को स्वीकार कर लें जिसका हम दावा करते आए हैं और जो हमारा हृदय और विवेक चाहता आया है तथा उस पर अमल शुरू कर दें, क्योंकि यह आगे-पीछे होकर रहना है। यदि हम खुद न करेंगे तो दूसरे लोगों के द्वारा होगा; क्योंकि इस शक्ति-संन्यास में ही वर्तमान संसार के कष्टों का अंत निहित है। हम वास्तविक धर्म को अपनाएँ और जो असत्य है, उसका त्याग करें, तभी मुक्ति संभव है।

मजदूर क्या करें?

मैं अब अधिक दिन जीनेवाला नहीं हूँ और मरने के पहले मैं मजदूरों को बता देना चाहता हूँ कि मैंने उनकी पद्दलित अवस्था के संबंध में क्या सोचा है, और वे किन उपायों द्वारा अपने को आजाद कर सकते हैं। शायद जो कुछ मैंने सोचा है (मैंने बहुत सोचा है) वह मजदूरों के लिए उपयोगी साबित हो जाए। संभवतः मैं यह रूस के श्रमजीवियों को लक्ष्य में रखकर लिख रहा हूँ, कारण, मैं उन्हीं के बीच में रहता हूँ और दूसरे देशों के मजदूरों की अपेक्षा उन्हें ज्यादा अच्छी तरह जानता हूँ। किंतु मुझे आशा है कि मेरे कुछ विचार अन्य देशों के मजदूरों के लिए भी बेकार साबित न होंगे।

श्रमजीवियों, तुमको अपनी तमाम जिंदगी कठोर परिश्रम करते हुए गरीबी में गुजारनी पड़ती है और दूसरी ओर ऐसे लोग हैं, जो बिल्कुल काम नहीं करते एवं तुम जो कुछ पैदा करते हो, उससे लाभ उठाते हैं। तुम उन लोगों के गुलाम हो। किंतु जो सहृदय और समझदार व्यक्ति हैं, उनको यह ज्ञान हो चुका है कि ऐसा नहीं होना चाहिए।

पर इसका उपाय क्या है? पहला सरल और स्वाभाविक उपाय तो यह प्रतीत होता है कि जो लोग तुम्हारे श्रम का अनुचित लाभ उठाते हैं, उनसे वह जबर्दस्ती छीन लिया जाए। पुराने जमाने से लोगों को यही उपाय सूझता आया है। अति प्राचीन काल में रोम के गुलामों ने और मध्य युग में जर्मनी तथा फ्रांस के किसानों ने स्टेंका

रासिन के समय रूसी लोगों ने इसी उपाय का अवलंबन किया था।

अन्याय-पीड़ित श्रमजीवियों को सबसे पहले यही उपाय नजर आता है। किंतु उससे न केवल उद्देश्य की सिद्धि ही नहीं होती, बल्कि उनकी हालत सुधरने की बजाए और ज्यादा बिगड़ जाती है। पुराने जमाने में जब सरकारों की ताकत आजकल की जितनी संगठित न थी, ऐसे विद्रोहों के सफल होने की आशा की जा सकती थी। किंतु आज राज-संस्था के पास करोड़ों रुपए, रेल, तार, पुलिस, सैनिक मौजूद हैं। आज तो विद्रोहों का परिणाम यह निकलता है कि मजदूरों को और भी सताया जाता है और फाँसी के तख्तों तक पर चढ़ा दिया जाता है एवं मजदूरों पर मुफ्तखोरों की सत्ता और भी स्थायी हो जाती है।

मजदूरो, हिंसा का मुकाबला हिंसा से करने की कोशिश करके तुम वही काम करते हो जो रस्सी से जकड़ा हुआ आदमी रस्सी को खींचकर करता है। ऐसा करके वह रस्सी की गाँठों को और भी अधिक कस देता है। जो चीज तुमसे बलपूर्वक छीन ली गई है, उसको बल-प्रयोग द्वारा प्राप्त करने की कोशिश का भी वही नतीजा होगा अर्थात् तुम्हारे बंधन और मजबूत हो जाएँगे।

अब यह स्पष्ट है कि मार-काट का उपाय अपने उद्देश्य में सफल नहीं होता, बल्कि उससे मजदूरों की दशा सुधरने की बजाए बिगड़ जाती है। इसलिए, हाल में मजदूरों के उद्धार के लिए श्रमजीवियों के हितचिंतकों ने अथवा हित-चिंता करने का दावा करनेवालों ने एक नया उपाय खोज निकाला है। इसका मुख्य आशय यह है कि तमाम श्रमजीवियों को अपनी जमीनों से हाथ धो लेना पड़ेगा और वे कारखानों में मजदूरी करने लगेंगे। इस सिद्धांत के अनुसार यह उतना ही निश्चित है, जितना कि निश्चित समय पर पूर्व में सूर्य का उदय होना। फिर यह श्रमजीवी अपने संगठन कायम करेंगे, प्रदर्शन करेंगे और धारा सभाओं में अपने पक्षपातियों को चुनकर भेजेंगे और अपनी हालत सुधारते जाएँगे, यहाँ तक कि अंत में तमाम मिलों और कारखानों तथा जमीन सहित उत्पत्ति के तमाम साधनों पर कब्जा जमा लेंगे। इसके बाद वे बिल्कुल आजाद और सुखी हो जाएँगे। यद्यपि यह सिद्धांत अस्पष्ट है, मनमानी कल्पनाओं और परस्पर-विरोधी बातों से भरा पड़ा है और बिल्कुल मूर्खतापूर्ण है, तो भी इधर उसका अधिकाधिक प्रचार हो रहा है। यह सिद्धांत उन देशों में ही नहीं माना जा रहा है जहाँ अधिकतर आबादी कई पीढ़ियों से खेती को छोड़ चुकी है, बल्कि उन देशों में भी माना जा रहा है, जहां मजदूरों ने अभी भूमि को छोड़ने की कल्पना भी नहीं की है।

इस शिक्षा का पहला तकाजा यह है कि देहात के श्रमजीवी खेती-संबंधी विविध धंधों के परंपरागत, स्वास्थ्यकर और सुखी वातावरण में एक ही प्रकार के

जीवननाशक काम करने लगें। देहात में मजदूर एक तरह की आजादी अनुभव करता है और प्रायः अपनी सारी आवश्यकताएँ अपने श्रम से पूरी कर लेता है। उसके मुकाबले में कारखानों में मजदूर मालिक पर पूरी तरह निर्भर हो जाता है। ऐसी दशा में जिन देशों में श्रमजीवी खेतों पर निर्वाह कर रहे हैं, यह शिक्षा सफल न होनी चाहिए।

किंतु रूस जैसे देशों में भी, जहाँ 98 प्रतिशत आबादी खेती पर जीवन निर्वाह करती है, शेष दो प्रतिशत श्रमजीवी जो खेती का धंधा छोड़ चुके हैं, इस शिक्षा के प्रचार को बड़ी तत्परता के साथ ग्रहण कर लेते हैं। यह इसलिए होता है कि ख़ेती को छोड़नेवाला श्रमजीवी अनजाने शहर और कारखानों की जिंदगी के प्रलोभनों में फँस जाता है और समाजवादी शिक्षा इन प्रलोभनों की न्यायोचितता का समर्थन करती है। वह आवश्यकताओं की वृद्धि को मनुष्य के विकास का चिह्न मानती है।

ए श्रमजीवी समाजवाद की शिक्षा की अधूरी बातों का बड़े उत्साह के साथ अपने साथियों में प्रचार करते हैं। इस प्रचार के फलस्वरूप और अपनी जरूरतों को बढ़ा लेने के कारण वे अपने को प्रगतिशील सुधारक और देहाती किसान से ऊँचा समझने लगते हैं। किंतु देहातों के श्रमजीवियों को संघ कायम करने, जुलूस निकालने, अपने पक्ष के प्रतिनिधि धारा-सभाओं में भेजने आदि कार्यों से, जिनके द्वारा कारखानों के मजदूर अपनी गिरी हुई हालत को सुधारने की चेष्टा करते हैं, कोई खास दिलचस्पी नहीं होती।

देहातों के श्रमजीवियों के लिए यह बिल्कुल जरूरी नहीं कि उनकी मजदूरी बढ़ाई जाए अथवा काम के घंटे कम किए जाएँ। उन्हें तो केवल एक ही चीज की जरूरत है और वह जमीन है। सभी जगह उनके पास इतनी कम जमीन रह गई है कि वे उससे अपने परिवार का भरण-पोषण नहीं कर सकते। किंतु श्रमजीवियों की इस सबसे बड़ी जरूरत के संबंध में समाजवादी शिक्षा मौन है।

समाजवादी पंडित कहते हैं कि पहले खानों और कल-कारखानों को हाथ में लेना चाहिए और बाद में जमीन को। समाजवादियों की शिक्षा के अनुसार जमीन पर अधिकार प्राप्त करने के पहले श्रमजीवियों को मिलों और कल-कारखानों पर अधिकार पाने के लिए पूँजीपतियों से झगड़ना चाहिए। जब वे इसमें सफल हो जाएँगे, तभी वे जमीन पर भी कब्जा कर सकेंगे। मनुष्यों को जमीन की जरूरत है; किंतु उन्हें कहा यह जाता है कि जमीन को प्राप्त करना है तो पहले उसे छोड़ दो। इसके बाद समाजवादी पैगंबरों द्वारा बताए हुए पेचीदा ढंग से मिलों और कारखानों के अलावा, जिनकी उन्हें जरूरत नहीं है, जमीन भी उन्हें मिल जाएगी। यह बात उन तरीकों की याद दिलाती है, जो कुछ सूदखोर काम में लाते हैं। आप एक सूदखोर

से एक हजार रुपया माँगते हैं। आपको सिर्फ रुपए की जरूरत है, किंतु सूदखोर आपसे कहता है कि मैं आपको एक हजार रुपया तभी दे सकता हूँ, जब आप चार हजार रुपए की ऐसी चीजें मुझसे लें, जिनकी आपको जरूरत नहीं है। इसी प्रकार समाजवादी पहले तो इस सर्वथा गलत निर्णय पर पहुँचे कि मिल अथवा कारखानों की भाँति जमीन भी एक श्रम का साधन है, और फिर मजदूरों को सलाह देने लगे कि जमीन को छोड़ दो, हालाँकि जमीन के अभाव में ही वे कष्ट पा रहे हैं और उन कारखानों पर कब्जा प्राप्त करने की कोशिश करो, जो तोपें, बंदूकें और सुगंधित इत्र, साबुन दर्पण आदि विविध प्रकार की विलासिता की सामग्री उत्पन्न करते हैं। और जब श्रमजीवी यह सामग्री बनाने में दक्षता प्राप्त कर लेंगे और खेती का काम भूल चुकेंगे तब उन्हें जमीन पर भी अधिकार करने को कहा जाएगा।

खेती सुखी और स्वतंत्र मानव-जीवन का एक मुख्य साधन रही है और आगे भी रहेगी। इस बात को तमाम मनुष्य जानते आए हैं और जानते हैं और इसीलिए उन्होंने हमेशा कृषि द्वारा जीवन निर्वाह करने की कोशिश की है और आगे भी करते रहेंगे। जिस प्रकार मछली पानी बिना जिंदा नहीं रह सकती उसी प्रकार मनुष्य खेती बिना जिंदा नहीं रह सकता।

किंतु समाजवादी शिक्षा में कहा जाता है कि मनुष्यों के सुख के लिए यह जरूरी नहीं है कि वे वनस्पति जगत् और पशुओं के बीच जीवन-यापन करें और अपने कृषि-संबंधी श्रम द्वारा ही प्राय: अपनी तमाम आवश्यक जरूरतें पूरी कर लिया करें। इसके लिए तो उन्हें कारखानों के केंद्रस्थानों में रहना चाहिए जहाँ की हवा सदा दूषित बनी रहती है। उन्हें अपनी जरूरतें बराबर बढ़ाते जाना चाहिए और यह जरूरतें तभी पूरी हो सकती हैं, जब कारखानों में विचाररहित श्रम किया जाए। और श्रमजीवी कारखानों के जीवन के जाल में फँसकर इस समाजवादी शिक्षा को सच मान लेते हैं। वे काम के घंटों और मजदूरी प्राप्त करने के लिए पूँजीपतियों के साथ कठोर लड़ाई लड़ने में अपनी तमाम ताकत खर्च कर देते हैं और समझने लगते हैं कि वे बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं। किंतु उन श्रमजीवियों के लिए जो जमीन से जुदा कर दिए गए हैं एक ही बात जरूरी है। उन्हें अपनी तमाम शक्तियाँ ऐसा कोई साधन ढूंढ़ने में खर्च करनी चाहिए कि वे पुन: खेती कर सकें और प्रकृति के बीच नैसर्गिक जीवन बिता सकें। किंतु समाजवादी कहते हैं कि यदि यह सच भी हो कि प्रकृति की गोद में रहना कारखानों के जीवन से अच्छा है, तो भी कारखानों में काम करनेवालों की तादाद इतनी बढ़ चुकी है और कृषि-जीवन को छोड़े उन्हें इतना अधिक समय हो चुका है कि अब वे खेती का आश्रय नहीं ले सकते। कारण, यदि वे खेती करने के लिए लौट जाएँगे तो अकारण कारखानों में पैदा होनेवाली चीजों की

मात्रा घट जाएगी और ये चीजें ही देश की संपत्ति होती हैं। इसके अतिरिक्त यदि ऐसा न हो तो भी इतनी जमीन नहीं मिल सकेगी कि जिस पर कारखानों के तमाम मजदूर काम कर सकें और उनका भरण-पोषण हो जाए।

पर यह सही नहीं है कि कारखानों के मजदूरों के खेती को अपना लेने से देश की संपत्ति कम हो जाएगी। कारण, खेती करनेवाले श्रमजीवी अपना कुछ समय घर पर अथवा कारखानों में जाकर चीजें बनाने में लगा सकते हैं; किंतु यदि इस परिवर्तन से एक ओर बेकार और हानिकर चीजों की उत्पत्ति कम हो जाए, जो कि कारखानों में बड़ी तेजी के साथ हो रही है तथा आवश्यक वस्तुओं का वर्तमान अत्यधिक उत्पादन बंद हो जाए और दूसरी ओर अनाज, सब्जी, फल और घरेलू पशुओं की उत्पत्ति बढ़ जाए तो इससे राष्ट्र की संपत्ति किसी प्रकार कम न होगी बल्कि वह बढ़ेगी ही।

और यह दलील भी सही नहीं है कि कारखानों के श्रमजीवियों के लिए पर्याप्त जमीन न मिल सकेगी। अधिकांश देशों में भूस्वामियों के कब्जे में जो जमीन है, वह तमाम श्रमजीवियों के लिए पर्याप्त होगी। यदि खेती आधुनिक ढंग से की जाए अथवा कम-से-कम उसी ढंग से की जाए जिस ढंग से कि एक हजार वर्ष पहले चीन में की जाती थी।

इस प्रश्न में दिलचस्पी रखनेवाले लोगों को क्रोपाटकिन की Conquest of Bread[1] और Field, Factories and Workshop नामक पुस्तकें पढ़नी चाहिए। उन्हें तब ज्ञात हो जाएगा कि भली प्रकार खेती करने पर खेती की पैदावार कितनी बढ़ाई जा सकती है और उतनी ही जमीन से कितने अधिक आदमियों का भरण-पोषण हो सकता है। धनवान् भूस्वामियों को जमीन की उत्पादन-शक्ति बढ़ाने की कोई जरूरत नहीं मालूम पड़ती। कारण, उन्हें बिना कोई कष्ट किए जमीन से काफी आय मिल जाती है। किंतु छोटे किसानों को यदि अपनी कमाई का सारा भाग भू-स्वामियों को न देना पड़े तो वे खेती के सुधरे हुए तरीकों को जरूर अपनाएँगे।

यह कहा जाता है कि इतनी जमीन नहीं है कि उस पर सब श्रमजीवी काम कर सकें। इसलिए उस जमीन के लिए झगड़ा करना फिजूल है, जिसको भूस्वामियों ने दबा रखा है। यह दलील उस मकान मालिक की दलील जैसी ही है, जिसके पास एक खाली मकान पड़ा है, किंतु वह लोगों की भीड़ को आँधी और वर्षा में शीत से बचने के लिए उसमें इसलिए नहीं घुसने देता कि उस मकान में सब लोगों का समावेश नहीं हो सकता। पहली बात तो यह है कि जो लोग मकान में दाखिल होना

1. इस पुस्तक का हिंदी अनुवाद 'मंडल' से 'रोटी का सवाल' नाम से प्रकाशित हुआ है।

चाहते हैं उन्हें दाखिल होने देना चाहिए और फिर देखना चाहिए कि वे सब उसमें स्थान पा सकते हैं अथवा नहीं। और यदि सब स्थान न पा सकें तो जो पा सकते हों उन्हें ही स्थान क्यों न दिया जाए? जमीन के बारे में भी यही बात है। जो लोग जमीन माँगते हैं, उनको भूस्वामियों की जमीन दी जानी चाहिए। और तब यह देख लिया जाएगा कि वह काफी होगी अथवा नहीं। इसके अलावा यह बात भी करीब-करीब गलत है कि कारखानों में काम करनेवाले मजदूरों के लिए जमीन काफी न होगी। यदि कारखानों के मजदूरों का गुजारा अभी खरीदे हुए अन्न पर होता है तो दूसरों का पैदा किया हुआ अन्न खरीदने के बजाए वे स्वयं ही अपने लिए आवश्यक अन्न पैदा क्यों न करें, चाहे जमीन उन्हें हिंदुस्तान, अर्जेंटाइन, आस्ट्रेलिया अथवा साइबोरिया—कहीं भी मिले?

इसलिए वे सब दलीलें आधार-रहित हैं, जिनमें कहा जाता है कि कारखाने के मजदूर खेती का आश्रय नहीं ले सकते या उन्हें नहीं लेना चाहिए। इसके विपरीत यह परिवर्तन सर्वसाधारण के लिए हानिकर होने के बजाए लाभदायक ही होगा और निस्संदेह भारत और अन्य देशों में आए दिन पड़नेवाले अकालों का खात्मा हो जाएगा, जो इस बात को बड़ी अच्छी तरह सिद्ध करते हैं कि जमीन का मौजूदा बँटवारा गलत है।

यह सच है कि जिन देशों में कल-कारखानों का खास तौर पर विकास हो चुका है जैसा कि इंग्लैंड, बेलजियम और अमरीका के कुछ राज्यों में दिखाई देता है, वहाँ श्रमजीवियों का जीवन इतना बिगड़ गया है कि अब उनके लिए खेती को अपना सकना बहुत कठिन प्रतीत होता है। किंतु इस कठिनाई से यह नहीं मान लेना चाहिए कि वे खेती को अपना ही नहीं सकते। इसके लिए तो सबसे पहले यह जरूरी है कि श्रमजीवी इस परिवर्तन को अपने लिए लाभदायक समझें और यह न मान बैठें, जैसा कि समाजवादी सिद्धांत उन्हें सिखाता है कि कारखानों की गुलामी शाश्वत और अपरिवर्तनीय अवस्था है, जिसमें सुधार किया जा सकता है, पर जो खत्म नहीं की जा सकती। इसके विपरीत उन्हें खेती को अपनाने के आवश्यक साधनों की खोज करनी चाहिए।

इस प्रकार जो श्रमजीवी खेती करना छोड़कर कारखानों में मज़दूरी करने लगे हैं, उनको श्रमजीवी-संघों, हड़तालों और पहली मई को झंडे लेकर सड़क पर बच्चों-जैसे प्रदर्शन करने की जरूरत नहीं। उन्हें तो सिर्फ एक ही बात की आवश्यकता है और वह यह कि किस प्रकार उनको कारखानों की गुलामी से छुटकारा मिले और वे खेती पर गुजर-बसर करने लगे। इसमें बाधक हैं वे भूस्वामी, जो स्वयं काम नहीं करते; पर जिन्होंने बड़ी मात्रा में जमीन को हड़प रखा है। श्रमजीवियों को वह

जमीन दिलवा देने को अपने शासकों से प्रार्थना और माँग करनी चाहिए। इसमें वे किसी बाह्य वस्तु की माँग न करेंगे, जिस पर उनका अधिकार न हो। जमीन पर रहने और उससे अपना भरण-पोषण करने का अन्य प्राणियों की भाँति उनका भी बिल्कुल स्पष्ट और अमर्यादित अधिकार है। इसके लिए उन्हें दूसरों से अनुमति लेने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। उन्हें अपने इसी अधिकार की माँग करना है।

जमीन पर व्यक्तिगत मिल्कियत को खत्म करना अनिवार्य हो गया है, कारण इस प्रथा का अन्याय, उसकी तर्कहीनता और निर्दयता बहुत स्पष्ट हो चुकी है। सवाल सिर्फ यही है कि उसको खत्म किस प्रकार किया जाए? रूस और अन्य देशों में गुलामी की प्रथा का अंत सरकारी आज्ञाओं द्वारा किया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि भूमि पर व्यक्तिगत मिल्कियत का अंत भी सरकारी आज्ञा द्वारा ही होगा। किंतु शासन-तंत्र ऐसी आज्ञाएँ क्वचित् की दिया करते हैं।

शासन-तंत्रों में ऐसे लोगों का बोलबाला होता है, जो दूसरे लोगों के श्रम पर जीवन बसर करते हैं और जमीन पर व्यक्तिगत मिल्कियत के द्वारा ही वैसा जीवन बिताना सबसे अधिक आसान होता है। इसलिए केवल शासक और भूस्वामी ही इस सुधार का विरोध नहीं करेंगे, बल्कि वे लोग भी करेंगे जो शासन अथवा भूस्वामीवाद के अंग नहीं हैं; लेकिन फिर भी धनवानों की सेवा करते हैं। ऐसे सरकारी कर्मचारी, कलाकार और वैज्ञानिक जमीन पर व्यक्तिगत स्वामित्व को अपने लिए लाभदायक समझते हुए उनका समर्थन करेंगे अथवा कम जरूरी बुराइयों का विरोध करेंगे, किंतु इस बड़ी समस्या को स्पर्श तक न करेंगे। अधिकांश खाते-पीते लोग जान-बूझकर न सही तो कम-से-कम संस्कारवश यह महसूस करते हैं कि उनकी सुविधाजनक अवस्था का आधार भूस्वामीवाद है। यही कारण है कि धारासभाओं में लोगों की भलाई की चिंता का दिखावा किया जाता है। उनकी कथित भलाई के नाम पर कानून बनाए जाते हैं और चर्चाएँ की जाती हैं। किंतु जमीन पर व्यक्तिगत स्वामित्व की प्रथा का अंत करने का जिक्र भी नहीं किया जाता जो कि लोगों की भलाई के लिए नितांत आवश्यक है।

इसलिए जमीन पर व्यक्तिगत स्वामित्व की समस्या को हल करने के लिए सबसे पहले यह आवश्यक है कि उसके संबंध में जान-बूझकर जो मौन साध लिया गया है, उसे भंग किया जाए। यह अवस्था उन देशों में हैं जहाँ सत्ता का एक भाग धारा-सभाओं के हाथ में है। किंतु जिन देशों में सारी सत्ता राजा के हाथ में हो, वहां जमीन पर व्यक्तिगत मिल्कियत उठाने की आज्ञा निकल सकने की और भी कम संभावना समझनी चाहिए। राजाओं के हाथ में भी सत्ता नाम के लिए ही होती है। दरअसल वह उन लोगों के हाथ में होती है, जो राजा के संबंधी और निकटवर्ती होते

हैं। ये लोग राजा को अपनी इच्छानुसार नचाते हैं। इनके अधिकार में बहुत सारी जमीन होती है और यदि राजा चाहे तो भी उस जमीन को उनके हाथों से नहीं निकाल सकता। इसलिए यह आशा करना कि शासन-तंत्र जमीन को भू-स्वामियों के हाथों से छीन लेगा, दुराशामात्र है। बल-प्रयोग द्वारा भी ऐसा नहीं किया जा सकता। कारण, सत्ता हमेशा उन लोगों के हाथों में रही है, और रहेगी जिनका कि जमीन पर पहले से अधिकार चला आया हो। समाजवादियों की योजना के अनुसार जमीन की वापसी की प्रतीक्षा करना भी मूर्खतापूर्ण होगा। यह भविष्य की आशा पर उत्तम जीवन की परिस्थितियों को छोड़कर बुरी परिस्थितियों को अपनाने के सदृश होगा। हरेक समझदार आदमी यह समझता है कि इस योजना से श्रमजीवियों को मुक्ति तो मिलती नहीं, उलटे वे मालिकों के और भी ज्यादा गुलाम बन जाते हैं और आगे कायम होनेवाले कारखानों के संचालकों के गुलाम बनने को तैयार होते रहते हैं। प्रतिनिधि-शासन अथवा राजाओं से भी भूस्वामीवाद के अंत की आशा नहीं की जा सकती। राजाओं के निकटवर्ती लोगों के अधिकार में बड़ी-बड़ी जागीरें होती हैं। ये लोग किसानों की भलाई के लिए चिंता भले ही प्रकट करें, पर वे उन्हें जमीन हरगिज न सौंपेंगे। कारण, वे जानते हैं कि जमीन पर स्वामित्व कायम रखे बिना वे अपनी सुविधाजनक स्थिति अर्थात् बिना श्रम किए दूसरों की मेहनत से लाभ उठाने की स्थिति कायम न रख सकेंगे। तो फिर श्रमजीवियों को उस अत्याचार से मुक्त होने के लिए क्या करना चाहिए जिसके वे इस समय शिकार बने हुए हैं।

शुरू में तो ऐसा प्रतीत होता है कि इस स्थिति का कोई इलाज ही नहीं है और मजदूर इतने जकड़ चुके हैं कि वे आजाद नहीं हो सकते, किंतु यह कोरा खयाल है। मजदूरों को केवल अपने पर होनेवाले अत्याचारों के कारणों पर गहराई से विचार करने की जरूरत है। उन्हें ज्ञात होगा कि मार-काट, समाजवाद अथवा सरकार पर थोथी आशाएँ बाँधने के अलावा उनके पास अपनी आजादी हासिल करने का एक और उपाय है, जो अचूक है और जिसे कोई बाधा नहीं पहुँचा सकता। यह उपाय हमेशा उनके हाथों में रहा है और अब भी है।

वस्तुत: मजदूरों की भयंकर दुरवस्था का एक ही कारण है और वह यह है कि जिस जमीन की उन्हें जरूरत है, उस पर भूस्वामियों ने कब्जा कर रखा है। किंतु प्रश्न यह है कि भूस्वामी इस जमीन को अपने अधिकार में क्यों कर रखे हुए हैं? पहली बात तो यह है कि यदि मजदूर इस जमीन का उपयोग करने की कोशिश करें तो राज्य की फौजें उन्हें ऐसा न करने देंगी। मजदूरों को मार-पीटकर निकाल दिया जाएगा और जमीन पुन: भूस्वामियों को सौंप दी जाएगी। और इन फौजों में श्रमजीवी ही तो होते हैं। इस प्रकार खुद श्रमजीवी ही भूस्वामियों को उस जमीन पर अपना

अधिकार बनाए रखने के लिए समर्थ बनाते हैं जो न्यायत: उनकी नहीं है, बल्कि सबकी है। यही नहीं, श्रमजीवी, उस जमीन पर खेती करते हैं और भूस्वामियों को लगान देकर उनका उस पर अधिकार कायम रखते हैं। श्रमजीवियों को यह बंद करना चाहिए। फिर भूस्वामियों के लिए उस जमीन पर कब्जा रखना न केवल व्यर्थ बल्कि असंभव हो जाएगा और जमीन सबकी संपत्ति बन जाएगी। किंतु यह संभव है कि उस दशा में भूस्वामी श्रमजीवियों के बजाए मशीनों से काम लेने लग जाएँ और खेती के बजाए पशुपालन और जंगलात का काम शुरू कर दें, पर उनका काम मजदूरों के बिना नहीं चल सकता और वे चाहें या न चाहें, उन्हें क्रमश: अपनी जमीनें छोड़ देनी पड़ेंगी। इस प्रकार श्रमजीवियों के लिए गुलामी से आजाद होने का उपाय केवल यह है कि वे भूमि पर व्यक्तिगत मिल्कियत को अपराध समझने लगें और उस ताकत को सहयोग न दें जो मजदूरों को जमीन से वंचित करती है और न भूस्वामियों के खेत-मजदूर बनें और न ही उनकी जमीन को लगान पर जोतें-बोएँ।

यह दलील दी जा सकती है कि यह उपाय तभी कारगर हो सकता है जब दुनिया भर के श्रमजीवी सहयोग करके खेत-मजदूर बनने अथवा जमीन लगान पर लेने से इनकार कर दें। किंतु यह नहीं हो सकता। यदि कुछ मजदूर ऐसा करेंगे तो दूसरे मजदूर, दूसरी जातियों के मजदूर इस बात को जरूरी न समझेंगे और भूस्वामी जमीनों पर यथावत अपना अधिकार कायम रख सकेंगे। इस प्रकार जो श्रमजीवी असहयोग करेंगे, वे अकारण प्राप्य सुविधाओं से वंचित हो जाएँगे और मजदूरों की हालत में कुछ सुधार न होगा। अगर मेरा आशय हड़ताल से होता है तो यह दलील बिल्कुल सही होती। पर मैं हड़ताल का प्रस्ताव नहीं पेश कर रहा हूँ। श्रमजीवी अत्याचार सत्ता से सहयोग करना, खेत-मजदूरी करना अथवा लगान पर खेत लेना सिर्फ इसलिए बंद न करें कि यह बातें उनके लिए हानिकर हैं और उनको गुलाम बनानेवाली हैं, बल्कि यह समझें कि जिस प्रकार हत्या, चोरी और डकैती आदि दुष्कर्मों से दूर रहना और उनमें किसी प्रकार हिस्सा न लेना उनका कर्तव्य है, उसी प्रकार उपर्युक्त कार्यों में भाग लेना भी बुरा काम है जिससे हर आदमी को बचना चाहिए। यदि श्रमजीवी गहराई के साथ सोचें कि श्रमजीवियों का श्रम न करनेवालों की जमीनों पर काम करने का क्या अर्थ होता है तो उन्हें साफ निर्विवाद रूप से ज्ञात हो जाएगा कि जमीन पर व्यक्तिगत स्वामित्व के अन्याय में हिस्सा लेना और उसे कायम रखने का परिणाम यह होता है कि लाखों मनुष्य, वृद्ध स्त्री-पुरुष और बच्चे गरीबी और कष्ट का जीवन बिताते हैं। उन्हें अधपेट रहना पड़ता है; अत्यधिक श्रम करना पड़ता है और अकाल मौत के मुँह में चला जाना पड़ता है। यह सब इसलिए होता है कि जमीन पर भूस्वामियों ने कब्जा जमा रखा है।

यदि जमीन पर भूस्वामियों का अधिकार होने के दुष्परिणाम इतने भयंकर हैं और इसमें कोई शक नहीं हैं कि—तो जमीन पर व्यक्तिगत स्वामित्व कायम रखने में सहयोग देना और उसका समर्थन करना स्पष्टत: पाप है, जिससे हर व्यक्ति को बचना चाहिए। करोड़ों मनुष्य सूदखोरी, आवारागर्दी, आततायीयन, चोरी, हत्या आदि बातों को पाप-कर्म समझते हैं और उनसे दूर रहते हैं। जमीन की व्यक्तिगत मिल्कियत के संबंध में श्रमजीवियों को भी यही चाहिए। इस प्रकार की मिल्कियत की अन्यायता वे खुद जानते हैं और उसको बुरी और निर्दय बात समझते हैं। तब वे उसमें शरीक क्यों होते हैं और क्यों उसका समर्थन करते हैं ?

मैं हड़ताल की सलाह नहीं देता; मैं तो चाहता हूँ कि जमीन पर व्यक्तिगत मिल्कियत में भाग लेने के पापकर्म को साफ-साफ महसूस किया जाए और फलस्वरूप उससे विरत हुआ जाए। यह सच है कि इस प्रकार के असहयोग से एक ही समस्या का हल करने में दिलचस्पी रखनेवाले तमाम लोगों में वह तात्कालिक एकता नहीं होती जो हड़ताल से होती है और इसलिए सफल हड़ताल के जो पूर्ण निश्चित परिणाम निकलते हैं, वे इस असहयोग के नहीं निकल सकते। पर उसके द्वारा हड़ताल की अपेक्षा कहीं ज्यादा मजबूत और स्थायी एकता उत्पन्न होती है। हड़ताल के दिनों की अस्वाभाविक एकता हड़ताल का उद्देश्य पूरा होते ही खत्म हो जाती है; किंतु समान-कार्य की एकता अथवा विचारों की समानता से उत्पन्न एकता टूटने के बजाए बराबर शक्तिशाली होती रहती है और अधिकाधिक लोग उसमें शामिल रहते हैं। यदि हड़ताल के खयाल से नहीं, बल्कि जमीन पर व्यक्तिगत स्वामित्व में भाग लेने को पाप समझकर श्रमजीवी सहयोग करें तो उसका भी वही परिणाम निकलना चाहिए और निकल सकता है। बहुत संभव है कि श्रमजीवी भूस्वामियों की मिल्कियत में सहयोग देने के अन्याय को समझ जाएँ, फिर भी उनमें से बहुत थोड़े उनकी जमीनों पर मजदूरी करने या उनको लगान पर लेने से इनकार कर सकें। किंतु जो ऐसा करेंगे, वे केवल स्थानीय अथवा तात्कालिक कारण से न करेंगे, बल्कि यह समझकर करेंगे कि क्या उचित है और क्या अनुचित। वह सब लोगों के लिए हर समय कर्तव्य-रूप होगा। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि उनके कथन और आचरण से जो मजदूर जमीन पर व्यक्तिगत मिल्कियत के अन्याय और उससे पैदा होनेवाले दुष्परिणामों को समझते जाएँगे, उनकी तादाद निरंतर बढ़ती जाएगी।

यह ठीक-ठीक बता सकना असंभव है कि यदि श्रमजीवी जमीन की व्यक्तिगत मिल्कियत में सहयोग देने को पाप समझने लगें तो उसके फलस्वरूप समाज के संगठन में परिवर्तन हो जाएँगे। यह निश्चित है कि परिवर्तन होंगे और जितनी ही

उक्त अनुभूति विस्तृत होगी, उतने ही वे महत्त्वपूर्ण होंगे। कम-से-कम यह हो सकता है कि कुछ श्रमजीवी भूस्वामियों के लिए काम न करें अथवा उनकी जमीन लगान पर न लें और भूस्वामी यह समझने लगे कि जमीन को अपने अधिकार में रखना लाभदायक नहीं रहा। उस दशा में या तो वे ऐसी व्यवस्था मंजूर कर सकते हैं, जो उन श्रमजीवियों के लिए लाभदायक हो, अथवा वे अपने स्वामित्व को बिल्कुल ही छोड़ दे सकते हैं। अथवा यह भी हो सकता है कि सेना में जो श्रमजीवी हैं वे जमीन की व्यक्तिगत मिल्कियत के अन्याय को समझकर देहात के श्रमजीवी भाइयों को दबाने के कार्य में सहयोग देने से अधिकाधिक इनकार करते जाएँ और इस प्रकार सरकार भूस्वामियों की जागीरों का बचाव न करने के लिए विवश हो जाए और तमाम जमीन आजाद हो जाए। अंत में यह भी संभव है कि सरकार जमीन को स्वतंत्र करने की अनिवार्यता को समझकर श्रमजीवियों की विजय होने के पहले ही एक आज्ञा जारी करके कानून द्वारा जमीन की व्यक्तिगत मिल्कियत खत्म कर दे। सार यह कि कई तरह के परिवर्तन हो सकते हैं और होंगे और पहले से उनको ठीक-ठीक नहीं बताया जा सकता । किंतु एक बात निश्चित है और वह यह कि परमात्मा की इच्छा अथवा अपने अंत:करण के अनुसार इस संबंध में जो भी काम सच्चाई के साथ किया जाएगा, उसका परिणाम निकले बिना नहीं रहेगा।

जिस समय लोगों के सामने ऐसा कोई काम करने का अवसर आता है, जो बहुमत से पसंद नहीं होता तो बहुधा वे कह देते हैं, ''सब लोगों के आगे हम अकेले क्या कर सकते हैं ?'' ऐसे लोग समझते हैं कि कोई काम तभी सफल हो सकता है जब सब लोग या कम-से-कम बहुत-से लोग उसमें साथ हों, किंतु वे यह भूल जाते हैं कि बहुत लोगों की जरूरत तो बुरे काम के लिए पड़ा करती है। सत्कार्य के लिए तो अकेला आदमी भी काफी होता है। कारण, परमात्मा सदा सत्कर्म करनेवाले का साथ देता है। और जिसके साथ परमात्मा होगा उसके साथ आगे-पीछे तमाम आदमी हो जाएँगे। हर हालत में श्रमजीवियों की स्थिति में सुधार तभी होगा जब वे परमात्मा की इच्छा और अपने अंत:करण के अनुसार अधिकाधिक चलेंगे और पहले की अपेक्षा नैतिकता का अधिकाधिक पालन करेंगे।

उत्पादन के समस्त साधनों को समाज की संपत्ति बनाने से पहले ही जो शिक्षा मजदूरों को उन कारखानों का, जहाँ वे काम करते हैं, मालिक बना देने की आशा दिलाती है, वह न केवल इस स्वर्ण नियम के विरुद्ध है कि हमको दूसरों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए जैसा कि हम चाहते हैं कि दूसरे हमारे साथ करें, बल्कि निश्चित रूप से अनैतिक है।

मजदूरों का सैनिकों की हैसियत से बल-प्रयोग करना, खेत-मजदूरी करना

अथवा लगान पर जमीन जोतना और इस प्रकार जमीन को व्यक्तिगत मिल्कियत का समर्थन करना उतना ही उस नियम के विरुद्ध है। क्योंकि जो लोग ऐसा करते हैं, उनकी अवस्था क्षणिक तौर पर भले ही सुधर जाए, किंतु अन्य श्रमजीवियों की दशा इसके फलस्वरूप और भी ज्यादा खराब हो जाती है।

प्रत्यक्ष बल-प्रयोग, समाजवादी हलचल और अपने लाभ की खातिर व्यक्तिशः भूस्वामित्ववाद का समर्थन—श्रमजीवियों के ये सारे उपाय अभी तक इसलिए सफल नहीं हुए कि वे नैतिक नियम के इस मौलिक तत्त्व के अनुकूल नहीं है कि हम दूसरों के साथ वैसा ही बर्ताव करें जैसा हम चाहते हैं कि दूसरे हमारे साथ करें। मजदूरों को गुलामी से मुक्ति दिलाने के लिए क्रियात्मक प्रयत्न उतना आवश्यक नहीं है, जितना कि यह जरूरी है कि वे पाप से अलग रहें। सिर्फ इसलिए कि ऐसा करना उचित और नैतिक है; अर्थात् परमात्मा की मर्जी का अनुसरण किया जाए।

गरीबी उसी समाज में कायम रह सकती है, जहाँ लोग पारस्परिक संघर्ष के जंगली कानून का आश्रय लेते हों। किंतु धर्म-प्राण समाज में गरीबी नहीं हो सकती। जब लोग अपने पास जो कुछ है, उसको आपस में बाँट लेंगे तो वह हमेशा सभी की जरूरतों को पूरा करने के लिए काफी होगा और कुछ बच भी रहेगा। एक समय का जिक्र है कि जब ईसा मसीह उपदेश दे रहे थे तो श्रोताओं को भूख लग आई। ईसा मसीह को मालूम हुआ कि कुछ लोगों के पास खाने का सामान मौजूद है। उन्होंने सब श्रोताओं को गोलाकार बनाकर बैठ जाने का आदेश दिया और जिनके पास खाद्य-सामग्री थी, उनको कहा कि वे एक सिरे से अपने पड़ोसियों की तरफ बढ़ाना शुरू करें और इस प्रकार जब एक का पेट भर जाए तो वह बची हुई सामग्री अपने पड़ोसी की तरफ बढ़ा दे। इस प्रकार जब यह चक्कर पूरा हुआ तो न केवल सबका पेट भर गया, बल्कि बहुत भारी सामग्री बच रही।

मानव-समाज में जब मनुष्य ऐसा करेंगे तो गरीबी भाग जाएगी उसमें रहनेवाले मनुष्यों को भूस्वामियों की जमीन किराए पर लेने अथवा उनकी मजदूरी करने की जरूरत न पड़ेगी। यह कोई कारण नहीं हो सकता कि चूँकि हम गरीब हैं, इसलिए हम ऐसा कोई काम करें जो हमारे भाइयों के लिए हानिकर हो।

यदि इस समय श्रमजीवी भूस्वामियों की मजदूरी करते हैं या उनकी जमीन लगान पर लेते हैं तो कारण यह है कि वे अभी इसको पाप नहीं समझते और न यह समझते हैं कि इस प्रकार वे खुद अपना और अपने भाइयों का कितना बड़ा नुकसान करते हैं। लोगों को ज्यों-ज्यों पता चलेगा कि जमीन की व्यक्तिगत मिल्कियत के साथ सहयोग करने के क्या परिणाम होते हैं और वे इसको जितनी अच्छी तरह समझेंगे, त्यों-त्यों स्वभावतः श्रम न करनेवालों का दबाव श्रमजीवियों पर कम होता

जाएगा।

श्रमजीवियों की दशा सुधारने का एकमात्र निर्विवाद उपाय यह है कि जमीन को भूस्वामियों के कब्जे से छुड़ाया जाए; और यह उपाय परमात्मा के मर्जी के अनुकूल है। यदि श्रमजीवी उनको दबानेवाली शक्ति को सहयोग न दें और न भूस्वामियों की मजदूरी करें और न उनकी जमीन लगान पर लें तो जमीन मुक्त हो सकती है। श्रमजीवियों को यह जानना चाहिए कि भूस्वामियों के कब्जे से जमीन को छुड़वाना उनके हित के लिए जरूरी है और यह तभी संभव हो सकता है, जब वे अपने भाइयों के प्रति हिंसा करना, भूस्वामियों की मजदूरी करना और उनकी जमीन लगान पर लेना बंद कर दें। इसके अलावा श्रमजीवियों को पहले से यह भी जान लेना चाहिए कि जब जमीन भूस्वामियों के अधिकार से मुक्त हो जाएगी तो वे उसकी व्यवस्था किस प्रकार करेंगे; श्रमजीवियों में उसको किस प्रकार बाँटेंगे।

बहुत-से लोग समझते हैं कि एक बार जमीन श्रम न करनेवालों के हाथों से छुड़वा लेने के बाद सारा मामला ठीक हो जाएगा; किंतु यह ठीक नहीं है। यह कहना सरल है कि श्रम न करनेवालों से जमीन ले ली जाए और श्रमजीवियों को दे दी जाए। किंतु यह किस प्रकार किया जाए कि अन्याय न हो और धनवानों को फिर बड़ी-बड़ी जागीरें खरीदकर मजदूरों को गुलाम बनाने का मौका न मिले?

हममें से कुछ का खयाल है कि मजदूरों अथवा जनसमुदायों को अपनी इच्छानुसार चाहे जहाँ जमीन जोतने और बोने का अधिकार होना चाहिए। पुराने जमाने में ऐसा ही प्रतीत होता था। किंतु यह वहीं संभव हो सकता है, जहाँ आबादी कम हो, जमीन की बहुलता हो और वह एक ही किस्म की हो। पर जहाँ आबादी इतनी अधिक हो कि जमीन से उसका भरण-पोषण न हो सके और जहाँ जमीन कई किस्मों की हो, वहाँ जमीन के बँटवारे का दूसरा तरीका ढूँढ़ना होगा। क्या आदमियों की तादाद के हिसाब से उसको बाँटा जाए? किंतु ऐसा करने से जमीन उनको भी मिल जाएगी, जो खेती करना नहीं जानते और ये श्रम न करनेवाले लोग उनको धनवानों के हाथ रेहन रख देंगे या बेच देंगे और फिर ऐसे लोगों का एक वर्ग पैदा हो जाएगा जो श्रम तो करेगा नहीं और बड़ी-बड़ी जागीरों का मालिक बन जाएगा। तो क्या श्रम न करनेवालों को जमीन बेचने अथवा रेहन रखने से रोक दिया जाए? उस अवस्था में उन लोगों की जमीन जो उसे जोतना नहीं चाहते या जोत नहीं सकते, बेकार पड़ी रहेगी। इसके अलावा मनुष्यों की तादाद के हिसाब से जमीन का बँटवारा करने से विभिन्न किस्म की जमीन किस प्रकार बराबर बँट सकेगी। उपजाऊ, बंजर, रेतीली और दलदल वाली सभी तरह की जमीन होती है। शहरों की जमीन का सैकड़ों रुपया बीघा पैदा होता है और दूर देहातों की जमीन से कुछ

आमदनी नहीं होती। तो जमीन किस प्रकार बाँटी जाए कि वह श्रम न करनेवालों के कब्जे में पुनः न जा सके तथा किसी के भी हितों को नुकसान न पहुँचे और न ही किसी प्रकार के मतभेद और झगड़े उठ खड़े हों। इस समस्या को हल करने के लिए अनेक लोगों ने अपना दिमाग खपाया है और श्रमजीवियों में जमीन को बाँटने की अनेक योजनाएँ तैयार की गई हैं।

समाज-संगठन की कथित साम्यवादी योजनाओं के अलावा, जिनके अनुसार जमीन सार्वजनिक संपत्ति समझी जाती है और खेती सम्मिलित रूप से की जाती है, मेरी जानकारी में निम्न योजनाएँ हैं :

एक योजना स्काटलैंड के रहनेवाले विलियम ओगिलवी की है। वह 18वीं शताब्दी में हुआ था। ओगिलवी का कथन है कि प्रत्येक मनुष्य जमीन पर पैदा हुआ है और इसलिए उसका यह निर्विवाद अधिकार है कि उस पर वह रहे और उसकी पैदावार से अपना भरण-पोषण करे। थोड़े-से लोग जमीन के बड़े-बड़े टुकड़ों को व्यक्तिगत संपत्ति बनाकर इस अधिकार को मर्यादित नहीं कर सकते और इसलिए हर मनुष्य का अपने हिस्से की जमीन पर अबाधित अधिकार होना चाहिए। और यदि किसी के कब्जे में उसके हिस्से से अधिक जमीन है और उससे वह लाभ उठाता है और उस अतिरिक्त जमीन से असली मालिक कोई उज्र पेश नहीं करते तो उसको इस अतिरिक्त जमीन के उपयोग के लिए राज्य को टैक्स अदा करना चाहिए।

थॉमस स्पेन्स नामक एक दूसरे अंग्रेज ने कुछ अर्से पीछे जमीन की समस्या को इस प्रकार हल किया कि तमाम जमीन को जिलों की संपत्ति बना दिया जाए और ये जिले अपनी इच्छानुसार उसका बँटवारा कर दें। इस प्रकार जमीन की व्यक्तिगत मिल्कियत को उसने सर्वथा निषिद्ध करार दिया। मि० स्पेन्स ने इस संबंध में सन् 1788 की एक घटना का जिक्र किया है जो उसके दृष्टिकोण का बड़ा उत्तम उदाहरण है। वह लिखता है, "मैं जंगल में अखरोट बीन रहा था कि जंगलात का अफसर आया और पूछने लगा कि मैं क्या कर रहा हूँ? मैंने जवाब दिया कि मैं अखरोट बीन रहा हूँ।

"इस पर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ और वह कहने लगा कि ऐसा करने और कहने का साहस तुम्हें क्योंकर हुआ? मैंने कहा, 'मैं ऐसा क्यों न करूँ? यदि किसी बंदर या गिलहरी ने अखरोट खाए होते तो तुमने एतराज किया होता? तो क्या मैं उन जानवरों से भी गया-बीता हूँ, अथवा मेरा कम अधिकार है? लेकिन तुम हो कौन, जो इस प्रकार मेरे काम में बाधा डाल रहे हो?"

"उसने कहा, "मैं तुम्हें यह उस समय बताऊँगा, जब तुम दूसरों की सीमा में

अनधिकार दाखिल होने के जुर्म में पकड़े जाओगे।'

"मैंने कहा, 'ठीक है, किंतु जिस जगह किसी आदमी ने न पेड़ लगाए और न जमीन को जोता-बोया, उसमें आना अनधिकार प्रवेश कैसे हो सकता है? यह अखरोट प्रकृति ने अपने आप पैदा किए हैं, मनुष्यों और जानवरों—दोनों के पोषण के लिए बनाए गए हैं और इसलिए वे सबकी संपत्ति हैं।'

"उसने कहा, 'मैं तुमसे कहता हूँ कि यह जंगल सार्वजनिक नहीं है। यह पोर्टलैंड के उमराव की जागीर है।'

"मैंने कहा, 'अच्छा! उमराव महोदय को मेरा सलाम! पर प्रकृति मुझमें और उनमें कोई भेद नहीं करती। प्रकृति के दरबार में तो यह नियम है कि जो पहले आए सो पहले जाए। इसलिए यदि उमराव महोदय को अखरोट चाहिए तो उन्हें आगे से जरा जल्दी आना चाहिए।"

अंत में स्पेन ने कहा कि जिस देश में उसको अखरोट बीनने का अधिकार न हो, यदि उस देश की रक्षा करने के लिए मुझसे कहा जाए तो मैं बंदूक फेंक दूँगा और कहूँगा कि पोर्टलैंड के उमराव और उनके जैसे लोग ही उसके लिए लड़ें जो देश के मालिक होने का दावा करते हैं।

'विवेक का युग' (The Age of Reason) और 'मनुष्य के अधिकार' (The Rights of Man) नामक पुस्तकों के सुप्रसिद्ध लेखक थामस पेन ने भी इसी प्रकार इस समस्या को हल किया है। उनकी योजना की विशेषता यह है कि उन्होंने भूमि पर व्यक्तिगत मिल्कियत का अंत करने के लिए उत्तराधिकार की प्रथा को मिटा देने का प्रस्ताव किया है ताकि एक मालिक के मरने के बाद उसकी जमीन सार्वजनिक संपत्ति हो जाए।

थामस पेन के बाद गत शताब्दी में पेट्रिक एडवर्ड डव ने इस बारे में विचार किया और लिखा। उसकी योजना यह थी कि जमीन का मूल्य दो प्रकार से बढ़ता है—एक तो जमीन की खुद हैसियत होती है और दूसरे उस पर श्रम किया जाता है। श्रम के फलस्वरूप जमीन की जो कीमत बनती है, उस पर व्यक्तियों का अधिकार हो सकता है। इसके विपरीत जमीन की स्वतः जो कीमत होती है, वह तमाम राष्ट्र की संपत्ति समझी जानी चाहिए और इसलिए उस पर आजकल की तरह व्यक्तियों का अधिकार नहीं हो सकता। वह तो सारे राष्ट्र की संपत्ति होनी चाहिए।

इससे मिलती-जुलती योजना जापान की भूमि-उद्धारक संस्था की है। उसका सार यह है कि प्रत्येक मनुष्य का अपने हिस्से की जमीन पर अधिकार होना चाहिए, बशर्ते कि वह उसके लिए एक निश्चित टैक्स देता हो और इसलिए वह अपने हिस्से से अधिक जमीन अपने अधिकार में रखनेवालों से माँग कर सकता है कि

उसको अपने हिस्से की जमीन सौंपी जाए।

किंतु व्यक्तिश: मैं हेनरी जार्ज की योजना को अन्य सब योजनाओं से अधिक न्यायपूर्ण, लाभकारी और व्यावहारिक समझता हूँ। संक्षेप में इस योजना को यों प्रकट किया जा सकता है। कल्पना करो कि अमुक प्रदेश में तमाम जमीन दो भू-स्वामियों के अधिकार में है। उनमें से एक धनवान है और विदेशों में रहता है और दूसरा गरीब है और घर पर रहकर खेती-बाड़ी करता है। और सौ किसान ऐसे हैं जिनके हिस्से में थोड़ी-थोड़ी जमीन आई है। इसके अलावा इस प्रदेश में मजदूरी करनेवाले लोग और कारीगर, व्यापारी, राज्य-कर्मचारी आदि सैकड़ों लोग ऐसे रहते हैं, जिसके पास कोई जमीन नहीं है। कल्पना करो कि इस प्रदेश के तमाम लोग फैसला करते हैं कि जमीन सार्वजनिक संपत्ति होनी चाहिए। उस दशा में उसका बँटवारा कैसे करेंगे?

जिनके अधिकार में जमीन है, उनसे जमीन लेकर हरेक को अपनी मर्जी के मुताबिक जमीन का उपयोग करने देना व्यावहारिक न होगा, क्योंकि उस दशा में एक ही जमीन को कई लोग एक साथ लेना चाहेंगे और फलस्वरूप आपस के अन्य झगड़े उठ खड़े होंगे। सब लोग मिलकर खेती करें और बाद में पैदावार का बँटवारा कर लें, यह सुविधाजनक न होगा, क्योंकि कुछ के पास हल, बैल, गाड़ी आदि होंगे और कुछ बिल्कुल कोरे होंगे। इसके अलावा कुछ लोगों को खेती का अनुभव और ज्ञान भी न होगा। मनुष्यों की संख्या के अनुसार बराबर जमीन को बाँटना बहुत कठिन होगा। यदि जमीन को इस प्रकार बाँटा जाए कि अच्छी, साधारण और बंजर भूमि बराबर हिस्सों में हरेक को मिल जाए तो जमीन के बहुत छोटे-छोटे टुकड़े हो जाएँगे।

इसके अलावा इस प्रकार का बँटवारा खतरे से खाली न होगा। कारण, जो काम न करना चाहेंगे या अत्यधिक गरीब होंगे, रुपए की खातिर अपनी जमीन धनवानों के हाथ बेच देंगे और फिर बड़े-बड़े जमींदार और ताल्लुकेदार पैदा हो जाएँगे। इसलिए इस प्रदेश के लोग निर्णय करते हैं कि जमीन को उन्हीं लोगों के अधिकार में रहने दिया जाए जिनके अधिकार में वह चली आ रही है और यह तय किया जाए कि भूस्वामी राष्ट्रीय कोष में एक निश्चित रकम दिया करें जो उस जमीन की आमदनी के अनुसार हो। यह रकम जमीन पर की गई मेहनत के अनुसार नहीं, बल्कि जमीन की अपनी हैसियत के अनुसार निर्धारित की जाए। इस प्रकार जो आमदनी होती है, इसको वे आपस में बाँट लेते हैं।

किंतु भू-स्वामियों से इस प्रकार रुपया इकट्ठा करना और उसको सब लोगों में बराबर बाँटना पेचीदा काम है। फिर सब लोग सार्वजनिक आवश्यकताओं अर्थात् स्कूलों, मंदिरों, आग बुझाने के इंजिनों, ग्वालों, सड़कों की मरम्मत आदि के लिए

टैक्स देते हैं और यह रुपया सार्वजनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए काफी नहीं होता, इसलिए इस प्रदेश के निवासियों ने फैसला किया कि जमीन की आमदनी का रुपया इकट्ठा करने और उसको बराबर बाँटने के बजाए तथा फिर उसका कुछ हिस्सा टैक्सों के रूप में वसूल करने के बजाए जमीन की आमदनी सार्वजनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए खर्च की जाए। यह व्यवस्था करने के बाद उस प्रदेश के लोग अधिक भूमि रखनेवालों से अधिक और कम भूमि रखनेवालों से कम पैसा माँगते हैं, और कुछ लोग जिनके पास कुछ जमीन नहीं है, कुछ नहीं माँगते। और उन्हें उन सुविधाओं का लाभ उठाने देते हैं जो जमीन के लगान की रकम से सुलभ की गई है।

इस व्यवस्था का यह नतीजा होता है कि जो भू-स्वामी अपनी जमीन पर नहीं रहता और उससे बहुत थोड़ा पैदा करता है, जमीन को अपने कब्जे में रखना लाभदायक नहीं समझता और उससे इस्तीफा दे देता है। इसके विपरीत दूसरा भूस्वामी, जो अच्छा किसान भी है, अपनी जमीन का कुछ हिस्सा छोड़ता है और अपने पास उतनी ही जमीन रखता है जितनी से वह टैक्स की रकम से कुछ अधिक पैदा कर सके।

जिन किसानों के पास थोड़ी जमीन है, जिनके पास काम करनेवाले ज्यादा और जमीन कम है और जिनके पास जमीन नहीं है, पर जो खेती-बाड़ी द्वारा अपना भरण-पोषण करना चाहते हैं, वे सब भूस्वामियों द्वारा छोड़ी हुई जमीन ले लेते हैं। इस प्रकार इस योजना के अनुसार इस प्रदेश के तमाम लोगों को जमीन पर रहने और उससे भरण-पोषण प्राप्त करने का अवसर मिल जाता है और तमाम जमीन उन लोगों के अधिकार में चली जाती है जो खेती करना पसंद करते हैं और उसके द्वारा अधिक उत्पादन कर सकते हैं। इसके अलावा सार्वजनिक संस्थाओं की अवस्था सुधर जाती है, कारण सार्वजनिक आवश्यकताओं के लिए पहले से अधिक रुपया मिलने लगता है। और सबसे बड़ी बात यह होती है कि भूमि-अधिकार संबंधी यह परिवर्तन बिना किसी लड़ाई-झगड़े और खून-खराबी के हो जाता है; जमीन को वे लोग स्वत: छोड़ देते हैं जो उसको मुनाफे के साथ जोत-बो नहीं सकते। यह है हेनरी जार्ज की योजना, जिसको विभिन्न देश अथवा सारी दुनिया अपना सकती है।

अब मैं संक्षेप में अपने कथन को दुहराता हूँ। मेरी श्रमजीवियों को सलाह है कि तुम पहले अपनी आवश्यकता को साफ-साफ समझो और जिसकी तुमको आवश्यकता नहीं है, उसके लिए परेशानी मत उठाओ। तुमको एक ही चीज की आवश्यकता है और वह है स्वतंत्र जमीन जिस पर तुम रह सको और अपना भरण-पोषण कर सको।

दूसरी मेरी सलाह यह है कि तुम साफ-साफ समझ लो कि किन साधनों से

तुमको अपनी जमीन की जरूरत पूरी करनी है। दंगा-फसाद करके,—परमात्मा तुमको उससे बचाए—प्रदर्शन करके, हड़ताल करके, धारा-सभाओं में समाजवादी प्रतिनिधि भेज करके तुम अपना उद्देश्य सिद्ध नहीं कर सकते। वह तभी सफल होगा, जब तुम, जिसको बुरा कार्य समझते हो, उसमें सहयोग न दो; अर्थात् तुम हिंसा में सहयोग देकर या भूस्वामियों के खेतों पर मजदूरी करके या उनके खेत लगान पर लेकर जमीन की व्यक्तिगत मिल्कियत के अन्याय का समर्थन न करो।

तीसरी सलाह मेरी यह है कि तुम पहले से ही सोच लो कि जब जमीन स्वतंत्र होगी तो तुम उसको किस प्रकार बाँटोगे। इस पर ठीक-ठीक विचार करने के लिए तुमको यह न समझना चाहिए कि जिस जमीन को भूस्वामी छोड़ेंगे, वह तुम्हारी हो जाएगी। तुमको तो यह समझ लेना है कि जमीन का उपयोग तभी न्यायपूर्ण हो सकता है और वह सब मनुष्यों में निष्पक्ष रीति से बाँटी जा सकती है; जब जमीन पर किसी एक व्यक्ति का अधिकार न स्वीकार किया जाए, चाहे वह एक गज टुकड़ा ही क्यों न हो। सूरज की गरमी और हवा की भाँति जमीन को भी सब मनुष्यों की संपत्ति मानने के बाद ही तुम बिना किसी भेदभाव के न्यायपूर्वक जमीन को विद्यमान योजनाओं अथवा किसी नई योजना के अनुसार सब लोगों में बाँट सकोगे।

चौथी बात सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। मेरी तुमको सलाह है कि अपनी जरूरतों को पूरी करने के लिए दंगों, क्रांतियों और समाजवादी हलचलों द्वारा शासक-वर्ग से लड़ाई मत ठानो, बल्कि अपने जीवन को सुधारो। लोगों की हालत इसलिए बुरी है कि वे बुरी तरह जीवन बिताते हैं। और मनुष्यों के लिए इससे बढ़कर हानिकर और कोई विचार नहीं हो सकता है कि उनकी दुरवस्था के कारण वे खुद नहीं हैं, बल्कि बाहरी परिस्थितियाँ हैं। यदि मनुष्य अथवा मनुष्य-समाज यह समझता है कि बाह्य परिस्थितियाँ उसके कष्टों के लिए जिम्मेदार हैं और उन परिस्थितियों को बदलने की चेष्टा करता है तो उसके कष्टों में और वृद्धि ही होती है। किंतु यदि वह अपने अंतर की ओर मुड़ता है और अपने कष्टों के कारणों को अपने और अपने जीवन के भीतर खोजता है तो शीघ्र इन कारणों का पता लग जाएगा और ये स्वयमेव मिट जाएँगे।

''पहले तू ईश्वर के राज्य और सत्य की खोज कर; शेष सब अपने-आप हो जाएगा।'' (बाइबिल) यह मानव-जीवन का मूल नियम है। बुरा जीवन बिताओ, ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध, और तुम हजार कोशिश करो अपनी अवस्था सुधारने की; कोई नतीजा नहीं निकलेगा। सद्जीवन बिताओ, नैतिकता का खयाल रखो और ईश्वर की इच्छा का अनुसरण करो और सुख की कोई चिंता न करो; वह तुमको अपने-आप प्राप्त हो जाएगा और यह इस तरह होगा कि जिसकी तुमने कल्पना भी

न की होगी। यह बड़ा स्वाभाविक और आसान मालूम पड़ता है कि हम दरवाजे को तोड़कर भीतर घुस जाएँ, जिसके भीतर हमारे मन का स्वर्ग बसा है। यह इसलिए भी हमको आवश्यक मालूम होता है कि हमारे पीछे लोगों की भीड़ जमा है और हमको दबाए जा रही है और दरवाजे की ओर ढकेल रही है किंतु दरवाजे को तोड़ने की हम जितनी ही कोशिश करते हैं, उतना ही हमारे लिए उसके भीतर घुसना कठिन होता जाता है। दरवाजे के द्वार सामने नहीं, हमारी अपनी ओर हैं।

अतः सुख की खोज में मनुष्य को बाहरी परिस्थितियों को सुधारने की चिंता न करके खुद को सुधारने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि वह बुराई कर रहा है तो उसे उससे विरत होना चाहिए और यदि वह भलाई नहीं कर रहा तो उसे करना शुरू कर देना चाहिए। सच्चे सुख के तमाम दरवाजे हमेशा मनुष्य के अंतर की ओर खुला करते हैं।

यदि तुम यह समझ लेते हो कि तुम्हारी वास्तविक भलाई के लिए तुमको ईश्वरीय नियम के अनुसार आचरण करना है, भाईचारे का जीवन बिताना है, दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करना है जैसा तुम अपने साथ चाहते हो—और जिस अंश में तुम इस तथ्य को समझोगे और समझने के बाद उस पर आचरण करोगे, उसी अंश में तुमको वह सुख प्राप्त होगा, जिसकी तुम कामना करते हो और तुम्हारी गुलामी का खात्मा हो जाएगा।

''तुम सत्य को पहचानो और वही तुमको मुक्ति देगा।''

उद्धार का उपाय

दूसरों से जिस व्यवहार की आशा रखते हो, वही तुम उनके साथ भी करो।

—बाइबिल

''आत्मनः प्रतिकूलानि न परेषां समाचरेत्।''

दुनिया में श्रमजीवियों की संख्या एक अरब से अधिक है। खाने-पीने की तमाम सामग्री और संसार की समस्त चीजें, जिन पर मनुष्यों का जीवन निर्भर है और जिनसे लोग अमीर बने हुए हैं, श्रमजीवी पैदा करते हैं। किंतु वे जो कुछ पैदा करते हैं उसका लाभ वे स्वयं नहीं उठाते, राज्यकर्ता और धनवान उसका फायदा उठाते हैं। इसके विपरीत श्रमजीवी हमेशा गरीबी, अज्ञान और गुलामी के शिकार बने रहते हैं और उनको उन्हीं लोगों के हाथों अनादर सहन करना पड़ता है, जिनके लिए वे

भोजन, वस्त्र और अन्य सुख-साधन सुलभ करते हैं।

जमीन श्रमजीवियों के हाथ से छीनकर उन लोगों की संपत्ति मानी जाती है, जो उस पर श्रम नहीं करते। इसका नतीजा यह होता है कि खेती करनेवालों को अपना पेट भरने के लिए जमीन के कथित मालिकों की हर आज्ञा का पालन करना पड़ता है। यदि श्रमजीवी जमीन को छोड़कर नौकरी करता है या किसी मिल अथवा कारखाने में काम करने लगता है तो वह अन्य धनवानों का गुलाम बन जाता है। उसको जिंदगी भर दस, बारह, चौदह अथवा इससे भी अधिक घंटे प्रतिदिन काम करना पड़ता है। यह काम उसके लिए अपरिचित, नीरस, कठोर और बहुधा स्वास्थ्य और जीवन के लिए हानिकर होता है। यदि उसको खेती करने की सुविधा मिल जाती है अथवा पेट भरने लायक काम मिल जाता है तो उसको टैक्स देने पड़ते हैं। इसके अलावा कुछ देशों में उसको या तो तीन-चार या पाँच साल तक फौज में नौकरी करनी पड़ती है या फौज के खर्च के लिए टैक्स देने पड़ते हैं। यदि वह बिना कर दिए जमीन को उपयोग में लाने की कोशिश करे, हड़ताल करे, या दूसरे श्रमजीवियों को अपने स्थान पर काम करने से रोके, या टैक्स देने से इनकार करे तो उसे राज्य की सारी ताकत का सामना करना पड़ता है। वह घायल होता है, मारा जाता है और पहले की भाँति काम करने और टैक्स देने के लिए विवश होता है।

इस प्रकार दुनिया में सर्वत्र श्रमजीवी, मनुष्यों का-सा नहीं, बल्कि बोझा ढोनेवाले पशुओं का-सा, जीवन व्यतीत करते हैं। उनको जीवन भर वह काम करना पड़ता है, जिसकी उनको नहीं, बल्कि उनके उत्पीड़कों को आवश्यकता होती है और बदले में उनको इतना भोजन-वस्त्र मिल जाता है कि वे अनवरत काम करते रहें। इसके विपरीत श्रमजीवियों पर शासन करनेवाले लोगों का एक अल्प समुदाय, जो उनके उत्पादन से लाभ उठाता है, आलस्य और भोग-विलास का जीवन बिताता है और करोड़ों के परिश्रम को बेकार और अनीतिपूर्वक बर्बाद करता है।

मास्को में द्वितीय निकोलस के राज्याभिषेक के समय लोगों को शराब और लड्डू बाँटे गए। जहाँ ये चीजें बाँटी जा रही थीं, लोगों की जबर्दस्त भीड़ जमा हो गई। पीछेवालों ने आनेवालों को और उनसे पीछेवालों ने उनको धक्का देना और कुचलना शुरू किया। किसी ने यह नहीं देखा कि आगे क्या हो रहा है। बलवानों ने कमजोरों को एक ओर ढकेल दिया और बलवान् भी भीड़ की गर्मी और वायु की कमी के मारे दम घुटकर जमीन पर गिर पड़े और पीछेवालों द्वारा कुचल दिए गए, क्योंकि उनको भी उनसे पीछेवाले ढकेल रहे थे और वे रुक नहीं सकते थे। इस प्रकार कई हजार आदमी, जिनमें बूढ़े और जवान, स्त्री और पुरुष सभी थे, मौत के ग्रास बन गए।

जब यह सारा कांड समाप्त हो गया तो लोग दलील करने लगे कि उसके लिए दोषी कौन? कुछ ने पुलिस को दोषी बताया और कुछ ने जार को अपराधी बताया, जिसने ऐसे मूर्खतापूर्ण भोजन का आयोजन किया। किंतु सच बात यह है कि दोष स्वयं उन लोगों का था जो दो-चार लड्डुओं और शराब की एक-एक बोतल अपने पड़ोसियों से पहले पाने की खातिर दूसरे लोगों का जरा भी खयाल किए बिना आगे झपट पड़े और धक्का-मुक्की करके उन्हें कुचल डाला।

श्रमजीवी जगत् में भी क्या ठीक यही बात नहीं हो रही है? वे शक्ति-हीन, पददलित और गुलाम सिर्फ इसलिए हो रहे हैं कि नगण्य लाभ के वे अपने और अपने भाइयों का जीवन बर्बाद कर देते हैं।

श्रमजीवी भूस्वामियों, शासकों और कारखानों के मालिकों की शिकायत करते हैं; किंतु भूस्वामियों द्वारा जमीन का शोषण, शासकों द्वारा टैक्सों की वसूली, कारखानों के मालिकों द्वारा श्रमजीवियों का शोषण और फौजों द्वारा हड़तालों का दमन तभी संभव होता है, जब श्रमजीवी स्वयं उन सबको मदद पहुँचाते हैं और जिन बातों को वे शिकायत करते हैं उनको वे स्वयं करते हैं। यदि कोई भूस्वामी खुद खेती न करके हजारों एकड़ जमीन से लाभ उठाता है तो इसका कारण यही है कि श्रमजीवी अपने ही लाभ के खातिर उस भू-स्वामी का काम करते हैं, उसके पहरेदार, क्लर्क, और प्रबंध बनते हैं। इसी प्रकार राज्यतंत्र उनसे टैक्स तभी वसूल कर पाता है, जब वे तनख्वाहों के लोभ में आकर, जिनकी रकम उनके पास से ही जमा होती है, पटेल, पटवारी, पुलिस के सिपाही आबकारी और कस्टम के कर्मचारी बनते हैं और इस प्रकार वही काम करने में मदद देते हैं, जिनकी उन्हें शिकायत होती है। श्रमजीवी इस बात की भी शिकायत करते हैं कि कारखानों के मालिक उनकी मजदूरी कम कर देते हैं और उन्हें ज्यादा-से-ज्यादा घंटे काम करने के लिए मजबूर करते हैं; किंतु यह भी तभी संभव होता है, जब श्रमजीवी आपस में प्रतिस्पर्द्धा करके खुद ही अपनी मजदूरी घटा लेते हैं और गोदाम-रक्षक, निरीक्षक, पहरेदार और मुख्य कर्मचारी की हैसियत से कारखानों के मालिकों के नौकर बन जाते हैं। वे अपने मालिकों के लाभ के लिए अपने साथियों को हर तरह सताते हैं, उनकी तलाशियाँ लेते हैं, उन पर जुर्माने करते हैं।

श्रमजीवियों को शिकायत है कि यदि वे उस जमीन पर जो खुद उनकी है कब्जा करने की कोशिश करते हैं, या वे टैक्स नहीं देते या हड़तालें करते हैं, तो उनके विरुद्ध फौजें भेज दी जाती हैं। किंतु इन फौजों में सैनिक वही श्रमजीवी होते हैं, जो व्यक्तिगत लाभ की खातिर या दंड के भय से सेना में भर्ती होते हैं और अपने अंतःकरण और ईश्वरीय नियम के विपरीत यह शपथ लेते हैं कि वे उन सबको

मारेंगे, जिनको मारने की उन्हें आज्ञा दी जाएगी।

इस प्रकार अपनी सारी मुसीबतों के लिए वे श्रमजीवी स्वयं ही जिम्मेदार हैं। जरूरत सिर्फ इस बात की है कि अपने उत्पीड़कों की सहायता करना बंद कर दें और उनके तमाम कष्ट स्वयमेव समाप्त हो जाएँगे।

तब वे ऐसे काम क्यों करते हैं, जो उनको बर्बाद कर देते हैं?

दो हजार वर्ष पूर्व एक महापुरुष ने लोगों को इस ईश्वरीय नियम का उपदेश दिया था, "मनुष्य को दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए, जैसा कि वह चाहता है कि दूसरे उसके साथ करें।" इसको हम सम-आचरण का नियम भी कह सकते हैं। चीनी महापुरुष कन्फ्यूशस ने इसी नियम को यों कहा है, "दूसरों के साथ वह व्यवहार न करो जो तुम नहीं चाहते कि दूसरे लोग तुम्हारे साथ करें।"

यह नियम सरल और हरेक मनुष्य की समझ में आने योग्य है और स्पष्टतः उसके द्वारा मनुष्य का सबसे अधिक हित हो सकता है। और इसलिए इस नियम का ज्ञान होते ही मनुष्यों को यथासंभव तुरंत उस पर अमल शुरू कर देना चाहिए और भावी पीढ़ी को उसकी शिक्षा देने और उसका पालन करवाने में अपने समस्त शक्ति खर्च कर देनी चाहिए।

मनुष्यों को बहुत पहले से इस नियम का पालन शुरू कर देना चाहिए था। कारण, कन्फ्यूशस और बुद्ध, यहूदी धर्माचार्य हिलेल और ईसा ने प्रायः एक ही समय में इसका उपदेश दिया था। खासकर ईसाई जगत् के लिए तो इसका पालन करना आवश्यक था, क्योंकि वह बाइबिल को अपना धर्मग्रंथ स्वीकार करता है जिसमें कहा गया है कि यह नियम सब नियमों का सार है, अर्थात् वह सब शिक्षा उसमें भरी पड़ी है, जो मनुष्य के लिए आवश्यक हो सकती है।

किंतु हजारों वर्ष बीत जाने पर मनुष्यों ने न तो स्वयं इस नियम का पालन किया और न अपनी संतान को उसकी शिक्षा दी। अधिकतर मनुष्य तो इस नियम को जानते ही नहीं, और यदि जानते भी हैं तो उसको अनावश्यक और अव्यावहारिक समझते हैं।

शुरू में यह बात अजीब-सी मालूम देती है; किंतु जब हम इस बात पर विचार करते हैं कि इस नियम का पता लगाने के पहले लोग किस प्रकार रहते थे और उस दशा में वे कितने अर्से तक रहे और यह नियम आधुनिक मनुष्य-जीवन से कितना भिन्न है, तो हम यह समझने लगते हैं कि इस नियम का पालन क्यों नहीं हुआ।

बात यह हुई कि मनुष्यों को इस नियम का पता न था कि सब लोगों के कल्याण के लिए हरेक आदमी को दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए, जैसा वह दूसरों से अपेक्षा रखता है और इसलिए हरेक आदमी ने अपने लाभ की खातिर दूसरे मनुष्यों पर अधिक-से-अधिक सत्ता प्राप्त करने की कोशिश की और

यह सत्ता प्राप्त करने के बाद बिना किसी रोक-टोक के उससे लाभ उठाने के लिए उसको अपने से अधिक बलवानों के अधीन हो जाना पड़ा और उनकी सहायता करनी पड़ी। इसी प्रकार इन बलवान व्यक्तियों को अपने से अधिक बलवान व्यक्तियों की शरण में जाना पड़ा।

इस प्रकार जो समाज सम-आचरण के इस नियम से परिचित नहीं होता, अर्थात् दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करना, जैसा कि हम चाहते हैं कि दूसरे लोग हमारे साथ करें, उसमें हमेशा मुट्ठी भर लोग बाकी आदमियों पर शासन किया करते हैं। और इसलिए यह समझ में आ जाता है कि जब मनुष्यों को इस नियम का ज्ञान कराया गया तो वे मुट्ठी भर लोग, जो शेष समाज पर अधिकारारूढ़ थे, न केवल स्वयं इस नियम को मानने को तैयार नहीं हुए बल्कि उनको यह भी गवारा न हुआ कि उनके अधीनस्थ इस नियम को जानें और उस पर अमल करें।

अधिकारारूढ़ मुट्ठी भर लोग जानते थे और अच्छी तरह जानते हैं कि उनकी सत्ता का आधार ही इस बात पर है कि अधीनस्थ लोग निरंतर आपस में लड़ते रहें और एक-दूसरे को गुलाम बनाने की कोशिश करते रहें। और इसलिए उन्होंने हमेशा इस बात का प्रयत्न किया कि अधीनस्थ लोगों को इस नियम का पता न चले और अब भी उनकी यही कोशिश रहती है। वे इस नियम को अस्वीकार नहीं करते, क्योंकि वह इतना स्पष्ट और सरल है कि उससे इनकार नहीं किया जा सकता। किंतु वे अन्य सैकड़ों नियमों को सामने रखते हैं और कहते हैं कि ये नियम सम-आचरण के नियम से अधिक महत्त्वपूर्ण और मानवीय हैं। इस प्रकार वे इस नियम पर पर्दा डालते हैं। धर्माचार्य धर्म का नाम लेकर सैकड़ों प्रकार के विधान करते हैं जिनका सम-आचरण के इस नियम से कोई मेल नहीं बैठता। उनको वे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण ईश्वरीय नियम बताते हैं कि यदि उनका पालन न किया गया तो अनंत काल तक भोगना पड़ेगा। शासक लोग धर्माचार्यों की शिक्षा का उपयोग करते हैं। उनके आधार पर राजकीय नियमों का निर्माण करते हैं, जो सम-आचरण के नियम के सर्वथा प्रतिकूल होते हैं। वे इन नियमों का डंडे के जोर से पालन करवाते हैं।

इसके बाद पढ़े-लिखे और धनवानों की एक श्रेणी होती है। इस श्रेणी के लोग न ईश्वर को मानते हैं और न किसी ईश्वरीय नियम को। वे कहते हैं कि संसार में यदि कुछ है तो विज्ञान और उसके नियम, जिनकी पढ़े-लिखे लोग खोज करते हैं और जिनको केवल धनिक जानते हैं। वे कहते हैं कि सब लोगों के हित के लिए यह आवश्यक है कि लोग उनके जैसा आलसी जीवन बिताएँ यानी स्कूलों में जाएँ, व्याख्यान सुनें, नाटक-सिनेमा देखें, सभाओं में जाएँ आदि-आदि। उनका कहना है कि इसके उपरांत उन सब कष्टों का स्वयमेव अंत हो जाएगा, जिससे श्रमजीवी

आज पीड़ित हैं।

इन लोगों में से कोई भी उस स्वर्ण नियम का खंडन नहीं करता; किंतु साथ-साथ वे इतने धार्मिक, राजकीय और वैज्ञानिक नियम आगे धर देते हैं कि उनके बीच वह सरल, स्पष्ट और सर्व-सुलभ ईश्वरीय नियम, जिसके पालन से अधिकांश मनुष्यों के कष्टों का अंत हो सकता है, न केवल अगोचर बल्कि लुप्त हो जाता है।

यही कारण है उस आश्चर्यजनक स्थिति का, जिसमें श्रमजीवी शासकों और धनिकों द्वारा पीढ़ी-दर-पीढ़ी पददलित होते रहने पर भी अपने और अपने दूसरे भाइयों का जीवन बर्बाद करते रहते हैं, अपने उद्धार के लिए अत्यंत पेचीदा, चतुराईपूर्ण और विविध उपायों का अवलंब करते हैं अर्थात् प्रार्थनाएँ करते हैं, देवताओं को भेंट-पूजा चढ़ाते हैं, राजकीय नियमों का सिर झुकाकर पालन करते हैं, सभाएँ करते हैं, संस्था बनाते हैं, श्रमजीवी संघ कायम करते हैं, हड़तालें करते हैं और क्रांतियाँ करते हैं; किंतु वे उस एकमात्र उपाय का यानी ईश्वरीय नियम का सहारा नहीं लेते जो निश्चय ही उनके समस्त कष्टों को दूर कर सकता है। जो लोग धार्मिक, राजनैतिक और वैज्ञानिक दलीलों के जाल के अभ्यस्त हैं, वे कहेंगे, "किंतु क्या यह संभव है कि इस सरल और संक्षिप्त कथन में तमाम ईश्वरीय नियम और मनुष्य के जीवन का पथ-प्रदर्शन भरा पड़ा है?" यह लोग समझ बैठे हैं कि ईश्वरीय नियम और मनुष्य-जीवन का पथ-प्रदर्शन पेचीदा सिद्धांतों में निहित होना चाहिए और इसलिए वह इतने संक्षिप्त और सरल कथन में प्रकट नहीं किया जा सकता।

यह सच है कि सम-आचरण का यह नियम बहुत संक्षिप्त और सरल है; किंतु उसकी संक्षिप्तता और सरलता ही यह सिद्ध करती है कि वह निर्विवाद, शाश्वत, सत्य और न्यायपूर्ण नियम है। यह नियम समस्त मानव-समाज के हजारों वर्षों के अनुभव का निचोड़ है, वह किसी एक संप्रदाय, राज्य अथवा विज्ञानवादी दल के मस्तिष्क की उपज नहीं है। सृष्टि के आरंभ-विषयक धार्मिक कल्पनाओं और धारा-सभाओं, सर्वोपरि सत्ता, दंड, संपत्ति और मूल्य का सिद्धांत, विज्ञान का वर्गीकरण आदि-आदि विषयों की चर्चाओं में बड़ी गंभीरता और बुद्धिमत्ता हो सकती है; किंतु उसका उपयोग सिर्फ मुट्ठीभर लोगों के लिए है। इसके विपरीत यह नियम कि दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करो, जैसा कि तुम दूसरों से अपने लिए चाहते हो, सर्वसुलभ है और जाति, धर्म, शिक्षा और उम्र का उस पर कोई असर नहीं पड़ता।

इसके अलावा जो धार्मिक, राजनैतिक और वैज्ञानिक दलीलें एक समय और एक स्थान में सही मानी जाती हैं, वह दूसरे समय और दूसरे स्थान पर गलत मानी जाती हैं; किंतु सम-आचरण का यह नियम सर्वत्र सही माना जाता है और उसको

एक बार समझ लेनेवालों के लिए कभी गलत नहीं हो सकता। किंतु इस नियम में और अन्य नियमों में मुख्य अंतर और लाभ यह है कि धार्मिक, राजनीतिक और वैज्ञानिक नियम मनुष्यों को संतोष नहीं देते और न उनका हित-साधन कर सकते हैं। यही नहीं, उनसे बहुत भारी शत्रुता और मुसीबत पैदा हो जाती है।

किंतु दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करना, जैसा कि दूसरों से हम अपने लिए चाहते हैं या दूसरों के साथ वैसा व्यवहार करना, जैसा हम अपने लिए नहीं चाहते—यदि इस नियम को हम स्वीकार कर लें तो उससे सद्भावना और हित-साधन के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। और इसलिए इस नियम के परिणाम बेहद लाभकारी और विविध होंगे। उससे मनुष्यों के तमाम पारस्परिक संबंध निर्धारित हो जाएँगे और सर्वत्र विद्वेष और संघर्ष के स्थान पर सद्भावना और सेवा का राज्य हो जाएगा। यदि लोग उस मायाजाल से मुक्त हो जाएँ, जिसने उनकी दृष्टि से इस नियम को छुपाया हुआ है, उसकी अनिवार्यता को स्वीकार कर लें और जीवन में उस पर आचरण करें तो एक नए ही विज्ञान का जन्म हो जाए, जो सर्वसाधारण की संपत्ति होगा और दुनिया में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होगा। यह विज्ञान बताएगा कि इस नियम के आधार पर किस प्रकार विभिन्न व्यक्तियों और समाज के तमाम संघर्षों का अंत किया जा सकता है। और यदि इस नवीन विज्ञान का जन्म और विकास हो जाए और जिस प्रकार आजकल हानिकर अंधविश्वासों और बहुधा बेकार या हानिकारक विज्ञानों की शिक्षा दी जाती है उसी प्रकार उसकी भी तमाम जनता और बालकों को शिक्षा दी जाए तो मनुष्य का सारा जीवन ही बदल जाएगा और साथ ही उस कष्टमय वातावरण का भी अंत हो जाएगा, जिसका अधिकांश मानव-समाज आज शिकार बना हुआ है।

बाइबिल की परंपरा का यह दावा है कि सम-आचरण का नियम प्रकट होने से बहुत पहले परमात्मा ने मनुष्यों के लिए अपना कानून बनाया। इस कानून में यह आदेश भी शामिल था कि "किसी को मारो मत।" यह आदेश अपने काल में सम-आचरण के नियम के समान ही महत्त्वपूर्ण और परिणामकारी था; किंतु उसकी भी वही दशा हुई, जो पिछले नियम की। यद्यपि लोगों ने उसका प्रत्यक्ष रीति से खंडन नहीं किया; किंतु पिछले नियम की भाँति वह भी अन्य विधि-विधानों के जमघट में लुप्त हो गया, और यह विधि-विधान मानव-जीवन की अखंडनीयता के नियम जितने ही या उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण समझे जाने लगे। यदि केवल यही एक आदेश हुआ होता कि 'तू किसी को न मार' तो मनुष्य को मानना पड़ता कि यह नियम अपरिवर्तनीय और अनिवार्य है और उसकी जगह और कोई नहीं ले सकता। यदि मनुष्य केवल इसी ईश्वरीय नियम को स्वीकार कर लें और उसका कड़ाई के

साथ पालन करें, कम-से-कम उतनी कड़ाई के साथ, जितनी कड़ाई के साथ कि वे पूजा-पाठ, संध्या-हवन आदि नियमों का पालन करते हैं तो मानव-जाति का सारा जीवन ही बदल जाए। न युद्धों की और न गुलामी की संभावना रह जाए, न धनवान् गरीबों से उनकी जमीन का अपहरण कर पाएँ और न मुट्ठी भर लोग अधिकतर लोगों की मेहनत का फल हड़प सकें। यह सब तभी तक होता है जब तक कि मरने की संभावना रहती है अथवा मारने का भय बना हुआ रहता है।

'किसी को मारो मत'—यदि इसको एकमात्र ईश्वरीय नियम मान लिया जाए तो मानव-जाति की अवस्था वही हो सकती है जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है। किंतु जब संध्या करने, हवन करने और इस प्रकार की अन्य आज्ञाओं को इस नियम के बराबर महत्त्वपूर्ण मान लिया गया तो धर्माचार्यों ने और भी नए-नए नियम बना डाले और उनको भी उतना ही माननीय समझा जाने लगा। परिणाम यह हुआ कि परमात्मा का सबसे बड़ा आदेश—किसी को मारो मत—उन नियमों के सागर में डूब गया और लोगों ने उसको हर अवस्था में अनिवार्य समझना छोड़ दिया। ऐसे भी उदाहरण सामने आए कि लोगों ने उसके बिल्कुल विपरीत आचरण किया। यही बात सम-आचरण के नियम के संबंध में भी हुई।

इस प्रकार बुराई की जड़ यह नहीं रही कि मनुष्य ईश्वर के असली नियम को नहीं जानते। बुराई की असली जड़ तो वे लोग हैं जो असली नियम का ज्ञान और पालन अपने लिए असुविधाजनक समझते हैं। यह लोग उसको नष्ट नहीं कर सकते और न उसका खंडन कर सकते हैं। और इसलिए नए-नए नियम बनाते हैं और कहते हैं कि ये नियम उतने ही माननीय हैं अथवा परमात्मा के असली नियम से भी ज्यादा माननीय हैं। मनुष्यों को उनके कष्टों से मुक्ति दिलाने के लिए अब सिर्फ यही आवश्यक है कि वे अपने को उन सब धार्मिक, राजकीय और वैज्ञानिक अंध-विश्वासों से मुक्त कर लें जिनको अनिवार्य जीवन-नियम के रूप में हमारे आगे पेश किया जाता है। इस प्रकार मुक्त हो जाने पर वे स्वभावत: अन्य विधि-विधानों की अपेक्षा उस वास्तविक और शाश्वत ईश्वरीय नियम को अधिक माननीय समझेंगे जो केवल मुट्ठी भर व्यक्तियों को नहीं, बल्कि दुनिया भर में तमाम मनुष्यों को सबसे अधिक सुख पहुँचाने की क्षमता रखता है।

श्रमजीवियों को अपने अंत:करण की शुद्धि करना चाहिए, ताकि राज्य-तंत्र और धनिक उनके जीवन को हड़पना बंद कर दें। पाप गंदगी में ही पैदा होता है और उसको ऐसे अनजान लोगों से तभी तक पोषण मिलता है जब तक वे अस्वच्छ रहते हैं। इसलिए श्रमजीवियों के लिए संकटों से बचने का एक ही मार्ग है और वह यह है कि वे अपनी आत्म-शुद्धि करें। इस शुद्धि के लिए यह आवश्यक है कि वे

धार्मिक, राजकीय और वैज्ञानिक अंध-विश्वासों से मुक्त हों। यह भी आवश्यक है कि वे ईश्वर और ईश्वरीय नियमों में विश्वास रखें। इसी में उनकी मुक्ति का एकमात्र उपाय निहित है।

इस समय हमको दो प्रकार के श्रमजीवी मिलते हैं—एक तो शिक्षित और दूसरे साधारण श्रेणी के, जो प्राय: अशिक्षित होते हैं। दोनों के दिलों में वर्तमान अवस्था के विरुद्ध तीव्र असंतोष होता है। शिक्षित श्रमजीवी ईश्वर और ईश्वरीय नियम में विश्वास नहीं करता, वह केवल मार्क्स आदि साम्यवाद के प्रवर्तकों को मानता है। वह धारासभाओं में अपने प्रतिनिधियों की हलचलों का अनुशीलन करता है। वह भू-स्वामी द्वारा जमीन और श्रम के साधन हड़प लिए जाने और विरासत के कानून के विरुद्ध जोशीले भाषण देता है। इसके विपरीत अशिक्षित श्रमजीवी को यद्यपि इन सिद्धांतों का ज्ञान नहीं होता और वह धार्मिक परंपरा में विश्वास रखता है; फिर भी उसके दिल में भू-स्वामियों और पूँजीपतियों के विरुद्ध शिक्षित श्रमजीवी जितना ही गुस्सा भरा रहता है और वर्तमान समाज-संगठन को वह भी बिल्कुल गलत समझता है। परंतु शिक्षित अथवा अशिक्षित किसी भी श्रमजीवी को यदि ऐसा अवसर मिले कि दूसरों की अपेक्षा सस्ती चीजें पैदा करने से उसकी हालत सुधर सकती हो तो उससे चाहे सैकड़ों, हजारों साथियों का अनिष्ट ही क्यों न होता हो, वह 99 प्रतिशत उस मौके का लाभ उठाए बिना न रहेगा अथवा उसको किसी पूँजीपति के यहाँ बड़े वेतन पर नौकरी मिल जाए, अथवा यह जमीन खरीद ले या मजदूरों के जरिए किसी व्यवसाय का संगठन कर सके तो वह बिना किसी हिचकिचाहट के यह काम करने को उद्यत हो जाएगा और मालिक की हैसियत से अपने विशेष अधिकारों का जन्मजात भूस्वामियों और पूँजीपतियों से भी ज्यादा जोरों के साथ समर्थन करेगा।

और हिंसा के काम में सहयोग देने की बात तो न केवल नैतिक दृष्टि से गलत है, बल्कि श्रमजीवियों और उनके साथियों के लिए अत्यंत घातक है। श्रमजीवियों की गुलामी का मूल आधार यही है। किंतु इस विषय में कोई चिंता नहीं करता और इस बात को बिल्कुल सामान्य समझता है। ऐसी अवस्था में जहाँ मनुष्यों का यह हाल हो, क्या वर्तमान से भिन्न किसी मानव-समाज की रचना की जा सकती? श्रमजीवी अपनी दुर्दशा के लिए भूस्वामियों, पूँजीपतियों और शासकों की लोभवृत्ति और निर्दयता को उत्तरदायी ठहराते हैं; किंतु उनमें से सब अथवा प्राय: सब, जिनका ईश्वर और ईश्वरीय नियम में कोई विश्वास नहीं है, इसी प्रकार छोटे, पर असफल रूप में भूस्वामी, पूँजीपति और शासक हैं।

एक देहाती लड़का आजीविका की तलाश में शहर में अपने एक मित्र के पास

आता है। एक बड़े सेठ के यहाँ कोचवान की जगह खाली होती है। लड़का कहता है कि वह उस जगह पर प्रचलित दर से कम वेतन लेकर काम करने को तैयार है। उसे नौकरी मिल जाती है, किंतु दूसरे दिन वह सुनता है कि इस जगह पहले एक बुड्ढा कोचवान काम करता था जो अब बेकार हो गया है और उसके सामने पेट का सवाल पैदा हो गया है। लड़के को बुड्ढे की हालत पर बड़ा दु:ख होता है और वह अपनी नौकरी से इस्तीफा दे देता है। कारण जो बर्ताव उसे अपने लिए पसंद न हो, वह दूसरों के साथ वही बर्ताव क्यों करता?

दूसरा उदाहरण एक बड़े परिवारवाले किसान का है। वह एक धनिक और कसकर काम लेनेवाले भूस्वामी के यहाँ अच्छे वेतन पर प्रबंधक बन जाता है। इस प्रकार अपने परिवार के भरण-पोषण की चिंता से वह मुक्त हो जाता है और संतोष की साँस लेता है। किंतु ज्यों ही वह काम सँभालता है, उसको देहातियों पर जुर्माने करने पड़ते हैं। कारण उनके मवेशी जमींदार के बाड़े में घुस गए थे। उसे जमींदार के जंगल में ईंधन लानेवाली औरतों को गिरफ्तार करना पड़ता है। उसे मजदूरों की मजदूरियाँ घटानी पड़ती हैं और कसकर अधिक-से-अधिक काम लेना पड़ता है। उसका अंत:करण उसको यह सब कुछ करने की गवाही नहीं देता। वह अपने परिवार के कहने-सुनने की कोई परवाह नहीं करता और नौकरी छोड़ देता है और कम आमदनीवाले और किसी काम में लग जाता है।

तीसरा उदाहरण एक सैनिक का है। अपनी कंपनी के साथ मजदूरों के विद्रोह को दबाने के लिए उसको लाया गया है और गोली चलाने का हुक्म दिया गया है। वह ऐसा करने से इनकार कर देता है और सब प्रकार का उत्पीड़न सहने के लिए उद्यत हो जाता है।

लोग यह सब इसलिए करते हैं कि उनको उस बुराई का पता होता है जो उन्हें दूसरों के प्रति करनी होती है। उनका दिल उनको कह देता है कि यह काम ईश्वर के नियम के विरुद्ध होगा। उन्हें वह काम न करना चाहिए जो वे अपने लिए नहीं चाहते।

किंतु यदि कोई श्रमजीवी यह नहीं जानता कि वह किसी काम की मजदूरी सस्ती करके दूसरे मजदूरों को नुकसान पहुँचा रहा है तो इससे उस बुराई की मात्रा कम नहीं हो जाती, जो वह अपने साथियों की कर डालता है। और यदि कोई श्रमजीवी मालिकों की तरफ हो जाता है और अपने साथियों के नुकसान को देखता है या महसूस नहीं करता तो भी अनिष्ट तो अनिष्ट ही रहेगा। जो मनुष्य सेना में भर्ती होता है और जरूरत पड़ने पर अपने भाइयों को मारने के लिए उद्यत होता है, वह भी अनिष्ट ही करता है। सेना में भर्ती होते समय चाहे उसको यह न मालूम पड़े

कि उसे कहाँ और किसको मारना पड़ेगा; पर वह यह तो समझ ही सकता है कि गोली चलाना और संगीन भोंकना उसका काम होगा।

अत्याचार और बंधन से छुटकारा पाने के लिए श्रमजीवियों को अपने भीतर वह धार्मिक भावना पैदा करनी चाहिए जो अपने भाइयों की हालत बिगाड़नेवाला कार्य करने से रोकती है, चाहे हालत बिगड़ती हुई भले ही न दिखाई दे। उनको धार्मिक शपथ लेनी चाहिए कि (1) यदि संभव हो तो वे पूँजीपतियों के अधीन काम न करेंगे। (2) प्रचलित से कम मजदूरी पर काम न करेंगे। (3) पूँजीपतियों की ओर मिलकर और उनके हितों का पोषण करके अपनी अवस्था न सुधारेंगे और राजकीय बल-प्रयोग में किसी प्रकार का सहयोग न देंगे। अपने कार्यों के प्रति इस प्रकार की धार्मिक वृत्ति रखकर ही श्रमजीवी अत्याचारों से छुटकारा पा सकते हैं।

यदि श्रमजीवी लोभ अथवा भय के वशीभूत होकर संगठित हत्याकारी दल में शामिल होता है, अपने व्यक्तिगत लाभ की खातिर जान-बूझकर अपने से ज्यादा जरूरतमंद श्रमिक के पेट पर लात मारता है, वेतन की खातिर अत्याचार करनेवालों के पक्ष में हो जाता है और उनके कामों में सहयोग देता है, और उसकी अंतर-आत्मा इसके लिए उसको नहीं टोकती तो उसको किसी को दोष देने का कोई अधिकार नहीं। अपनी स्थिति के लिए वह स्वयं जिम्मेदार है। वह या तो पददलित हो सकता है या पीड़क। इसके अलावा तीसरी स्थिति नहीं हो सकती। ईश्वर और ईश्वरीय नियम में श्रद्धा न हुई तो मनुष्य अपने अल्प जीवन में अधिक-से-अधिक सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा चाहे इसका परिणाम दूसरों के लिए कैसा भी क्यों न हो। और जब लोग अपनी-अपनी चिंता करेंगे, अपना अधिक-से-अधिक सुख खोजेंगे और दूसरों पर लड़नेवाले नतीजों का कुछ खयाल न करेंगे तो समाज-संगठन का कैसा भी रूप क्यों न हो, अनिवार्यत: मनुष्यों का ऐसा समूह अस्तित्व में आएगा, जिसमें चोटी पर होंगे मुट्ठी भर शासक लोग और नीचे होंगे असंख्य पददलित।

सत्ता बनाम स्वतंत्रता

महाकवि शैली ने लिखा है: ''संसार में सबसे घातक भूल यह हुई कि राजनीति और नीति-शास्त्र को अलग-अलग समझा गया।''

'श्रमजीवी क्या करें?' शीर्षक निबंध में मैंने अपनी यह सम्मति प्रकट की है कि यदि श्रमजीवी अपने कष्टों का अंत चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि वे अपना वर्तमान जीवन-क्रम बदल दें अर्थात् अपनी व्यक्तिगत भलाई की खातिर अपने

पड़ोसियों के साथ संघर्ष न करें, और बाइबिल के इस नियम का अनुसरण करें कि मनुष्यों को दूसरे के साथ वैसा ही बर्ताव करना चाहिए जैसा वह दूसरों से अपने लिए चाहता है।

जैसी कि मुझे आशा थी, अत्यंत विरोधी विचार रखनेवाले लोगों ने एक ही स्वर से मेरे प्रस्ताव की निंदा की है। लोग कहते हैं, "मेरा प्रस्ताव अलौकिक है, अव्यावहारिक है। जो लोग अत्याचार और हिंसा के शिकार हो रहे हैं वे जब तक धर्मात्मा न बन जाएँ तब तक उनकी मुक्ति के लिए प्रतीक्षा करते रहना वर्तमान बुराई को स्वीकार करना और निष्क्रिय बनकर बैठे रहना होगा।" इसलिए मैं यहाँ थोड़े-से में यह बता देना चाहता हूँ कि मैं उस प्रस्ताव को इतना अव्यावहारिक क्यों नहीं मानता जितना कि यह प्रतीत होता है, बल्कि मेरी राय में वर्तमान समाज-व्यवस्था को सुधारने के लिए वैज्ञानिकों ने जो उपाय सुझाए हैं, उन सबकी अपेक्षा मेरे प्रस्ताव पर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए। मेरा कहना खास तौर पर उन लोगों के लिए है जो ईमानदारी से, शब्दों में नहीं बल्कि कार्य-रूप में, अपने पड़ोसियों की सेवा करना चाहते हैं।

सामाजिक जीवन के आदर्श, जो मनुष्यों की प्रवृत्तियों का पथ-प्रदर्शन करते हैं, बदलते रहते हैं और उनके साथ मानव-जीवन का व्यवस्था-क्रम भी बदलता रहता है। एक जमाने में सामाजिक जीवन का आदर्श पूर्ण 'पाशविक स्वतंत्रता' था। इसके अनुसार मानव-जाति का एक भाग दूसरे भाग को अपना वश चलते निगलने की कोशिश करता था। यहाँ निगलने शब्द का उपयोग यथार्थ और आलंकारिक दोनों ही रूप में किया गया है। इसके बाद ऐसा जमाना आया जब एक आदमी की सत्ता सामाजिक आदर्श बन गया और लोग अपने शासकों के प्रति आदर प्रकट करने लगे और न केवल स्वेच्छापूर्वक बल्कि उत्साहपूर्वक उनके अधीन हो गए। रोम और मिस्र के इतिहास इसके उदाहरण हैं। इसके बाद लोगों ने जीवन के उस संगठन को अपना आदर्श माना जिससे सत्ता को सत्ता की खातिर नहीं, बल्कि मनुष्य के जीवन के उत्तम संगठन के लिए आवश्यक समझा गया। इस आदर्श की पूर्ति के लिए एक समय विश्व-व्यापी एकतंत्री राज्य स्थापित करने का उद्योग हुआ फिर विभिन्न एकतंत्री राज्यों को एक सूत्र में आबद्ध रखने और उनका पथ-प्रदर्शन करने के लिए विश्व-व्यापी धार्मिक सत्ता का प्रादुर्भाव हुआ। इसके बाद प्रतिनिधि-शासन के आदर्श का जन्म हुआ और फिर प्रजातंत्र का। प्रजातंत्र में कहीं सार्वत्रिक मताधिकार था और कहीं नहीं। आजकल यह माना जाता है कि उस आदर्श की पूर्ति ऐसे आर्थिक संगठन द्वारा हो सकती है जिसमें श्रम के समस्त साधन व्यक्तियों की संपत्ति होने के बजाए सारे राष्ट्र की संपत्ति हों।

यह आदर्श एक-दूसरे से कितने ही भिन्न क्यों न हों, उनको जीवन में कार्यरूप देने के लिए हमेशा सत्ता को आवश्यक समझा गया। सत्ता से मतलब दबानेवाली सत्ता से, जो मनुष्यों को स्थापित कानूनों को मानने के लिए बाध्य करती है। आज भी यही समझा जाता है।

यह समझा जाता है कि सर्वसाधारण का अधिक-से-अधिक हित-साधन करने के लिए कुछ ऐसे लोगों की आवश्यकता होती है, जिनके हाथ में सत्ता सौंप दी जाए और जो ऐसा संगठन कायम करके बनाए रखें जिसमें नागरिकों को अपने काम, अपनी स्वतंत्रता और अपने जीवन पर दूसरों की ओर से आक्रमण होने का कम-से-कम खतरा हो। चीनी शिक्षा के अनुसार यह काम कुछ धर्मात्मा व्यक्तियों को और यूरोपीय शिक्षा के अनुसार प्रजा द्वारा अभिषिक्त या निर्वाचित व्यक्तियों को सौंपना चाहिए। जो वर्तमान राजकीय संगठन को मानव-जीवन के लिए आवश्यक समझते हैं, न केवल वे, बल्कि क्रांतिकारी और समाजवादी, जो यद्यपि वर्तमान राजकीय संगठन में परिवर्तन की जरूरत महसूस करते हैं, वे भी सत्ता को समाज-व्यवस्था के लिए आवश्यक समझते हैं। और इस सत्ता का अर्थ है कि कुछ लोगों को स्थापित कानूनों का पालन करवाने के लिए दूसरों को बाध्य करने का अधिकार हो।

प्राचीन काल से लगाकर आज तक यही स्थिति रही है। किंतु जिन लोगों को सत्ता के सहारे कुछ नियम मानने के लिए बाध्य किया गया उन्होंने उन नियमों को सदा ही सर्वोत्तम नहीं समझा और इसलिए वे बहुधा सत्ताधीशों के विरुद्ध उठ खड़े हुए, उन्हें पदच्युत कर दिया और पुरानी व्यवस्था के स्थान पर नई व्यवस्था कायम की जो उनके मतानुसार सर्वसाधारण के लिए पहले से अधिक हितकर थी; किंतु जिनके हाथ में भी सत्ता गई, उनका सत्ता ने दिमाग खराब कर दिया और इसलिए उन्होंने सर्वसाधारण के लिए नहीं, बल्कि अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए उस सत्ता का प्रयोग किया। इस प्रकार नई सत्ता हमेशा पुरानी-जैसी ही रही और बहुधा पहले से भी अधिक अन्यायपूर्ण सिद्ध हुई।

यह तो उस अवस्था की बात हुई जब स्थापित सत्ता के विरुद्ध विद्रोह करनेवाले उसे परास्त करने में कामयाब हुए। किंतु जब स्थापित सत्ता को विजय प्राप्त हुई तो उसने आत्म-रक्षा की भावना से मत्त होकर हमेशा अपनी रक्षा के साधनों को बढ़ाया और वह अपने नागरिकों की स्वतंत्रता के लिए पहले से भी अधिक हानिकारक बन गई।

भूत और वर्तमान काल में हमेशा ऐसा ही होता आया है। 19वीं शताब्दी में यूरोप में जो कुछ हुआ, वह इस संबंध में खास तौर पर शिक्षाप्रद है। इस शताब्दी के पूर्वार्द्ध में क्रांतियाँ अधिकांशतः सफल हुईं; किंतु पुरानों की जगह लेनेवाले नए

सत्ताधीशों, नेपोलियन प्रथम, चार्ल्स दसवें, नेपोलियन द्वितीय ने नागरिकों की आजादी में वृद्धि नहीं की। सन् 1848 के बाद, 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में क्रांति की तमाम कोशिशों को दबा दिया गया और पूर्व क्रांतियों और नए प्रयत्नों के फलस्वरूप शासकों ने अपनी आत्म-रक्षा के लिए अधिकाधिक किलेबंदी कर ली, और गत शताब्दी के औद्योगिक आविष्कारों की बदौलत, जिनके फलस्वरूप मनुष्यों को प्रकृति पर और एक-दूसरे पर अपूर्व अधिकार प्राप्त हो गए हैं, उन्होंने उसे और भी बढ़ा लिया और गत शताब्दी का अंत होते-होते उसका इस हद तक विकास कर लिया है कि उसके विरुद्ध संघर्ष करना असंभव हो गया है। शासकों ने लोगों से न केवल असंख्य धनराशि जमा कर ली है, उनके पास चतुरतापूर्वक जमा किया हुआ न केवल सुसंगठित सैन्य-दल है, बल्कि उन्होंने जनसाधारण को प्रभावित करने के तमाम आध्यात्मिक साधनों को भी हथिया लिया है। वे समाचार-पत्रों का सूत्र-संचालन करते हैं और धार्मिक प्रगति और शिक्षा पर उनका आधिपत्य है। इन साधनों को इस प्रकार संगठित किया गया है कि स्थापित सत्ता के विरुद्ध सिर उठाना बहुत कठिन हो गया है।

यह पहलू बिल्कुल नया और इस युग के लिए एकदम मौलिक है। नीरो, चंगेज खाँ अथवा चार्ल्स महान् कितने ही शक्तिशाली क्यों न रहे हों, वे अपने राज्यों के सीमान्तों पर होनेवाले उपद्रवों को न दबा सके। उनके लिए अपने प्रजाजनों की आध्यात्मिक प्रवृत्तियों, शिक्षा, विज्ञान और नीति तथा उनकी धार्मिक वृत्तियों का संचालन करना और भी कम संभव था। किंतु आज ये सब साधन आधुनिक शासकों के हाथ में हैं। उनके पास खुफिया पुलिस है, गुप्तचर-प्रणाली है, अखबारों को प्रभावित करने की शक्ति है, रेलें, तार-टेलीफोन हैं, फोटोग्राफी (चित्रसाजी) की कला है, जेल और किले हैं, अनंत धनराशि है, आनेवाली पीढ़ी की शिक्षा और सेना भी उन्हीं के हाथ में है।

इन सब साधनों का संगठन इस प्रकार किया गया है कि अयोग्य-से-अयोग्य और नासमझ सत्ताधीश भी आत्मरक्षा की स्वाभाविक भावना से प्रेरित होकर विद्रोह की गुरुतर तैयारियों को रोक सकते हैं और भूतकाल के स्वप्न देखनेवाले क्रांतिकारियों द्वारा समय-समय पर खुली बगावत के कमजोर प्रयत्न अब भी किए जाते हैं, उनको वे बिना किसी प्रयत्न के सदा कुचल दे सकते हैं। क्रांतिकारियों के प्रयत्न शासकों की सत्ता को बढ़ाने वाले सिद्ध होते हैं। इस समय शासकों पर विजय पाने का एक ही उपाय है। वह यह कि सैनिक लोग, जो प्रजा के ही आदमी हैं, शासकों की सहायता करना बंद कर दें। किंतु उनका संगठन इस प्रकार किया गया है कि उन्हें आसानी से प्रभावित नहीं किया जा सकता। अतः यदि शासक सत्ता अपने हाथों में

रखना चाहें, और वे ऐसा अवश्य चाहेंगे, क्योंकि सत्ता न रही तो उनको पदच्युत हो जाना पड़ेगा, तो क्रांति का कोई खास आयोजन नहीं किया जा सकता और यदि कोई ऐसा आयोजन संभव भी हो तो वह हमेशा कुचल दिया जाएगा और बहुत-से जोशीले व्यक्तियों के बर्बाद होने और शासकों की सत्ता बढ़ जाने के अलावा उसका कोई परिणाम न निकलेगा। क्रांतिकारी और समाजवादी, जो गुजरे हुए जमाने की परंपरा का अनुसरण करते हैं और लड़ने-भिड़ने के जोश में बह जाते हैं, भले ही यह बात उनकी समझ में न आए, क्योंकि कुछ अर्से से यह एक पेशा-सा बन गया है; किंतु जो ऐतिहासिक घटनाओं पर स्वतंत्रतापूर्वक विचार करते हैं, उनको यह सत्य अवश्य मानना पड़ेगा।

यह एकदम नई स्थिति है और इसलिए जो लोग वर्तमान व्यवस्था को बदलना चाहते हैं, उन्हें शासकों की इस स्थिति को ध्यान में रखकर अपना कार्यक्रम बनाना चाहिए।

शासकों और शासितों के बीच शताब्दियों से संघर्ष होता आया है। उसके फलस्वरूप एक सत्ता के बाद दूसरी सत्ता कायम होती रही है; किंतु गत शताब्दी के मध्य से यूरोप में इस युग के औद्योगिक आविष्कारों के फलस्वरूप विद्यमान शासकों के हाथों में ऐसे हथियार आ गए हैं कि उनसे लड़ना असंभव हो गया है। जिस मात्रा में यह सत्ता अधिकाधिक विकसित होती गई, उसी मात्रा में उसकी असंगतता प्रगट होती गई। लोकहितकारी सत्ता और हिंसा की कल्पना के सामंजस्य में जो आंतरिक विरोध है, वह अधिकाधिक स्पष्ट होता गया। वह स्पष्ट हो गया कि जिस सत्ता को कल्याणकारी होने के लिए सर्वश्रेष्ठ मनुष्यों के हाथ में रहना चाहिए था, वह हमेशा निकृष्टतम लोगों के हाथों में रही। कारण, सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों ने सत्ता के मूल-स्वरूप को ध्यान में रखकर उसे कभी भी हस्तगत करना न चाहा—सत्ता का अर्थ यह है कि अपने ही पड़ोसियों के प्रति हिंसा का प्रयोग किया जाए—यही कारण है कि सत्ता न उनको कभी प्राप्त हुई और न उनके हाथों में रही।

लोक-कल्याण और सत्ता के बीच विरोध इतना स्पष्ट है कि शायद ही कोई उससे अपरिचित रहा हो; किंतु सत्ता का वातावरण इतना भड़कीला है। वह इस कदर लोगों में भय का संचार करती है और परंपरा मनुष्यों को इतना जड़ बना देती है कि मनुष्यों को अपनी भूल का पता लगाने में सैकड़ों ही नहीं हजारों वर्ष गुजर गए। कुछ ही दिनों से लोग यह समझने लगे हैं कि सत्ता की पोशाक चाहे जितनी गंभीर क्यों न हो, उसका मूल तत्त्व लोगों को संपत्ति, स्वतंत्रता और जीवन के अपहरण का भय दिखाना और उसे कार्यरूप में परिणत करना है। इसलिए जो लोग राजाओं, सम्राटों, मंत्रियों, न्यायाधीशों आदि की भाँति राजनीति के क्षेत्र में अपना जीवन बिताते

हैं और जिनका एकमात्र उद्देश्य अपनी सुविधाजनक स्थिति को कायम रखना होता है, वे सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति नहीं, बल्कि निकृष्टतम व्यक्ति होते हैं। ऐसे लोगों की सत्ता के द्वारा लोगों का हित-साधन नहीं हो सकता। वे तो हमेशा मानव-जाति के सामाजिक संकटों के प्रधान कारण रहे हैं और आज भी बने हुए हैं। इसलिए जहाँ पहले सत्ता के प्रति लोगों के हृदयों में उत्साह और भक्ति का उदय होता था, वहाँ आज अधिकांश और सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों के दिलों में उदासीनता ही नहीं, निरादर और घृणा की भावना पैदा होती है। मानव-जाति का प्रगतिशील अंग अब यह समझने लगा है कि सत्ता की सारी चमक-दमक जल्लाद की पोशाक—लाल कमीज और मखमली पाजामे के अलावा और कुछ नहीं है। वह पोशाक ही दूसरे कैदियों और जल्लाद का अंतर प्रकट करती हैं, कारण उसका कार्य अत्यंत अनैतिक और निंद्य है।

लोगों में सत्ता के प्रति जो भाव फैल रहे हैं, उनको ध्यान में रखकर आजकल शासक लोग दैवी अधिकारों, लोक-निर्वाचनों अथवा जन्मजात गुणों के उच्च आधारों पर निर्भर नहीं रहते। वे बल-प्रयोग को ही अपना प्रथम और आखिरी शस्त्र समझते हैं। इस प्रकार केवल दमन का ही सहारा लेने से सत्ता लोगों की और भी कम विश्वास-भाजन होती जा रही है और फलस्वरूप उसे राष्ट्रीय जीवन की तमाम प्रवृत्तियों को अधिकाधिक कुचलने के लिए बाध्य होना पड़ा है और इस कारण लोगों में असंतोष की मात्रा और भी बढ़ जाती है।

सत्ता अब अजेय बन गई है। वह दैवी अधिकारों, निर्वाचन, प्रतिनिधित्व आदि राष्ट्रीय आधारों पर निर्भर नहीं रहती। हिंसा ही उसका अस्त्र बन गया है। साथ ही लोगों ने सत्ता पर विश्वास करना और उसका सम्मान करना बंद कर दिया है। केवल विवश होकर ही वे उसके आगे सिर झुकाते हैं। ठीक गत शताब्दी के मध्य से, जब सत्ता अजेय बनी और साथ ही उसने प्रतिष्ठा से भी हाथ धोया, लोगों में यह विचार पैदा हुआ कि वास्तविक स्वतंत्रता का सत्ता के साथ कोई मेल नहीं हो सकता। बल-प्रयोग के हामी जिस स्वतंत्रता का प्रचार करते हैं, वह तो काल्पनिक स्वतंत्रता है। कारण उसमें मनुष्य को दंड के भय से दूसरों की आज्ञा माननी पड़ती है। वास्तविक स्वतंत्रता में हरेक मनुष्य को अपने विवेक के अनुसार जीवन बिताने और आचरण करने की स्वतंत्रता होती है।

इस नए आदर्श के अनुसार, जैसा कि पहले खयाल किया जाता था, सत्ता कोई ईश्वरीय अथवा महान् वस्तु नहीं है। वह सामाजिक जीवन के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक भी नहीं है। वह तो नग्न बलप्रयोग का परिणाममात्र है, जो थोड़े-से लोग दूसरे पर किया करते हैं। यह सत्ता चाहे किसी शासक के हाथ में ही या

शासन-समिति के हाथ में, उसका एक ही अर्थ होगा कि कुछ आदमियों की दूसरे आदमियों पर हुकुमत चले। ऐसी दशा में स्वतंत्रता नहीं हो सकती और कुछ लोग मानव-जाति के शेष भाग को सताते रहेंगे। इसलिए सत्ता को न अपनाया जाए; किंतु यह कार्य किस प्रकार संपादित किया जाए और उसके बाद कैसी व्यवस्था की जाए कि मनुष्य पुनः आपस में एक-दूसरे के साथ नग्न हिंसा का व्यवहार न करने लगें?

सभी अराजकतावादी इस प्रश्न का एक स्वर से यही उत्तर देते हैं कि यदि वास्तव में सत्तारहित समाज स्थापित करना हो तो वह बलप्रयोग द्वारा न होना चाहिए; बल्कि लोगों में यह भावना जागृत होनी चाहिए कि वह निरर्थक और बुरी वस्तु है। सत्तारहित-समाज-व्यवस्था किस प्रकार स्थापित की जाए, इस बारे में अराजकतावादियों की भिन्न-भिन्न सम्मतियाँ हैं।

मि. गाडविन नामक अंग्रेज और प्राउढन नामक फ्रांसीसी विचारकों ने प्रथम प्रश्न के उत्तर में लिखा है कि सत्ता-रहित समाज की स्थापना के लिए लोगों में ज्ञान का उदय होना काफी होगा। उनके मतानुसार चूँकि सत्ता सार्वजनिक हित और न्याय पर आक्रमण करती है, इसलिए यदि लोगों में यह विचार फैलाया जाए कि सार्वजनिक हित और न्याय की रक्षा सत्तारहित समाज में हो सकती है तो सत्ता खुद-बखुद मिट जाएगी। दूसरा प्रश्न यह है कि सत्ता के बिना नवीन समाज की व्यवस्था किस प्रकार सुरक्षित रहेगी? इस संबंध में दोनों ही विचारकों का कथन है कि जो लोग सर्वसाधारण के हित और न्याय की भावना से प्रेरित होंगे, वे स्वभावतः सबसे अधिक विवेकपूर्ण और उपयुक्त समाज-व्यवस्था स्थापित कर लेंगे।

दूसरी ओर बकोनिन और क्रोपाटकिन जैसे अराजकतावादी हैं, जो यद्यपि यह स्वीकार करते हैं कि सर्वसाधारण को सत्ता की हानियों का ज्ञान होना चाहिए और यह कि सत्ता के होते हुए मानव की उन्नति नहीं हो सकती, तथापि वे सत्तारहित समाज की स्थापना के लिए हिंसात्मक क्रांति का होना संभव ही नहीं, आवश्यक भी समझते हैं और उसके लिए तैयारी करने की लोगों को सलाह देते हैं। दूसरे प्रश्न का वे यों उत्तर देते हैं कि जब राज्य-संगठन और संपत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार व्यवस्था कायम कर लेंगे।

मार्क्स स्टर्नर नामक जर्मन और मि. टकर नामक अमरीकन विचारकों का भी एक ही मत है। वे मानते हैं कि लोग यदि यह समझ लें कि प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तिगत स्वार्थ ही मनुष्यों के कार्यों का बिल्कुल पर्याप्त और उचित पथ-प्रदर्शक है और केवल सत्ता ही मानव-जीवन के मुख्य अंग के पूर्ण विकास में बाधक होती है तो सत्ता अपने-आप मिट जाएगी। कारण, उस अवस्था में न कोई उसको स्वीकार करेगा और न उसमें हिस्सा ही लेगा। और जब लोग सत्ता की आवश्यकता न

समझेंगे और उसके संबंध में जो अंध-विश्वास है, उससे मुक्त हो जाएँगे, और केवल अपने व्यक्तिगत हितों का विचार करेंगे तो वे अपने-आप ऐसी समाज-व्यवस्था कायम कर लेंगे जो हरेक के लिए सबसे अधिक पर्याप्त और लाभदायक होगी।

यह सब कथन सही हैं कि यदि सत्तारहित समाज की स्थापना करनी है तो बल-प्रयोग द्वारा नहीं हो सकती। कारण, जो सत्ता सत्ता को मिटाएगी, वह सत्ता तो रहेगी ही। सत्ता तो तभी मिट सकती है जब लोग इस सत्य का अनुभव करें कि सत्ता बेकार और हानिकर वस्तु है और इसलिए लोग न तो उसको स्वीकार करें और न उसमें हिस्सा लें। यह निर्विवाद सत्य है। लोगों में विवेकपूर्ण ज्ञान का उदय होने पर ही सत्ता मिट सकती है; किंतु यह ज्ञान हो कैसे ? अराजकतावादियों का विश्वास है कि सार्वजनिक हित, न्याय उन्नति अथवा मनुष्यों के व्यक्तिगत स्वार्थों पर उसका आधार होना चाहिए; किंतु यह सब बातें न केवल परस्पर एक-दूसरे के विरुद्ध हैं बल्कि उनके संबंध में लोगों की कल्पनाएँ भी बड़ी भिन्न हैं। इसलिए यह नहीं माना जा सकता है कि जो लोग आपस में ही एकमत नहीं है और जिन बातों के आधार पर वे सत्ता का विरोध करते हैं उनके बारे में उनकी भिन्न-भिन्न धारणाएँ हैं, वे सत्ता को मिटा सकेंगे—उस सत्ता को जिसकी जड़ें इतनी गहरी बैठी हुई हैं और जिसकी रक्षा इतनी योग्यतापूर्वक की जा रही है। इसके अलावा यह खयाल भी गलत है कि सार्वजनिक हित, न्याय, और उन्नति के विचारों से प्रेरित होकर वे व्यक्ति जो सत्ता के पाश से मुक्त हो चुके होंगे; किंतु जो सार्वजनिक हित के आगे अपने व्यक्तिगत स्वार्थ को तिलांजलि देना नहीं चाहते, एक-दूसरे की स्वतंत्रता पर आक्रमण न करेंगे और जीवन की न्यायपूर्ण व्यवस्था कायम कर लेंगे। मार्क्स स्टर्नर और मि. टकर का यह उपयोगितावादी और व्यक्तिवादी सिद्धांत कि प्रत्येक व्यक्ति के अपने व्यक्तिगत स्वार्थ का ही ध्यान रखने के सब लोगों में न्यायपूर्ण संबंध स्थापित हो सकते हैं, न केवल मनमाना है, बल्कि जो कुछ वस्तुत: हो चुका है और आगे हो रहा है, उसके सर्वथा प्रतिकूल है।

इस प्रकार यद्यपि अराजकतावादी सत्तारहित समाज की स्थापना के लिए आध्यात्मिक साधनों को सही तौर पर एक मात्र साधन स्वीकार करते हैं, किंतु चूँकि उनकी जीवन-संबंधी कल्पना अधार्मिक और पार्थिव है, इसलिए वे आध्यात्मिक साधनों से वंचित है। वे कपोल कल्पनाओं पर भरोसा किए बैठे हैं। फलस्वरूप सत्ता के पुजारियों को अराजकतावादियों द्वारा प्रतिपादित साधनों की अल्पता के कारण उनके सिद्धांतों के वास्तविक आधारों को स्वीकार करने का अवसर मिल जाता है।

आध्यात्मिक अस्त्र से लोग बहुत पहले से परिचित हैं। इसने हमेशा सत्ता को

मिटाया है और जिन्होंने भी उसका प्रयोग किया, उन्हें पूर्ण और अमर स्वतंत्रता प्रदान की है। यह अस्त्र सिर्फ यह है कि हमारा जीवन के संबंध में विशुद्ध दृष्टिकोण हो। इस दृष्टिकोण के अनुसार मनुष्य अपने इस पार्थिव जीवन को संपूर्ण जीवन का आंशिक दर्शन समझता है और इस जीवन का अनंत जीवन के साथ संबंध स्थापित करके उस अनंत जीवन के नियमों की पूर्ति में ही अपना सर्वोच्च हित मानता है। वह मनुष्य के बनाए हुए नियमों की अपेक्षा उस अनंत के नियमों को अपने लिए अधिक माननीय समझता है। ऐसी धार्मिक कल्पना ही, जो समस्त मानव-समाज के सामने जीवन का समान आदर्श उपस्थित करती है और जिसके अनुसार सत्ता के आगे सिर नहीं झुकाया जा सकता और न उसमें हिस्सा लिया जा सकता है, वास्तव में सत्तारहित समाज की स्थापना कर सकती है।

यह कितनी विचित्र बात है जब मनुष्यों ने जीवन के अनुभवों से यह समझा कि वर्तमान सत्ता अजेय है और पशु-शक्ति से उसको इस युग में परास्त नहीं किया जा सकता तभी उन्हें इस स्वयं-सिद्ध सत्य का भी पता लगा कि सत्ता और उससे पैदा होनेवाले तमाम अनिष्ट मनुष्यों के बुरे जीवन के परिणाम हैं और इसलिए उनको मिटाने के लिए मनुष्यों को सद्जीवन का आश्रय लेना चाहिए।

मनुष्य इस तथ्य को समझने लगा है। अब उसको यह और समझाना है कि समाज में सद्जीवन बिताने का एक ही मार्ग है। वह यह कि ऐसी धार्मिक शिक्षा पर अमल किया जाए जो स्वाभाविक हो और जिसे बहुसंख्यक जनता समझ सके। उसी के द्वारा मनुष्य उस आदर्श को सिद्ध कर सकेगा, जिसका उसके अंत:करण में जन्म हो चुका है और जिसको प्राप्त करने के लिए वह प्रयत्न कर रहा है। सत्तारहित समाज की स्थापना करने और उसमें मनुष्यों को सद्जीवन बिताने के लिए तैयार करने के लिए तैयार होनेवाले अन्य सब प्रयत्न निरर्थक हैं। उनके द्वारा हम उस लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकते जिसके लिए मानव प्रयत्न कर रहा है। वे तो उस लक्ष्य से और भी दूर हटाने वाले हैं...।

मैं यह बात उन ईमानदार लोगों से कहना चाहता हूँ जो स्वार्थमय जीवन से संतुष्ट नहीं हैं और जो अपने भाइयों की सेवा में अपनी शक्ति खर्च करना चाहते हैं। यदि वे राज्य-सत्ता के कार्यों में भाग लेते हैं या लेना चाहते हैं और इस साधन द्वारा लोगों की सेवा करना चाहते हैं तो उन्हें सत्ता पर आधारित राज्य-संस्था के स्वरूप पर विचार करना चाहिए। उन्हें पता चलेगा कि हर राज्य-सत्ता को हिंसा का आश्रय लेना पड़ता है।

अमरीका के मि. थोरो नामक एक लेखक ने अपने एक लेख में बताया है कि उन्होंने अमरीका की सरकार को एक डॉलर टैक्स क्यों अदा नहीं किया। उन्होंने

लिखा है कि वह यह टैक्स देकर उस राज्यसत्ता के कार्य में भाग लेना नहीं चाहते, जो हब्शियों की गुलामी को विहित करार देती है। अमरीका, हालैंड और फ्रांस की राज्य-सत्ताओं के संबंध में भी इस प्रकार की बात कही जा सकती है। अतः कोई भी ईमानदार व्यक्ति, जिसने सत्ता के स्वरूप को पहचान लिया है, उसके कार्यों में तभी हिस्सा ले सकता है जब वह यह सिद्धांत मानता हो कि उद्देश्य अच्छा होना चाहिए, फिर साधन चाहे कैसा ही क्यों न हो। किंतु यह जनता और राज्य-संचालकों—दोनों के ही लिए हानिकर सिद्ध हुआ है।

बात बिल्कुल सीधी है। आप राज्य-सत्ता के नियमों का उपयोग करके उससे लोगों के लिए अधिक स्वतंत्रता और अधिकार प्राप्त करना चाहते हैं। किंतु शासकों की सत्ता जितनी ही अधिक होती है, उतनी ही लोगों की स्वतंत्रता और अधिकार कम होते हैं। इसके विपरीत लोगों को जितनी ही अधिक स्वतंत्रता और अधिकार प्राप्त होंगे, उतना ही कम सत्ता और सुविधा राज्य-सत्ता को प्राप्त होगी। राज्य-सत्ता को इसका पता होता है और चूँकि सत्ता उसके हाथ में होती है, इसलिए वह हर किस्म के सुधारों की चर्चा होने देती है और कुछ ऐसे नगण्य सुधार कर भी दिए हैं, जो उसकी सत्ता की आवश्यकता सिद्ध करते हैं; किंतु जिन सुधारक प्रवृत्तियों से शासकों के विशेषाधिकारों में बाधा पड़ने का भय होता है, उनको वह तत्काल दबा देती है। अतः राज्य-संस्थाओं और धारासभाओं द्वारा जनता की सेवा करने के तमाम प्रयत्नों का यही परिणाम निकलेगा कि शासक-वर्गों की सत्ता बढ़ जाएगी और जितनी आप में प्रामाणिकता होगी, उसी के अनुसार आप जान या अनजान में उस सत्ता में हिस्सा लेंगे। विद्यमान राज्य-संस्थाओं के द्वारा जो लोग जनता की सेवा करना चाहते हैं उनके लिए यही बात चरितार्थ होती है।

इसके विपरीत यदि आप अपनी गिनती उन प्रामाणिक लोगों में करते हैं जो क्रांतिकारी अथवा समाजवादी प्रवृत्तियों के जरिए राष्ट्र की सेवा करना चाहते हैं तो पहले आप इस बात पर विचार कीजिए कि लोगों के जिस सांसारिक हित-साधन के लिए आप प्रयत्नशील हैं, वह उद्देश्य ही अधूरा है। वह आज तक किसी को संतुष्ट नहीं कर सका। दूसरे आप उन साधनों पर भी विचार कीजिए जो आपको अपने उद्देश्य-सिद्धि के लिए सुलभ हैं। प्रथम तो ये साधन अनैतिक हैं। उनमें झूठ, धोखा, हिंसा आदि का आश्रय लेना पड़ता है। अतः उनसे उद्देश्य कभी सिद्ध नहीं हो सकता। आजकल राज्य-सत्ता की शक्ति और सतर्कता इतनी बढ़ी-चढ़ी है कि धोखा-धड़ी अथवा हिंसात्मक कार्रवाई से उसका कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकता। जितने भी क्रांतिकारी प्रयत्न होते हैं, वे सत्ता के लिए हिंसात्मक कार्रवाई करने के नए कारण बन जाते हैं और उसकी ताकत को बढ़ा देते हैं।

किंतु यदि हम असंभव को भी संभव मान लें कि आजकल हिंसात्मक क्रांति सफल हो सकती है तो सबसे पहले यह आशा कैसे करें कि आज तक की घटनाओं के विपरीत पुरानी सत्ता के स्थान पर स्थापित नई सत्ता जनता की स्वतंत्रता को बढ़ाएगी और पहले की अपेक्षा ज्यादा कल्याणकारी सिद्ध होगी? दूसरा, आचरण समझ और अनुभव के विपरीत यह मान भी लिया जाए कि सत्ता को मिटानेवाली दूसरी सत्ता जनता को इतनी स्वतंत्रता दे सकती है कि वह अपने लिए सबसे अधिक लाभदायक जीवन-व्यवस्था स्थापित कर ले तो यह मान लेने के लिए कोई कारण नहीं कि स्वार्थ-प्रेरित जीवन बितानेवाले लोग पहले से अधिक अच्छी व्यवस्था कायम कर सकते हैं।

डाहोमियो लोगों की रानी अत्यंत उदार शासन-विधान जारी कर दे और श्रम के साधनों को राष्ट्रीय संपत्ति भी बना दे—जिसके द्वारा कि समाजवादियों की राय में लोगों की तमाम मुसीबतों का अंत हो जाएगा, तो भी शासन-विधान पर अमल होने और श्रम के साधनों को व्यक्ति-विशेष की संपत्ति न बनने देने के लिए किसी-न-किसी के हाथ में सत्ता का होना आवश्यक होगा। किंतु जब तक डाहोमियो लोगों की जीवन-विषयक कल्पना नहीं बदलती, यह प्रकट है कि कुछ डाहोमी शेष डाहोमियों पर वैसा ही बल-प्रयोग करते रहेंगे जैसा कि वे शासन-विधान और श्रम के साधनों के राष्ट्रीयकरण के अभाव में करते। समाजवादी संगठन स्थापित करने के पहले यह आवश्यक होगा कि डाहोमी लोग अपनी रक्तपात-प्रियता से मुख मोड़ लें।

मनुष्य बिना एक-दूसरे को सताए समाज में रह सकें, इसके लिए पशु-बल पर आधार रखनेवाले संगठन की आवश्यकता नहीं है। उसके लिए तो नैतिक व्यवस्था की जरूरत है, जिसके अनुसार लोग दबाव के वश होकर नहीं, बल्कि आत्म-विश्वास के साथ दूसरों के प्रति वैसा ही व्यवहार करें जैसा कि वे चाहते हैं कि दूसरे लोग उनके साथ करें। ऐसे लोग अब भी मौजूद हैं। अमरीका, रूस और कनाडा के ईसाई-समाजों में उनको देखा जा सकता है। ये लोग पशु-बल द्वारा रक्षित कानूनों की मदद के बिना ही सामाजिक जीवन बिताते हैं और एक-दूसरे को नहीं सताते।

अतः इस युग में हमारे ईसाई-समाज का एक ही कर्तव्य है। उनको शब्द और कार्य से ईसाई-शिक्षा पर अमल करना चाहिए। यही अंतिम और सर्वोच्च धार्मिक शिक्षा है। हमको उस ईसाई-शिक्षा की आवश्यकता नहीं, जो वर्तमान व्यवस्था को स्वीकर करती है और केवल बाह्य कर्म-कांड पर जोर देती है अथवा इसी शिक्षा में विश्वास करके संतोष कर लेती है कि प्रभु-कृपा से मुक्ति मिल जाएगी। हमको तो उस जीवित ईसाईयत की जरूरत है जिसके अनुसार पशु-बल पर आधारित सत्ता में न केवल भाग ही नहीं लिया जा सकता, बल्कि उसका प्रतिरोध भी करना होता है।

यदि यह सच है तो यह प्रकट है कि जो लोग अपने पड़ोसियों की सेवा करने के इच्छुक हैं, उन्हें नई व्यवस्थाएँ स्थापित करने की ओर ध्यान नहीं देना है। उन्हें तो अपने और दूसरे लोगों के जीवन को बदलने और पूर्ण बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

जो लोग अन्यथा आचरण करते हैं, वे प्राय: यह सोचते हैं कि समाज-व्यवस्था और मनुष्यों के जीवन-आदर्श और आचरण में साथ-साथ सुधार हो सकता है।

जब मनुष्य के जीवन-आदर्श और व्यवहार में परिवर्तन होता है तो अनिवार्यत: समाज-व्यवस्था में भी परिवर्तन हो जाता है; किंतु इसके विपरीत समाज-व्यवस्था बदलने से न केवल मनुष्य के जीवन-आदर्श और व्यवहार में ही परिवर्तन नहीं होता, बल्कि लोगों का ध्यान और कार्य गलत दिशा में चले जाने के कारण उल्टे परिवर्तन होने में बाधा पहुँचती है। समाज-व्यवस्था में परिवर्तन करके यह आशा करना कि उसके द्वारा मनुष्यों के आचार और आदर्श में भी परिवर्तन हो जाएगा, ठीक वैसा ही है जैसा कि यह मान लेना कि गीली लकड़ी आग पकड़ लेगी यदि हम उसको चूल्हे में इस या उस तरीके से रखेंगे। आग तो पकड़ेगी सूखी लकड़ी ही, चाहे हम उसको चूल्हे में किसी भी तरह क्यों न रखें।

यह बात बिल्कुल स्पष्ट है, फिर भी लोग गलती करते हैं, कारण मनुष्य के आचरण के सुधार की शुरुआत उसी के द्वारा होती है और उसके लिए उसको कठोर परिश्रम करना पड़ता है। इसके विपरीत दूसरों को जीवन-व्यवस्था बदलने के लिए खुद को अपने ऊपर परिश्रम नहीं करना पड़ता और यह कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण और दूरवर्ती परिणाम लानेवाला प्रतीत होता है। यही खराबी की सबसे बड़ी जड़ है और जो लोग ईमानदारी के साथ पड़ोसियों की सेवा करना चाहते हैं, उन्हें मैं सावधान कर देना चाहता हूँ कि वे उसके शिकार न बनें।

लोग कम या ज्यादा सच्चे क्रोध में आकर कहते हैं, ''लेकिन जब हम अपने चारों ओर पीड़ित मनुष्यों को देखते हैं तो ईसाई-धर्म का उपदेश और प्रचार करके चुप नहीं बैठ सकते। हम पीड़ितों की क्रियात्मक रूप से सेवा करना चाहते हैं। इसके लिए हम अपने परिश्रम और जीवन तक का बलिदान करने को तैयार हैं।'' इन लोगों को मेरा यह उत्तर है कि आप यह कैसे जानते हैं कि जो उपाय आपको सबसे अधिक उपयोगी और व्यावहारिक प्रतीत होता है, उसी के द्वारा आपको लोगों की सेवा करनी है। आप जो कुछ कहते हैं, उसका तात्पर्य यह है कि आप यह निर्णय कर चुके हैं कि हम ईसाई-धर्म के द्वारा मानव-समाज की सेवा नहीं कर सकते और वास्तविक सेवा राजनीतिक कार्यों द्वारा ही हो सकती है, जिसकी ओर आप आकर्षित हैं।

सब राजनैतिक पुरुष ऐसा ही सोचते हैं और वे सब एक-दूसरे से मतभेद रखते हैं और इसलिए वे सब-के-सब सही नहीं हो सकते। बहुत अच्छा होता यदि हरेक मनुष्य अपनी इच्छानुसार दूसरों की सेवा कर पाता; किंतु बात ऐसी नहीं है। मनुष्यों की सेवा करने और उनकी अवस्था सुधारने का केवल एक ही मार्ग है और वह यह कि उस पर अमल किया जाए जिसके अनुसार मनुष्य को अपने को सुधारने का आंतरिक प्रयत्न करना पड़ता है। व्यक्ति तभी संपूर्णता प्राप्त करेगा, जब वह मनुष्यों से परहेज न करता हुआ हमेशा स्वाभाविक रूप से उनके बीच रहेगा और उनके साथ अधिक अच्छे और अधिकाधिक प्रेमपूर्ण संबंध स्थापित करेगा। मनुष्यों में प्रेमपूर्ण संबंध स्थापित होने पर उनकी सामान्य अवस्था सुधरे बिना नहीं रह सकती। हाँ, यह हो सकता है कि मनुष्य को यह पता न हो कि इस सुधार का रूप क्या होगा।

यह सच है कि राजकीय प्रवृत्तियों अर्थात् धारासभाओं अथवा हिंसात्मक क्रांतिकारी प्रवृत्तियों द्वारा सेवा करने में हम जो परिणाम लाना चाहते हैं, उनको हम पहले से ही सोच लेते हैं। साथ ही हम आनंददायक और विलासितापूर्ण जीवन की तमाम सुविधाओं से लाभ उठा सकते हैं, ऊँचा पद प्राप्त कर सकते हैं, लोगों से प्रशंसा पा सकते हैं और बड़ा नाम कमा सकते हैं। जो लोग ऐसे कामों में पड़ते हैं, उन्हें कभी-कभी कष्ट भी उठाना पड़ता है। हर किस्म के संघर्ष में ऐसे कष्ट-सहन की संभावना रहती है; पर सफलता की संभावना से उसकी क्षति-पूर्ति हो जाती है। सैनिक कार्यों में कष्ट झेलने और मौत तक की संभावना रहती है, किंतु उनको वही लोग पसंद करते हैं जिनमें बहुत-थोड़ी नैतिकता होती है और जो स्वार्थमय जीवन व्यतीत करते हैं। इसके विपरीत प्रथम तो धार्मिक प्रवृत्ति का परिणाम हमको प्रतीत नहीं होता; दूसरे, जब हम उसका आश्रय लेते हैं तो हमको बाह्य सफलता का मोह छोड़ना पड़ता है। उसके द्वारा न केवल उच्च पद और ख्याति ही नहीं मिलती बल्कि सामाजिक दृष्टिकोण से निम्नतम दर्जा मिलता है। न केवल निरादर और निंदा का पात्र बनना पड़ता है, बल्कि अत्यंत निर्दय उत्पीड़न और मृत्यु तक का सामना करना पड़ता है। इस युग में जब धर्म-विरोधी कार्य करने के लिए लोगों को पशु-बल द्वारा बाध्य किया जाता है, धार्मिक कार्य करना महा कठिन है; किंतु धार्मिक कार्यों द्वारा ही मनुष्य को वास्तविक स्वतंत्रता का भान होता है और यह निश्चय होता है कि वह अपने कर्तव्य का पालन कर रहा है। फलस्वरूप इस प्रकार की प्रवृत्ति ही वास्तव में परिणामकारी होती है। वह न केवल सर्वोत्तम उद्देश्य ही सफल करती है, बल्कि संयोगवश और अत्यंत स्वाभाविक एवं सीधे-सादे ढंग से परिणाम भी ला देती है जिनके लिए समाज-सुधारक इतने अस्वाभाविक उपाय करते रहते हैं।

इस प्रकार मनुष्य सेवा करने का एक ही मार्ग है। वह यह कि मनुष्य सद्जीवन बिताए। यह उपाय काल्पनिक उपाय नहीं है, जैसा कि वे लोग समझते है, जिनको इससे लाभ नहीं पहुँचता। हाँ, इसके अतिरिक्त जो उपाय हैं, वे सभी काल्पनिक हैं। उनके द्वारा नेता लोग जनता को एक मात्र सही रास्ते से हटाकर गलत रास्ते भटका देते हैं।

जो लोग इस आदर्श को जल्दी से व्यवहार में आता हुआ देखना चाहते हैं, वे कहते हैं, 'यदि इसी मार्ग में भला होना है तो वह होगा कब?' बड़ा अच्छा हो यदि यह अतिशीघ्र, तत्काल हो जाए। बड़ा अच्छा हो यदि हम अतिशीघ्र तत्काल जंगल खड़ा कर सकें; पर हम ऐसा नहीं कर सकते। हमको तब तक धैर्य रखना होगा, जब तक बीज में से अंकुर, अंकुर में से पत्तियों और पत्तियों में से टहनियाँ निकलकर वृक्ष नहीं बन जाता। हम जमीन में टहनियाँ गाड़ सकते हैं और वे कुछ काल के लिए जंगल का दृश्य उपस्थित कर देंगी, किंतु यह आखिर होगा कोरा दृश्य ही। अतिशीघ्र उत्तम समाज-व्यवस्था कायम करने के संबंध में भी यही बात है। हम उत्तम व्यवस्था का दिखावा कर सकते हैं; किंतु ऐसे दिखावों से तो सच्ची व्यवस्था कायम होने की संभावना कम ही होती है। प्रथम तो जहाँ उत्तम व्यवस्था न हो, वहाँ उत्तम व्यवस्था का चित्र बनाकर लोगों को धोखा दिया जाता है, दूसरे, उत्तम व्यवस्था के ये रूप सत्ता द्वारा बनते हैं और सत्ता शासक और शासित दोनों को पतित कर देती है और इसलिए सच्ची व्यवस्था कायम होने की संभावना और भी कम हो जाती है। अत: आदर्श को शीघ्र सिद्ध करने के प्रयत्न विफल हो जाते हैं और सिद्धि के मार्ग में बाधक भी बन जाते हैं।

हिंसारहित सुव्यवस्थित समाज की स्थापना—मानव-जाति का यह आदर्श जल्दी सिद्ध होगा या देर में, यह इस पर निर्भर करता है कि कब जनता के शासक जो ईमानदारी के साथ लोगों की सेवा करना चाहते हैं, यह समझेंगे कि उनके मौजूदा कार्य ही सबसे अधिक मनुष्यों को उनके उद्देश्य की सिद्धि से दूर फेंक रहे हैं। वे पुराने अंधविश्वासों को कायम रखकर, सब धर्मों को ठुकराकर और लोगों को राज्य-सत्ता, क्रांति अथवा समाजवाद की उपासना करना सिखलाकर उस उद्देश्य को सिद्ध करने की आशा नहीं कर सकते। जो लोग सच्चाई के साथ अपने पड़ोसियों की सेवा करना चाहते हैं, यदि वे केवल इतना समझ लें कि राज्य-सत्ता के समर्थकों और क्रांतिकारियों के तमाम साधन कितने निष्फल होते हैं, और यह कि लोगों को उनके कष्टों से मुक्ति दिलाने का एक ही मार्ग है और वह यह कि स्वार्थमय जीवन को तिलांजलि दे दें और भाईचारे का जीवन बिताने लगे—आज की तरह अपने

पड़ोसियों पर बल-प्रयोग करने की संभावना और औचित्य को स्वीकार न करें और न अपने व्यक्तिगत उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उस बल-प्रयोग में कोई भाग लें, बल्कि इसके विपरीत जीवन में इस मूलभूत और सर्वश्रेष्ठ नियम का पालन करें कि हमें दूसरों के साथ वैसा ही बर्ताव करना चाहिए जैस हम दूसरों से अपने लिए अपेक्षा रखते हैं—तो आज की विवेकरहित और निर्दय जीवन-व्यवस्था का बड़ी जल्दी अंत हो जाएगा और उसके स्थान पर लोगों के नए संस्कारों के अनुसार नई व्यवस्था कायम हो जाएगी।

जरा तो विचार कीजिए, जिस राज्य-संस्था की उपयोगिता नष्ट हो चुकी है, उसकी सेवा करने और क्रांति से उसकी रक्षा करने में कितनी अधिक बौद्धिक शक्तियों का व्यय किया जा रहा है। क्रांति के प्रयत्नों के पीछे और राज्य-सत्ता के साथ असंभव लड़ाई लड़ने में कितना युवकोचित और उत्साहयुक्त प्रयत्न किया जा रहा है; असंभव समाजवादी स्वप्नों को चरितार्थ करने के लिए कितनी शक्ति खर्च की जा रही है : जो लोग इस प्रकार बेकार अपनी शक्तियों को खर्च कर रहे हैं और बहुधा अपने पड़ोसियों को हानि पहुँचा बैठते हैं, यदि वे अपनी शक्तियों को आत्मविकास के निमित्त लगाएँ, जिसके द्वारा कि उत्तम समाज-व्यवस्था कायम हो सकती है, तो कितना अच्छा हो?

एक पुराने मकान को खड़ा रखने के लिए जो प्रयत्न किए जा रहे हैं, यदि वही प्रयत्न नया मकान बनाने और उसके लिए सामग्री तैयार करने के लिए दृढ़तापूर्वक और बुद्धिपूर्वक होने लगे तो नवीन ठोस सामग्री से हम कितने मकान न खड़े कर लेंगे? हाँ, यह हो सकता है कि नया मकान कुछ चुने हुए लोगों के लिए पुराने मकान की तरह आरामदेह और सुविधाजनक न हो; परंतु वह अधिक स्थायी अवश्य होगा और उसमें वे सब सुधार हो सकेंगे जो कुछ चुने हुए लोगों के लिए ही नहीं,बल्कि तमाम मनुष्यों के लिए आवश्यक होंगे।

अत: यहाँ मैंने जो कुछ कहा है वह सरल, सबको समझ में आने योग्य और अखंडनीय सत्य है। वह यह कि मनुष्यों में उत्तम जीवन की स्थापना करने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य पहले स्वयं उत्तम बने।

लोगों को अच्छे जीवन की ओर प्रेरित करने का एक ही मार्ग है और वह यह कि मनुष्य खुद अच्छा जीवन बिताए। इसलिए जो लोग मनुष्य-समाज में उत्तम व्यवस्था कायम करने में सहायक बनना चाहते हैं, उन्हें आत्मविकास के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। उन्हें बाइबिल की इस शिक्षा को चरितार्थ करना चाहिए कि—

'अपने परम पिता परमात्मा के समान पूर्ण बनो।'

समाजवाद

विलासिता को छोड़ देना चाहिए। जब तक धन, बल और आविष्कारों का प्रयोग अनावश्यक बातों के लिए किया जाता रहेगा तब तक कुछ न होगा। और यह जानने के लिए कि जनसाधारण के लिए क्या आवश्यक है, हमको हर वस्तु की परीक्षा कर लेनी चाहिए।

मुख्य बात यह है कि निर्दय विषमताओं को, जो हमारे लिए अभिशाप-रूप हैं, सहन करने के बजाए हमको अपनी सभ्यता के समस्त सुधारों को छोड़ने के लिए तैयार हो जाना चाहिए। यदि मैं वास्तव में अपने भाई से प्रेम करता तो जिस समय वह घर-बारविहीन हो, मैं उसको आश्रय देने के लिए अपनी बैठक खाली कर देने में संकोच न करूँगा। किंतु अभी स्थिति यह है कि हम यह कहते हैं कि हम अपने भाई को आश्रय देना चाहते हैं; किंतु इसी शर्त पर कि आने-जानेवालों के लिए हमारी बैठक खाली रहे। हमको यह निर्णय कर लेना चाहिए कि हमको किसकी पूजा करनी है—परमात्मा की या शैतान की। दोनों की एक साथ पूजा नहीं की जा सकती। यदि हमको परमात्मा की पूजा करनी है तो हमको भोग-विलास और सभ्यता का मोह छोड़ना होगा। हम उनको फिर अपना सकते हैं, किंतु तभी जब सर्वसाधारण समान रूप से उनका लाभ उठा सकें।

सबसे अधिक लाभदायक सामाजिक व्यवस्था, चाहे वह आर्थिक हो अथवा अन्य प्रकार की, वह होगी, जिसमें हरेक व्यक्ति दूसरों के भले का विचार करेगा और खुले दिल से उसके लिए अपनी शक्तियाँ खर्च करेगा। यदि सबकी यही मनोवृत्ति हो तो हरेक का अधिक-से-अधिक भला हो सकता है। इसके विपरीत सबसे हानिकर मानव-संगठन, आर्थिक अथवा अन्य प्रकार का वह है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति केवल अपने ही लिए कार्य करता है, अपनी ही चिंता रखता है और अपने ही लिए सामग्री जुटाता है। यदि सब लोग ऐसा ही करने लगे और कम-से-कम कुटुंबों का भी अस्तित्व न हो, जिनमें लोग एक-दूसरे के लिए कार्य करते हैं तो मेरा खयाल है कि मनुष्य जीवित नहीं रह सकता।

परंतु लोगों को दूसरों का हित-साधन करने की इतनी चिंता नहीं है। इसके विपरीत हरेक व्यक्ति दूसरों को नुकसान पहुँचाकर भी अपना ही हित-साधन करने की कोशिश करता है। लेकिन यह अवस्था इतनी हानिकर है कि मनुष्य जीवन-संघर्ष में अतिशीघ्र निर्बल पड़ जाता है और तब संभवत: एक आदमी दूसरों पर अधिकार जमा लेता है और उनसे अपने लिए काम कराता है। परिणाम यह निकलता है कि लाभरहित व्यक्तिगत श्रम के बदले अधिक लाभदायक श्रम होने लगता है।

किंतु मनुष्यों के ऐसे संगठनों में विषमता और उत्पीड़न का जन्म होता है। इसलिए लोग समानता स्थापित करने और मनुष्यों को आजादी दिलाने के प्रयत्न कर रहे हैं। वे सहयोग-समितियों आदि की स्थापना करते हैं और राजनैतिक अधिकारों के लिए लड़ते हैं। समानता स्थापित करने का हमेशा यह परिणाम निकलता है कि काम को नुकसान पहुँचता है। बराबर-बराबर वेतन देने के लिए सर्वश्रेष्ठ श्रमिक को निकृष्टतम श्रमिक के बराबर ला बिठाया जाता है। उपयोग की चीजों का इस तरह बँटवारा किया जाता है कि एक को दूसरे से अधिक या अच्छी चीजें नहीं मिलतीं। जमीन के बँटवारे में भी यही हो रहा है। यही कारण है कि जमीन छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटती जा रही हैं, जो सभी के लिए हानिकर है। राजनैतिक अधिकारों द्वारा उत्पीड़न से मुक्त होने की कोशिश के फलस्वरूप लोगों में पहले से भी अधिक उत्तेजना और दुर्भाव फैल रहे हैं। इस प्रकार समानता स्थापित करने और उत्पीड़न से मुक्ति पाने के प्रयत्न हो रहे हैं, जो अभी तक सफल नहीं हुए हैं। दूसरी ओर एक व्यक्ति का अधिक-से-अधिक जनसंख्या पर आधिपत्य बढ़ता ही जा रहा है। श्रम का जितना ही केंद्रीकरण होता है, उतना ही वह लाभदायक बन जाता है; किंतु साथ ही विषमता भी उतनी ही चुभनेवाली और असहनीय कायम हो जाती है। तो फिर ऐसी दशा में क्या किया जाए? व्यक्तिगत श्रम लाभरहित होता है, केंद्रित श्रम अधिक लाभदायक होता है। किंतु उसके साथ विषमता और उत्पीड़न भी कम भयंकर नहीं होते।

समाजवादी समस्त संपत्ति को राष्ट्र की, मानवता की संपत्ति बनाकर असमानता और उत्पीड़न का अंत करना चाहते हैं जिससे कि केंद्रीभूत संघ स्वयं मानव-समाज बन जाए। पहले तो मानव-समाज ही नहीं, विभिन्न राष्ट्र भी इसकी आवश्यकता को स्वीकार नहीं करते। दूसरे जहाँ सब लोग अपने-अपने हितों के लिए प्रयत्नशील हों, उस मानव-समाज में ऐसे व्यक्ति कहाँ मिलेंगे जो नि:स्वार्थ भाव से मानव-संपत्ति की व्यवस्था करें और अपनी सत्ता द्वारा अनुचित लाभ न उठाएँ अथवा दुनिया में पुन: असमानता और उत्पीड़न को जन्म न दें?

अत: मानवता के सम्मुख यह समस्या नग्नरूप में उपस्थित है : या तो केंद्रित श्रम द्वारा प्राप्त प्रगति को छोड़ा जाए—समानता में बाधा पहुँचने देने अथवा उत्पीड़न को सहन करने के बजाए पीछे की ओर भी भले ही हटा लिया जाए या यह स्वीकार कर लिया जाए कि असमानता और उत्पीड़न तो रहेंगे ही, जब लकड़ी को चीरा-फाड़ा जाएगा तो खप्पचे उड़ेंगी ही, उत्पीड़ित लोगों का अस्तित्व रहेगा ही और संघर्ष करना मानव समाज का नियम है। कुछ लोग वास्तव में ऐसा मानते भी हैं; किंतु साथ-ही-साथ अधिकार-रहित लोगों की चीख-पुकार, पीड़ितों के क्रंदन और

अन्याय पर क्रुद्ध हो उठनेवाले लोगों की सत्य और शुभ आदर्श के नाम पर, जिसको हमारा समाज केवल नाम के लिए ही स्वीकार करता है, आवाज तीव्र-से-तीव्र होती जा रही है।

परंतु यह बात एक बच्चे की समझ में भी आ सकती है कि यदि प्रत्येक व्यक्ति सर्वसाधारण के हित-साधन की चिंता करे और हरेक की एक कुटुंब के सदस्य की हैसियत के योग्य व्यवस्था की जाए तो सबका सबसे अधिक हित-साधन हो सकता है। चूँकि ऐसा होता नहीं है, हरेक के दिल में बैठा नहीं जा सकता, और सबको समझा सकना भी असंभव बात है, कम-से-कम इसके लिए बहुत लंबा समय चाहिए, इसलिए एक ही मार्ग रह जाता है। वह यह कि श्रम को केंद्रित किया जाए, जो कि कुछ लोगों के सर्वसाधारण पर आधिपत्य होने के कारण संभव हो रहा है और साथ ही नंग-भूखों की दृष्टि से धनवानों के राग-रंग को छिपाया जाए ताकि वे उस पर आक्रमण न कर सकें, और उत्पीड़ितों को सहायता पहुँचाई जाए। आज यही हो रहा है; किंतु पूँजी का केंद्रीकरण भी बढ़ता जा रहा है और असमानता तथा उत्पीड़न भी बढ़ते जा रहे हैं और अधिक कठोर हो रहे हैं? इसके साथ ही वस्तुस्थिति का ज्ञान भी व्यापक हो रहा है और असमानता और उत्पीड़न की निर्दयता उत्पीड़कों और उत्पीड़ितों दोनों पर ही अधिकाधिक प्रकट होती जा रही है।

इस दिशा में और आगे बढ़ना असंभव होता जा रहा है, इसलिए जो लोग थोड़ा सोचते हैं और तर्कयुक्त परिणामों को नहीं देखते, यह काल्पनिक उपाय सुझाते हैं कि ज्यादा हित-साधन करने के लिए लोगों को सहयोग की आवश्यकता का भान कराया जाए; किंतु यह बेकार बात है। यदि अपना अधिकाधिक हित-साधन करना ही उद्देश्य हो तो पूँजीवादी समाज-संगठन में प्रत्येक व्यक्ति उसे सिद्ध कर सकता है, और इसलिए ऐसे प्रयत्नों का परिणाम बातों के अतिरिक्त कुछ नहीं निकलता।

सब लोगों के लिए अत्यंत लाभकारी संगठन तब तक कायम नहीं हो सकता, जब तक प्रत्येक आदमी का उद्देश्य भौतिक हित-साधन करना रहेगा। वह तो तभी संभव होगा जब लोग उस ध्येय को करने का प्रयत्न करेंगे जो भौतिक सुख से बिल्कुल अलग है और अब हरेक व्यक्ति दिल से कहेगा, "धन्य हैं वे, जो गरीब हैं, धन्य हैं वे, जो आँसू बहाते हैं और धन्य हैं वे, जो सताए जाते हैं।" जब प्रत्येक व्यक्ति भौतिक नहीं, बल्कि आध्यात्मिक कल्याण की कामना करेगा—और यह हमेशा बलिदान द्वारा अंकित होता है—तभी सब लोगों का अधिक-से-अधिक कल्याण हो सकेगा।

यह सीधा-सा उदाहरण लीजिए। लोग एक साथ रहते हैं। यदि वे नियमित रूप से सफाई रखें, अपनी सफाई खुद करें तो सार्वजनिक सफाई के लिए हरेक को

बहुत थोड़ा श्रम करना पड़ा; किंतु यदि हरेक आदमी अपनी सफाई का काम दूसरों पर छोड़ दे तो जो उस स्थान को स्वच्छ रखना चाहे वह क्या करेगा? उसको सबका काम खुद करना पड़ेगा और गंदगी में लिपटना होगा। यदि वह ऐसा न करे, केवल अपना ही काम करे तो उसका उद्देश्य पूरा न होगा। अवश्य ही वह आसानी के साथ दूसरों को आज्ञा दे सकता है; किंतु उनमें कोई ऐसा नहीं है, जो आज्ञा दे सके। ऐसी दशा में एक ही मार्ग रह जाता है और वह यह कि वह दूसरों के लिए काम करे। और वस्तुत: जिस दुनिया में सब लोग अपनी-अपनी चिंता करते हों, यह असंभव है कि दूसरों का थोड़ा-सा काम कर देने से काम चल जाए। उसमें तो आदमी को अपने को संपूर्णत: समर्पित कर देना चाहिए। धर्म-भावना से प्रकाशित अंत:करण ठीक यही करने का आदेश देता है।

क्या कारण है कि न तो राजकीय बल-प्रयोग द्वारा और न क्रांति और राजकीय साम्यवाद द्वारा और न ही ईसाई समाजवादियों द्वारा प्रचारित साधनों से—अर्थात् लोगों में यह अधिकाधिक प्रचार किया जाए कि वह व्यवस्था अधिक लाभदायक होगी—पृथ्वी पर स्वर्ग की स्थापना होती है? जब तक मनुष्य का उद्देश्य अपने व्यक्तिगत जीवन का कल्याण रहता है, तब तक कोई भी उसको नहीं रोक सकता कि उसको अपना न्याय हिस्सा मिल चुका है और आगे उसे अपना संघर्ष बंद कर देना चाहिए अथवा मनुष्यों को ऐसी माँगों से आगे न बढ़ना चाहिए, जो सब लोगों के कल्याण के लिए आवश्यक हों। कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं कर सकता, कारण, पहले तो यह मालूम करना ही असंभव होगा कि कौन-सी जगह पहुँचने के बाद पूरा न्याय हो गया—मनुष्य हमेशा अपनी आवश्यताओं को बढ़ा-चढ़ाकर बताएँगे—और दूसरे यदि उचित जरूरतों को मालूम करना संभव भी हो तो मनुष्य जो उचित है केवल उसी के लिए माँग पेश नहीं कर सकता, क्योंकि उतना उसे मिलेगा ही नहीं, वह उससे कहीं कम पा सकेगा। समाज के दूसरे लोगों की जरूरत न्याय के आधार पर नहीं, बल्कि व्यक्तिगत लाभ के खयाल से निश्चित होंगी, उस अवस्था में यह प्रकट है कि हरेक व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति न्याय माँगों की अपेक्षा प्रतिस्पर्द्धा और संघर्ष के द्वारा अधिक हो सकेगी। ऐसा इस समय भी हो रहा है।

न्यायपूर्ण स्थिति कायम करने के लिए, जबकि लोग व्यक्तिगत हित-साधन के लिए ही सचेष्ट हैं, ऐसे लोगों की जरूरत होगी जो यह निश्चय कर सकें कि न्यायत: हरेक के हिस्से में कितनी सांसारिक वस्तुएँ आनी चाहिए। ऐसे सत्तावन लोगों की आवश्यकता होगी जो लोगों को अपने न्याय हिस्से से अधिक न लेने दें। आज भी ऐसे लोग हैं और पहले भी हुए हैं जिन्होंने यह कर्तव्य अपने सिर पर लिया है। ये और कोई नहीं, हमारे शासक ही हैं; किंतु अभी तक न तो सल्तनतों में और

न प्रजातंत्रों में ऐसे व्यक्ति पाए गए, जिन्होंने वस्तुओं की मात्रा निर्धारित करने और उनको लोगों में वितरित करने में अपने और अपने साथियों के लिए सीमा का उल्लंघन न किया हो और इस प्रकार उस काम को न बिगाड़ा हो, जिसे करने का भार दूसरों ने उनको सौंपा था अथवा जो भार स्वयं उन्होंने अपने सिर पर लिया था। इसलिए इस साधन को सभी लोग असंतोषजनक मानने लगे हैं। किंतु अब कुछ लोग यह कहते हैं कि वर्तमन राज्य-संगठनों के बजाए दूसरी किस्म के संगठन कायम किए जाएँ, जो मुख्यत: आर्थिक मामलों का नियंत्रण करें। यह संगठन इस बात को स्वीकार करे कि समस्त संपत्ति और जमीन सार्वजनिक है। ये मनुष्यों की श्रम की व्यवस्था करेंगे और उस श्रम के अनुसार अथवा जैसा कि कुछ कहते हैं उनकी आवश्यकताओं के अनुसार भौतिक सुख-साधनों का विभाजन करेंगे।

इस प्रकार के संगठन कायम करने के सभी प्रयत्न अब तक निष्फल रहे हैं। किंतु इस प्रयोग के बिना भी यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि व्यक्तिगत हित-साधन के लिए प्रयत्नशील मानव-समाज में इस प्रकार के संगठन नहीं बन सकते। कारण जो लोग आर्थिक मामलों की देखभाल करेंगे उनमें से बहुत-से ऐसे आदमी होंगे, जिन्हें अपने व्यक्तिगत हितों की चिंता होगी और ऐसे ही लोगों से वास्ता भी पड़ेगा, इसलिए नई आर्थिक व्यवस्था करने और उसे जारी रखने का कार्य करते हुए वे अनिवार्यत: पुराने शासकों की भाँति अपना व्यक्तिगत हित-साधन करेंगे और इस प्रकार उस कार्य का असली उद्देश्य ही नष्ट कर देंगे, जो कि उनके सुपुर्द किया गया है।

कुछ लोग कहेंगे, "ऐसे आदमियों को चुनो, जो बुद्धिमान और शुद्ध हृदय के हों।" किंतु जो बुद्धिमान और शुद्ध हृदय के होंगे वही तो बुद्धिमान और शुद्ध हृदय व्यक्तियों का चुनाव करेंगे। और यदि सभी बुद्धिमान और शुद्ध हृदयवाले हों तो किसी संगठन की आवश्यकता ही न रह जाएगी। इसलिए क्रांतिकारी समाजवादी जो कुछ कहते हैं, उसकी अशक्यता को वे स्वयं भी स्वीकार करते हैं। यही कारण है कि उनका सिद्धांत असामाजिक है और सफल नहीं हुआ।

अब ईसाई समाजवाद की शिक्षा को लीजिए। उसका मुख्य अस्त्र यह है कि लोगों के अंत:करण को प्रभावित करने के लिए उनमें प्रचार किया जाए। किंतु यह शिक्षा तभी सफल हो सकती है जब सब लोग सामुदायिक श्रम के फायदों को साफ-साफ समझ लें और यह अनुभूति सब लोगों को साथ-साथ हो जाए। जैसा कि प्रकट है दोनों में से एक भी बात नहीं हो सकती, इसलिए वह आर्थिक संगठन, जो प्रतिस्पर्द्धा और संघर्ष पर नहीं बल्कि सामुदायिक हितों पर निर्भर हो, कार्यरूप में परिणत नहीं हो सकता।

अत: जब तक मनुष्यों का उद्देश्य व्यक्तिगत हितसाधन रहेगा, तब तक वर्तमान की अपेक्षा उत्तम संगठन कायम न हो सकेगा।

ईसाई समाजवाद का जो लोग प्रचार करते हैं वे यह भूल करते हैं कि वे अपने धर्मशास्त्रों से केवल सार्वजनिक कल्याण के व्यावहारिक परिणाम को ही लेते हैं; किंतु वह उन धर्मशास्त्रों का उद्देश्य नहीं है। वह तो सिर्फ यह बताता है कि अमुक मार्ग सही है। ये धर्मशास्त्र जीवन का मार्ग बताते हैं और इस मार्ग पर चलने से भौतिक सुख की प्राप्ति भी हो जाती है। भौतिक सुख मिलता अवश्य है, किंतु लक्ष्य वह नहीं है। यदि इन धर्मशास्त्रों का उद्देश्य भौतिक सुख ही हो तो वह भौतिक सुख नहीं मिल सकता। उनका लक्ष्य तो अधिक ऊँचा और दूरवर्ती है। वह भौतिक सुख पर निर्भर नहीं करता। आत्मा की मुक्ति अर्थात् मानव-शरीर में जो दैवी तत्त्व निहित है, उसकी मुक्ति वह उद्देश्य है। व्यक्तिगत जीवन का त्याग करने से ही मुक्ति मिलती है। दूसरे शब्दों में भौतिक सुखों का त्याग करना चाहिए और अपने पड़ोसियों के हित-साधन के लिए सचेष्ट होना चाहिए। प्रेम के द्वारा इस उद्देश्य को सिद्ध करना चाहिए। ऐसे प्रयत्न के फलस्वरूप ही मनुष्य संयोगवश सब लोगों का सर्वश्रेष्ठ हित सिद्ध कर सकेगा अर्थात् पृथ्वी पर स्वर्ग की स्थापना कर सकेगा। व्यक्तिगत हितसाधन की चेष्टा से न तो व्यक्ति का और न सार्वजनिक हित सिद्ध होगा। आत्मविस्मृति की कोशिश से व्यक्तिगत और सार्वजनिक दोनों प्रकार के हित संपन्न होंगे।

सिद्धांतत: मानव-समाज का संगठन तीन प्रकार से हो सकता है : प्रथम तो यह कि सर्वश्रेष्ठ, ईश्वर-भक्त व्यक्ति लोगों के लिए ऐसा कानून बनाएँ जिससे मानव-समाज का अधिक-से-अधिक कल्याण हो सके और अधिकारी इस कानून का लोगों से पालन कराएँ। यह उपाय काम में लाया जा चुका है। उसका परिणाम यह निकला कि कानून का पालन करानेवाले अधिकारियों ने अपने सत्ता का दुरुपयोग किया और कानून की अवहेलना की। ऐसा केवल उन्होंने ही नहीं किया, बल्कि उनके सहयोगियों ने भी किया, जिनकी तादाद काफी होती है। इसके बाद दूसरी योजना सामने आई। इसमें अधिकारियों की कोई आवश्यकता नहीं समझी गई और यह कहा गया कि जब हरेक व्यक्ति अपने-अपने हित की चिंता करेगा तो न्याय की स्थापना हो जाएगी; किंतु यह योजना भी दो कारणों से सफल न हुई। पहला कारण तो यह है कि सत्ता को कायम रखा गया और लोग यह समझते रहे कि उसको कायम रखना पड़ेगा। कारण उत्पीड़न फिर भी जारी रहेगा ही, और सरकार डाक को पकड़ने में अपनी सत्ता का उपयोग न करेगी और न डाकू ही डकैती से विरत होगा।

जहाँ अधिकारियों का अस्तित्व होता है, अपने-अपने हितों के लिए लड़नेवाले लोगों की अवस्था समान नहीं होती। केवल यही नहीं कि कुछ लोग दूसरों की अपेक्षा अधिक बलवान होते हैं, बल्कि लोग अपने को बलवान बनाने के लिए सत्ता की मदद भी ले लेते हैं। दूसरे, जहाँ सब लोग अपने-अपने हितों के लिए संघर्ष करते हैं, एक आदमी को जरा-सी भी सुविधा मिल जाती है तो वह उससे कई गुना लाभ उठा सकता है और फलतः असमानता का उत्पन्न होना अनिवार्य हो जाता है। एक तीसरा सिद्धांत और रह जाता है। वह यह कि मनुष्य दूसरों के हितों की चिंता करना लाभदायक समझने लगेंगे और उस दिशा में प्रयत्नशील होंगे। ईसाई धर्म का यही सिद्धांत है। पहली बात तो यह कि इस सिद्धांत पर अमल होने के मार्ग में कोई बाह्य अड़चनें पैदा नहीं होतीं। चाहे सरकार, पूँजी, वगैरह और सारी-की-सारी वर्तमान व्यवस्था रहे या न रहे; जिस घड़ी मनुष्यों की जीवन-कल्पना ऐसी हो जाएगी, उस घड़ी यह उद्देश्य सिद्ध हो जाएगा। दूसरे, इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए कोई खास समय की आवश्यकता नहीं। कारण वह हर व्यक्ति जो इस जीवन-कल्पना को अपना लेगा और दूसरों का हित-साधन करने में अपने को लगा देगा, वह उसी क्षण से सार्वजनिक हित सिद्ध करने लगेगा। तीसरे मानव-जीवन के इतिहास के शुरू से ही यह बात होती आई है।

समाजवादी कहते हैं, ''संस्कृति और सभ्यता की जो सामग्री हमको मिली हुई है, उसको छोड़ना हमारे लिए आवश्यक नहीं है। यह भी आवश्यक नहीं है कि हम असंस्कृत जन-समुदाय की सतह पर पहुँच जाएँ। हम तो यह चाहते हैं कि जो लोग सांसारिक सुख-साधनों से वंचित हैं, उनको अपनी सतह पर ले आएँ और सभ्यता और संस्कृति के वरदानों में उनको भी साझीदार बनाएँ। विज्ञान की सहायता से हम यह कार्य संपादित कर सकते हैं। विज्ञान हमको प्रकृति पर विजय प्राप्त करने का मार्ग बताता है। उसके द्वारा हम प्रकृति की उत्पादन-शक्ति को बहुत बढ़ा सकते हैं। विद्युत के जोर से हम नियागरा प्रपात और नदियों तथा वायु की शक्तियों का उपयोग कर सकते हैं। सूर्य अपना काम करेगा और सब लोगों के लिए सब चीजों की बहुतायत होगी। आज तो मानव-समाज के एक बहुत थोड़े हिस्से को, जो अधिकारारूढ़ है, सभ्यता के लाभ सुलभ हैं और शेष भाग उनसे वंचित हैं। सुख-साधनों को बढ़ाओ और वे सबके लिए सुलभ हो जाएँगे।'' किंतु सच यह है कि अधिकार-संपन्न व्यक्ति अनंत काल से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति ही नहीं कर रहे, बल्कि जो कुछ वे प्राप्त कर सकते हैं, सबको हड़प कर जाते हैं, जिनकी उन्हें जरूरत भी नहीं होती। इसलिए सुख-सामग्री में चाहे जितनी वृद्धि क्यों न हो जाए, अधिकारारुढ़ व्यक्ति उस सबको हड़प कर जाएँगे।

कोई भी व्यक्ति आवश्यक वस्तुओं का एक सीमा के भीतर ही उपयोग कर सकता है; किंतु भोग-विलास की कोई सीमा नहीं होती। हजारों मन अनाज घोड़ों और कुत्तों के लिए काम में लिया जा सकता है, लाखों एकड़ जमीन में बगीचे लगाए जा सकते हैं और इस प्रकार अनेक बातें की जा सकती हैं। आज यही हो भी रहा है। इस प्रकार जब तक उच्च वर्गों के हाथ में सत्ता है और वे अतिरिक्त संपत्ति को भोग-विलास पर खर्च करने की इच्छा रखते हैं तब तक शक्ति और संपत्ति की मात्रा चाहे कितनी ही क्यों न बढ़ जाए, निम्न वर्गों के सुख-साधनों में रत्ती भर वृद्धि न होगी। इसके विपरीत उत्पादन-शक्ति के बढ़ने और प्रकृति पर प्रभुत्व स्थापित होने के फलस्वरूप उच्च वर्गों को, अधिकारारूढ़ व्यक्तियों को और भी सत्ता प्राप्त हो जाती है, जिसके द्वारा वे श्रमजीवी वर्गों को अपनी सत्ता के अधीन रख सकते हैं। और निम्न-वर्ग धनवानों से संपत्ति का हिस्सा बँटाने के लिए जितने प्रयत्न करते हैं—क्रांतियाँ, हड़तालें आदि—उतना ही संघर्ष बढ़ता है और संघर्ष से संपत्ति का नाश होता है। लड़नेवाले दल कहते हैं—यदि हमको सुख-सामग्री नहीं मिलती तो दूसरों को क्यों मिले?

दुनिया में सुख-सामग्री की नदी बहाने के लिए, जिससे हरेक को उसका हिस्सा प्राप्त हो सके, प्रकृति पर विजय प्राप्त करना और भौतिक संपत्ति को बढ़ाना ठीक वैसा ही बुद्धिरहित कार्य है, जैसा कि एक खुले मकान को गर्म करने के लिए चूल्हे में अंधाधुँध लकड़ी जलाना। आप चाहे जितना आग जलाइए, ठंडी हवा गर्म होकर ऊपर उठ जाएगी और उसका स्थान ठंडी हवा ले लेगी और इस प्रकार मकान में समान रूप में गर्मी न फैल सकेगी। यह स्थिति तब तक रहेगी, जब तक ठंडी हवा का आना और गर्म हवा का बाहर निकलना बंद नहीं होगा।

अब तक जो तीन उपाय सूचित किए गए हैं, वे सब इतने मूर्खतापूर्ण हैं कि यह कहना कठिन है कि उनमें सबसे अधिक मूर्खतापूर्ण उपाय कौन-सा है।

पहला उपाय क्रांतिकारियों का है। वे उच्च वर्गों को मिटा ही डालना चाहते हैं जो कि सारी संपत्ति को चट कर जाते हैं। यह तो ऐसी बात हुई कि जिस चिमनी से गर्मी बाहर निकल रही हो, उस चिमनी को ही तोड़ डाला जाए और यह आशा की जाए कि जब चिमनी न होगी तो गर्मी भी बाहर न निकलेगी। पर यदि प्रवाह वही रहा तो चिमनी की जगह जो सूराख जो जाएगा, उससे गर्मी ज्यों-की-त्यों निकलती रहेगी। इसी तरह जब तक सत्ता अवशिष्ट रहेगी, संपत्ति भी अधिकार-संपन्न व्यक्तियों के पास जाती रहेगी।

दूसरा उपाय विलियम कैसर ने आजमाया। उसने वर्तमान व्यवस्था को कायम

रखते हुए उच्च वर्गों के पास केंद्रित धन का थोड़ा-सा भाग लेकर दरिद्रता के असीम गर्त में डाला। यह तो ऐसी बात हुई कि कोई व्यक्ति चिमनी के सिरे पर, जहाँ से गर्मी निकल रही है, पंखे लगवा दे और उनकी सहायता से गर्म हवा को नीचे ठंडी सतह तक पहुँचाने का प्रयत्न करे। स्पष्ट है कि यह कार्य कठिन और बेकार है, कारण गर्मी नीचे से ऊपर को जाती है और कोई उसको नीचे की ओर धकेलने का चाहे जितना प्रयत्न क्यों न करे, उसको ज्यादा दूर नीचे नहीं धकेल सकता। वह एकदम ऊपर की ओर उठ जाएगी और इस प्रकार सारा प्रयत्न निरर्थक जाएगा।

तीसरा और अंतिम उपाय वह है, जिसका आजकल अमरीका में विशेष रूप से प्रचार किया जा रहा है। इसका आशय यह है कि जीवन के प्रतिस्पर्द्धात्मक और व्यक्तिवादी आधार के बजाए साम्यवादी सिद्धांत की स्थापना की जाए। लोग संगठन और सहयोग के सिद्धांत के आधार पर काम करें। शब्द और कार्य दोनों से सहयोग की शिक्षा दी जाए। इसके समर्थक कहते हैं कि प्रतिस्पर्द्धा, व्यक्तिवाद और संघर्ष से शक्ति और फलस्वरूप संपत्ति का बड़ा क्षय हो रहा है। इसकी अपेक्षा सहयोग के सिद्धांत द्वारा कहीं अधिक लाभ उठाया जा सकता है। अर्थात् हरेक व्यक्ति सामुदायिक हित के लिए कार्य करे और बाद में उसको सामुदायिक संपत्ति का अपना हिस्सा मिल जाए। यह बात हरेक व्यक्ति के लिए पहले से अधिक लाभकर सिद्ध होगी। यह सब बड़ी बढ़िया बात है; किंतु इसका निकृष्ट पहलू भी है। वह यह कि प्रथम तो यह कौन जानता है कि जब संपत्ति का समान विभाजन होगा तो हरेक व्यक्ति का हिस्सा क्या होगा? इसके अलावा हरेक व्यक्ति का हिस्सा चाहे जितना हो, लोग आज-कल जैसी जिंदगी बिता रहे हैं, उसको देखते हुए वह हिस्सा उनको अपर्याप्त ही मालूम होगा। "सब कुछ अच्छा ही होगा और आपको दूसरों के समान ही उपभोग करने का अवसर मिलेगा।"—"किंतु मैं तो दूसरों के समान नहीं रहना चाहता; मैं उनसे अच्छा जीवन बिताना चाहता हूँ। मैं हमेशा दूसरों से अच्छी दशा में रहा हूँ। और मैं वैसे जीवन का अभ्यस्त हो चुका हूँ।"—"और जहाँ तक मेरा संबंध है, मैं औरों की अपेक्षा निकृष्ट हालत में रहा हूँ और अब मैं वैसा ही जीवन बिताना चाहता हूँ जैसा कि दूसरे बिताते आए हैं।" यह उपाय सबसे ज्यादा निकम्मा है। कारण उसमें यह मान लिया गया है कि हम जब ऊपर की ओर बढ़ने का प्रयत्न करते हैं, सर्वश्रेष्ठ स्थिति प्राप्त करना चाहते हैं तो हमारे खयाल से वायु के परमाणुओं को गर्मी की मात्रा के अनुसार ऊपर उठने से रोका जा सकता है।

यदि कोई उपाय है तो वह यह है कि लोगों को उनके वास्तविक कल्याण का दर्शन कराया जाए। उनको बताया जाए कि संपत्ति वरदान नहीं है। उल्टे वह तो वास्तविक कल्याण पर पर्दा डालकर मनुष्यों को उससे विमुख करती है।

इसका केवल एक ही उपाय है। वह यह है कि सांसारिक इच्छाओं रूपी छिद्र को बंद किया जाए। इसी के द्वारा सर्वत्र समान उष्णता पहुँचेगी; किंतु समाजवादी ठीक इसके विपरीत बात करते हैं और कहते हैं कि पैदावार बढ़ाने की कोशिश करने से समाज की संपत्ति में वृद्धि होती है।

अराजकतावाद

अराजकतावादी जो कुछ कहते हैं, वह सही है। वर्तमान व्यवस्था हमारे लिए मान्य नहीं हो सकती। उनका यह कथन भी ठीक है कि मौजूदा परिस्थितियों में सत्ता के होते हुए जो हिंसा होती है, उससे अधिक हिंसा सत्ता का अस्तित्व न रहने पर न होगी। उनकी सिर्फ यही धारणा गलत है कि अराजकता क्रांति के द्वारा कायम की जा सकती है। उसकी स्थापना तो तभी हो सकती है, जब ऐसे लोगों की संख्या अधिकाधिक बढ़ती जाएगी जो सत्ता के संरक्षण की आवश्यकता महसूस न करेंगे और उसका सहारा लेने में लज्जा अनुभव करेंगे।

"पूँजीपति-संगठन श्रमजीवियों के हाथों में चला जाएगा। उस समय इन श्रमजीवियों का उत्पीड़न बंद हो जाएगा और धन का असमान विभाजन भी न होगा।"

"किंतु उस समय काम के साधन अर्थात् कारखाने कौन स्थापित करेगा और उनकी व्यवस्था कौनं करेगा?"

"यह सब अपने-आप होने लगेगा; श्रमजीवी स्वयं सब व्यवस्था कर लेंगे।"

"किंतु पूँजीपति-संगठन कायम ही इसलिए हुआ था कि हर किस्म के असली काम के लिए सत्ताधारी संचालकों अथवा व्यवस्थापकों की आवश्यकता अनुभव की गई। यदि कारखाने होंगे तो सत्ताधारी संचालक और व्यवस्थापक भी रहेंगे। और जहाँ सत्ता होगी, वहाँ उसका दुरुपयोग भी होगा अर्थात् जिस बात को आप रोकना चाहते हैं, वह होकर रहेगी।"

इस प्रश्न का उत्तर नहीं दिया जा सकता कि राज्य-संस्था के बिना हम कैसे रहेंगे। कारण कि यह प्रश्न ही गलत रूप में पूछा जाता है। प्रश्न यह नहीं है कि हम वर्तमान राज्य-संस्था के नमूने की या नए नमूने की राज्य-सत्ता की स्थापना कैसे करें। न तो मैं और न हममें से और कोई व्यक्ति इस प्रश्न का निर्णय करने के लिए नियुक्त किए गए हैं। फिर भी हमें इस प्रश्न का उत्तर तो देना ही होगा कि नित्यप्रति हमारे सामने जो समस्या उपस्थित होती है, उसका हम किस प्रकार सामना करेंगे?

जो काम हमारे चारों ओर होते रहते हैं क्या हम अपने अंत:करण के विरुद्ध उनको मान लें अथवा हम अपने अंत:करण के अनुसार आचरण करें और जो कार्य हमारी बुद्धि की कसौटी पर खरे न उतरें उनमें कोई हिस्सा न लें? इसका परिणाम क्या होगा; किस प्रकार की राज्य संस्था होगी, यह हम कुछ नहीं जानते। यह बात नहीं है कि हम जानना नहीं चाहते, बल्कि हम जान नहीं सकते। हम सिर्फ यह जानते हैं कि यदि हम विवेक और प्रेम अथवा विवेकपूर्ण प्रेम, जो हमारे व्यक्तित्व में विद्यमान है के श्रेष्ठतर पथ-प्रदर्शन में चलेंगे तो कोई बुरा परिणाम नहीं निकलेगा, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि मधुमक्षिका अपनी अंत:प्रवृत्ति के अनुसार अन्य मधुमक्षिकाओं के साथ समूह रूप में अपने छत्ते से, हम यों कह सकते हैं बर्बाद होने के लिए उड़कर चली जाती है और उसका कोई दुष्परिणाम नहीं निकलता। तब भी हम फिर यह कहेंगे कि हम न तो इस प्रश्न का निर्णय कर सकते हैं और न करना ही चाहते हैं।

महात्मा ईसा की शिक्षा की महत्ता इसी में है—यह बात नहीं कि ईसा परमात्मा अथवा महापुरुष थे, बल्कि बात यह है कि उनकी शिक्षाएँ ऐसी हैं, जिनका खंडन नहीं किया जा सकता। उनकी शिक्षा की विशेषता यह है कि उसमें समस्या को कल्पना के क्षेत्र से निकालकर वास्तविकता के क्षेत्र में पहुँचा दिया गया है। "तू एक मनुष्य है, विवेकवान और दयालु प्राणी है, और तू यह भी जानता है कि तुझमें ये गुण सर्वश्रेष्ठ है। इसके अलावा तू यह भी जानता है कि आज या कल तुझे मरना है, विलीन हो जाना है। यदि कहीं ईश्वर है तो तुझे उसके सामने आना होगा और वह तुझसे तेरे कामों का हिसाब माँगेगा। वह पूछेगा कि तूने ईश्वरीय नियम के अनुसार अथवा अपनी आत्मा के उच्च गुणों के अनुसार आचरण किया है या नहीं? यदि ईश्वर कहीं नहीं है तो तू विवेक और प्रेम को ही सर्वोच्च गुण समझ और अपनी अन्य सब मनोवृत्तियों को उनके अधीन कर दे, न कि उन गुणों को तेरे पशु-स्वभाव के अधीन होने दे, जीवन-सामग्री की चिंता, कष्ट-भय और भौतिक संकटों से उनको दूर रख।"

मैं पुन: कहता हूँ कि प्रश्न यह नहीं है कि कौन-सा समाज श्रेष्ठ होगा—हथियारों, तोपों और फाँसी से सुरक्षित अथवा इन साधनों से रहित। किंतु मनुष्य के सामने केवल एक ही प्रश्न है। और उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। "क्या तू, जो एक विवेकवान और भला प्राणी है, जो थोड़े से समय के लिए इस संसार में आया है और किसी भी क्षण यहाँ से विदा हो सकता है—भूल करनेवाले आदमियों अथवा भिन्न जाति के मनुष्यों को मौत के घाट उतारने में सहायक होगा? क्या तू जंगली कही जानेवाली जातियों के समूल विनाश में हिस्सा लेगा? क्या तू पैसे के लिए शराब और अफीम के द्वारा मनुष्यों की पीढ़ियों के अस्वाभाविक विनाश में

सहयोग देगा? क्या तू ऐसे कार्यों में भाग लेना अथवा उन लोगों के साथ सहमत होगा, जो इन कार्यों को होने देते हैं? बोल—तू क्या करेगा?"

जिन लोगों के सामने भी यह प्रश्न आ गया, उनका केवल एक ही उत्तर हो सकता है। इसका परिणाम क्या निकलेगा, मैं नहीं जानता। कारण मेरे पास यह जानने का साधन नहीं है; किंतु मैं यह निश्चित रूप से जानता हूँ कि ऐसी स्थिति में करना क्या चाहिए।

यदि तुम पूछो, "होगा क्या?" तो मैं उत्तर दूँगा कि परिणाम अच्छा ही निकलेगा। कारण, विवेक और प्रेम के अनुसार आचरण कर मैं उस सर्वश्रेष्ठ नियम का अनुसरण कर रहा हूँ, जिसका कि मुझे पता है।

अधिकांश आदमी, जिनका हृदय सच्चे भ्रातृत्व के प्रकाश से प्रकाशित है, इस समय अपहरणकारियों की धूर्तता और पाखंड के शिकार बन रहे हैं। वे उनको अपना जीवन बर्बाद करने के लिए विवश कर रहे हैं। यह भयंकर स्थिति है और अत्यंत निराशाजनक प्रतीत होती है। इन अधिकांश लोगों को तो ही मार्ग नजर आते हैं। एक तो यह कि हिंसा का मुकाबला हिंसा से किया जाए, आतंकवाद, विस्फोटक बमों और पिस्तौलों का सहारा लिया जाए—जैसा कि निहिलिस्ट संप्रदाय के अनुयायियों और अराजकतावादियों ने लेने का प्रयत्न किया है। दूसरा, यह कि सत्ता के साथ समझौता कर लिया जाए, उसमें भाग लिया जाए और इस प्रकार लोगों को धीरे-धीरे उस पाश से मुक्त किया जाए जिसमें उनको जकड़ दिया गया है। किंतु यह दोनों ही रास्ते बंद हैं।

जैसा कि अनुभव से सिद्ध हो चुका है, बम और पिस्तौल प्रतिक्रिया ही पैदा करते हैं और हमारी सबसे बहुमूल्य शक्ति अर्थात् लोकमंत की शक्ति नष्ट हो जाती है। दूसरा रास्ता इसलिए बंद है कि राज्य-संस्थाएँ यह अच्छी तरह जानती हैं कि सुधारकों को किस हद तक अपने कामों में दखल देने दें। अधिकारी सिर्फ उसी बात को स्वीकार करते हैं जो उनकी व्यवस्था को तोड़नेवाली नहीं होती, किंतु यह महत्त्व की बात नहीं। पर जो वस्तु उनके लिए हानिकारक होती है, उसके प्रति वे बड़े सशंक होते हैं। वे उन व्यक्तियों को भी अपने साथ ले लेते हैं, जो उनके विचारों से सहमत नहीं होते और सुधार करना चाहते हैं। ऐसा केवल इसीलिए नहीं करते कि वे इन लोगों की माँगें पूरी करना चाहते हैं, बल्कि अपने और अपने शासन-तंत्र के हित की दृष्टि से भी ऐसा करते हैं। ये लोग यदि शासन-तंत्र से अलग रहें और उसका विरोध करें तो उसके लिए बड़े खतरनाक सिद्ध हो सकते हैं। इसलिए अधिकारी इन लोगों को रियायतों द्वारा आकर्षित करके निरस्त्र बना डालते हैं और

फिर अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए उनका उपयोग करते हैं अर्थात् उनसे जनता के शोषण और उत्पीड़न में सहायता लेते हैं। इस प्रकार जब ये दोनों ही मार्ग मजबूती के साथ बंद कर दिए गए हैं और उनमें प्रवेश करना महाकठिन है, तब हमारे सामने और कौन-सा मार्ग शेष रह जाता है? हिंसा का उपयोग करना असंभव है, उससे केवल प्रतिक्रिया का जन्म होगा। अधिकारियों का साथ देना भी संभव नहीं, क्योंकि उस दशा में उनके हाथ की कठपुतली बन जाना पड़ता है। अत: एक मार्ग शेष रह जाता है और वह यह कि मन, वचन और कार्य से अन्याय का प्रतिकार किया जाए; अन्याय का साथ देकर उसकी शक्ति को न बढ़ाया जाए। आवश्यकता है तो केवल इसी बात की और यह अवश्य सफल होगी। यही ईश्वर की आज्ञा है और यही महात्मा ईसा की शिक्षा है।

तीन उपाय

श्रमजीवियों की अवस्था सुधारने और मनुष्यों में भ्रातृत्व स्थापित करने के तीन उपाय हैं :

(1) अपने लिए दूसरे से काम न कराना। प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रीति से भी उनसे काम करने को न कहना अर्थात् ऐसी चीजों की यानी भोग-विलास की चीजों की माँग न करना, जिनके लिए कि परिश्रम करने की आवश्यकता पड़ती है।

(2) जो काम कठोर और अरुचिकर हों, उनको अपने लिए और यदि संभव हो तो दूसरों के लिए भी स्वयं करना।

(3) प्रकृति के नियमों का अध्ययन करना और ऐसे तरीकों का आविष्कार करना, जिनसे परिश्रम की कठोरता कम हो—जैसे : यंत्र (मशीनरी), भाप, बिजली आदि। यह वास्तव में एक साधन नहीं, बल्कि दूसरे उपाय का परिणाम और प्रयोग होना चाहिए। जब मनुष्य स्वयं अपने परिश्रम की कठोरता को कम करने के लिए, अथवा कम-से-कम ऐसे श्रम की कठोरता कम करने के लिए, जिसका उसने स्वयं अनुभव किया हो, आविष्कार करेगा, तभी वह ऐसी चीजों का आविष्कार करेगा, जिसकी वास्तव में आवश्यकता है। उस दशा में वह किसी अनावश्यक आविष्कार पर अपनी शक्ति व्यय न करेगा।

आजकल मनुष्य केवल तीसरे ही उपाय को काम में ला रहे हैं और वह भी गलत तौर पर, कारण वे दूसरे उपाय से दूर ही रहते हैं। वे पहले और दूसरे उपाय को आजमाने के लिए न केवल तैयार ही नहीं हैं, बल्कि उनके विषय में कुछ सुनना तक नहीं चाहते।

स्थायी क्रांति तो केवल एक ही हो सकती है और वह है नैतिक अर्थात् मनुष्य की आत्मा का पुनरुद्धार हो। यह क्रांति किस प्रकार हो? किसी को ज्ञात नहीं कि मानव-समाज में यह क्रांति किस प्रकार होगी; किंतु प्रत्येक मनुष्य इसको अपने भीतर स्पष्टत: अनुभव करता है। पर विचित्र बात तो यह है कि इस दुनिया में हरेक मानव-समाज को बदलने के विषय में तो सोचता है, किंतु खुद अपने को बदलने के बारे में कुछ नहीं सोचता।

लोगों ने गुलामी की प्रथा को मिटा दिया और अपने घरों में गुलाम रखना भी बंद कर दिया; किंतु अपना अमीराना रहन-सहन नहीं छोड़ा। उन्हें अब भी दिन में कई बार अपने कपड़े बदलने की आवश्यकता पड़ती है, एक के बजाए उन्हें अपने रहने के लिए, दस-दस कमरे चाहिए, उन्हें नित्य प्रति पाँच पकवानों से भरे थाल चाहिए; मोटर और फिटन चाहिए आदि-आदि। और ये सब भोग-विलास की सामग्री कहाँ से आए यदि मनुष्य कारखानों में गुलामी की भाँति काम न करे? यह स्पष्ट सत्य है; किंतु कोई इसको देखता नहीं।

●

हमारे ज़माने की गुलामी

अनुवादक
बैजनाथ महोदय

हमारे ज़माने की गुलामी

अंगरेज लेखक अंकों का हिसाब लगाकर इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि उच्च वर्गों के लोगों की औसत उम्र करीब पचपन वर्ष होती है और अस्वास्थ्यकर पेशा करनेवाले मजदूरों की उनतीस वर्ष। इस यथार्थ सत्य से हम अपनी आँखें नहीं मूँद सकते।

इस प्राण-नाशक परिश्रम से हम प्रतिदिन लाभ उठाते रहते हैं। अत: यदि हम पशु नहीं हैं तो यह जान लेने पर हमें एक क्षण-भर भी चैन न पड़नी चाहिए। पर बात ठीक इसके विपरीत है। हम संपन्न लोग उदारता और भूत-दया के हिमायती—जो न केवल मनुष्य के दु:खों से बल्कि अन्य प्राणियों के दु:खों से भी दुखी हो जाते हैं, इस परिश्रम का अविरत उपयोग करते रहते हैं और उत्तरोत्तर अधिकाधिक धन एकत्र करने की कोशिश करते हैं अर्थात् ऐसे कामों से अधिकाधिक लाभ उठाते हैं। और विशेषता यह है कि इससे हमें जरा भी कष्ट नहीं होता। एक उदाहरण लीजिए। हमें ज्ञात होता है कि रेल में काम करनेवाले कुछ मजदूर सैंतीस-सैंतीस घंटे काम करते हैं और गंदे स्थानों में रह रहे हैं। हम फौरन एक निरीक्षक को, जो काफी तनख्वाह पाता है, इसकी तहकीकात करने के लिए भेजते हैं। हम उन्हें बारह घंटे से अधिक काम करने से मना कर देते हैं। और (उनकी आय के इस तरह एक तिहाई घट जाने पर भी) उन्हें खूब खाने-पीने और अपना जीवन अच्छी तरह व्यतीत करने के लिए छोड़ देते हैं। साथ ही हम रेलवे कंपनी को इन मजदूरों के रहने के लिए एक बड़ा-सा सुविधा-जनक मकान बनाने के लिए भी मजबूर करते हैं। अब खूब निश्िंचत हो मजे में हम पुन: उस रेल से माल भेजना और मँगाना शुरू कर देते हैं और अपनी तनख्वाहें, मुनाफा और जमीन तथा मकानों का किराया उसी तरह वसूल करने लग जाते हैं। पर जब हम सुनते हैं, बल्कि देखते भी हैं कि स्त्रियाँ और लड़कियाँ अपने घर-बार छोड़-छोड़ रेशम की मिलों में आकर काम करती हैं, और अपना तथा अपने बच्चों का जीवन नष्ट करती हैं, हम जानते हैं कि अधिकांश धोबिनें, जो हमारे कपड़ों को धो-धोकर कलफ चढ़ाती और इस्तरी करती हैं, क्षयी होकर मर जाती हैं; हम यह भी जानते हैं, कि दिन में चंद मिनटों के लिए हमारा दिल बहलानेवाले अखबारों को कंपोज करने और छापनेवाले बेचारे कंपोजीटर भी इसी भीषण रोग के शिकार हो-होकर असमय काल-कवलित होते हैं, तब यह जान लेने पर भी हम मुँह बनाकर केवल इतना ही

कहकर रह जाते हैं कि ऐसा होता है तो बड़े दु:ख की बात है; किंतु हमारे किए क्या हो सकता है। हमारे दिल पर उसका कुछ असर ही नहीं होता। हम उसी तरह उन मिलों के बने कपड़े खरीदते रहते हैं, उसी तरह इस्तरीदार धुले कपड़े पहनते रहते हैं और उसी प्रकार पहले की भाँति अखबारों से अपना दिल भी बहलाया करते हैं। हमें इसकी बड़ी चिंता होती है कि दुकानों पर काम करनेवाले मुनीमों को कहीं अधिक समय तक काम तो नहीं करना पड़ता। इससे भी अधिक चिंता होती है हमें अपने बच्चों की, जो देर-देर तक पाठशालाओं में पढ़ते रहते हैं। हम इक्के और गाड़ीवालों को अधिक सवारियाँ बैठाने से मना करते हैं जिससे घोड़े और बैलों को अधिक कष्ट न होने पावे। इतना ही नहीं, बल्कि इस गरज से कि बूचड़खानों में मारे जानेवाले प्राणियों को मरण-वेदनाएँ अधिक न होने पाएँ, उनकी हत्या करने के अच्छे-से-अच्छे और सुधरे हुए उपायों की खोज भी करते रहते हैं। पर ज्यों ही उन गरीब मजदूरों का सवाल हमारे सामने आता है हम एकदम आश्चर्यजनक रीति से अंधे हो जाते हैं। बेचारे मजदूर, अनेक यातनाएँ भोगकर, परिश्रम करके बरबाद होते रहते हैं और हम उस परिश्रम का फल अपने भोग-विलासों में लगाते हैं-आनंद करते रहते हैं।

वर्तमान पद्धति का विज्ञान द्वारा समर्थन

हम लोगों के इस आश्चर्यजनक अंधेपन की मीमांसा केवल एक ही प्रकार से की जा सकती है। जब लोग दुराचारी हो जाते हैं तब वे अपने दुराचार का समर्थन करने के लिए एक तत्त्व-ज्ञान का आविष्कार करते हैं। वे उसकी सहायता से साबित करते हैं कि उनका दुराचार वास्तव में दुराचार ही नहीं, बल्कि ऐसे नियमों का परिणाम है जिनको बदल देना हमारी शक्ति से बाहर है। यह बात प्राचीन काल से चली आई है। तब कहा जाता था कि परमात्मा की लीला अपरंपार है, अपरिवर्तनीय है। वह अपनी इच्छा के अनुसार किसी को राजा बना देता है और किसी को रंक, किसी के भाग्य में लिख देता है कि वह दरिद्र ही बना रहे, नित्य कठिन परिश्रम करके अपना पेट पालता रहे और किसी को वैभव के उच्चतम शिखर पर बैठा देता है।

इसी विषय पर ढेरों किताबें लिखी गईं और अगणित व्याख्यान तथा उपदेश भी दिए गए। यथासंभव प्रत्येक दृष्टि से इस विषय को विशद किया गया, बताया गया कि परमात्मा ने ही अमीर और गरीब—मालिक और गुलाम—भिन्न-भिन्न प्रकार के लोग बनाए हैं। इनको अपनी-अपनी परिस्थिति से संतुष्ट रहना चाहिए। यह भी कहा गया कि गुलामों को इसका बदला परलोक में मिल जाएगा। लोगों को समझाया गया

कि यद्यपि गुलाम गुलाम ही रहेंगे, और उन्हें गुलाम रहना भी चाहिए, तथापि यदि मालिक उनके साथ दयापूर्ण व्यवहार करेंगे, तो उनकी दुर्दशा न रह जाएगी। अंत में, जबकि गुलामों की प्रथा उठा दी गई, तो कहा गया कि परमात्मा ने उनके कुछ लोगों को संपत्ति इसलिए दे रखी है कि वे उसके कुछ हिस्से को अच्छे कामों में लगाया करें, इसलिए यदि कुछ लोग धनी रहें और अन्य गरीब भी बने रहें, तो कोई अनिष्ट बात नहीं है।

बहुत समय तक ये दलीलें अमीर और गरीब दोनों (खासकर अमीरों) का समाधान करती रहीं। पर एक दिन अवश्य ही इनकी नि:सारता सब पर प्रकट हो गई और गरीबों में असंतोष फिर बढ़ गया। वे अपनी परिस्थिति को जानने लग गए। अब पुन: नवीन मीमांसाओं की आवश्यकता उपस्थित हुई और ठीक समय पर वे पेश भी की गईं। अब की बार ये मीमांसाएँ विज्ञान और अर्थशास्त्र का रूप धारण करके आईं। अर्थशास्त्र ने श्रम-विभाग और मनुष्यों में परिश्रम के फल के बँटवारे के नियमों को खोजा। उसने बताया कि श्रम-विभाग और परिश्रम के फलोपभोग, उपज और माँग, पूँजी, किराया, मजदूरी, कीमत और मुनाफ़ा आदि पर निर्भर है। स्थूल दृष्टि से कहना चाहें तो वे ऐसे नियमों पर निर्भर हैं जिनमें मनुष्य कभी रद्दो-बदल नहीं कर सकता और जो उसकी आर्थिक हलचलों का हमेशा नियमन करते हैं।

बड़े लंबे समय तक लोग इस दलील से संतुष्ट रहे कि यह परमात्मा की इच्छा है कि कुछ लोग दास बने रहें और कुछ उनके मालिक। पर इससे मालिकों की क्रूरता को उत्तेजना मिला। फलत: धीरे-धीरे मालिकों की निर्दयता इतनी बढ़ गई कि गुलाम उसके प्रतिकार को कोई उपाय ढूँढ़ने लगे और इस उपर्युक्त दलील की सच्चाई में संदेह उत्पन्न हो गया।

अर्थशास्त्र द्वारा पेश की गई इस नवीन दलील की भी यही हालत हुई। कुछ समय तक इसने बड़ी-बड़ी आशाएँ दिखाईं। श्रमजीवियों से कहा गया कि आर्थिक उत्क्रांति बहुत तेजी से आगे बढ़ रही हैं। उसके नियम अटल हैं। कुछ लोगों को धन संचय करके और दूसरों को जीवन-भर अविरत परिश्रम करके, उस संपत्ति को बढ़ाने का यत्न करते रहना चाहिए। इस तरह उन्हें धीरे-धीरे उस महान् परिवर्तन के लिए अपने को तैयार करना चाहिए जबकि माल पैदा करने कि तमाम साधनों पर राष्ट्र का अधिकार हो जाएगा। पर ये सब आशाएँ व्यर्थ हुईं। यह सिद्धांत तो कुछ लोगों को अपने भाइयों के प्रति पहले से भी अधिक निर्दय बनाने लगा। फलत: अब तो वह सर्व-साधारण में भी, जिन्हें विज्ञान ने अंधा नहीं बना दिया है, गहरे संदेह उत्पन्न करने लग गया है।

यंत्रालय—1

पर श्रमजीवियों की इस दुरवस्था का कारण यह नहीं कि माल को पैदा करने के तमाम साधनों को पूँजीपतियों ने अपने अधीन कर रखा है। सच्चा करण तो वह है जो उन्हें अपने देहात से निकाल भगाता है। सबसे पहली बात वही है। दूसरे, विज्ञान इन्हें भले ही इस घृणित जीवन से उस दूरवर्ती भविष्य में मुक्त करने का आश्वासन देता रहे, पर उनकी मुक्ति न तो काम का समय घटाने से, न मजदूरी बढ़ाने से और न उत्पादक साधनों को राष्ट्र की संपत्ति बना देने से ही हो सकती है।

यह सब उनकी दशा को सुधार भी नहीं सकते। रेल तथा किसी कपड़े की मिल या कारखाने में काम करनेवाले श्रमजीवी की दुर्दशा का प्रधान कारण कम या ज्यादा समय तक काम करना नहीं है। किसान कभी-कभी दिन में अठारह-अठारह घंटे काम करते हैं, बल्कि यहाँ तक कि कभी-कभी वे छत्तीस-छत्तीस घंटे तक एक-सा काम किया करते हैं और फिर वे अपने को सुखी समझते हैं। श्रमजीवियों की दुर्दशा का कारण यह भी नहीं कि वह रेलवे या मिल, (जिसमें वे काम करते हैं) उनकी अपनी नहीं होती; बल्कि सच्चा कारण तो यह है कि उन्हें मजबूर होकर हानिकर, अस्वाभाविक और ऐसी जगहों और परिस्थितियों में काम करना पड़ता है जहाँ जान का खतरा होता है; साथ ही शहरों में उन्हें खराब, तंग और गंदे मकानों में रहकर ऐसा जीवन व्यतीत करना पड़ता है जिसमें कदम-कदम पर प्रलोभन और पतन की सामग्री होती है। और इतने पर भी उसे मजबूर होकर दूसरे की आज्ञा में रहकर उसकी इच्छानुसार काम करना पड़ता है।

कुछ दिनों से परिश्रम का समय घटा दिया गया है और मजदूरों की तनख्वाहें बढ़ा दी गई हैं। पर यदि उनकी बढ़ी हुई विलासपूर्ण आदतों का खयाल न करें तो इससे उनका सच्चा कल्याण नहीं हुआ है। यह ठीक है कि अब वे कलाइयों पर घड़ियाँ लगाने लगे हैं, बीड़ी-सिगरेट अधिक पीने लग गए हैं और शराबखोरी आदि भी बढ़ गई है। पर इससे उनका क्या कल्याण हुआ? उनका स्वास्थ्य, चारित्र्य और स्वाधीनता कितनी बढ़ गई?

मजदूरों के काम का समय घट गया है और उनकी तनख्वाहें बढ़ गई हैं। पर आज जहाँ चाहें जाकर देखिए, देहात में काम करनेवाले मजदूरों की अपेक्षा इन कारखानों में काम करनेवाले मजदूरों का स्वास्थ्य, उनकी औसत उम्र आदि अत्यंत असंतोषजनक दिखाई देंगी। आप उन्हें नीति और सदाचार में भी देहात के मजदूरों की अपेक्षा पतित देखेंगे। ग्रामीण-जीवन अत्यंत स्वाभाविक अतएव नीति-वर्धक, स्वतंत्र, स्वास्थ्यकर और नवीनता से भरा हुआ होता है। पारिवारिक जीवन के लिए देहात बड़े ही अनुकूल

होते हैं। किसान का पवित्र जीवन आत्मा के विकास के लिए स्वभावतः परमोपयोगी है। क्या ऐसे सुंदर स्वाभाविक जीवन के बिछुड़ने पर मनुष्य का पतन अनिवार्य नहीं है?

कुछ अर्थशास्त्री कहते हैं, 'परिश्रम का समय कम कर देने पर, मजदूरों की तनख्वाहें बढ़ जाने पर, और कल-कारखानों में स्वास्थ्यवर्धक सुधार कर देने के बाद पहले की अपेक्षा मिल मजदूरों के स्वास्थ्य और चारित्र्य में काफी तरक्की हो जाती है। कदाचित् यह सत्य हो। शायद यह भी सत्य हो कि इधर-उधर और कुछ स्थानों में देहात में रहनेवाले श्रमजीवियों की अपेक्षा कल-कारखानों में काम करनेवाले मजदूरों का जीवन, जहाँ तक बाहरी बातों का संबंध है, अधिक अच्छा दिखाई दे। पर यह तो कुछ ही स्थानों की बात है, सो भी उस हालत में जबकि सरकार और समाज ने, विज्ञान के आदेशों से प्रभावान्वित हो देहात की जनता के स्वत्वों की बलि चढ़ाकर भी, कारखानों में काम करनेवाले मजदूरों की स्थिति सुधारने के लिए वह सब कुछ कर डाला, जो कि वे कर सकते थे।

यदि मिल-मजदूरों की दशा (ऊपर-ऊपर देखते हुए) कुछ स्थानों में देहात की जनता से अच्छी भी दिखाई दे तो इससे क्या सिद्ध होता है? यही न कि मनुष्य बाहरी दिखावे को अच्छे-से-अच्छा बनाए रखकर भी समस्त प्रकार के नियंत्रणों द्वारा जीवन को संकटापन्न बना सकता है? दूसरे, वह यह न सिद्ध करता है कि आखिर संसार में इतना बुरा और अस्वाभाविक जीवन ही नहीं जिसके अंदर पुश्तों तक रहने पर भी मनुष्य अपने को उसके अनुकूल न बना सकता हो।

मिल-मजदूरों और आम तौर से शहर के मजदूरों की दुर्दशा का कारण यह नहीं कि उन्हें कम वेतन पर बहुत समय तक एक-सा काम करना पड़ता है। उनकी दुरवस्था का सच्चा कारण तो यह है कि प्रकृति की गोद से, स्वाभाविक जीवन से छुड़ाकर वे शहर का नारकीय जीवन व्यतीत करने के लिए मजबूर किए जाते हैं, उनकी स्वाधीनता नष्ट की जाती है, और वे दूसरे की अधीनता और आज्ञानुसार अनिवार्य और एक-सा काम करने के लिए बाध्य किए जाते हैं।

अतः कारखाने के और शहर के मजदूर ऐसी दुरवस्था में क्यों हैं तथा उनकी दशा क्योंकर सुधर सकती है, आदि प्रश्नों का उत्तर यह नहीं हो सकता कि पूँजीपतियों ने उत्पादक साधनों को अपने अधीन कर रखा है। उनकी दशा काम का समय घटाने, वेतन बढ़ाने, या उत्पादक साधनों को समाज की संपत्ति बना देने से भी सुधर नहीं सकती।

इसलिए जब हमारे सामने यह सवाल खड़ा होता है कि मिल-मजदूर और शहर के श्रमजीवियों की दुरवस्था का कारण क्या है, और उनकी इस दुरवस्था को दूर करने के लिए क्या किया जा सकता है, तब हम उसके उत्तर में यह नहीं कह सकते कि

पूँजीपतियों का उत्पादक साधनों को अपने अधीन कर लेना इस विषमावस्था का कारण है; न उसका उपास बतलाते हुए यह भी कह सकते हैं कि काम का समय कम कर देने, मजदूरों की तनख्वाहें बढ़ा देने, तथा उत्पादक साधनों को तमाम राष्ट्र की संपत्ति बना देने से उनकी वह दुरवस्था दूर हो सकती है।

इन प्रश्नों का उत्तर देते हुए हमें यह बता देना होगा कि वे क्यों अपने स्वाभाविक जीवन को बिसार, प्रकृति की मनोहर गोद से बिछुड़, इन कारखानों के मोह-जाल में आ फँसे हैं! साथ ही यदि हमें उनके कल्याण की कामना है तो ऐसे उपाय ढूँढ़कर निकालने चाहिए जिनसे उनको अपने स्वाधीन ग्रामीण-जीवन को छोड़ कारखानों में मरकर इस निर्धिन गुलामी को अंगीकार करने की कोई आवश्यकता ही न रहे।

बेचारे श्रमजीवी शुरू से देहात में रहते आए हैं। उनके पूर्व-पुरुष भी वहीं रह रहे थे। अब भी करोड़ों लोग वहीं रह रहे हैं। फिर वह क्या बात थी जिसने उनको उन कारखानों में दिन-दिन भर मरने के लिए देहात से भगाया और अपनी इच्छा के विरुद्ध अब भी भगा रही है? इस प्रश्न का उत्तर ही हमें शहर के मजदूरों की दुरवस्था का ठीक-ठीक कारण बता सकता है।

हाँ, इंग्लैंड, बेलजियम, जर्मनी आदि देशों में ऐसे लाखों मजदूर हैं जो पुश्तों से कारखानों में काम करते आए हैं और अब भी वहीं काम करके वे अपनी जीवन-यात्रा तय कर रहे हैं। पर क्या वे अपनी इच्छा से वहाँ रह रहे हैं? हरगिज नहीं। वे तो एक तरह से मजबूर होकर वहाँ रहते हैं। अवश्य ही एक समय उनके पिता, दादा या परदादा अपने प्रिय कृषि-जीवन को छोड़ उसके बदले में शहर के कारखानों में कठिन परिश्रम का जीवन व्यतीत करने के लिए मजबूर किए गए थे।

कार्ल मार्क्स कहता है, "पहले इन किसानों से बलपूर्वक इनकी जमीनें और जायदाद छीनकर उनको राह का भिखारी बना दिया गया। फिर निर्दय कानूनों की रचना द्वारा उन्हें कैद कर; कोड़े मार-मार, अनेक प्रकार के कष्ट देकर उन्हें किराए की मजदूरी करने के लिए मजबूर किया गया।" इसीलिए शहर के मजदूरों की दुर्दशा को दूर करने का सवाल स्वभावत: उन बुराइयों को हटाने के लिए भी हमें आकर्षित कर लेता है जो इनको अपने प्यारे ग्रामों को छोड़ शहर के खराब और गंदे जीवन की ओर ढकेलने में कारणीभूत हुई और हो रही हैं।

अर्थशास्त्र यद्यपि सरसरी तौर पर हमें उनकेइस निर्वासन का कारण तो बता देता है; पर उसको दूर करने की चेष्टा नहीं करता । वह तो केवल वर्तमान कल-कारखानों में काम करनेवालों की अवस्था को सुधारने का यत्न-मात्र करता है। मानो वह मान लेता है कि मजदूरों का वहाँ रहना एक अनिवार्य अटल बात है । यही नहीं, बल्कि वह तो मानो यह आवश्यक समझता है कि चाहे कुछ भी हो जाए कारखानों में काम

करनेवालों को यहीं बने रहना चाहिए। हाँ, और जिन्होंने अपनी देहात और अपनी खेती को छोड़ा नहीं है वे भी ऐसा ही करें और उनमें आकर शामिल हो जाएँ।

अर्थशास्त्र का यह निश्चय है कि सभी किसानों को एक-न-एक दिन कारखानों के मजदूर बनना होगा। संसार के समस्त ऋषि और कवियों ने मानवजाति के सुख के आदर्श को हमेशा सरल और प्राकृतिक कृषि-जीवन में ही देखा है। संसार के समस्त श्रमजीवियों ने भी, जिनकी आदतें अभी बिगड़ी नहीं हैं, अन्यान्य प्रकार की मजदूरी की अपेक्षा कृषि-संबंधी मजदूरी को ही हमेशा पसंद किया है, और अब भी कर रहे हैं। समस्त संसार जानता है कि कारखानों में काम करना हर हालत में स्वास्थ्य के लिए हानिकर और एक ही प्रकार का होता है तथा कृषि-कार्य अत्यंत स्वास्थ्यकर और विविध। अरे, खेती तो स्वाभाविक है, स्वतंत्र है—किसान मजे में अपनी इच्छानुसार काम और विश्रांति ले सकता है। इसीलिए कहा है, 'उत्तम खेती, मध्यम वान।' कारखाने का काम तो यंत्राधीन है,अस्वाभाविक है, भले ही वह यंत्र खुद अपना ही क्यों न हो। खेती तो आद्य और मूलभूत है और कल-कारखाने उसके अनुगामी। बिना खेती के उनका अस्तित्व ही असंभव है । पर फिर भी अर्थशास्त्र (हमारी आँखों में धुल झोंककर) जोरों से प्रतिपादन करता है कि किसानों को इस ग्राम-निर्वासन के कारण जरा भी कष्ट नहीं होता; बल्कि वे तो इसे चाहते और इसके लिए प्रयत्न करते हैं।

यंत्रालय—2

साम्यवादी तो सबसे अधिक आगे बढ़े हुए अर्थशास्त्री माने जाते हैं न, जो तमाम उत्पादक साधनों पर समाज का प्रभुत्व-स्थापन कर देना चाहते हैं? पर वे भी वर्तमान श्रम-विभाग के सिद्धांत के अनुसार ही काम करना चाहते हैं और अपने कारखानों से भी उन्हीं और उतनी ही वस्तुओं को पैदा करना चाहते हैं जो कि अभी की जा रही हैं।

उनका खयाल है कि आज और उस नवीन युग में, फर्क सिर्फ यही होगा कि अब जिन वस्तुओं का उपयोग केवल हम कर रहे हैं, भविष्य में वे सबको मिलने लग जाएँगी। वे तो उस अनागत युग का अस्फुट चित्र अपनी आँखों के सामने खड़ा करते हैं और देखते हैं कि उत्पादक साधन समाज की अधीनता में आते ही वे—विज्ञानवेत्ता और शासक वर्ग के लोग—भी किसी-न-किसी काम में लग जाएँगे। कोई मैनेजर, कोई डिजाइनर, (नमूने बनाकर देनेवाले) कोई विज्ञान-शास्त्री और कोई चित्रकार या शिल्पकार के काम को करेंगे। पर जब उनसे पूछा जाता है कि मुँह पर कपड़ा बाँधकर शीशे को भट्टी में कौन डालेगा, हथौड़े को हाथ में लेकर उसे पीटेगा कौन, खानों से

कोयला या कच्ची धातु को कौन निकालेगा; गटरें, पाखाने आदि कौन साफ करेगा? तब वे या तो चुप हो जाते हैं या भविष्यवाणी करते हुए कहते हैं, "उँह, तब तक तो गटरें साफ करने और पृथ्वी के गर्भ में घुसकर नाना प्रकार के द्रव्यों को निकालने की कला में हम इतनी प्रगति कर लेंगे कि इन कामों को करते हुए मनुष्य को प्रत्यक्ष आनंद होगा।" यह है उनकी भावी आर्थिक प्रगति का चित्र जो हम बेलमी और विज्ञान के ग्रंथों में देखते हैं।

उनकी योजना इस प्रकार है—तमाम श्रमजीवी अपनी संयुक्त संस्थाएँ बना लेंगे और उनके द्वारा तथा हड़ताल और प्रतिनिधिक सभाओं में भाग ले-लेकर अपने अंदर अपूर्व संगठन उत्पन्न कर लेंगे। फिर वे जमीन और कारखानों को अपने अधीन कर लेंगे। तब उनके जीवन में अपूर्व परिवर्तन हो जाएगा। उनके चेहरे सतेज होंगे और शरीर बलवान। कीमती कपड़ों से वे अपने शरीर को सजाएँगे और त्यौहारों के दिन इस तरह आनंद के साथ बिताएँगे कि ग्रामीण-जीवन की उन्हें याद तक न आएगी। ईंट और पत्थर की बड़ी-बड़ी इमारतें उनको उन दरिद्र झोंपड़ों की अपेक्षा अधिक पसंद होंगी। पेड़-पौधे, बेलें और मूक पशुओं के साथ जीवन बिताने की अपेक्षा वे इन धुआँ उगलनेवाली ऊँची-ऊँची चिमनियोंवाले, अद्भुत यंत्रों से सजे हुए कारखानों में काम करना अधिक पसंद करेंगे और खेती के विविध, स्वास्थ्यकर और स्वाधीन काम को छोड़ कारखानों में बंद हो घंटी के इशारे पर घंटों एक-सा काम करना बड़ी खुशी से स्वीकार करेंगे।

कैसी असंभव बात है! पुराने और भावुक लोग कहते थे, जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, कि इन मजदूरों को अपने कठिन परिश्रम का फल परलोक में मिलेगा। यह और वह दोनों एक-सी असंभव बातें हैं तथापि हमारे समाज के विद्वान् और शिक्षित लोगों का इस कल्पना के सत्य सिद्ध होने में उतना ही विश्वास है, जितना कि उन भूतकालीन विद्वान् और बुद्धिमान् पुरुषों का इस कल्पना में था कि मजदूरों को उनकी मृत्यु के बाद स्वर्ग का राज्य मिलेगा।

विद्वान् लोग और उनके चेले धनी-वर्ग के लोग इसमें विश्वास करते हैं। क्यों? इसलिए कि उनके लिए इसके बिना दूसरा चारा ही नहीं। उनके लिए तो पीछे पहाड़ और सामने खाई है। यदि आँखें खोलते हैं तो वे देखते हैं कि रेल से लेकर दियासलाई की डिब्बी और सिगरेट तक अपने भाइयों के प्राणनाशक परिश्रम के फल हैं। वे देखते हैं कि वे इस परिश्रम में उनका हाथ नहीं बँटाते, किंतु फिर भी उसका उपयोग करते हैं। वे जानते हैं कि यह उनके लिए लज्जा की बात है। यदि इसे देखने से इनकार करते हैं तो उन्हें यह मान लेना पड़ता है कि जो कुछ हो रहा है यह विज्ञान और अर्थशास्त्र के अटल नियमों के कारण हो रहा है, जिनको बदलना मनुष्य की शक्ति के बाहर की

बात है। अत: वे सोचते हैं कि जो कुछ चल रहा है इसी में सबका कल्याण है।

यह वह भीतरी कारण, जो विज्ञान-वेत्ताओं को—बुद्धिमान और शिक्षित परंतु संस्कारहीन पुरुषों को—एक सरासर झूठ को जोरों के साथ और दृढ़ता के साथ प्रतिपादन करने पर मजबूर करता है। इसी मोहजाल में फँसकर वे कहते फिरते हैं कि मजदूरों को, किसानों को अपने फायदे के लिए सहज सुंदर प्राकृतिक कृषि-जीवन छोड़कर अपने शरीर और आत्मा का घोर अध:पतन करने के लिए मिलों और कारखानों में जाना चाहिए।

साम्यादर्श का दिवाला

क्षण भर के लिए हम साम्यवादियों के कथन को मान लेते हैं। (यद्यपि वह खुल्लम-खुल्ला निराधार और मनुष्य-स्वभाव के विपरीत है)। हम फर्ज करते हैं कि देहातियों के लिए अपने गाँवों में रहकर गृहोद्योगों के द्वारा जीवन-निर्वाह करने की अपेक्षा शहरों में बसकर कारखानों में गुलाम की तरह मजदूरी करना ही अधिक अच्छा है। पर फिर भी स्वयं उनके आदर्श ही में, जहाँ कि इन अर्थशास्त्रियों के कथनानुसार उनकी आर्थिक उत्क्रांति संसार को ले जा रही है, एक ऐसी बात रह जाती है जो उस आदर्श ही का खंडन करती है और जिसको सुलझाना बिल्कुल असंभव है। आदर्श यह है कि उत्पादक साधनों का प्रभुत्व प्राप्त कर लेने पर श्रमजीवियों को भी वही सुविधाएँ और सुख-सामग्रियाँ मिलेंगी जो कि आज केवल धनवानों को ही मिल रही हैं। सभी अच्छा खाएँगे, अच्छा पहनेंगे, अच्छे-अच्छे मकानों में रहेंगे, नाच-गान सुनेंगे, नाटक देखेंगे, अखबार और किताब पढ़ेंगे, मोटरों में घूमेंगे इत्यादि-इत्यादि। पर चूँकि अब प्रत्येक मनुष्य को ये चीजें मिलेंगी उनकी पैदाइश का भार भी सब पर बँट जाना उचित है। फलत: यह भी निश्चित हो जाना जरूरी है कि प्रत्येक मनुष्य कितने घंटे काम करे।

पर यह हो कैसे?

अंकों के द्वारा हम यह जान सकते हैं (पर पूरी तरह कदापि नहीं) कि पूँजी, स्पर्धा और आवश्यकताओं से जकड़े हुए समाज के मनुष्यों को किन-किन और कितनी चीजों की आवश्यकता होती है। पर यह कौन बता सकता है कि उत्पादक साधनों को राष्ट्र की संपत्ति बना डालनेवाले स्वतंत्र समाज के मनुष्यों की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए किन-किन और कितनी चीजों की आवश्यकता होगी।

ऐसे समाज की आवश्यकताएँ और माँग निश्चित नहीं की जा सकतीं। वे बेहद बढ़ जाएँगी। आज जो चीजें धनी-से-धनी आदमी ही के पास मिल सकती हैं उन्हें कल प्रत्येक आदमी प्राप्त करने की इच्छा करेगा। अत: ऐसे समाज की आवश्यकताओं का अंदाजा लगाना बिल्कुल असंभव है।

फिर एक दूसरा यह सवाल खड़ा होता है कि लोगों को हम उन चीजों को बनाने के लिए कैसे तैयार करेंगे जिन्हें कुछ लोग आवश्यक समझते हैं और कुछ न केवल अनावश्यक बल्कि हानिकार भी।

मान लीजिए कि समाज की जरूरतों को पूरा करने के लिए यह आवश्यक जान पड़े कि हर एक आदमी दिन में छह घंटे काम करे। पर एक स्वतंत्र समाज में एक मनुष्य को उन छह घंटों तक काम करने के लिए कौन मजबूर कर सकता है, जबकि वह जानता है कि उसका वह समय अनावश्यक और हानिकार चीजों को बनाने में बरबाद होगा।

इस बात से कोई इनकार नहीं कर सकता कि आजकल यंत्रों की सहायता द्वारा थोड़े-से-थोड़े परिश्रम में ज्यादा-से-ज्यादा चीजें तैयार की जा सकती हैं। सचमुच, इस दृष्टि से यंत्र-सामग्री द्वारा हमारा बहुत उपकार हुआ है पर हम इससे भी अधिक उपकृत हैं उस श्रम विभाग के सिद्धांत के, जो सुंदरता और पूर्णता की चरम सीमा को पहुँच गया है। हम यह भी स्वीकार करते हैं कि कारखानेवाले इन चीजों की बदौलत खूब फायदा उठाते हैं और हमें भी उनके उपयोग से आनंद और सुख होता है। पर इससे यह सिद्ध नहीं होता कि स्वाधीन लोग बिना बल-प्रयोग के आगे भी इन चीजों को इसी प्रकार उत्पन्न करते रहेंगे। निस्संदेह वर्तमान श्रम-विभाग की सहायता से 'क्रप' आश्चर्यजनक तोपें जल्दी-से-जल्दी और कुशलता के साथ बना सकता है। एक दूसरा शख्स उसी कौशल के साथ रेशम के कपड़े तेजी से बना सकता है। क, ख, और ग इतर, केशवर्धक तेल और ताश की सुंदर जोड़ियाँ बनाते हैं। 'म' बढ़िया खुशबूदार शराब बनाता है। निस्संदेह ये चीज़ें उन्हें पैदा करनेवाले कारखानेवाले और इनके उपयोग करनेवाले दोनों के लिए बड़ी लाभदायक हैं। पर तोपें, शराब और तेल तो उन लोगों के लिए उपयोगी हैं जो चीन के बाजार को अपने हाथ में लेना चाहते हैं, या जिन्हें शराब में अंधाधुंध हो पड़े रहना है या जिन्हें अपने बालों की चिंता है। पर आपको ऐसे भी कई पुरुष मिलेंगे जो इन चीजों को बनाना हानिकर समझते हैं। अब इन्हें उन चीजों को बनाने के लिए आज किस तरह मजबूर कीजिएगा?

पर यह भी जाने दीजिए। हम क्षणभर के लिए यह भी मान लेते हैं कि कुछ चीजों के बनाने में योग देने के लिए उनको भी सहमत करने का उपाय मिल जाता है (यद्यपि सिवाय बल-प्रयोग के न तो कोई दूसरा उपाय है और न हो सकता है)। अब आगे यह सवाल खड़ा होता है कि इस स्वाधीन समाज में जहाँ न तो स्पर्धा है और माँग-

पूर्ति के नियम, यह कौन निश्चित करेगा कि अमुक वस्तु पहले बनाई जाए और अमुक बाद में? कारखाने तो अब किसी एक पूँजीपति के नहीं, राष्ट्र की संपत्ति होंगे। इस प्रश्न का निपटारा कौन करेगा कि पहले हमें सैबेरिया का रेल-मार्ग और पोर्टआर्थर की किलेबंदी करनी चाहिए और बाद में देहात की सड़कें, या इसके उलटे। पहले क्या हो? पहले बिजली की बत्तियाँ लगाई जाएँ, या खेती के लिए नहरें खोदी जाएँ? यह प्रश्न हल हो नहीं पाता कि एक दूसरी समस्या हमारे सामने आकर खड़ी हो जाती है। कौन आदमी किस काम को करे? स्पष्ट ही आसान और हल के काम की तरफ ही सब झुकेंगे। बड़े हथौड़ों से लोहा पीटना और टट्टी-गटरों को साफ करना तो कोई भी स्वीकार न करेगा। काम बाँटते समय लोगों को अपना-अपना काम करने के लिए किस तरह ललचाया जाएगा?

संसार का श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ गणितज्ञ भी हमें इन प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सकता। अगर किसी ने उत्तर बताया भी तो वह अमली नहीं, कोरा सैद्धांतिक होगा। ज्यादा-से-ज्यादा यही कहा जा सकता है कि ऐसे अधिकारी नियुक्त किए जाएँगे जो इन बातों का यथावत् नियमन करते रहेंगे। कुछ लोग इन प्रश्नों का निर्णय करेंगे और अन्य सब उनका पालन।

अत: कल-कारखानों के राष्ट्र की संपत्ति हो जाने पर भी ये तीन कठिनाइयाँ तो बनी ही रहेंगी—काम का बँटवारा, उत्पादन का परिणाम और तीसरी है काम का चुनाव। साम्यवाद के सिद्धांतों के अनुसार सुसंगठित समाज में एक चौथी और भी अधिक महत्त्वपूर्ण कठिनाई होगी और वह है श्रम-विभाग का तरीका। समाज में आज जो श्रम-विभाग का तरीका प्रचलित है वह तो श्रमजीवियों की आवश्यकताओं पर ही निर्भर है। एक मजदूर आज अपने जीवन भर पृथ्वी के अंदर खानों में काम करना या किसी वस्तु का केवल शतांश हिस्सा बनाते रहना अथवा यंत्रों के कोलाहल के बीच अपने हाथों को नीचे-ऊपर करते रहना इसलिए पसंद करता है कि बिना उसके वह अपना निर्वाह नहीं कर सकता। पर भविष्य में, जबकि आदमी के पास उत्पादक साधन अपने ही होंगे, जबकि उसे किन्हीं खास चीजों की आवश्यकता ही न होगी, तब बिना बल-प्रयोग के उसे आत्मा और शरीर का नाश करनेवाली आज के जैसी मजदूरी करने के लिए मजबूर करना असंभव होगा। इसमें शक नहीं कि श्रम-विभाग जनता के लिए लाभदायक और स्वाभाविक भी है। पर स्वाधीन समाज में श्रम-विभाग एक निश्चित बहुत-थोड़ी हद तक ही संभवनीय होगा। और आज तो हमने उस हद को बहुत पीछे छोड़ दिया है।

यदि एक आदमी केवल जूते ही बनाता रहे, उसकी स्त्री बुनती रहे, एक दूसरा आदमी खेती करता रहे; और तीसरा लुहारी का काम करे और ये सब अपने काम में

कुशलता प्राप्त करने पर अपने परिश्रम के फल का आपस में विनिमय—लेन-देन—करते रहें तो यह श्रम-विभाग निस्संदेह सबके लिए लाभदायक होगा। स्वाधीन समाज के लोग भी स्वभावत: अपने परिश्रम का विभाग इसी तरह करेंगे। पर आजकल का श्रम-विभाग तो स्वाधीन समाज में नितांत हानिकर होगा। उस जमाने के श्रम-विभाग के सिद्धांत के अनुसार तो आज एक आदमी वस्तु का एक शतांश हिस्सा बनाता है, दूसरा 1400 फारेनहीट डिग्री वाली गरम भट्टी के सामने तपता है, और तीसरे को प्राणनाशक गैसों में काम कर अपने जीवन से हाथ धोना पड़ता है। भले ही इस श्रम-विभाग से सुंदर-सुंदर चीजें बड़े पैमाने पर तैयार हो सकती हों, कम कीमत में बिकती हों; पर इसके कारण संसार में मनुष्य की सबसे अधिक कीमती चीज का नाश होता है और वह है मनुष्य का प्राण। इसलिए आजकल का श्रम-विभाग तो स्वाधीन समाज में बिना बल-प्रयोग के असंभव है। रौबट्स का कथन है कि "पारस्परिक श्रम-विभाग मानव-जाति को एकता के सूत्र में बाँध देता है।" यह सत्य है, पर केवल स्वाधीन श्रम-विभाग ही, स्वेच्छापूर्वक अंगीकृत श्रम-विभाग ही एकता का पोषक हो सकता है, दूसरा नहीं।

यदि लोग एक सड़क बनाने का निश्चय करें और सभी काम में भिड़ जाएँ—एक आदमी खोदने लगे, दूसरा पत्थर ढो दे, तीसरे उन्हें फोड़ता जाए, इत्यादि तो वह श्रम-विभाग अवश्य ही एकता का पोषक होगा।

पर यदि काम करनेवालों की इच्छा के विपरीत एक सैनिक महत्त्व की रेल, कोई भारी प्रासाद अथवा पेरिस की प्रदर्शिनी को भरने के लिए मूर्खतापूर्ण चीजों को बनाना शुरू किया जाए, और उसके लिए एक आदमी को बलपूर्वक लोहा लाने के लिए कहा जाए, दूसरे से कोयला खुदवाया जाए, तीसरे को साँचे बनाने के लिए पीटा जाए, चौथे की पीठ पर कोड़े मारकर उसे पेड़ काटने के लिए कहा जाए, और पाँचवें को हंटर दिखाकर उसको आरे से काटने के लिए मजबूर किया जाए, और इनमें से एक को भी यह पता न हो कि यह सब कि स्वर्ग की प्राप्ति के लिए किया जा रहा है, तब तो इस श्रम-विभाग से एकता नहीं उलटे द्वेष और केवल द्वेष ही बढ़ेगा।

अत: साम्यवाद की बुनियाद पर संगठित हुए स्वाधीन समाज में, जिसमें उत्पादक साधन और औजार राष्ट्र की संपत्ति रहेंगे, प्रत्येक आदमी श्रम-विभाग को अंगीकार वहीं तक करेगा, जहाँ तक कि उसे वह लाभदायक प्रतीत होगा। और चूँकि प्रत्येक आदमी स्वभावत: अपनी वृत्ति और प्रवृत्तियों में विकास और विविधता देखने के लिए समुत्सुक रहता है अत: आज का-सा श्रम-विभाग तो उस स्वाधीन समाज में एकदम असंभव-सा हो जाएगा।

यह सोचना केवल भ्रम है कि उत्पादक-साधन राष्ट्र के हाथों में आते ही प्रत्येक चीज की पैदाइश बेहद बढ़ जाएगी। इस भ्रम को अपने हृदय में स्थान देना मानो यह आशा करना है कि गुलामों को आजाद कर देने पर भी हमारे दीवानखाने, नृत्यशालाएँ, घर पर बनाए कालीन, रेशम की रस्सियाँ और मनोहर बगीचे, जिनमें वे गुलाम दिन-दिन भर काम करते रहते थे, उसी प्रकार बने रहेंगे, जैसे कि पहले थे। अत: यह कथन नितांत भ्रमपूर्ण है कि साम्यवाद के आदर्श युग में प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र होगा, और उसे वे सब चीजें अपने उपयोग और उपभोग के लिए मिलती रहेंगी जो आज केवल धनी लोग ही खरीद और काम में ला सकते हैं।

सुधार अथवा स्वाधीनता

वैज्ञानिक तथा उनकी देखा-देखी अन्य संपन्न वर्ग के लोग भी हमारी इस वर्तमान आर्थिक व्यवस्था को सुधार कहते हैं। इस सुधार में, जिसका अंग रेलें, तार, छाया-चित्र-कला (Photography) एक्सरेज, शफाखाने, प्रदर्शनियाँ और प्रधानत: तमाम सुख सामग्रियाँ हैं, ये लोग कुछ ऐसी पवित्रता और दिव्यता का दर्शन करते हैं कि वे इस बात का विचार तक बरदाश्त नहीं करते कि इसे या इसके किसी छोटे-से अंश को भी नष्ट नहीं भ्रष्ट तक करना ठीक होगा। हाँ, और सब बातों में मनमाना परिवर्तन भले ही हो जाए पर इस सुधार-सामग्री को कोई हाथ न लगाने पाए।

पर ज्यों-ज्यों हम अधिकाधिक गहरा विचार करते हैं, त्यों-त्यों हमें इस बात का और भी स्पष्ट ज्ञान होता है कि इस सुधार की हस्ती तो तभी कायम रह सकती है जब काम करनेवालों को—मजदूरों को—काम करने के लिए मजबूर किया जाए। पर वैज्ञानिकों को यह विश्वास हो गया है कि यह सुधार हमारे लिए सबसे अधिक कल्याण की वस्तु है। पहले जमाने के न्यायकार कहते थे कि संसार में न्याय ही सबसे सर्वोपरि है, इसी प्रकार वैज्ञानिक भी अपने इस विश्वास के बल पर जोरों से प्रतिपादन करते हैं कि न्याय रहे या डूबे; सुधार की तूती ही चारों ओर बोलनी चाहिए। और वे केवल कहते नहीं बल्कि वैसा ही कर भी रहे हैं। इन सुधारों को छोड़ अन्य सब बातों के सिद्धांत और व्यवहार में भले ही परिवर्तन हो जाए; पर कारखानों, मिलों और खासकर दुकानों पर जो कुछ भी बिकता है, उनमें किसी प्रकार की न्यूनता न होनी चाहिए।

पर मेरा खयाल है कि विश्व-बंधुत्व के नियम को माननेवाले, अपने पड़ोसी पर भी अपने ही जैसा प्यार करनेवाले संस्कारवान पुरुषों को इससे ठीक विपरीत ही प्रतिपादन करना चाहिए।

बिजली की बत्तियाँ, टेलीफोन, प्रदर्शनी, प्रमोद-वन, नृत्यशालाएँ और रंगभूमियाँ

अच्छी चीजें होंगी। सिगरेट, दियासलाई की पेटियाँ और मोटर गाड़ियाँ भी अच्छी होंगी पर ये हमारा क्या उपकार करती हैं ? रेलें हमें तेजी से एक स्थान से दूसरे स्थान को पहुँचा देती हैं और कल-कारखानों के द्वारा सस्ती और सुंदर चीजें हमें मिलती हैं, मिलें हमें बढ़िया कपड़ा देती हैं। पर इन सब चीजों का जितना ही जल्द सत्यानाश हो अच्छा है, यदि इनके बनाने के लिए फी सैकड़ा 99 मनुष्यों को अपना सुंदर ग्रामीण-जीवन छोड़कर कारखानों में गुलाम बने रहकर नाना प्रकार के रोगों का शिकार हो अकाल मृत्यु के अधीन होना पड़ता है। लंदन और पीटर्सबर्ग में बिजली की बत्तियाँ लगाने, प्रदर्शनी की इमारतें बनाने, बढ़िया-से-बढ़िया रंग बनाने और उत्कृष्ट तथा महीन कपड़ा तेजी से बुनने के लिए यदि केवल कुछ ही लोगों को नष्ट, बरबाद करना या अल्पजीवी बना देना अनिवार्य हो तो ऐसे सुधारों से बाज आना ही अच्छा है। लंदन और पीटर्सबर्ग को गैस के प्रकाश से प्रकाशित करना ही भला है। ऐसी प्राणनाशक प्रदर्शनियों, रंग और महीन कपड़ों का न होना ही अच्छा है। परमात्मा के लिए ऐसे कामों को न कीजिए जिनसे अपने दूसरे भाइयों को अपनी स्वाधीनता या प्राणों की बलि चढ़ानी पड़ती हो। सच्चे संस्कारवान पुरुष तो पुनः इस बात पर तैयार हो सकते हैं कि वे घोड़ों पर ही सफर करें या माल-असबाब यहाँ-से-वहाँ पहुँचाएँ, और जमीन को भी लकड़ी या हाथों से ही जोतें । बल्कि वे उन रेलों में बैठना कभी स्वीकार न करेंगे, जिसके नीचे प्रति वर्ष कई आदमी पिस जाते हैं, जैसा कि शिकागो में होता है। सच पूछा जाए तो रेल के संचालकों को अपनी सड़क इस तरह बना लेनी चाहिए जिससे इतनी प्राण-हानि ही न होने पाए। किंतु शिकागो की रेलवे-कंपनी के संचालक अपनी रेल की सड़क इसीलिए नहीं बदलते कि बनिस्बत सड़कें बनाने के रेल में दबने वाले अभागों के कुटुंबों को मुआवजा दे देना उसके लिए अधिक फायदेमंद है। सच्चे और सहृदय मनुष्यों को तो न्याय को सर्वप्रथम मानना चाहिए। जहन्नुम में जाएँ ये सुधार जो नित्य मनुष्य की स्वाधीनता और प्राणों का बलिदान माँगते रहते हैं। हमारा ध्येय वाक्य यह हो, 'न्याय की वेदी पर स्वार्थ का बलिदान हो।' न कि 'स्वार्थ की वेदी पर न्याय का वध करो।'

पर सुधार—सच्चा सुधार—नष्ट नहीं किया जा सकता। सचमुच हमें फिर लौटकर न तो अपनी जमीनें लकड़ी से जोतनी होंगी और न मशालों से अपने भवनों को प्रकाशित करना होगा। अपनी स्वाधीनता की बलि चढ़ाकर भी मनुष्य ने यह जो वैज्ञानिक प्रगति की है वह व्यर्थ न होगी। यदि हम केवल यह रखें कि हमें अपने स्वार्थ के लिए अपने दूसरे भाइयों के जीवन को नष्ट न करना चाहिए तो हम आवश्यक निर्दोष सुधारों का आविष्कार भी जरूर कर सकेंगे। हम अवश्य ही अपने जीवन को ऐसे साँचे में ढाल लेंगे, जिससे अपने भाइयों की स्वाधीनता को बिना नष्ट किए ही प्रकृति पर हमारा प्रभुत्व प्रस्थापित करनेवाले तमाम आविष्कारों का उपयोग करने में हम समर्थ हो सकेंगे।

गुलामी की जड़ हमारे भीतर है

कल्पना कीजिए कि एक विदेशी देहाती हमारे शहरों में आता है। वह न हमारे इतिहास से परिचित है और न कानूनों से। हम उसे अपने नागरिक जीवन के विविध अंग दिखाते हैं और पूछते हैं कि इस नवीन जगत् में वह कौन-सी बात है जो उसे अपने जगत् से एकदम भिन्न दिखाई देती है। वह फौरन यही कहेगा कि हमारे और यहाँ के जीवन में सबसे बड़ा फर्क यही है कि यहाँ कुछ लोग तो केवल आराम करते हैं और शेष सब दिनभर उनके लिए मरते रहते हैं। पहले प्रकार के लोग हृष्ट-पुष्ट हैं और उनके हाथ स्वच्छ और कोमल हैं, पोशाक सुंदर है, बढ़िया मकानों में रहते हैं; बहुत थोड़ा, हल्का-सा काम करते हैं या बिल्कुल ही नहीं करते और दिन-भर अपना दिल बहलाया करते हैं। इनके मनोरंजन की सामग्री भी ऐसी-वैसी नहीं होती। बेचारे अन्य लोग वर्षों कठोर परिश्रम कर इनके मनोरंजन की सामग्रियाँ बनाते रहते हैं और ये दूसरे प्रकार के लोग ? ये कैसे हैं ? गंदे झोपड़ों में रहते हैं, फटे-पुराने कपड़ों से अपने दुबले-पतले शरीर को ढाँपते हैं और सुबह से शाम तक उन लोगों के लिए काम करते हैं जो इधर का तिनका उठाकर उधर नहीं रखते, बल्कि हमेशा केवल मनोरंजन ही किया करते हैं।

भले ही आजकल के गुलामों और मालिकों के बीच का फर्क इतनी स्पष्टता के साथ न दिखाई देता हो जितना कि पहले गुलामों और मालिकों में दिखाई देता था, भले ही आजकल के गुलाम थोड़े ही समय के लिए गुलाम हों और बाद में मालिक बन जाते हों, भले ही कुछ लोग गुलाम और साथ ही गुलामों के मालिक भी हों, पर इन दो वर्गों के मिश्रण से यह इनकार नहीं किया जाता कि आजकल समाज में पहले की भाँति गुलाम और गुलामों के मालिक ऐसे दो वर्ग नहीं हैं। बीच में संध्याकाल के होते हुए भी कोई यह नहीं कह सकता कि प्रत्येक 24 घंटों का काल स्पष्टत: दिन और रात में विभक्त नहीं है।

आजकल के (गुलामों के) मालिकों के पास यदि कोई एक निश्चित गुलाम नहीं है तो इससे क्या ? उनके पास वे रुपए तो हैं जिनकी आवश्यकता सैकड़ों गुलामों को है। और इन सैकड़ों में से वह भला आदमी हर किसी गुलाम को चुनकर उसे अपना एहसानमंद बना उसके द्वारा अपने मकान के परनाले और पाखाने साफ करवा सकता है।

हमारे इस युग में केवल वे ही गुलाम नहीं हैं, जो कल-कारखानों में जाकर मिलों में काम करते हैं। जिन्हें अपने जीवन-निर्वाह के लिए अपने को उन कारखानों के मालिकों के हाथ पूरी तरह बेच देना पड़ता है, बल्कि तमाम किसान भी तो गुलाम ही हैं जो दूसरे की जमीन में दूसरे ही का अनाज बोते हैं, दिन-दिन भर मरते हैं, और

दूसरे ही के खलिहान में उसके लिए उस अनाज को इकट्ठा करते हैं। गुलाम वे किसान भी तो हैं जो साहूकारों का रुपया नहीं—उसका सूद चुकाने के लिए अपने खेतों में कड़ी मेहनत करते रहते हैं और फिर भी जीवन भर पार नहीं पाते। गुलाम वे असंख्य लोग भी हैं—रसोइए, महरियाँ, दरबान, कोचवान, अर्दली इत्यादि, जो अपने जीवन-भर अत्यंत अस्वाभाविक और अप्रिय पेशे कर-करके अपने पेट का गड्ढा येन-केन-प्रकारेण भरने की चेष्टा में सुधबुध भूल जाते हैं।

गुलामी अपने पूरे जोश में है; पर हम उसे देख नहीं सकते—ठीक उसी तरह जैसी कि अठारहवीं शताब्दी के अंत में वह यूरोप में थी और वहाँ के लोग उसे देख नहीं सकते थे।

यूरोप के उस जमाने के लोग सोचते थे कि इन गरीबों को मजबूर करके अपनी जमीन इनसे जुतवा लेना एक स्वाभाविक बात है। वह भी एक स्वाभाविक, अनिवार्य आर्थिक व्यवस्था है कि उनको हमारी आज्ञा का पालन करना चाहिए। इसे वे गुलामी नहीं कहते थे।

यही स्थिति आज हमारी हो रही है। इस युग के लोग इन मजदूरों की दशा को एक स्वाभाविक और अनिवार्य बात समझते हैं और इसे भी वे गुलामी नहीं कहते।

पर हमारी जागृति भी ठीक उसी तरह धीरे-धीरे हो रही है, जैसे कि अठारहवीं शताब्दी के अंतिम काल में लोगों की हुई थी। पहले उन्हें किसानों का पूरी तरह अमीरों के अधीन होकर रहना स्वाभाविक और अनिवार्य प्रतीत होता था, पर शीघ्र ही उनकी आँखों ने देखा कि यह सरासर अनुचित, अन्यायपूर्ण और अनीतिमय कार्य है। इस कलंक को जितनी जल्दी धोकर साफ किया जाए उतना भला है। इसी प्रकार हमारी भी आँखें अब धीरे-धीरे खुल रही हैं। हम भी देखते हैं कि इन मजदूरों की दशा, जो हमें पहले बिल्कुल मामूली और यथार्थ मालूम होती थी, अशोभनीय है, और इसमें परिवर्तन करना परमावश्यक है।

इस युग की गुलामी का सवाल आज ठीक उसी अवस्था में से गुजर रहा है, जिसमें से अठारहवीं शताब्दी के अंत में पश्चिमी यूरोप और अमेरिका में गुलाम की निर्धिन प्रथा का सवाल गुजर रहा था।

पर इस समय केवल पुरोगामी विचारों के लोग ही इस अन्याय को जानने लगे हैं। अधिकांश लोगों को तो इस बुराई का अभी कुछ खयाल ही नहीं है।

इसका कारण क्या है? मजदूरों की इस जीती-जागती नवीन गुलामी को अधिकांश लोग क्यों नहीं देख पाते? इसका एक प्रधान कारण यही है कि हमारे अंदर से वह निर्धिन गुलामी की प्रथा अभी-अभी उठी है। यथार्थ में देखा जाए तो पहली प्रथा अब बहुत पुरानी अतः बेकाम-सी हो गई थी। दूसरे एक नवीन और सूक्ष्मतर गुलामी की प्रथा का आविष्कार भी हो चुका था। इस नवीन प्रथा के अनुसार हम एक नहीं अनेक गुलाम खरीद सकते हैं। क्रीमिया के तातार अपने कैदियों के साभ जो व्यवहार करते थे, वही हमने इस गुलामी की प्रथा के साथ किया। क्रीमिया के निवासियों ने अपने कैदियों को मुक्त करने के एक नवीन तरीके का आविष्कार किया। वे पहले अपने कैदियों के पैरों के तलुए छील डालते थे, फिर सूअर के बालों के छोटे-छोटे टुकड़े करके उन जख्मों पर डाल देते थे, इतना कर लेने पर वे कैदियों की बेड़ियाँ काटकर उन्हें स्वतंत्र कर देते थे। अमेरिका और रूस में गुलामी की प्रथा को नष्ट करते समय भी इसी नीति से काम किया गया। गुलामी जड़ से नहीं काटी गई, बल्कि केवल ऊपर से उसकी कलम कर दी गई जिससे वह और भी जोश के साथ पनपने लगी। जब लोगों का यह यकीन हो गया कि मनुष्य बिना ही बेड़ियों और काठ के खोड़े के हमारा गुलाम बना रह सकता है तो यह अनावश्यक था कि उसे व्यर्थ ही जकड़ दिया जाए। इससे तो बल्कि हमारे काम में हानि होने की संभावना थी।(उत्तरी अमेरिका के निवासियों ने इसी से तो पुरानी गुलाम-प्रथा को नष्ट करने के लिए जोरों से माँग की क्योंकि इस समय नवीन—पैसे की—गुलामी ने अपना प्रभाव अच्छी तरह लोगों पर जमा दिया था। दक्षिणी अमेरिका के लोगों को अभी इस देवी की शक्ति के अच्छी तरह दर्शन नहीं हो पाए थे, इसलिए उन्होंने उस पुरानी प्रथा को नष्ट करने के लिए अपनी अनुमति नहीं दी।)

रूस में गुलामी की प्रथा का अंत तभी किया गया जब धनिकों ने अपने अंदर जमीनों का बँटवारा पूरी तरह कर लिया था। जब किसानों की जमीनें दी गईं तब उन पर बेहद कर्जा बना हुआ था। इस तरह जमीन की गुलामी का नाश हुआ और पैसे की गुलामी उन पर सवार हुई। यही बात शेष यूरोप में भी हुई। जमीनों के कर तब हलके किए गए जब वे किसानों के हाथों से निकलकर अमीरों के पास चली गईं, जब किसान खेती करना भूल गए, जब वे शहरों में आकर हमेशा के लिए बस गए, और जब वे पूरी तरह पूँजीपतियों के अधीन हो गए। इंग्लैंड में भी तभी अनाज पर के कर उठाए गए। अब जर्मनी और अन्य देशों में भी मजदूरों पर के कर उठाकर इन धनिकों पर लगाए जा रहे हैं क्योंकि मजदूर भी आखिर हैं तो उन्हीं की अधीनता में! गुलामी को एक प्रकार से तब तक नष्ट नहीं किया जा सकता जब तक दूसरा अधिक अच्छा प्रकार उसका स्थान ग्रहण नहीं कर लेता। यह देवी अनेक-रूपा है। कभी एक और कभी दूसरा और कभी-कभी एक साथ अनेक रूप दिखाकर वह लोगों को अपने अधीन किया करती है। जन-समाज का एक छोटा-सा हिस्सा अपने हाथों में धन और अधिकार को सम्मिलित कर सब भाइयों पर अपना आतंक जमाए रखता है। और यही—थोड़े लोगों द्वारा अधिक लोगों को गुलाम बना लिया जाना—हमारी दुर्दशा का सच्चा कारण है।

अतः इन श्रमजीवियों की दुर्दशा को दूर करने के उपाय ये हैं—सबसे पहले हम कबूल कर लें कि हमारे समाज में गुलामी की प्रथा—किसी आलंकारिक भाषा में नहीं बल्कि सरल-से-सरल अर्थ में—विद्यमान् है। अर्थात् अल्पसंख्यक लोगों के हाथों में बहुसंख्यक लोग जकड़े हुए हैं। दूसरे इस गुलामी के कारणों को ढूँढ़ना और तीसरे उन कारणों को जान लेने पर उनको दूर करने के लिए जी-जान से यत्न करना।

गुलामी क्या है ?

इस युग की गुलामी का प्रधान कारण क्या है ? वे कौन-सी शक्तियाँ हैं, जो कुछ लोगों को दूसरों का गुलाम बना देती हैं ? यदि हम रूस, यूरोप और अमरीका के तमाम श्रमजीवियों से—उन सब मजदूरों से—जो कल-कारखानों में, मिलों में और भिन्न-भिन्न शहरों तथा देहात में स्थान-स्थान पर हमें मजदूरी करते हुए दिखाई देते हैं, पूछें कि तुम क्यों इस तरह मजदूरी कर रहे हो तो वे निश्चय ही उत्तर देंगे कि क्या करें पेट ले आया। जब और कुछ न रहा तो यही करना पड़ता है और घर-घर मारे-मारे घूमना पड़ता है। उनकी इस मजबूरी के कारण क्या हो सकते हैं ? यही कि, या तो उनके पास कोई जमीन नहीं रह गई, जिसमें वे काम कर अपना निर्वाह कर सकें, या उनसे इतने कर माँगे गए कि बिना अपना परिश्रम या जमीन बेचे वे उन्हें दे नहीं सकते थे। तीसरा कारण यह भी हो सकता है कि वे कारखानों में इसलिए रहते हैं कि उन्होंने अपनी आदतें बिगाड़ ली हैं, अधिक विलासी बन गए हैं। मनुष्य अपनी स्वाधीनता और परिश्रम को बेचकर ही विलास का उपभोग कर सकता है।

पहली दो बातें अर्थात् (1) जमीन का अभाव या आवश्यकता और (2) कर उसे अपना परिश्रम बेचने को मजबूर करते हैं, और तीसरी बात अर्थात् उसकी बढ़ी हुई और असंतुष्ट कामनाएँ या आवश्यकताएँ—उसे उस गुलामी में जकड़े रखती हैं।

हम कल्पना कर सकते हैं कि हेनरी जार्ज की योजना के अनुसार जमींदारों से जमीनें निकालकर श्रमजीवियों की गुलामी के पहले कारण को दूर किया जा सकता है। एक कर की योजना के अलावा हम यह भी कल्पना कर सकते हैं कि तमाम करों को रद्द कर या गरीबों से उठाकर उनको अमीरों पर लगाया जा सकता है। पर तीसरी बात सबसे कठिन जान पड़ती है। जब तक यह वर्तमान आर्थिक संगठन बना रहेगा, आदमी उस स्थिति की कल्पना भी नहीं कर सकता कि जब धनी लोग अधिकाधिक और विलासी आदतों को अख्तियार न करेंगे। यही आदतें धीरे-धीरे गरीबों में भी, जो कि नित्य इन श्रीमानों के संपर्क में आते रहते हैं, फौरन फैल जाएँगी, क्योंकि यह बिल्कुल स्वाभाविक

बात है कि सूखी जमीन पानी को फौरन सोख लेती है। वर्तमान आर्थिक संगठन के रहते हुए हम यह भी खयाल नहीं कर सकते कि ये आदतें इन गरीब लोगों के लिए इतनी आवश्यक न हो जाएँगी कि वे उनके शिकार बनकर अपनी स्वाधीनता को बेचने के लिए तैयार होंगे।

इसलिए यह तीसरी शर्त यद्यपि मनुष्य की इच्छा पर निर्भर है, (अर्थात् मामूली तौर पर हमें मालूम होता है कि आदमी प्रलोभन का प्रतिकार कर सकता है) और यद्यपि विज्ञान यह मंजूर नहीं करता कि वह भी श्रमजीवियों की दुर्दशा का एक कारण है तथापि यही इस गुलामी का सबसे अधिक मजबूत और दुर्निवार कारण है।

अमीरों के पास रहनेवाले श्रमजीवियों को प्रायः नई आवश्यकताएँ हमेशा सताती रहती हैं और उनकी पूर्ति तभी हो सकती है जब वे उसके लिए अधिक-से-अधिक समय कठिन परिश्रम करते हैं। अतः अमेरिका और इंग्लैंड के मजदूरों को अपने जीवन-निर्वाह के लिए जितने धन की आवश्यकता होती है उससे दस गुनी अधिक मजदूरी मिलने पर भी वे ठीक पहले ही की तरह गुलाम बने रहते हैं।

जमीन, जायदाद और कर-संबंधी कानून

समाज में ऐसे कई नियम और परिस्थितियाँ हैं जो श्रमजीवियों को पूँजीपतियों के अधीन रहने पर मजबूर करती हैं। जर्मनी के साम्यवादियों ने इन सबको एकत्र करके उन्हें एक नवीन नाम दे दिया है। वे इन्हें 'वेतन के लौह-नियम' कहते हैं। लौह से उनका मतलब है कठोर, अपरिवर्तनीय। पर इन नियमों में ऐसी एक भी बात नहीं जिसको हम बदल न सकते हों। ये तो हमारे जमीन, जायदाद और करों से संबंध रखनेवाले मनुष्य के बनाए कानूनों के उपनियम-मात्र हैं। कानून तो आखिर मनुष्यों की ही सृष्टि है। उन कानूनों को तोड़ने-मरोड़ने का मनुष्यों को पूरा अधिकार है। गुलामी का जनक कोई प्राकृतिक नियम नहीं बल्कि मनुष्य का बनाया कानून ही है। प्रकृत उदाहरण में स्पष्ट और निश्चित है कि हमारे युग की यह गुलामी भी किसी भी प्राकृतिक नियम का फल नहीं बल्कि कर, जमीन और जायदाद संबंधी मनुष्य के बनाए कानूनों का परिणाम है। समाज में ऐसे कानून हैं जिनके अनुसार एक ही मनुष्य अपरिमित जमीन का मालिक हो सकता है और वह बाप से बेटे को विरासत में या मृत्यु-पत्र के रूप से मिलती चली जाती है या किसी दूसरे शख्स को बेच दी जा सकती है। एक दूसरे प्रकार के कानून हैं जिनके अनुसार प्रत्येक को उससे माँगे जानेवाले तमाम कर बिना किसी पूछताछ के दे देने चाहिए। एक तीसरे प्रकार का कानून भी है जिसके अनुसार मनुष्य अपने पास की तमाम वस्तुओं

का, फिर वह किसी भी उपाय से प्राप्त क्यों न की गई हो, संपूर्णतया मालिक बन जाता है और इन्हीं कानूनों का परिणाम है यह गुलामी।

इन तमाम कानूनों के हम इतने आदी हो गए हैं कि वे हमें बिल्कुल न्याय और आवश्यक प्रतीत होते हैं, जैसे कि गुलामी की प्रथा पुराने जमाने में मालूम होती थी। और यह स्वाभाविक भी है। पर समय पाकर लोगों ने गुलामी की प्रथा की भयंकरता का दर्शन किया और वे उन कानूनों की न्यायता के विषय में संदेह करने लगे जो गुलामी को प्रचलित किए हुए थे। इसी प्रकार वर्तमान आर्थिक व्यवस्था के दुष्परिणामों के प्रकट होते ही हमारे दिलों में भी स्वभावत: जमीन-जायदाद और कर-संबंधी वर्तमान कानूनों में, जिनके कारण यह स्थिति पैदा हो गई है, अनायास ही संदेह उत्पन्न होने लग गया है।

पुराने जमाने के लोग पूछते थे, क्या यह उचित है कि कुछ लोग दूसरों को खरीदकर अपना दास बना लें, जिनका किसी चीज के ऊपर कोई अधिकार ही न हो, बल्कि उल्टा वे जो कुछ भी पैदा करें, अपने मालिक को ही दे दिया करें? उसी प्रकार अब हमें भी अपने-आप से यह सवाल पूछना चाहिए कि क्या यह न्याय है कि मनुष्य उस जमीन का उपयोग न करे जो दूसरे के नाम पर दर्ज हो? क्या यह न्याय है कि मनुष्य से उसके परिश्रम के फल का जितना बड़ा हिस्सा कर के रूप में माँगा जाए, वह दे दिया करे? क्या यह न्याय है कि मनुष्य किसी ऐसी वस्तु का उपयोग न करे, जो दूसरे की संपत्ति समझी जाती है।

क्या मनुष्य को ऐसी जमीन का उपयोग नहीं करना चाहिए जो दूसरे की संपत्ति हो, पर जिसे वह अन्य मनुष्य स्वयं जोतता न हो?

कहा जाता है कि यह कानून खेती की तरक्की को ध्यान में रखते हुए बनाया गया है। दलील यह है कि यदि खेती की उन्नति करनी है तो जमीन पर मनुष्य की मालिकी होना लाजिमी है। यदि जमीनें परंपरा द्वारा अर्थात् बाप से बेटे के पास न जा सकें, यदि उसके अधिकार के विषय में अनिश्चितता बनी रहे तो लोग एक-दूसरे को निकाल भगाएँगे। अनिश्चितता के कारण कोई अपनी जमीन पर, उसको सुधारने की गरज से, दिल से परिश्रम न करेगा। क्या यह सच है? इसका उत्तर तो भूतकाल का इतिहास और वर्तमान की घटनाएँ देगी। इतिहास कहता है कि जमीनें किसी मनुष्य के अधिकार में इसलिए नहीं दी गईं कि वह निश्चिंत हो उस पर मेहनत करे, बल्कि बात यह थी कि विजेताओं ने जनता से जमीनें छीनकर उन लोगों को दे दीं, जिन्होंने उनकी सहायता की। अत: यह सिद्ध है कि किसानों की तरक्की की भावना से प्रेरित होकर जमीनें उनकी अधीनता में नहीं दी गईं। वर्तमान वस्तुस्थिति भी उपर्युक्त दावे की असत्यता को प्रमाणित करती है। हाँ, कहा जरूर यों जाता है कि जमीनों की मिल्कियत

उन पर मेहनत करनेवालों को यह विश्वास दिलाती है कि जमीनें उनसे छीनी नहीं जाएँगी। पर यथार्थ में ठीक इसके विपरीत ही हुआ है और हो रहा है। जमीनों के स्वामित्व के अधिकार से, जिससे कि बड़े-बड़े जमींदारों ने बेहद फायदा उठाया है और प्रतिदिन उठाते रहे हैं, यही फल न हुआ है कि आज वे बहुसंख्यक किसान दूसरों की जमीनें जोत रहे हैं और उनके मुहताज हो गए? जब जमींदारों की इच्छा हो, किसान बेदखल किए जा सकते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ है कि जमीनों से स्वामित्व का वर्तमान तरीका किसानों के इस अधिकार की रक्षा नहीं करता कि वह जमीन पर बहाए हुए अपने पसीने के फल का आप ही उपभोग करें। बल्कि हो यह रहा है कि कड़ी मेहनत से काम करनेवाले किसान के हाथ से जमीन निकालकर निकम्मे जमींदारों के हाथों में सौंपने का वह एक तरीका है। अत: यह खेती के बनाने का नहीं, उसे बिगाड़ने का तरीका है।

करों के विषय में यह कहा जाता है—लोगों को कर इसलिए देना चाहिए कि वे सबकी सम्मति से, भले ही वह सम्मति मूक ही हो, लगाए गए हैं। दूसरे, उनका उपयोग जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति और लाभ के लिए किया जाता है। क्या यह भी सच है?

इनका भी उत्तर इतिहास और वर्तमान घटनाएँ भली-भाँति दे सकती हैं। इतिहास यह डंके की चोट से कहता है कि कर कभी सर्व-साधारण की संपत्ति से नहीं लगाए गए। बल्कि इसके विपरीत हुआ यह है कि जब किसी जाति ने दूसरी जाति पर (युद्ध करके या अन्य किसी चाल से) अपनी सल्तनत कायम की, तब उसने विजित जाति पर अपने कर लगा दिए, इस गरज से नहीं कि उन करों को लेकर वह सर्व-साधारण के उपयोगी कामों में लगा दे बल्कि सिर्फ अपने ही लाभ के लिए। और यही आज भी हो रहा है। वे ही लोग कर रहे हैं, जिनके हाथों में शक्ति है। यदि इन करों के किसी हिस्से का उपयोग किसी सार्वजनिक कार्य के लिए किया भी जाता है तो वह काम भी ऐसा ही होता है जिससे लाभ के बजाए जनता की हानि ही अधिक होती है।

एक उदाहरण लीजिए। रूस में एक किसान की आय का पूरा तीसरा हिस्सा करों के रूप में उससे वसूल कर लिया जाता है; और राज्य की आय का केवल पचासवाँ हिस्सा जनता की सबसे बड़ी आवश्यकता अर्थात् शिक्षा पर खर्च किया जाता है। खैर, सो भी अच्छी हो सो नहीं। बच्चों को पढ़ाने का ढंग ऐसा विचित्र है कि उनकी बुद्धि को ही वह पढ़ाई कुचल डालती है। फलत: जनता को लाभ तो कम, उल्टे हानि ही अधिक होती है। शेष उनचास हिस्से अनावश्यक और हानिकर बातों में मसलन फौज

को सजाने, सैनिक-रेलें, किले, जेल आदि बनाने, पादरियों का भरण-पोषण करने, अदालत चलाने, मुल्की और फौजी अफसरों की तनख्वाहें चुकाने तथा इन करों को उगाहनेवाले अधिकारियों की तनख्वाहें आदि में खर्च होते हैं।

यही बात न केवल फारस, तुर्किस्तान और भारत में बल्कि उन तमाम देशों में हो रही है जो सुसंगठित ईसाई राष्ट्र हैं और जहाँ प्रजासत्तात्मक राज्य भी है। कर वसूल करते समय करदाताओं की इच्छा, अनिच्छा, सम्मति, असम्मति की कोई परवाह ही नहीं करता, न इस बात की परवाह की जाती है कि कर केवल उतने ही वसूल किए जाएँ, जितने आवश्यक हों। यह भी नहीं। कर तो ज्यादा-से-ज्यादा जितना वसूल किया जा सकता है, ले लिया जाता है। (यह बात किसी से छिपी नहीं कि प्रतिनिधिक राज्यसभाओं का संगठन कैसा होता है और उनमें बैठनेवाले सदस्य जनता के कहाँ तक सच्चे प्रतिनिधि होते हैं।) फिर वे सर्व-साधारण के लाभ के लिए भी खर्च नहीं किए जाते, बल्कि उन्हीं कामों के लिए खर्च होते हैं, जिन्हें शासक-वर्ग अपने लिए आवश्यक समझते हैं। और ये बातें यही न हैं—क्यूबा या फिलिपाइंस महायुद्ध का संचालन; ट्रांसवाल की संपत्ति हड़पने और हजम करने के उपाय आदि। अत: यह दलील, कि लोगों को कर इसलिए देने चाहिए कि वे उनकी सम्मति से लगाए गए हैं और वे उन्हीं के लाभ के लिए खर्च होते हैं, उतनी ही व्यर्थ और अन्याय है जितनी कि जमीनों को मनुष्यों की खानगी संपत्ति बना देना खेतों की उन्नति के लिए परमोपयोगी और आवश्यक है, यह बतानेवाली दलील है।

क्या यह ठीक है कि लोगों को अपनी जरूरत पूरी करने के लिए उन आवश्यक चीजों का उपयोग नहीं करना चाहिए जो दूसरों की संपत्ति हैं?

कहा जाता है कि उपार्जित वस्तुओं पर मनुष्य का स्वत्व इसलिए प्रस्थापित किया जाता है। काम करनेवाले को इस बात का विश्वास रहे कि उसके परिश्रम का फल कोई उससे छीन न सकेगा।

क्या यह सच है?

सरासर झूठ। आपके आस-पास संसार में क्या हो रहा है? उधर केवल एक दृष्टिपात करके देख लीजिए कि वास्तविकता इस कथन के कितनी विपरीत है।

समाज में उपार्जित वस्तुओं पर स्वत्व प्रस्थापन करने के अधिकार या कानून का परिणाम ठीक-ठीक वही हुआ है जिसे वह रोकना चाहता था। यही कि श्रमजीवियों द्वारा जो चीजें पैदा की गई हैं और की जा रही हैं, वे सब उन लोगों के पास हैं और ज्यों-ज्यों वे पैदा होती जाती हैं, उनके द्वारा ले ली जाती हैं, जिन्होंने उन चीजों को पैदा नहीं किया।

जमीन के स्वामित्व के उस कानून की बनिस्बत यह कथन और भी अधिक अन्यायपूर्ण है कि उपार्जित वस्तुओं पर स्वत्व-प्रस्थापन का अधिकार श्रमजीवियों को इस बात का निश्चय दिला देता है कि अपने परिश्रम के फल का उपभोग वे ही करेंगे! यह भी उसी शुष्क सिद्धांत पर आधार रखता है जो जमीनवाले कानून की जड़ में है। पहले तो उनके परिश्रम का फल उनसे अन्याय और बलपूर्वक छीन लिया जाता है और फिर बीच में एकाएक कानून कूद पड़ता है। अब वही चीजें, जो कि श्रमजीवियों से अन्याय और बलपूर्वक छीन ली गई हैं, उन लोगों की निजी संपत्ति कहलाने लग जाती हैं जिन्होंने कि उन चीजों को चुरा लिया है, श्रमजीवियों से जबर्दस्ती छीन लिया है।

संपत्ति-मसलन एक कारखाना अनेक छल-कपट से प्राप्त कर उसमें श्रमजीवियों के परिश्रम का फायदा उठाया जाता है, पर फल समझा जाता है धनिकों के परिश्रम का और एक पवित्र वस्तु मानी जाती है। पर कैसा आश्चर्य है कि उन कारखानों में मरनेवाले मजदूरों का जीवन, उनका परिश्रम, उनकी निजी संपत्ति नहीं, बल्कि कारखाने के मालिक की समझी जाती है बशर्ते कि वह मजदूरों की आवश्यकता या गरज का फायदा उठाकर उन्हें किसी ऐसे प्रकार से बाँध ले जो कानून जायज समझा जा रहा हो। लाखों मन अनाज व्यापारी लोग आसामियों से जबर्दस्ती या अन्य कितने ही उपायों द्वारा छीन लेते हैं और वह धनियों की संपत्ति कहाने लग जाता है। खेत में किसान परिश्रम करता है, अनाज बोता है, उसकी रक्षा करता है, पर वह किसी दूसरे ही शख्स अर्थात् जमींदार की संपत्ति समझी जाती है। यह क्यों? इसलिए कि उसने किसानों से जमीन को छीननेवाले किसी अपने पितामह या प्रपितामह से उस जमीन को विरासत में पाया है। कहा जाता है कि कानून सबकी संपत्ति की निष्पक्ष भाव से रक्षा करता है, फिर वह मिल-मालिक हो या मिल का कोई कर्मचारी, पूँजीपति हो या धनहीन मजदूर, जमींदार हो या किसान। पर यह निष्पक्षता कैसी? दो योद्धाओं में से एक के तो हाथ जकड़ दिए जाते हैं और दूसरे को शस्त्र दे दिए जाते हैं। और फिर यह कहा जाता है कि अब हम किसी का पक्ष नहीं करेंगे। मतलब यह कि न्याय और गुलामी पैदा करनेवाले उन तीन प्रकार के कामों की आवश्यकता का कारण सरासर असत्य है। उतना ही असत्य जितना कि पुरानी गुलामी-प्रथा के समर्थन में पेश की गई न्याय और आवश्यकता की दलीलें थीं। ये तीनों प्रकार के कानून और कुछ नहीं, पुरानी गुलामी-प्रथा के सिंहासन पर अधिकार जमानेवाले उससे अधिक शक्तिशाली गुलामी मात्र है। पुराने जमाने के लोगों ने कानून बनाकर एक जाति के लोगों को दूसरी जाति के मनुष्यों को बेचने-खरीदने और अधीनता में रख उनसे मनमाना काम लेने का अधिकार दे दिया और गुलामी का जन्म हुआ। आज भी समाज में कुछ लोगों ने ऐसे कानून बनाए कि

कोई उस जमीन का उपभोग न करे जो दूसरे की समझी जाती है; प्रत्येक मनुष्य उन सब करों को बिना उजर दे दे जो उससे माँगे जाएँ और किसी ऐसी चीज का उपयोग न करे जो दूसरों की संपत्ति मानी जाती हो। और यही है हमारे युग की इस गुलामी की जड़।

गुलामी की जड़—कानून

हमारे जमाने की यह गुलामी जमीन, जायदाद और कर संबंधी तीन प्रकार के कानूनों का परिणाम है। इसलिए जितने भी लोग उन श्रमजीवियों की दशा को सुधारना चाहते हैं, सबके प्रयत्न अज्ञाततः इन्हीं तीनों प्रकार के कानूनों के खिलाफ रहेंगे।

कोई मजदूरों पर के करों को उठाकर धनिकों पर लादने का प्रयत्न करते हैं तो दूसरे जमीन का व्यक्तिगत स्वामित्व ही नष्ट कर देना अपना धर्म समझते हैं। न्यूजीलैंड और अमेरिका के किसी राज्य में इस दिशा में प्रयत्न भी हो रहे हैं। आयरलैंड में जमींदारों के अधिकारों को नियंत्रित करने की हलचल का उद्देश्य भी यही है। सुधारकों का एक तीसरा दल है—साम्यवादी। ये उत्पादक साधनों को राष्ट्र की संपत्ति बना देना, आय और विरासतों पर कर बढ़ा देना और पूँजीपति मालिकों के अधिकारों को नियंत्रित करना चाहते हैं।

यह देखकर मनुष्य को स्वभावतः यही मालूम होगा कि अब के कानून रद्द हो जाएँगे और फलतः गुलामी का भी अंत अनकरीब है। पर हमें केवल उन शर्तों का अधिक सूक्ष्मतापूर्वक निरीक्षण करने की देर है, जिनके कानून की ये धाराएँ रद्द की जा रही हैं अथवा इसके लिए प्रयत्न हो रहा है और हमें यकीन हो जाएगा कि मजदूरों की दशा को सुधारने के ये सब सैद्धांतिक और व्यवहार्य उपाय पुरानी गुलामी के स्थान पर एक नवीन प्रकार की गुलामी को प्रतिष्ठित करने के कानून की रचना-मात्र हैं। कैसे, सो देखिए। मजदूरों पर से करों को उठाकर धनवानों पर उन्हें लादनेवाले शेष सब बातों-संबंधी कानूनों को ज्यों-के-त्यों रहने देंगे। पर यथार्थ में इन्हीं चीजों पर करों का भार है। मसलन् जमीनों, उत्पादक साधनों और अन्य वस्तुओं का स्वामित्व। इसलिए जमीन और जायदाद-संबंधी कानूनों को अछूता रहने देने से करों के उठ जाने पर भी मजदूर, जमींदारों और पूँजीपतियों के उसी प्रकार गुलाम बने रहते हैं।

कुछ लोग, मसलन् हैनरी जार्ज और उनके साथी, जमीनों के स्वामित्व-संबंधी कानूनों को तो रद्द कर देना पसंद करते हैं, पर उसके स्थान पर जमीनों पर भारी किराया लगाकर इस सुधार को किसानों के लिए, निरर्थक बना डालते हैं। इस किराए से गुलामी जरा भी नहीं घटेगी, बल्कि एक नवीन गुलामी-मात्र निर्माण होगी। क्योंकि किसी

वर्ष फसल न पकने के कारण किसान को तो अवश्य अपनी जमीन का किराया या कर चुकता करने के लिए रुपया लेने की किसी साहूकार की शरण लेनी पड़ेगी। और वह वहाँ गया नहीं कि गलामी में फँसा नहीं।

अब साम्यवादियों की योजना का निरीक्षण करें। सिद्धांत में वे खानगी संपत्ति और उत्पादक साधनों के स्वामित्व-संबंधी कानूनों को रद्द कर करों से संबंध रखनेवाले कानूनों को ज्यों-के-त्यों रहने देना चाहते हैं। बल्कि वे तो कुछ और भी करने जा रहे हैं। वे तो अनिवार्य परिश्रम का कानून बना देना चाहते हैं। मतलब यह कि वे अत्यंत बुरी तरह की गुलामी को समाज में प्रतिष्ठित करना चाहते हैं।

अतः गुलामी को उत्तेजना देनेवाले कानूनों को सैद्धांतिक और व्यावहारिक रूप से रद्द करने के तमाम तरीके अवश्य ही किसी-न-किसी ऐसे कानून की रचना करते हैं, जिससे कि एक नवीन प्रकार की ताजी गुलामी समाज में प्रवेश कर जाती है।

एक जेलर किसी कैदी की बेड़ियाँ पैरों से निकालकर हाथों में या हाथों से निकालकर गले में डाल देता है। या उन बेड़ियों को बिल्कुल अलग रखकर उसे काठ के खोड़े में जकड़ देता है। मजदूरों की दशा सुधारने के खयाल से अब तक जितने सुधार किए गए हैं, सब इसी प्रकार के थे।

पहले मालिक अपने गुलामों से मनमाना काम लिया करते थे। बाद में ऐसे कानूनों की रचना हुई कि तमाम जमीनें मालिकों के हाथों में चली गईं। फिर इन कानूनों को रद्द कर नए कानूनों के द्वारा नवीन करों की वृद्धि होगी। ओह! आखिर इन नवीन करों पर अधिकार किसका होगा? उन्हीं मालिकों का। और शायद इसके बाद कर-संबंधी कानूनों को रद्द कर उपयोगी वस्तुएँ और उत्पादक साधनों के स्वामित्व-संबंधी नवीन कानूनों की सृष्टि होगी। बाद में इन कानूनों को भी रद्द कर अनिवार्य मजदूरी के कानूनों का निर्माण होगा।

इससे यह स्पष्ट है कि किसी एक या दो तरह के गुलामी पैदा करनेवाले जमीन, जायदाद, कर या उत्पादक साधन-सबंधी कानूनों को रद्द कर देने से गुलामी का अंत नहीं हो सकता। इससे तो केवल गुलामी के प्रकारों में ही परिवर्तन होता है जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं। न इन तीनों प्रकार के कानूनों को रद्द करने से ही गुलामी नष्ट हो सकती है। इससे तो एक और भी नई गुलामी का उदय होगा, जिसके चिह्न हम अभी से देख रहे हैं। मजदूरों के काम के घंटे, उम्र और स्वास्थ्य, पाठशालाओं में अनिवार्य उपस्थिति, वृद्धावस्था में जाने का बीमा कराने तथा आकस्मिक घटना आदि के कारण काटे जानेवाले दामों द्वारा तथा कारखाने के निरीक्षण आदि-संबंधी कानूनों द्वारा मजदूरों की स्वाधीनता को नवीन रूप से जकड़ना फिर शुरू हो गया है। यह और कुछ नहीं, केवल संक्रमण-कालीन कानून हैं जो एक नवीन और अननुभूत प्रकार की गुलामी का

निर्माण करने जा रहे हैं।

अब यह स्पष्ट है कि गुलामी का कारण कोई खास एक या दूसरी ही तरह का कानून नहीं बल्कि कानून-मात्र हैं। गुलामी का कारण यह है कि हमारे समाज में कुछ लोग ऐसे हैं जो अपने मतलब के कानून बना सकते हैं और दूसरों को उन पर चलने के लिए बाध्य कर सकते हैं। अत: संसार से तब तक गुलामों का अंत नहीं हो सकता जब तक लोगों के हाथों में कानून बनाने की शक्ति या अधिकार बना रहेगा।

प्राचीन काल में लोगों के लिए गुलामों को रखना फायदेमंद था। इसलिए उन्होंने तत्संबंधी कानून बनाए। बाद में पाया गया कि जमीन रखना और लेना और अपनी चीजें अपने ही पास रख लेना अधिक फायदेमंद है, तो इसके संबंध में कानून बने। अब लोग देखते हैं कि श्रम-विभाग के वर्तमान स्वरूप और सभ्यता को बनाए रखना अच्छा है तो इस संबंध में भी कानून बनने लगे। लोगों को इस वर्तमान व्यवस्था के अनुसार कानूनों द्वारा मजबूर करने के उपाय होने लगे। अत: गुलामी की जड़ है कानून—यह वस्तुस्थिति कि संसार में कुछ लोग ऐसे हैं जो कानून बना सकते हैं।

पर कानून क्या है ? वह क्या वस्तु है जो इन लोगों के हाथों में कानून बनाने की शक्ति रख देती है ?

सुसंगठित हिंसा कानूनों की जननी है

कानून कैसे बनाए जाते हैं ? कानून की शक्ति मनुष्यों में कैसे आती है ?

इस विषय का तो एक भारी शास्त्र ही है जो राजनीति से भी शायद अधिक प्राचीन, अधिक कुटिल और अधिक भ्रामक है। इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए, इसके सेवकों ने पिछली सदियों में लाखों किताबें लिख डाली हैं जो आपस ही में प्राय: एक-दूसरे का विरोध करती हैं। राजनीति इस प्रश्न का उत्तर नहीं देती कि हमारी आदर्श राज्य-व्यवस्था कैसी है। उसी प्रकार यह न्याय-विवेक-शास्त्र भी अधिकारों की मीमांसा, कर्ता-कर्म, राज्य-विषयक कल्पनाएँ तथा इसी प्रकार के कितने ही ऐसे वक्तव्यों और विवरणों से भरा पड़ा है जिसे न तो इस विषय के विद्यार्थी भली-भाँति समझ सकते हैं और न स्वयं शिक्षक ही। और मजा यह है कि अंत में यह प्रश्न यों ही रखा रह जाता है कि कानून-रचना क्या है ?

विज्ञान कहता है कि कानून-रचना संपूर्ण जनता की इच्छा का प्रदर्शन है। पर यदि हम सूक्ष्मतापूर्वक देखें तो हमें स्पष्टतया ज्ञात होगा कि यह कल्पना मिथ्या है। समाज में ऐसे ही लोगों की संख्या अधिक है जो कानूनों को भंग करते हैं या कम-से-कम

ऐसा करने की इच्छा तो जरूर रखते हैं। जहाँ कहीं वे कानूनों को भंग नहीं करते वहाँ इस इच्छा का अभाव नहीं बल्कि उससे मिलनेवाली सजा का डर है। तब यह स्पष्ट है कि जब स्वेच्छापूर्वक कानूनों का पालन करनेवालों की संख्या से उसको भंग करनेवाले ही अधिक हैं तब यह कैसे कहा जा सकता है कि कानून संपूर्ण जनता की इच्छा से ही बनाए जाते हैं ?

कानून कई प्रकार के हैं। एक कहता है कि तार के खंभों को कोई चोट नहीं पहुँचाए। दूसरा आज्ञा करता है कि लोगों को अमुक व्यक्तियों का आदर करना चाहिए। तीसरा आदेश करता है कि प्रत्येक मनुष्य को अनिवार्यत: सैनिक शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए या पंच बनकर न्याय में सहायता करनी चाहिए। चौथा हुक्म करता है कि कोई अमुक सीमा-प्रदेश से बाहर अमुक-अमुक चीजें न ले जाएँ। पाँचवाँ आज्ञा करता है कि जो जमीन दूसरे की संपत्ति समझी जाती हो उसका मालिक के सिवाय कोई उपभोग न करे। छठा कहता है कि जो जाली रुपए बनाएगा उसे अमुक-अमुक सजा दी जाएगी। सातवाँ कहता है दूसरे की चीजों का कोई उसकी इजाजत के बिना उपयोग न करे। इस तरह सैकड़ों कानून हैं।

ये सब और अन्य कितने ही कानून अत्यंत जटिल हैं और न जाने कितने भिन्न-भिन्न हेतुओं को लेकर बनाए गए हैं। पर इनमें से एक भी जनसमूह की इच्छा को प्रकट नहीं करता है। हाँ, इनमें एक सर्व-सामान्य बात जरूर है। यदि कोई उनको पालन करने से इनकार करता है तो कानून के रचयिता उसके पास सशस्त्र सैनिक भेजते हैं, जो कानून की अवज्ञा करनेवाले को इस अपराध के लिए मारते, पीटते, कैद कर देते हैं या जान से मार डालते हैं।

उसी प्रकार यदि कोई मनुष्य उससे माँगे जानेवाले करों को देने से इनकार कर दे तो यही सलूक उससे भी होगा। सशस्त्र पुरुष आएँगे और उससे कर माँगेंगे। यदि वह देने से इनकार करेगा तो बलपूर्वक उसके यहाँ से निकालकर ले जाएँगे। यदि वह इसमें भी आपत्ति करेगा और प्रतिकार करने के लिए खड़ा हो जाएगा तो उसे पीटा जाएगा, कैद कर लिया जाएगा या वहीं गोली मार दी जाएगी। दूसरे की मालिकी की जमीन का उपयोग कानून की आज्ञा के खिलाफ करनेवाले की भी यही दशा होगी। दूसरे की वस्तुओं का अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अथवा अपने काम को सरल करने के लिए उपयोग करनेवाले को भी यही दंड दिया जाएगा। शस्त्रधारी पुरुष आकर उससे वस्तु को छीन लेंगे। उसने प्रतिकार करने की कोई तैयारी दिखाई नहीं कि उन्होंने उसे मारा, कैद किया या गोली चलाई नहीं। यही सजा उन पुरुषों का निरादर करनेवाले को दी जाएगी जिनका आदर करने के लिए कानून आदेश करता है। सैनिक शिक्षा प्राप्त करने से इनकार करनेवाले और नकली सिक्के बनानेवाले को भी निस्संदेह यही दंड दिया जाएगा।

प्रतिष्ठित कानूनों की प्रत्येक अवज्ञा के लिए सजा रखी हुई है। अवज्ञाकारी को कानून के रचयिता पीटते हैं, कैद करते हैं या जान से मार डालते हैं।

अंगरेज और अमेरिका के शासन-विधानों से लेकर जापान और तुर्किस्तान तक के कितने ही शासन-विधान बने जिनके अनुसार लोगों को यह विश्वास करना पड़ता है कि उनके देश में माने जानेवाले तमाम कानून उनकी अपनी इच्छा से ही बने हुए हैं, पर इस बात को प्रत्येक मनुष्य जानता है कि प्रत्येक एकायत्त निरंकुश शासनवाले ही नहीं बल्कि इंग्लैंड, अमेरिका जैसे नाम-मात्र को स्वाधीन माने जानेवाले देशों में भी कानून देश की जनता की इच्छा के अनुसार नहीं; बल्कि शासन-यंत्र के संचालकों की इच्छानुसार बनाए जाते हैं, फिर वे एक हों या अनेक। वे फायदेमंद भी होते हैं उन्हीं शासकों के लिए। लोगों को उन कानूनों का पालन करने के लिए मजबूर करने का भी एकमात्र तरीका है कोड़े, कैद या फाँसी। सिवाय इनके दूसरा उपाय ही नहीं है।

और हो भी नहीं सकता। क्योंकि कानून के मानी हैं अमुक नियमों अर्थात् सत्ताधारियों की इच्छा पालन करने का आदेश। इसका पालन कराने का एक ही मार्ग है कोड़े, कैद या फाँसी। जहाँ कानून है वहीं ऐसी शक्ति भी जरूर है जो उनका पालन करने के लिए लोगों को मजबूर कर सकती हो। इस शक्ति का नाम है हिंसा-बल-प्रयोग। साधारण बल-प्रयोग नहीं, जो मामूली मनुष्य गुस्से में एक-दूसरे के प्रति करते हैं। यह तो सत्ताधारियों का सुसंगठित बल-प्रयोग है, जो वे दूसरों के द्वारा अपने कानूनों का (अर्थात् अपनी इच्छा का) पालन कराने के लिए करते हैं।

अतः यह समझना निरा भ्रम है कि कानूनों की रचना कर्ता-कर्म या अधिकारों तथा स्वत्वों की रक्षा के खयाल से होती है। यह खयाल करना भी गलत है कि कानून जनता की इच्छा के अनुसार या ऐसे ही अन्य अनियमित और विविध कारणों को लेकर बनाए जाते हैं। कानून तो इसलिए बनाए जाते हैं कि सत्ताधारियों के हाथों में वह सुसंगठित शक्ति होती है जिसके द्वारा वे अपनी इच्छाओं की पूर्ति करने के लिए अन्य लोगों को मजबूर कर अपनी मनमानी करा सकते हैं।

अतः कानून-रचना की सर्वसाधारण की समझ में आने योग्य, निश्चित और ठीक-ठीक परिभाषा यह होगी—

कानून वे नियम हैं जिनको हिंसा के बल पर देश के शासन का संचालन करनेवाले बनाते हैं और जिनकी अवज्ञा के पुरस्कार में अवज्ञा करनेवाले को कोड़े, कैद या फाँसी की सजा दी जाती है।

यह परिभाषा उस प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर देती है कि लोग किस अधिकार के बल पर कानून बनाते हैं। यह बल वही सुसंगठित हिंसा है, जो लोगों से उनकी इच्छा के खिलाफ इन कानूनों का पालन कराती है।

सरकारें क्या हैं ?

श्रमजीवियों की दुर्दशा का कारण गुलामी है। गुलामी का कारण है कानून-रचना और कानूनों की रचना सुसंगठित हिंसा के बल पर की जाती है। इसके मानी यह हुए कि यदि श्रमजीवियों की दशा का सुधार अभीष्ट है तो पहले इस सुसंगठित हिंसा का नष्ट करना अत्यावश्यक है।

पर सुसंगठित हिंसा ही तो सरकार है। और बिना सरकार के हम कैसे जी सकते हैं। सरकार के अभाव में तो अव्यवस्था तथा अराजकता फैल जाएगी, अब तक इतने यत्न से हमने जो सुधार किए हैं सब नष्ट हो जाएँगे और समाज में फिर वही जंगली जमाना लौट आएगा।

जिनके लिए वर्तमान व्यवस्था फायदेमंद है उनका यह सोचना स्वाभाविक है। नहीं; बल्कि यह तो उन लोगों के लिए भी स्वाभाविक है जिनके लिए यह व्यवस्था फायदेमंद न होने पर भी वे इसके इतने आदी हो गए हैं कि इसमें परिवर्तन की कल्पना तक को बरदाश्त नहीं कर सकते। वे कहेंगे सरकारों को पृथ्वीतल से मिटाते ही समाज पर घोर आपत्तियाँ उमड़ आएँगी। लूट-मार, चोरी और खून-खच्चर होने लगेंगे और अंत में दुष्ट लोग इतने बलवान हो जाएँगे कि पुनः अपने हाथों में सत्ता लेकर तमाम भले आदमियों को अपना गुलाम बना लेंगे। पर क्या यह हमारे लिए नई बात है? यह तो गुजर चुका है। अब भी वही हो रहा है। और भविष्य की लूटमार व खून-खराबी की आशंका यह सिद्ध नहीं कर सकती कि वर्तमान व्यवस्था अच्छी है।

कहते हैं, "वर्तमान व्यवस्था को हाथ लगाया नहीं और बड़ी-से-बड़ी आपत्तियाँ समाज पर उमड़ी नहीं।"

एक हजार ईंटों का एक ऊँचा पतला स्तंभ बनाया हुआ है। उसकी एक भी ईंट को छू दीजिएगा कि तमाम स्तंभ-का-स्तंभ धड़ाम से गिर पड़ेगा और चूर-चूर हो जाएगा।

पर यह आशंका कि ऐसे स्तंभ की एक ईंट को छूते ही सारा स्तंभ गिरकर चूर-चूर हो जाएगा यह सिद्ध नहीं करती कि ईंटों को ऐसे अस्वाभाविक और खतरनाक तरीके से एक-पर-एक रखना बुद्धिमान का काम है। इसके विपरीत सिद्ध तो यह होता है कि ईंटों को इस खराब और खतरनाक रीति से कभी न रखना चाहिए। बल्कि उल्टा उनको इस तरह सुरक्षित के साथ रखना चाहिए कि बिना किसी प्रकार के खतरे की आशंका के मनुष्य उसका उपयोग कर सके। यही बात वर्तमान राज्य-व्यवस्थाओं के संबंध में चरितार्थ होती है। सरकारों का संगठन अत्यंत अस्वाभाविक और अस्थायी है। यह बात उनकी उपयोगिता सिद्ध नहीं करती कि जरा-सा धक्का लगते ही बस धड़ाम से गिर पड़ेगा। बल्कि यह भय तो इस बात को सिद्ध करता है कि यदि किसी

काल में वह समाज के लिए आवश्यक रहा भी हो तो आज वह बिल्कुल अनावश्यक और इसलिए हानिकर तथा खतरनाक है।

वह हानिकर और खतरनाक इसलिए है कि समाज में जो कुछ भी बुराई है उस पर इस वस्तुस्थिति का असर बहुत बुरा हो रहा है। बुराई का कम होना तो दूर की बात है बल्कि वह बढ़ती ही जा रही है, और भी अधिक ही होती जा रही है। इस संस्था के कारण या तो उसे पोषण मिल जाता है या वह अधिक आकर्षक बन जाती है अथवा वह पूरी तरह छिपा दी जाती है।

सुशासित मानी जानेवाली हिंसा के बल पर शासन करनेवाली राज्य-संस्थाओं में जहाँ-कहीं भी हमें सुख-समृद्धि दिखाई देती है वह केवल मिथ्या है—ऊपरी है, दिखावा-मात्र है। इस दिखावे को असत्य साबित करनेवाली तमाम चीजें—तमाम भूखे, रोगी और बुरे-से-बुरे दुर्गुणी लोग दूर एक तरफ छिपे हुए रहते हैं जहाँ हम उन्हें देख नहीं सकते। पर इसके मानी यह कदापि नहीं कि वे हैं नहीं। इसके विपरीत वे जितने ही हमारी आँखों से छिपे रहेंगे उतने ही वे अधिक बढ़ेंगे और उसी परिमाण में उन्हें इस दुर्दशा में डालनेवाले शासक उनके प्रति अधिक निष्ठुर होंगे। यह ठीक है कि इस सरकारी कार्य अर्थात् सुसंगठित हिंसा में किसी प्रकार हस्तक्षेप करना अथवा उसको रोकना उनकी बाहरी सुव्यवस्था को भी अस्त-व्यस्त कर देता है पर इससे जो अव्यवस्था दिखाई देती है वह इस हस्तक्षेप का परिणाम नहीं बल्कि उस छिपी दुरवस्था का दर्शन-मात्र है। और यह दुरवस्था का दर्शन ही हमें उसे दूर करने में सहायक होता है।

अभी-अभी तक—उन्नीसवीं सदी के अंत तक—लोगों में यह खयाल बड़ा मजबूत-सा हो गया था कि हम बिना सरकार के रह नहीं सकते। पर ज्यों-ज्यों हम आगे बढ़ते जाते हैं त्यों-त्यों हमारे जीवन और लोगों के विचारों में भी परिवर्तन होता जा रहा है। अब तो संसार की सरकारें भले ही लोगों को उस अस्वाभाविक और बच्चों की-सी अवस्था में रखने का प्रयत्न करें जिसमें कि एक दुखी आदमी किसी-न-किसी से शिकायत करने की सुविधा को अच्छी समझता है। उसी प्रकार लोग—खासकर यूरोप और रूस के श्रमजीवी लोग—भी अब इस बचपन से पार हो रहे हैं और अपनी दुर्दशा का यथार्थ कारण समझने लग गए हैं।

आजकल कई लोग शासकों से कहते हैं—

"क्या आपका यह कहना है कि यदि आपका यहाँ राज्य न हो तो पड़ोसी राष्ट्र मसलन् जापान या चीन हमें अपने अधीन कर लेंगे? पर यह हो कैसे सकता है? हम रोज तो अखबारों में पढ़ते हैं कि कोई हम पर आक्रमण करने के लिए नहीं आ रहा है। केवल आप ही हम पर राज्य कर रहे हैं। क्यों? इसका कारण हम नहीं जानते। पर हाँ, आप हमें आपस में लड़ाकर दिन-ब-दिन अधिक बुरा बनाते जा रहे हैं। फिर

अपने लोगों की रक्षा के बहाने फौज, दरियाँ बेड़ा, सैनिक, रेलें आदि के लिए नए-नए कर लगाकर हमें और भी अधिक बरबाद किए डालते हैं। पर असल में यह सब चीजें आप अपने दंभ और महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए बनाते हैं और बाद में अन्य राष्ट्रों से युद्ध छेड़ते हैं जैसा कि आपने इस समय शांतिप्रिय चीन के साथ युद्ध छेड़ रखा है। आपका कहना है कि आज हमारे ही लाभ के लिए जमीन के स्वामित्व की रक्षा करते हैं। पर आपकी इस दया का यही नतीजा न होता है कि तमाम जमीनें रुपयों का सूद बनानेवाली कंपनियों के हाथों में, जो कभी परिश्रम नहीं करतीं, चली गई हैं या तेजी से जा रही हैं, और हम—अर्थात् देश के असंख्य किसान—निराधार बनाए जा रहे हैं—उन काहिलों के गुलाम बनाए जा रहे हैं। आप अपनी सत्ता के बल पर जमीन के स्वामित्व की रक्षा नहीं करते, बल्कि आप तो जमीनों को उन गरीबों से छीनते जा रहे हैं, जो उन पर परिश्रम कर अपना जीवन-निर्वाह करते हैं। आपका कहना है 'हम प्रत्येक मनुष्य को उसके अपने परिश्रम के फल का उपभोग करने देते हैं।' पर करते हैं आप इसके ठीक विपरीत। दोहाई है आपकी इस सरकार की और उसकी करतूतों की जिसकी बदौलत हम काम करनेवालों को, अच्छी-अच्छी कीमती चीजें पैदा करनेवालों को, कभी अपने परिश्रम का पूरा फल नहीं मिल पाता बल्कि जीवन-भर उन काहिलों की अधीनता और गुलामी में ही सड़ना पड़ता है।"

उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में यूरोप के श्रमजीवियों की यह मनोदशा थी। और इधर-उधर तो वे उस निद्रा से—जिसमें कि सरकारों ने उन्हें डाल रखा है—बड़ी तेजी से जाग रहे। पिछले पाँच-सात वर्षों से यूरोप और अमेरिका के शहरों और देहात में ही नहीं, बल्कि रूस के देहात के लोगों तक में अपूर्व जागृति की लहर फैल गई है।

लोग कहते हैं कि बिना सरकारों के समाज को आवश्यक संस्थाएँ कैसे नसीब होंगी जिनके द्वारा वह अपने बच्चों को सुशिक्षित कर सकता है, जो उसके सार्वजनिक जीवन को उन्नत बना सकती हैं।

पर हम ऐसा क्यों न मान लें? यह सोचने के लिए हमारे पास क्या आधार है कि गैर-सरकारी लोग अपने लिए उतनी अच्छी संस्थाएँ निर्माण न कर सकेंगे या उनका संचालन इतनी अच्छी तरह न कर सकेंगे जितनी कि सरकारी अधिकारी दूसरों के लिए करते हैं।

इसके विपरीत इस जमाने में हमें तो यह अनुभव हो रहा है कि कितनी ही बातों में गैर-सरकारी लोग अपने जीवन को सरकारी लोगों की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छी तरह चलाते हैं। सरकार से जरा भी सहायता न लेते हुए और कहीं-कहीं तो सरकार के बार-बार हस्पक्षेप करने पर भी लोग कई प्रकार के सामाजिक कार्य और संस्थाएँ उत्तम रीति से निबाहते आ रहे हैं। श्रमजीवियों की संस्थाएँ, सहयोग संस्थाएँ, रेलवे-कंपनियाँ, और कितनी ही कला-पोषक तथा शिक्षा संस्थाएँ इसका जीता-जागता प्रमाण

हैं। यदि सार्वजनिक कार्यों के लिए सार्वजनिक कोष या चंदे की आवश्यकता है और वह सचमुच एक परोपकारी, उपयोगी कार्य है तो हम क्यों समझ लें कि स्वाधीन लोग बिना किसी बल-प्रयोग के ऐसे काम के लिए चंदा न देंगे ? हम क्यों समझें कि बिना बल-प्रयोग के अदालतें चल ही नहीं सकतीं। वादी और प्रतिवादी जिन पर विश्वास करते हैं ऐसे पंचों द्वारा न्याय प्राप्त करने की प्रथा नई नहीं है। और न उसके लिए बल-प्रयोग की ही आवश्यकता है। लंबी गुलामी के कारण हम इतने पतित हो गए हैं कि हम ऐसी शासन-संस्थाओं की कल्पना ही नहीं कर सकते जिनमें बल का प्रयोग न किया जा रहा हो। फिर भी यह सत्य नहीं। रूस की कितनी ही जातियाँ, जो दूर-दूर के प्रदेशों में बसने को चली जाती हैं, जहाँ हमारी सरकार उनके कार्यों में किसी प्रकार हस्तक्षेप नहीं करती; अपना कारोबार बिना ही बल के प्रयोग के कर रही हैं। वे कर वसूल करती हैं, उनकी अपनी शासन-संस्थाएँ हैं। अदालतें, पुलिस आदि सब हैं। और जब तक सरकारें उनमें हस्तक्षेप नहीं करतीं वे बराबर तरक्की करती जाती हैं। उसी प्रकार यह मान लेने के लिए भी हमारे पास कोई कारण नहीं कि लोग सर्वसम्मति से यह प्रश्न हल नहीं कर सकेंगे कि समाज की आवश्यकताओं के लिए किसे कितनी जमीन दी जाए।

मैं ऐसी जातियों को जानता हूँ—मसलन उरल की कोजाक जाति—जो जमीन को खानगी संपत्ति मानती ही नहीं। फिर भी उनके समाज में, ऐसी व्यवस्था और समृद्धि है जो हमारे सुधरे हुए समाज में, जहाँ जमीन के स्वामित्व की रक्षा बल-प्रयोग से की जाती है, नहीं पाई जाती। मैं ऐसी भी जातियों को जानता हूँ जिनमें खानगी संपत्ति जैसी कोई चीज ही नहीं है। यह तो मेरी जानकारी की बात है कि रूस के किसान जमीन के स्वामित्व की कल्पना को भी मंजूर नहीं करते थे। जमीन के स्वामित्व को सरकारी सत्ता के द्वारा समर्थन उस स्वामित्व के कलह को मिटाता नहीं बल्कि और भी उग्र कर देता है, और कहीं-कहीं तो उसे उत्पन्न भी कर देता है।

यदि जमीन के स्वामित्व की इस तरह रक्षा नहीं की जाती और फलतः जमीनों की कीमत भी बढ़ नहीं जाती तो लोग कभी आज जैसी तंग जगहों में रहना पसंद न करते। वे संसार भर में फैल जाते और सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते। अब भी संसार में काफी जमीन है, पर यहाँ तो जमीन के लिए एक-सा युद्ध जारी रहता है और सरकार अपने जमीन के स्वामित्व-संबंधी कानूनों के रूप में जनता को इस युद्ध में लड़ने के लिए शस्त्रास्त्र देती रहती है। और इस युद्ध में फायदा किनका होता है ? उनका नहीं जो उस पर मजदूरी करते हैं, बल्कि फायदा तो काहिल लोग उठाते हैं जो सरकार के साथ बल-प्रयोग में हाथ बँटाते हैं।

यही बात परिश्रम से उत्पन्न होनेवाली चीजों के विषय में समझिए। जिन चीजों

को मनुष्य अपने परिश्रम से बनाता है, जिनकी उसे सचमुच आवश्यकता है, उनकी रक्षा तो समाज करेगा; लोकमत करेगा, न्याय और पारस्परिक समता की भावना करेगी, उसकी रक्षा के लिए बल-प्रयोग की आवश्यकता नहीं होगी।

एक ही मालिक के पास हजारों-लाखों एकड़ परती की जमीन और जंगल पड़ा हुआ है और उसके पड़ोस में ही हजारों गरीब किसान जलाऊ लकड़ी के लिए मारे-मारे फिरते हैं। ऐसी जगह जरूर बल-प्रयोग द्वारा उस मालिक के स्वामित्व की रक्षा करनी पड़ेगी। उसी प्रकार उन कल-कारखानों की रक्षा भी बल-प्रयोग से ही करनी होगी, जहाँ मजदूरों की कई पुश्तें ठगी गई हैं और अब भी ठगी जाती हैं। उससे भी अधिक ऐसी रक्षा की आवश्यकता होगी उस साहूकार को, जो लाखों मन अनाज अपने कोठों में इसलिए भर रखता है कि अकाल के समय उसे वह तिगुनी कीमत से बेच सके। पर पूँजीपति और सरकारी अफसर को छोड़ आपको एक भी इतना निर्दयी और अधम आदमी न मिलेगा, जो एक श्रमजीवी किसान से उसकी फसल को या बच्चों के लिए दूध देनेवाली उसकी पाली हुई गाय को अथवा उसके हल, बाखर या हँसिया को, जिससे कि वह अपना काम कर अपना पेट पालता है, ले ले। पर मान लीजिए कि यदि कोई आदमी दूसरे से ऐसी काम की वस्तुएँ जबर्दस्ती छीन भी ले, तो उसके इस कार्य से समाज में इतना रोष उत्पन्न हो जाएगा कि उस आततायी के लिए उन वस्तुओं को अपने पास रख छोड़ना भी कठिन हो पाएगा। पर वही आदमी जब देख लेगा कि उसके इन कार्यों का समर्थन करनेवाली, समाज के पुण्य-प्रकोप से उसकी रक्षा करनेवाली, एक सुसंगठित हिंसा संस्था है, तब तो वह जरूर ही ऐसे-ऐसे काम और भी अधिक निर्भय होकर करेगा।

कई लोग कहते हैं कि जमीन के स्वामित्व के अधिकार को जरा नष्ट करके तो देखिए, परिश्रम के फलाधिकार को जरा शिथिल तो कीजिए, कि आपको उसी क्षण मालूम हो जाएगा कि इसका क्या नतीजा निकलता है। कोई परिश्रम करने का कष्ट न उठाएगा। किसी को यह विश्वास नहीं रहेगा कि आज जो चीज उसके पास है, वह कल भी उसके पास बनी रहेगी या नहीं। पर हम इसका उत्तर यों देंगे। बड़ी-बड़ी जायदादें नीति-पूर्वक इकट्ठी नहीं की जातीं । जायदाद की बलपूर्वक रक्षा करने की प्रथा ने जनता के इस विवेक को यदि नष्ट नहीं तो बेहद कमजोर जरूर कर दिया है कि मनुष्य किस चीज का उपयोग कितना करे। इस घृणित प्रथा ने मनुष्य के स्वाभाविक सांपत्तिक अधिकार को, जिसके बिना समाज का जीवन असंभव है, जो अब भी लोक-हृदय में कुछ अंशों में वर्तमान है, बिल्कुल कमजोर बना दिया है।

अतः यह मान लेने के लिए कोई कारण नहीं कि बिना सुसंगठित बल-प्रयोग की सहायता के हम अपना जीवन भली-भाँति नहीं चला सकेंगे।

हाँ, यह कहा जा सकता है कि घोड़ों और बैलों से विवेकवान् मनुष्य प्राणी बल-प्रयोग द्वारा काम ले सकता है। पर मनुष्य मनुष्य पर बल-प्रयोग क्यों कर सकता है? क्यों मनुष्य सत्ताधिकारियों के बल-प्रयोग का शिकार हो? इस बात का क्या प्रमाण है कि सत्ताधिकारी उन लोगों की अपेक्षा अधिक सुज्ञ हैं जिन पर वे बल का प्रयोग करते हैं।

केवल यही बात उन लोगों की बुद्धिहीनता का परिचय देती है, कि वे अपने ही जैसे मनुष्यों पर बल का प्रयोग करते हैं। अत्याचार सहनेवालों की अपेक्षा अत्याचार करनेवाले अधिक बुद्धिहीन हैं। चीन में 'मंदारिन' पद के लिए होनेवाली परीक्षाओं से यह सिद्ध नहीं होता कि अच्छे-से-अच्छे और होशियार आदमियों को सत्ताधीश बनाया जाए। परंपरागत विरासत अथवा पद-वृद्धि की योजना, या सुसंगठित देशों की चुनाव-प्रणाली भी हमें इस बात का यकीन नहीं दिलाती कि इन विभिन्न रीतियों से सत्ता प्राप्त करनेवाले निश्चय ही होशियार और भले आदमी होते हैं। इसके विपरीत यह एक सिद्धांत है कि वे ही लोग प्राय: सत्ता को शीघ्र धारण कर लेते हैं, जिनमें विवेक और नीति की मात्रा कम होती है।

कोई प्रश्न करता है—लोग बिना सरकार के, बिना बल-प्रयोग के जी कैसे सकते हैं? पर इसके विपरीत सवाल तो यह होना चाहिए कि विवेकवान् लोग उचित सामंजस्य को छोड़ हिंसा को अपने जीवन का आवश्यक अंग कैसे माने हुए बैठे हैं और अब तक जी रहे हैं?

केवल दो बातें हो सकती हैं, या तो लोग विवेकशील हैं या अविवेकशील हैं। तो फिर सभी ऐसे हैं और प्रत्येक बात का निपटारा हिंसा के द्वारा होना जरूरी है। फिर कोई कारण नहीं कि कुछ लोगों को बल-प्रयोग का अधिकार मिले और दूसरों को नहीं। उस हालत में सरकारी हिंसा के लिए स्थान ही नहीं है। यदि मनुष्य विवेकशील हैं तो उनके सभी कार्यों में विवेक को प्रधानता मिलनी जरूरी है। फिर उन लोगों की इच्छा को कोई महत्त्व न मिलना चाहिए जो थोड़ी देर के लिए सत्ता को अपने हाथ में धारण कर लेते हैं। उस हालत में भी सरकारी हिंसा के लिए कहीं स्थान नहीं रह जाता।

सरकारें कैसे उठाई जाएँ?

गुलामी की जड़ कानून है। कानूनों को बनानेवाली सरकारें हैं। अत: केवल सरकारों को नष्ट करने से ही लोग इस गुलामी से मुक्त किए जा सकते हैं।

अब तक हिंसा द्वारा सरकारों को नष्ट करने के लिए जितने प्रयोग और प्रयत्न किए,

उनका यही फल हुआ है कि पदच्युत सरकारों के स्थान पर पहले से भी अधिक भीषण सरकारें स्थापित हो गई हैं।

भूतकाल में इस तरह से जो प्रयत्न हुए हैं, उनका जिक्र मैं नहीं करता। साम्यवाद के सिद्धांत के अनुसार पूँजीपतियों के राज्य का विनाश, उत्पादक साधनों को राष्ट्र की संपत्ति बना देना और संसार में एक नवीन अर्थ-व्यवस्था का निर्माण भी हिंसात्मक संगठन के बल पर ही स्थापित होने को है और उसी उपाय द्वारा उसकी रक्षा—संचालन भी होगा। अत: हिंसा के बल पर हिंसा का उच्चाटन न तो कभी भूतकाल में हुआ है, न भविष्य में कभी हो सकता है। अत: गुलामी का अंत भी कभी हिंसा के द्वारा नहीं हो सकता।

बदला और गुस्से को छोड़कर बल का प्रयोग तभी किया जा सकता है, जब हम किसी से कोई काम उसकी इच्छा के खिलाफ कराना चाहते हैं। पर अपनी इच्छा के प्रतिकूल दूसरे की मनमानी करने की अनिवार्य अवस्था का ही नाम गुलामी है। अत: जब तक मनुष्य की इच्छा के खिलाफ उससे काम लेने के लिए हिंसा का प्रयोग होता रहेगा, गुलामी भी अवश्य ही बनी रहेगी।

हिंसा द्वारा गुलामी को नष्ट करने का उद्योग मानो आग से आग बुझाने का, पानी से पानी रोकने का या गड्ढे से भरने के लिए दूसरा गड्ढा खोदने का यत्न करना है।

अत: यदि संसार से हमें गुलामी नष्ट करनी है तो इसका उपाय हमें नवीन प्रकार की हिंसा की स्थापना में नहीं मिल सकता। इसके लिए तो उन कारणों को हमें सबसे पहले नष्ट करना चाहिए जो सरकारी हिंसा के लिए अनुकूलताएँ उत्पन्न कर देते हैं। सरकारें जो हिंसा कर सकती हैं अथवा अन्य अल्पसंख्यक लोग भी जो अधिक लोगों पर हिंसा अथवा बल का प्रयोग कर सकते हैं, उसका कारण यही है कि वे अल्पसंख्यक पूरी तरह सशस्त्र हैं और ये बहुसंख्यक लोग या तो बिल्कुल नि:शस्त्र हैं, या उनके पास बहुत थोड़े शस्त्र हैं।

संसार में जितने देशों की स्वाधीनता का हरण हुआ है, सब इसी तरह। यूनान और रोम के विजेताओं ने इसी तरह दूसरे देशों को पदाक्रांत किया था। इसी तरह इंग्लैंड के विजेता पहले विलियम ने भी किया था। पिजारों को भी इसी कारण विजय मिली और आज अफ्रीका और एशिया के निवासियों की स्वाधीनता भी इसी तरह हरण की जा रही है। शांति के समय भी सभी सरकारें इसी प्रकार अपने अधीनस्थ लोगों को दबाए रखती हैं।

पहले की तरह अब भी एक जाति दूसरी जाति पर इसीलिए राज्य कर सकती है कि एक सशस्त्र है और दूसरी नि:शस्त्र।

पुराने जमाने में क्या होता था? अपने अगुआओं की सरदारी में लड़ाका लोग निहत्थे

अरक्षित देशवासियों पर टूट पड़ते थे, उनको दीन बना देते और उन्हें लूट लेते थे। लूट का माल सब अपने-अपने साहस और निर्दयता के हिसाब से आपस में बाँट लेते थे। प्रत्येक लड़ाका जानता था कि यह हिस्सा उसके लिए फायदेमंद है। अब क्या हो रहा है? श्रमजीवियों में से कुछ लोगों को चुनकर शस्त्र और तनख्वाहें दी जाती हैं, वे अरक्षित लोगों पर हमला करते हैं, हड़तालियों पर गोलियाँ चलाते हैं, बलवाखोरों पर तोपें चलाते हैं, दूसरे देश के निवासियों पर चढ़ाइयाँ कर उन्हें जीतते और लूटते हैं और अपने परिश्रम का फल देने के लिए उन्हें मजबूर करते हैं। और यह सब करते किसलिए हैं? अपने खुद के लिए नहीं, बल्कि उन लोगों के लिए जो केवल दूर से यह सब तमाशा देखते रहते हैं, जो अपनी जान को जरा भी जोखिम में नहीं डालते।

विजेता और सरकारों के बीच फर्क सिर्फ इतना ही है कि विजेता अपने सिपाहियों का साथ लेकर स्वयं अरक्षित लोगों पर हमला करते थे। यदि ये कुछ प्रतिकार करते या किसी प्रकार उनके अधीन होने से इनकार करते, तो वे अपनी धमकियों को सच्चा कर उन्हें नाना प्रकार की यंत्रणाओं में डालते, उन्हें तलवार की धार पर उतारते या फाँसी पर लटका देते थे। सरकारें यह सब खुद नहीं करतीं। जब कुछ लोग इनके अधीन होने से इनकार करते हैं, तब उन स्वाधीनता-प्रिय निःशस्त्र लोगों को ये सरकारें स्वयं नहीं मारतीं, या फाँसी पर लटकातीं। वे यह काम दूसरों से करवाती हैं, जिनको धोखा देकर वे खासकर इसी काम के लिए पशुवत् बनाए रखती हैं, और जिनको वे विशेषकर उन्हीं लोगों में से चुनती हैं, जिन पर कि वे अत्याचार करना चाहती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि पहले हिंसा का प्रयोग व्यक्तिगत प्रयत्न था, विजेताओं के साहस, निर्दयता, चपलता के द्वारा होता था; पर अब वह कपट-व्यवहार के द्वारा होता है।

अतः पुराने जमाने की हिंसा के प्रतिकार के लिए यह आवश्यक था कि शस्त्र-बल का प्रतिकार शस्त्र-बल के द्वारा ही किया जाए। पर अब वह बात नहीं रही। देश और जातियाँ प्रत्यक्ष-हिंसा द्वारा नहीं, कपट-व्यवहार से जीती जा रही हैं, इसीलिए इस हिंसा को रोकने के लिए अब हमें उस कपट की ही कलई खोल देनी चाहिए जो थोड़े से सशस्त्र लोगों को अधिकांश लोगों पर हिंसा का आतंक जमाए रखने में सहायता करता है।

इस कपट-व्यवहार का मूल यह है—वे अल्पसंख्यक लोग जो अपने पूर्वज विजेताओं से परंपरा द्वारा विरासत में सत्ता प्राप्त करते हैं, बहुसंख्यक लोगों से कहते हैं, आप लोग संख्या में हैं बहुत ज्यादा, पर आप मूर्ख और अशिक्षित हैं। आप न तो अपना शासन कर सकते हैं, और न कोई समाजोपयोगी कार्य ही करने की योग्यता रखते हैं। इसलिए इन सब चिंताओं का भार हम लोग अपने सिर पर ले लेते हैं। हम आपको विदेशी शत्रुओं से भी बचाएँगे और देश की भीतरी शासन-व्यवस्था भी सँभाल लेंगे।

न्याय के लिए अदालतें खोल देंगे, उनका आपकी तरफ से काम-काज भी हमीं चला लेंगे। आपकी सार्वजनिक संस्थाएँ, पाठशालाएँ, सड़कें और डाकवगैरह की देखभाल भी हमीं कर लेंगे। आपके फायदे की जितनी भी चीजें हैं, हम उन सबका संचालन आपके लिए करते रहेंगे। इसके बदले में आपको केवल हमारी कुछ छोटी-छोटी माँगें पूरी करनी होंगी। एक तो आपको अपनी आय का एक छोटा-सा हिस्सा इन सब बातों के खर्च के लिए पूर्णतया हमारे अधिकार में दे देना होगा और दूसरे आपमें से कुछेक लोगों को सेना में काम करना होगा जो आपको अपनी रक्षा के लिए अत्यंत आवश्यक है। और अधिकांश लोग इसे स्वीकार कर लेते हैं। इसके लाभ-हानि का पूरा विचार करके नहीं—इसका तो उन्हें कभी पूरा मौका ही नहीं मिलता—बल्कि महज इसलिए कि वे जन्मतः ही अपने-आपको इस परिस्थिति में पाते हैं।

कहीं कभी किसी के दिल में इसके विषय में संदेह उत्पन्न भी होता है तो वह केवल अपने ही विषय में विचार करके रह जाता है और सोचता है कि इन बातों से मैं इनकार करूँगा तो मुझे बहुत हानि उठानी पड़ेगी। प्रत्येक आदमी इन शर्तों को अपने फायदे के लिए उपयोग करने की आशा रखता है। वह सोचता है कि सरकार को अपनी आय का एक छोटा-सा हिस्सा दे देने और सेना में नौकरी करना स्वीकार कर लेने से मेरी बहुत भारी हानि नहीं होगी।

पर सरकारों के हाथों में पैसा और सिपाही आए नहीं और वे अपने बचनों को भूली नहीं। प्रजा-जनों की रक्षा और कल्याण का विचार छोड़ वे पड़ोसी राष्ट्रों को सताने का मौका ढूँढ़कर कोई लड़ाई सुलगाने की ताक में बैठी रहती हैं। प्रजा के सच्चे कल्याण की बात तो दूर रही, वे उसे उल्टा बरबाद और पतित करती हैं।

आरब्योपन्यास (Arabian Nights) में एक मजेदार कहानी है। एक बटोही था। दुर्भाग्यवश वह एक निर्जन द्वीप में छोड़ दिया गया। वहाँ उसे एक झरने के पास एक बूढ़ा मनुष्य बैठा हुआ दिखाई दिया, बूढ़े के पैर बहुत दुबले-पतले और कमजोर दिखाई देते थे। बूढ़े ने बटोही से प्रार्थना की कि भाई! जरा मुझे अपने कंधे पर बिठाकर इस नाले के उस पार ले चलो तो आपका बड़ा कल्याण होगा। पथिक ने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर उसे अपने कंधे पर ले लिया। ज्यों ही बूढ़े ने देखा कि मैं पथिक के कंधे पर अच्छी तरह बैठ गया हूँ, उसने अपने पैरों के बीच पथिक की गर्दन को जोर से धर दबाया। बूढ़ा उसे किसी प्रकार छोड़ना नहीं चाहता था। अब वह ऊपर बैठे-बैठे उस पथिक को मनमाना इधर-उधर अपने घोड़े की तरह हाँकने लगा। पेड़ों से पके-पके फल तोड़-तोड़कर पथिक को बिना दिए ही आप खाने लगा और उस बिचारे को तरह-तरह की गालियाँ देने लगा।

धन (कर) और जन (सिपाही) के द्वारा सरकारों की सहायता करनेवालों की

भी ठीक यही हालत है। इस धन से सरकारें तोपें खरीदती-बनवाती हैं, और किराए के सिपाही, जो केवल पशु होते हैं; तैयार करती हैं, हृदय-हीन, गुलाम-वृत्ति वाले सेना-नायक निर्माण करती हैं। और ये सेना-नायक बरसों, युगों तक उन सिपाहियों को पशु-जीवन की तालीम दे-देकर उनकी ऊँची और कोमल भावनाओं को नष्ट कर डालते हैं। जब इस तरह वे सब तैयार हो जाते हैं तब कहा जाता है कि सेना उत्तम प्रकार की तालीम पाकर तैयार हो गई। इस तालीम के मानी मनुष्य को पशु बनाना है—जो लोग इस तालीम को कुछ समय तक प्राप्त करते हैं और उसकी अधीनता में रहते हैं वे मानव-जीवन में जो कुछ भी श्रेष्ठता है उससे हाथ धो बैठते हैं और अपनी स्वतंत्र विवेचना-शक्ति खो बैठते हैं तथा मनुष्य को मारनेवाले यंत्रों की भाँति अपने अफसरों के इशारे पर प्रत्येक काम बिना विचारे करने लग जाते हैं। आधुनिक सरकारों की इस धोखेबाजी का किला यही तालीम-याफ्ता फौजें हैं जिनके द्वारा वे दूसरे देशों की स्वाधीनता हरण करती हैं। इन फौजों की अपनी इच्छा-शक्ति तो होती ही नहीं। अत: जब उनके हाथों में हिंसा और हत्या का यह भीषण शस्त्र होता है, तब पशु-बल द्वारा देश को वे फौरन अपनी अधीनता में कर लेती हैं और एक बार किसी देश या जाति की स्वाधीनता का अपहरण कर लेने पर फिर ये सरकारें उसे छोड़ने भी क्यों लगीं? तब तो वे उन्हें अपना शिकारगाह-सा बना लेती हैं। धर्म और स्वदेश-प्रेम की झूठी शिक्षा दे-देकर उनकी बुद्धि को भ्रष्ट करती हैं और ये सरकारें जो लोगों को गुलाम बनाकर उन्हें नाना प्रकार की यंत्रणाओं में डालती हैं, अपने प्रति स्वामी-भक्ति की शिक्षा दे उन बेचारे विजितों की और भी खराबी करती हैं।

संसार के तमाम राजा, बादशाह, राष्ट्रपति फौजी तालीम को क्यों इस तरह दिल से चाहते हैं, फौज में जरा भी खलबली होते ही इनके होश क्यों उड़ जाते हैं? फौजों की देख-भाल, हलचल, परेड, जुलूसों में होनेवाले कूच, और अन्य मूर्खतापूर्ण बातों को इतना महत्त्व वे क्यों देते हैं? यह सब व्यर्थ और अहेतुक नहीं है। वे जानते हैं कि इससे फौजी तालीम हमेशा ताजी बनी रहती है और यही तालीम तो उनकी सत्ता नहीं, अस्तित्व की भी जड़ है।

इन तालीम-याफ्ता फौजों की सहायता से ही सरकारें स्वयं दूर रहकर, ऐसे-ऐसे निर्घिन अत्याचार और हत्या-कांड कर डालती हैं जिनकी संभावना के डर मात्र से लोग उनकी अधीनता स्वीकार करने लग जाते हैं।

अत: इन सरकारों को नष्ट करने का उपाय हिंसा शक्ति नहीं, केवल इस कपट और मक्कारी की कलई खोल देना ही है। यह आवश्यक है कि लोग सरकारों के कपट-जाल को समझ लें। वे सबसे पहले यह समझ लें कि ईसाई जगत् के किसी राष्ट्र या जाति को दूसरे राष्ट्र या जाति से रक्षा करने की आवश्यकता ही नहीं। इन जातियों में

जो द्वेषभाव वर्तमान है उसको इन सरकारों ने ही उत्पन्न किया है। इन बड़ी-बड़ी फौजों की जरूरत राष्ट्रों और जातियों को नहीं बल्कि उन अल्पसंख्यक दलों को है जो लोगों पर शासन करना चाहते हैं। आम जनता के लिए तो ये फौजें उल्टी हानिकर हैं, क्योंकि यही तो उनकी स्वाधीनता को नष्ट करती हैं। लोगों पर शासन करना चाहते हैं। आम जनता के लिए तो ये फौजें उल्टी हानिकर हैं, क्योंकि यही तो उनकी स्वाधीनता को नष्ट करती हैं। लोगों को यह भी समझ लेना चाहिए कि जिस 'तालीम' की ये सरकारें इतनी कदर करती हैं, और जिसे वे इतना महत्त्वपूर्ण समझती हैं, वह एक बड़ा-से-बड़ा जुर्म है जो कि मनुष्य-प्राणी कर सकता है। सरकारों के दुष्ट हेतु का वह यथार्थ परिचय देता है।

इस फौजी तालीम के मानी हैं मानव-बुद्धि और स्वाधीनता का गला घोंटना! वह आदमी को पशु से गया-बीता बना देती है। फौजी तालीम में बड़ा आदमी ऐसे-ऐसे बुरे काम कर डालता है जो मामूली आदमी कभी नहीं कर सकता। वह तो राष्ट्रीय और रक्षात्मक युद्ध के लिए भी अनावश्यक है। बोअरों ने इस बात को अभी-अभी सिद्ध करके दिखा दिया है। उसकी आवश्यकता तो केवल उन भीषण हत्या-कांडों के लिए ही होती है जो अपने भाई-बंदों और देश-भाइयों को मारने के लिए होते हैं, जैसा कि दूसरे विलियम ने बता दिया है।

ये सरकारें उस पथिक के कंधे पर बैठनेवाले भयंकर बूढ़े के जैसा ही बरताव कर रही हैं। बूढ़े ने उस पथिक का उपहास किया, अपमान किया, क्योंकि वह जानता था कि जब तक मैं इसके कंधे पर सवार हूँ यह मेरे अधीन है।

सरकारें भी ठीक यही जघन्य व्यवहार कर रही हैं। नालायक आदमियों के ये छोटे-छोटे दल, जिनका नाम 'सरकारें' हैं, और जो राष्ट्रों और जातियों पर अपना आतंक फैलाए हुए हैं, ये जनता को महज लूट-लूटकर अधिक गरीब नहीं बनाते बल्कि और भी सबसे बड़ा पाप करते हैं। बचपन से देश की संतति की बुद्धि में कुसंस्कार डाल-डालकर उनकी मति को ही पलट देते हैं। इन सरकारों को और उनसे उत्पन्न होनेवाले गुलामी को नष्ट करने के लिए यह नितांत आवश्यक है कि उनकी इस मक्कारी को हम सब पर जाहिर कर दें।

यूजेन स्कमिट नामक किसी जर्मन लेखक ने बुडापोस्ट के 'ओनस्टाट' नामक अखबार में एक लेख लिखा था, जिसके भाव और भाषा दोनों सत्य और साहसपूर्ण थे। अपने अधीनस्थ लोगों को सुरक्षितता का आश्वासन देनेवाली सरकारों की तुलना उसने कालाब्रियन नामक डाकूराज से की थी। कालाब्रियन अपने प्रदेश में से प्रवास करनेवाले पथिकों से कहता, ''यदि कुशलपूर्वक प्रवास करना चाहते हो तो इतने रुपए यहाँ रख दो।'' स्कमिट पर उस लेख के लिए मुकदमा चलाया गया था, पर जूरी ने

उसे दोष-मुक्त कहकर छोड़ दिया।

इन सरकारों ने हमारी बुद्धि को इस तरह चक्कर में डाल रखा है कि यह तुलना भी हमें एक अतिशयोक्ति, एक पहेली, एक मजाक-सी मालूम होती है। पर यथार्थ में यह पहेली या मजाक नहीं है। अगर इस तुलना में कोई दोष है तो वह यही है कि इन सरकारों की करतूतें उस कालाब्रियन डाकूराज की करतूतों से कई गुनी अधिक अमानुष और हानिकर हैं। वह डाकू तो अक्सर धनिकों को ही लूटता था, पर ये सरकारें अक्सर गरीबों को ही लूटती हैं, और धनवानों में भी उन्हीं की रक्षा करती हैं जो इन अपराधों में उसकी सहायता करते हैं। डाकू यह सब करते हुए अपनी जान जोखिम में डालता था, पर ये सरकारें तो तनिक भी जोखिम नहीं उठातीं, इनकी तमाम करतूतें धोखेबाजी से भरी हुई हैं। डाकू किसी को अपने दल में शामिल होने के लिए मजबूर नहीं करता था, पर ये सरकारें तो लोगों को सिपाही बनने के लिए मजबूर भी करती हैं। डाकू को जो लोग कर देते थे, सबको एक-सी सुरक्षितता का काम मिलता था, पर इन सरकारों के राज्य में तो जितना ही कोई उनकी इन सुसंगठित धोखेबाजी में सहायता करता है, उसे केवल उतनी सुरक्षितता ही नहीं, बल्कि इनाम-इकरार भी मिलते हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि बादशाह, राजा और राष्ट्रपति आदि की(मय उनके शरीर-रक्षकों के) रक्षा की जाती है और वे ही उस धन का सबसे बड़ा हिस्सा खर्च कर सकते हैं, जो करों के रूप में लोगों से इकट्ठा किया जाता है। सरकारों के इन अपराधों में शरीक होनेवाले इनसे दूसरे नंबर में हैं—सेनानायक, मंत्री, पुलिस विभाग के प्रधान कर्मचारी और गवर्नर से लेकर पुलिस के मामूली-से-मामूली सिपाही तक जो सबसे कम सुरक्षित और सबसे कम तनख्वाह पाते हैं। इधर जो सरकारों के अत्याचारों और अपराधों में उनका साथ नहीं देते, उनको नौकरी करने, कर देने, अदालतों में जाने आदि से इनकार करते हैं, उन पर हिंसा का प्रयोग किया जाता है, जैसा कि डाकू लोग करते हैं। डाकू जान-बूझकर लोगों में दुर्गुण का प्रचार नहीं करते, पर सरकारें अपना मतलब साधने के लिए बचपन से लेकर बड़े होने तक लोगों में झूठे धार्मिक और मूर्खतापूर्ण स्वदेश-प्रेम के संस्कारों को भर-भर कर बिगाड़ती रहती हैं। पर यह तो कुछ नहीं के बराबर है। निर्दयी-से-निर्दयी डाकू—स्टेंका रेजीन और कार्टूक की भी इन दुष्ट सरकारों की दुष्टता, निर्दयता और यंत्रणाएँ देने के नवीन-नवीन तरीके ढूँढ़ने की शक्ति के साथ तुलना नहीं की जा सकती। उस भयंकर जान, ग्यारहवें लुई और एलिजाबेथ के जमाने के महा दुष्ट राजाओं की तो मैं बात ही नहीं करता हूँ। मैं तो हमारी इन सुधरी हुई सुव्यवस्थित 'उदारचेता' सरकारों की बात कह रहा हूँ, जिनके यहाँ कैदियों के लिए काल कोठरियाँ हैं, जो बड़ी-बड़ी नियमबद्ध फौजें रखती हैं, बलवाइयों को दबाती हैं और महायुद्धों

में उनकी हत्याएँ करती हैं।

सरकार और इन गिरजाघरों के प्रति मनुष्य के हृदय में सिवाय भक्ति या तिरस्कार के भाव के दूसरी कल्पना ही नहीं आ सकती। जब तक आदमी सरकारों और गिरजाघरों की असली स्थिति को नहीं जान लेता, तब तक उसके हृदय में बराबर उन संस्थाओं के प्रति भक्ति ही बनी रहेगी; जब तक उन्हें वह अपना पथ-प्रदर्शक समझता रहेगा उसका दंभ उसके लिए यह आवश्यक कर देता है कि उसको रास्ता दिखानेवाली चीजें अवश्य ही अनादि, महान और पवित्र हैं। पर जिस क्षण वह समझ लेता है कि उसको मार्ग दिखानेवाली चीजें सचमुच, अनादि, महान और पवित्र नहीं, बल्कि नाजायज लोगों का दल है, जो मनुष्य को रास्ता बताने के बहाने अपने नीच स्वार्थ के लिए उसका उपयोग करते हैं, बस उसी क्षण इन लोगों के प्रति उसके हृदय में घोर तिरस्कार उत्पन्न हो जाएगा। अपने जीवन के जितने महत्त्वपूर्ण हिस्से में इनके चक्कर में वह आया होगा, उतने ही जोरों से वह इनका तिरस्कार करने लगेगा।

जब लोग सरकारों की असलियत को समझ लेंगे, तब तो उनके दिलों में भी वह उठे बिना नहीं रह सकता।

लोगों के दिल में यह बात जम जानी चाहिए कि उनका सरकारों के अपराधों में हाथ बँटाना, जैसा कि वे समझते हैं, एक उपेक्षा-योग्य बात नहीं है। सरकारों की नौकरी करना, उन्हें कर देना, उनकी फौजों में भरती होना आदि बातें उपेक्षा-योग्य नहीं हैं। इनके मानी हैं, सरकारों के द्वारा अविरत होनेवाले और तालीमयाफ्ता फौजों की सहायता से आगे किए जानेवाले पापों में प्रत्यक्ष सहायता करना—स्वयं अपने भाइयों और बहनों के विनाश में सहायक होना।

भले ही मरकारें अपनी स्थिति को मजबूत बनाए रखने के लिए लोगों की बुद्धि में भ्रम डालती रहें, अब उनकी भक्ति और आदर का जमाना तेजी से बीत रहा है। लोगों को अब यह जान लेने का समय आ गया कि सरकारें न केवल अनावश्यक हैं, बल्कि हानिकर और अत्यंत अनीतियुक्त संस्थाएँ हैं, जिनकी करतूतों में एक प्रामाणिक और स्वाभिमानी मनुष्य कभी भाग नहीं ले सकता और न उसे लेना ही चाहिए। वह न कभी उनसे होनेवाले फायदों का लाभ ही उठा सकता है, और न उसे उठाना ही चाहिए।

ज्यों ही लोग इस कथन की यथार्थता को समझ लेंगे, त्यों ही वे स्वभावतः ऐसे कार्यों में भाग लेना अर्थात् सरकारों को सिपाही और धन द्वारा सहायता करना बंद कर देंगे। केवल जनता के अधिकांश हिस्से ने उन्हें सहायता देना बंद किया नहीं कि वह धोखेबाजी, जो लोगों को गुलाम बनाए हुए है, नष्ट हुई नहीं।

लोगों को गुलामी से मुक्त करने का यही एकमात्र उपाय है।

प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य

कई लोग अब तक जिस स्थिति में रहते आए हैं, उसके आदी हो गए हैं। अतः अपनी स्थिति को बदलना या तो वे असंभव मानते हैं, अथवा असंभव न मानकर भी बदलना नहीं चाहते। वे कहेंगे,"पर यह तो सर्व-साधारण तौर से विचार हुआ। विचार-शैली सही हो या गलत, पर जीवन में इन पर अमल तो कदापि नहीं हो सकता।"

संपन्न वर्ग के लोग कहते हैं, "हमें यह बताओ कि करना क्या चाहिए? अब समाज का संगठन किस तरह करना चाहिए।"

गुलामों के मालिक अपनी स्थिति के इतने आदी हो गए हैं कि जब इन्हें श्रमजीवियों की हालत सुधारने के लिए कहा जाता है, तब वे एकदम अपने गुलामों के लिए कितनी ही योजनाएँ गढ़ने लग जाते हैं; पर उन्हें कभी यह खयाल नहीं होता कि अपने ही भाई-बंदों का भाग्य-विधायक बनने का हमें क्या हक है? और यदि वे सचमुच उनका कल्याण करना चाहते हैं, तो उसका सबसे सरल और एकमात्र उपाय तो यही है कि जिस बुराई को वे कर रहे हैं, उसे छोड़ दें। यह बुराई तो बिल्कुल साफ-साफ और स्पष्ट है। गुलामों से वे जबर्दस्ती केवल काम ही नहीं लेते हैं। वे तो उस बुराई को छोड़ना भी नहीं चाहते, बल्कि उल्टे इस तरह लोगों से जबर्दस्ती परिश्रम करने की प्रथा का समर्थन कर प्रतिष्ठित कर देना चाहते हैं। यही बुराई है। बस, इसे ही उन्हें बंद कर देना चाहिए।

श्रमजीवी लोगों की बुद्धि भी इस गुलामी से ऐसी भ्रष्ट हो गई है कि यदि उनको अपनी स्थिति खराब मालूत होती है तो वह सोचते हैं कि यह तो उनके मालिकों का दोष है, जो उन्हें बहुत कम वेतन देते हैं और उत्पादक साधन अपने हाथों में रखते हैं। उन्हें कभी यह नहीं सूझता है कि उनकी दुर्दशा का कारण स्वयं वे ही हैं, न उन्हें यही सूझता है कि वे अपना, अपने भाइयों का भला चाहते हैं तो उन्हें केवल अच्छे-से-अच्छे काम करने चाहिए, बल्कि पहले स्वयं ही इस बुरे काम को छोड़ देना चाहिए जिससे उनकी इतनी दुर्दशा हो रही है। कैसा आश्चर्य है कि वे उन्हीं बातों के द्वारा अपनी आर्थिक अवस्था सुधारना चाहते हैं कि जिसके कारण वे इस गुलामी में फँस गए हैं। श्रमजीवी अपनी बुरी आदतों से लाचार हो अपनी मनुष्यता और स्वाधीनता को तिलांजलि देकर नीच, अनीतियुक्त नौकरियाँ करते फिरते हैं। अथवा अनावश्यक हानिकर चीजें बनाते फिरते हैं। सबसे बुरी बात यह कि कर वगैरह देकर या प्रत्यक्ष नौकरी करके वे सरकारों को चलाते हैं और अपनी स्वाधीनता को भी खोकर गुलाम बनते हैं।

यदि हम अपनी दशा सुधारना चाहते हैं तो श्रमजीवी तथा संपन्न वर्ग को भी यह

जान लेना चाहिए कि केवल अपने-अपने स्वार्थ पर दृष्टि रखने से ही काम न चलेगा। सेवा त्याग पर निर्भर है। अतः लोग यदि सचमुच केवल अपना ही नहीं वरन् अपने भाइयों का भी कल्याण चाहते हैं तो उन्हें वह जीवन-शैली छोड़ देनी चाहिए जिसके कि वे अब तक आदी बने हुए हैं। इतना ही नहीं, बल्कि अब तक उन्हें जो लाभ हो रहे थे, उनको भी तिलांजलि देने को उद्यत हो जाना चाहिए। उन्हें तैयार हो जाना चाहिए एक भीषण युद्ध के लिए, सरकारों के खिलाफ नहीं, अपने और अपने प्रियजनों की कमजोरियों और अपूर्णताओं के खिलाफ और सरकार की आज्ञाओं की अवज्ञा के पुरस्कार में जो-जो कठिनाइयाँ आएँ, उनका सामना करने के लिए।

इसलिए इस प्रश्न का उत्तर कि हमें क्या करना चाहिए, अजहद सरल और निश्चित है। इतना ही नहीं, बल्कि प्रत्येक मनुष्य के लिए अधिक-से-अधिक योग्य और व्यवहार्य है। पर स्मरण रहे कि यह ठीक वैसा नहीं, जैसा कि संपन्न वर्ग और श्रमजीवी चाहते हैं। संपन्न लोग समझते हैं कि हम तो दूसरों की गलतियाँ सुधारने के लिए ही नियुक्त हुए हैं, (अपनी नहीं, क्योंकि अपने को तो वे पहले ही से सर्वगुण-संपन्न मान लेते हैं)। उधर श्रमजीवी सोचते हैं, नहीं अपनी इस दुरवस्था का कारण स्वयं हम नहीं बल्कि पूँजीपति हैं। वे सोचते हैं कि हमारी हालत तो तभी अच्छी हो सकती है, जब हम पूँजीपतियों से वे वस्तुएँ लें जिनका उपयोग वे कर रहे हैं और किसी प्रकार ऐसा नियम कर दें जिससे आज जो सुविधाएँ केवल धनिकों को ही नसीब होती हैं सबको मिलने लग जाएँ। यह खयाल भ्रमपूर्ण है। मैं जो सूचित करना चाहता हूँ वह इससे बिल्कुल भिन्न है और सबके लिए एक-सा उपयोगी और व्यवहार्य है; क्योंकि वह सूचना केवल उसी व्यक्ति से काम लेने को कहती है जिस पर हममें से प्रत्येक का उचित और पूर्ण अधिकार है। यह व्यक्ति है, स्वयं उसका शरीर, सूचना यही है कि यदि मनुष्य केवल अपनी ही नहीं वरन् अपने भाइयों की दशा सुधारना चाहता है, तो उसे वे बातें नहीं करनी चाहिए जो उसे या उसके भाइयों को गुलाम बनानेवाली हों। इसलिए स्वयं उसे तथा उसके भाइयों को दुर्दशा में डालनेवाले कार्यों से बचने के लिए मनुष्य को न तो स्वेच्छा से और न मजबूर करने पर सरकार के किसी काम में भाग लेना चाहिए। वह न तो सिपाही, न फील्ड मार्शल, और न राज्य का प्रधानमंत्री बने। वह सरकार का भी कर इकट्ठा न करे, न गवाह बने और न उसका न्यायाधीश, पंच, गवर्नर, पार्लियामेंट का सदस्य अथवा हिंसा से संबंध रखनेवाला कोई पद धारण करे। यह हुई एक बात।

दूसरे, वह मनुष्य प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से कभी सरकार को स्वेच्छा से कर न दे; न सरकारी कर के रूप में इकट्ठे किए हुए धन का वह स्वयं ही उपयोग करे, फिर वह उसे तनख्वाह के रूप में मिलता हो या पेंशन या इनाम के रूप में; वह कभी सरकारी

संस्थाओं का उपयोग न करे क्योंकि वे भी जनता पर जुल्म करके इकट्ठा किए गए धन की सहायता से ही चलाई जाती हैं। यह हुई दूसरी बात।

तीसरे, यदि मनुष्य केवल अपना नहीं बल्कि सर्व-साधारण का कल्याण चाहता है तो उसे अपनी जमीन-जायदाद तथा अपने प्रियजनों की रक्षा के लिए सरकार से अपील नहीं करनी चाहिए। वह केवल उतनी ही ज़मीन और अपने तथा दूसरों के परिश्रम से उत्पन्न की चीजें रखे जिनके लिए दूसरे लोग किसी प्रकार उससे दावा न करते हों।

यह सुनकर लोग कहेंगे, ''यह तो असंभव है, सरकार के सभी कामों में भाग लेने से इनकार करना मानो जीने से इनकार करना है। यदि आदमी सिपाही बनने से इनकार करेगा; फौरन जेल में ठूँस दिया जाएगा, यदि मनुष्य कर देने में आनाकानी करेगा तो उसे सजा होगी, और उसकी जायदाद से कर वसूल कर लिया जाएगा। जिस मनुष्य की आजीविका का कोई दूसरा साधन नहीं है वह यदि सरकारी नौकरी करने से भी इनकार कर दे तो वह बाल-बच्चों सहित भूखों मर जाएगा। वही हालत उस आदमी की भी होगी जो सरकार से मिलनेवाली सुरक्षितता को अस्वीकार करेगा। सरकारी संस्थाओं का तथा उन वस्तुओं का जिन पर सरकार के द्वारा कर लगाया गया है उपयोग करने से इनकार करना भी असंभव है क्योंकि अक्सर तमाम आवश्यक वस्तुओं पर सरकार ने कर लगा ही तो रखा है। उसी प्रकार सड़कें, डाक आदि सरकारी संस्थाओं का उपयोग करने से आदमी कैसे इनकार कर सकता है।

निस्संदेह यह सत्य है कि इस जमाने में सरकार की हिंसा में भाग लेने से इनकार करना मनुष्य के लिए बहुत कठिन है। यह ठीक है कि प्रत्येक मनुष्य अपना जीवन इस तरह नहीं निबाह सकता कि वह सर्वांश में सरकारी हिंसा से अछूता रहे। पर इसके मानी यह तो कदापि नहीं कि वह ऐसा शनैः-शनैः भी नहीं कर सकता। मैं मानता हूँ कि प्रत्येक मनुष्य में इतनी शक्ति नहीं होती कि वह अनिवार्यतः सेना में भरती होने की आज्ञा से इनकार कर दे (यद्यपि ऐसे आदमी हैं और आगे भी होंगे)तथापि प्रत्येक मनुष्य स्वेच्छापूर्वक सेना, पुलिस-दल, न्याय और मुल्की नौकरी में भरती होने से तो जरूर इनकार कर सकता है। ऊँची तनख्वाहवाली सरकारी नौकरी की बजाए कम तनख्वाहवाली किसी खानगी नौकरी को तो वह जरूर पसंद कर सकता है। मैं मानता हूँ कि प्रत्येक आदमी अपनी जमीनों को तो नहीं छोड़ सकता (यद्यपि संसार में ऐसे भी त्यागी पुरुष हैं) पर ऐसी जायदाद की अन्यायता और अनौचित्य को स्वीकार करते हुए वह उसको यथासंभव कम तो अवश्य कर सकता है। मैं यह भी मानता हूँ कि प्रत्येक आदमी न तो अपनी संपत्ति का और न अपनी उपयोगी चीजों का एकाएक त्याग कर सकता है (यद्यपि संसार में ऐसे लोग भी हैं) तथापि अपनी आवश्यकताओं को

घटाकर लोगों के हृदय में ईर्ष्या और लोलुपता उत्पन्न करनेवाली चीजों से संग्रह को यथासंभव कम तो जरूर कर सकता है। यह भी सत्य है कि प्रत्येक पदाधिकारी सरकारी नौकरी का त्याग भी नहीं कर सकता(यद्यपि ऐसे कितने ही पुरुष हैं जो अप्रामाणिक सरकारी नौकरी करने के बजाए भूखों रहना पसंद करते हैं) पर हिंसा के उत्तरदायित्व से यथासंभव बचने के लिए वह अधिक तनख्वाह वाली नौकरी को छोड़कर कम तनख्वाह पर काम करना तो अवश्य स्वीकार कर सकता है। प्रत्येक मनुष्य सरकारी पाठशाला का उपयोग करने से भी इनकार नहीं कर सकता(यद्यपि ऐसे लोग हैं) पर सरकारी स्कूलों के बजाए प्रत्येक मनुष्य यथासंभव खानगी पाठशालाओं का उपयोग भी कर सकता है। इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को घटाकर साथ ही परिग्रह को भी कम कर सकता है और सरकारी संस्थाओं से भी यथाशक्ति दूर रह सकता है।

दो जुदी-जुदी स्थितियाँ हैं। एक तो पशु-बल पर प्रस्थापित वर्तमान अवस्था और दूसरा ज्ञान-युक्त और आचार द्वारा प्रस्थापित एकता वाले समाज का आदर्श। धीरे-धीरे मानव-समाज पहली स्थिति से दूसरी की ओर चढ़ रहा है और इन दोनों के बीच में अत्यंत सीढ़ियाँ हैं। ज्यों-ज्यों हम उस हिंसा में भाग लेने, उससे लाभ उठाने और उसके आदी बनने से अपने को बचाते रहेंगे त्यों-त्यों और उसी परिभाषा में उस आदर्श की तरफ बढ़ते जाएँगे।

हम यह नहीं जानते और न उन झूठे वैज्ञानिकों के समान भविष्य कथन ही कर सकते हैं कि किस प्रकार ये सरकारें कमजोर होंगी और किस तरह लोग स्वाधीन होंगे। न हम यही जानते हैं कि उस स्वाधीनता के मार्ग में चलते-चलते मनुष्य समाज किन-किन अवस्थाओं में से गुजरेगा। पर हम यह जरूर मानते हैं कि जो शख्स सरकार की करतूतों की अपराध्यता तथा हानिकरता को पूर्णतः समझकर उनका उपयोग करने या उनमें भाग लेने से इनकार करने का प्रयत्न करेंगे उनका जीवन बिल्कुल भिन्न होगा। वह वर्तमान जीवन की अपेक्षा, जिसमें लोग सरकारी हिंसा में भाग लेते हुए, उनका लाभ उठाते हुए सरकारों के खिलाफ झगड़ने का बहाना करते हैं और नई हिंसा के द्वारा पुरानी हिंसा को नष्ट कर देना चाहते हैं, जीवन-नियमों और सद्विवेक बुद्धि के कहीं अधिक अनुकूल होगा।

मुख्य बात यह है कि हमारा वर्तमान जीवन बहुत बुरा है। इस पर सभी सहमत हैं। वर्तमान दुर्दशा का और गुलामी का कारण है हिंसा, जिसका उपयोग तमाम सरकारें करती हैं। इस हिंसा को नष्ट करने का एकमात्र उपाय है उसमें भाग लेने से इनकार कर देना। अतः यह प्रश्न व्यर्थ है कि सरकारी हिंसा में भाग लेने से इनकार करना सरल है या कठिन अथवा उसका फल हमें शीघ्र मिलेगा या देर से, क्योंकि लोगों को

गुलामी से मुक्त करने का केवल वही एक उपाय है, दूसरा है नहीं।

हिंसा का उन्मूलन कर मानव-समाज हिंसा और प्रेम-धर्म को प्रत्येक जाति और देश-भर में कब प्रतिष्ठित कर देगा, यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। लोग जितने अंशों में, जितनी ही अधिक संख्या में और जितनी ही अधिक शक्ति के साथ इस तत्त्व को समझेंगे उतनी ही उस आदर्श की तरफ हमारी गति तेज होगी। हमसे प्रत्येक आदमी अलग-अलग है। प्रत्येक आदमी अपनी थोड़ी या अधिक जागृति के अनुसार थोड़े या अधिक परिमाण में इस मानवोपकारी आंदोलन की प्रगति में सहायक या बाधक हो सकता है। प्रत्येक को दो में से एक रास्ता चुनना होगा। या तो वह परमात्मा की इच्छा के खिलाफ बालू पर अपने चार दिन के मायाधीन जीवन का नाशवान् घर बना ले या वह परमात्मा के आदेश के अनुसार सच्चे जीवन के अमर आंदोलन में शरीक हो जाए।

पर शायद मैं गलती करता हूँ। मानव-इतिहास का अवलोकन करने से शायद हम इस नतीजे पर नहीं पहुँचते। शायद मानवता गुलामी से आजादी की तरफ न भी बढ़ रही हो। शायद यह भी सिद्ध कर दिया जा सके कि हिंसा प्रगति का एक आवश्यक अंग है। शायद यह भी सिद्ध हो जाए कि ये हिंसात्मक सरकारें भी मानव-समाज का एक आवश्यक अंग हैं और यदि सरकारें नष्ट हो गईं तथा लोगों के जानो-माल की रक्षा का साधन-नष्ट कर दिया गया तो मनुष्य जाति की बड़ी दुर्दशा होगी।

हम यह मान लेते हैं कि शायद यही बात सच हो और कहते हैं कि शायद हमारा अब तक का कथन भ्रमपूर्ण हो। पर मानव-समाज के सामान्य विचार के अतिरिक्त मनुष्य को अपनी व्यक्तिगत भलाई-बुराई के प्रश्न का भी तो विचार करना पड़ता है न? मानव-समाज के जीवन-संबंधी सामान्य नियम जो कुछ भी हों मनुष्य वह बात तो कदापि नहीं कर सकता जिसे वह केवल हानिकारक ही नहीं, बल्कि अन्याय समझता है।

बहुत संभव है कि विचार-शैली इतिहास से सिद्ध हो सकती हो कि व्यक्तिगत और सरकारी हिंसा का विकास एक शासन-संस्था (राज्य) है और शायद वह सत्य भी हो, पर हमारे जमाने का प्रामाणिक और शुद्ध हृदयवाला आदमी कहेगा, ''इन सब तर्कों को मैं नहीं मानता। वे सच हों या झूठ। मैं तो अच्छी तरह जानता हूँ कि खून-खराबी बुरी बात है और मुझे सेना में भरती होने के लिए कहकर फौज खड़ी करने और उसे तैयार करने अथवा तोपें खरीदने और जंगी जहाज बनाने के लिए मुझसे धन माँगकर आप मुझे उस खून-खच्चर में शरीक करना चाहते हैं। पर न तो मैं यह कर सकता हूँ और न करूँगा ही। मैं उस धन का उपयोग करना भी नहीं चाहता जो अपने गरीब-भूखे लोगों से खून करने की धमकियाँ दे-देकर एकत्र किया है और न आगे कभी उसका उपयोग करूँगा। आपके द्वारा सुरक्षित जमीन और जायदाद को भी मैं रखना

नहीं चाहता; क्योंकि मैं जानता हूँ कि आपकी यह रक्षा खून और हत्या पर निर्भर है।

''ये सब बातें मैं तब तक कर सकता था जब तक कि मैं उनकी बुराई नहीं समझ पाया था। पर एक बार उस बुराई को देख लेने पर अब मैं न तो अपनी तरफ से आँखें मूँद सकता हूँ और न इन बुराइयों में भाग ले सकता हूँ।

''मैं जानता हूँ कि इस हत्यारी व्यवस्था द्वारा हम इस कदर जकड़ दिए गए हैं कि इससे पूरी तरह बच निकलना अत्यंत कठिन है। फिर भी इसमें भाग न लेने के लिए मैं अपनी शक्ति-भर कोशिश करूँगा। मैं इस हत्या में शरीक नहीं हो सकता और इस बात का प्रयत्न करूँगा कि खून और हत्या की धमकियाँ दे-देकर जो भी कुछ प्राप्त किया जाता है और सुरक्षित रखा जाता है उसका कभी उपयोग न करूँगा। मेरे तो केवल एक ही जान है, फिर मैं अपनी इस संक्षिप्त चार दिन की जीवन-यात्रा में अपनी आत्मा की आवाज के खिलाफ कोई काम क्यों करूँ और क्यों आपकी इन भयंकर करतूतों में शरीक होऊँ? यह मैं नहीं कर सकता और न करना चाहता हूँ।

''और इसका नतीजा क्या होगा? मैं नहीं जानता। मैं तो केवल इतना जानता हूँ कि अपनी अंतरात्मा की आज्ञा के अनुसार काम करने से कोई अ-कल्याण और अ-मंगल नहीं होगा।''

इस तरह हमारे जमाने के प्रत्येक प्रामाणिक और शुद्ध हृदयवाले आदमी को उन तमाम दलीलों के जवाब में उत्तर देना चाहिए जो सरकारों की तथा हिंसा की आवश्यकता का सिद्ध करने का प्रयत्न करती हैं। उस भयंकर काम में शरीक होने के लिए जो आज्ञाएँ और निमंत्रण दिए जाएँ उनके उत्तर में भी उसे यही साफ-साफ कह देना चाहिए।

इस तरह हम अपनी बुद्धि की सहायता से तर्क करते हुए जिस नतीजे पर पहुँचते हैं उसका समर्थन और पुष्टि प्रत्येक मनुष्य की अंतरात्मा भी करती है जो सर्वश्रेष्ठ और सर्वोपरि प्रामाण्य है।

अंतिम कथन

उपर्युक्त कथन को पढ़कर कितने ही लोग कहेंगे, ''पर यह तो वही पुराना पुराण है। एक ओर तो आप वर्तमान व्यवस्था का विनाश करने का आग्रह कर रहे हैं, उसके स्थान पर कोई दूसरी व्यवस्था नहीं बताते और दूसरी ओर अकर्मण्यता का उपदेश करते हैं। सरकार की करतूतें खराब हैं। वही हालत जमींदारों; पूँजीपतियों, साम्यवादियों और क्रांतिकारी अराजक दलों की भी हैं। अर्थात् सभी व्यवहार्य कार्य खराब हैं। केवल एक प्रकार की नैतिक, आध्यात्मिक, अनिश्चित हलचल जिसका नतीजा घोर अव्यवस्था

और अकर्मण्यता है, अच्छी है।'' मैं जानता हूँ कि अनेक गंभीर और शुद्ध हृदय के लोग भी शायद यही सोचेंगे और कहेंगे।

अहिंसा से लोग चौंकते क्यों हैं। इसलिए कि अहिंसा के राज्य में उनकी संपत्ति अरक्षित रहेगी। प्रत्येक मनुष्य दूसरे से वह प्रत्येक वस्तु ले सकेगा जिसकी उसे आवश्यकता होगी अथवा जिसे वह महज पसंद करेगा और उसको कोई सजा न होगी। हिंसा द्वारा जान और माल की रक्षा के जो लोग आदी हो गए वे सोचते हैं कि ऐसी रक्षा के अभाव में समाज में हमेशा अव्यवस्था और पारस्परिक संघर्ष का लीला-स्थल बना रहेगा।

मैं पीछे समझा चुका हूँ कि हिंसा के बल पर जानो-माल की जो रक्षा की जाती है उससे यह अव्यवस्था और संघर्ष घटता नहीं, बल्कि उल्टा बढ़ता ही है; इस बात के समर्थन में अब मैं उन तमाम युक्तियों को नहीं दोहराऊँगा, पर मैं क्षण-भर मान लेता हूँ यदि अहिंसा-नीति के फलस्वरूप समाज में अव्यवस्था भी हो जाए तो उस हालत में उन लोगों को क्या करना चाहिए जो उन संकटों के मूल कारणों को समझ गए हैं?

यदि हम जानते हैं कि शराबखोरी के कारण हम बीमार हो गए हैं तो हमें (इस आशा से भी कि शराब की मात्रा घटा देने से हम अच्छे हो जाएँगे) शराब न पीते रहना चाहिए। न हमें अदूरदर्शी डॉक्टरों की दवा लेकर ही शराब पीते रहना चाहिए।

यही बात हमारे सामाजिक रोग की भी है कि कुछ लोग दूसरों के प्रति हिंसा का प्रयोग करते हैं। इसलिए सरकारी हिंसा का समर्थन कर अथवा उसके स्थान पर क्रांतिकारी अराजक व साम्यवादियों की हिंसा को प्रतिष्ठित करके हम समाज की दशा सुधारने की आशा नहीं कर सकते। यह तब तक हो सकता था जब तक कि जनता की दुरवस्था के मूल-भूत कारण को हमने स्पष्ट रूप से नहीं देखा था। पर इस बात के निश्चित रूप से प्रत्यक्ष करने पर कि एक दल द्वारा दूसरे दल पर अत्याचार होने के कारण ही समाज की यह दुर्दशा हो रही है, हमारे लिए यह असंभव है कि हम पुरानी हिंसा को कायम रखें या उसके स्थान पर दूसरी नवीन प्रकार की हिंसा को प्रतिष्ठित कर दें। शराबखोरी से बीमारियों के शिकार बने आदमी के लिए जब बीमारियों से छूटने का केवल यही उपाय है कि वह बीमारियों के मूल कारण—शराब को—छोड़ दे। उसी प्रकार समाज को इस दुरवस्था से मुक्त करने का भी एकमात्र उपाय यही है कि हम हिंसा से, जो कि इस बुराई और दु:खों का कारण है, बाज आएँ, उसका प्रचार न करें और न उसका समर्थन करें।

अहिंसा का अवलंबन करने का केवल यही कारण नहीं है कि वह हमारी तमाम सामाजिक बुराइयों का एकमात्र रामबाण उपाय है, बल्कि हमारे जमाने के प्रत्येक मनुष्य

के नैतिक सिद्धांत के वह पूरी तरह अनुकूल भी। यदि इस जमाने का आदमी इस बात को एक बार समझ ले कि उसकी जान या जायदाद की रक्षा हत्या या हत्या के भय के आधार पर की जा रही है तो वह फिर कभी आत्मिक शांतिपूर्वक उन चीजों का उपयोग न कर सकेगा जो हत्या या हत्या के भय-प्रदर्शन द्वारा उसे प्राप्त हुई हैं। फिर वह उन हत्याओं अथवा हत्या के भय-प्रदर्शन में भी क्यों भाग लेने चला? अतः जनसाधारण को दु:खों से मुक्त करने के लिए जिस तत्त्व (अहिंसा) की आवश्यकता है वह प्रत्येक मनुष्य को आत्मिक शांति के लिए भी परमावश्यक है। इसलिए इस बात में अब प्रत्येक मनुष्य को कभी संदेह नहीं होना चाहिए। उसका कर्तव्य है कि वह अपने तथा समाज के कल्याण का खयाल कर हिंसा में भाग न ले, उसका समर्थन न करे और न उसका उपयोग ही करे।

●

मेरी मुक्ति की कहानी

अनुवादक
रामनाथ 'सुमन'
परमेश्वरीदयाल विद्यार्थी

मेरी मुक्ति की कहानी

1

मेरा बपतिस्मा और पालन-पोषण ईसाई मत में हुआ था। मुझे बाल्यावस्था में तथा किशोर व युवावस्था में इसी मत के धार्मिक विश्वासों की शिक्षा-दीक्षा दी गई थी। परंतु जब मैं 18 साल की उम्र में यूनिवर्सिटी से निकला तो जो बातें मुझे सिखाई-पढ़ाई गई थीं, उनमें से किसी पर मेरा विश्वास नहीं रह गया था।

जहाँ तक मुझे याद पड़ता है कह सकता हूँ कि मुझे जो कुछ सिखाया-पढ़ाया गया था और मेरे इर्द-गिर्द के बड़े-बूढ़े लोग जिन बातों को मानते थे उन पर मेरा पक्का विश्वास कभी नहीं था, फिर भी मैं उन पर भरोसा करता था; परंतु मेरा यह भरोसा भी बड़ा डाँवाँडोल था।

मुझे याद है कि जब मैं पूरे ग्यारह साल का भी न था, तब स्कूल का ब्लाडीमीर मिलयटिन नाम का छात्र (जिसकी बहुत दिन हुए मृत्यु हो गई) एक रविवार को हमारे यहाँ आया और उसने एक सबसे ताज़ा नवीन बात हमें सुनाई, जिसकी खोज उसके स्कूल में हुई थी। खोज यह हुई थी कि ईश्वर नाम की कोई चीज़ नहीं है और उसके बारे में हम लोगों को जो कुछ सिखाया जाता है वह सब काल्पनिक है (यह घटना 1838 ई. की है)। मुझे याद है कि मेरे बड़े भाइयों ने इस खबर में कितनी दिलचस्पी ली थी! उन्होंने मुझे भी अपनी मंत्रणा में बुलाया। हम सब-के-सब खूब उत्तेजित हो गए थे और हमने यह स्वीकार किया कि यह खबर बड़ी मनोरंजक है और बिल्कुल मुमकिन है।

मुझे यह भी याद है कि जब मेरे बड़े भाई दमित्री, जो उस वक्त यूनिवर्सिटी में पढ़ रहे थे, एकाएक अपने स्वाभाविक जोश-खरोश के साथ धर्म-मार्ग पर झुक पड़े, गिरजे की सब प्रार्थनाओं एवं उपदेशों में हिस्सा लेने लगे और उपवास करने तथा पवित्र एवं सदाचारपूर्ण जीवन बिताने लगे। तब हम सब—हमारे बड़े-बूढ़े तक—बराबर उनकी हँसी उड़ाते और न मालूम किस वजह से उनको 'नूह' कहते थे। मुझे याद है कि कजान यूनिवर्सिटी के प्रबंधक पुजिन-मुश्किन ने एक बार हमें अपने घर नृत्य के लिए न्यौता दिया। हमारे भाई उनका न्यौता मंजूर नहीं कर रहे थे, तब

उन्होंने व्यंग से यह तर्क करके उनको किसी तरह राजी किया कि डेविड तब आर्क के सामने नाचे थे।

मैं अपने बड़े-बूढ़ों के इन मज़ाकों में रस लेता था और इनसे मैंने यह नतीजा निकाला था कि यद्यपि प्रश्नोत्तर-पाठ (धर्म-पुस्तक) की जानकारी और गिरजे में जाना जरूरी है; पर किसी को इन बातों को ज्यादा महत्त्व नहीं देना चाहिए। मुझे यह भी याद है कि लड़कपन में मैंने वाल्टेयर की रचनाएँ पढ़ी थीं और उनके धर्म का उपहास उड़ाने से मुझे दुःख तो क्या होता, उलटे मेरा बहुत मनोरंजन होता था।

धर्म पर मेरी अनास्था ठीक उसी प्रकार हुई जिस प्रकार हमारे समान शिक्षा पाए हुए लोगों में अक्सर हो जाती है। मैं समझता हूँ कि अधिकतर यह बात इस तरह होती है। और लोगों की तरह कोई एक आदमी ऐसे उसूलों के आधार पर जिंदगी बसर करता है जिनका धार्मिक सिद्धांतों से न सिर्फ कोई ताल्लुक नहीं होता, बल्कि आमतौर से उनके विरोधी होते हैं। धार्मिक सिद्धांतों का जीवन पर कोई असर नहीं रहता। न तो दूसरों के प्रति उनके मुताबिक आचरण किया जाता है और न अपनी जिंदगी में आदमी उन पर कोई ध्यान देता है। धार्मिक सिद्धांत जिंदगी से अलग और उनसे दूर माने जाते हैं। अगर उनका कहीं दर्शन होता है तो वे जिंदगी से अलग एक बाहरी चीज के रूप में दिखाई पड़ते हैं।

आजकल की भाँति उस समय भी किसी के जीवन अथवा आचरण से यह फैसला करना कि यह आस्तिक है या नास्तिक, असंभव था और अब भी है। अगर अपने को खुलेआम कट्टर धार्मिक कहनेवाले में और अपने को विधर्मी कहनेवाले में कोई फर्क है तो वह धार्मिकों के पक्ष में नहीं है। इस वक्त की तरह उस समय भी खुलेआम अपनी धार्मिकता का एलान करनेवाले ज्यादातर उन्हीं आदमियों में मिलते थे, जो हीन-बुद्धि और बे-रहम होते थे, पर अपने को बहुत ज्यादा वकत देते थे। योग्यता, सच्चाई, विश्वसनीयता, शील, स्वभार और सदाचरण अक्सर नास्तिकों में ही पाया जाता था।

स्कूलों में धर्म-पुस्तकें पढ़ाई जाती हैं और वहाँ से विद्यार्थियों को गिरजे भेजा जाता है। सरकारी अफसरों को 'कम्यूनियन' (प्रभु ईसा के स्मरणार्थ भोज, जिसमें ध्यान करके उनके साथ संपर्क स्थापित किया जाता है) प्राप्त करने का प्रमाण-पत्र पेश करना पड़ता है। पर हमारी श्रेणी का कोई आदमी, जिसने अपनी शिक्षा पूरी कर ली है और जो सरकारी नौकरी में नहीं है, आज भी 10—20 साल बिता दे सकता है और उसे एक बार भी याद नहीं आएगा कि वह ईसाइयों के बीच रह रहा है और खुद कट्टर ईसाई मत का सदस्य समझा जाता है। उस जमाने में तो यह बात और सरल थी।

इस तरह पहले भी यह बात होती थी। और अब भी होती हैं कि धार्मिक सिद्धांत लोगों की देखा-देखी या बाहरी दबाव से मान लिए जाते हैं और जिंदगी का ज्ञान तथा अनुभव प्राप्त होने पर, जो उसके विपरीत होता है, वे बिखरने लगते हैं। और मज़ा यह है कि बहुधा आदमी इस कल्पना में रहता है कि बचपन में उसे जो धार्मिक सिद्धांत बताए गए थे, वह उनका पालन कर रहा है, जबकि उसके आचरण में उनका नाम-निशान भी बाकी नहीं होता।

'एस' नाम के एक होशियार और सत्यवादी आदमी ने एक बार मुझे अपनी कहानी सुनाई थी कि कैसे वह नास्तिक बन गया। जब वह 26 साल का था, तब की बात है। वह शिकार खेलने गया। रात के वक्त एक जगह पड़ाव डाला गया। बचपन से चली आई आदत की वजह से उसने शाम के वक्त झुककर प्रार्थना शुरू कर दी। इस शिकार में उसका बड़ा भाई भी साथ था। वह घास पर लेटा हुआ अपने छोटे भाई के इस काम को देख रहा था। जब 'एस' प्रार्थना खत्म कर चुका और रात में आराम करने की तैयारी करने लगा तब उसके बड़े भाई ने कहा, 'अच्छा! तुम अभी तक यह सब करते जाते हो?'

उन्होंने एक-दूसरे से और कुछ भी नहीं कहा। लेकिन उस दिन से 'एस' ने प्रार्थना करना या गिरजे में जाना छोड़ दिया। और अब उसे प्रार्थना छोड़े, उपासना किए या गिरजे में गए तीस साल हो चुके हैं। ऐसा उसने इसलिए नहीं किया कि वह अपने भाई के विश्वासों या विचारों को समझकर उन्हें अपना चुका था या खुद अपनी आत्मा में कुछ फैसला कर चुका था। ऐसा उसने सिर्फ इसलिए किया कि उसके भाई के कहे हुए शब्द ने उस दीवार को धक्का देनेवाली उँगली का काम किया, जो खुद अपने बोझ से गिरने को हो रही हो। भाई के शब्द ने सिर्फ इतनी-सी बात जाहिर कर दी थी कि वह समझता था धर्म-निष्ठा क़ायम है, परंतु वास्तव में बहुत दिनों पहले से उसका सफाया हो चुका था। इसलिए प्रार्थना के वक्त कुछ शब्दों को दोहराना, क्रास के चिह्न बनाना या आराधना के लिए घुटने मोड़कर बैठना सब व्यर्थ था। जब उसे इन कृत्यों की निरर्थकता का अनुभव हुआ तब वह उन्हें जारी नहीं रख सका।

ज्यादातर आदमियों के साथ इसी प्रकार होता रहा है और होता है। मैं उन लोगों की बात कह रहा हूँ, जिन्होंने हमारे दर्जे की तालीम पाई है और जो अपने प्रति ईमानदार हैं। मैं उन लोगों की बात नहीं कह रहा हूँ जो दुनियावी इरादों और आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए धर्माचरण को साधन बनाते हैं। (ऐसे आदमी सबसे बड़े नास्तिक हैं; क्योंकि अगर उनके लिए धर्म-निष्ठा सांसारिक कामनाओं की पूर्ति करने का उपाय है तो फिर वह वास्तव में धर्म-निष्ठा नहीं।) हमारी तरह

की शिक्षा पाए हुए इन लोगों की स्थिति यह है कि ज्ञान और जीवन के प्रकाश ने एक बनावटी इमारत को ढहा दिया है और उन्होंने या तो यह बात देख ली है और उस जगह की सफाई कर दी है या फिर अभी तक इधर उनका ध्यान ही नहीं गया है।

दूसरों की तरह मेरी भी गति हुई। बचपन से सिखाए गए धार्मिक सिद्धांत लुप्त हो गए; लेकिन इतना फर्क जरूर रहा कि 15 साल की उम्र में मैंने दार्शनिक ग्रंथों को पढ़ना शुरू कर दिया, जिससे धर्म-सिद्धांतों का त्याग छोटी उम्र में ही सचेत मन से हुआ। सोलह साल का होते ही मैंने स्वेच्छा से प्रार्थना करनी बंद कर दी। मेरा चर्च (गिरजाघर) जाना और उपवास करना छूट गया। जो कुछ मुझे बचपन में सिखाया गया था, उसमें मेरा विश्वास नहीं रह गया था; लेकिन कोई-न-कोई चीज़ ऐसी जरूर थी जिसमें विश्वास करता था। वह कौन-सी चीज़ है जिसमें मेरा विश्वास था, यह उस समय मैं नहीं बता सकता था। मैं ईश्वर में विश्वास करता था या यों कह सकते हैं कि ईश्वर के अस्तित्व से इनकार नहीं करता था; पर उस वक्त यह बताना मेरे लिए असंभव था कि वह ईश्वर किस तरह का है। मैं ईसा और उनकी शिक्षाओं को भी अस्वीकार नहीं करता था; लेकिन उनकी शिक्षाएँ क्या हैं, यह मैं नहीं कह सकता था।

जब मैं उस ज़माने की तरफ नजर दौड़ाता हूँ तो अब मुझे साफ-साफ दिखाई पड़ता है कि मेरे निष्ठा—मेरी एकमात्र वास्तविक निष्ठा—जो यदि पाशविक प्रवृत्तियों को छोड़ दूँ तो मेरे जीवन को गति देती थी। मेरा यह विश्वास था कि मुझे अपने को पूर्ण बनाना चाहिए। लेकिन इस पूर्णता के मानी क्या हैं या उसका प्रयोजन क्या है; इसे मैं नहीं बता सकता था। मैंने मानसिक दृष्टि से अपने को पूर्ण बनाने की कोशिश की—मैंने हर एक चीज़ का, जिसका अध्ययन कर सकता था, किया। मैंने अपनी संकल्प-शक्ति पूर्ण करने की कोशिश की; मैंने ऐसे नियम बनाए, जिनका पालन करने की मैं कोशिश करता था; मैंने शारीरिक दृष्टि से भी अपने को पूर्ण किया—हर तरह की कसरतों से अपनी ताकत बढ़ाने और शरीर में फुर्ती लाने की कोशिश की और सब तरह के सुख-साधनों के त्याग से अपनी सहन-शक्ति और धीरज बढ़ाने का यत्न किया। मैं यह सब पूर्णता की खोज में कर रहा था। निश्चय ही इन सबकी शुरुआत नैतिक पूर्णता से हुई; पर जल्दी ही उसका स्थान सब तरह की सामान्य परिपूर्णता ने ले लिया, अर्थात् मेरे अंदर यह इच्छा पैदा हुई कि मैं न सिर्फ अपनी और ईश्वर की दृष्टि में, बल्कि दूसरे लोगों की दृष्टि में भी अच्छा बनूँ। और बहुत जल्द यह चेष्टा फिर दूसरों से ज्यादा शक्तिशाली बनने की इच्छा में बदल गई और मन में यह बात पैदा हुई कि मैं दूसरे से अधिक प्रसिद्ध, अधिक महत्त्वपूर्ण तथा अधिक धनी बनूँ।

2

किसी दिन मैं अपनी जवानी के दस सालों के जीवन की संवेदनशील और शिक्षाप्रद कहानी बयान करूँगा। मेरा ख्याल है कि और भी बहुतेरे आदमियों को ऐसा ही अनुभव हुआ होगा। अपनी संपूर्ण आत्मा से मैं अच्छा बनना चाहता था; लेकिन जब मैंने अच्छा बनने की कोशिश शुरू की तो मैं जवान था, वासनाओं का दास था और अकेला था—बिल्कुल अकेला। जब-जब मैंने नैतिक रूप से भला बनने की अपनी हार्दिक इच्छा प्रकट की, तब-तब हर बार मेरा उपहास किया गया और दिल्लगी उड़ाई गई; लेकिन ज्यों ही मैं तुच्छ वासनाओं के आगे सिर झुका देता था, मेरी तारीफ की जाती और मुझे बढ़ावा दिया जाता था।

आकांक्षा, शक्ति का प्रेम, लोभ, कामुकता, लंपटता, घमंड, क्रोध और प्रतिहिंसा सबकी इज्जत की जाती थी।

इन वासनाओं के आगे सिर झुकाकर मैं वयस्क लोगों की श्रेणी में जा बैठा और मैंने अनुभव किया कि वे मेरा समर्थन करते हैं। मेरी बुआ, जिनके साथ मैं रहता था, खुद बहुत ही शुद्ध और ऊँचे चरित्र की थीं, लेकिन वह भी मुझसे सदा कहा करती थीं कि उनकी प्रबल इच्छा है कि किसी विवाहिता स्त्री से मेरा संबंध हो जाए। 'जवान आदमी को बनाने में कोई चीज उतना काम नहीं करती, जितना एक कुलीन महिला-से घनिष्ठता काम करती है।' मेरे लिए दूसरा सुख वह यह चाहती थीं कि मैं एडीकांग (किसी सेनापति या प्रतिष्ठित पदाधिकारी का अंगरंक्षक), और संभव हो तो सम्राट का एडीकांग बनूँ। पर सबसे बड़ा सुख तो उन्हें इस बात से होगा कि मैं किसी अत्यंत धनी कन्या से विवाह कर लूँ जिससे मेरे पास दासों की ज्यादा-से-ज्यादा संख्या हो जाए।

बिना त्रास, घृणा और हृदय-वेदना के मैं उन सालों का ख्याल नहीं कर सकता। मैंने लड़ाई में आदमियों का वध किया, मैंने लोगों का वध करने के लिए उनको द्वंद्वयुद्ध में ललकारा; मैंने जुआ खेला, उसमें हारा; मैंने किसानों से बेगार ली और उन्हें सजाएँ दीं; बुरे आचरण किए और लोगों को धोखा दिया। मिथ्याभाषण, लोगों को लूटना, हर तरह का व्यभिचार, मद्य-पान, हिंसा, खून—मतलब कोई ऐसा अपराध नहीं था जिसे मैंने न किया हो, और मजा यह कि इन सब कामों के लिए लोग मेरे आचरण की तारीफ करते थे और मेरे जमाने के आदमियों ने मुझे और लोगों के मुकाबले में सदाचारी व्यक्ति समझा और समझते हैं।

दस साल तक मेरा यही जीवन था।

इसी समय मैंने अहंकार, लोभ और अभिमानवश लिखना शुरू किया। मैंने अपनी रचनाओं में वही किया जो मैं अपनी ज़िंदगी में करता था। प्रसिद्धि और धन

प्राप्त करने के लिए मैं लिखता था और इसके लिए अच्छाई को छिपाना और बुराई का प्रदर्शन करना जरूरी था। मैंने यही किया। न जाने कितनी बार मैंने अपनी रचनाओं में उदासीनता अथवा उपहास के जामे में, अपनी भलाई की तरफ जानेवाली उन प्रेरणाओं को छिपाने और दबाने की कोशिश की, जिनसे मेरे जीवन की सार्थकता थी। मैं इसमें सफल हुआ और इसके लिए लिए मेरी प्रशंसा की गई।

छब्बीस[1] साल की उम्र में, मैं लड़ाई के बाद पीटर्सबर्ग लौटा और लेखकों से मिला। उन्होंने मुझे अपनाया, स्वागत किया और मेरी चापलूसी की। और इसके पहले कि मैं अपने चारों ओर दृष्टि डालता, मैंने उन लेखकों के जीवन-संबंधी विचार ग्रहण कर लिए थे, जिनके बीच मैं आया था। इन विचारों ने मेरे भला बनने की पूर्व की सारी प्रेरणाओं का लोप कर दिया। इन विचारों ने ऐसा सिद्धांत प्रस्तुत कर दिया जिससे मेरी जिंदगी की लंपटता और विषयासक्ति सही साबित हो गई।

मेरे इन साथी लेखकों के जीवन-संबंधी विचार ये थे : सामान्य जीवन विकसित होता रहता है और इस विकास में विचार-प्रधान आदमी खास हिस्सा लेते हैं; फिर विचार-प्रधान आदमियों में भी हमारा—कलाकारों और कवियों का—सबसे अधिक प्रभाव होता है। हमारा धंधा मनुष्य-जाति को शिक्षा देना है। और कहीं यह सीधा-सादा सवाल किसी के दिल में न उठ खड़ा हो कि मैं जानता क्या हूँ और शिक्षा किस बात की दे सकता हूँ, इसलिए इस सिद्धांत में यह कहा गया था कि इसका जानना जरूरी नहीं है; कलाकार और कवि अप्रकट रूप में ही शिक्षा देते हैं। मैं एक सराहनीय कलाकार और कवि समझा गया था, इसलिए मेरे लिए इस सिद्धांत को मान लेना स्वाभाविक था। मैं, कलाकार और कवि, लिखता तथा शिक्षा देता था, परंतु स्वयं नहीं जानता था कि मैं क्या लिख रहा हूँ और क्या शिक्षा दे रहा हूँ। और इसके लिए मुझे धन मिलता था, मुझे अच्छा भोजन, मकान, स्त्री और समाज सब-कुछ मिला हुआ था; मेरा यश भी फैला था जिससे यह मालूम पड़ता था कि जो कुछ मैं सिखा रहा हूँ वह बहुत अच्छी चीज है।

कविता के और जीवन के विकास के संबंध में इस तरह का विश्वास एक प्रकार से धर्म था और मैं उसका पुरोहित। उसका पुरोहित होना बड़ा सुखद और लाभदायक था। मैं बहुत दिनों तक इस धर्म को उसके औचित्य में किसी तरह का संदेह किए बिना, मानता रहा। किंतु इस जीवन के दूसरे और विशेष रीति से तीसरे साल में मैं इस धर्म की निर्भ्रांतता पर संदेह करने लगा और मैंने उसकी जाँच करनी भी शुरू कर

1. *कुछ स्मृति-दोष मालूम होता है। वह सत्ताईस वर्ष के थे। —सं.*

दी। इस संदेह का पहला यह कारण था कि मैंने देखा कि इस धर्म के सब पुरोहित आपस में एक राय नहीं रखते। कुछ कहते थे: हम सबसे अच्छे और उपयोगी शिक्षक हैं; हम वही शिक्षा देते हैं जिसकी आवश्यकता है। दूसरे गलत शिक्षा देते हैं। दूसरे कहते: नहीं, असली शिक्षक हम हैं; तुम गलत शिक्षा देते हो। और वे एक-दूसरे से लड़ते-झगड़ते, गाली-गलौज करते और धोखा देते थे। हममें से बहुतेरे ऐसे भी थे, जिनको इसकी परवाह न थी कि कौन सही है और कौन गलत; वे सिर्फ हमारी इन कार्यवाइयों के जरिए अपना मतलब साधने में लगे हुए थे। इन सब बातों की वजह से मैं भी इस धर्म की सच्चाई में संदेह करने को विवश हो गया।

इसके अतिरिक्त लेखकों के धर्म-मत में इस तरह संदेह करना शुरू करने के बाद मैं उसके पुरोहितों पर भी ज्यादा बारीक नजर रखने लगा और मुझे पक्का विश्वास हो गया कि इस धर्म के करीब-करीब सब पुरोहित, लेखकगण असदाचारी और अधिकतर दुश्चरित्र एवं अयोग्य हैं तथा उन लोगों से भी नीचे हैं, जिनसे मैं अपने पहले के भ्रष्ट और सैनिक जीवन में मिला था। वे आत्म-विश्वासी एवं आत्म-संतुष्ट थे और ऐसे वे ही आदमी हो सकते हैं जो बिल्कुल पवित्र हों या फिर जो जानते भी न हों कि पवित्रता किस चिड़िया का नाम है। इन आदमियों से मुझे घृणा होने लगी; मुझे स्वयं अपने से घृणा हो गई और मैंने अनुभव किया कि यह मत सिर्फ धोखाधड़ी के सिवाय कुछ नहीं है।

लेकिन ताज्जुब है कि यद्यपि मैं इस धोखेबाजी को समझ और छोड़ चुका था; पर मैंने उस पद-मर्यादा का त्याग नहीं किया जो इन आदमियों ने मुझे दे रखी थी—यानी कलाकार, कवि और शिक्षक की मर्यादा। मैं बड़े भोलेपन के साथ कल्पना करता था कि मैं कवि और कलाकार हूँ और मैं हरेक को शिक्षा दे सकता हूँ, यद्यपि मैं स्वयं नहीं जानता था कि मैं क्या शिक्षा दे रहा हूँ। और मैं तदनुसार कार्य करता रहा।

इन आदमियों के संसर्ग से मैंने एक नई बुराई सीखी। मेरे अंदर यह असाधारण घमंड और मूर्खतापूर्ण विश्वास पैदा हुआ कि आदमियों को शिक्षा देना ही मेरा धंधा है; चाहे मुझे स्वयं मालूम न हो कि मैं क्या शिक्षा दे रहा हूँ।

उस जमाने की और अपनी तथा उन आदमियों की (जिनके समान आज भी हजारों हैं) मनोदशा याद करना अत्यंत दु:खदायक, भयानक और अनर्गल है और इससे मन में ठीक वही भावना पैदा होती है जो आदमी को पागलखाने में महसूस होती है।

उस समय हम सबका विश्वास था कि हमें जितनी तेजी के साथ और जितना

ज्यादा मुमकिन हो बोलना, लिखना और छपाना चाहिए और यह सब मनुष्य के हित के लिए जरूरी है। हममें से हजारों ने एक-दूसरे का खंडन और परस्पर निंदा करते हुए लिखा और छपवाया—दूसरों की शिक्षा के लिए। और यह नहीं बताया कि हम कुछ नहीं जानते या जीवन के इस बिल्कुल सीधे-सादे प्रश्न पर कि अच्छाई क्या है और बुराई क्या है, हम नहीं जानते कि हम क्या जवाब दें। हम एक-दूसरे की सुनते न थे और सब एक ही वक्त बोलते थे; कभी इस खयाल से दूसरे का समर्थन और प्रशंसा करते थे कि वह भी मेरा समर्थन और प्रशंसा करेगा। और कभी एक-दूसरे से नाराज हो उठते थे, जैसा कि पागलखाने में हुआ करता है।

हजारों-लाखों मजदूर दिन-रात अपनी पूरी ताकत से काम करते और उन करोड़ों अक्षरों को टाइप में इकट्ठा करते और छापते, जिन्हें डाकखाना सारे रूस में फैला देता था। और हम सब शिक्षा देते ही जाते थे, हमें शिक्षा देने का काफी वक्त तक नहीं मिलता था, हमें सदा इस बात पर खीझ रहती थी कि हमारी तरफ ध्यान नहीं दिया जा रहा है।

यह बड़े ही ताज्जुब की बात थी; पर इसका समझना मुश्किल न था। हमारी आंतरिक इच्छा तो यह थी कि अधिक-से-अधिक धन और प्रशंसा प्राप्त हो। इस मतलब को हल करने के लिए हम बस किताबें और अखबार लिख सकते थे। हम यही करते थे। पर यह फिजूल का काम करने और यह आश्वासन रखने के लिए कि हम बड़े महत्त्वपूर्ण लोग हैं, हमें अपने कामों को उचित ठहरानेवाले एकमत की आवश्यकता थी। इसलिए हम लोगों के बीच यह मत चल पड़ा, 'जितनी बातों का अस्तित्व है वे सब ठीक हैं। जो कुछ है उस सबका विकास होता है। यह विकास संस्कृति के जरिए होता है और संस्कृति की माप किताबों और अखबारों के प्रचार से की जाती है। और चूँकि हमको किताबें और अखबार लिखने से धन और सम्मान मिलता है, इसलिए हम सब आदमियों से अच्छे और उपयोगी हैं।' अगर सब लोग एक राय के होते तो यह मत ठीक माना जा सकता था; पर हममें से हर एक आदमी, जो विचार प्रकट करता, दूसरा सदा उसके बिल्कुल विरोधी विचार प्रकट करता था, इसलिए हमारे मन में चिंता पैदा होनी चाहिए थी; पर हमने इसकी उपेक्षा की। लोग हमको धन देते थे और अपने पक्ष के लोग हमारी तारीफ करते थे; इसलिए हममें से हर एक अपने को ठीक समझता था।

आज मुझे साफ-साफ मालूम पड़ता है कि यह सब पागलखाने-जैसी बातें थीं; पर उस वक्त मुझे सिर्फ इसका धुँधला आभास था और जैसा कि सभी पागलों का कायदा है, मैं अपने सिवाय और सबको पागल कहता था।

3

इस तरह के पागलखाने में मैंने छह साल और बिता दिए—यानी तब तक जब तक कि मेरी शादी नहीं हो गई। इस अवधि में मैं विदेश गया। यूरोप में मेरा जैसा जीवन रहा, उससे, और प्रमुख यूरोपियन विद्वानों से मेरा जो परिचय हुआ उससे, मेरा यह विश्वास और दृढ़ हो गया कि पूर्णता के लिए कोशिश करनी चाहिए; क्योंकि मैंने देखा कि उनका भी ऐसा ही विश्वास था। इस विश्वास ने मेरे अंदर भी वही रूप ग्रहण किया जो हमारे जमाने के अधिकतर शिक्षित लोगों के हृदय में करता है। इसे 'प्रगति' के नाम से प्रकट किया जाता है। तभी मुझे ख्याल आया कि इस शब्द के कुछ मानी हैं। दूसरे जीवित आदमियों की तरह मुझे भी यह सवाल परेशान किए हुए था कि मेरे लिए किस तरह जिंदगी बसर करना सबसे अच्छा होगा? पर उस समय तक मैं यह ठीक नहीं समझ पाया था कि इस सवाल पर मेरा जवाब, 'प्रगति के अनुकूल जीवन बिताओ', नाव पर सवार उस आदमी के जवाब की तरह है जो तूफान के बीच पड़ा हुआ है और 'किधर नाव खेना है, का जवाब यह कहकर देता है कि 'हम कहीं बहे जा रहे हैं।'

उस वक्त वह बात मेरे ध्यान में नहीं आई थी। कभी-कभी, बुद्धि से समझकर नहीं, बल्कि अंत:प्रेरणा से मैं इस मिथ्या विश्वास के प्रति विद्रोह करता था, जो हमारे जमाने में सर्वप्रचलित था और जिसके जरिए आदमी जिंदगी के मानी समझने में अपना अज्ञान खुद अपने से ही छिपाता है। उदाहरणार्थ जब मैं पेरिस में ठहरा हुआ था तब एक आदमी को फाँसी दी जाती देखकर मुझे प्रगति में विश्वास की अस्थिरता का पता चला, जिसमें मेरा मिथ्या-विश्वास था। जब मैंने सिर को धड़ से जुदा होते देखा और शव को बक्स में भरा जाते देखा तब मैंने न सिर्फ अपने मस्तिष्क से, बल्कि अपनी संपूर्ण अंतरात्मा से यह महसूस किया कि हमारी वर्तमान प्रगति का औचित्य सिद्ध करनेवाला कोई मत इस कार्य को उचित नहीं साबित कर सकता। यद्यपि बुनियादी शुरुआत से हरएक आदमी ने चाहे किसी उसूल पर इसे जरूरी बताया है; पर मैं यह जानता हूँ कि यह गैरजरूरी और बुरा काम है। मैंने अनुभव किया कि भला क्या है, इसका फैसला यह देखकर नहीं किया जा सकता कि लोग क्या कहते और करते हैं, प्रगति भी इसका निर्णय नहीं कर सकती, इसका फैसला तो मेरा हृदय और 'मैं' ही कर सकता हूँ, प्रगति में मूढ़ विश्वास जीवन का पथ-प्रदर्शन कर सकने के लिए नाकाफी है, यह मैंने दूसरी बार अपने भाई की मौत पर अनुभव किया। वह बुद्धिमान थे, भले थे और गंभीर स्वभाव के थे। फिर भी जवानी में बीमार पड़े, एक साल से अधिक समय तक कष्ट भोगते रहे और बगैर यह समझे हुए वह किसलिए जिए और उनको किसलिए मरना पड़ रहा है, बड़ी वेदना

के साथ उनकी मौत हो गई। इन सवालों का जवाब मुझको या उनको जब वह धीरे-धीरे कष्टपूर्वक मृत्यु की ओर अग्रसर हो रहे थे, किसी उसूल या मत से नहीं हासिल हो सका ' पर इस तरह संदेह तो मेरे मन में कभी-कभी ही उठते थे; वास्तव में प्रगति का समर्थक बनकर जीवन व्यतीत करता रहा। 'सबका विकास होता है और उसके साथ मेरा भी विकास होता है; सबके साथ मेरा विकास क्यों होता है, इसका पता भी कभी लग जाएगा।' उस समय उस तरह का विश्वास मुझे बना लेना चाहिए था।

विदेश से लौटने पर मैं देहात में बस गया। यहाँ मुझे किसानों के स्कूल में काम करने का मौका मिला, यह काम खास तौर पर मेरी रुचि के अनुकूल था। इसमें मुझे उस झूठ का सामना नहीं करना पड़ता था, जो साहित्यिक साधनों से लोगों को शिक्षा देते समय मेरे निकट स्पष्ट हो जाता था और मुझे घूरता था। यह ठीक है कि यहाँ भी मैंने 'प्रगति' के नाम पर काम किया; पर मैं अब स्वयं 'प्रगति' को संदेह की दृष्टि से देखता था। मैंने अपने से कहा—कुछ मामलों में प्रगति गलत ढंग से हुई है। इन आदिम सीधे-सादे किसानों के बच्चों के साथ तो पूरी आज़ादी से ही बर्ताव करना चाहिए और उनको खुद चुनने देना चाहिए कि वे प्रगति का कौन-सा रास्ता पसंद करते हैं।' वास्तव में मैं एक ही असाध्य समस्या के चारों तरफ लगातार चक्कर काट रहा था; वह समस्या यह थी कि 'क्या शिक्षा दी जाए', यह जाने बिना, किस तरह शिक्षा दी जा सकती है। ऊँचे दर्जे की साहित्यिक सेवा के समय मैंने यह महसूस कर लिया था कि कोई तब तक शिक्षा नहीं दे सकता जब तक यह जान न ले कि क्या शिक्षा देनी है। मैंने देखा था कि सब लोग जुदा-जुदा ढ़ंग से शिक्षा देते हैं और आपस में लड़कर सिर्फ़ एक-दूसरे से अपना अज्ञान छिपाने में सफल होते हैं। लेकिन यहाँ किसानों के बच्चों के बीच काम करते हुए मैंने यह कठिनाई दूर करने के लिए सोचा कि मैं उन्हें पूरी आजादी दे दूँगा कि वे जो चाहें सीखें। अब मुझे यह याद करके आनंद आता है कि मैं अपनी शिक्षा देने की इच्छा तृप्त करने के प्रयत्न में क्या-क्या करता था। अपनी अंतरात्मा में मैं अच्छी तरह जानता था कि मैं कोई उपयोगी शिक्षा नहीं दे सकता; क्योंकि मैं जानता ही नहीं क्या उपयोगी है। साल भर तक स्कूल का काम करने के बाद मैं दूसरी बार इस बात की खोज करने विदेश गया कि स्वयं कुछ न जानते हुए भी मैं दूसरों को कैसे शिक्षा दे सकता हूँ।

और मुझे ऐसा मालूम पड़ा कि मैंने विदेश जाकर यह सीख लिया और किसानों की मुक्ति के साल (1861) में मैं इस अर्जित ज्ञान के साथ रूस लौटा। लौटते ही मैं पंच (किसानों और जमींदारों के बीच शांति बनाए रखने के लिए) बना दिया गया। स्कूल में मैंने अशिक्षित किसानों को सिखाना-पढ़ाना शुरू किया और एक

पत्रिका निकालकर शिक्षित वर्ग को उसके द्वारा शिक्षा देने लगा। सब कुछ ठीक चलता हुआ मालूम पड़ता था, पर मैं महसूस कर रहा था कि मेरी मानसिक दशा अच्छी नहीं है और इस तरह से ज्यादा दिन चल नहीं सकता। उस समय यदि जीवन का एक दूसरा पहलू न शुरू हो जाता, जिसका अनुभव मैं अभी तक कर नहीं पाया था और जिससे सुखी हो जाने की आशा थी, अर्थात् यदि मेरा विवाह न हो जाता तो वैसी ही भयंकर निराशा होती जैसी पंद्रह साल बाद हुई।

एक साल तक मैंने अपने को पंचायत, स्कूल और पत्रिका के काम में इतना व्यस्त रखा कि मैं—विशेष रीति से अपनी मानसिक व्यग्रता के कारण—बिल्कुल पस्त हो गया और बीमार पड़ गया। पंच की हैसियत से मुझे ज़बर्दस्त कशमकश करनी पड़ती थी, स्कूलों में मेरे काम का अस्पष्ट परिणाम निकल रहा था और पत्रिका में मेरी अपनी उलट-फेर से घृणा होती थी (क्योंकि उसमें सिर्फ एक ही बात होती थी—हरेक को शिक्षा देने की इच्छा और यह छिपाने की कोशिश कि मुझे इसका ज्ञान नहीं कि क्या शिक्षा देनी चाहिए)। मेरी बीमारी शारीरिक होने की अपेक्षा मानसिक अधिक थी। मैंने सब काम छोड़ दिए और मैं साफ़-साफ़ हवा में साँस लेने, कूमाज[1] पीने और सिर्फ जानवरों जैसी जिंदगी बिताने के ख्याल से बशकीर के मैदानों में चला गया।

वहाँ से लौटने के बाद मैंने शादी कर ली। सुखी कौटुंबिक जीवन ने मुझे जीवन के सामान्य अर्थ की खोज से विमुख कर दिया। उस वक्त मेरी सारी जिंदगी अपने कुटुंब, स्त्री और बच्चों में केंद्रित थी, इसलिए मुझे अपनी जीविका के साधन बढ़ाने की फिक्र भी लग गई। अपने को पूर्ण बनाने की कोशिश करने की बजाए मैं सामान्य पूर्णता यानी प्रगति को अपना चुका था, परंतु अब उसकी जगह मैं अपने और अपने कुटुंब के लिए यथासंभव अच्छी-से-अच्छी सुविधाएँ जुटाने की कोशिश में लग गया।

इस तरह पंद्रह साल और बीते।

यद्यपि अब मैं लेखन-कार्य को कोई महत्त्व नहीं देता था, फिर भी मैं उन पंद्रह सालों में यही कार्य करता रहा। मैं पुस्तक-लेखक होने का प्रलोभन—आर्थिक पुरस्कार पाने और निकम्मी रचनाओं के लिए यश प्राप्त करने का प्रलोभन, अनुभव कर चुका था और अपनी आर्थिक अवस्था सुधारने तथा सामान्य जीवन के अर्थ के संबंध में अपनी अंतरात्मा के अंदर उठनेवाले प्रश्नों को दबा देने के लिए मैंने लिखना जारी रखा।

---

1. *घोड़ी के दूध से बनाया हुआ एक तरह का हल्का नशा पैदा करनेवाला पेय।*

मेरे लिए जो एकमात्र सच्चाई रह गई थी, वही मैं दूसरों को अपनी रचनाओं के जरिए सिखाने लगा—यानी आदमी को इस तरह रहना चाहिए कि वह अपने कुटुंब के लिए अधिक-से-अधिक सुख-सुविधाओं का प्रबंध कर सके।

इस तरह जिंदगी की गाड़ी चलती रही; लेकिन पाँच साल पहले एक अजीब अनुभव होने लगा। शुरू में किसी क्षण परेशानी और उलझन का अनुभव होता था; ऐसा मालूम होता था कि जिंदगी की रफ्तार बंद हो गई है, उसमें कोई रुकावट पैदा हो गई है और मैं नहीं जानता कि किस तरह जीना चाहिए और क्या करना चाहिए। मैं अपने को खोया हुआ और खिन्न अनुभव करता था। लेकिन वे क्षण बीत जाते थे और मेरी जिंदगी पहले-जैसी बीतती रही। कुछ दिनों बाद इस तरह की उलझन बार-बार होने लगी और उसकी सूरत भी एक ही होती थी। यह उलझन कुछ इस सवाल की सूरत में सामने आती थी, 'यह जीवन किसलिए है? यह कहाँ ले जाता है?'

शुरू-शुरू में तो मुझे ऐसा लगता था कि ये बेमानी और बेसिर-पैर के सवाल हैं। मैंने सोचा कि यह सब अच्छी तरह जाना हुआ है और अगर कभी मैं इसे हल करना चाहूँगा तो मुझे कुछ ज्यादा मेहनत न करनी पड़ेगी; फिलहाल मेरे पास इसके लिए वक्त नहीं है; पर जब मैं चाहूँगा, इसका जवाब ढूँढ़ लूँगा। पर ये सवाल बार-बार दिमाग में उठने लगे और जवाब देने के लिए ज्यादा जोर देने लगे। एक ही जगह गिरती हुई स्याही की तरह उन्होंने एक बड़ा काला निशान बना दिया।

इसका नतीजा वही हुआ जो घातक अंदरूनी बीमारी से पीड़ित हरेक आदमी का होता है। पहले तबीयत की गिरावट के हल्के लक्षण दिखाई पड़ते हैं, जिसकी तरफ अस्वस्थ आदमी ध्यान नहीं देता; फिर ये लक्षण जल्द-जल्द, बार-बार दिखाई पड़ने लगते हैं और फिर लगातार पीड़ा की अवधि में बदल जाते हैं। तकलीफ बढ़ती जाती और इसके पहले कि बीमार आदमी अपने इर्द-गिर्द नज़र डाले, वह चीज, जिसे उसने महज तबीयत का भारीपन समझ रखा था, दुनिया में उसके लिए सब चीजों से ज्यादा महत्त्वपूर्ण बन चुकी होती है—वह मौत है।

मेरे साथ भी ऐसा हुआ। मैंने समझ लिया कि यह कोई आकस्मिक अस्वस्थता नहीं है, बल्कि कोई बड़ी महत्त्वपूर्ण बात है। और अगर ये सवाल इस प्रकार बार-बार सामने आते रहे तो इसका जवाब देना ही पड़ेगा। मैंने उनका जवाब देने की कोशिश की। ये सवाल अत्यंत महत्त्वपूर्ण, सीधे और बचकाने मालूम पड़ते थे; लेकिन ज्यों ही मैंने उन्हें हल करने की कोशिश की, त्यों ही मुझे यकीन हो गया कि (1) वे बचकाने और मूर्खतापूर्ण सवाल नहीं हैं, बल्कि जिंदगी के सवाल में सबसे महत्त्वपूर्ण और गंभीर हैं, और (2) मैं चाहे जितनी कोशिश करूँ उनको हल करने

में असमर्थ हूँ। अपनी समारा की जमींदारी सँभालने, अपने बेटे की शिक्षा का प्रबंध करने और किताब लिखने के पहले मेरे लिए यह जानना जरूरी हो गया कि मैं यह सब क्यों कर रहा हूँ। जब तक मैं जान न लेता तब तक कोई काम नहीं कर पाता था, यहाँ तक कि जिंदगी नामुमकिन मालूम पड़ती थी। उस वक्त मैं जमींदारी के इंतजाम में ज्यादा फँसा हुआ था; लेकिन उसके झंझटों के बीच भी एकाएक यह सवाल मेरे दिमाग में पैदा हो जाता कि—

'तुम्हारे पास समारा सरकार में 6000 'देसियातना'[1] जमीन है, 300 घोड़े हैं; पर इसके बाद?'...मैं परेशान हो जाता और समझ में नहीं आता कि क्या सोचूँ? इसी तरह अपने बच्चों की शिक्षा की योजनाओं पर विचार करते-करते मैं अपने से पूछने लगता, 'यह किसलिए?' जब इस बात पर विचार कर रहा होता कि किसानों को समृद्ध कैसे बनाया जा सकता है, मैं एकाएक अपने से सवाल कर बैठता, 'पर इससे मुझे क्या मिल सकेगा?' अथवा जब मैं अपनी पुस्तकों से मिलनेवाली प्रसिद्धि पर विचार करता होता तो अपने से पूछता, 'बहुत अच्छा, तुम गोगल[2], पुश्किल[3], शेक्सपीयर[4], या मौलियर'[5], बल्कि दुनिया के सब लेखकों से ज्यादा प्रसिद्ध होगे—पर इससे क्या?' मुझे इसका कुछ भी जवाब नहीं सूझता था। इधर सवाल ठहरने को तैयार न थे, वे तुरंत जवाब चाहते थे और अगर मैं उनका जवाब न देता तो मेरा जीना नामुमकिन था। पर क्या करता, कुछ जवाब ही न था।

मैंने अनुभव किया कि जिस चीज पर मैं इतने दिनों से खड़ा था वह गिर गई है और मेरे पाँव के नीचे कोई आधार नहीं है; जिस चीज के सहारे मैं इतने दिनों तक जी रहा था वह खत्म हो गई है, और ऐसी कोई चीज नहीं रह गई है, जिसको लेकर मैं जी सकूँ।

4

मेरी जीवन की गति रुक गई। मैं साँस लेता, खाता-पीता और सोता था। इन कामों को करने के लिए मैं मजबूर था; लेकिन जीवन नहीं रह गया था; क्योंकि ऐसी कामनाएँ नहीं रह गई थीं, जिन्हें पूरा करना मैं उचित समझता होऊँ। अगर किसी चीज की कामना होती तो भी मैं पहले से ही समझ जाता था कि चाहे मैं उसे पूरा करूँ या न करूँ, इससे कुछ होने-जानेवाला नहीं है।

---

1. देसियातना लगभग पौने तीन एकड़ के बराबर होता है।

2-3. प्रसिद्ध रूसी लेखक। *4. प्रसिद्ध अंग्रेजी नाटककार।*

5. मशहूर फ्रांसीसी हास्य नाट्य-लेखक।

इस समय अगर कोई परी मेरे पास आकर वरदान माँगने को कहती तो मुझे समझ में न आता कि उससे क्या माँगना चाहिए। यदि कभी-कभी नशे की घड़ियों में मैं कोई ऐसी चीज महसूस करता था जो इच्छा तो नहीं, हाँ, पहले की इच्छाओं की वजह से पड़ी आदत होती थी, तो चित्त शांत और स्वस्थ होने पर मैं समझ जाता था कि यह धोखा है और यह दरअसल इच्छा करने लायक कोई चीज नहीं है। मैं सत्य को जानने की इच्छा भी नहीं कर पाता था, क्योंकि मैं कल्पना कर चुका था कि सत्य क्या है। सत्य यह था कि जीवन निरर्थक है। मैं एक प्रकार से तब तक जिंदगी बसर करता चला गया था जब तक ढाल के ऊपर नहीं पहुँच गया और साफ़-साफ़ यह देख नहीं लिया कि मेरे आगे विनाश के सिवाय कुछ नहीं है। ठहरना या पीछे लौट जाना नामुमकिन था; पर अपनी आँखों को बंद कर लेना या इस बात को न देखना भी नामुमकिन था कि कष्ट और मौत—पूर्ण विनाश के सिवाय अब मेरे आगे कुछ नहीं है।

हालत यह हो गई थी कि मैं एक स्वस्थ और भाग्यवान आदमी अनुभव करता था कि अब मैं जी नहीं सकता, कोई अप्रतिहत शक्ति येनकेन जीवन से छुटकारा पाने के लिए मुझे धकेल रही है। मैं यह तो नहीं कर सकता कि मैं अपनी हत्या करना चाहता था। जो शक्ति मुझे जीवन से दूर धकेल रही थी, वह किसी कामना से कहीं अधिक बलवान, पूर्ण और विस्तृत थी। यह उस शक्ति से मिलती-जुलती थी, जो पहले मुझे एक अलग दिशा में जीने के लिए प्रेरित करती थी। मेरी सारी शक्ति मुझे जीवन से दूर लिए जा रही थी। जैसे पहले अपना जीवन सुधारने और विकसित करने के विचार स्वभावत: मेरे मन में आते थे वैसे ही आत्म-विनाश का विचार भी मेरे मन में उदित हुआ। और यह विचार कुछ ऐसा लुभावना था कि मुझे अपने साथ जबर्दस्ती करनी पड़ी कि कहीं मैं जल्दबाजी में कुछ कर न बैठूँ। मैं जल्दबाजी नहीं करना चाहता था, क्योंकि मैं जाल से निकलने की पूरी कोशिश कर लेना चाहता था। 'अगर मैं मामलों को सुलझा नहीं सकता तो भी इसके लिए सदा समय रहेगा।' उसी समय, इसे भाग्य की अनुकूलता कहनी चाहिए, मैंने अपने कमरे की रस्सी पास से हटा दी। यह रस्सी परदा डालकर, कमरे का एक हिस्सा अलग करने के लिए टँगी थी, जिसके पीछे रोज रात में मैं अपने कपड़े उतारता था। मुझे डर पैदा हो गया था कि कहीं मैं इस रस्सी से फाँसी न लगा लूँ। मैंने बंदूक लेकर बाहर शिकार के लिए जाना बंद कर दिया कि कहीं आसानी से मैं अपनी जीवन-लीला समाप्त न कर बैठूँ। मैं खुद नहीं जानता था कि मैं चाहता क्या हूँ, मैं जीवन से भय खाता था, उससे भागना चाहता था, फिर भी उससे कुछ-न-कुछ आशा मुझे लगी हुई थी।

और मेरी यह हालत उस समय हो रही थी जब मैं चारों ओर वैभव से घिरा

हुआ था। अभी मेरी उम्र पचास की भी नहीं थी, मेरी पत्नी बड़ी नेक थी, वह मुझे प्यार करती थी और मैं उसे प्यार करता था। मेरे बच्चे अच्छे थे, मेरे पास एक बड़ी जमींदारी थी जो मेरे कुछ ज्यादा मेहनत किए बगैर बढ़ती जा रही थी। मेरे रिश्तेदार और परिचित लोग मेरा जितना आदर उस समय करते थे उतना पहले कभी नहीं करते थे। दूसरे लोग भी मेरी प्रशंसा करते थे और अधिक आत्मवंचना के बिना मैं सोच सकता था कि मेरा नाम प्रसिद्ध हो गया है। और पागल या मानसिक दृष्टि से अस्वस्थ होना तो दूर रहा, इस समय मेरे शरीर और मस्तिष्क में इतनी शक्ति थी जितनी मेरे दर्जे के आदमियों में शायद ही कभी पाई जाती है। शरीर की दृष्टि से मैं किसानों के बराबर कटाई का काम कर सकता था और मानसिक दृष्टि से मैं लगातार 8 से 10 घंटे तक, बिना थकावट या बुरे असर के, काम में लगा रह सकता था। ऐसी हालत में भी मुझे यह मालूम पड़ता था कि मैं जी नहीं सकूँगा और मौत के डर से मैं अपने साथ चालाकियाँ चलता था कि कहीं खुद अपनी जान न ले बैठूँ।

मेरी मानसिक स्थिति मेरे सामने कुछ इस तरह आती थी : मेरी जिंदगी एक मूर्खतापूर्ण और ईर्ष्या से भरी हुई दिल्लगी है, जो किसी ने मेरे साथ की है। यद्यपि मैं अपने को पैदा करनेवाले इस 'किसी' को मानता न था, फिर भी इस तरह का विचार स्वभावत: मेरे मन में पैदा होता था कि किसी ने इस दुनिया में लाकर मेरे साथ बुरा और भद्दा मजाक किया है।

बगैर किसी तरह की कोशिश के मेरे अंदर यह ख्याल पैदा हुआ कि कहीं-न-कहीं कोई ऐसा जरूर है, जो यह देखकर हँस रहा है कि मैं तीस या चालीस सालों तक कैसे रहता रहा हूँ; किस तरह मैं शरीर और मस्तिष्क से प्रौढ़ होता, सोचता एवं विकसित होता रहा हूँ—और प्रौढ़ मानसिक शक्तियों के साथ जीवन की उस चोटी पर पहुँचकर जहाँ सब चीजें मेरे सामने पड़ी दिखाई देती हैं, मैं महामूर्ख की तरह खड़ा होता हूँ और साफ देख रहा हूँ कि जीवन में कुछ नहीं है, न कुछ रहा है और न कुछ रहेगा। और वह हँस रहा है।

लेकिन मुझ पर हँसनेवाला 'वह कोई' हो या न हो, मेरी हालत तो खराब ही थी। मैं अपने किसी काम या संपूर्ण जीवन का कोई उचित अर्थ ढूँढ़ नहीं पाता था। मुझे इस पर ताज्जुब हुआ कि मैंने शुरू से इस बात की जानकारी से अपने को अलग रखा—यह बहुत दिनों से सबको मालूम ही है कि प्रियजनों की अथवा मेरी आज या कल बीमारी और मौत आएगी ही (वे दोनों आ ही चुकी थीं), बदबू और कीड़ों के अलावा कुछ बाकी न रह जाएगा। शीघ्र या कुछ देर से मेरी बातें लोग भूल जाएँगे और मेरा अस्तित्व न रह जाएगा। तब चेष्टा करने से लाभ क्या?...मनुष्य को यह बात कैसे नहीं दिखाई पड़ती है? कैसे वह जिंदगी बसर करता जाता है? यह अचंभे

की बात है! कोई तभी तक जी सकता है जब तक वह जीवन से मतवाला हो; ज्यों ही वह शांत और संयमी हुआ उसका यह न देखना नामुमकिन हो जाता है। सब-कुछ धोखा और मूर्खतापूर्ण प्रवंचना है! बात ठीक ऐसी ही है, इसमें हँसी या मनोरंजन की कोई बात नहीं है; जीवन निर्दय और मूर्खतापूर्ण है।

पूरब की एक बड़ी पुरानी कहानी है। एक मुसाफिर रास्ते से कहीं जा रहा था। एक मैदान में उसकी किसी क्रुद्ध जंगली जानवर से भेंट हो गई। वह मुसाफिर जानवर से भागकर पास के सूखे कुएँ में घुस गया। पर जब उसने नीचे नजर डाली तो देखता क्या है कि एक अजगर उसे निगलने के लिए मुँह खोले हुए है। अब वह अभागा आदमी न तो जानवर के डर से कुएँ के बाहर ही आने की हिम्मत करता है और न अजगर के डर से कुएँ के अंदर ही कूदने का साहस करता है। बचने के लिए वह कुएँ की एक दरार में निकली हुई टहनी पकड़कर लटक जाता है। उसके हाथ शिथिल होते जा रहे हैं और वह महसूस करता है कि जल्द ही उसे अपने को ऊपर या नीचे मौत के हाथ में सौंपना पड़ेगा। फिर भी वह लटका ही रहता है। इतने में वह देखता क्या है कि दो चूहे—एक सफेद और एक काला—बार-बार उस टहनी की जड़ के इर्द-गिर्द घूमते हुए उसे काट रहे हैं। जल्द ही टहनी टूट जाएगी और उसे अजगर के मुँह में समा जाना होगा। मुसाफिर यह सब देखता है और जान लेता है कि उसकी मृत्यु अवश्यंभावी है। इसी बीच लटके-ही-लटके वह अपने चारों तरफ दृष्टि डालता है और देखता क्या है कि टहनी की पत्तियों पर शहद की कुछ बूँदें पड़ी हुई हैं, वह झुककर जबान से उन्हें चाट लेता है। यही हालत मेरी है। मैं भी यह जानते हुए कि मौत का अजदहा टुकड़े-टुकड़े कर देने के लिए मेरी बाट जोह रहा है, मैं जीवन की टहनी पकड़े हुए हूँ और समझ में नहीं आता कि क्यों ऐसी यातना भोग रहा हूँ। मैंने शहद चाटने कोशिश की, जिससे पहले मुझे कुछ शांति मिली, पर अब शहद चाटने से सुख नहीं मिलता था, और दिन और रात-रूपी सफेद और काले चूहे जिंदगी की उस टहनी को बराबर काट रहे थे, जिसे मैं पकड़े हुए था। मैंने साफ-साफ अजदहे को देख लिया था और अब शहद मीठा नहीं लगता था। मैं सिर्फ अजदहे और चूहों को देख रहा था और उस ओर से अपनी दृष्टि हटा नहीं पाता था। यह कोई कहानी नहीं, बल्कि एक ऐसी वास्तविक सच्चाई है, जिसका जवाब नहीं और जो सबकी समझ में आ सकती है।

जीवन के आनंद की वंचनाएँ, जो मेरे अजदहे के भय को दबा रखती थीं, अब मुझे धोखा देने में असमर्थ थीं। चाहे मुझसे कितनी ही बार कहा जाए कि, 'तुम जीवन का अर्थ नहीं समझ सकते, इसलिए उसके बारे में कुछ मत सोचो और जिओ', पर मैं अब ऐसा नहीं कर सकता; मैंने काफी अरसे तक यही किया है। अब

मैं दिन-रात को चक्कर काटते और मेरी मौत को नजदीक लाते देख रहा हूँ और इससे आँख मूँदने में मैं असमर्थ हूँ। मैं इतना ही देख पाता हूँ; क्योंकि इतना ही सत्य है; बाकी सब झूठ है।

शहद की जिन दो बूँदों ने औरों की अपेक्षा अधिक दिन तक इस निष्ठुर सत्य से मेरी आँखों को दूर रखा, उनमें—कुटुंब तथा लेखन-कार्य पर मेरी आसक्ति, जिसे मैं कला के नाम से पुकारता था—अब मिठास नहीं मालूम पड़ती थी।

'कुटुंब'...मैंने अपने मन में कहा। पर मेरा कुटुंब—पत्नी और बच्चे—भी तो मनुष्य हैं। उनकी भी वही स्थिति है जो मेरी है, उनको भी या तो झूठ के बीच रहना है या फिर भयंकर सत्य को देख लेना है। वे क्यों जिएँ? मैं उन्हें क्यों प्यार करूँ? क्यों उनकी रक्षा करूँ? और क्यों उनका पालन-पोषण या देख-रेख करूँ? इसलिए कि वे मेरी तरह निराशा का अनुभव करें या फिर मूर्खता में पड़े रहें? जब मैं उन्हें प्यार करता हूँ तब उनसे सत्य को कैसे छिपा सकता हूँ? और ज्ञान का प्रत्येक पग उनको सत्य के निकट ले जाता है। वह सत्य मौत है।

'कला, कविता?'—सफलता और लोगों की प्रशंसा के कारण मैंने बहुत दिनों तक अपने दिल को समझा रखा था कि यह ऐसी चीज है जिसे आदमी करता रह सकता है—यद्यपि मौत नजदीक आती जा रही थी—वह मौत जो सब चीजों को नष्ट कर देती है, जो मेरी रचना और उसकी याद को भी नष्ट कर देगी। लेकिन जल्द ही मैंने देख लिया कि यह भी एक धोखा ही है। मुझे स्पष्ट था कि कला जीवन का आभूषण है, जीवन का प्रलोभन है। लेकिन मेरे लिए जीवन का आकर्षण दूर हो चुका था; तब दूसरों को मैं कैसे आकर्षित करता? जब तक मैं स्वयं अपना जीवन नहीं बिताता था, बल्कि किसी दूसरे के जीवन की लहरों पर बह रहा था—जब तक मेरा विश्वास था कि जीवन के कुछ अर्थ हैं, फिर चाहे उसे मैं व्यक्त न कर सकूँ—तब तक कविता और कला में जीवन की छाया पाकर मुझे प्रसन्नता होती थी; कला के दर्पण से जीवन का दर्शन करना अच्छा लगता था। लेकिन जब मैंने जीवन का अर्थ जानने की चेष्टा आरंभ की और मुझे स्वयं अपना जीवन बिताने की आवश्यकता अनुभव हुई, तब वह दर्पण मेरे लिए अनावश्यक, व्यर्थ, हास्यास्पद और दु:खदायी हो गया : दर्पण में अब मुझे दीखता था कि मेरी स्थिति मूर्खतापूर्ण तथा नैराश्यपूर्ण है, इससे मुझे शांति नहीं मिलती थी। जब मैं अपनी अंतरात्मा की गहराई से विश्वास करता था कि जीवन का कुछ अर्थ है तब दृश्य देखने में सुहावना था। उस समय जीवन में अंधकार और प्रकाश के खेलों—हास्य, दुखांत, करुण, सुंदर और भयंकर—से मेरा मनोरंजन होता था। पर जब मैं जान गया कि जीवन निरर्थक और भयंकर है, तब दर्पण में अंधकार और प्रकाश के खेल मेरा मनोरंजन न कर सकते थे; जब मैंने

अजदहे को देख लिया और यह भी देख लिया कि मैं जिस चीज़ का सहारा लिए हुए हूँ उसे चूहे काट रहे हैं, तब शहद की कोई मिठास मुझे कैसे मीठी लग सकती थी?

बात यहीं तक न थी। यदि मैंने केवल इतना ही समझा होता कि जीवन के कोई अर्थ नहीं हैं तो मैं यह मानकर कि मेरे भाग्य में यही था, सब कुछ शांति से सहन कर लेता। लेकिन मैं अपने को इतने से ही संतुष्ट न कर सका। अगर मैं जंगल में रहनेवाले उस आदमी की तरह होता जो जानता है कि इससे निकलने का कोई रास्ता नहीं है तो मैं जी सकता था; पर मेरी दशा तो उस आदमी की तरह थी जो जंगल में रास्ता भूल जाने के कारण भयभीत होकर, रास्ता ढूँढ़ने के लिए, इधर-उधर दौड़ता-फिरता हो। वह जानता है कि हरेक कदम उसे ज्यादा उलझन में डाल रहा है, फिर भी वह दौड़ना नहीं बंद करता।

निश्चय ही यह भयंकर अवस्था थी और भय से बचने के लिए मैं खुद अपने को मार डालना चाहता था। आगे मेरा क्या होनेवाला है, इसका खौफ भी मैं महसूस करता था और जानता था कि यह भय मेरी मौजूदा हालत से भी कहीं खराब है। इतने पर भी मैं शांतिपूर्वक अपनी मृत्यु की प्रतीक्षा नहीं कर सकता था। चाहे यह तर्क कितना ही विश्वसनीय लगता रहा हो कि किसी दिन हृदय की कोई शिरा या और कोई चीज़ फट पड़ेगी और सब-कुछ समाप्त हो जाएगा; पर मैं शांति के साथ उस दिन की बाट जोहने में असमर्थ था। अंधकार का भय बहुत अधिक था और मैं गले में फाँसी डालकर या गोली मारकर, मतलब किसी तरह जल्दी-जल्दी जिंदगी से छूटना चाहता था। यही भावना बड़े जोरों से मुझे आत्म-हत्या की ओर ले जा रही थी।

5

'लेकिन शायद मैंने कोई चीज़ नजर-अंदाज कर दी है या समझने में मुझसे गलती हो गई है?' मैं कई बार अपने से कहा करता, 'यह तो नहीं हो सकता कि निराशा की यह हालत मनुष्य के लिए स्वाभाविक हो।' तब मैंने मानव-संचित ज्ञान की विविध शाखाओं में इन समस्याओं का हल ढूँढ़ने की कोशिश की। व्यर्थ की उत्कंठा से या उदासीनता के साथ मैंने यह खोज नहीं की, बल्कि कष्ट उठाकर लगातार रात-दिन उसकी खोज में लग गया, जैसे कोई डूबता हुआ आदमी अपनी रक्षा के लिए कोशिश करता है। लेकिन मुझे कुछ नहीं मिला।

मैंने सभी विज्ञानों में इन समस्याओं का हल खोजा; पर जो कुछ मैं खोजता था उसे पाना तो दूर रहा, उल्टे मुझे विश्वास हो गया कि मेरी तरह जितने लोगों ने भी ज्ञान-मार्ग से जीवन का अर्थ जानने की कोशिश की है उनको कुछ नहीं मिला है।

सिर्फ इतना ही नहीं कि उनको कुछ न मिला हो; बल्कि उनको साफ-साफ कहना पड़ा कि जिस चीज़—यानी जीवन की निरर्थकता—ने मुझको इतना निराश कर रखा है, वही एक ऐसी असंदिग्ध बात है जिसे आदमी जान सकता है।

मैंने सभी जगह खोजा; और चूँकि मेरा जीवन ज्ञान की साधना में ही बीता था और विद्वानों की दुनिया से मेरा संबंध था, इस कारण ज्ञान की सभी शाखाओं में वैज्ञानिकों और विद्वानों तक मेरी पहुँच थी। उन्होंने बड़ी खुशी के साथ अपना सारा ज्ञान न केवल पुस्तकों से, बल्कि वार्तालाप से भी, मुझे सुगम कर दिया, जिससे विज्ञान जीवन के प्रश्न पर जो कुछ कहता था उस सबकी जानकारी मुझे हो गई।

बहुत दिनों तक मैं विश्वास करने में असमर्थ रहा कि यह ज्ञान (विज्ञान) जीवन के प्रश्नों का जो जवाब देता है उसके अलावा दूसरा कोई जवाब नहीं दे सकता। मैंने देखा कि विज्ञान अपनी महत्त्वपूर्ण और गंभीर मुद्रा के साथ अपने उन नतीजों या परिणामों का ऐलान करता है, जिनका मनुष्य-जीवन के वास्तविक प्रश्नों से कोई संबंध नहीं, और बहुत दिनों तक मैं यही समझता रहा कि इसमें कोई ऐसी बात जरूर है जिसे मैं नहीं समझ पाया हूँ। बहुत दिनों तक मैं विज्ञान के सामने भीरु बना रहा और मुझे ऐसा मालूम होता रहा कि जवाबों और मेरे सवालों के बीच के एकरूपता का भाव विज्ञान के दोष के कारण नहीं है; बल्कि मेरी नादानी के कारण है। लेकिन मेरे लिए यह कोई खेल या मनोरंजन का विषय नहीं था, बल्कि जीवन और मृत्यु का प्रश्न था, और मैं इस निश्चय पर पहुँचा कि मेरे प्रश्न जीवन के वास्तविक प्रश्न हैं और वे सारे ज्ञान के आधार हैं, और दोष मेरे प्रश्नों का नहीं, बल्कि विज्ञान का होना चाहिए, यदि वह इन प्रश्नों का उत्तर देने का स्वांग भरता है।

मेरा प्रश्न—जिसने 50 साल की उम्र में मुझे आत्म-हत्या के निकट पहुँचा दिया—एक बहुत ही सीधा और सरल प्रश्न था, जो मूर्ख बच्चे से लेकर एक बड़े बुद्धिमान प्रौढ़ व्यक्ति तक की आत्मा में उठा करता है। यह एक ऐसा प्रश्न था जिसका जवाब दिए बगैर कोई जी नहीं सकता जैसा कि मैंने अनुभव से समझा है। प्रश्न यह था, "मैं आज जो कुछ कर रहा हूँ या कल जो कुछ करूँगा, उसका नतीजा क्या निकलेगा—मेरे सारे जीवन का क्या नतीजा निकलेगा?"

दूसरी तरह से कहा जाए तो इस प्रश्न का यह रूप होगा, "मैं क्यों जिऊँ? क्यों किसी चीज की इच्छा करूँ? क्यों कोई काम करूँ?" इसे यों भी व्यक्त किया जा सकता है, "क्या मेरे जीवन का कोई ऐसा तात्पर्य है कि मेरी बाट जोहती हुई अनिवार्य मृत्यु से भी उसका नाश न होगा?"

कई तरह से व्यक्त किए जानेवाले इस प्रश्न का उत्तर मैंने विज्ञान से जानना चाहा और मुझे पता चला कि इस प्रश्न के संबंध में मनुष्य का सारा ज्ञान दो विरोधी

गोलार्द्धों में बँटा हुआ है, जिनके दोनों सिरों पर दो ध्रुव हैं—एक निषेधात्मक और दूसरा निश्चयात्मक। लेकिन न तो पहले और न दूसरे ध्रुव पर जीवन के प्रश्न का उत्तर मिलता है।

विज्ञान का एक दूसरा वर्ग, मालूम पड़ता है, यह प्रश्न स्वीकार नहीं करता; पर अपने स्वतंत्र प्रश्नों का स्पष्ट और ठीक-ठीक उत्तर देता है। मेरा मतलब प्रयोगात्मक विज्ञानों से है, जिनके अंतिम छोर पर गणित है। विज्ञान का एक दूसरा वर्ग इस प्रश्न को स्वीकार करता है; लेकिन इसका उत्तर नहीं देता; यह निगूढ़ विज्ञानों का वर्ग है और इनके अंतिम छोर पर अध्यात्म-विज्ञान है।

शुरू जवानी से ही निगूढ़ विज्ञानों में मेरी दिलचस्पी थी; लेकिन बाद में गणित एवं प्राकृतिक विज्ञानों की ओर मेरा आकर्षण हो गया, और जब तक मैंने निश्चित रूप से अपना प्रश्न अपने सम्मुख नहीं रखा, और जब तक वह प्रश्न स्वयं मेरे अंदर पल्लवित होकर मुझे तुरंत जवाब देने के लिए विवश नहीं करने लगा तब तक मैंने उन नकली जवाबों पर ही संतोष किया, जो विज्ञान देता है।

प्रयोगात्मक विज्ञान के क्षेत्र में अपने से तो मैंने यह कहा, 'प्रत्येक वस्तु जटिलता और पूर्णता की तरफ बढ़ती हुई स्वयं विकसित होती और विशेषता प्राप्त करती है और कुछ नियम उसकी इस गति का नियंत्रण करते हैं। तुम संपूर्ण के एक अंश हो। जहाँ तक जानना संभव है वहाँ तक संपूर्ण को जान लेने और विकास के नियम का परिचय प्राप्त कर लेने पर तुमको संपूर्ण के बीच अपनें स्थान का पता भी चल जाएगा।' मुझे कहते हुए लज्जा होती है कि एक ऐसा समय था जब मैं इस उत्तर से संतुष्ट दीखता था। यह वही समय था जब मैं स्वयं अधिक जटिल बनता जा रहा था और विकसित हो रहा था। मेरी मांस-पेशियाँ विकसित और दृढ़ हो रही थीं, मेरी स्मरण-शक्ति, समझने-सोचने की शक्ति, बढ़ रही थी; और अपने अंदर इस विकास का अनुभव करते हुए मेरे लिए यह सोचना स्वाभाविक था कि जगत का नियम ऐसा ही है और इसी में मुझे अपने जीवन के प्रश्न का हल ढूँढ़ना चाहिए। लेकिन एक ऐसा समय आया जब मेरे अंदर का विकास रुक गया। मैंने अनुभव किया कि मेरा विकास नहीं हो रहा है; बल्कि मैं मुरझा रहा हूँ, मेरी मांस-पेशियाँ कमजोर होती जाती हैं, मेरे दाँत गिरते जाते हैं, और मैंने देखा कि नियम से न केवल कोई बात समझ में नहीं आती, बल्कि ऐसा नियम न तो कभी था, न कभी हो सकता है और मैंने अपने जीवन की एक अवस्था में अपने अंदर जो कुछ पाया उसे ही नियम मान लिया था। अब मैंने इस नियम की परिभाषा पर विचार करना शुरू किया तो मेरे सामने यह बात स्पष्ट हो गई कि इस तरह अनंत विकास का कोई नियम नहीं हो सकता। यह स्पष्ट हो गया कि यह कहना कि 'असीम अवकाश और समय

में प्रत्येक वस्तु विकसित होती है, अधिक पूर्ण और जटिल होती है तथा विशेषता प्राप्त करती है', मानो कुछ न कहने के बराबर है। ये शब्द बेमानी हैं; क्योंकि असीम में न कुछ जटिल है, न आगे बढ़ना है, न पीछे हटना है, न अच्छा है, न बुरा।

फिर इन सबके ऊपर मेरा निजी-सवाल कि मैं 'अपनी इच्छाओं के साथ क्या हूँ?' अनुत्तरित ही रहा। मैं समझ गया कि वे सब विज्ञान बड़े दिलचस्प हैं, बड़े आकर्षक हैं; पर जीवन के प्रश्न के ऊपर उनके प्रयोग का जहाँ तक सवाल है वे उल्टी दिशा में ही ठीक और स्पष्ट हैं। जीवन के प्रश्न पर उनकी संगति जितनी ही कम बैठती है उतने ही यथार्थ और स्पष्ट वे हैं। वे जीवन के प्रश्न का उत्तर देने की जितनी ही कोशिश करते हैं, उतने ही और आकर्षण-हीन होते जाते हैं। अगर कोई विज्ञानों के उस विभाग की तरफ ध्यान दे जो जीवन के प्रश्न का उत्तर देने की कोशिश करता है (इस विभाग में शरीर-विज्ञान, मनोविज्ञान, जीव-विज्ञान, समाज-विज्ञान आदि हैं) तो वहाँ उसे विचारों की आश्चर्यजनक दीनता, सबसे अधिक अस्पष्टता, अप्रासंगिक प्रश्नों को हल करने का एक बिल्कुल अनुचित और झूठा दावा तथा हरेक आचार्य द्वारा दूसरे का, और अपने द्वारा अपनी ही बातों का भी, निरंतर खंडन होता दिखाई देगा। अगर हम उन विज्ञानों की तरफ देखते हैं, जिनका जीवन के प्रश्नों का हल करने से कोई संबंध नहीं है, पर जो स्वयं अपने विशेष वैज्ञानिक प्रश्नों का जवाब देते हैं; तो इंसान की दिमागी ताकत तो देखकर मुग्ध हो जाना पड़ता है; पर हम पहले से ही जान चुके होते हैं कि वे जीवन के प्रश्नों का कोई जवाब नहीं देते। वे तो जीवन के प्रश्नों की उपेक्षा करते हैं। उनका कहना है, 'तुम क्या हो और क्यों जीते हो इस प्रश्न का न तो हमारे पास जवाब है और न उसके बारे में हम सोचते हैं। हाँ, अगर तुम प्रकाश और रासायनिक मिश्रणों के नियमों को जाना चाहो, अगर तुम चेतन पदार्थों के विकास के नियमों से अवगत होना चाहो, अगर तुम देह और उसके रूप के नियमों की जानकारी हासिल करना चाहो, अगर तुम गुण और परिमाण का संबंध जानना चाहो, अगर तुम अपने मस्तिष्क के नियमों का ज्ञान प्राप्त करना चाहो तो इन सबके हमारे पास स्पष्ट, यथार्थ और निर्विवाद उत्तर मौजूद हैं।'

साधारण ढंग से कहना चाहें तो जीवन के प्रश्नों के साथ प्रयोगात्मक विज्ञान के संबंध को यों व्यक्त किया जा सकता है :

प्रश्न : 'हम क्यों जी रहे हैं?'

उत्तर : 'अनंत अवकाश और अनंत काल में अत्यंत क्षुद्र अंश अनंत जटिल रूपों को ग्रहण करते हैं। जब तुम इस रूप-परिवर्तन के नियमों को समझ लोगे, तब तुम

यह भी जान जाओगे कि पृथ्वी पर क्यों रह रहे हैं।'

इसके बाद मैंने निगूढ़ विज्ञान के क्षेत्र में अपने से कहा, 'संपूर्ण मानवता आध्यात्मिक सिद्धांतों और आदर्शों के आधार पर जीती और विकसित होती है। वही सिद्धांत और आदर्श उसका पथ-प्रदर्शन करते हैं। ये आदर्श धर्म, विज्ञान, कला और और शासन-पद्धति में व्यक्त होते हैं। ये आदर्श दिन-दिन ऊँचे होते जाते है और मानवता अपने सर्वोच्च कल्याण की ओर बढ़ती जाती है। मैं मनुष्यता का अंश हूँ, इसलिए मेरा धंधा मानवता के आदर्शों की स्वीकृति और साधनों को आगे बढ़ाना है।' और अपनी मानसिक दुर्बलता के जमाने में इस उत्तर से संतुष्ट था; पर ज्यों ही जीवन का प्रश्न मेरे सामने स्पष्ट रूप में आया, ये विचार तुरंत टुकड़े-टुकड़े होकर खत्म हो गए। जिस सिद्धांतहीन दुर्बोधता के साथ ये विज्ञान मनुष्य-जाति के एक छोटे हिस्से पर किए गए अध्ययन के बल पर स्थापित परिणामों को सामान्य परिणामों के रूप में व्यक्त करते हैं, जिस प्रकार मनुष्यता के आदर्शों के विषय में इसके विभिन्न अनुयायी एक-दूसरे के मन का खंडन करते हैं, इन बातों को छोड़ भी दें तो भी इस विचार-धारा में यदि मूर्खता नहीं तो आश्चर्य यह है कि हर आदमी के सामने आनेवाले प्रश्नों, 'मैं क्या हूँ?' या 'मैं क्यों जीता हूँ?' या 'मुझे क्या करना चाहिए?' का जवाब देने के लिए पहले इस प्रश्न का जवाब ढूँढ़ना जरूरी समझा जाता है कि 'समष्टि का जीवन क्या है?' (और यही उसके लिए अज्ञात है और समय की एक अत्यंत क्षुद्र अवधि में वह इसके एक अत्यंत क्षुद्र अंश से परिचित है)। इस मत से यह जानने के लिए कि वह क्या है, मनुष्य को पहले सारी रहस्यमयी मानव जाति की जानकारी प्राप्त करनी चाहिए—उस मानव-जाति की, जिसमें उसी की तरह अगणित आदमी हैं, जो एक-दूसरे को नहीं जानते-बूझते।

मैं स्वीकार करता हूँ कि ऐसा भी एक जमाना था जब मैं इन बातों में विश्वास करता था। यह वही जमाना था जब अपनी सनकों को उचित ठहरानेवाले कुछ प्रिय आदर्श मैंने बना रखे थे और एक ऐसे सिद्धांत का निर्माण करने का मैं प्रयत्न कर रहा था जिससे मेरी सनकों को ही मानवता का नियम माना जा सके। लेकिन ज्यों ही मेरी आत्मा में जीवन का प्रश्न पूरी स्पष्टता के साथ उदित हुआ, ज्यों ही यह जवाब मिट्टी में मिल गया और मैंने समझ लिया कि जैसे प्रयोगात्मक विज्ञानों में ऐसे सच्चे विज्ञान और अधूरे विज्ञान हैं, जो अपनी शक्ति और योग्यता के बाहर के सवालों का जवाब देने की कोशिश करते हैं, उसी तरह इस क्षेत्र में भी ऐसे मिश्र विज्ञानों का एक पूरा वर्ग है, जो अप्रासंगिक प्रश्नों का जवाब देने की कोशिश करता है। इस तरह के अधूरे विज्ञान, न्याय-विधान और सामाजिक-ऐतिहासिक विज्ञान, अपने-अपने ढंग पर, संपूर्ण मानवता के जीवन के प्रश्नों को हल करने का बहाना करते हुए मनुष्य के

जीवन के प्रश्नों को हल करने की चेष्टा करते हैं।

पर जिस प्रकार मनुष्य के प्रयोगात्मक ज्ञान के क्षेत्र में जो व्यक्ति सच्चाई के साथ शोध करता है कि उसे किस तरह जीवन बिताना चाहिए और उसे इस उत्तर से संतोष नहीं हो सकता कि, "असीम अवकाश में असंख्य अणुओं के अनंत काल के बीच असीम जटिल परिवर्तनों का अध्ययन करो, तब तुम जीवन को समझ सकोगे', उसी प्रकार एक ईमानदार आदमी इस उत्तर से भी संतुष्ट नहीं हो सकता कि, 'मानव-जाति के संपूर्ण जीवन का अध्ययन करो, जिसके आदि-अंत तक का हमें पता नहीं है, जिसके एक अंश तक का हमें ज्ञान नहीं है, और तब तुम अपने जीवन को समझ सकोगे।' प्रयोगात्मक अधूरे विज्ञानों की तरह से अन्य अधूरे विज्ञान भी अस्पष्टताओं, अयथार्थताओं, मूर्खताओं और पारस्परिक विरोधों से पूर्ण है। प्रयोगात्मक विज्ञान की समस्या तो भौतिक व्यापार में कार्य-कारण के अनुक्रम की समस्या है। पर प्रयोगात्मक विज्ञान में ज्यों ही एक अंतिम कारण का प्रश्न उपस्थित किया जाता है त्यों ही वह मूर्खतापूर्ण हो जाता है। निगूढ़ विज्ञान की समस्या जीवन के मूलतत्त्व की स्वीकृति की समस्या है। ज्यों ही पारस्परिक व्यापार—(जैसे सामाजिक और ऐतिहासिक व्यापार) की खोज आरंभ होती है; यह भी मूर्खतापूर्ण बन जाता है।

प्रयोगात्मक विज्ञान जब अपने शोध में अंतिम कारण का प्रश्न नहीं उठाता तभी निश्चयात्मक उत्तर देता और मानव-मस्तिष्क की महानता प्रकट करता है। इसके विपरीत निगूढ़ विज्ञान जब दृश्य व्यापार के पारस्परिक कारणों से संबंध रखनेवाले सवालों को किनारे रख देता है और मनुष्य का अंतिम कारण के संबंध से अध्ययन करता है, तभी वह विज्ञान होता है और मानवीय मस्तिष्क की महानता का प्रदर्शन करता है। विज्ञान के इस राज्य में गोलक के ध्रुव रूप में, अध्यात्म-विद्या या तत्त्व-दर्शन हैं। यह विज्ञान इस प्रश्न का स्पष्ट वर्णन करता है कि 'मैं क्या हूँ और जगत् क्या है। मेरा अस्तित्व क्यों है और जगत् का अस्तित्व क्यों है?' जब से इसका अस्तित्व है यह एक ही तरह का उत्तर देता रहा है। चाहे दर्शनशास्त्री मेरे अंदर मौजूद जीवनतत्त्व को, या अन्य सब चीजों के अंदर के जीवन-सार को, 'धारणा', 'सार', 'भावना' (स्पिरिट) अथवा 'संकल्प-शक्ति' के नाम से पुकारे, असल में वह एक ही बात कहता है, 'यह तत्त्व मौजूद है और मैं उसी तत्त्व से बना हूँ; पर यह तत्त्व क्यों मौजूद है, इसे वह नहीं जानता और अगर वह सच्चा चिंतक है तो ऐसा कहता भी नहीं। मैं पूछता हूँ कि 'यह तत्त्व मौजूद ही क्यों रहे? यह है और रहेगा। इससे नतीजा क्या निकलता है?'... दर्शन न केवल इसका कोई उत्तर नहीं देता, बल्कि यह स्वयं यही प्रश्न पूछता रहता है। और अगर वह सच्चा दर्शन है तो उसकी सारी चेष्टा इस प्रश्न को स्पष्टतापूर्वक रखने तक ही है। अगर वह

दृढ़तापूर्वक अपने कर्तव्य पर डटा रहे तो सवाल का जवाब सिर्फ इसी तरह देगा, 'मैं क्या हूँ और जगत क्या है?' 'सब कुछ और कुछ भी नहीं।' इसी तरह वह 'क्यों' के जवाब में कहेगा, 'मैं नहीं जानता'।

इस तरह मैं दर्शनशास्त्र के इन जवाबों को चाहे जिस तरह उलटूँ-पलटूँ, मुझे उनसे जवाब-जैसी कोई चीज कभी हासिल नहीं हो सकती—इसलिए नहीं कि प्रयोगात्मक विज्ञान के क्षेत्र की तरह उत्तर का मेरे सवाल से कोई संबंध नहीं, बल्कि इसलिए कि संपूर्ण शास्त्र की गति मेरे सवाल की ओर होते हुए भी उसका कोई उत्तर नहीं है और उत्तर की जगह वही सवाल हमें एक जटिल रूप में सुनाई पड़ता है।

6

जीवन के प्रश्नों के उत्तर की खोज में मुझे ठीक वही अनुभव हुआ, जो जंगल में रास्ता भूल जानेवाले आदमी को होता है।

वह जंगल के बीच की खुली जमीन में पहुँचता है, किसी वृक्ष पर चढ़ जाता है और उसे असीम दूरी तक दिखाई देता है; पर वह देखता है कि उसका घर उधर नहीं है, न हो सकता। तब वह फिर घने जंगल में घुस जाता है। यहाँ उसे अँधेरा दिखता है, पर घर वहाँ भी नहीं है।

इसी तरह मैं मानवीय ज्ञान के जंगल में भटकता रहा। गणित तथा प्रयोगात्मक विज्ञानों की किरणों में मुझे क्षितिज तो साफ-साफ दिखाई देता था; पर उस दिशा में घर नहीं हो सकता था। तब मैं निगूढ़ विज्ञानों के अंधकार में घुस जाता। मैं जितना ही आगे बढ़ता उतना ही गहरे अंधकार में धँसता जाता और मुझे विश्वास हो गया कि इससे बाहर निकलने का रास्ता न है, न हो सकता है।

ज्ञान के प्रकाशमान पक्ष की तरफ झुककर मैंने समझा कि मैं केवल प्रश्न से अपना ध्यान हटा रहा हूँ। मेरे सामने खुलनेवाला क्षितिज चाहे कितना ही लुभावना क्यों न हो, और उन विज्ञानों के असीम विस्तार में प्रवेश करना चाहे कितना ही आकर्षक क्यों न हो, मैं समझ चुका था कि वे जितने ही स्पष्ट और साफ होते हैं उतने ही मेरे लिए बेकार हैं, और उतना ही मेरे प्रश्न का थोड़ा उत्तर देते हैं।

अब मैंने अपने से कहा, 'मैं जानता हूँ कि विज्ञान इतनी लगन के साथ किसका शोध करना चाहता है और यह भी जानता हूँ कि उस मार्ग पर चलकर मेरे जीवन का क्या प्रयोजन है, इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिल सकता।' निगूढ़ विज्ञानों के क्षेत्र में मैंने समझा कि यद्यपि विज्ञान का सीधा लक्ष्य मेरे प्रश्न का उत्तर देना है; पर इसके बावजूद भी मेरे प्रश्न का कोई उत्तर नहीं है—सिवाय उस उत्तर के जो मैं स्वयं दे चुका हूँ, ''मेरे जीवन का अर्थ क्या है?'' उत्तर, ''कुछ नहीं।'' ''मेरे जीवन का

फल क्या होगा?'' उत्तर, ''कुछ नहीं।'' ''जितनी भी चीजें वर्तमान हैं, उनका अस्तित्व क्यों है और मेरा अस्तित्व क्यों है?'' उत्तर, ''क्योंकि अस्तित्व है।''

ज्ञान के एक क्षेत्र में प्रश्न करने पर मुझे उन बातों के बारे में असंख्य परिमाण में ठीक-ठीक उत्तर प्राप्त हुए जिनके संबंध में मैंने कुछ नहीं पूछा था—जैसे तारों के रासायनिक उपकरण, हरक्यूलीज नक्षत्र-समूह की ओर सूर्य की गति, प्राणियों एवं मनुष्य की उत्पत्ति, ईथर के अत्यंत सूक्ष्म कणों के रूप के विषय में परंतु ज्ञान के इस क्षेत्र में मेरे प्रश्न, ''मेरे जीवन का तात्पर्य क्या है?''—का केवल यही उत्तर था कि, ''तुम वही हो जिसे तुम अपना 'जीवन' कहते हो; तुम कणों के एक आकस्मिक और अनित्य संघटन हो। इन कणों की पारस्परिक अंत:क्रियाएँ और तब्दीलियाँ तुममें वह चीज पैदा करती हैं जिन्हें तुम अपना 'जीवन' कहते हो। यह संघटन कुछ समय तक चलता रहेगा। इसके बाद इन कणों की अंत:क्रियाएँ बंद हो जाएँगी और जिसे तुम 'जीवन' कहते हो वह भी बंद हो जाएगा और साथ ही तुम्हारे सब प्रश्नों का भी अंत हो जाएगा। तुम किसी चीज के अकस्मात् जुड़कर बन गए छोटे पिंड हो। इस क्षुद्र पिंड में उबाल आता है। इसी को वह क्षुद्र पिंड अपना 'जीवन' कहता है। पिंड बिखर जाएगा, उबाल समाप्त हो जाएगा और साथ ही सब प्रश्नों का भी अंत हो जाएगा।' विज्ञान का स्पष्ट पहलू इस तरह उत्तर देता है और अगर वह अपने सिद्धांत पर ठीक-ठीक चले तो इसके सिवाय दूसरा उत्तर दे ही नहीं सकता।

इस तरह के उत्तर से कोई भी आदमी देख सकता है कि इससे प्रश्न का कोई उत्तर नहीं मिलता। मैं अपने जीवन का तात्पर्य जानना चाहता हूँ, पर ''यह असीम का क्षुद्र अंश है'' इस प्रकार का उत्तर जीवन का कोई अभिप्राय बताने की जगह उसके प्रत्येक संभव तात्पर्य को नष्ट कर देता है। प्रयोगात्मक विज्ञान का यह पक्ष निगूढ़ विज्ञान से जो अस्पष्ट समझौते करता और कहता है कि जीवन का मर्म विकास एवं विकास के साथ सहयोग में निहित है तब इनकी अयथार्थता और स्पष्टता के कारण इन्हें उत्तर नहीं माना जा सकता।

विज्ञान का दूसरा यानी निगूढ़ पक्ष, जब अपने सिद्धांतों को दृढ़तापूर्वक पकड़कर चलता है और इस प्रश्न का सीधा जवाब देना चाहता है तो वह सदा यह एक ही जवाब एक ही तरह से देता है, सब युगों में देता रहा है :''जगत् असीम और अचिंत्य है।'' मानव-जीवन उस अचिंत्य 'समदृष्टि' का एक अचिंत्य अंश है, फिर मैं निगूढ़ एवं प्रयोगात्मक विज्ञानों के उन सब समझौतों या मिश्रणों को अलग रख देता हूँ, जो न्याय, राजनीतिक और ऐतिहासिक नामधारी अर्द्ध-विज्ञानों के एक पूरे बोझ की सृष्टि करते हैं। इन अर्द्ध-विज्ञानों में भी विकास और प्रगति की धारणाएँ गलत रूप में उपस्थित की जाती हैं, अंतर केवल इतना होता है कि वहाँ प्रत्येक वस्तु

की प्रगति की बात थी और यहाँ मनुष्य-जाति के जीवन के विकास की बात है। इसमें भी भूल पहले की तरह ही है : असीम में विकास और प्रगति का कोई लक्ष्य नहीं हो सकता, और जहाँ तक मेरे प्रश्न का संबंध है, कोई जवाब नहीं मिलता।

सच्चे निगूढ़ विज्ञान में यानी सच्चे दर्शनशास्त्र में (उसमें नहीं जिसे शॉपेनहार पुस्तकीय तत्त्व-ज्ञान कहता और जो सारी मौजूदा चीजों को नए दार्शनिक विभागों में बाँटता है और उन्हें नए-नए नामों से पुकारता है) जहाँ दार्शनिक तात्त्विक प्रश्न की ओर से अपनी दृष्टि नहीं हटाता, एक ही उत्तर मिलता है। यह वही उत्तर है जिसे सुकरात, शॉपेनहार, सोलोमन (सुलेमान) और बुद्ध देते रहे हैं।

सुकरात जब मरने की तैयारी कर रहा था, तब उसने कहा था, "हम जीवन से जितना ही दूर जाते हैं उतना ही सत्य के निकट पहुँचते हैं; क्योंकि हम सत्य के प्रेमी जीवन में आखिर किस चीज को पाने का प्रयत्न करते हैं? दैहिक जीवन से पैदा होनेवाली सब बुराइयों तथा स्वयं देह से मुक्ति की ही न? अगर यह बात है तो मौत को पास आई देख हम खुश हुए बिना कैसे रह सकते हैं?

"ज्ञानी पुरुष अपनी सारी जिंदगी भर मृत्यु की साधना करता है इसलिए मृत्यु उसके लिए भयंकर नहीं होती।"

और शॉपेनहार कहता है :

"जगत् की अत्यांतरिक प्रकृति को 'संकल्प' के रूप में पहचान लेने और प्रकृति की अस्पष्ट शक्तियों के अचेतन व्यापार से लेकर मनुष्य के पूर्णत: चैतन्ययुक्त कार्यों तक प्रकृति के संपूर्ण गोचर पदार्थों को केवल उस 'संकल्प' की पादार्थिकता या सरूपता मान लेने पर उसकी शृंखला से हम भाग नहीं सकते और हमको मानना पड़ेगा कि स्वेच्छापूर्वक इस संकल्प का त्याग कर देने पर उसके द्वारा उत्पन्न होनेवाले संपूर्ण गोचर पदार्थों का भी नाश हो जाता है; उन संपूर्ण अंतहीन एवं अविश्रांत कार्य-परंपराओं का लोप हो जाता है, जिसके अंदर और जिनके द्वारा संसार का अस्तित्व है; एक के बाद एक आनेवाले विविध रूपों का अंत हो जाता है और रूप के साथ संकल्प की संपूर्ण अभिव्यक्तियाँ भी समाप्त हो जाती हैं और अंत में इस अभिव्यक्ति जागतिक रूपों यानी काल और अवकाश तथा इसके अंतिम मौलिक रूप चेतना और पदार्थ (आत्मा और भूत) सबका अंत हो जाता है। जहाँ 'संकल्प' नहीं है, वहाँ प्रदर्शन नहीं है और जगत् भी नहीं है। केवल शून्य ही रह जाता है। इस शून्यता की अवस्था तक पहुँचने में हमारी प्रकृति बाधक होती है। और हमारी प्रकृति वही हमारी जीने की इच्छा-मात्र है—यही हमारी दुनिया है। हम विनाश से इतनी घृणा करते हैं या दूसरे शब्दों में जीने की इच्छा रखते हैं, यह इस बात का सूचक है कि हम जीवन की दृढ़ कामना करते हैं। हम इस संकल्प के

अतिरिक्त कुछ नहीं हैं और इसके अलावा और कुछ जानते भी नहीं हैं। इसलिए इस संकल्प के संपूर्ण क्षय के पश्चात् जो कुछ बचता है, वह हमारे-जैसे संकल्प से भरे हुए लोगों के लिए निश्चय ही कुछ नहीं है। पर इसके विरुद्ध जिनके अंदर संकल्प स्वयं क्षय हो गया है, उनके लिए हमारी यह वास्तविक-सी लगनेवाली दुनिया अपने संपूर्ण सूर्यों एवं आकाश-गंगाओं के साथ भी, शून्य ही है।"

सुलेमान कहता है, "सब निस्सार है, वृथाभिमान है! आदमी सूर्य के नीचे जो सारी मेहनत करता है उससे उसे क्या फायदा होता है? एक पीढ़ी जाती है और दूसरी आती है; लेकिन पृथ्वी सदा बनी रहती है...जो चीज पहले रही है, वही आगे भी होगी; जो काम किया गया है, वह वही है जो आगे भी किया जाएगा। सूर्य के नीचे (दुनिया में) कोई भी चीज़ नई नहीं है। क्या कोई ऐसी चीज है जिसे देखकर कहा जा सके—देखो यह नई है! जो है, वह पुराने जमाने में पहले ही रह चुकी है। पूर्व वस्तुओं को कोई याद नहीं करता; आगे जो आएँगे उनके साथ आनेवाली चीजों को भी लोग याद नहीं रखेंगे—भूल जाएँगे। मैं उपदेशक एक दिन जरूसलम में इसराइलों का बादशाह था। और मैंने ज्ञान के सहारे आकाश के नीचे की वस्तुओं का शोध करने में अपना मन लगाया; यह तीव्र वेदना ईश्वर ने मनुष्य के उपयोग के लिए प्रदान की है। दुनिया में जितने काम किए जाते हैं सबको मैंने देखा है; वह सब मिथ्या अहंकार और आत्मा के उद्वेगमात्र हैं। मैंने स्वयं अपने हृदय में ध्यान लगाया, और कहा, 'ओह! मैं बड़ी ऊँची अवस्था में पहुँच गया हूँ और मेरे पहले जरूसलम में जितने लोग हुए उन सबसे अधिक ज्ञान मुझे है। हाँ, मेरे हृदय को विवेक और ज्ञान का महान् अनुभव है। और मैंने ज्ञान का पागलपन और मूर्खता को जानने में मन लगाया। पर मैंने अनुभव किया कि यह सब भी आत्मा एवं अंत:करण का उद्वेग ही है; क्योंकि अधिक ज्ञान में अधिक दु:ख है। और जो ज्ञान को बढ़ाता है दु:ख को भी बढ़ा लेता है।"

मैंने अपने दिल में कहा, 'हटो, चलो, अब मैं प्रफुल्लता से तुझे सिद्ध करूँगा, इसलिए सुख भोगूँगा।' और देखो यह भी मिथ्या अहंकार है। मैंने हँसी के बारे में कहा : यह पागल है। उल्लास के बारे में कहा: यह क्या कर सकता है? मैंने अपने मन में यह देखने की कोशिश की कि मैं अपने हाड़-मांस को खराव से कैसे खुश रख सकता हूँ। मैंने इसकी कोशिश की कि मेरे हृदय में ज्ञान की ज्योति जगमगाती रहे और साथ ही मैं बुराइयों में प्रवेश करके देखूँ कि मनुष्य जो इतने दिन जीता है तो उसके जीवन के लिए सबसे अच्छी बात क्या है। मैंने बड़े-बड़े काम किए; मैंने अपने लिए मकान बनवाए; अंगूर की खेती की; मैंने बगीचे और उपवन खड़े किए और उनमें तरह-तरह के फलों के वृक्ष लगवाए। बाग के वृक्षों को सींचने के लिए

मैंने नहरें बनवाईं; मैंने दास और दासियाँ रखीं और खुद अपने मकान में दास पैदा कराए; पशुओं और चौपायों का जैसा संग्रह मेरे पास था वैसा मेरे से पहले जरूसलम में कभी देखा नहीं गया था। मैंने राजाओं और बादशाहों तथा सूबों से सोना-चाँदी रत्न और आश्चर्यजनक कोष इकट्ठा किया। मेरे पास गायकों और गायिकाओं की कमी न थी; सब तरह के वाद्य-यंत्रों का, जिनसे मानव-जाति आनंद-उपभोग करती है, मेरे पास भंडार था। इस तरह मैं महान् था और मेरे पहले जरूसलम में जितने लोग हुए उन सबसे अधिक वैभव मेरे पास था। तिस पर मेरा विवेक और ज्ञान भी मेरे साथ था। मेरे आँखों ने जिस चीज की आकांक्षा की, मैंने उन्हें वही दिया। किसी तरह के सुख-भोग से मैंने अपने हृदय को वंचित नहीं रखा।...बाद में अपने उन सब कामों पर गौर किया; उन सब चीजों पर ध्यान दिया जिन्हें पाने के लिए मैंने इतना श्रम किया था। मैंने देखा सब मिथ्या अहंकार और आत्मोद्वेग-मात्र हैं; इन चीजों से कुछ भी लाभ नहीं है। तब मैंने इन पर से अपना मन हटाकर ज्ञान, पागलपन और बुराई को देखने की कोशिश की...पर मैंने अनुभव किया कि इन सबके साथ एक ही घटना घटित होती है। तब मैंने अपने दिल में कहा कि मूर्ख के साथ भी वही बात होती है और मेरे साथ भी वही बात होती है, तब मैं उससे अधिक बुद्धिमान किस तरह हूँ? तब मैंने मन में कहा कि यह भी एक मिथ्या अहंकार ही है; क्योंकि जैसे मूर्ख की सदा याद नहीं रहती वैसे ही बुद्धिमान को भी लोग सदा याद नहीं रखते, भूल ही जाते हैं। आज जो कुछ है वह सब लोग आनेवाले दिनों यानी भविष्य में भूल जाएँगे। और बुद्धिमान आदमी कैसे मरता है? वैसे ही जैसे मूर्ख मरता है। इसलिए मुझे जीवन से घृणा हो गई है; क्योंकि संसार में जो कुछ काम है सब दुःख से पूर्ण है, सब कुछ मिथ्या अहंकार और आत्मोद्वेगमात्र है। बस, मैंने अब तक जो कुछ किया था, जो काम किए थे, उन सबसे मुझे घृणा हो गई; क्योंकि मैं देखता था कि इन सबको अपने बाद आनेवाले आदमी के लिए मुझे जाना होगा।... भला आदमी जो इतना श्रम करता और इतनी परेशानी उठाता है उसमें उसे क्या मिलता है? उसके सारे दिन शोक और दुःख से भरे हुए हैं; रात में भी उसके हृदय को कोई विश्राम नहीं मिलता। यह भी मिथ्याभिमान है। मनुष्य के जीवन को इतनी सुरक्षा नहीं दी गई कि वह खाए, पिए और अपने काम-धाम से अपने हृदय को प्रफुल्ल रखे।... सभी चीजें सब लोगों के पास एक ही तरह से आती हैं; पुण्यात्मा और दुष्ट दोनों के साथ एक ही बात होती है; अच्छे और बुरे, स्वच्छ और अस्वच्छ, त्याग करनेवाले और त्याग न करनेवाले, सज्जन और पापी, कसम खानेवाले और कसम से डरनेवाले सबके लिए एक ही बात है। सूर्य के नीचे (दुनिया में) जो कुछ किया जाता है उस सबमें यही दोष है कि सबके साथ एक ही घटना घटित होती है।

आह! मानव-पुत्रों का हृदय बुराइयों से भरा हुआ है और जब तक वे जीते हैं उनके हृदय में पागलपन रहता है, और उसके बाद वह मृत्यु की गोद में जाते हैं! जो जीवितों में हैं उनके लिए आशा है, एक जीवित कुत्ता मरे हुए शेर से अच्छा है; क्योंकि जीवित जानते हैं कि वे मरेंगे, परंतु मरे हुओं को कुछ पता नहीं—न उनको कोई पुरस्कार ही मिलता है। उसकी याद भी भुला दी जाती है। मौत के साथ ही उनके प्रेम, उनकी घृणा, उनके ईर्ष्या-द्वेष सबका अंत हो जाता है। फिर कभी दुनिया में किए जानेवाले किसी कार्य में उनका कोई हिस्सा नहीं रहता।''

ये सुलेमान अथवा जिसने भी इसे लिखा हो, उसके शब्द हैं। अब भारतीय ज्ञान भी सुनिए :

शाक्यमुनि एम तरुण और सुखी राजकुमार थे। उनसे बीमारी, बुढ़ापे और मृत्यु के अस्तित्व की बात छिपा रखी गई थी। एक दिन वह सैर को निकले और उन्होंने एक अत्यंत जीर्ण बूढ़े आदमी को देखा, जिसके दाँत टूट गए थे और मुँह से फेन निकल रहा था। चूँकि राजकुमार से तब तक बुढ़ापे का अस्तित्व छिपाया गया था, इसलिए उनको यह दृश्य देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने अपने सारथी से पूछा, 'यह क्या चीज है, और इस आदमी की इतनी बुरी और दुःखदायी हालत क्यों है?' जब उन्हें मालूम हुआ कि सभी मनुष्यों के भाग में यह बात लिखी है और स्वयं उनकी भी अनिवार्यतः यही हालत होगी तो वह आगे सैर को न जा सके। सारथी को घर लौटने की आज्ञा दी, जिससे वह इस घटना पर विचार कर सके। घर लौटकर उन्होंने अपने को एक कमरे में बंद कर लिया और घटना पर विचार करने लगे। शायद उन्होंने अपने दिल को किसी तरह समझा-बुझा लिया होगा; क्योंकि बाद में वह फिर प्रफुल्ल और सुखी होकर सैर को निकले। इस बार उनको एक बीमार आदमी दिखाई दिया। इस आदमी का शरीर सूख गया था, वह नीला पड़ गया था, शरीर काँप रहा था और आँखों में अँधेरा छा रहा था। चूँकि राजकुमार से बीमारी के अस्तित्व की बात छिपाई गई थी, इसलिए उन्होंने इस आदमी को देखते ही रथ रुकवा दिया और पूछा, 'क्या बात है?' जब उन्हें मालूम हुआ कि यह बीमारी है जो सभी को होती है और स्वस्थ और प्रसन्न राजकुमार भी कल बीमार पड़ सकते हैं तो वह सैर का आनंद भूल गए। घर लौटने की आज्ञा दी और शायद सोच-विचार के बाद अपने मन को किसी तरह सांत्वना देने में समर्थ हुए; क्योंकि तीसरे दिन वह फिर तीसरी बार सैर के लिए निकले। पर इस बार भी उन्हें एक नया दृश्य दिखाई दिया। उन्होंने देखा कि लोग किसी चीज को कंधे पर रखे लिए जा रहे हैं। पूछा, 'यह क्या है?' उत्तर मिला, 'मुरदा है।' राजकुमार ने सवाल किया, 'मुरदा क्या होता है?' उनको बताया गया कि उस आदमी की-सी अवस्था में हो जाने पर मुरदा

कहते हैं। राजकुमार अर्थी के नजदीक गए, कपड़ा हटाया और उसे देखा। पूछा, 'अब इसका क्या होगा?' लोगों ने कहा कि अब इसे जलाएँगे। 'क्यों?' क्योंकि अब वह फिर जी नहीं सकता और उसके शरीर में सिर्फ बदबू और कीड़े पैदा होंगे। 'क्या सब आदमियों की यही गति होती है? क्या मेरी भी यही हालत होगी? क्या लोग मुझे भी जला देंगे? क्या मेरे शरीर से बदबू पैदा होगी और उसे कीड़े खाएँगे?' उत्तर मिला, 'हाँ'। राजकुमार ने सारथी से कहा, 'घर लौटो। मैं फिर कभी मनोरंजन के लिए सैर-सपाटे को न निकलूँगा।'

तब से शाक्य मुनि के हृदय में बेचैनी पैदा हुई। उनको जीवन में कोई सांत्वना न मिल सकी और उन्होंने निर्णय किया कि जीवन सबसे बड़ी बुराई है। उन्होंने अपनी आत्मा की सारी शक्ति इस बुराई से मुक्ति पाने और दूसरों को मुक्ति करने में और इस चेष्टा में लगा दी कि मृत्यु के बाद फिर जीवन का चक्र न चल सके, बल्कि समूल उसका अंत हो जाए। यह भारतीय ज्ञान की वाणी है।

मानवीय ज्ञान जब जीवन के प्रश्न का उत्तर देता है तब इसी तरह के सीधे उत्तर उससे मिलते हैं।

'दैहिक जीवन बुरा एवं असत् है। इसलिए दैहिक जीवन का नाश ही सुख है और हमें उसी की कामना करनी चाहिए।' यह शॉपेनहार का कथन है।

'ज्ञान और अज्ञान, वैभव और गरीबी, सुख और दु:ख—जो भी दुनिया में है, सब मिथ्याहंकार और पोल है। आदमी मर जाता है और उसका कोई चिह्न नहीं बचता। कैसी मूर्खता है।' यह सुलेमान का कथन है।

'दु:ख और अनिवार्यत: शक्ति-हीन, वृद्ध तथा मृत्यु होने की चेतना के बीच रहना असंभव है। हमें जीवन से—सब प्रकार के संभव जीवन के जाल से छूटना ही होगा।' यह बुद्ध की वाणी है।

और इन महापुरुषों एवं चिंतकों ने जो कुछ कहा है उसे लाखों आदमियों ने कहा, सोचा और अनुभव किया है। मैंने भी इसे सोचा और अनुभव किया है।

इस तरह वैज्ञानिकों के बीच जो सैर मैंने की, उसे अपनी निराशा से छूटने की जगह मैं उसमें और भी जोरों के साथ फँसता गया। ज्ञान के एक वर्ग ने जीवन के प्रश्न का उत्तर ही नहीं दिया; दूसरे ने सीधा जवाब दिया और मेरी निराशा को पक्का कर दिया। उसने यह कहने की जगह कि जिस नतीजे पर मैं पहुँचा हूँ, वह मेरी भूल या मेरे मन की अस्वस्थ अवस्था का परिणाम है, उलटे कहा कि मैंने जो सोचा है, ठीक ही सोचा है और मेरे विचार सबसे शक्तिमान् मानवी-मस्तिष्कों द्वारा पहुँचे हुए नतीजे से मेल खाते हैं।

अपने को धोखे में रखने से कोई फायदा नहीं है! यह सब मिथ्या अहंकार है!

जो पैदा नहीं हुआ है वही सुखी है—भाग्यवान् है; मृत्यु जीवन से अच्छी है और आदमी को जीवन से अवश्य मुक्ति-लाभ करना चाहिए।

7

जब मुझे विज्ञान के अंदर कोई जवाब नहीं मिला तब मैंने जीवन में उसकी खोज शुरू की और आस-पास के लोगों में ही उसे पा लेने की उम्मीद की। मैंने इस बात पर ध्यान देना शुरू किया मेरे आस-पास के मेरे ही जैसे लोग कैसे जीवन व्यतीत करते हैं और उस प्रश्न के प्रति उनका क्या रुख है, जिसने मुझे निराशा के भँवर में लाकर छोड़ दिया है।

जो लोग मेरे-जैसी स्थिति में थे, यानी जिसकी शिक्षा-दीक्षा और जीवन-प्रणाली मेरे समान थी, उनके बीच मैंने यह जवाब पाया।

मैंने पता लगाया कि मेरे वर्ग के आदमी जिस भयानक स्थिति में थे, उससे निकलने के लिए चार रास्ते हैं।

पहला अज्ञान का रास्ता है यानी इस बात को न जानना, न समझना कि जिंदगी एक बुराई और फिजूल की चीज है। इस तरह के लोग-विशेष रीति से स्त्रियाँ या नवयुवक या बिल्कुल कुंदजहन—अभी तक जिंदगी के उस सवाल को समझ नहीं पाए हैं जो शॉपेनहार, सुलेमान और बुद्ध के सामने आया था। वे न तो उस अजगर को ही देख रहे हैं जो उसकी बाट जोह रहा है और न उस टहनी काटनेवाले चूहों को ही देख रहे हैं, जिससे वे लटके हुए हैं। वे सिर्फ शहद की बूँदें चाटते हैं। पर शहद की बूँदें भी वे थोड़े समय तक चाट पाते हैं; कोई चीज उनका ध्यान अजगर और चूहे की तरफ जरूर खींचेगी और शहद चाटने का अंत हो जाएगा। ऐसे लोगों से मुझे कुछ सीखना नहीं है—आदमी जिस बात को जानता है उसकी ओर से आँख कैसे मूँद सकता है।

इससे छूटने का दूसरा मार्ग विषयासक्ति है। इसका मतलब है—जीवन की व्यर्थता को जानते हुए भी जो कुछ सुविधाएँ मिल गई हैं, उनका फिलहाल उपयोग करना और अजगर एवं चूहे की परवाह न करते हुए अपनी पहुँच में जितना शहद हो उसे चाटते जाना। सुलेमान ने इसी भाव को यों व्यक्त किया है, 'तब मैंने आनंद का मार्ग ग्रहण किया; क्योंकि आदमी के लिए दुनिया में खाने-पीने और आनंद मनाने से बढ़कर और क्या है। ईश्वर ने दुनिया में उसे जीने के जितने दिन दिए हैं, उसमें अगर सुख-भोग का यह क्रम चलता रहे तो फिर और क्या चाहिए?

'इसलिए आनंद से अपनी रोटी खा और उल्लसित हृदय से अपनी शराब पी।...जिस पत्नी को अपने मिथ्या अहंकार की जिंदगी के दिनों में तू प्यार करता है

उसके साथ सुखपूर्वक रह...क्योंकि दुनिया में तू जो श्रम करता है उसमें तुझे अपने हिस्से में यह चीज मिली है। तेरे हाथों को जो कुछ करने को मिले उसे अपनी सारी ताकत से कर; क्योंकि जिस कब्र की तरफ तू चला जा रहा है उसमें कोई काम, कोई उपाय, कोई ज्ञान नहीं है।

इसी मार्ग पर चलकर हमारी श्रेणी के अधिकतर मनुष्य अपने लिए जीवन संभव बनाते हैं। अपनी परिस्थिति के कारण उन्हें अपने जीवन में कठिनाई की जगह आराम और सुख-भोग अधिक मिलता है और अपनी नैतिक अंधता की वजह से यह भूल जाते हैं कि उनकी स्थिति ने जो सुविधा दिला रखी है वह आकस्मिक है और सुलेमान की तरह हर आदमी को हजार पत्नियाँ और महल नहीं मिल सकते। वे यह भी भूल जाते हैं कि हर ऐसे आदमी के बदले, जिसके पास हजार औरतें हैं, हजार आदमी बिना औरत के ही रह जाते हैं और हर महल को बनाने में हजार आदमियों को पसीना बहाकर काम करना पड़ता है और जिस घटना-चक्र ने आज मुझे सुलेमान बना दिया है वही कल मुझे सुलेमान का दास भी बना सकता है। चूँकि इन आदमियों की कल्पना-शक्ति बिल्कुल कुंठित हो चुकी होती है, इसलिए वे इन बातों को भुला सकते हैं, जिनके कारण बुद्ध को शांति नहीं मिलती थी—यानी उस अनिवार्य बीमारी, बुढ़ापे और मौत को वे भूल जाते हैं, जो आज या कल इन सब सुखों का अंत कर देगी।

हमारे जमाने के और हमारी तरह जिंदगी बितानेवाले अधिकतर आदमी इस तरह सोचते और अनुभव करते हैं। यह ठीक है कि इनमें से कुछ लोग अपने कठिन विचारों और कल्पनाओं को एक तत्त्व-ज्ञान के रूप में घोषित करते हैं और उसे 'निश्चयात्मक' (पॉजिटिव) नाम देते हैं; पर मेरी सम्मति में इसके कारण वे उन लोगों के झुंड से अलग नहीं किए जा सकते, जो प्रश्न को दृष्टि से ओट करने के लिए शहद चाटते हैं। मैं उन आदमियों की नकल नहीं कर सकता, और उनकी जैसी मंद कल्पना न होने के कारण मैं उनकी तरह इसे बनावटी तौर पर अपने अंदर पैदा भी नहीं कर सकता। मैं अजगर और चूहे से अपनी आँखें हटा नहीं सकता; कोई चेतनाधारी मनुष्य एक बार उन्हें देख लेने के बाद ऐसा नहीं कर सकता।

पलायन का तीसरा रास्ता बल और शक्ति का है। इसके सानी यह है कि जब आदमी समझ ले कि जीवन केवल एक बुराई और निरर्थक-सी वस्तु है तब उसे नष्ट कर दे। कुछ असाधारण रूप से शक्तिमान् और दृढ़ व्यक्ति ही ऐसा करते हैं। अपने साथ जो मजाक किया गया है उसकी निरर्थकता समझ लेने और जीने से मर जाना अच्छा है तथा अस्तित्व न रखना सबसे अच्छा है, यह जान लेने के बाद वे इस मूर्खतापूर्ण मजाक का खात्मा कर देते हैं—क्योंकि खात्मा करने के साधन भी मौजूद

हैं; गले के चारों ओर रस्सी का फंदा, पानी, कलेजे में घुसेड़ लेने के लिए छुरा, रेल पर चलनेवाली गाड़ियाँ। हममें से जो लोग ऐसा करते हैं उनकी संख्या बढ़ती ही जाती है। इनमें से अधिकतर अपने जीवन के सबसे अच्छे काल में, जब उनके मन की शक्ति खूब विकसित होती है और मनुष्य के मन को विकृत और पतित करनेवाली आदत भी उनमें बहुत कम होती हैं, ऐसा करते हैं।

मैंने देखा कि पलायन का यही सबसे अच्छा उपाय है और मैंने इसे ही ग्रहण करने की इच्छा की।

एक चौथा उपाय और है; पर वह दुर्बलता का उपाय है। मनुष्य परिस्थिति की सच्चाई को देखते हुए भी जीवन से चिपटा रहता है—यद्यपि वह पहले से ही यह जानता है कि इससे कोई चीज हाथ नहीं आनी है। वह जानता है कि मौत जिंदगी से बेहतर है; पर बुद्धिमत्तापूर्वक आचरण करने की, जल्दी इस धोखाधड़ी को खत्म करने और अपने को मार डालने की, ताकत न होने के कारण वह किसी चीज की प्रतीक्षा करता हुआ मालूम पड़ता है। यह दुर्बलतापूर्वक पलायन है, क्योंकि जब मैं जानता हूँ कि सर्वोत्तम उपाय क्या है और उसे करना मेरे बस की बात है तब उसे क्यों न किया जाए? मैंने अपने को इसी वर्ग में पाया।

इन चार उपायों से मेरी श्रेणी के मनुष्य भयंकर परस्पर विरुद्ध बातों से दूर भागते हैं। मैंने बहुत सोचा-विचारा; पर इन चार उपायों के अलावा मुझे कोई और मार्ग नहीं दिखाई दिया। एक उपाय यह था—जीवन मूर्खतापूर्ण, मिथ्या अहंकार और बुराई है और जिंदा न रहना बेहतर है; यह ज्ञान ही न हो। पर मैं इस ज्ञान से रहित न रह सका और जब एक बार यह ज्ञान हो गया तब उससे आँखें कैसे बंद कर सकता था? दूसरा उपाय यह था—बिना भविष्य का विचार किए जैसा भी जीवन है, बिताया जाए। मैं ऐसा भी नहीं कर सकता था। शाक्यमुनि की तरह जानते हुए कि बुढ़ापा, बीमारी और मौत का अस्तित्व है, मैं सैर-शिकार को नहीं जा सकता था। मेरी कल्पना बड़ी प्रबल थी। मैं उन आकस्मिक क्षणों में भी प्रसन्नता नहीं अनुभव कर पाता था जो पलभर के लिए मेरे सामने सुख के टुकड़े फेंक देते थे। तीसरा उपाय यह था कि इस बात को समझ लेने के बाद कि जिंदगी एक बुराई और बेवकूफी से भरी हुई चीज है, अपने को मारकर उसका खात्मा कर देता। मैं जीवन की व्यर्थता समझता था, फिर भी किसी वजह से आत्म-हत्या मैंने नहीं की। चौथा उपाय है—सुलेमान और शॉपेनहार की तरह रहने का—यह जानते हुए कि जिंदगी हमारे साथ किया गया एक मजाक है, जीवन बिताने, नहाने-धोने, खाने-पहनने, बात करने और किताबें लिखने का! मेरे लिए यह घृणाजनक और दु:खदायी था। लेकिन मैं उस स्थिति में बना रहा।

आज मैं देखता हूँ कि मैं आत्म-हत्या नहीं कर सका, इसका कारण अपने विचार भ्रम-पूर्ण होने की धुँधली चेतना थी। अपनी तथा विद्वानों की यह विचार-प्रणाली चाहे कितनी ही विश्वसनीय और संदेह-रहित मालूम पड़ी हो जिसने मुझे जीवन की व्यर्थता स्वीकार करने पर विवश किया; पर इस परिणाम के औचित्य के संबंध मेरे अंदर एक धुँधला संदेह बना ही रहा।

इस संदेह कुछ इस तरह का था : मैं अर्थात् मेरी बुद्धि ने मान लिया कि जीवन व्यर्थ है। अगर बुद्धि से ऊँची कोई चीज नहीं है (और है भी नहीं; कोई चीज सिद्ध नहीं कर सकती कि इससे ऊँची वस्तु है), तब मेरे लिए बुद्धि ही जीवन की सृष्टि करनेवाली है। अगर बुद्धि के अस्तित्व का लोप हो जाए तो मेरे लिए जीवन भी न रहेगा। पर बुद्धि जीवन से इनकार कैसे कर सकती है, जब वह स्वयं जीवन की सृष्टि करनेवाली है? या इसे दूसरी तरह कहें : अगर जीवन न होता तो मेरी बुद्धि का अस्तित्व भी न होता, इसलिए बुद्धि जीवन की संतान है। जीवन ही सब कुछ है। बुद्धि उसका फल है, फिर भी बुद्धि स्वयं जीवन को अस्वीकार करती है। मैंने अनुभव किया कि इसमें कोई-न-कोई गलती है।

मैंने अपने से कहा—यह ठीक है कि जीवन एक व्यर्थ की बुराई है। फिर भी मैं जीता रहा हूँ और अब भी जी रहा हूँ; सारी मानव-जाति जीती रही और जी रही है। यह कैसी बात है? जब जीना असंभव है, तब फिर वह क्यों जीती? क्या सिर्फ मैं और शॉपेनहार ही इतने बुद्धिमान हैं कि जीवन की व्यर्थता और बुराई को समझते हैं।

जिस तर्क से जीवन का मिथ्या अहंकार सिद्ध होता है वह बहुत कठिन नहीं है और बिल्कुल सीधे-सादे लोग दीर्घकाल से उसे जानते हैं, फिर भी वे जीते रहे हैं और आज भी जी रहे हैं। फिर क्या कारण है कि वे सब जीते रहते हैं और कभी जीवन के औचित्य में संदेह करने की बात नहीं सोचते?

ऋषियों के विवेक से पुष्ट मेरे ज्ञान ने मुझे बताया है कि पृथ्वी पर रहनेवाली प्रत्येक वस्तु—शरीरी और अशरीरी—अत्यंत चतुराई के साथ एक व्यवस्था और शृंखला में पिरोई हुई है, केवल मेरी ही स्थिति हास्यास्पद है। और उन मूर्खों को—विस्तृत जन-समूह को—इस बात का कुछ ज्ञान नहीं है कि जगत् की प्रत्येक शरीरी और अशरीरी वस्तु में किस प्रकार से एक क्रम का विधान है। फिर भी वे जी रहे हैं और उन्हें मालूम पड़ता है कि उनका जीवन बड़ा बुद्धिमत्तापूर्ण है।

मेरे मन में विचार उठा कि 'कहीं ऐसा तो नहीं है कि मैं किसी वस्तु को अभी तक न जानता होऊँ? अज्ञान ठीक इसी रूप में अपना कार्य करता है। वह सदैव ठीक बात कहता है जो मैं कह रहा हूँ। जब वह किसी वस्तु को नहीं जानता तब

यह कहता है कि जो कुछ मैं नहीं जानता वह सब मूर्खतापूर्ण है। स्पष्टतया सारे-का-सारा मानव-समाज युग-युग-से जीता रहा है और आज भी इस तरह जी रहा है मानो उसने अपने जीवन का अर्थ समझ लिया हो; क्योंकि बिना यह समझे वह जी नहीं सकता; किंतु मैं कहता हूँ कि यह सब जीवन निरर्थक है और मैं जी नहीं सकता।

'आत्महत्या द्वारा जीवन को समाप्त करने से हमें कोई चीज नहीं रोकती। तब अपने को मार डालो और बहस मत करो। यदि जीवन तुम्हें दुखी करता है तो अपनी हत्या कर लो! तुम जीते हो और फिर भी जीवन के तात्पर्य को समझ नहीं सकते तो इस जीवन का अंत कर दो; और जीवन में आत्म-वंचना करते तथा उन बातों को कहते और लिखते हुए न फिरो, जिसे तुम स्वयं समझने में असमर्थ हो। तुम एक अच्छे समाज में पैदा हुए हो, जिसमें लोग अपनी स्थिति से संतुष्ट हैं और जानते हैं कि वे क्या कर रहे हैं। यदि तुम इसे निरानंद और घृणाजनक पाते हो तो इसे छोड़कर चल दो।'

वस्तुतः हमारे-जैसे लोग जो आत्म-हत्या की आवश्यकता अनुभव करते हैं, फिर भी आत्म-हत्या करने का निश्चय नहीं कर पाते, अवश्य ही सबसे दुर्बल, अस्थिर और स्पष्ट शब्दों में सबसे मूर्ख आदमी हैं और उन मूर्खों की तरह अपनी मूर्खता का प्रदर्शन करते फिरते हैं, जो एक चित्रित पापिनी के विषय में प्रलाप करते हैं। कारण हमारी बुद्धि और हमारा ज्ञान चाहे कितना ही संदेह-रहित हो; किंतु उसने हमें अपने जीवन का अर्थ समझने की शक्ति नहीं दी। परंतु समग्र मानव-जाति के करोड़ों-अरबों लोग अपना जीवन जीते हैं और उन्हें जीवन के अर्थ के विषय में कोई संदेह नहीं रहता।

अत्यंत प्राचीन काल से, जिसके बारे में हमें कुछ भी जानकारी है, अब जीवन का आरंभ हुआ तब से जगत् में मनुष्य-जीवन की व्यर्थता का तर्क जानते हुए भी जीते रहे हैं—वही तर्क मुझे जीवन की निरर्थता बतलाई है—परन्तु वे जीवन के कुछ अर्थ प्रदान करके जीते रहे हैं।

जब से मानव-जीवन का आरंभ हुआ तब से मनुष्यों को जीवन के अर्थ का भी पता रहा है और वे वही जीवन बिताते रहे हैं, जो आज मेरे पास आया है। जो कुछ मेरे अंदर और मेरे आस-पास है, सब शरीरी और अशरीरी वस्तुएँ, उन्हीं के जीवन-ज्ञान का परिणाम हैं। विचार की जिस प्रणाली से मैं इस जीवन के विषय में चिंतन करता और उसका तिरस्कार करता हूँ, उसका आविष्कार मैंने नहीं बल्कि उन्होंने किया था। यह भी उन्हीं की कृपा है कि मैं पैदा हुआ, पढ़ाया-लिखाया गया और इस प्रकार विकसित हुआ। उन्होंने ही हमें जमीन खोदकर लोहे का पता लगाया,

उन्होंने ही जंगलों को काटकर साफ करना सिखलाया, गायों और घोड़ों का पालन करना सिखलाया, उन्होंने ही हमें बतलाया कि खेत में अन्न किस प्रकार बोना चाहिए और हम मिल-जुलकर किस प्रकार रह सकते हैं। उन्होंने हमारे जीवन को संगठित किया और मुझे सोचना और बोलना सिखलाया। और मैं, उन्हीं की संतति उन्हीं द्वारा पालित-पोषित, उन्हीं द्वारा ज्ञान प्राप्त कर और उन्ही के विचारों और शब्दों का अपने चिंतन में उपभोग करते हुए, तर्क करता हूँ कि वे मूर्ख और निरर्थक थे! तब मैंने अपने मन में कहा कि 'कहीं-न-कहीं अवश्य कोई गलती हो रही और मैं कुछ भूल अवश्य कर रहा हूँ।' लेकिन वह गलती कहाँ है और क्या है इसका पता मुझे बाद में चला।

8

ये सब संदेह, जिन्हें आज मैं थोड़े-बहुत रूप में प्रकट करने में समर्थ हुआ हूँ उस समय व्यक्त नहीं कर सकता था। उन समय तो मैं इतना ही अनुभव करता था कि जीवन के मिथ्या अहंकार के संबंध में मेरे निष्कर्ष तर्क की दृष्टि से चाहे कितने ही अनिवार्य जान पड़ते हों और संसार के महान् विचारकों द्वारा उनको चाहे कितना ही समर्थन प्राप्त हुआ हो; किंतु उनमें कोई-कोई गलती अवश्य है। यह गलती स्वयं उस तर्क-प्रणाली में है अथवा प्रश्न के वक्तव्य में है, यह मैं नहीं जानता था। मैं इतना ही अनुभव करता था कि जिस नतीजे पर मैं पहुँचा हूँ वह तर्क की दृष्टि से विश्वसनीय है; किंतु इतना ही पर्याप्त नहीं है। ये सब निष्कर्ष मुझे इतना विश्वास नहीं दिला सके कि मैं अपने तर्क के अनुसार आचरण भी करूँ अर्थात् अपनी हत्या कर लूँ। और यदि अपनी हत्या किए बिना ही मैं कहता कि बुद्धि से मैं इसी निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ तो यह एक झूठी बात होती। बुद्धि और तर्क अपना काम कर रहे थे; लेकिन कोई और चीज भी अंदर-ही-अंदर क्रियाशील थी; जिसे मैं जीवन की चेतना के नाम से ही पुकार सकता हूँ। मेरे अंदर एक शक्ति काम कर रही थी जो बरबस मेरा ध्यान इस तरफ़ खींच रही थी; और यही वह शक्ति थी जिसमे मुझे मेरी निराशापूर्ण स्थिति से उबारा और एक बिल्कुल दूसरी दिशा में मेरा मन फेर दिया। इस शक्ति ने मुझे इस तथ्य की ओर ध्यान देने को मजबूर किया कि मैं और मेरे-जैसे कुछ थोड़े आदमियों तक ही मानव-जाति सीमित नहीं है और अभी तक मैं मानव-जीवन का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सका हूँ।

अपने वर्ग के लोगों की संकुचित परिधि में मैंने देखा कि उनमें ऐसे ही लोग हैं जिन्होंने या तो इस प्रश्न को समझा ही नहीं है, यदि समझा भी है तो उसे जीवन के नशे में भुला दिया है, अथवा समझाकर अपने जीवन का अंत कर दिया है, अथवा

इसे समझा तो है; किंतु अपनी दुर्बलता के कारण वे निराशापूर्ण जीवन के दिन बिता रहे हैं। इसके सिवाय मुझे दूसरे लोग दिखलाई न पड़ते थे। मुझे ऐसा मालूम पड़ता था कि धनवान, शिक्षित और निठल्ले लोगों के इस संकुचित समाज तक—जिसमें मैं भी शामिल था—ही सारी मनुष्य-जाति का खात्मा हो जाता है, और वे करोड़ों आदमी, जो इस छोटे समाज के बाहर रहकर जीवन बिताते रहे हैं और आज बिता रहे हैं एक प्रकार के पशु हैं—वे असली आदमी नहीं हैं।

यद्यपि इस समय यह बात अविश्वसनीय रूप से अचिंत्य मालूम होती है कि मैं जीवन के विषय में तर्क करते हुए भी अपने चारों ओर के संपूर्ण मानव-जीवन को भूल जाता था और यह समझने की भूल कर बैठता था कि मेरा तथा सुलेमान और शॉपेनहार का जीवन ही सच्चा जीवन है और करोड़ों मनुष्यों का जीवन ध्यान देने लायक नहीं—पर उस समय सचमुच यही बात थी। अपनी बुद्धि के अहंकार और आत्म-वंचना में मुझे यह बात असंदिग्ध मालूम पड़ती थी कि मैंने एवं सुलेमान और शॉपनहार ने जीवन के इस सवाल को ऐसे सच्चे और उचित रूप में रखा है कि उसके अतिरिक्त और कुछ भी संभव नहीं है। यह बात मुझे इतनी असंदिग्ध प्रतीत होती थी कि अपने चारों ओर फैले हुए उन करोड़ों आदमियों के जीवन के विषय में कभी मेरे मन में एक बार भी यह प्रश्न नहीं उत्पन्न हुआ कि 'जो कोटि-कोटि व्यक्ति दुनिया में जीते रहे हैं और जी रहे हैं उन्होंने अपने जीवन का क्या अर्थ समझा था, तथा समझा है?'

मैं बहुत दिनों तक पागलपन की अवस्था में रहा, जो हम अत्यंत उदार और सुशिक्षित आदमियों का औसत स्वभाव प्रकट करती है। किंतु सच्चे श्रमिकों के लिए मेरे हृदय में जो स्नेह है, उसने मुझे उनकी ओर ध्यान देने और समझने के लिए विवश किया कि वे उतने मूर्ख नहीं हैं जितना हमने मान रखा है। इस वृत्ति के कारण अथवा अपने विश्वास की इस सच्चाई के कारण ही अपनी हत्या कर देने के अतिरिक्त मैं और कुछ जानने में असमर्थ हूँ, मैंने आंतरिक प्रेरणावश यह अनुभव किया कि यदि मैं जीना और जीवन का अर्थ समझना चाहता हूँ तो मुझे उन लोगों में इसकी खोज नहीं करनी चाहिए जिन्होंने इसे खो दिया है अथवा जो अपनी हत्या करना चाहते हैं, बल्कि भूत और वर्तमान काल के उन करोड़ों आदमियों में उसकी खोज करनी चाहिए जो जीवन का निर्माण करते हैं और जो न केवल अपनी जिंदगी का बोझ उठाते हैं; बल्कि हमारे जीवन का बोझ भी अपने कंधों पर ले लेते हैं! तब मैंने उन बहु-संख्यक सरल, अशिक्षित और गरीब लोगों के जीवन पर विचार करना आरंभ किया जो जीवन जी चुके हैं अथवा आज भी जी रहे हैं। मैंने एक बिल्कुल ही नई बात देखी। मैंने देखा कि थोड़े अपवादों को छोड़कर ये करोड़ों आदमी, जो जीवन जी चुके अथवा जी रहे हैं, मेरी पूर्व-निश्चित श्रेणियों में नहीं बाँटे जा सकते। मैं

उन्हें न तो उन आदमियों की श्रेणी में रख सकता हूँ, जो प्रश्न को नहीं समझते; क्योंकि वे स्वयं उसे उपस्थित करते हैं और असाधारण स्पष्टता के साथ उसका उत्तर देते हैं। मैं उन्हें विषयासक्त भी नहीं मान सकता; क्योंकि उनके जीवन में सुख-भोग की अपेक्षा दु:ख-कष्ट-भोग ही अधिक है। इनकी गिनती मैं उन लोगों में तो कर नहीं सकता जो अविवेकपूर्वक अपने अर्थ-हीन जीवन का भार ढो रहे हैं; क्योंकि वे अपने जीवन के हरेक काम और मौत तक की व्याख्या कर लेते हैं। आत्म-हत्या को वे सबसे बड़ा पाप समझते हैं। तब मुझ पर यह प्रकट हुआ कि सारी मानव-जाति को जीवन के अर्थ का ज्ञान था; पर जिसे मैं स्वीकार न करता था और उससे घृणा करता था। मुझे यह भी मालूम पड़ा कि तार्किक ज्ञान जीवन का अर्थ बताने में असमर्थ है; वह जीवन को बहिष्कृत करता है। उधर करोड़ों आदमी—सारा मनुष्य-समाज—जीवन का जो अर्थ लगाते हैं वह एक प्रकार के तिरस्कृत मिथ्या-ज्ञान पर आश्रित है।

पंडितों और विद्वानों का तर्क-सम्मत ज्ञान जीवन का कोई अर्थ अस्वीकार करता है; परंतु मनुष्यों की बहुत बड़ी संख्या, करीब-करीब सारी मनुष्य-जाति, इस अर्थ को अतार्किक ज्ञान में प्राप्त करती है। और यह अतार्किक ज्ञान ही श्रद्धा है—वह वस्तु जिसे मैं अस्वीकार किए बिना नहीं रह सकता था। यह ईश्वर है, यह त्रिमूर्ति में एक है, यह छह दिनों में सृष्टि करने के समान है। पर इन सब बातों को मैं उस वक्त तक स्वीकार नहीं कर सकता जब तक मुझमें बुद्धि है।

मेरी स्थिति बड़ी भयंकर थी। मैं जान चुका था कि तार्किक ज्ञान के मार्ग पर चलकर तो मैं जीवन की अस्वीकृति के सिवाय और कुछ प्राप्त नहीं कर सकता; और उधर श्रद्धा के पक्ष में बुद्धि की अस्वीकृति के सिवाय दूसरी कोई बात नहीं थी जो मेरे लिए जीवन की अस्वीकृति की अपेक्षा कहीं असंभव थी। तार्किक ज्ञान से तो यह प्रकट होता था कि जीवन एक बुराई है और लोग इसे जानते हैं कि न जीना स्वयं उन्हीं पर निर्भर है; फिर भी उन्होंने अपने जीवन के दिन पूरे किए और आज भी वे जी रहे हैं। स्वयं मैं जी रहा हूँ, यद्यपि बहुत दिनों से मुझे इस बात का ज्ञान है कि जीवन अर्थ-हीन और एक दूषण है। श्रद्धा द्वारा यह प्रकट होता है कि जीवन का अर्थ समझने के लिए मुझे अपनी बुद्धि का तिरस्कार करना चाहिए—उसी वस्तु का जिसके लिए जीवन का अर्थ जानने की आवश्यकता है।

9

इस प्रकार जो संघर्ष और परस्पर-विरोधी स्थिति पैदा हुई उससे निकलने के दो मार्ग थे। या तो यह कि जिसे मैं बुद्धि कहता हूँ वह इतनी तर्क-संगत नहीं है जितनी मैं

माने बैठा हूँ; अथवा यह कि जिसे मैं अबौद्धिक और अतार्किक समझता हूँ, वह इतना अबौद्धिक और तर्क-विरोधी नहीं है जितना मैं समझता हूँ। तब मैं अपने तार्किक ज्ञान की तर्क प्रणाली पर विचार और उसकी छान-बीन करने लगा।

अपने बौद्धिक ज्ञान की तर्क-प्रणाली पर विचार करने पर मुझे वह बिल्कुल ठीक मालूम हुई। यह निष्कर्ष अनिवार्य था कि जीवन शून्यवत् है; किंतु मुझे एक भूल दिखाई पड़ी। भूल यह थी कि मेरा तर्क उस प्रश्न के अनुरूप नहीं था जो मैंने उपस्थित किया था। प्रश्न था—मैं क्यों जीऊँ, अर्थात् मेरे इस स्वप्नवत् क्षणिक जीवन से क्या वास्तविक और अस्थायी परिणाम निकलेगा; इस असीम जगत् में मेरे सीमित अस्तित्व का प्रयोजन क्या है?' इसी प्रश्न का जवाब देने के लिए जीवन का अध्ययन किया था।

जीवन के सब संभव प्रश्न के हल मुझे संतुष्ट न कर सके; क्योंकि मेरा सवाल यद्यपि यों देखने में सीधा-सादा था; परंतु इसमें सीमित वस्तु को असीम के रूप में और असीम को सीमित वस्तु के रूप में समझने की माँग भी शामिल थी।

मैंने पूछा, 'काल, कारण और आकाश के बाहर मेरे जीवन का क्या अर्थ है?' और मैंने इस प्रश्न का यों उत्तर दिया, 'काल, कारण और आकाश के भीतर मेरे जीवन का क्या अर्थ है?' बहुत सोच-विचार के बाद मैं यही उत्तर दे सका कि कुछ नहीं।

अपने तर्कों में मैं बराबर सीमित की सीमित के साथ और असीम की असीम के साथ तुलना करता रहा। इसके सिवाय मैं कर ही क्या सकता था? इसी तर्क के कारण मैं इस अनिवार्य निष्कर्ष पर पहुँचा—शक्ति शक्ति है, पदार्थ, पदार्थ, संकल्प संकल्प है, असीम असीम है, शून्य शून्य है—इस रीति से इसी परिणाम पर पहुँचना संभव था।

यह बात कुछ वैसी ही थी जैसी गणित के क्षेत्रों में उस समय होती है जब हम किसी समीकरण को हल करने का विचार करते हुए यह देखते हैं कि हम समान संख्याओं को ही हल कर रहे हैं। यह तर्क-प्रणाली तो ठीक है; लेकिन उत्तर में इसका परिणाम यह निकलता है कि 'क' 'क' के बराबर है या 'ख' 'ख' के बराबर है या 'ग' 'ग' के बराबर है। अपने जीवन के अर्थवाले प्रश्न के विषय में तर्क करते समय भी मेरे साथ यही बात हुई। सब प्रकार के विज्ञानों द्वारा इस प्रश्न का एक ही उत्तर मिला।

और सच तो यह है कि वैज्ञानिक ज्ञान—यह ज्ञान तो डिकार्टे की भाँति प्रत्येक वस्तु के विषय में पूर्ण संदेह के साथ शुरू होता है, श्रद्धा द्वारा स्वीकृत सब प्रकार का ज्ञान अस्वीकार करता है और प्रत्येक वस्तु का बुद्धि, तर्क और अनुभव के नियमों के

आधार पर नवीन रूप से निर्माण करता है, और जीवन के प्रश्न के विषय में उनके अलावा और कोई जवाब नहीं दे सकता जो मैं पहले ही प्राप्त कर चुका था अर्थात् एक अनिश्चित उत्तर। शुरू-शुरू में तो मुझे ऐसा प्रतीत हुआ था कि विज्ञान ने मुझे एक निश्चयात्मक उत्तर दिया है—वह उत्तर जो शॉपेनहार ने दिया था यानी जीवन का कोई अर्थ नहीं है और यह एक बुराई है; किंतु इस विषय की भली-भाँति परीक्षा करने पर मैंने देखा कि यह उत्तर निश्चयात्मक नहीं है, केवल मेरी अनुभूति ने उसे इस रूप में प्रकट किया है। ठीक-तौर से उसे व्यक्त किया जाए—जैसा कि ब्राह्मणों, सुलेमान और शॉपेनहार ने व्यक्त किया है—जो जवाब अनिश्चित अथवा एक-सा मिलता है—वही 'क' बराबर 'क' अथवा जीवन कुछ नहीं है। इस प्रकार यह दार्शनिक ज्ञान किसी वस्तु को अस्वीकार तो नहीं करता; किंतु यह उत्तर देता है कि यह प्रश्न हल करना उसकी शक्ति के बाहर है और उसके लिए हल अनिश्चित ही रहेगा।

इसे समझ चुकने के बाद मैंने यह देखा कि तार्किक ज्ञान के द्वारा अपने प्रश्न का कोई उत्तर खोज निकालना संभव नहीं है और तार्किक ज्ञान के द्वारा मिलनेवाला उत्तर केवल इस बात का सूचक है कि इस प्रश्न का उत्तर प्रश्न के एक भिन्न वक्तव्य के द्वारा, और तभी प्राप्त हो सकता है जब उसमें असीम के साथ ससीम का संबंध शामिल कर लिया जाए। मैंने समझा कि श्रद्धा एवं विश्वास द्वारा मिलनेवाला उत्तर चाहे कितना ही तर्कहीन और विकृत हो; किंतु उसमें ससीम के साथ असीम के संबंध की भूमिका होती है जिसके बिना कोई हल संभव नहीं है।

मैंने जिस रूप में इस सवाल को रखा; यह असीम और ससीम के बीच का संबंध उत्तर में अवश्य प्रतिध्वनित हुआ। मुझे किस प्रकार रहना चाहिए? ईश्वरीय नियमों के अनुसार। मेरे जीवन से क्या वास्तविक परिणाम निकलेगा? अनंत कष्ट वा अनंत आनंद। जीवन में जीवन का वह कौन-सा अर्थ है जिसे मृत्यु नष्ट नहीं करती?—अनंत प्रभु के साथ सम्मिलन स्वर्ग।

इस प्रकार उस तार्किक या बौद्धिक ज्ञान के अलावा, जिसे मैं ज्ञान की इति समझता था, अनिवार्य रूप से मुझे स्वीकार करने के लिए बाध्य होना पड़ा कि समस्त जीवित मानवता के पास एक दूसरे प्रकार का ज्ञान—अतार्किक ज्ञान—भी है जिसे श्रद्धा कहते हैं और जो मनुष्य का जीना संभव करती है। अब भी यह श्रद्धा मेरे लिए उसी प्रकार अबौद्धिक है जैसे यह पहले प्रतीत होती थी; पर अब मैं यह स्वीकार किए बिना नहीं रह सकता कि सिर्फ इसी के जरिए मनुष्य-जाति को जीवन के इस प्रश्न का उत्तर मिल सकता है और इसलिए इसी के कारण जीवन संभव है। ज्ञान ने हमें यह स्वीकार करने को विवश किया था कि जीवन अर्थहीन है। उसकी

वजह से हमारी जिंदगी में रुकावट पैदा हो गई थी और मैं अपना अंत कर देना चाहता था। पर इसी बीच मैंने अपने चारों तरफ फैली मनुष्य-जाति पर निगाह डाली और देखा कि लोग जीते हैं और घोषित भी करते हैं कि उनको जीवन का अर्थ मालूम है। मैंने अपनी तरफ देखा। मैंने तभी तक अपने अंदर जीवन-प्रवाह का अनुभव किया था जब तक मुझे जीवन के किसी अर्थ का ज्ञान था। इस जगह न सिर्फ दूसरों के लिए, बल्कि मेरे लिए भी श्रद्धा ने जीवन सार्थक कर दिया और जीना संभव हुआ।

जब मैंने दूसरे देशों के लोगों, अपने समकालिकों और उनके पूर्वजों पर ध्यान दिया तो वहाँ भी मुझे यही बात दिखाई पड़ी। जब से पृथ्वी पर मनुष्य का जन्म हुआ तब से जहाँ-कहीं भी जीवन है मनुष्य इस श्रद्धा के कारण ही जी सका है और इस श्रद्धा की प्रधान रूप-रेखा सब जगह मिलती है और सदा एक रहती है।

श्रद्धा चाहे कुछ हो, वह चाहे जो उत्तर देती हो और चाहे जिन्हें वह उत्तर दे; पर उसका प्रत्येक उत्तर मनुष्य के सीमित अस्तित्व को एक अर्थ प्रदान करता है—वह अर्थ जिसका कष्ट, विपत्ति और मृत्यु से अंत नहीं होता। इसका मतलब यह है कि सिर्फ श्रद्धा में ही हम जीवन के लिए एक अर्थ और एक संभावना प्राप्त कर सकते हैं। तब, यह श्रद्धा नहीं है? विचार करके मैंने समझा कि श्रद्धा 'अदृश्य की साक्षी' मात्र नहीं है, सिर्फ दैवी प्रेरणा ही नहीं है (इससे श्रद्धा का एक निर्देश-मात्र होता है), सिर्फ ईश्वर के साथ मनुष्य का संबंध ही नहीं है (पहले आदमी को श्रद्धा की और फिर ईश्वर की परिभाषा करनी पड़ती है, ईश्वर के द्वारा श्रद्धा की नहीं); यह सिर्फ उन बातों को मान लेना ही नहीं है जो बताई गई हों, यद्यपि श्रद्धा का आमतौर पर यही मतलब लिया जाता है; श्रद्धा तो मानव-जीवन के प्रयोग का वह ज्ञान है जिसके फलस्वरूप मनुष्य अपना नाश नहीं करता; बल्कि जीता है। श्रद्धा जीवन का बल है। अगर कोई आदमी जीता है तो वह किसी-न-किसी वस्तु से श्रद्धा रखता है। यदि उसमें श्रद्धा नहीं है कि किसी चीज के लिए उसे जीना चाहिए तो वह जी न सकेगा। यदि वह ससीम की मिथ्या प्रकृति को नहीं देख और पहचान पाता तो वह ससीम में विश्वास करता है, यदि वह ससीम की मिथ्या प्रकृति को समझ लेता है तो फिर उसके लिए असीम में विश्वास रखना जरूरी है। बिना श्रद्धा के तो वह जी ही नहीं सकता।

मैंने अपने इतने दिनों तक के सारे मानसिक श्रम का स्मरण किया और काँप उठा। अब मेरे सामने यह बात साफ हो गई थी कि अगर आदमी को जीना है तो उसे या तो असीम की तरफ से आँखें मूँद लेनी पड़ेंगी या फिर जीवन के प्रयोजन की ऐसी व्याख्या स्वीकार करनी पड़ेगी जिससे ससीम और असीम के बीच संबंध

स्थापित हो सके। ऐसी व्याख्या पहले भी मेरे सामने थी; परंतु जब तक मैं ससीम में विश्वास रखता रहा तब तक मुझे इस व्याख्या की आवश्यकता ही नहीं थी और मैं तर्क की कसौटी पर कसकर उसकी परख करने लगा। तर्क के प्रकाश में मेरी पहले की संपूर्ण व्याख्या टुकड़े-टुकड़े हो गई। पर एक वक्त ऐसा आया कि ससीम में से मेरा विश्वास उठ गया। तब मैं जितना कुछ जानता था उसके सहारे एक बौद्धिक आधार का निर्माण करने लगा—एक ऐसी व्याख्या की खोज में लगा, जो जीवन को एक अर्थ, एक तात्पर्य प्रदान कर सके; लेकिन मैं कुछ भी न बन पाया। दुनिया के सर्वोच्च मस्तिष्कों की तरह मैं भी इसी नतीजे पर पहुँचा कि 'क' 'क' के बराबर है। मुझे उस नतीजे पर बड़ा आश्चर्य हुआ, यद्यपि इसके सिवाय दूसरा कोई नतीजा निकल ही न सकता था।

जब मैंने प्रयोगात्मक विज्ञान में जीवन के सवाल का जवाब ढूँढ़ना शुरू किया तब मैं कर क्या रहा था? मैं जानना चाहता था कि मैं क्यों जीता हूँ और इसके लिए मैंने उन सब चीजों का अध्ययन किया जो मेरे बाहर हैं। इसमें शक नहीं कि मैंने बहुत-सी बातें सीखीं; पर जिस चीज की मुझे जरूरत थी वह न मिली।

जब मैंने दार्शनिक विज्ञान में जीवन के सवाल का जवाब ढूँढ़ा तब मैं क्या कर रहा था? मैं उन लोगों के विचारों का अध्ययन कर रहा था जिन्होंने अपने को मेरी स्थिति में पाया था और जो इस सवाल का, 'मैं क्यों जीता हूँ?'—कोई जवाब न पा सके थे। इस खोज में मैं उससे ज्यादा कुछ न जान सका जो खुद जानता था—यानी यह बात कि कुछ भी जाना नहीं जा सकता।

मैं क्या हूँ? अनंत का एक अंश। इन थोड़े शब्दों में सारी समस्या निहित है।

क्या यह मुमकिन है कि मनुष्य ने अपने से यह प्रश्न करना सिर्फ कल शुरू किया है? क्या मुझसे पहले किसी ने इस प्रश्न को हल करने की कोशिश ही नहीं की? यह प्रश्न जो इतना सीधा है और हरेक बुद्धिमान बच्चे की जबान पर उठता है।

निस्संदेह यह प्रश्न उस जमाने से पूछा जाता रहा है जब से इंसान की शुरुआत हुई। और इंसान की शुरुआत से ही इस प्रश्न के हल के बारे में यह बात भी उतनी ही साफ रही है कि ससीम से ससीम और असीम से असीम की तुलना इस काम के लिए अपर्याप्त है। इसी तरह से मनुष्य के आरंभ काल से ससीम असीम के बीच के संबंध की खोज करते हैं और उसे उन्होंने व्यक्त भी किया है।

इन सब धारणाओं को, जिनमें ससीम का मेल असीम के साथ बैठाया गया है और जीवन के प्रयोजन की प्राप्ति की गई है; यानी ईश्वर की धारणा, संकल्प-शक्ति की धारणा, पुण्य की धारणा, हम तर्क की कसौटी पर परखते हैं। और ये सब धारणाएँ बुद्धि की आलोचना का सामना करने में अक्षम रहती हैं।

अगर यह बात इतनी भयंकर न होती तो जिस अहंकार और आत्म-तुष्टि के साथ हम बच्चों की तरह घड़ी के पुर्जे-पुर्जे अलग कर देने और स्प्रिंग या कमानी को निकालकर उसका खिलौना बना लेने के बाद इस बात पर आश्चर्य प्रकट करते हैं कि घड़ी चल क्यों नहीं रही है, वह अत्यंत असंगत और भद्दी मालूम पड़ती।

ससीम और असीम के बीच परस्पर-विरोध का हल और जीवन के प्रश्न का ऐसा उत्तर, जो उसका जीना संभव कर सके, आवश्यक और बहुमूल्य है। और यही एक हल है जिसे हम हर जगह, हर वक्त और सब तरह के लोगों में पा सकते हैं : यह हल, जो मानव-जीवन के आदिम युग से चला आ रहा है; यह हल, जो इतना कठिन है कि हम इसके जैसा दूसरा कोई हल निर्माण करने में असमर्थ हैं। और इस हल को हम बड़े हलकेपन के साथ खत्म कर देते हैं, इसलिए कि फिर वही सवाल खड़ा कर सकें जो हर एक के लिए स्वाभाविक है और जिसका हमारे पास कोई जवाब नहीं है।

अनंत ईश्वर, आत्मा की दिव्यता, ईश्वर से मानवीय बातों का संबंध, आत्मा का ऐक्य और अस्तित्व, नैतिक पाप-पुण्य की मानवीय धारणा—ये सब ऐसी धारणाएँ हैं जो मानवीय चिंतन की प्रच्छन्न असीमता में निर्मित होती हैं—ये वे धारणाएँ हैं जिनके बिना न जीवन और न मेरा अस्तित्व संभव है। फिर भी संपूर्ण मानव-जाति के उस सारे श्रम का तिरस्कार करके मैं उसे नए सिरे से और अपने मनमाने ढंग पर बनाना चाहता था।

यह ठीक है कि उस वक्त मैं इस तरह सोचता न था; पर इन विचारों के अंकुर तो मेरे अंदर आ चुके थे। सबसे पहले जो मैंने यह समझा कि शॉपेनहार और सुलेमान का साथ देने की मेरी बात मूर्खतापूर्ण है : हम देखते हैं कि जीवन एक बुराई है, फिर भी हम जीते रहते हैं; यह स्पष्टतः मूर्खतापूर्ण है, क्योंकि अगर जीवन निरर्थक है और मैं सिर्फ जो कुछ सार्थक है उसी का भक्त हूँ तो मुझे जीवन का अंत कर देना चाहिए और तब कोई इसे चुनौती देनेवाला न होगा। दूसरी बात मैंने यह अनुभव की कि हमारे सारे तर्क धुरी और दाँतों से अलग हो जानेवाले पहिए की भाँति एक भ्रमपूर्ण वृत्ति में ही घूम रहे हैं। चाहे हम कितना ही और कैसी भी अच्छी तरह से तर्क करें, हमें उस सवाल का जवाब नहीं मिल सकता। वहाँ तो सदा 'क' 'क' के बराबर ही रहेगा, इसलिए संभवतः हमारा यह मार्ग गलत है। तीसरी बात जो मेरी समझ में आने लगी, यह थी कि श्रद्धा ने इस प्रश्न के जो उत्तर दिए हैं उनमें गंभीरतम मानव-ज्ञान एवं विवेक संचित है और यह कि मुझे तर्क के नाम पर इनको इनकार करने का कोई अधिकार नहीं था, और वे ही ऐसे उत्तर हैं जो जीवन के प्रश्न का जवाब दे पाते हैं।

10

मैंने इसे समझ तो लिया; पर इससे मेरी स्थिति कुछ ज्यादा अच्छी नहीं हुई। अब मैं ऐसे हर एक विश्वास को स्वीकार कर लेने को तैयार था जिसमें बुद्धि का सीधा तिरस्कार न होता हो—क्योंकि वैसा होने पर वह असत्य हो जाता है। मैंने पुस्तकों के सहारे बौद्ध धर्म और इस्लाम का अध्ययन किया; सबसे अधिक मैंने पुस्तकों और अपने आस-पास के लोगों के ईसाई-धर्म का अध्ययन किया।

स्वभावतः पहले मैं अपनी मंडली के कट्टर मतावलंबियों यानी उन लोगों की तरफ झुका जो विद्वान थे—मैं गिरजों के धर्मशास्त्र-वेत्ताओं, पादरियों तथा इवैंजेलिकलों (जो ईसा द्वारा विश्व के मुक्ति-दान के सिद्धांत में विश्वास रखते हैं) की तरफ झुका। मैंने इन आस्तिकों से उनके विश्वासों के बारे में सवाल किए और यह भी पूछा कि वे जीवन का क्या प्रयोजन समझते हैं?

यद्यपि मैंने उनको हर तरह की छूट दी और हर तरह से विवाद बचाने की कोशिश की; फिर भी मैं इन लोगों के धर्म स्वीकार न कर सका। मैंने देखा कि वे जिन बातों को अपना धर्म बताते हैं उनके सहारे जीवन का प्रयोजन स्पष्ट होने की जगह उल्टा धुंधला हो जाता है। और वे स्वयं अपने विश्वासों से कुछ इसलिए नहीं चिपके हुए हैं कि जीवन के उस प्रश्न का उत्तर दे सकें, जिसने मुझे श्रद्धा तक पहुँचाया, बल्कि कुछ दूसरे ही उद्देश्यों के कारण उनको ग्रहण किए हुए है जो मेरे प्रतिकूल हैं।

मुझे याद है कि इन लोगों के संसर्ग के बार-बार आशान्वित होने के बाद मुझे भय होने लगा कि कहीं मैं निराशा के पूर्ववर्ती गर्त्त में न गिर जाऊँ।

वे लोग जितनी ही पूर्णता के साथ अपने सिद्धांत मुझे समझाते, उतनी ही स्पष्टता के साथ मुझे उनकी गलतियाँ नजर आतीं? मैं अनुभव करने लगा कि उनके विश्वासों में जीवन के प्रयोजन की व्याख्या की खोज करना व्यर्थ है।

यद्यपि वे अपने सिद्धांतों में ईसाई-धर्म के सत्य के साथ बहुतेरी अनावश्यक और अनुचित बातें मिला देते थे; पर इसके कारण मेरे मन में उनके प्रति विरोध नहीं पैदा होता था। उनकी तरफ से मन उचटता और भागता इसलिए था कि इन लोगों का जीवन भी मेरी ही तरह था। अंतर केवल इतना था कि वे अपनी शिक्षाओं और उपदेशों में जिन सिद्धांतों का प्रतिपादन करते थे, उनका दर्शन उनके जीवन में नहीं होता था। मैंने साफ-साफ अनुभव किया कि वे अपने को धोखा दे रहे हैं और मेरी तरह ही वे जीवन का इससे ज्यादा कुछ तात्पर्य नहीं समझते कि जब तक जिंदगी है तब तक जिओ और जो कुछ मिले उपभोग करो। अगर उनको जीवन के ऐसे प्रयोजन का ज्ञान होता जो क्षति, दुःख और मृत्यु का भय नष्ट कर देता है तो फिर वे इन चीजों

से इतने डरते न होते। पर मेरी श्रेणी के ये आस्तिक, ठीक मेरी ही तरह, वैभव और संपन्नता के बीच रहते हुए, उनकी वृद्धि अथवा रक्षा करने का प्रयत्न करते थे। वे भी विपत्ति, पीड़ा और मृत्यु के भय से पीड़ित थे और मेरी तरह या हम-जैसे अन्य नास्तिकों की तरह ही वे अपनी वासनाओं एवं आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए जीते थे—वे उतनी ही बुरी तरह जीवन व्यतीत करते थे जिस तरह नास्तिक करते हैं।

कोई तर्क मुझे उनके विश्वास की सच्चाई में यकीन नहीं दिला सकता था। यदि उनके आचरण में भी गरीबी, बीमारी और मौत का वह भय न दिखाई पड़ता जो मुझमें था, तो मैं मानता कि वे जीवन का कुछ अर्थ समझते हैं। मुझे अपने श्रेणी के आस्तिकों के आचरण में ऐसा दिखाई नहीं पड़ा। इसके विपरीत मैंने उन लोगों को इस तरह का आचरण करते देखा, जो जबर्दस्त नास्तिक थे;[1] आस्तिकों में कहीं वैसा आचरण दिखाई नहीं पड़ा।

तब मैंने समझा कि मैं उस श्रद्धा की खोज नहीं कर रहा हूँ जो इन लोगों के विश्वासों में निहित है और यह कि उनका विश्वास कोई सच्चा विश्वास नहीं है, बल्कि जीवन की एक इंद्रियासक्त आत्म-तुष्टि मात्र है।

मैंने समझ लिया कि इस तरह की श्रद्धा चाहे अनुताप-युक्त सुलेमान को उसकी मृत्यु-शय्या पर, यदि शांति नहीं तो कम-से-कम कुछ भुलावा दे सके; पर यह उन करोड़ों मनुष्यों की कोई सेवा नहीं कर सकती जिनका काम दूसरों की मेहनत पर मौज उड़ाना नहीं बल्कि जीवन की सृष्टि करना है।

अगर संपूर्ण मानव-जाति को जीने के लिए समर्थ बनाना है और अगर हम चाहते हैं कि वे जीवन का प्रयोजन समझते हुए जीवन बिताएँ तो इसके लिए इन करोड़ों आदमियों को श्रद्धा का एक दूसरा ही रूप, सच्चा रूप समझना चाहिए। वस्तुतः शॉपेनहार और सुलेमान के साथ ही मैंने जो अपने जीवन का अंत नहीं किया तो कुछ उससे मुझे श्रद्धा के अस्तित्व में विश्वास नहीं हुआ; श्रद्धा के अस्तित्व में विश्वास तो मुझे यह देखकर हुआ कि ये करोड़ों आदमी जीते रहे हैं और जी रहे हैं

1. *टॉल्सटॉय का यह वाक्य बड़ा महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि उन्होंने इस जमाने में क्रांतिकारी या 'जनता की ओर लौटो' आंदोलन का बहुत ही कम जगहों में जिक्र किया है। इस आंदोलन में बहुतेरे युवक-युवतियों ने अपने गृह-संपत्ति और जीवन का बलिदान किया था। टॉल्सटॉय और इन क्रांतिकारियों के विचारों में समानता थी और दोनों किसी-न-किसी रूप में मानते थे कि समाज के ऊपरी तल के लोग या उच्च वर्ग परान्नभोगी हैं और उन लोगों का ही खून चूस रहे हैं जो उनका बोझ अपने कंधों पर उठाए हुए हैं।—संपादक*

और उनकी जीवन-धारा में सुलेमान और हम-जैसे लोग बहते रहे हैं।

तब मैं दीन-हीन, सीधे-सादे और अशिक्षित आस्तिकों यानी तीर्थयात्रियों, पुरोहितों, संप्रदायों और किसानों के नजदीक खिंचने लगा। ये मामूली आदमी भी उसी ईसाई-धर्म को मानते थे जिसको मानने का दावा हमारे दायरे के कृत्रिम आस्तिक लोग करते थे। इन आदमियों में भी मैंने देखा कि ईसाई-सत्यों के साथ बहुतेरे अंध-विश्वासों को मिला दिया गया है; लेकिन दोनों में फर्क यह था कि हमारे वर्ग के आस्तिकों के लिए तो ये अंध-विश्वास सर्वथा अनावश्यक थे और वे उनके जीवन से मेल न खाते थे—वे एक तरह की विषयासक्ति के झुकाव के द्योतक थे; पर श्रमिक लोगों के बीच प्रचलित अंध-विश्वास उनके जीवन के अनुरूप थे और उनका उनके जीवन से कुछ ऐसा मेल बैठता था कि उन अंध-विश्वासों के बिना उनके जीवन की कल्पना ही न की जा सकती थी—वे उनके जीवन की एक जरूरी शर्त थे। हमारे वर्ग दायरे के आस्तिकों की सारी जिंदगी उनके विश्वासों के प्रतिकूल थी; पर श्रमिक आस्तिकों की सारी जिंदगी जीवन के उस अर्थ को दृढ़ और पुष्ट करती थी जो वे श्रद्धा से प्राप्त करते थे। इसलिए मैं साधारण लोगों के जीवन और विश्वास पर अच्छी तरह ध्यान देने लगा और जितना ही मैं इस पर विचार करता, उतना ही मेरा विश्वास पक्का होता जाता था कि उनके पास सच्ची श्रद्धा है—ऐसी श्रद्धा जिसकी उनको जरूरत है और जो उनके जीवन को सार्थक करती और उनका जीना संभव बनाती है। हमारे वर्ग में जहाँ श्रद्धा-रहित जीवन संभव है और हजार में मुश्किल से एक आदमी अपने को आस्तिक कहता है, वहाँ उनमें मुश्किल से हजार में एक नास्तिक मिलेगा। मैंने अपने वर्ग में देखा था कि लोगों का सारा जीवन बेकारी, सुस्ती, राग-रंग और असंतोष में बीतता है; पर इसके विपरीत इन साधारण आदमियों में मैंने यह देखा कि उनका जीवन घोर श्रम में बीतता है, और वे अपने जीवन से संतुष्ट हैं। हमारे वर्ग के लोग दुःख व कष्ट पड़ने पर भाग्य का विरोध करते और उसे कोसते हैं, परंतु इसके विपरीत ये लोग बीमारी और दुःख को बिना किसी व्यग्रता, बगैर किसी परेशानी व विरोध के तथा इस शांत एवं दृढ़ विश्वास के साथ स्वीकार कर लेते हैं कि जो होता है सब अच्छा ही है। हममें जो जितना ही चतुर और बुद्धिमान है, वह उतना ही जीवन का प्रयोजन कम समझता है और जीवन के दुःखों और मृत्यु में एक कटु व्यंग देखता है; परंतु इसके विपरीत ये साधारण आदमी जीते हैं और दुःख भी भोगते हैं; वे मृत्यु और कष्ट को शांति एवं स्थिरतापूर्वक, और अधिकांशतया हँसी-खुशी के साथ ग्रहण करते हैं। हमारे वर्ग-दायरे में शांतिपूर्ण मृत्यु, भय और निराशा से रहित मृत्यु, दुर्लभ अपवाद है, परंतु इसके विपरीत हम लोगों में चिंतापूर्ण, छटपटाहट से भरी हुई और दुःखपूर्ण मृत्यु

बहुत ही कम देखी जाती है। और ऐसे लोगों से दुनिया भरी पड़ी है, जिनके पास उन सब वस्तुओं का सर्वथा अभाव है, जो हमारे लिए या सुलेमान के लिए जीवन की सबसे बड़ी अच्छाई है, फिर भी वे अत्यधिक आनंद अनुभव करते हैं। मैंने अपने आस-पास और दूर तक देखा। मैंने बीत हुए युग के और आजकल के असंख्य लोगों के जीवन पर ध्यान दिया। इनमें जीवन का अर्थ समझनेवाले और जीने एवं मरने में समर्थ एक-दो या दस-बीस नहीं, बल्कि सैकड़ों, हजारों, लाखों और करोड़ों मनुष्य मुझे दिखाई पड़े। और यद्यपि उनमें भिन्न-भिन्न रंग-ढंग, आचार-व्यवहार, मन, शिक्षा और स्थिति के आदमी थे, फिर भी मेरे अज्ञान के सर्वथा प्रतिकूल वे सब जीवन और मृत्यु का अर्थ समझते थे तथा अभाव एवं दुःख-कष्ट सहते हुए शांतिपूर्वक काम करते, जीते तथा मरते थे—उनको इनमें मिथ्या अहंकार नहीं, बल्कि कुछ अच्छाई दिखाई देती थी।

मैंने इन आदमियों से प्रेम करना सीखा। जितनी ही मुझे उन लोगों के जीवन की जानकारी होती गई—उन लोगों के जीवन की जो जी रहे हैं तथा उनकी भी जो मर चुके हैं; पर उनके बारे में मैंने पढ़कर या सुनकर जानकारी हासिल की है—उतना ही उनके लिए मेरा प्रेम बढ़ता गया और मेरे लिए जीना आसान होता गया। लगभग दो वर्षों तक मेरी यह हालत रही और इस बीच मेरे अंदर एक भारी परिवर्तन हो गया—वह परिवर्तन, जो बहुत दिनों से धीरे-धीरे घनीभूत हो रहा था और जिसकी आशा मुझमें सदा बनी रही थी। इसका नतीजा यह हुआ कि अपने वर्ग के लोगों अर्थात् धनवान और विद्वान आदमियों का जीवन न सिर्फ मेरे निकट फीका और नीरस हो गया; बल्कि मेरी दृष्टि में उसका कोई मूल्य ही न रह गया। अपने लोगों का संपूर्ण आचरण, वाद-विवाद, कला और विज्ञान मेरे सामने एक नई रोशनी में आया। मैंने समझ लिया कि यह सब आत्म-असंयम मात्र है और उनमें कुछ अर्थ लेना असंभव है; इसके प्रतिकूल जीवन का निर्माण करनेवाले श्रमिक लोगों का जीवन मुझे सच्चे अर्थ से भरा दिखाई पड़ा। मैंने समझा कि यही जीवन है और इस जीवन से प्राप्त होनेवाला अर्थ ही सच्चा है : और मैंने इसे स्वीकार कर लिया।

11

मुझे याद आया कि जब मैं उन आदमियों को इन विश्वासों की घोषणा करते देखता था, जिनके जीवन और आचरण में उनका विरोध होता था तो इन्हीं विश्वासों के प्रति मेरे हृदय में विरक्ति पैदा होती थी और वे मुझे निस्सार प्रतीत होते थे; पर जब मैंने उन लोगों को देखा जो इन विश्वासों के अनुकूल जीवन व्यतीत करते थे तब उन्हीं विश्वासों ने मुझे अपनी ओर आकर्षित किया और वे मुझे ठीक मालूम पड़ने लगे।

इन बातों की याद आने पर मैंने समझा कि क्यों तब मैंने इन विश्वासों को अस्वीकार कर दिया था और उन्हें निरर्थक पाया, और क्यों अब उन्हीं को स्वीकार करता हूँ और उन्हें अर्थ एवं प्रयोजन से पूर्ण पाता हूँ। मैं समझ गया कि मैंने गलती की थी और क्यों गलती की थी? इस गलती का कारण मेरा गलत तरीके पर सोचना उतना न था जितना मेरा गलत तरीके पर जीवन व्यतीत करना था। मैंने समझ लिया कि मेरे किसी विचार-दोष ने सत्य को मुझसे छिपा नहीं रखा था, बल्कि आकांक्षाओं और वासनाओं की तृप्ति के प्रयत्न में बीतनेवाले मेरे विषयासक्त जीवन ने ही इस सत्य को मेरी आँखों की ओट कर रखा था। अब यह भी मेरी समझ में आ गया कि मेरा प्रश्न कि 'मेरा जीवन क्या है' उसका उत्तर, 'वह एक बुराई है'—बिल्कुल ठीक था। गलती सिर्फ इतनी थी कि यह उत्तर सिर्फ मेरे जीवन की ओर संकेत करता था, पर मैं इसे सब लोगों के सामान्य जीवन पर घटाता था। अब मैंने फिर अपने से प्रश्न किया कि मेरा जीवन क्या है और मुझे उत्तर मिला : एक बुराई और असंगति। और सचमुच मेरा जीवन—भोग-विलास और आकांक्षाओं का जीवन—बुरा और निरर्थक था, इसलिए वह उत्तर, 'जीवन एक बुराई और असंगति है'—सिर्फ मेरे जीवन की ओर संकेत करता था, न कि सामान्य मानव जीवन की ओर। तब मैंने उस सत्य को समझा, जिसे बाद में 'गोस्पेल' (महात्मा ईसा के सदुपदेशों) में पाया, कि 'मनुष्य प्रकाश की अपेक्षा अंधकार से ज्यादा प्रेम करते हैं; क्योंकि उनके आचरण पाप-पूर्ण हैं। प्रत्येक पापी आदमी प्रकाश से घृणा करता है और इसलिए प्रकाश के समीप नहीं जाता कि उसके आचरणों और कामों का तिरस्कार किया जाएगा।' मैंने यह भी अनुभव किया कि जीवन के अर्थ को समझने के लिए पहले तो यह जरूरी है कि हमारी जिंदगी बुराई से भरी और निरर्थक न हो; और फिर उसकी व्याख्या करने के लिए विवेक की आवश्यकता पड़ती है। तब मेरी समझ में आया कि क्यों इतने लंबे अर्से तक मैं ऐसे स्पष्ट सत्य के इर्द-गिर्द चक्कर काटता रहा और यह भी अगर किसी को मानव-जाति के जीवन के विषय में सोचना और बोलना हो तो उसे संपूर्ण जाति के जीवन के बारे में सोचना और बोलना चाहिए, न कि उन लोगों के जीवन के विषयों में जो पंगु और परोपजीवी जीवन बिताते हैं। यह सत्य तो सदा उतना ही सच्चा था जितना दो और दो मिलकर चार होते हैं। पर मैंने इसे स्वीकार नही किया था; क्योंकि दो और दो चार मान लेने पर मुझे यह भी मानना पड़ता कि मैं बुरा हूँ और मेरे लिए यह अनुभव करना कि मैं भला हूँ; दो-दो बराबर चार के स्वीकार करने से कहीं ज्यादा जरूरी और महत्त्वपूर्ण था। यह ज्ञान होने पर मैं भले आदमियों के प्रति आकर्षित हुआ, उनको प्यार करने लगा, अपने प्रति मन में घृणा पैदा हुई और मैंने सत्य को स्वीकार किया। अब सब बातें मेरे सामने स्पष्ट हो गईं।

अगर एक जल्लाद, जिसकी सारी जिंदगी लोगों को दारुण यंत्रणा देने और उनका सिर काटने में बीती हो—या एक शराबी व पागल जो एक ऐसे अँधेरे कमरे में जिंदगी भर रहा हो जिसे उसे अपवित्र कर रखा है और जो सोचता हो कि इसे छोड़कर बाहर निकलते ही वह नष्ट हो जाएगा—अपने से सवाल करे कि 'जीवन क्या है' तो वह इसके सिवाय और क्या जवाब पा सकता है कि जीवन सबसे बड़ी बुराई है। इस पागल का जवाब बिल्कुल ठीक होगा; पर वहीं तक जहाँ तक वह स्वयं उस पर लागू होता है। अगर कहीं मैं भी ऐसा ही एक पागल होऊँ? और कहीं हम सब धनवान और निठल्ले आदमी इसी तरह पागल हों तब? मैंने अनुभव किया कि हम सब सचमुच ऐसे ही पागल हैं। कम-से-कम मैं अवश्य ऐसा था।

चिड़िया का निर्माण ही इस तरह का होता है कि वह जरूरी तौर पर उड़े, चारा इकट्ठा करे और अपना घोंसला बनाए, और जब मैं किसी चिड़िया को ऐसा करते देखता हूँ तो उसके आनंद से मुझे भी खुशी होती है। बकरी, खरगोश और भेड़िए भी इस तरह बनाए गए हैं कि वे अपने लिए भोजन जुटाएँ, बच्चे पैदा करें और कुटुंब को खिलाएँ, उनका पालन-पोषण करें; और जब वे ऐसा करते हैं तो मुझे दृढ़ विश्वास होता है कि वे सुखी हैं और उनका जीवन ठीक तौर से बीत रहा है। फिर आदमी को क्या करना चाहिए? उसे भी जानवरों की तरह अपनी जीविका उपार्जन करनी चाहिए। दोनों में सिर्फ एक अंतर है कि अगर आदमी यह काम अकेले करेगा तो मिट जाएगा; उसे जीविका न सिर्फ अपने लिए बल्कि सबके लिए प्राप्त करनी चाहिए। और जब वह ऐसा करता है तब मुझे पक्का विश्वास हो जाता है कि वह सुखी है और उसका जीवन ठीक तौर पर बीत रहा है। पर मैंने अपने उत्तरदायी जीवन के तीस वर्षों में क्या किया? सबके लिए जीविका-उपार्जन करना तो दूर, मैंने कभी अपने लिए भी खाद्य-सामग्री पैदा न की? मैं परान्नजीवी की तरह जीता रहा और अपने से सवाल करता रहा कि मेरे जीवन का प्रयोजन क्या है? मुझे उत्तर मिला: 'कोई प्रयोजन नहीं।' अगर मानव जीवन का अर्थ उसे पुष्ट करने में है तो फिर मैं—जो तीस साल तक जीवन का समर्थन और पुष्टि करने में नहीं, बल्कि अपने अंदर और दूसरों के अंदर उसका विनाश करने में लगा रहा—इसके सिवाय और कोई जवाब कैसे प्राप्त कर सकता था कि मेरा जीवन निरर्थक और दूषित था!...निस्संदेह वह निरर्थक और दूषित—दोनों था।

विश्व-जीवन किसी के संकल्प से चल रहा है—सारे विश्व के जीवन और हमारे जीवन से कोई अपना तात्पर्य सिद्ध करता है। उस संकल्प-शक्ति का अर्थ समझने की आशा करने के लिए पहले हमसे जिस कार्य की आशा की जाती है, उसे करना चाहिए। लेकिन यदि मैं वह न करूँ जिसकी आशा मुझसे की जाती है तो मैं

कभी समझ न सकूँगा कि मुझसे क्या करने की आशा की जाती है और यह समझना तो और भी कठिन होगा कि हम लोगों से और सारे विश्व से क्या करने की आशा की जाती है।

अगर एक नंगे भिखारी को सड़क से पकड़कर सुंदर भवन में ले जाकर रखा जाए और उसे अच्छी तरह खिलाया-पिलाया जाए और उसे ऊपर-नीचे एक हैंडिल घुमाने का काम दिया जाए तो प्रकट है कि इस बात पर बहस करने के पहले, कि क्यों उसे सड़क से वहाँ लाया गया और क्यों उसे हैंडिल घुमाना चाहिए और यह कि क्या वहाँ का सारा काम सुव्यवस्थित है, मतलब और सब बातों के पहले उसे हैंडिल घुमाना चाहिए। अगर वह हैंडिल को घुमाएगा तो उसे स्वयं पता चल जाएगा कि इससे एक पंप चलाया जाता है और पंप के जरिए पानी निकलता है और उस पानी से बाग की क्यारियों की सिंचाई होती है। तब वह पंपिंग स्टेशन से दूसरी जगह ले जाया जाएगा, वहाँ फल चुनकर इकट्ठे करेगा और अपने प्रभु के आनंद में साझीदार होगा; इस तरह धीरे-धीरे उन्नति करते हुए और छोटे कार्यों से बड़ों कार्यों को करते हुए वह दिन-दिन वहाँ की व्यवस्था की अधिक जानकारी प्राप्त करता जाएगा और इस तरह जब वह स्वयं वहाँ की व्यवस्था में भाग लेने लगेगा तो उसके मन में यह प्रश्न करने का विचार ही न उठेगा कि वह क्यों वहाँ है, और इसमें संदेह ही नहीं कि वह प्रभु की बुराई कभी न करेगा।

इसी तरह वे लोग यानी सीधे-सादे, अशिक्षित श्रमिक, जिन्हें हम जानवर समझते हैं, उसकी इच्छा का पालन करते हैं प्रभु की बुराई नहीं करते; लेकिन हम बुद्धिमान लोग प्रभु का दिया भोजन तो कर लेते हैं; किंतु प्रभु जो चाहता है उसे नहीं करते—करना तो दूर रहा उल्टे एक गोल में बैठकर बहस करते हैं, 'क्यों हमें उस हैंडिल को चलाना चाहिए? क्या यह मूर्खतापूर्ण नहीं है?' हम लोग ऐसे ही निर्णय करते हैं कि प्रभु मूर्ख है या उसका अस्तित्व ही नहीं है, और हम बुद्धिमान हैं। पर हम सिर्फ यही अनुभव कर पाते हैं कि हम बिल्कुल निरर्थक हैं और हमें किसी तरह अपने से पिंड छुड़ाना चाहिए।

12

बौद्धिक ज्ञान के भ्रम की चेतना ने मुझे फालतू मुक्ति, तर्क अथवा विवाद के प्रलोभन से छुड़ाने में सहायता की। इस विश्वास से कि सत्य का मान तदनुकूल आचरण से ही हो सकता है, मुझे अपनी जीवन-विधि के औचित्य में संदेह पैदा हुआ; लेकिन मेरी रक्षा केवल इस कारण हुई कि मैं सबसे कटकर अलग रहना छोड़ सका और श्रमिक लोगों के सीधे-सादे जीवन को देख सका तथा यह समझ सका कि केवल

यही सच्चा जीवन है। मैंने समझ लिया कि यदि मैं जीवन और उसके अर्थ को समझना चाहूँ तो मुझे परान्नजीविका नहीं, बल्कि वास्तविक जीवन बिताना चाहिए और मानव-जाति ने जीवन को जो अर्थ प्रदान किया है उसे ग्रहण करना और उस जीवन में निमग्न होकर उसको पहचानना चाहिए।

उस जमाने में मेरे ऊपर जो बीती उसकी कथा इस प्रकार है। पूरे साल भर तक, जब प्रतिक्षण मेरे मन में यह प्रश्न उठता था कि क्यों न मैं गोली या फाँसी की रस्सी से सारे झगड़े का खात्मा कर दूँ, तभी उन विचार-धाराओं के साथ-साथ जिनके बारे में मैं ऊपर जिक्र कर चुका हूँ, मेरा हृदय एक वेदनामयी अनुभूति से दब रहा था। इसे मैं ईश्वर की खोज के सिवाय और कुछ कहने में असमर्थ हूँ।

मैं कहना चाहता हूँ कि ईश्वर की इस खोज में तर्क नहीं, अनुभूति थी, क्योंकि यह खोज मेरे विचार-प्रवाह से नहीं पैदा हुई थी, (उसमें उसका प्रत्यक्ष विरोध भी था) बल्कि हृदय से उद्भूत हुई थी। यह किसी अज्ञात प्रदेश में अनाथ और इकले पड़ जाने और किसी से सहायता पाने की आशा की भावना थी।

यद्यपि मुझे पूरा विश्वास था कि ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करना असंभव है (कांट ने दिखा दिया था, और मैं उसकी बात को समझता था कि उसे सिद्ध या प्रमाणित नहीं किया जा सकता), फिर भी ईश्वर की प्राप्ति की चेष्टा में लगा रहा; मैंने आशा रखी कि वह मुझे प्राप्त होगा और पुराने स्वभाव के कारण उसकी प्रार्थना और विनय करता रहा जिसकी मुझे खोज थी; पर जिसे अभी तक मैंने पाया न था। कांट और शॉपेनहार ने जिन तर्कों के द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करना असंभव बताया था उन पर मैं मन में विचार करने लगा। मैंने उसकी जाँच शुरू की और उनका खंडन करने लगा। मैंने अपने से कहा कि कारण, काल एवं आकाश की भाँति कोई विचार-श्रेणी नहीं है। यदि मेरा अस्तित्व है तो इसका कोई कारण अवश्य होगा और फिर इन कारणों का भी कोई कारण होगा। और सबका जो मूल कारण है उसे ही लोगों ने 'ईश्वर' कहा है। मैं इस विचार पर रुका और अपनी सारी शक्ति से उस आदि कारण की उपस्थिति अनुभव करने की कोशिश की और ज्यों ही मैंने स्वीकार कर लिया कि कोई ऐसी शक्ति अवश्य है जिसके वश में मैं हूँ, त्यों ही मैंने अनुभव किया कि अब मेरे लिए जीना संभव है। लेकिन मैंने अपने से पूछा, वह कारण, वह शक्ति क्या है? उसका चिंतन मुझे किस प्रकार करना चाहिए? उस शक्ति के साथ जिसे मैं 'ईश्वर' कहता हूँ मेरा संबंध क्या है? इन सवालों के मुझे वही पूर्व-परिचित उत्तर मिले, 'वह स्रष्टा और पालक है।' इस जवाब से मुझे संतोष नहीं हुआ, और मैंने अनुभव किया कि जिस चीज की मुझे अपने जीने के लिए आवश्यकता है उसे मैं अपने अंदर-ही-अंदर खो रहा हूँ। मैं डर गया और

जिस ईश्वर की खोज में था, उसी से प्रार्थना करने लगा कि वह मेरी सहायता करे। लेकिन मैं जितनी ही प्रार्थना करता था उतना ही मुझे यह स्पष्ट होता गया कि 'वह' मेरी नहीं सुनता है और कोई ऐसा नहीं है जिसके सामने मैं अपनी पुकार करूँ तब हृदय की गहरी निराशा के साथ, मैंने कहा, 'प्रभु! मुझ पर कृपा करो। मेरी रक्षा करो। हे नाथ! मुझे ज्ञान दो!' परंतु किसी ने मुझ पर कृपा नहीं की और मैं अनुभव करने लगा कि मेरे जीवन की गति रुक रही है।

लेकिन हर तरफ से टकराकर बार-बार मैं इसी नतीजे पर पहुँचता कि बिना किसी कारण या हेतु या प्रयोजन के इस संसार में मेरा आगमन संभव नहीं है; मैं पक्षी के उस बच्चे की तरह नहीं हो सकता जो एकाएक अपने घोंसले से गिर पड़ा हो। और यदि मैं मान भी लूँ कि बात ऐसी ही है और मैं पीठ के बल लंबी घासों पर पड़ा हुआ चीख रहा हूँ, तब भी तो मैं चीखता इसलिए हूँ कि मैं जानता हूँ कि एक माँ ने मुझे अपने पेट में बढ़ाया, सेया, जन्म दिया और चारा चुगा-चुगाकर मुझे बड़ा किया है तथा वह मुझे प्यार करती है। तब वह—वह माँ कहाँ है? अगर मुझे त्याग दिया गया है तो वह कौन है जिसने मुझे त्यागा है? मैं अपने-से यह बात छिपा नहीं सकता कि किसी-न-किसी ने मुझे जन्म दिया, पाला और मुझे प्रेम किया है। तब यह 'कोई' कौन है? फिर वही उत्तर 'ईश्वर' तब वह मेरी खोज, मेरी निराशा और मेरे संघर्ष को जानता है और देख रहा है।

तब मैंने अपने मन में कहा, 'उसका अस्तित्व है।' इसे स्वीकार करने के अनंतर क्षण भर में मेरे अंदर जीवन उठ खड़ा हुआ और मुझे जीवन की संभवनीयता और आनंद का अनुभव हुआ। पर फिर वही बात हुई; ईश्वर के अस्तित्व की इस स्वीकृति के बाद मैं उसके साथ अपने संबंध का पता लगाने चला; और फिर मैंने उस ईश्वर की कल्पना की, जो हमारा स्रष्टा है और जिसने अपने पुत्र को हमारे उद्धार के लिए पृथ्वी पर भेजा, बस जगत् तथा मुझसे पृथक वह ईश्वर फिर मेरी आँखों के सामने ही बर्फ के टुकड़े की तरह पिघलकर बह गया; उसका कोई चिह्न नहीं रह गया और फिर मेरे अंदर जीवन का वह स्रोत सूख गया; निराशा से मेरा मन भर गया और मैंने अनुभव किया कि सिवाय अपनी हत्या कर डालने के अब मैं और कुछ नहीं कर सकता। और सबसे बुरी बात तो यह थी कि मैं अनुभव करता था कि मैं अपने को मार भी नहीं सकता।

केवल दो या तीन बार नहीं, बल्कि सैकड़ों बार मेरी यही दशा हुई, पहले आनंद एवं उल्लास और फिर जीवन की असंभवनीयता की चेतना और निराशा।

मुझे याद है, बसंत की शुरुआत के दिन थे। मैं वन में अकेला चुपचाप बैठा उसकी ध्वनि सुन रहा था, जो कि मैं बराबर पिछले तीन वर्षों में सुन रहा था। मैं उसी का ध्यान लगाए हुए था। मैं पुनः ईश्वर की खोज में था।

मैंने झुँझलाकर अपने से कहा, 'अच्छा, मान लो कोई ईश्वर नहीं है। कोई ऐसा नहीं है जो मेरी कल्पना के बाहर की वस्तु हो और मेरे सारे जीवन की तरह वास्तविक हो। उनका अस्तित्व नहीं है और कोई चमत्कार उसके अस्तित्व को प्रमाणित नहीं कर सकता; क्योंकि चमत्कार तो मेरी ही कल्पना के अंतर्गत हैं, फिर वे बुद्धि-ग्राह्य भी नहीं हैं।

'लेकिन जिस ईश्वर की मैं खोज करता हूँ उसके प्रति मेरा यह अंतर्बोध, मेरी यह अंतर्धारणा?' मैंने अपने से पूछा, 'यह अंतर्बोध कहाँ से आया?' बस यह सोचते ही, फिर मेरा अंतर जीवन की आनंदमयी लहरों से भर गया। मेरे चतुर्दिक, जो कुछ था सब जीवन से पूर्ण और सार्थक हो उठा; लेकिन मेरा यह आनंद अधिक समय तक स्थिर न रह सका। मेरा मन फिर अपनी उधेड़-बुन में लग गया।

मैंने अपने मन में कहा, 'ईश्वर की धारणा तो ईश्वर नहीं है। धारणा तो वह चीज है जो मेरे ही अंदर जन्म लेती है। ईश्वर की धारणा तो एक ऐसी चीज है जिसे हम अपने अंदर बना सकते या बनने से रोक सकते हैं। यह तो वह चीज नहीं है जिसकी खोज में मैं हूँ। मैं तो उस चीज की खोज कर रहा हूँ जिसके बिना जीवन संभव ही न हो। बस फिर मेरे बाहर-भीतर जो कुछ था मानो सब निर्जीव होने लगा और फिर मेरे मन में अपने को समाप्त कर देने की इच्छा पैदा हुई।

किंतु तब मैंने अपनी दृष्टि अपने पर, और मेरे अंदर जो कुछ चल रहा था, उस पर डाली, और जीवन की गति के बंद होने और फिर प्रफुल्लता और स्फूर्ति का प्रवाह जारी होने की उन क्रियाओं का स्मरण किया जो मेरे अंदर सैकड़ों बार घटित हो चुकी थीं। मुझे याद आया कि मुझमें सिर्फ तभी तक जीवन की अनुभूति हुई जब-जब मैंने ईश्वर में विश्वास रखा। जो बात पहले थी, वही अब भी है; जीने के लिए मुझे सिर्फ ईश्वर के अस्तित्व के निश्चय की जरूरत है; और ज्यों ही मैं उसे भूलता हूँ या उसमें अविश्वास करता हूँ त्यों ही मेरी मृत्यु निश्चित है।

तब स्फूर्ति और मृत्यु के ये अनुभव क्या हैं? जब ईश्वर के अस्तित्व में मेरे विश्वास का लोप हो जाता है तब मानो मेरी जीवन-शक्ति का अंत हो जाता; तब मैं अपने को जीता हुआ नहीं अनुभव करता। अगर मेरे अंदर उसे पाने की एक धुँधली-सी आशा न होती तो अब तक कभी का मैं अपनी हत्या कर चुका होता। अपने को सचमुच जीता हुआ तो मैं तभी तक अनुभव करता हूँ जब तक मुझे 'उसकी' अनुभूति होती रहती है, और मुझे उसकी खोज रहती है। 'तुम और क्या खोजते हो?' मेरे अंदर एक आवाज हुई। 'यही वह है। वह है जिसके बिना कोई जी नहीं सकता। ईश्वर को जानना और जीवित रहना एक ही बात है। ईश्वर ही जीवन है।'

'ईश्वर की खोज करते हुए जीओ, तब तुम्हारा जीवन ईश्वरहीन न होगा।' तब मेरे अंदर और बाहर जो कुछ था वह सब प्रकाश से पूर्ण हो उठा और उस प्रकाश ने फिर मेरा परित्याग नहीं किया।

इस तरह मैं आत्म-हत्या से बच गया। यह मैं नहीं कह सकता कि कब और कैसे यह परिवर्तन हुआ। जैसे धीरे-धीरे मेरे अंदर की जीवन-शक्ति नष्ट हो गई थी और मेरे लिए जीना असंभव हो उठा था, जीवन की गति बंद हो गई थी और मुझे आत्म-हत्या करने की आवश्यकता प्रतीत होती थी, उसी तरह धीरे-धीरे मेरे अंदर जीवन-शक्ति का प्रत्यागमन हुआ। और यह एक आश्चर्यजनक बात है कि जीवन की जो शक्ति मेरे अंदर लौटी वह कोई नई नहीं थी, बल्कि वही पुरानी शक्ति थी जिसने मेरे जीवन के प्रारंभिक दिनों में मेरा भार वहन किया था।

मैं पुनः उसी अवस्था में पहुँच गया जो बचपन और किशोरावस्था के प्रारंभिक दिनों में थी। पुनः मेरे हृदय में उस संकल्प-शक्ति[1] पर विश्वास उदय हुआ, जिसने मुझे उत्पन्न किया और जो मुझसे कुछ आशा रखती है। मैं पुनः इस विश्वास पर पहुँचा कि मेरे जीवन का प्रधान और एकमात्र उद्देश्य पहले से अधिक अच्छा होना अर्थात् उस संकल्प-शक्ति के अनुसार जीवन व्यतीत करना है। मैं इस विश्वास पर पहुँचा कि मानव-जाति ने अनादि-काल से अपने पथ-प्रदर्शन के लिए जो कुछ खोज निकाला है उसमें ही मैं उस संकल्प-शक्ति की अभिव्यक्ति प्राप्त कर सकता हूँ। मतलब यह है कि मैं ईश्वर में, नैतिक पूर्णता में और जीवन के प्रयोजन को परंपरा में विश्वास करने लगा। दोनों अवस्थाओं में अंतर इतना ही था कि उस समय ये सब बातें मैंने अचेतनावस्था में स्वीकार कर ली थी; किंतु अब मैं जान गया था कि इसके बिना मेरा जीवन ही असंभव है।

मुझ पर कुछ इस तरह से बीती : मैं एक नाव में (मुझे याद नहीं है कब) चढ़ा दिया गया और किसी अज्ञात किनारे से धक्का देकर नदी की ओर बढ़ा दिया गया। मुझे दूसरे किनारे की ओर संकेत करके गंतव्य स्थान का एक धुँधला-सा आभास दे दिया गया और मेरे अनभ्यस्त हाथों में डाँड पकड़ा देने के बाद लोगों ने मुझे अकेले छोड़ दिया। मैंने अपनी शक्ति-भर खेकर नाव को आगे बढ़ाया; लेकिन ज्यों-ज्यों मैं मंझधार की ओर बढ़ा त्यों-त्यों प्रवाह तीव्र होता गया और वह बार-बार मेरे लक्ष्य से, दूर बहा ले जाने लगा। अपनी तरह मैंने और भी बहुत से लोगों को धारा में बहे जाते देखा। कुछ ऐसे नाविक थे जो बराबर खेते भी जा रहे थे; दूसरे कुछ ऐसे थे जिन्होंने अपनी पतवार डाल दी थी। वहाँ मैंने आदमियों से भरी हुई अनेक बड़ी-

1. *टॉल्सटॉय ने 'ईश्वरेच्छा' के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया है।*

बड़ी नाएँ देखीं। कुछ धारा से संघर्ष करती थी; कुछ ने आत्म-समर्पण कर दिया था। जितना ही आगे मैं बढ़ता गया उतना ही मेरा ध्यान अपनी दिशा भूलकर धारा में बहे जाते हुए लोगों की ओर अधिकाधिक आकर्षित होता गया और उतना ही मैं अपना मार्ग और लक्ष्य, जिधर जाने का संकेत मुझे किया गया था, भूलता गया। ठीक मँझधार में, जहाजों और नावों की भीड़ में, जिन्हें धारा बहाए लिए जा रही थी, मैं अपनी दिशा बिल्कुल भूल गया, मैंने भी अपनी पतवार डाल दी थी। मेरे चारों तरफ हँसते और उल्लास मनाते हुए वे सब लोग थे जो धारा के साथ बहे जा रहे थे; वे सब लोग मुझे तथा परस्पर यह विश्वास दिला रहे थे कि और किसी दिशा में जाना संभव नहीं है। मैंने उनका विश्वास कर लिया और उनके साथ बहने लगा। मैं बहुत दूर तक बहता हुआ चला गया—इतनी दूर तक कि मुझे नदी की तीव्र धाराओं के गिरने का जोरदार शब्द सुनाई पड़ने लगा; मैंने समझ लिया कि अब मेरा नाश निश्चित है। मैंने उस प्रपात में नावों को टुकड़े-टुकड़े होते देखा। मुझे अपनी स्मृति हो आई। एक अर्से से मैं समझने में असमर्थ था कि मेरे साथ क्या घटनाएँ हुई हैं। मुझे अपने सामने सिवाय उस विनाश के और कुछ न दिखलाई देता था, जिसकी ओर मैं तेजी से बहता चला जा रहा था और जिसका भय मेरे प्राणों में समा गया था। मुझे कहीं रक्षा का कोई स्थान दिखाई न पड़ता था, और मैं नहीं जानता था कि मुझे क्या करना चाहिए, किंतु जब मैंने पीछे की ओर दृष्टि फेरी तो यह देखकर आश्चर्यचकित रह गया कि असंख्य नौकाएँ श्रमपूर्वक लगातार धारा को काटकर बढ़ रही है और तब मुझे किनारे का डांडों का और अपनी दिशा का स्मरण आया और मैंने पीछे लौटकर और धारा को चीरकर तट की ओर बढ़ने में अपनी शक्ति लगाई।

यह तट ईश्वर था; दिशा परंपरा थी; और तट की ओर बढ़ने तथा ईश्वर से मिलने की जो स्वतंत्रता मुझे दी गई थी; वही पतवार थी। इस प्रकार जीवन की शक्ति पुनः मेरे अंदर जागृत हुई और पुनः मैंने जीना शुरू किया।

13

मैं अपने वर्ग में जीवन से दूर हट गया और मैंने स्वीकार किया कि हमारा जीवन कोई जीवन नहीं, बल्कि जीवन का एक स्वांग भर है, और वैभव एक संपन्नता की जिस स्थिति में हम रहते हैं और हमें जीवन को समझने की संभावना से वंचित कर देती है। और यह कि जीवन को समझने के लिए अपने जैसे परान्नजीवियों और जीवन पर भार बने लोगों के अपवाद तुल्य जीवन को नहीं, बल्कि सीधे-सादे श्रमिक लोगों के जीवन को समझना चाहिए—उन लोगों के जीवन को, जो जीवन का निर्माण करते हैं। वे जीवन का क्या अर्थ और प्रयोजन समझते हैं, इस पर हमें

विचार करना चाहिए। हमारे चारों ओर मेहनत-मजदूरी करनेवाले रूसी लोग थे, इसलिए मैं उनकी ओर झुका और इस बात पर ध्यान देने लगा कि वे ही जीवन का क्या अर्थ और प्रयोजन समझते हैं। उनके अर्थ को शब्दों में कहना चाहें तो यों कह सकते हैं : इस संसार में प्रत्येक मनुष्य ईश्वर की इच्छा से आया है। ईश्वर ने मनुष्य को इस तरह बनाया है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी आत्मा का विनाश व रक्षण कर सकता है। जीवन में मनुष्य का उद्देश्य अपनी आत्मा की रक्षा करना है और अपनी आत्मा की रक्षा करने के लिए उसे 'दिव्य' जीवन बिताना चाहिए। 'दिव्य' जीवन बिताने के लिए उसे सब सुखों व भोगों का त्याग करना चाहिए। स्वयं श्रम करना चाहिए, नम्र और दयावान बनना तथा कष्ट सहन करना चाहिए। जनता जीवन का यह अर्थ, धर्म और निष्ठा की उस संपूर्ण शिक्षा से ग्रहण करती है जो उसे पुरोहितों, पादरियों और जीवित परंपराओं से मिलती है। यह अर्थ मुझे स्पष्ट था और मेरे हृदय के निकट था; पर कोटि-कोटि असांप्रदायिक लोगों के लोकधर्म के इस अर्थ के साथ बहुत-सी ऐसी बातें भी अविभेद्य रूप से मिल गई थीं जो मेरी समझ में नहीं आती थीं और जिनसे मुझे घृणा होती थी। सर्व-साधारण इनको अलग-अलग नहीं कर सकते; मैं भी नहीं कर सकता। और यद्यपि लोगों के विश्वास के साथ मिली बहुतेरी बातों पर मुझे आश्चर्य होता था। फिर भी मैंने उनकी सारी बातों को ग्रहण कर लिया; उप-सभाओं में शामिल होने लगा; सुबह-शाम प्रार्थना में सिर झुकाने लगा, उपवास भी किए। पहले मेरी बुद्धि ने किसी का विरोध नहीं किया। जो बातें पहले मुझे असंभव प्रतीत होती थीं, अब मेरे अंदर किसी प्रकार का विरोध पैदा नहीं करती थीं।

श्रद्धा के साथ मेरा पहले का और अब का संबंध बिल्कुल जुदा था। पहले जीवन मुझे अर्थ से भरा प्रतीत होता था, और श्रद्धा प्रमेयों का स्वेच्छाचारपूर्ण कथन बिल्कुल अनावश्यक, अनुचित और जीवन से असंबद्ध मालूम पड़ता था। तब मैंने अपने मन में पूछा कि आखिर इन प्रमेयों का अर्थ क्या है और मुझको निश्चय हो गया कि उनका कुछ अर्थ नहीं है मैंने उन्हें अस्वीकार कर दिया। पर अब इसके प्रतिकूल मैं दृढ़तापूर्वक जानता था कि (बिना श्रद्धा के) मेरे जीवन का कोई अर्थ नहीं है, न कोई अर्थ हो ही सकता है और श्रद्धा की वे सब शर्तें अनावश्यक नहीं रह गईं, बल्कि असंदिग्ध अनुभव के द्वारा मैं इस निर्णय पर पहुँचा कि श्रद्धा द्वारा उपस्थित किए जानेवाले ये प्रमेय ही जीवन को एक अर्थ प्रदान करते हैं—उसे सार्थक बनाते हैं। पहले मैं उन्हें अनावश्यक निरर्थक बकवाद की तरह देखता था; पर अब यद्यपि मैं उनको समझता नहीं था फिर भी इतना जानता था कि उनका कुछ अर्थ अवश्य है, और मैंने अपने से कहा कि मुझे उनको अवश्य समझना चाहिए।

मैंने अपने मन में कहा कि विवेकयुक्त संपूर्ण मानवता की भाँति धर्म का ज्ञान भी किसी गोप्य स्रोत में प्रवाहित होता है। वह स्रोत ईश्वर है, जो मानव-शरीर एवं मानवी-विवेक दोनों का मूल है। जैसे मेरा शरीर मुझे ईश्वर से मिला है, वैसे ही मेरा विवेक और जीवन का मेरा ज्ञान भी मुझे ईश्वर से ही प्राप्त हुआ है। इसलिए जीवन के उस ज्ञान के विकास की विभिन्न श्रेणियाँ झूठी नहीं हो सकतीं। जिन सब बातों में सर्व-साधारण सच्चा विश्वास है, वे अवश्य सत्य होंगी; उनकी अभिव्यक्तियाँ भिन्न-भिन्न तरह से हुई हों; पर वे असत्य नहीं हो सकतीं। इसलिए अगर वे मेरे सामने असत्य के रूप में आती हैं तो इसका सिर्फ यही मतलब है कि मैं उनको समझ नहीं पाया हूँ। मैंने अपने से यह भी कहा कि हरेक धर्म का तत्त्व जीवन को ऐसा अर्थ प्रदान करता है जिसे मृत्यु नष्ट नहीं कर सकती। धर्म द्वारा विलासिता में मरते हुए राजा, शक्ति से अधिक श्रम करने के कारण पीड़ित वृद्ध-दास, बुद्धि-हीन बच्चे, ज्ञानवान वृद्ध; मंद-बुद्धि बुढ़िया, तरुण-सुखी पत्नी, वासनाओं से संतत नौजवान, मतलब—हर तरह की शिक्षा और जीवन-मर्यादा के आदमियों के सवालों का जवाब दिया जा सके, इसके लिए यह समझ लेना जरूरी है कि यद्यपि जीवन के इस नित्य प्रश्न—कि 'मैं क्यों जीता हूँ और मेरे जीवन से क्या नतीजा निकलेगा ?'—का एक ही उत्तर है अर्थात् वह उत्तर तत्त्वत: एक है; परंतु उसके अनेक रूप होने ही चाहिए; और यह जितना ही सच्चा और गहरा होगा, प्रयत्न-पूर्वक की जानेवाली उसकी अभिव्यक्ति में उतनी ही विचित्रताएँ एवं विकृतियाँ दिखाई पड़ेंगी। ये विचित्रताएँ और विकृतियाँ प्रत्येक व्यक्ति के शिक्षण और मर्यादा के अनुकूल होंगी। परंतु इस तर्क ने यद्यपि धर्म के कर्म-कांड पक्ष की अनेक असंगतियों को मेरी आँखों के सामने उचित सिद्ध करके पेश किया, फिर भी वह इतना काफी नहीं था कि जीवन के इस महान मामले—धर्म—में ऐसी बातें करने की आज्ञा देता, जो मुझे आपत्तिजनक प्रतीत होती थीं। अपने संपूर्ण अंत:करण के साथ मैं ऐसी स्थिति में पहुँचने की कामना करता था, जिसमें सर्व-साधारण के साथ हिल-मिल सकूँ और उनके धर्म के कर्म-कांड पक्ष का पालन एवं आचरण कर सकूँ; लेकिन मैं वैसा नहीं कर सका। मुझे अनुभव होता था कि अगर मैं ऐसा करता हूँ तो मानो अपने से ही झूठ बोलता हूँ और जो कुछ मेरे निकट पवित्र है, उसका उपहास करता हूँ। जब मैं इस उधेड़-बुन में पड़ा हुआ था तब नूतन रूसी धार्मिक लेखकों ने मुझे संकट से बचाया।

इन धर्मवेत्ताओं ने व्याख्या की, वह यों थी कि हमारे धर्म का मुख्य सिद्धांत चर्च (ईसाई मंदिर-संस्था) की निर्भ्रान्तता का सिद्धांत है। यदि हम इस सिद्धांत को मान लेते तो इससे अनिवार्य रूप से निष्कर्ष निकलता है कि चर्च जो कुछ मानता है वह सब सत्य है। बस, प्रेम द्वारा ग्रथित सच्चे आस्तिकों और फलत: सच्चे ज्ञानियों के एक समुदाय के रूप में चर्च को मैंने अपने विश्वास का आधार बना लिया। मैंने अपने

से कहा कि व्यक्ति को ईश्वरीय सत्य प्राप्त नहीं हो सकता; वह सत्य केवल प्रेम द्वारा जुड़े हुए लोगों को संपूर्ण समुदाय के सामने ही प्रकट हो सकता है। सत्य के पाने के लिए सबसे जुदा नहीं होना चाहिए और सबसे जुदा न होने के लिए यह जरूरी है कि मनुष्य प्यार करे और उन सब बातों को सहन करे, जिनको वह नहीं मानता है।

सत्य प्रेम के सामने अपने को प्रकट करता है और अगर तुम चर्च या ईसाई धर्म-संस्था के आचारों के सामने सिर नहीं झुकाते तो तुम प्रेम का उल्लंघन या तिरस्कार करते हो और प्रेम का उल्लंघन करने के कारण तुम अपने को सत्य पहचानने और पाने की संभावना से वंचित करते हो। इस तर्क में जो हेत्वाभास या वाक्छल था, उसे उस समय मैं देख न सका। मैं नहीं समझ सका कि प्रेम के संग्रथन से यद्यपि परमोच्च प्रेम की प्राप्ति हो सकती है; परंतु वह ईश्वरीय सत्य को देने में असमर्थ है। मैं यह भी नहीं देख सका कि प्रेम सत्य की किसी खास अभिव्यक्ति को भी संग्रथन की आवश्यक शर्त के रूप में नहीं रख सकता। मेरे तर्क में जो दोष थे, उन्हें उस समय मैंने नहीं देखा, इसलिए कट्टर धर्म-संस्था के संपूर्ण आचारों को मानकर मैं उन्हें कार्यान्वित करने लगा—यद्यपि उसमें से अधिकांश का अर्थ मेरी समझ में न आया था। उस समय मैंने अपने संपूर्ण अंत:करण के साथ सब तरह के तर्कों और विरोधों से बचने की कोशिश की और चर्च के जो वक्तव्य मेरे सामने आए, उन्हें जहाँ तक हो सका, उचित समझने और सिद्ध करने का प्रयत्न किया।

ईसाई-धर्म-संस्था (चर्च) के आधारों और विधियों का पालन करते हुए मैंने अपनी बुद्धि का शमन कर दिया और उन परंपराओं के आगे सिर झुका दिया, जो संपूर्ण मानव जाति में पाई जाती है। मैंने अपने को पूर्वजों, पिता-माता और दादा-दादी के साथ, जिनसे मैं प्रेम करता था, मिला दिया। उन्होंने तथा मेरे पूर्वजों ने इसी प्रकार चर्च में विश्वास रखते हुए जीवन बिताया था और उन्होंने ही मुझे उत्पन्न किया था। मैंने लाखों-करोड़ों सामान्य लोगों के साथ अपने को मिला लिया, जिनकी मैं इज्जत करता था। फिर इन आचारों के पालन में कोई 'बुराई' तो थी नहीं। (मैं अपनी वासनाओं के प्रति आसक्ति को ही 'बुराई' मानता था।) गिरजे की उपासनाओं में शामिल होने के लिए जब मैं सुबह जल्दी उठता था तो समझता था कि मैं कोई अच्छा ही काम कर रहा हूँ, क्योंकि अपने पूर्वजों और समकालिकों के साथ ऐक्य स्थापित करने और जीवन का अर्थ प्राप्त करने के लिए मैं अपने मानसिक अहंकार का त्याग करते हुए अपने शारीरिक सुखों को छोड़ रहा हूँ। इसी तरह घुटने मोड़कर प्रार्थना कहने, व्रत-उपवास करने, ईसा के स्मरणार्थ भोजन में बैठने (कम्यूनियन),

वगैरह में भी अच्छाई देखता था। चाहे ये त्याग कितने ही नगण्य हों, मैं उनको कुछ अच्छे के लिए ही करता था। मैं व्रत-उपवास रखता, घर पर तथा गिरजे में नियत समय पर प्रार्थना करता एवं अन्य आचारों का पालन करता था। गिरजे में जब धर्मोपदेश होता तो मैं उसके एक-एक शब्द पर ध्यान देता और जहाँ तक हो सकता, उसमें अर्थ ढूँढ़ने की कोशिश करता था। धर्मोपदेश में मेरे लिए सबसे महत्त्वपूर्ण शब्द ये होते थे: 'हम एक-दूसरे को एक समान प्यार करें।' आगे के इन शब्दों को, 'हम परम पिता, उसके पुत्र और 'होली घोस्ट'[1] की एकता में विश्वास रखते हैं', मैं दरगुजर कर जाता था; क्योंकि उन्हें समझ न सकता था।

14

जीवित रहने के लिए श्रद्धा रखना उस समय मेरे वास्ते इतना जरूरी हो गया था कि मैंने अचेतन रीति से धर्मशास्त्र के पारस्परिक विरोधों और अस्पष्टताओं को अपने से छिपाया। लेकिन आचारों और विधियों में इस तरह अर्थ देखने की भी एक सीमा थी। प्रार्थना का एक बड़ा हिस्सा सम्राट् या जार तथा उसके संबंधियों की हित-कामना से भरा हुआ था। मैंने अपने मन को समझाने की कोशिश की कि चूँकि उनके सामने प्रलोभन अधिक हैं, इसलिए उनके लिए प्रभु से प्रार्थना करना उचित ही है। इसी तरह अपने शत्रुओं और बुराइयों को पाँव तले दबा सकने की प्रार्थना के बारे में मैंने अपने मन को यों समझाने की कोशिश की कि यहाँ 'शत्रु' का अर्थ 'पाप' है। किंतु इस तरह की प्रार्थनाओं में उपासना भरी होती थी। पूजा व उपासना का प्राय: दो-तिहाई हिस्सा इसी प्रकार की बातों से भरा होता था, जिनका या तो कोई अर्थ ही मेरी समझ में नहीं आता था अथवा यदि मैं खींच-तानकर उनका कोई अर्थ निकालने की कोशिश करता तो मुझे अनुभव होता था कि मैं झूठ बोल रहा हूँ और इस प्रकार ईश्वर के साथ मेरा जो संबंध है उसे नष्ट कर रहा हूँ और श्रद्धा की संपूर्ण संभावनाओं से अपने को वंचित कर रहा हूँ।

कुछ ऐसा ही अनुभव मुझे मुख्य-रूप त्यौहारों के बारे में भी होता था। 'सैबेथ'[2] का स्मरण करना यानी ईश्वर के ध्यान-पूजा में एक दिन बिताना, इसे तो मैं समझ सकता था। लेकिन छुट्टी का मुख्य दिन प्रभु ईसा के सूली पर पुन: जीवित हो उठने

1. *'होली घोस्ट' = ईसाई त्रिमूर्ति का तृतीय पुरुष : जीवात्मा-परम-पिता एवं पुत्र (ईसा) से उद्भूत।*
2. *रविवार का दिन, जब ईसामसीह सूली पर पुनर्जीवित हो उठे थे। रूस में रविवार को पुनर्जीवन (रीजरेक्शन) दिवस कहा जाता है।*

के स्मारक-रूप में मनाया जाता था और इस पुनर्जीवन की सच्चाई की मैं किसी प्रकार कल्पना या अनुभूति न कर पाता था। रविवार की साप्ताहिक छुट्टी को भी 'पुनर्जीवन दिवस' का नाम दिया गया था। क्रिसमस या बड़े दिन को छोड़कर शेष ग्यारह बड़े त्यौहार चमत्कारों के स्मारक थे। इन दिवसों को मनाते समय मुझे अनुभव होता था कि उन्हीं बातों को महत्त्व दिया जा रहा है जिनका मेरे निकट कोई महत्त्व न था। मैं मन को समझाने और खींच-तानकर अर्थ निकालने की कोशिश करता या अपने को प्रलुब्ध करनेवाली इन बातों को न देखने के लिए उधर से आँख मूँद लेता था।

इनमें से ज्यादातर विचार सामान्य और महत्त्वपूर्ण धार्मिक विधियों को करते समय मेरे दिल में पैदा हुए थे। इनमें बपतिस्मा और 'कम्यूनियन' (ईसा के स्मरणार्थ भोज : प्रसाद जिसे ईसाई ईसा का रक्त-मांस समझकर ग्रहण करते हैं) की प्रथाएँ मुख्य थीं। इनमें कोई ऐसी बात न थी जो दिमाग में न आ सकनेवाली हो; सब बातें साफ और समझ में आने लायक थीं और ऐसो बातें थीं, जो मुझे प्रलोभन की तरफ ले जाती मालूम पड़ती थीं। मैं बड़ी खींचातानी में पड़ गया कि मुझे अपने प्रति झूठ बोलना चाहिए या उन्हें अस्वीकार कर देना चाहिए।

बहुत वर्षों के बाद जब पहली बार मुझे 'यूकारिस्ट' (प्रभु ईसा के भोज का प्रसाद ईसा के रक्त-मांस के रूप में) मिला तो मेरे मन की जो हालत हुई उसे मैं भूल न सकूँगा। पूजा, पापों की स्वीकृति और प्रार्थनाएँ सब समझने में आ सकनेवाली चीजें थीं और उनसे मेरे मन में आह्लाद हुआ कि जीवन का अर्थ मेरे सामने खुल रहा है। 'कम्यूनियन' को तो मैंने एक ऐसा कृत्य समझ लिया, जो ईसा के स्मरणार्थ किया जाता था और ईसा की शिक्षाओं को पूर्णतः ग्रहण करने एवं पाप से मुक्त होने का निर्देश करता हो। यदि इस व्याख्या में कुछ बनावट, कुछ कृत्रिमता थी तो मुझे उस वक्त उसका कुछ ध्यान न था। उस सीधे-सादे देहाती पादरी के सामने अपनी आत्मा की संपूर्ण गंदगी निकाल देने और अपने पापों को स्वीकार करके अपने को दीन-हीन प्रदर्शित करने में मुझे इतनी प्रसन्नता हुई थी; मैं गिरजे के लिए प्रार्थनाएँ लिखनेवाले अतीत काल के धर्म-पिताओं के साथ तनमयता प्राप्त करके इतना खुश था; पूर्वकाल और इस समय के आस्तिकों का सान्निध्य प्राप्त करके मुझे इतनी खुशी हासिल हुई थी कि अपनी व्याख्या व सफाई की कृत्रिमता की ओर ध्यान देने का मुझे मौका ही न मिला; लेकिन जब मैं वेदी के द्वार के निकट पहुँचा और पुरोहित ने मुझसे कहलवाया कि 'मुझे विश्वास है कि जो कुछ मैं निगलने जा रहा हूँ वह सचमुच (ईसा का)' रक्त और मांस है, तो मुझे अपने दिल में दर्द का अनुभव हुआ। इसमें केवल असत्य की झलक ही नहीं थी; यह एक ऐसे आदमी द्वारा की जानेवाली निर्दय माँग थी, जिसने कभी जाना ही नहीं कि श्रद्धा क्या चीज है।

आज मैं यह कह रहा हूँ कि यह एक निर्दय माँग थी; लेकिन उस वक्त मैं ऐसा नहीं समझता था। उस वक्त तो मुझे सिर्फ एक गहरी वेदना का अनुभव था; वह वेदना अवर्णनीय थी। युवावस्था की मेरी वह स्थिति अब न थी जिसमें मैं समझता था कि जीवन में सब-कुछ स्पष्ट है। यह ठीक है कि मैंने श्रद्धा को स्वीकार कर लिया; क्योंकि श्रद्धा को छोड़कर दुनिया में विनाश के अतिरिक्त मैंने और कुछ न पाया था। इसलिए इस धर्मनिष्ठा का त्याग करना असंभव था और इसलिए मैं झुक गया—मैंने माथा टेक दिया। मुझे अपने अंतःकरण में एक ऐसी अनुभूति प्राप्त हुई जो इस स्थिति को सहन करने योग्य बनाने में मुझे सहायता देती रही। यह आत्म दैन्य और नम्रता की अनुभूति थी। मैंने अपने को दीन-हीन बना लिया और पाखंड व नास्तिकता की अनुभूति के बगैर उस रक्त-मांस को निगल गया। ऐसा करते वक्त मेरे मन में यही इच्छा थी कि मुझे विश्वास रखना चाहिए; लेकिन चोट पड़ चुकी थी और मैं फिर दूसरी बार वहाँ न जा सका।

फिर भी मैं चर्च की विधियों का पालन करता रहा और विश्वास करता रहा कि जिन धर्म-सिद्धांतों का मैं पालन करता रहा हूँ, उनमें सत्य निहित है। इसी वक्त मेरे साथ कुछ ऐसी बातें हुईं जिन्हें आज तो मैं समझता हूँ; पर जो उस समय आश्चर्यजनक मालूम पड़ती थीं।

एक दिन मैं एक अशिक्षित की बातें सुन रहा था। वह ईश्वर, धर्म, जीव और मुक्ति के बारे में कह रहा था। इसी वक्त धर्मनिष्ठा का रहस्य अपने-आप मेरे सामने प्रकट हुआ। मैं जन-साधारण के निकट और भी खिंच गया; जीवन और धर्म-विश्वास के विषय में उनकी सम्मतियाँ सुनने लगा और दिन-दिन सत्य को अधिकाधिक समझने लगा। यही बात उस वक्त भी हुई जब मैं संतों की जीवन-गाथाएँ पढ़ रहा था। ये मेरी बड़ी प्रिय पुस्तकें बन गई थीं। इनमें चमत्कार की जो गाथाएँ थीं उन्हें मैंने यह समझकर अलग कर दिया कि वे विचारों को चित्रित करनेवाली कथाएँ हैं। बाकी जो बचा, उसके अध्ययन ने मेरे सामने जीवन का अर्थ प्रकाशित कर दिया। इन पुस्तकों में मकैरियस महान की जीवनी थी; बुद्ध की कथा थी; संत जॉन चीसास्तम के उपदेश थे और कुएँ में पड़े यात्री, सोना प्राप्त करनेवाले संन्यासी तथा पीटर भटियारे की गाथाएँ थीं। उनमें शहीदों की कथाएँ थीं और सबमें यह घोषणा की थी कि मृत्यु के साथ जीवन का अंत नहीं होता; ऐसे लोगों की भी कथाएँ थीं, जो अशिक्षित और मूर्ख थे और चर्च की शिक्षाओं के विषय में कुछ भी नहीं जानते थे, लेकिन फिर भी वे त्राण पा गए।

लेकिन ज्यों ही मैं शिक्षित और विद्वान आस्तिकों से मिला, अथवा उनकी पुस्तकें पढ़ीं, त्यों ही अपने विषय में संदेह, असंतोष और निराशापूर्ण संघर्ष विषाद से

मेरा मन भर गया, और मैंने अनुभव किया कि मैं इन लोगों की वाणी के अर्थ में जितना ही घुसता हूँ उतना ही मैं सत्य से दूर जाता हूँ और अथाह खाई की ओर बढ़ता हूँ।

15

न जाने कितनी बार मैंने किसानों की निरक्षता और पांडित्य-हीनता पर उनसे ईर्ष्या की होगी! धर्म के लक्ष्य-संबंधी वक्तव्य मेरे लिए फिजूल और मिथ्या थे; परंतु उनको उनमें कोई झुठाई नहीं प्रतीत होती थी। वे उन्हें स्वीकार न कर सकते और उस सत्य में विश्वास करते थे, जिसमें विश्वास रखने का मेरा भी दावा था। पर एक मैं अभागा और दुखिया ऐसा था, जिसको साफ दिखाई दे रहा था कि इस सत्य के साथ असत्य के बड़े बारीक तार एक-दूसरे से गुथे हुए हैं और मैं इस रूप में सत्य को स्वीकार नहीं कर सकता।

लगभग तीन साल तक मेरी यह अवस्था रही। शुरू-शुरू में जब मैं ईसाई-धर्म का प्रारंभिक साधक व विद्यार्थी था, सत्य से मेरा क्षीण संपर्क था और जो कुछ मुझे साफ मालूम पड़ता था उसका आभास मात्र मैं पा सका था, तब तक यह आतंरिक संघर्ष उतना प्रबल न था। क्योंकि जब मैं किसी बात को न समझता तो कह देता, "यह मेरा दोष है, मैं पापी हूँ।" लेकिन ज्यों-ज्यों मैं सत्य को अपनाता गया और वे मेरे जीवन का आधार बनते गए, त्यों-त्यों यह संघर्ष अधिकाधिक दु:खदायी और पीड़ाकारी होता गया। इसके साथ ही समझने में अपनी असमर्थता के कारण जो कुछ मैं नहीं समझ सकता, उसके और जो कुछ बिना झूठ बोले या अपने को धोखा दिए समझा ही नहीं जा सकता, उसकी बीच की रेखाएँ गहरी होती गईं।

इन शंकाओं और पीड़ाओं के बावजूद मैं सनातन ईसाई संपद्राय को ग्रहण किए रहा। लेकिन जीवन के ऐसे सवाल उठते रहे जिनका निर्णय करना जरूरी था। कट्टर सनातनी चर्च इन पर जो निर्णय देता था वह तो धर्म-निष्ठा के उन मूलाधारों के ही खिलाफ था जिन पर मेरा जीवन खड़ा था। इस कारण विवश होकर मुझे स्वीकार करना पड़ा कि कट्टर सनातनी संप्रदाय में रहकर सत्य की प्राप्ति करना असंभव है। इन सवालों में एक खास सवाल इस कट्टर ईसाई संप्रदाय का अन्य ईसाई संप्रदायों के प्रति प्रकट होनेवाला दृष्टिकोण और व्यवहार भी था। चूँकि धर्म में मेरी दिलचस्पी थी, इसलिए मैं संप्रदाय के अनुयायियों के संपर्क में आता रहता था। इसमें कैथोलिक, प्रोटेस्टेंट, 'पुराने विश्वासी' (ओल्ड विलीवर्स), सुधारवादी मोलोकस (जो कर्मकांड की अनेक विधियों के विरोधी थे)—मतलब सभी तरह के लोग थे। इसमें मुझे ऊँचे चरित्र के बहुतेरे ऐसे आदमी मिले जो सचमुच धर्मात्मा थे। मैं उनके साथ भाईचारा

स्थापित करना चाहता था—उनको अपने बंधुरूप में ग्रहण करना चाहता था। पर कट्टर सनातनी चर्च में स्थिति बिल्कुल विपरीत थी। जिस शिक्षा ने सबको एक धर्म-निष्ठा और प्रेम-बंधन में बाँधने का दावा किया था, उसी शिक्षा के सर्वोत्तम प्रतिनिधियों ने मुझे बताया कि ये सारे आदमी असत्याचारी हैं, असत्य के बीच रह रहे हैं; उनके जीवन में जो शक्ति दिखाई देती है, वह शैतान का प्रलोभन मात्र है और जो कुछ हमारे पास है बस वही सत्य है। मैंने यह भी देखा कि जो लोग हर बात में उनसे सहमत नहीं हैं या उनकी 'हाँ-में-हाँ' नहीं कर सकते वे सब इन कट्टर सनातनियों द्वारा नास्तिक और पतित समझे जाते हैं। मुझे यह भी दिखाई पड़ा कि जो लोग उनके स्वीकृत बाह्य चिह्नों और प्रतीकों के द्वारा अपनी धर्म-निष्ठा नहीं प्रकट करते उनके प्रति ये लोग विरोध-भाव रखते हैं और यह स्वाभाविक ही है। पहला कारण तो उनकी यह मान्यता है कि तुम असत्य पर हो और केवल मैं ही सत्य पर हूँ और इससे निष्ठुर बात एक मनुष्य दूसरे से कह नहीं सकता। दूसरा कारण यह है कि जो आदमी अपने बच्चों और भाइयों को प्यार करता हो, उन लोगों के प्रति विरोध एवं शत्रुता का भाव रखे बिना नहीं रह सकता, जो बच्चों और भाइयों को झूठी धर्म-निष्ठा की ओर ले जाना चाहते हों। फिर पौराणिक ज्ञान जितना ही अधिक बढ़ता है, यह विरोध भाव भी उतना ही अधिक बढ़ता जाता है। तब मेरे जैसे आदमी के लिए जो प्रेम द्वारा ऐक्य एवं मिलन में सत्य की स्थिति मानता है, यह बात बिल्कुल साफ हो गई कि धर्म-विद्या ठीक उसी चीज का विनाश कर रही है जिसका निर्माण उसे करना चाहिए था।

जब हम देखते हैं कि प्रत्येक संप्रदाय दूसरे के प्रति घृणा का भाव रखता है, केवल अपने को ही सत्य का अधिकारी मानकर संतुष्ट है तो आश्चर्य होता है कि ये लोग इतना भी नहीं देख सकते कि अगर दोनों के दावे एक-दूसरे के विरोधी हैं तो उनमें से किसी में भी पूर्ण सत्य नहीं हो सकता, और धर्म-निष्ठा में पूर्ण सत्य होना चाहिए। तब मनुष्य उनको यों भुलावा देने की चेष्टा करता है कि कोई और बात भी होगी; इसका कुछ और मतलब होगा। मैंने भी यही समझा कि इसका कुछ और मतलब होगा और उस मतलब को पाने एवं समझने की कोशिश की। इस विषय पर जो कुछ भी मुझे पढ़ने को मिला, मैंने पढ़ा और जिनसे भी सलाह-मशविरा कर सकता था, किया। किसी ने मुझे उसकी कोई व्याख्या नहीं सुझाई, सिवाय उस व्याख्या के जिसे मानने के कारण 'क' अपने को ही दुनिया में सर्वश्रेष्ठ मानता है और 'ख' अपने को। हर संप्रदाय ने अपने सर्वोत्तम प्रतिनिधियों द्वारा मुझे कहा कि हमारा विश्वास है कि सिर्फ हमीं को सत्य प्राप्त है और दूसरे सब गलत रास्ते पर हैं और हम उनके लिए सिर्फ प्रार्थना कर सकते हैं। मैं पुरोहितों, पादरियों, धर्माध्यक्षों

और विद्यावयोवृद्ध पंडितों के पास गया; लेकिन किसी ने मुझे इसका मतलब नहीं बताया—सिवाय एक आदमी के जिसने इसकी पूरी व्याख्या मेरे सामने रखी और कुछ इस तरह रखी कि फिर आगे किसी से पूछने का मुझे साहस ही नहीं हुआ। मैंने कहा कि धर्म-निष्ठा की ओर आकर्षित होनेवाला प्रत्येक नास्तिक (और हमारी सारी तरुण पीढ़ी कुछ इसी तरह की है) पहले यह सवाल करता है कि लूथर संप्रदाय में या कैथोलिक संप्रदाय में सत्य क्यों नहीं, और कट्टर सनातनी संप्रदाय में सारा सत्य क्यों है? आधुनिक युवक शिक्षित होने के कारण, किसानों की भाँति, इस बात से अपरिचित नहीं है कि प्रोटेस्टेंट और कैथोलिक संप्रदाय भी इसी प्रकार जोर के साथ कहते हैं कि उनका ही धर्म-विश्वास एकमात्र सच्चा है। ऐतिहासिक प्रमाणों को प्रत्येक धर्म व संप्रदाय इस तरह तोड़-मरोड़कर पेश करता है कि वे इस संबंध में कुछ सिद्ध करने के लिए काफी नहीं हैं। मैंने कहा कि क्या यह मुमकिन नहीं है कि धर्म-शिक्षाओं को इससे ऊँचे और श्रेष्ठ ढंग पर ग्रहण किया जाए कि उसको ऊँचाई से देखने पर ये सब विभेद और मतभेद दूर हो जाएँ, जैसा कि सच्चे आस्तिकों के साथ होता भी है? क्या हम जिस मार्ग पर चल रहे हैं, सदा उसके आगे नहीं बढ़ सकते? क्या हम दूसरे संप्रदायवालों से यह नहीं कह सकते कि फलाँ-फलाँ तात्त्विक बातों में तो हमारे मत मिलते-जुलते हैं, तफसील की बातों में भले न मिलें। तात्त्विक और जरूरी बातों को गैर-जरूरी बातों पर श्रेष्ठता देकर हम एकता का अनुभव कर सकते हैं।

उस एक आदमी ने, जिसका जिक्र मैं ऊपर कर चुका हूँ, मेरे विचारों का समर्थन किया; पर मुझसे कहा कि अगर इस तरह की छूट दी जाती है तो धर्माधिकारियों पर यह कलंक लगता है कि उन्होंने हमारे पूर्वजों के साथ विश्वासघात किया, इससे धर्म-भेद फैलता है और धर्माधिकारियों का काम तो यूनानी-रूसी कट्टर सनातनी चर्च की पवित्रता की रक्षा करना है जिसे हमने पूर्वजों से हासिल किया है।

बस सारी बातें मेरी समझ में आ गईं। मैं एक धर्म-निष्ठा की खोज कर रहा हूँ, जो जीवन का बल है और वे लोग कुछ मानवीय उत्तरदायित्वों को लोगों की निगाह में सर्वोत्तम ढंग से निभाने का प्रयत्न कर रहे हैं और इन मानवीय मामलों की पूर्ति वे एक मानवीय ढंग से करते हैं। चाहे वे अपनी गलती करनेवाले भाइयों पर करुणा रखने की कितनी ही बात करें और सर्वशक्तिमान ईश्वर के सिंहासन से उनके लिए कितनी ही प्रार्थनाएँ करें; परंतु मानवीय स्वार्थों की पूर्ति के लिए हिंसा आवश्यक हो उठती है, सर्वदा उसका प्रयोग हुआ है, होता है और होता रहेगा। अगर दो धर्मों में से प्रत्येक सिर्फ अपने को ही सच्चा समझता है और दूसरे को झूठा मानता है तो फिर लोग दूसरों को सच्चाई की ओर खींचने के लिए अपने धर्म-सिद्धांतों का प्रचार और

उपदेश करते ही रहेंगे। अगर उनके सच्चे चर्च के अनुभवहीन बच्चों या अनुयायियों को गलत शिक्षा दी जाती है तो फिर चर्च के पास इसके सिवाय क्या चारा रह जाता है कि वह ऐसी किताबें जला दे और जो आदमी उसके बच्चों को गुमराह कर रहा है, उसे हटा दे। ऐसे संप्रदायवादी के साथ क्या किया जाए, जो सनातनी चर्च की राय में भ्रमात्मक धर्म-सिद्धांतों की आग में जल रहा है और जो जीवन के अत्यंत महत्त्वपूर्ण मामले, यानी धर्म की निष्ठा में चर्च के बच्चों को गुमराह कर रहा है? ऐसे आदमी के साथ उसे भेजने अथवा उसका सिर काट लेने के सिवाय और कोई व्यवहार किया जा सकता है? जार एलेक्सिस माइखेलोंविच के समय में लोगों को जला दिया जाता था यानी उन पर उस वक्त के सबसे कड़े दंड-विधान का प्रयोग किया जाता था, और आज हमारे वक्त में भी इस समय की सबसे कड़ी दंड-विधि यानी एकांत कारावास[1] का प्रयोग किया जाता है।

तब मैंने उन बातों पर ध्यान दिया, जो धर्म के नाम पर की जाती हैं और भय एवं संताप से भर गया, और मैंने कट्टर सनातन ईसाई संप्रदाय को करीब-करीब बिल्कुल छोड़ दिया।

चर्च का दूसरा संबंध युद्ध और फाँसी को लेकर जीवन के एक सवाल से था।

उस वक्त रूस लड़ रहा था और रूसी लोग ईसाई प्रेम के नाम पर, अपने मानव-बंधुओं को मारना शुरू कर चुके थे। इसके विषय में न सोचना असंभव था और इस बात की तरफ से आँख मूँद लेना भी असंभव था कि हत्या एक ऐसा पाप है जो हर धर्म के मूल सिद्धांतों के विरुद्ध है। इतने पर हमारी फौजों की सफलता के लिए गिरजे में प्रार्थनाएँ की जाती थीं और धर्मोपदेशक हत्या करने को धर्म-निष्ठा से ही पैदा होनेवाला एक काम मानते थे। फिर युद्ध-काल की इन हत्याओं के अलावा, युद्ध के बाद के झगड़ों-टंटों में भी मैंने देखा कि चर्च के अधिकारियों, शिक्षकों और संन्यासियों ने गलती करनेवाले असहाय युवकों की हत्या का समर्थन किया। मैंने ईसाई धर्म मानने का दावा करनेवाले आदमियों के सब कत्यों पर ध्यान दिया और मेरा दिल दहल गया।

16

बस मेरा संदेह दूर हो गया और मुझे पूरी तरह विश्वास हो गया कि जिस धर्म को मैंने अंगीकार कर रखा है, उसमें सब सत्य-ही-सत्य नहीं है। शायद ऐसी हालत में

1. *जब यह लिखा गया था तब खयाल किया जाता था कि रूस से फाँसी की प्रथा उठा दी गई है।*

पहले मैं कहता कि वह सबका सब झूठा है; लेकिन अब मैं ऐसा भी नहीं कह सकता था। सारी जनता सत्य का कुछ-न-कुछ ज्ञान रखती है; क्योंकि बिना उसके वह जी नहीं सकती। फिर वह ज्ञान मेरे लिए भी प्राप्त है, क्योंकि मैंने उसकी अनुभूति की है और उसके सहारे जिंदगी के दिन भी बिताए हैं। यह सब था; पर अब मुझे कोई संदेह नहीं रह गया था कि सत्य के साथ इसमें असत्य भी है। जो बातें पहले मुझे घृणाजनक प्रतीत होती थीं वे सब स्पष्ट रूप में मेरे सामने आईं। यद्यपि मैंने देखा कि जिन झूठी बातों में मुझे घृणा होती है, उनका किसानों में चर्च व धर्म-संस्था के प्रतिनिधियों की अपेक्षा कम ही मिश्रण है। पर यह तो सब भी साफ हो गया कि जनता के धर्म-विश्वास में सत्य के साथ असत्य भी मिला हुआ है।

पर सवाल उठता है कि सत्य कहाँ से आया और असत्य कहाँ से आया? सत्य और असत्य दोनों पवित्र कही जानेवाली परंपरा और धर्म-ग्रंथों में मौजूद थे। सत्य और असत्य दोनों चर्च (ईसाई-धर्म-संस्था) द्वारा लोगों को दिए गए हैं।

और पसंदगी से या ना-पसंदगी से मुझे इन ग्रंथों का और इन परंपराओं का अध्ययन और अन्वेषण करना पड़ा—उन्हीं ग्रंथों और परंपराओं का, जिनका अन्वेषण करने में अभी तक मैं इतना हिचकिचाता और डरता था।

मैं उसी धर्म-विद्या की प्रतीक्षा करने लगा जिसे एक दिन अनावश्यक कहकर मैंने तिरस्कारपूर्वक अस्वीकृत कर दिया था। पहले जब मैं चारों तरफ से जीवन की ऐसी अभिव्यक्तियों से घिरा था, जो मुझे स्पष्ट और विवेकपूर्ण प्रतीत होती थी तब वह मुझे यह (धर्म विद्या) अनावश्यक मूर्खताओं व असंगतियों एक मालिका-सी प्रतीत होती थी; अब मैं केवल उन्हीं चीजों को फेंककर सुखी हो सकता था जो मेरे दिमाग में न घुसती थीं। इसी शिक्षा पर धार्मिक सिद्धांत का आधार है या कम-से-कम इसके साथ मैंने जीवन के अर्थ एवं प्रयोजन का जो एकमात्र ज्ञान प्राप्त किया है, उसका अभेद्य संबंध है। मेरे दृढ़ और पुराने मन को यह बात चाहे कितनी ही निरर्थक प्रतीत हो; पर यही मुक्ति की एकमात्र आशा थी। इसे समझने के लिए बड़े ध्यान और सावधानी के साथ इसकी परीक्षा करने की जरूरत थी—उस तरह का समझना नहीं जैसा मैं विज्ञान की धारणाओं को समझता हूँ; मैं उसकी खोज में नहीं हूँ और धर्म-निष्ठा के ज्ञान की विशेषताओं एवं विविधताओं को देखते हुए मैं उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न कर भी नहीं सकता। मैं हर चीज की व्याख्या नहीं चाहता। मैं जानता हूँ कि सब वस्तुओं के प्रारंभ की भाँति सब वस्तुओं की व्याख्या भी असीम में निहित है। लेकिन मैं इसे ऐसे ढंग से समझना चाहता हूँ जिससे जो कुछ अनिवार्यतः अबोध्य है, उस तक पहुँच सकूँ। जो कुछ भी अबोध्य है उसे मानना चाहता हूँ इसलिए नहीं कि मेरे विवेक की माँग गलत है (वह बिल्कुल ठीक है

और उससे अलग होकर तो मैं कुछ भी समझ नहीं सकता) बल्कि इसलिए कि मैं अपनी बुद्धि की सीमाओं को जानता हूँ। मैं जानता हूँ कि मेरी बुद्धि एक सीमा तक ही जा सकती है। मैं इस रीति से समझना चाहता हूँ कि जितनी भी बातें अबोध्य हैं वे सब स्वयं अपने को अनिवार्यतः अबोध्य रूप में मेरे सामने पेश करें—ऐसी चीजों के रूप में नहीं, जिनमें विश्वास करने के लिए मैं विवशतापूर्वक बाध्य हूँ।

धर्मशिक्षा में सत्य है, इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है; पर यह भी निश्चित है कि उसमें असत्य है और मुझे जानना चाहिए कि कौन-सी बात सत्य है, कौन-सी असत्य; मुझे सत्य और असत्य को अलग-अलग करना चाहिए। इसी काम में अपने को लगा रहा हूँ। मुझे धर्म-शिक्षा में क्या असत्य मिला, क्या सत्य मिला और किन नतीजों पर मैं पहुँचा, इसका जिक्र मैं आगे करूँगा, जो अगर कुछ महत्त्व का हुआ और किसी ने चाहा तो शायद आगे कहीं प्रकाशित होगा।

सन् 1879 ई०

17

ऊपर के अध्याय मैंने लगभग तीन साल पहले लिखे थे जो छापे जाएँगे।

थोड़े दिन पहले की बात है कि इनको फिर से देखकर ठीक कर रहा था और उस विचार-शैली और सहानुभूतियों को वापस बुला रहा था, जो बीच में इनको लिखते समय उदित हुई थीं। मुझे एक सपना दिखाई पड़ा। मैंने जो कुछ अनुभव किया था और जो कुछ वर्णन किया था, उसे इस स्वप्न में घनीभूत और संक्षिप्त रूप में व्यक्त कर दिया। मैं समझता हूँ कि जिन लोगों ने मुझे समझा है उनके निकट इस स्वप्न का वर्णन कर देने से उनके दिमाग में सब बातें ताजी हो जाएँगी जिनको मैंने इतने विस्तार से पहले कहा है। स्वप्न इस प्रकार था—

मैंने देखा कि मैं पलंग पर पड़ा हूँ। मैं न आराम में था, न तकलीफ में; मैं पीठ के बल लेटा हुआ था। पर मैंने सोचना शुरू कर दिया कि मैं कैसे और किसी चीज पर लेटा हुआ हूँ—ऐसा सवाल इससे पहले मेरे मन में पैदा नहीं हुआ था। मैंने अपने पलंग की तरफ ध्यान दिया और देखा कि मैं एक झूलने पर लेटा हुआ हूँ। झूलने में दूर-दूर तक पाटियाँ लगी हैं जिन पर मेरा शरीर सधा हुआ है। मेरे पाँव एक पाटी पर हैं और जांघ की पिंडलियाँ दूसरी पाटी पर हैं। पावों को आराम नहीं मिल रहा था। मुझे इसका ज्ञान-सा था कि वे पाटियाँ खिसकाई जा सकती हैं। मैंने उनमें से एक पाटी को धकेलकर पाँव के नीचे किया। शायद मैंने सोचा कि यह ज्यादा आरामदेह होगा; लेकिन वह मेरे धक्के से जरूरत से ज्यादा आगे खिसक गई और मैंने उस तक फिर अपना पाँव पहुँचाना चाहा। इस प्रयत्न में जाँघ की पिंडलियों के नीचे जो पाटी

थी वह भी खिसक गई और मेरे पाँव अधर में झूलने लगे। मैंने अपने सारे शरीर को खिसका करके आराम के साथ लेटने की कोशिश की। मुझे पूरा विश्वास था कि मैं तुरंत ऐसा कर सकता हूँ; लेकिन मेरे खिसकने से कुछ ऐसी गड़बड़ हुई कि मेरे नीचे की और भी पाटियाँ खिसककर एक-दूसरे से उलझ गईं और मैंने देखा कि सारा मामला ही बिगड़ता जा रहा है। मेरे शरीर का सारा अधोभाग खिसककर नीचे लटक रहा था, यद्यपि मेरे पाँव जमीन को नहीं छू रहे थे। मैं सिर्फ अपनी पीठ के ऊपरी हिस्से के सहारे लटक रहा था। इससे न सिर्फ तकलीफ हो रही थी, बल्कि मैं डर भी गया था। तभी मैंने अपने से किसी बात के बारे में सवाल किया जिसका पहले मुझे खयाल ही नहीं हुआ था। मैंने अपने से सवाल किया : मैं कहाँ हूँ और मैं किस चीज पर लेटा हुआ हूँ? मैंने इर्द-गिर्द देखना शुरू किया। पहले मैंने उस दिशा में दृष्टि डाली, जिधर मेरा शरीर लटक रहा था और जिधर मुझे जल्द गिर पड़ने का अंदेशा था। मैंने नीचे की तरफ देखा; मुझे अपनी आँखों पर विश्वास न हुआ। मैं ऊँचे-ऊँचे मीनार और पहाड़ की ऊँचाई पर नहीं, बल्कि ऐसी ऊँचाई पर था कि उसकी कल्पना भी मेरे लिए असंभव थी।

मैं यह भी न समझ सका कि उस निचाई में, उस अतल-पाताल में मुझे कोई चीज दिखाई भी देती है या नहीं जिसके ऊपर मैं लटका हुआ हूँ और जिसकी तरफ मैं खिंचता जा रहा हूँ। मेरे हृदय की शिराएँ सिकुड़ने लगीं और मैं डर गया। उस तरफ देखना भी भंयकर था। जब मैं उधर देखता तो मुझे मालूम होता कि अंतिम पाटी से भी खिसककर मैं तुरंत गिर जाऊँगा। तब मैंने उधर नहीं देखा। लेकिन न देखना और भी बुरा था; क्योंकि मैं सोचने लगा कि जब मैं अंतिम पाटी से खिसककर गिरूँगा, तब क्या होगा? मैंने अनुभव किया कि भय के कारण मेरा अंतिम आश्रय-अंतिम पाटी भी खिसक रही है और मेरी पीठ धीरे-धीरे नीचे की तरफ जा रही है। क्षण भर बाद ही मैं गिर जाऊँगा। उसी समय मुझे यह ध्यान आया कि यह सब सत्य नहीं हो सकता, यह सपना है। इससे जग जाओ! मैं अपने को जगाने की कोशिश करता हूँ; पर जाग नहीं पाता। अब मैं क्या करूँ? अब मुझे क्या करना चाहिए; मैं इस तरह अपने से पूछता हूँ और ऊपर की तरफ नजर दौड़ाता हूँ। ऊपर भी अनंत आकाश फैला हुआ है। मैं आकाश की असीमता को देखता हूँ और नीचे की—पाताल की अतलता को भूलने की कोशिश करता हूँ और मैं सचमुच उसे भूल जाता हूँ। नीचे की पाताल की असीमता मुझे डरा देती है; पर ऊपर की अनंतता आकर्षित करती और बल देती हैं। मैं देखता हूँ कि अतल के ऊपर अब भी अंतिम पाटी मुझसे छूटी नहीं है। जानता हूँ मैं लटक रहा हूँ; लेकिन अब मैं सिर्फ ऊपर की ओर देखता हूँ और मेरा भय दूर हो जाता है। जैसा कि सपने में होता है, एक आवाज

सुनाई पड़ती है: 'इधर देखो; यही वह है!, बस मैं अधिकाधिक अपने ऊपर अनंत आकाश देखता हूँ और मुझे अनुभव होता है कि मैं शांत और स्थिर हो रहा हूँ। जो कुछ घटना घटी है वह सब मुझे याद है और यह भी याद है कि किस तरह वह सब हुआ; कैसे मैंने अपने पाव बढ़ाए; कैसे मैं खिसककर टँग गया; मैं कितना डर गया था और किस तरह ऊपर देखने के कारण भय से मेरी रक्षा हुई। तब मैं अपने से पूछता हूँ; क्या मैं इस वक्त इसी तरह नहीं लटक रहा हूँ? मैं इर्द-गिर्द देखने की जगह अपने सारे शरीर से उस आश्रय खंड का अनुभव करता हूँ, जिस पर मैं पड़ा हुआ हूँ। मैं देखता हूँ कि अब इस तरह लटका हुआ नहीं हूँ कि गिर पड़ूँ, बल्कि दृढ़तापूर्वक स्थित हूँ। तब मैं अपने से पूछता हूँ कि मैं किस प्रकार स्थित हूँ? मैं चारों ओर टटोलता हूँ; इधर-उधर नजर दौड़ाता हूँ और देखता हूँ कि मेरे नीचे, मेरी कमर के नीचे भी एक पाटी है और जब मैं ऊपर की ओर देख रहा हूँ तब इस पर सुरक्षित रूप से लेटा रहता हूँ और यही पाटी पहले भी मुझे थामे हुई थी, तब, जैसा कि सपनों में होता है, मैं अपने को स्थिर रखनेवाले साधन की बनावट की कल्पना करता हूँ। यह एक बड़ा स्वाभाविक, समझ में आने लायक और अचूक साधन है—यद्यपि—जागृत व्यक्ति के लिए बनावट का कोई मतलब नहीं है। अपने स्वप्न में मुझे आश्चर्य का अनुभव भी हुआ कि इस बात को मैं और पहले ही क्यों न समझ पाया? मालूम पड़ा कि मेरे सिर के ऊपर एक खंभा भी नहीं है और उस पतले खंभे की सुरक्षा में कोई संदेह नहीं किया जा सकता, यद्यपि उसको आश्रय या सहारा देनेवाली कोई दूसरी चीज नहीं है। खंभे से एक दोहरा फंदा नीचे लटक रहा है और यदि मैं उस फंदे के बीच में अपने शरीर को ठीक तरह से रखूँ और ऊपर देखता रहूँ तो गिरने का कोई अंदेशा ही नहीं हो सकता। यह सब मुझे स्पष्ट दीख रहा था, मैं प्रसन्न और स्थिर था। मुझे जान पड़ा कि कोई मुझसे कह रहा है: 'देखो, इसे याद रखना।'

बस मैं जग गया।

सन् 1822 ई०।

●●●

भूमिका

मेरे मित्र पी० बीरूकोव ने जब मेरी पुस्तकों के फ्रांसीसी संस्करण के लिए मेरी जीवनी लिखने का काम अपने ऊपर लिया तो उन्होंने मुझसे अपने जीवन के संबंध में जरूरी बातें लिख भेजने का अनुरोध किया।[1]

उन्होंने जो विरोध किया था, उसे मैं पूरा करना चाहता था, इसलिए मैं मन-ही-मन अपने जीवनी की रूप-रेखा तैयार करने लगा। पहले-पहल मेरी स्मृति जीवनी की अच्छाइयों की ओर ही दौड़ी और उन्हें जैसे उभाड़ने के लिए ही चित्र में रंग भरने के समान मैंने अपने चरित्र की बुराइयाँ भी दीं। परंतु अपने जीवन की घटनाओं पर अधिक गंभीरता से विचार करते हुए मैंने देखा कि ऐसी जीवनी यद्यपि सर्वांश में मिथ्या न होगी, परंतु वह जीवन पर गलत प्रकाश डालने और उसे गलत रूप में रखने के कारण—ऐसे रूप में, जिसमें अच्छाइयों पर तो प्रकाश डाला गया है; परंतु बुराइयों की ओर से तो आँखें ही मूँद ली गई हैं, या उनको ढकने का प्रयत्न किया गया है—मिथ्या होगी। परंतु जिस समय मैंने अपने दोषों को जरा भी छिपाए बिना सारी बातें सच्ची-सच्ची लिखने का विचार किया, उस समय मैं, ऐसी जीवनी पढ़कर लोगों के मन में क्या भावना उठेगी, इसकी कल्पना करके काँप उठा। उसी समय मैं बीमार पड़ गया। बीमारी के समय बिस्तर पर पड़े-पड़े मेरा मन बार-बार जीवन की स्मृतियों पर दौड़ता था। वे संस्मरण वास्तव में कँपा देनेवाले थे। उस समय मुझे बिल्कुल वैसा ही अनुभव हुआ जैसा कि पुश्किन ने अपनी कविता 'स्मृतियों' में वर्णन किया है : जब हम मरणशील प्राणियों की जगती पर दिन भर के बाद शांति छा जाती है, और नगरों की सुनसान सड़कों पर शोरोगुल के बाद अर्द्धपारभासक भूरी रात की छात्राएँ नाचने लगती हैं, और दिन-भर की मेहनत के प्रसादस्वरूप निद्रादेवी का आगमन होता है तब मेरे लिए वह समय आत है जब

1. *ये पंक्तियाँ सन् 1902 में लिखी गई थीं, जब टॉल्सटॉय एक लंबी भारी बीमारी के बाद स्वास्थ्य-लाभ कर रहे थे।*

गंभीर नीरवता में सारी रात के उस अनिवार्य अवकाश काल में निद्राहीन पीड़न की लंबी और सूनी घड़ियाँ आहिस्ता-आहिस्ता रेंगती हैं।

मेरे हृदय में पश्चात्ताप की अग्नि जोरों से धधक उठी है
मेरा मन खौल रहा है और मेरे थके और दुखते सिर में,
न जाने कितने तीखे विचारों की भीड़ लगी है,

और पुरानी अपयशपूर्ण तथा लज्जाजनक स्मृतियाँ नीरवता के बीच अपना कष्टकर लेखा-जोखा खोल रही हैं। मैं घृणापूर्वक अपने जीवन के इस वृत्त को देखता हूँ, मैं अपने को शाप देता हूँ, तड़पता हूँ और बार-बार काँप उठता हूँ, अनुतापपूर्ण आँसू मेरी आँखों से झर-झर गिरते हैं; पर वे मेरी दुःख पूर्ण गाथा की पंक्तियाँ हरगिज मिटा नहीं सकते।

इसमें सिर्फ आखिरी पंक्ति में ही इतना परिवर्तन करना चाहता हूँ कि 'दुःखपूर्ण' के स्थान पर 'कलंकपूर्ण' शब्द रख दिया जाए।

इन्हीं भावनाओं में डूबते-उतरते हुए मैंने अपनी डायरी में निम्न पंक्तियाँ लिखीं—

6 जनवरी, 1903

"इस समय मैं नरक की यातनाओं का अनुभव कर रहा हूँ। अपने पिछले जीवन की सारी बुराइयाँ मुझे याद आ रही हैं, ये स्मृतियाँ मेरे जीवन को विषाक्त बना रही हैं और मेरा पीछा नहीं छोड़तीं। लोग इस बात पर खेद प्रकट करते हैं कि मरने के बाद मनुष्य को अपने जीवन की घटनाएँ याद नहीं रहतीं। लेकिन यह तो बड़े भाग्य की बात है। अगर मुझे अपने भावी जीवन में सब बुरे काम (पाप) याद रहें, जो मैंने इस जीवन में किए हैं और इस समय मेरी अंतरात्मा में डंक मार रहे हैं तो मुझे कितनी पीड़ा हो? यह तो हो ही नहीं सकता कि मुझे अच्छी बातें ही याद रहें, क्योंकि अगर मुझे अपने पुण्यकार्य याद रहें तो अपने पाप-कार्य भी अवश्य याद रहेंगे। यह कितने भाग्य की बात है कि मृत्यु के साथ-साथ सब पिछली बातें भूल जाती हैं और केवल एक प्रकार की चेतना शेष रह जाती है, जो ऐसी मालूम होती है कि मानो वह अच्छे और बुरे संस्कारों से बनी एक वस्तु है, एक विषम भिन्न है, जिसे सम करने पर वह कम या अधिक, सकारात्मक अथवा नकारात्मक हो सकती है।

हाँ, तो स्मृतियों का नष्ट हो जाना अत्यंत आनंददायक है। स्मृति रहने पर तो सुखपूर्वक रहना असंभव ही हो जाता। परंतु स्मृतियाँ नष्ट हो जाने पर तो हम नए जीवन में एक साफ पट्टी लेकर प्रवेश करते हैं, जिस पर हम नए सिरे से अच्छा और बुरा लिख सकते हैं।

यह सच है कि मेरा सारा जीवन इस प्रकार भीषण रूप से पाप-मय नहीं था।

उसके केवल 20 वर्ष ही खराब थे। बीमारी के समय अपने पिछले जीवन का सिंहावलोकन करते हुए मुझे ऐसा मालूम पड़ा था कि यह युग बुराइयों से ही भरा पड़ा था; किंतु बात ऐसी नहीं है। इस अवधि में भी मेरे मन में अच्छी भावनाएँ उठती थीं, परंतु वे अधिक समय तक टिक नहीं पाती थी और शीघ्र ही वासनाएँ उन्हें दबा देती थीं। फिर भी अपने जीवन का सिंहावलोकन करने से विशेषकर अपनी लंबी बीमारी के समय—मुझे यह साफ मालूम पड़ा कि यदि मेरी जीवनी उस तरह लिखी गई जिस तरह अधिकतर जीवनियाँ लिखी जाती हैं, जिसमें मेरे दोषों, अपराधों और नीच-कर्मों के संबंध में कुछ भी न कहा गया हो, तो वह जीवनी झूठी होगी। अत: यदि मेरी जीवनी लिखी ही जाए तो उसमें सारी बातें सच्ची-सच्ची प्रकट होनी चाहिए। ऐसी ही जीवनी लिखी जाने पर, चाहे उसे लिखने में लेखक को कितनी ही लज्जा क्यों न लगे, पाठकों के लिए वह लाभप्रद हो सकती है। अपने जीवन पर इस दृष्टि से विचार करते हुए अर्थात् पाप और पुण्य की दृष्टि से विचार करते हुए मैंने देखा कि मैं अपने जीवन को चार भागों में बाँट सकता हूँ। प्रथम चौदह साल तक की आयु का (विशेषकर आगे के जीवन की तुलना में) भोला-भाला आनंदमय और काव्य-पूर्ण बाल्य-काल, तत्पश्चात् उसके बाद के भयानक बीस वर्ष, जो सिर्फ महत्त्वाकांक्षा, दुरभिमान और दुर्वासनाओं में व्यतीत हुए। उसके बाद विवाह से लेकर मुझे आत्म-ज्ञान होने तक के 18 वर्ष। यह काल संसारी दृष्टि से नैतिक कहा जा सकता है, अर्थात् इन 18 वर्षों में मैंने उचित रूप से और ईममानदारी से गार्हस्थ्य-जीवन बिताया। यद्यपि इन वर्षों में मैं अपने परिवार की हित चिंता करने, अपनी संपत्ति बढ़ाने, साहित्यिक क्षेत्र में उन्नति करने तथा सब तरह का आनंद लूटने में ही मग्न रहा; परंतु मैंने कोई ऐसा काम नहीं किया, जिसकी समाज निंदा करता हो या जिसे बुरा कहता हो। अंत में बीस वर्ष का वह काल है जिसमें मैं रह रहा हूँ और जिसके भीतर ही मुझे आशा है कि मैं मर जाऊँगा। इसी काल के जीवन के दृष्टिकोण से मैं अपने अतीत पर विचार करता हूँ और इसमें केवल उन बुराइयों के बुरे प्रभावों को दूर करने के सिवाय, जिनका आदी मैं पिछले सालों में हो गया था, मैं जरा भी परिवर्तन करना न चाहूँगा।

यदि ईश्वर न मुझे जिंदगी और शक्ति दी तो मैं इन चारों कालों की बिल्कुल सच्ची कहानी लिखूँगा। मैं समझता हूँ कि मेरे ग्रंथों की बारह जिल्दों[1] में जो

1. *उस समय, अर्थात् जनवरी 1906 तक, टॉल्सटॉय की वे रचनाएँ जिन्हें रूस में प्रकाशित करने की आज्ञा मिल चुकी थी, बारह भागों में प्रकाशित हो चुकी थीं। धर्म, समाज की समस्याएँ, युद्ध और हिंसा आदि पर लिखी पुस्तकें आमतौर पर सेंसरों द्वारा दबा दी गई थीं।*

कलापूर्ण बकवास भरी हुई है और जिसे लोग आवश्यकता से अधिक महत्त्व देते हैं, उसकी अपेक्षा मेरी यह जीवनी अपनी कमियों के बावजूद लोगों के लिए ज्यादा लाभप्रद होगी।

अब मैं यही काम करना चाहता हूँ। पहले मैं अपने आनंदमय बाल्यकाल के संबंध में कुछ कहूँगा; जो मुझे विशेष रूप से आकर्षित करता है। उसके बाद, चाहे मेरे लिए कितना भी लज्जाप्रद क्यों न हो मैं अपने जीवन के दूसरे काल के 19 वर्षों की भयानक कथा बिना कुछ छिपाए हुए कहूँगा। बाद में तीसरे काल के विषय में लिखूँगा; जो अन्य कालों की अपेक्षा कम रोचक है। अंत में मैं अपने चौथे काल के विषय में लिखूँगा। इसमें मेरी आँखें खुलीं; मैंने सत्य को पहचाना और मुझे जीवन की सबसे बड़ी अच्छाई और प्रतिदिन निकट आती हुई मृत्यु के प्रति आनंदमय शांति प्राप्त हुई।

पुररुक्ति-दोष से बचने के लिए अपने बाल्यकाल के संबंध में मैंने जो कुछ लिखा है, उसे दुबारा पढ़ लिया है। मुझे दु:ख है कि मैंने इसे क्यों लिखा? जो यह सब मैंने लिखा है बहुत बुरा लिखा है और (यदि साहित्यिक भाषा में कहें तो) सच्चे हृदय से, ईमानदारी से नहीं लिखा गया। लेकिन इसका कोई उपाय भी नहीं था। क्योंकि पहली बात तो यह कि अपने बचपन का हाल लिखने के बजाए मैंने अपने बचपन के मित्रों का हाल लिखना सोचा था और इसके फलस्वरूप उसमें मेरे और उनके बाल्यकाल की घटनाओं एक बेजोड़ मिश्रण हो गया। दूसरे जिस समय यह लिखा गया, उस समय मेरी अपनी स्वतंत्र वर्णन-शैली कोई भी न थी और मुझ पर दो लेखकों स्टर्न और टौफर[1] का बहुत प्रभाव था।

विशेष रीति से मैं अंतिम दो भाग, 'किशोरावस्था' और 'युवावस्था' से अप्रसन्न हूँ। इनमें एक तो तथ्य और कल्पना का अनुचित सम्मिश्रण है और दूसरे गैर-ईमानदारी की भावना व्याप्त है। उस समय मैं जिसे—अपनी लोकतंत्रवादी प्रवृत्ति को—उत्कृष्ट और महत्त्वपूर्ण नहीं मानता था उसे उत्कृष्ट और महत्त्वपूर्ण चित्रित करने की भावना व्याप्त है। मुझे आशा है कि अब मैं जो कुछ लिखूँगा वह अच्छा होगा और विशेष रीति से अन्य लोगों के लिए अधिक उपयोगी होगा।

[टॉल्सटॉय अपनी आत्मकथा लिखने का इरादा कभी पूरा नहीं कर सके। अपने संस्मरणों के अलावा, जो सन् 1878 में प्रकाशित हुए थे, वे जो कुछ लिखकर छोड़ गए, उनमें से कुछ सुंदर अंश यहाँ दिए जाते हैं।—संपादक]

1. *लारेंस स्टर्ने (1713—68) अंग्रेजी उपन्यास-लेखक। रोडोल्फ टौफर (1801—1846), स्विस उपन्यासकार और कलाकार।*

मेरे संस्मरण

मेरे दादी पेरागेया निकोलेवना (टॉल्सटॉय) उस अंधे राजकुमार निकालस इवोनेविच गोर्शकोव की लड़की थी, जिन्होंने अपार संपत्ति जोड़ रखी थी। दादी के संबंध में मुझे जितना याद है, उससे मैं कह सकता हूँ कि उनमें थोड़ी बुद्धि थी और उनकी शिक्षा भी थोड़ी ही हुई थी। अपने वर्ग की अन्य महिलाओं की तरह वह भी रूसी भाषा की अपेक्षा फ्रेंच अच्छी तरह जानती थीं (यह उनकी शिक्षा की सीमा थी)। पहले उनके पिता ने, फिर उनके पति ने और बाद में, जहाँ तक मुझे याद पड़ता है, उनके लड़के ने उन्हें बिल्कुल बिगाड़ दिया था। लेकिन कुटुंब के सबसे बड़े-बूढ़े व्यक्ति की पुत्री होने के कारण सभी उनका सम्मन करते थे।

मेरे दादा (उनके पति) भी, जहाँ तक याद है, मामूली बुद्धि के बड़े नम्र, हँसमुख और केवल उदार ही नहीं, बल्कि बड़े उड़ाऊ और साथ ही बड़े विश्वासी और श्रद्धालु व्यक्ति थे। वेलेव्स्वकी जिले में स्थित पाल्येनी (यासनाया पोल्याना नहीं) में उनकी जागीर पर बहुत दिनों तक जलसों, दावतों, नाटकों, नाच-गानों और पार्टियों की धूम रही। लेकिन बड़े-बड़े दाव लगाकर ताश खेलने और हर एक आदमी को मुक्तहस्त से कर्ज या दान देने की आदत के कारण और बाद में घरेलू झगड़ों के फलस्वरूप उन्होंने अंत में अपनी पत्नी की विशाल जागीर पर कर्जा चढ़ा लिया। उनको पेट के भी लाले पड़ने लगे और अंत में उनको कजान की गर्वनरी के लिए अर्जी देनी पड़ी और वह पद स्वीकार करना पड़ा। यह पद ऐसा था जो उनके ऊँचे कुल और उच्च पदाधिकारियों से संबंध रखनेवाले व्यक्ति को मिलने में कोई कठिनाई नहीं थी।

यद्यपि उस समय घूस लेना एक साधारण बात थी; लेकिन मैंने सुना है कि (शराब के ठेकेदारों के सिवाय) उन्होंने किसी से घूस नहीं ली। यही नहीं, जब कभी उनके सामने इस तरह का प्रस्ताव रखा जाता था, तो वह नाराज होते थे। लेकिन मैंने यह सुना है कि मेरी दादी, मेरे दादा को बिना बताए रुपया ले लिया करती थीं।

कजान में मेरी दादी ने अपनी छोटी लड़की पेलागया का विवाह यशकोव के साथ कर दिया था। उनकी बड़ी लड़की की शादी पीटर्सबर्ग के काउंट आस्टन-सेकन के साथ हो चुकी थी।

कजान में अपने पति की मृत्यु होने के बाद और मेरे पिता का विवाह हो जाने के बाद मेरे दादी यास्नाया पोल्याना में मेरे पिता के साथ रहने लगीं, जहाँ उनके बुढ़ापे के दिनों की मुझे अब भी अच्छी तरह याद है।

मेरे दादी मेरे पिता को और अपने पोतों अर्थात् हम लोगों को बहुत प्यार करती थीं और हमारे साथ अपना मनोविनोद कर लेती थीं। वह मेरी बुआओं से भी बहुत प्रेम करती थीं, लेकिन मेरा खयाल है वह मेरी माता को ज्यादा नहीं चाहती थीं, क्योंकि वह उन्हें मेरे पिता के लिए योग्य न समझती थीं। यही नहीं, पिताजी का मेरी माता के लिए जो बहुत ज्यादा प्रेम था, उससे उन्हें ईर्ष्या होती थी। नौकरों के साथ उन्हें कड़ा बर्ताव करने की जरूरत ही नहीं पड़ती थी, क्योंकि हर एक आदमी यह जानता था कि वह घर भर में सबसे बड़ी हैं, इसलिए उन्हें खुश रखने की कोशिश करता था। परंतु अपनी नौकरानी गाशा पर वह बहुत अत्याचार करती थीं और उससे यह आशा किया करती थीं कि उससे जो काम न कहा गया हो, वह उसे भी कर रखे। वह उसे ताने में 'आप' कहकर पुकारा करती थीं और नाना प्रकार से दुःख देती थीं। गाशा (अगाफया निखायलोवना) को मैं अच्छी तरह जानता था और यह विचित्र बात थी कि उसने भी मेरी दादी का स्वभाव स्वयं ग्रहण कर लिया था और दादी की सेवा में रहनेवाली छोटी-सी लड़की को तथा उनकी बिल्ली को उसी रीति से दुःख दिया करती थी, जिस प्रकार मेरी दादी उसे दुःख देती थी।

मास्को जाने और वहाँ रहने से पहले मुझे अपनी दादी की तीन बातें अच्छी तरह याद हैं। पहली बात उनका कपड़े आदि धोने का तरीका था। वह अपने हाथों पर एक खास तरह के साबुन से बहुत-सा झाग उठा लेती थीं, और मैं समझता हूँ कि वही अकेली ऐसा कर सकती थीं। जब वह कपड़े धोती थीं तो हमें खासतौर पर उनका कपड़ा धोना देखने को ले जाया जाता था। संभवतः साबुन के झागों पर हमारा खुश होना और अचंभे से भर उठना देखकर, उन्हें भी आनंद होता था। उनकी सफेद टोपी, उनकी जाकेट, उनके बूढ़े सफेद हाथ और उन पर उठे हुए असंख्य झाग एवं एक संतोषपूर्ण मुस्कान सहित उनका सफेद मुँह आज भी याद है।

दूसरी बात उनका बिना घोड़े की पीली गाड़ी में बैठकर पास के छोटे जंगल में अखरोट बीनने जाना था, जिनकी उस साल इफरात से पैदावार हुई थी। बिना घोड़े की उस गाड़ी को मेरे पिता के साईस खींचकर ले जाते थे। इस गाड़ी में हम लोग भी अपने शिक्षक फीडर इवानोविच को साथ लेकर घूमने जाया करते थे। उस घनी और आस-पास उगी हुई झाड़ियों की मुझे अब भी याद है जिनके बीच से हमारे पिता के साईस पेट्रश्का और मत्यूशा उस गाड़ी को, जिसमें दादी बैठी रहती थीं खींज ले जाते थे और

किस प्रकार वे अखरोट के गुच्छों से लदी हुई टहनियों, जिनमें बहुत से पके हुए अखरोट अपने छिलकों से निकल-निकलकर गिर रहे होते थे, उन तक झुका देते थे। मुझे यह भी याद है कि किस प्रकार मेरी दादी उन्हें तोड़तीं और अपने थैले में डालती जाती थीं और किस प्रकार हम बच्चे भी कुछ टहनियाँ झुकाकर उसी प्रकार खुश होते थे, जिस प्रकार फीडर इवानोविच मोटी-मोटी टहनियाँ झुकाकर हमें अपने बल से चकित कर देते थे। हम चारों तरफ हाथ लपकाकर अखरोट तोड़ते और जब फीडर इवानोविच टहनियों को छोड़ देते और वे फिर पहले की स्थिति में पहुँच जातीं उस समय हम देखते थे कि अब भी बहुत-से अखरोट उनमें लगे रह गए हैं, जिन्हें हमने नहीं देखा। मुझे याद है कि जंगल के खुले भाग में कितनी गर्मी और वृक्षों की छाया से कितनी ठंडक होती थी। अखरोट की पत्तियों की तीखी गंध और किस प्रकार हमारी नौकरानियाँ अखरोटों को दाँतों से कड़कड़ाकर खाती थीं, और हम स्वयं भी बराबर मुँह चलाते हुए ताजे मधुर सफेद गूदे को खाते जाते थे, यह सब बातें मुझे अब भी याद हैं।

हम अपनी जेबों में, गोद में और गाड़ी में अखरोट भर लेते थे। दादी हमें अंदर बुला लेतीं और हमारी तारीफ़ करती थीं। हम घर किस प्रकार लौटते थे और घर लौटने पर क्या होता था, यह सब मुझे जरा भी याद नहीं। मुझे तो सिर्फ दादी, अखरोट के जंगल का खुला भाग, अखरोट के वृक्षों की पत्तियों की तीखी गंध, दोनों साईस, पीली गाड़ी तथा सूर्य सबकी एक संयुक्त सुखद याद है। मुझे ऐसा मालूम होता है कि जिस तरह साबुन के झाग वहीं उठ सकते थे जहाँ मेरी दादी हो, उसी प्रकार झाड़ियाँ, अखरोट, सूर्य तथा अन्य चीजें भी वहीं हो सकती थीं जहाँ मेरी दादी पीली गाड़ी में बैठी हो और पेट्रश्का और मत्यूशा उसे खींच रहे हों।

सबसे ज्यादा याद मुझे उस रात की है जो मैंने अपनी दादी के सोने के कमरे में लेव स्टीपेनिश के साथ बिताई थी। लेव स्टीपेनिश एक अंधा कहानी सुनानेवाला था। (जिस समय मैंने उसे जाना वह बूढ़ा हो चुका था।) वह मेरे दादी की प्रभुता के दिनों की यादगार था। वह एक दास था जिसे खरीदा ही इसलिए गया था कि वह कहानियाँ सुनाए। अंधों की स्मरण-शक्ति बड़ी तेज होती है और एक या दो बार कोई कहानी सुन लेने पर वह उसे शब्दशः याद हो जाती थी।

वह मकान के ही किसी हिस्से में रहता था; लेकिन दिनभर दिखाई नहीं पड़ता था। शाम होते ही वह मेरी दादी के ऊपर के सोनेवाले कमर में आ जाता। (यह एक नीचा और छोटा-सा कमरा था, जिसमें जाने के लिए सीढ़ियाँ उतरनी पड़ती थीं।) वह कमरे में खिड़की पर बैठ जाता, जहाँ उसके लिए मालिक की थाली का बचा हुआ भोजन ला दिया जाता था। वहाँ वह मेरी दादी का इंतज़ार किया करता था। मेरी दादी उसके अंधे होने के कारण उसके सामने ही कपड़े बदल लिया करती थीं। उस दिन जब

दादी के कमरे में रात बिताने की बारी थी, वह लंबा गहरे नीले रंग का कोट पहने हुए खिड़की पर बैठा खाना खा रहा था। मुझे याद नहीं कि मेरी दादी ने कहाँ पर कपड़े बदले, उसी कमरे में या दूसरे कमरे में या किस प्रकार बिस्तर पर सुलाया गया। मुझे केवल उस क्षण की याद है जबकि मोमबत्ती बुझा दी गई और एक छोटा लैंप सुनहरी मूर्तियों के सामने जलता छोड़ दिया गया। मेरी दादी, वह करामाती दादी, जो साबुन के आश्चर्यजनक झाग उठाया करती थी, सिर से पैर तक सफेद कपडे पहने हुए बर्फ के समान श्वेत बिछौने पर, सफेद ही चादर ओढ़े और सिर पर सफेद ही टोपी दिए ऊँचे तकिए के सहारे लेटी थी। उसी समय खिड़की से लेब स्टीपेनिश की शांत और मोटी आवाज आई, ''क्या मैं कहानी शुरू करूँ?' ''हाँ, शुरू करो।'' लेव स्टीपेनिश ने अपनी शांत, साफ और गंभीर आवाज में अपनी कहानी आरंभ की। ''प्रिय बहन, उसने कहा, ''हमें उन सुंदर और रोचक कहानियों में से एक कहानी सुनाओ, जिन्हें तुम इतनी सुंदरता के साथ सुनाती हो— '' शहजादी ने उत्तर दिया, ''बड़े शौक से। अगर आपके स्वामी आज्ञा दें तो मैं राजकुमार कमरल्जमन की कहानी सुनाऊँ।'' सुल्तान की स्वीकृति मिल जाने पर शहजादी ने इस प्रकार अपनी कहानी आरंभ की, ''किसी राजा के एक ही लड़का था...।'' इसी प्रकार लेव स्टीपेनिश ने भी राजकुमार कमरल्जमन की कहानी उसी प्रकार अक्षरशः कह सुनाई, जैसी कि किताब में थी। मैं न तो कुछ समझता था, न सुनता था। मैं तो सफेद वस्त्रों में अपनी दादी की रहस्यमयी मूर्ति और दीवार पर पड़ती हुई उनकी धुँधली छाया तथा सफेद ज्योतिहीन आँखवाले वृद्ध को देखने में डूबा रहता था। उस वृद्ध को यद्यपि मैं इस समय नहीं देखता; परंतु उसकी खिड़की में बैठी हुई मूर्ति, जिसके मुँह से कुछ अजीब शब्द निकल रहे थे और वे शब्द उस पर अँधेरे से कमरे में, जिसमें केवल एक ही लैंप टिमटिमा रहा था, अत्यंत एकरस मालूम होते थे, अब भी मेरी आँखों के सामने नाच रही है। शायद मैं लेटते ही सो गया था; क्योंकि दादी के हाथों पर कपड़े धोते समय साबुन के झागों को देखकर मुझे फिर आश्चर्य हुआ और प्रसन्नता हुई।''

अपने नाना के संबंध में टॉल्सटॉय ने बताया—

अपने नाना के विषय में तो मुझे इतना याद है कि प्रधान सेनापति का ऊँचा पद प्राप्त करने के कुछ ही दिन बाद वह पोटेम्किन की भतीजी और रखेली वारवरा एंजिलहार्ट से विवाह करने से इनकार कर देने पर उस पद से हटा दिए गए। पोटेम्किन के इस प्रस्ताव पर उन्होंने उत्तर दिया, ''पोटेम्किन के मन में किस प्रकार यह विचार उठा कि मैं उस वेश्या से शादी कर लूँगा?''

राजकुमारी कैथरीन डिट्रीवना ट्रबेटस्क से विवाह करने के बाद मेरे नाना उन्हीं

की जागीर यास्नया पोल्याना में (जो राजकुमारी को अपने पिता सर्जे फिडोरोविच से मिली थी) रहने लगे।

राजकुमारी एक कन्या—मारया—को छोड़कर शीघ्र ही परलोक सिधार गई। अपनी प्यारी पुत्री और उसकी फ्रांसीसी सहेली के साथ मेरे नाना अपनी मृत्यु (सन् 1821 तक) वहीं रहे। वह बड़ा कड़ा काम लेनेवाले मालिक समझे जाते थे; लेकिन मैंने कभी उनकी क्रूरता की एक भी घटना या नौकरों को उतना कठोर दंड देने की बात नहीं सुनी, जितना उन दिनों दिया जाता था। मैं यह जानता हूँ कि उनकी जागीर पर ऐसी बातें होती थीं; लेकिन घर के और खेत पर काम करनेवाले दासों के मन में, जिनसे मैंने कई बार इस विषय में प्रश्न किया, उनकी महत्ता और चतुरता के लिए इतना सम्मान था कि मैंने अपने पिता की बुराई तो सुनी; लेकिन अपने नाना की बुद्धिमत्ता, प्रबंध-कुशलता, तथा घर के और खेतों पर काम करनेवाले दासों के, विशेषकर घर में काम करनेवालों के मामलों में उनकी अत्यधिक दिलचस्पी के लिए सबके मुँह से तारीफ ही सुनी। उन्होंने घरेलू दासों के लिए काफी मकान बनवा दिए और इस बात पर भी हमेशा ध्यान रखा कि उन्हें पर्याप्त भोजन, वस्त्र और आमोद-प्रमोद का सामान मिलता रहे। छुट्टी के दिन वह उनके लिए झूलों, नाच-रंग (ग्रामीण नृत्य) यथा आमोद-प्रमोद का भी प्रबंध करते थे।

उस समय के प्रत्येक बुद्धिमान भूमि-पति के समान वह खेत पर काम करनेवाले दासों की भलाई और बढ़ती के लिए बहुत चिंतित रहते थे। उनके समय में ये दास इसलिए फूले-फले कि मेरे नाना के बड़े पद पर होने के कारण पुलिसवाले उनका आदर करते थे और इसीलिए दासों को अधिकारियों की ज्यादतियों से बच निकलने का अवसर मिल जाता था।

वह सौंदर्य के बहुत प्रेमी थे और यही कारण था कि उनके सारे मकान न सिर्फ अच्छे बने हुए और आरामदेह थे, बल्कि बहुत सुंदर और सजे हुए थे। मकान के सामने उन्होंने जो बाग लगवाया था वह बहुत ही सुंदर व सुहावना था। शायद उन्हें संगीत से भी बहुत प्रेम था; क्योंकि उन्होंने केवल अपनी तथा मेरी माता के लिए एक छोटी परंतु सुंदर संगीत-मंडली जोड़ रखी थी। मुझे याद है कि बाग में जहाँ नींबू के पेड़ों की कतारें मिलती थीं, एक बड़ा पेड़ खड़ा था जिसका तना इतना मोटा था कि तीन आदमी एक साथ उसके चारों ओर लिपट सकते थे। उसी पेड़ के नीचे संगीतज्ञों के बैठने के लिए बेंचे और मेजें पड़ी हुई थीं। किसी दिन प्रात:काल मेरे नाना बाग में घूमने निकल जाते और गाना सुनते। उन्हें शिकार करना अच्छा नहीं लगता था। वे फूलों और पौधों के बड़े प्रेमी थे।

भाग्य-चक्र से एक दिन वह उसी वारवरा एंजिलहार्ट के संपर्क में आए, जिसके

साथ विवाह करने से इनकार कर देने के कारण उनका सैनिक जीवन नष्ट हुआ था। उसने राजकुमार सर्जी फीडोरोविच गोलिटसिन से विवाह कर लिया था, जिसे इस विवाह के उपलक्ष में सब प्रकार का मान और सम्मान मिला था। मेरे नाना सर्जी फीडोरोविच और फलत: वारवरा एंजिलहार्ट के इतने निकट संपर्क में आए कि मेरी माता की सगाई बचपन में ही उन दोनों के दस लड़कों में से एक के साथ हो गई और दोनों राजकुमारों ने अपने-अपने परिवार के चित्र (जो उनके दासों द्वारा बनाए गए थे) परस्पर एक-दूसरे को दिए। गोलिटसिन परिवार के ये सब चित्र हमारे पास हैं। इनमें सर्जी फीडोरोविच का एक चित्र है, जिसमें वह सेंट ऐण्ड्रू के आर्डर का रिबन पहने हुए हैं तथा सुसंगठित देह और लाल केशों वाली वारवरा एंजिलहार्ट का चित्र भी है। परंतु मेरी माता की सगाई विवाह-रूप में परिणत न होनी थी क्योंकि राजकुमार विवाह से पहले ही तेज बुखार के कारण परलोक सिधार गए।

माताजी की मुझे जरा भी याद नहीं। जिस समय मैं डेढ़ साल का था, उस समय उनकी मृत्यु हो गई। संयोग से उनका कोई चित्र भी सुरक्षित नहीं रखा गया, अत: मैं उनकी मूर्ति की कल्पना भी नहीं कर सकता। लेकिन यह भी अच्छा ही हुआ, क्योंकि अब मेरे मन में उनकी अशरीरी कल्पना है और मैं जितना भी कुछ उनके विषय में जानता हूँ, सुंदर है। मैं समझता हूँ कि मेरी यह धारणा इसलिए नहीं बनी है कि उनके विषय में जिस किसी ने जो कुछ भी कहा उनकी अच्छी ही बातें बताने की कोशिश की; बल्कि इसलिए कि उनमें वास्तव में कुछ ठोस गुण और अच्छाइयाँ थीं।

मेरी माता सुंदरी तो नहीं थी; परंतु अपने समय की दृष्टि से वह अच्छी पढ़ी-लिखी थीं। रूसी भाषा के साथ (जिसे वह उस समय की प्रथा के विरुद्ध भी शुद्ध लिख सकती थीं) वह फ्रेंच, जर्मन, अंग्रेजी और इटालियन चार भाषाएँ जानती थीं और ललितकलाओं के लिए भी उनके हृदय में अवश्य प्रेम रहा होगा। वह पियानो बहुत अच्छी तरह बजाती थीं और उन्हीं के समान अवस्थावाली स्त्रियों ने मुझे बताया है कि वह बड़ी रोचक कहानियाँ सुनाया करती थीं। वह कहानियाँ गढ़ती जाती थीं और सुनाती जाती थीं। उनके नौकरों के कथनानुसार यद्यपि उन्हें जल्दी गुस्सा आ जाता था, लेकिन उनका सबसे बड़ा गुण यही था कि उनमें आत्म-संयम बहुत था। गुस्से से उनका चेहरा तमतमा उठता था और वह चीखने-चिल्लाने भी लगती थीं—उनकी नौकरानी का कहना है—परंतु उन्होंने कभी अपशब्द मुँह से नहीं निकाला; वह कोई अपशब्द या गाली जानती ही न थीं।

मेरे पिताजी और मेरी बुआओं को उन्होंने जो पत्र लिखे थे, उनमें से कुछ पत्र और मेरे सबसे बड़े भाई निकोलेन्का के आचार-विचार की जो डायरी रखती थीं,

वह मेरे पास है। जिस समय उनकी मृत्यु हुई, मेरे बड़े भाई की आयु 6 वर्ष थी। मैं समझता हूँ कि शकल-सूरत में हमसे सबकी अपेक्षा वह माता जी से अधिक मिलते-जुलते थे। उन दोनों का एक गुण मुझे बहुत प्रिय है। कम-से-कम माता जी के पत्रों से तो यही झलकता है कि उनमें यह गुण था और मुझे मालूम है कि यह गुण मेरे भाइयों में तो था ही। दोनों में यह गुण था कि दूसरे उनके प्रति क्या विचार रखते हैं, इसकी ओर से वे उदासीन रहते थे। उनमें लज्जा और संकोच तो इतना अधिक था कि वे अपनी मानसिक और नैतिक श्रेष्ठता तथा उच्च शिक्षा भी दूसरों से छिपाने की कोशिश करते थे। वे गुणों पर लज्जित होते से प्रतीत होते थे।

मेरे भाई के लिए तुर्गनेव ने ठीक ही लिखा है कि वह उन दोषों से परे थे, जो एक बड़ा लेखक होने के लिए जरूरी है। मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि अंतिम गुण उनमें स्पष्ट रूप में था।

मुझे याद है कि किस प्रकार एक बेवकूफ और नीच आदमी ने, जो गवर्नर का सहायक था, और जो मेरे भाई के साथ शिकार खेल रहा था, मेरे सामने ही मेरे भाई की खिल्ली उड़ाई और किस प्रकार मेरे भाई ने मेरी ओर देखकर मुस्करा दिया। उसके खिल्ली उड़ाने में भी उन्हें आनंद मिला था।

माताजी के पत्रों में भी मैंने यही गुण पाया है। शायद टाटियाना एलेक्जेण्ड्रोवना एर्गोल्सकी को छोड़कर, जिनके साथ मैंने अपना आधा जीवन बिताया और जो वास्तव में अद्‌भुत नैतिक गुणवाली महिला थीं, मेरी माता निश्चय ही मेरे पिता और उनके परिवारवालों में सबसे अधिक नैतिक गुणवाली थीं।

इसके अलावा दोनों में एक खास गुण और था, और वही दूसरे लोगों द्वारा अपनी निंदा के प्रति उनकी उदासीनता का कारण था। वह गुण था कि वे कभी दूसरों के दोष नहीं देते थे। कम-से-कम मेरे भाई में तो जिनके साथ मैंने आधा जीवन व्यतीत किया, यह गुण अवश्य था। किसी व्यक्ति के प्रति अपनी उदासीनता वह बहुत हल्की और मीठी चुटकी (व्यंग्य) तथा हल्की और मीठी मुस्कराहट द्वारा व्यक्त कर देते थे। यही बात मैंने माता जी के पत्रों में पाई है और उन लोगों के मुँह से भी सुनी है, जो उन्हें जानते थे।

मेरी माता में एक तीसरा गुण, जो उन्हें उनके आस-पास रहनेवाले लोगों से ऊपर उठाता है, उनके पत्रों में प्रकट उनकी सादगी और सच्चाई थी। उन दिनों बहुत बना-चुनाकर हृदय के भाव प्रकट करने का रिवाज-सा हो गया था। अपने परिचितों में अनेक संबोधन चल पड़े थे और उनमें जितनी ज्यादा अतिशयोक्ति होती थी, उतनी कम सच्चाई होती थी।

यह गुण तो मेरे पिता के पत्रों में भी पाया जाता है; लेकिन बहुत अधिक मात्रा में नहीं। वह लिखते थे, ''मेरी परम मधुर संगिनी! मैं हर समय तुम्हारे साथ रहने के

आनंद का ही स्वप्न देखता रहता हूँ।'' इसमें मुश्किल से ही कुछ सच्चाई है। परंतु मेरी माता सदा एक ही प्रकार से, ''मेरे अच्छे मित्र!'' लिखती थी। एक पत्र में तो वह साफ लिखती हैं, ''आपके बिना दिन पहाड़ के समान लगते हैं यद्यपि यदि सच-सच लिखूँ तो जब आप यहाँ होते तो हमें आपके साथ रहने से बहुत आनंद नहीं मिलता।'' पत्र के अंत में यह हस्ताक्षर भी उसी प्रकार किया करती थीं, ''आपकी उपासिका मेरी।''

माताजी का बाल्यकाल कुछ तो मास्को में और कुछ मेरे सुयोग्य, गुणी और गर्वीले नाना के साथ गाँव में बीता। मुझे बताया गया है कि वह मुझे बहुत चाहती थीं और मुझे 'मेरे प्यारे बेंजामिन' कहकर बुलाया करती थीं।

मैं समझता हूँ कि उस व्यक्ति के प्रति जिनके साथ उनकी सगाई हुई थी और जो बाद में मर गया था, उनका प्रेम वैसा ही रहा होगा, जैसा कि एक लड़की अपने जीवन में केवल एक बार ही अनुभव करती है। पिताजी के साथ माताजी की शादी उनके और पिताजी के संबंधियों ने ही तय की थी। मेरी माता धनी थी, यौवन का प्रथम चरण पार कर चुकी थीं और अनाथ हो चुकी थीं। पिताजी हँसमुख और ऊँचे कुल के युवक थे; परंतु उनकी सारी संपत्ति उनके पिता इल्या टॉल्सटॉय ने पूरी तरह नष्ट कर दी थी। उसको उन्होंने इस तरह चौपट कर दिया था कि पिताजी ने बाद में उसे लेने से भी इनकार कर दिया। मैं समझता हूँ कि माताजी का मेरे पिताजी पर गूढ़ प्रेम नहीं था, वह उनसे पति के नाते तथा अपने बच्चों के पिता के नाते प्रेम करती थीं। जहाँ तक मुझे मालूम है वह तीन-चार व्यक्तियों से ही प्रेम करती थीं। गोलिटसिन के मृत पुत्र से, जिनके साथ उनकी सगाई हुई थी, उनका विशेष प्रेम था। फिर उनकी विशेष मित्रता अपनी फ्रांसीसी सहेली श्रीमती हेनीशीन के साथ थी, जिनके संबंध में मैं अपनी चाचियों के मुँह से सुना करता था। वह मित्रता, मालूम पड़ता है, बाद में टूट गई। श्रीमती हेनीशीन ने मेरी माता के एक संबंधी राजकुमार माइकेल एलेक्जेण्ड्रोविच वोल्कान्सकी से विवाह कर लिया था, जो वर्तमान लेखक वोल्कान्सकी के पिता थे।

तीसरे मेरे बड़े भाई कोको (निकोलस) पर उनका सबसे अधिक प्रेम था। वह सबेरे से शाम तक जो कुछ करते, उसे एक डायरी में रूसी भाषा में लिखती जाती और फिर उन्हें पढ़कर सुनाती थी। इस डायरी से दो बातें साफ झलकती हैं। एक तो उन्हें अपने पुत्र को अच्छी-से अच्छी शिक्षा देने की भारी उत्कंठा थी; परंतु वह स्वयं यह नहीं जानती थीं कि अच्छी-से-अच्छी शिक्षा कैसी होनी चाहिए। वह उन्हें, उदाहरणार्थ, बहुत भावुक होने और जानवरों को पीड़ा होते देख चिल्लाने लगने पर झिड़कतीं, क्योंकि उनका विचार था कि एक मनुष्य को दृढ़ होना चाहिए—कमजोर हृदय का नहीं। भाई साहब का दूसरा दोष, जो वह दूर करना चाहती थीं, उनकी लापरवाही थी।

अपनी बुआओं से जो बात मुझे मालूम हुई और जिसे मैं भी समझता हूँ कि

ठीक ही होगी वह यह है कि मेरे प्रति भी प्रेम रखती थीं। इस प्रेम ने धीरे-धीरे कोको (मेरे बड़े भाई निकोलस) का स्थान ले लिया, जो मेरे जन्म के बाद उनसे दूर हटते गए और पुरुषों के हाथ में सौंप दिए गए। उन्हें तो किसी एक को प्रेम करना ही था; इसलिए एक के स्थान में दूसरा आ गया।

माता जी का यही प्रेमपूर्ण चित्र मेरे हृदय-पटल पर अंकित है। वह मुझे इतनी विशुद्ध और महान मालूम पड़ती थीं कि अपने जीवन के मध्यकाल में जब मैं चारों ओर प्रलोभनों से घिरा हुआ संघर्ष कर रहा था, मैंने अनेक बार उनकी आत्मा से अपनी सहायता की प्रार्थना की और उस प्रार्थना ने मेरी बड़ी मदद की।

माताजी के पत्रों और उनके संबंध में दूसरों के मुँह से सुनी हुई बातों के आधार पर मैं यह कह सकता हूँ कि हमारे पिताजी के परिवार में उनका जीवन सुखी और आनंदमय था।

परिवार के लोगों में मेरी दादी थीं, मेरी बुआएँ थीं—काउटेंस अलेक्जेन्ड्राइलीनिशना ओस्टेन-सेकेन भी मेरी बुआ थीं और प्राशेनका को उन्होंने पाला था। एक दूर के रिश्ते की जिन्हें हम 'बुआ' पुकारते थे, टाटिआना अलेक्जेन्ड्रावना ऐरगोलस्की थी। वह मेरे दादा के घर में पली थी और जीवन भर मेरे पिता के घर रहीं।

मेरे शिक्षक फेडोक इवानोविच रेसेल थे, जिनका ठीक-ठीक वर्णन मैंने बचपन में किया है। इसके अलावा हम पाँच बहन-भाई थे। निकोलस, सर्जी, मिट्रा, मैं और मेरी बहन माशेंका (मारया) जिसकी पैदाइश के वक्त माता जी की मृत्यु हो गई थी। माता जी का 9 वर्षों का छोटा वैवाहिक जीवन बहुत सुखी और संतोषपूर्ण था। परिवार के सभी लोगों से वह स्नेह करती थीं और स्वयं सबके स्नेह की पात्र थीं। उनके पत्रों से मालूम होता है कि उस समय उनका जीवन समाज से विलग रहते हुए बीत रहा था। हमारे निकट परिचितों ओगरेव परिवारवालों और उन संबंधियों के सिवाय, जो घूमते-घामते उधर आ निकलते थे और कोई यास्नाया पोल्याना में नहीं आता था।

मेरी माता का समय अपने बच्चों की देख-रेख में, घर का प्रबंध करने में, घूमने में, शाम को मेरी दादो की उपन्यास सुनाने में, रूसो की 'एमाइल' जैसी गंभीर पुस्तकें पढ़ने में, जो पढ़ा हो उस पर वाद-विवाद करने में, पियानो बजाने में और मेरी एक बुआ को इटालियन भाषा सिखाने में जाता था।

प्रायः सभी परिवारों में ऐसे समय आते हैं, जबकि सब लोग आनंद से रहते हैं और बीमारी या मृत्यु से पाला नहीं पड़ता। मैं समझता हूँ कि मेरे माता की मृत्यु तक हमारे परिवार में भी ऐसा ही समय रहा। न तो किसी की मृत्यु ही हुई, न कोई सख्त बीमार ही पड़ा और मेरे पिताजी की बिगड़ी हुई आर्थिक अवस्था में बहुत कुछ सुधर गई। हर एक आदमी स्वस्थ, प्रसन्न और मित्र-भाव से रहता था। मेरे पिता हम

सबका कहानियों और चुटकलों से मनोरंजन किया करते थे। परंतु जब मैंने होश सँभाला, वे अच्छे दिन बीत चुके थे, माताजी की मृत्यु हो चुकी थी और उनके शोक की गहरी छाप हमारे परिवार पर लग चुकी थी।

मैंने ऊपर जो कुछ भी लिखा है, वह सुनी-सुनाई बातों और चिट्ठी-पत्रियों के आधार पर लिखा है। अब मैं लिखूँगा कि उस समय के मेरे अनुभव क्या हैं और मुझे क्या-क्या बातें याद हैं। मैं अपने बचपन की बातें नहीं लिखूँगा, जिनकी केवल धुँधली-सी स्मृति है और मैं नहीं कह सकती कि उनमें क्या तो वास्तविक है और क्या काल्पनिक; बल्कि मैं उस जगह से लिखना शुरू करूँगा, जहाँ से सब बातों, उन स्थानों और उन आदमियों की जो बचपन से ही मेरे आस-पास रहते आ रहे थे, साफ-साफ याद है। उन आदमियों में स्वभावतः पहला स्थान मेरे पिता का है। इसलिए नहीं कि उनकी मुझ पर कुछ छाप पड़ी है बल्कि इसलिए कि उनके प्रति मेरी आदर-भावना बहुत ज्यादा रही है।

अपने बचपन ही में वह अपने पिताजी के इकलौते लड़के रह गए थे। उनके छोटे भाई एलेंका रीढ की हड्डी टूट जाने से कुबड़े हो गए थे और बाल्यावस्था में ही मर गए। सन् 1812[1] में मेरे पिता की आयु केवल 17 वर्ष की थी। माता-पिता के बहुत झिड़कने, मना करने, डराने और विरोध करने पर भी वे फौज में भर्ती हो गए। उस समय मेरी दादी के (जो स्वयं गौशकोव कुल की राजकुमारी थीं) एक निकट संबंधी राजकुमार एलेक्से इवानोविच गोशकोव युद्ध-मंत्री थे। उनके भाई ऐंड्रू इवानोविच युद्ध के लिए भेजी गई सेना के एक भाग का संचालन कर रहे थे। मेरे पिता इन्हीं के जेट (सहायक) नियुक्त हुए। उन्होंने 1813—14 और 1814 के युद्धों में भाग लिया। उन्हें खरीते देकर फ्रांस में किसी जगह भेजा गया। वहाँ वह कैद कर लिए गए और तभी छूटे जब हमारी सेनाओं ने पेरिस में प्रवेश किया।

बीस वर्ष की आयु में मेरे पिता अनजान बच्चे नहीं रह गए थे, क्योंकि 16 वर्ष की अवस्था में, सेना में भर्ती होने से पहले, उनके माता-पिता ने उनका संबंध एक दास-कन्या से करा दिया था। उस समय ऐसे संबंध युवकों के स्वास्थ्य के लिए वांछनीय समझे जाते थे। उनसे उन्हें एक पुत्र मिशेका हुआ, जो कोचवान बनाया गया। जब तक मेरे पिता जीवित रहे, मिशेका की हालत ठीक रही, परंतु बाद में उसने अपने को चौपट कर लिया, और जब हम भाई बड़े हो गए तब वह बहुधा हमारे पास भीख माँगने आया करता। मुझे अच्छी तरह याद है कि हम लोग उस समय विमूढ़ हो जाते थे, जब मेरा यह भाई, जो हमारे पिता से शक्ल-सूरत में हम

1. जब नेपोलियन ने रूस पर हमला किया। (अनु.)

सब भाइयों से अधिक मिलता-जुलता था, अपनी हालत खराब हो जाने के फलस्वरूप हमसे 10 या 15 रूबल, हम जो कुछ उसे दे सकते प्राप्त कर बड़ी कृतज्ञता दिखाता।

युद्ध समाप्त होने के बाद पिताजी ने, फौज की नौकरी से उकताकर, जैसा कि उनके पत्रों से झलकता है, वह नौकरी छोड़ दी और अपने कजान लौट आए, जहाँ कि मेरे दादा गवर्नर थे। दादा की हालत उस समय बिल्कुल खराब हो चुकी थी। कजान में मेरी बुआ पेलागेया इलीनिश्ना भी, जिनका विवाह युश्कोव के साथ हुआ था, रहती थीं। थोड़े दिन बाद मेरे दादा मर गए और मेरे पिता के कंधों पर एक ऐसी जागीर का, जिस पर उसके मूल्य से कहीं अधिक कर्जा था, बूढ़ी दादी का, जो विलासी जीवन बिताने की आदी थीं तथा बुआ का व एक और संबंधी का भार आ पड़ा। माता जी के साथ उनका विवाह भी उस समय तय हुआ था। वह कजान से यास्नाया पोल्याना आ गए, जहाँ 9 वर्ष बाद वह विधुर हो गए।

हाँ, तो मैं अपने पिता के जीवन-चित्र पर ही फिर आता हूँ। वह मझोले कद व गठीले बदन के चुस्त आदमी थे। उनका चेहरा बड़ा प्रसन्न दिखाई पड़ता था; परंतु उनकी आँखें उदास रहती थीं। उनका मुख्य धंधा खेती और मुकदमेबाजी, विशेषत: मुकदमेबाजी था। वैसे तो उस जमाने में हरेक को ही मुकदमेबाजी करनी पड़ती थी; लेकिन मेरे दादा के झगड़ों को सुलझाने के लिए पिताजी को खासतौर से बहुत मुकदमे लड़ने पड़ते थे। इन मुकदमों के कारण उन्हें अक्सर घर छोड़कर जाना पड़ता था। इसके अलावा वह बहुधा शिकार खेलने के लिए बाहर जाया करते थे। शिकार के समय उनके साथियों में उनके मित्र एक मालदार और अविवाहित सज्जन किरिवस्की, ग्लेबोव और इस्लेनेव रहते थे। अन्य जागीरदारों के समान मेरे पिताजी के घर के दासों में कुछ ऐसे थे जो उनके कृपा-पात्र थे। पेट्रूश्का और मत्यूशा, दोनों भाई उनके विशेष कृपा-पात्र थे। वे दोनों सुंदर, कार्य-पटु तथा होशियार शिकारी थे। मेरे पिताजी जब घर रहते थे तो खेती का काम और बच्चों को देखते-भालते तो थे ही, पढ़ते भी बहुत थे। उनका अपना पुस्तकालय था जिसमें फ्रांस का उच्चकोटि का साहित्य, ऐतिहासिक ग्रंथ, प्राकृतिक इतिहास की पुस्तकें—बफन और क्यूबियर के ग्रंथ थे। मेरी बुआ कहा करती थीं कि मेरे पिताजी का यह नियम था कि पुरानी किताबें पढ़े बिना नई किताब नहीं खरीदते थे। यद्यपि उन्होंने बहुत-कुछ पढ़ा, तथापि यह मानना कठिन है कि उन्होंने 'क्रूसेड के इतिहास' और 'पोप' नामक ग्रंथ, जो उन्होंने अपने पुस्तकालय के लिए प्राप्त कर रखे थे, सारे-के-सारे पढ़ लिए होंगे।

जहाँ तक मैं समझता हूँ, उन्हें विज्ञान से अधिक प्रेम नहीं था, परंतु उनकी जानकारी अपने समय के साधारण आदमियों के ज्ञान के बराबर थी। ऐलेक्जेंडर प्रथम के राज्यकाल के शुरू के समय तथा 1813—1814 और 1815 के युद्धकाल के

समय के बहुत से आदमियों के समान उन्हें भी उदार दल का तो नहीं कहा जा सकता; परंतु आत्म-सम्मान की भावना के कारण ही उनके लिए एलेक्जेंडर के प्रतिक्रियावादी राज्यकाल में या निकोलस के अधीन काम करना संभव नहीं हो सका था। वह अकेले ही नहीं बल्कि उनके सभी मित्र इसी प्रकार सरकारी नौकरियों से अलग रहे थे और निकोलस प्रथम के राज्यकाल में एक तरह से विद्रोही थे।

मेरे बाल्य-काल और यौवन-काल तक हमारे परिवार का न तो किसी सरकारी अफसर से परिचय था; न किसी प्रकार का निकट संपर्क ही था। अपने बचपन में तो मैं इनका महत्त्व ही न समझ सका। उस समय तो मैं इतना ही जानता था कि पिताजी ने कभी किसी के सामने सिर नहीं झुकाया उनकी वाणी मधुर, नम्र और बहुधा व्यंग्य और कटाक्षभरी होती थी। उनमें आत्म-गौरव की यह भावना देखकर ही मेरा उनके प्रति प्रेम बढ़ गया और देखकर मुझे अधिक प्रसन्नता होने लगी।

उनके पढ़ने-लिखने के कमरे में, मुझे खूब याद है, हम लोग रात को सोते समय उन्हें प्रणाम करने अथवा कभी-कभी सिर्फ खेलने जाते थे। वह कमरे में चमड़े के सोफे पर बैठे हुए तमाखू पीते होते थे। हमारे जाने पर वह हमारी पीठ ठोंकते और कभी-कभी जब वह थके होते या दरवाजे पर खड़े अपने क्लर्क से या हमारे धर्म-गुरु याजीकोव से (जो अधिकतर हमारे यहाँ रहते थे) बातचीत करते, तो हमें अपने सोफे की पीठ पर चढ़ लेने देते। उस समय हमें बड़ा आनंद आता था। मुझे यह भी याद है कि किस प्रकार वह नीचे आते और हमें तस्वीरें बनाकर देते जो हमें सर्वोत्तम मालूम होती थीं। मुझे यह भी याद है कि किस प्रकार एक बार उन्होंने मुझसे पुश्किन की कविताएँ पढ़वाकर सुनीं, जो मुझे बहुत अच्छी लगी थीं और मैंने उन्हें कंठस्थ कर लिया था। वे कविताएँ, 'समुद्र ओर' ओ मुक्त तत्त्व जाओ-जाओ!' और 'नेपोलियन से' आदि-आदि थीं। मैं जिस हृदयस्पर्शी और मार्मिक ढंग में इन कविताओं को पढ़ा करता था, वह उन्हें बहुत ही अच्छा लगता था। मुझसे ये कविताएँ सुनने के बाद वह याजीकोवकी और, जो वहाँ बैठे थे, मर्म-भरी दृष्टि से देखने लगे। मैं समझ गया कि ये मेरे कविता पढ़ने के ढंग को अच्छा समझते हैं, अत: मैं इस पर बड़ा खुश हुआ था।

मुझे याद है कि दोपहर के व रात के भोज के समय वह बहुत-सी व्यंग्य और विनोद-भरी बातें और कहानियाँ सुनाते थे; और हमारे दादी, हमारी बुआएँ और सब बच्चे उन्हें-सुनकर बहुत हँसते थे। मुझे उनके नगर की यात्राएँ याद हैं। जब वह अपना फ्रांक-कोट और तंग मोहड़ी का पजामा पहनते तो सुंदर लगते थे। मुझे सबसे अधिक याद उनके शिकार की व कुत्तों की है। शिकार के लिए उनका जाना मुझे खूब याद है। उनके साथ घूमने जाना और उनके शिकारी कुत्तों का उन लंबी-लंबी घास से, जो कभी उनके पेट में चुभ जाती और कभी बदन पर लगती, उत्तेजित हो

उठना और पूँछ खड़ी करके चारों ओर भागना और मेरे पिताजी की तारीफ करना, ये बातें भी मुझे याद हैं। मुझे याद है कि किस प्रकार पहली सितंबर को शिकार की छुट्टी के दिन हम सब गाड़ी में बैठकर एक जंगल में गए जहाँ एक लोमड़ी लाई गई थी, किस प्रकार शिकारी कुत्तों ने उसका पीछा किया और किस प्रकार उन्होंने उसे किसी स्थान पर, जहाँ हम उन्हें देख नहीं सके, पकड़ लिया। मुझे एक भेड़िया अपने घर के पास लाए जाने और हम सब बच्चों के नंगे पैर उसे देखने जाने की भी अच्छी तरह याद है। वह भूरे रंग का विशाल भेड़ियाँ एक गाड़ी में पैर बाँधकर बंद करके लाया गया था। वह गाड़ी में चुपचाप लेटा था लेकिन जो भी कोई उसके पास जाता उसकी ओर वह तरेरकर देखता था। बाग के पीछे एक जगह भेड़िया गाड़ी से उतारा गया। कुछ लोगों ने बड़ी-बड़ी लकड़ियों की कमानी (टिकटी) से उसे जमीन पर दबाए रखा और अन्य लोगों ने उसके पैर की रस्सी खोलनी शुरू की। वह रस्सी के झगड़ने, उसे झंझोरने और दाँतों से काटने लगा। आखिर लोगों ने पीछे से रस्सी खोल दी और उनमें से एक चिल्लाया, 'उसे छोड़ दो।' कमानियाँ उठा दी गईं और भेड़ियाँ भी उठ बैठा। वह लगभग दस सेकेंड तक चुपचाप खड़ा रहा; परंतु लोग चिल्लाने लगे और शिकारी कुत्तों को भी खोल दिया गया। बस फिर क्या था, भेड़िया, कुत्ते, घुड़सवार, शिकारी सब सामने का मैदान पार करके पहाड़ के नीचे तराई की ओर दौड़ पड़े। भेड़िया भाग गया। मुझे याद है कि इस पर पिताजी घर जाकर नाराज हुए थे।

पिताजी मुझे उस समय सबसे अच्छे लगते थे जब वह सोफे पर दादी के साथ बैठे होते थे और पेशेंस[1] खेलने के लिए ताश के पत्ते फैलाने में उनकी सहायता करते थे। वह हर एक आदमी के प्रति नम्र और मृदुभाषी थे; लेकिन मेरी दादी के प्रति तो खास तौर से विनम्र थे। मेरी दादी अपनी लंबी ठोडी झुकाए और सिर पर एक झालदार टेढ़ी टोपी लगाए, सोफे पर बैठी रहतीं और ताश के पत्ते खोल-खोलकर सामने रखती जाती थीं। बीच-बीच में वह अपनी सोने की सुँघनी चुटकी भर-भरकर सूँघती जाती थीं।

पिताजी दादी के साथ सोफे पर बैठकर उन्हें पेशेंस खेलने में मदद देने की स्मृति सबसे मधुर है। एक बार, मुझे याद है, पेशेंस खेल के दरमियान, जबकि मेरी बुआ जोर-जोर से पढ़ रही थी, उनमें से एक ने बीच में रोका और एक आईने की तरफ इशारा किया और धीरे से कुछ कहा। हम सब उधर देखने लगे। बात यह थी कि एक नौकर टीखोन यह समझकर कि मेरे पिता दीवानखाने में होंगे, पढ़ने के कमरे में रखे हुए तमाखू के बड़े थैले में से तमाखू चुराने जा रहा था। पिताजी ने

1. *पेशेंस ताश का खेल है जिसे एक आदमी अकेला ही खेलता है।*

आईने में देखा कि वह पंजे के बल-चुपके-चुपके जा रहा था। बुआएँ हँसने लगीं, दादी बड़ी देर तक न समझ सकीं, पर जब समझ गईं तो वे भी मुस्करा दीं। मैं अपने पिता से बहुत मुहब्बत रखता था; लेकिन वह मुहब्बत कितनी गहरी थी, यह तभी मालूम हुआ, जब वह मर गए।

सोफे के पास एक आरामकुर्सी पर खुदाई के काम की बंदूक बनानेवाली पेट्रोव्ना कारतूसों का पट्टा और एक तंग और छोटी-सी जाकेट पहने बैठी रहती। अक्सर वह कातती रहती और रील को दीवार पर दे मारती, जिसकी चोट से दीवार पर निशान पड़ गए थे। यह पेट्रोव्ना एक व्यापारी स्त्री थी जिसे मेरी दादी बहुत चाहती थीं। वह अक्सर हम लोगों के यहाँ रहती थी और दादी के सोफे के पास ही बैठा करती थीं। मेरी बुआएँ आरामकुर्सी पर बैठी रहतीं और उनमें से एक जोर-जोर से पढ़ती रहती थी। एक आरामकुर्सी पर पिताजी की प्यारी कुत्ती मिल्का ने अपनी जगह बना रखी थी, उसकी काली-काली सुंदर आँखें थीं और चितकबरा रंग था। हम लोग प्रणाम करने के लिए रात में उस कमरे में जाते थे और कुछ देर के लिए वहाँ ठहर जाते थे।

बचपन में टब में नहाने और कपड़े में बाँधकर[1] डाल दिए जान के ये मेरे संस्मरण सबसे पहले के हैं। मैं उन्हें एक क्रम से तो नहीं लिख सकता, क्योंकि मुझे मालूम नहीं कि उनमें कौन-सा पहला और कौन-सा दूसरा है। उनमें से कुछ के विषय में तो मुझे यह भी नहीं मालूम कि वे बातें स्वप्न में हुईं या जाग्रत अवस्था में। मैं लिपटा-लिपटाया पड़ा रहता; अपने हाथ फैलाने का प्रयत्न करता; परंतु फैला ही नहीं सकता था। मैं रोता और चिल्लाता। वह रोना-चिल्लाना मुझे स्वयं अच्छा नहीं लगता था, परंतु मैं चुप भी नहीं रह सकता था। उस समय कोई—मुझे याद नहीं कौन—आता और मेरे ऊपर झुकता। यह सब बातें कुछ-कुछ अँधेरे में होती थीं। मुझे मालूम था कि दो ही आदमी हैं। मेरे रोने-चिल्लाने से वे भी विचलित होते; परंतु जैसा कि मैं चाहता था, मुझे खोलते नहीं थे। अतः मैं जोर-जोर से चिल्लाता। वे तो यह समझते थे कि इस प्रकार मुझे बाँधे रखना आवश्यक है; परंतु मैं इसे बिल्कुल अनावश्यक समझता था और यही बात उन्हें सिद्ध करके दिखाना चाहता था। अतः मैं जोर-जोर से रोने और चिल्लाने लगता था। यह चिल्लाहट स्वयं मुझे अप्रिय थी, परंतु मैं इसे रोक नहीं सकता था। मैं इस अन्याय और अत्याचार का—मनुष्यों का नहीं, क्योंकि वे तो मुझ पर तरस खाते थे, वरन् भाग्य का अनुभव करता और अपने ऊपर रोता था। लेकिन यह सब क्या था, इसके संबंध में

1. *रूस में यह प्रथा थी कि छोटे-छोटे बालकों को कपड़े में इस प्रकार लपेट देते थे कि वह हिल-डुल न सकें और हाथ-पैर न चला सकें।*

न तो मैं जानता हूँ और न कभी भविष्य में जानने की संभावना ही है कि आया उस समय मुझे बाँधकर डाला जाता था जबकि दूध पीता बच्चा ही था (और मैं अपने हाथ छुड़ाने के लिए प्रयत्न करता रहता था) अथवा लोग मुझे उस समय भी बाँधकर डाल देते थे जबकि मैं एक साल का हो गया था ताकि मैं कोई फोड़ा-फुंसी न खुरच डालूँ; अथवा यह एक ही अनुभूति है और इस एक ही अनुभूति में अन्य बहुत से अनुभव भी आ मिले हैं; जैसा कि अधिकतर स्वप्नावस्था में होता है। लेकिन हाँ, यह तो निश्चित है कि यह मेरे जीवन की सबसे पहली और सबसे अच्छी स्मृति है। मेरे हृदय पर इसकी जो छाप है, वह रोने-चिल्लाने की स्मृति-मात्र ही नहीं है, अपितु उन अनुभूतियों के पेंचीदेपन और पारस्परिक विरोधिता की छाप है। मैं स्वतंत्रता चाहता हूँ, इससे किसी को नुकसान न पहुँचेगा; परंतु सारी बात तो यह है कि मैं, जिसे शक्ति प्राप्त करने की आवश्यकता है कमजोर हूँ, जबकि वे बलवान हैं।

दूसरी स्मृति भी बड़ी सुखद है। मैं एक टब में बैठा हुआ हूँ। मेरे चारों ओर किसी चीज की, जिससे वे मेरा छोटा-सा शरीर रगड़ रहे हैं, एक तरह की गंध फैल रही है जो अप्रिय नहीं है। मेरे विचार से वह गंध चोकर है, जो मुझे नहलाने के टब में डाल दी गई। उस चोकर की गंध व स्पर्श से जो सुंदर व अभूतपूर्व संवेदना उठी उसने मुझे जाग्रत कर दिया और पहली बार ही मुझे अपने शरीर का, जिसकी छाती पर पतली-पतली हड्डियाँ साफ दिखाई दे रही थीं, चिकनी लकड़ी के गहरे रंग के टब का, धाय माँ के खुले हाथों का, भाप उठते हुए और चक्कर खाते हुए गरम पानी का, छपछपाने की आवाज का, टब के गीले किनारों पर हाथ फेरने पर उसकी चिकनाई का भान और बोध हुआ और वे सब चीज़ें मुझे अच्छी लगने लगीं। यह सोचकर आश्चर्य और भय मालूम होता है कि जन्म से लेकर तीन साल की आयु तक, जब मैं स्तन-पान कराकर रखा जाता था और जब मेरा स्तन-पान करना छुड़ाया गया और जब पहले-पहल घुटनों के बल चलना, फिर खड़े होकर चलना और कुछ बोलना सीखा था, मुझे उन दो और बातों अर्थात् नहाने और कपड़े में बँधे रहने के अतिरिक्त बहुत दिमाग खरोचने पर भी कोई घटना याद नहीं आती। आखिर मैं इस संसार में कब आया? मेरा जीवन कब आरंभ हुआ? उस समय मैं जिस अवस्था में था, उसकी कल्पना इतनी सुखद क्यों है? क्यों यह सोचकर कि मृत्यु के समय भी ऐसी ही अवस्था हो जाएगी जब जीवन की किसी घटना की स्मृति नहीं रहेगी जिसे शब्दों द्वारा व्यक्त किया जा सके, हृदय थर्रा उठता है—एक समय यह सोचकर मेरा भी हृदय थर्रा उठता था और अब भी बहुत-से लोगों का थर्रा उठता है। क्या मैं उस समय जीवित नहीं था जबकि मैं देखना, सुनना, समझना, बोलना, स्तन-पान करना, हँसना और अपनी माता को प्रसन्न करना सीख रहा था। अवश्य मैं जीवित था और आनंद से रह रहा था। क्या उस समय मेरे पास वे सब

चीजें नहीं थीं, जिनसे अब मैं जीवित रह रहा हूँ? क्या मैंने उसी समय इतना कुछ, इतनी शीघ्रता से प्राप्त नहीं कर लिया कि उसका सौंवा भाग भी बाद के सारे जीवन में फिर प्राप्त नहीं हुआ। पाँच साल के बालक से इस आयु तक मानों मैं एक कदम चला हूँ, जन्म के समय से पाँच साल की आयु तक बड़ा लंबा रास्ता था, गर्भ में आने के समय से जन्म होने के बीच एक लंबी खाई थी, परंतु गर्भ में अपने की पूर्व स्थिति से गर्भ में आने का तक का समय एक लंबी खाई नहीं वरन् अगम्य और अचिंत्य हैं। तीन तत्त्व आकाश, काल, कारण व कार्य हमारी कल्पना के ही मूर्त्त-रूप है। हमारे जीवन का सार इन कल्पनाओं से परे नहीं है, अपितु हमारा सरा जीवन इन कल्पनाओं का अधिकाधिक दास होते जाना और फिर उनसे मुक्त होना ही है।

टब के बाद जो तीसरा अनुभव आता है वह ईरीमीवना का है। 'ईरीमीवना' वह हौवा था, जिससे लोग हम बच्चों को डराया करते थे। शायद वे बहुत समय से इस तरह डराते रहे होंगे, परंतु मुझे जो इसकी याद है, वह यों है : मैं अपने बिस्तरे पर पड़ा हूँ और रोज की तरह प्रसन्न हूँ। इसी समय मुझे पालने-पोसनेवालों में से कोई आता है और एक नई-आवाज बनाकर मेरे सामने कुछ कहकर चला जाता। मैं प्रसन्न होने के साथ-साथ डर भी जाता। मेरे साथ मेरे कमरे में मेरे-जैसा कोई और होता। संभवतः वह मेरी बहन मारया थी। उसका पालना भी मेरे ही कमरे में था। मुझे याद है कि मेरे पालने के पास एक परदा भी पड़ा हुआ था। मैं और मेरी बहन दोनों इस अद्भुत घटना पर, जो कि घटनेवाली है प्रसन्न भी होते और डरते भी। मैं तकिए में छिप जाता और उसके नीचे के दरवाजे की ओर देखता। दरवाजे में से कोई अद्भुत और प्रसन्नता देनेवाली वस्तु के आने की आशा रखता था। उसी वक्त कोई ऐसे कपड़े और टोपी पहने हुए आता जिसे पहले मैंने कभी न देखा था। मैं इतना तो अवश्य जान जाता कि यह व्यक्ति हमारा परिचित है (वह हमारी बुआ थी या धाय, यह मुझे याद नहीं) और वह किन्हीं बुरे बच्चों और ईरीमीवना के विषय में कर्कश स्वर में न जाने क्या कहता था! मैं सचमुच डर जाता और डर से और प्रसन्नता से किलकारियाँ मारता; परंतु फिर भी उस डर में मुझे आनंद आता और मैं यह नहीं चाहता कि मुझे डरानेवाला व्यक्ति यह समझ जाए कि मैंने उसे पहचान लिया है।

इसी ईरीमीवना से मिलता-जुलता एक और अनुभव है और चूँकि वह इस अनुभव से अधिक स्पष्ट है, अतः मैं समझता हूँ कि वह काफी बाद का है। उसका आशय मैं आज तक नहीं समझ सका हूँ। इस घटना से हमारे जर्मन शिक्षक थियोडोर इवानिच का प्रमुख भाग है। किंतु चूँकि उस समय तक मैं उनको नहीं सौंपा गया था इसलिए मैं समझता हूँ कि मेरी यह घटना मेरी पाँच साल की आयु के पहले की होगी। अपनी याद में थियोडोर इवानिच के संपर्क में आने का यह मेरा पहला अवसर था और

यह घटना भी इतने पहले हुई कि इसमें थियोडोर के अतिरिक्त अपने भाइयों या पिता की जरा भी याद नहीं। यदि इस संबंध में मुझे किसी का जरा भी खयाल है तो वह मेरी बहन का है और वह भी इसलिए कि वह मेरी ही तरह ईरीमीवना से डरती थी। इस घटना के साथ-साथ मुझे एक बात और याद है और वह यह कि हमारे मकान में एक ऊपर की मंजिल और थी। मैं उस मंजिल में कैसे पहुँचा, अपने-आप गया अथवा कोई दूसरा आदमी मुझे ले गया, यह तो मुझे याद नहीं; लेकिन यह मुझे अवश्य याद है कि हममें से बहुतों ने वहाँ पहुँचकर एक-दूसरे का हाथ पकड़कर घेरा डाल लिया। हमारे साथ कुछ स्त्रियाँ भी थीं, जिन्हें मैं नहीं जानता। परंतु, हाँ, किसी भी प्रकार मुझे यह मालूम हो गया कि वे धोबिनें थीं। हम सब गोल चक्कर में घूमते और कूदते। थियोडोर इवानिच बहुत ऊँचे-ऊँचे पैर उठाता और बड़ी आवाज से जमीन पर पटकता। मैंने उसी समय यह महसूस किया कि यह बात गलत और खेल को बिगाड़नेवाली है। मैं उसे देखता और (शायद) चिल्लाने लगता। बस उसी वक्त सारा खेल खत्म हो जाता।

बस पाँच साल तक मुझे इतना ही याद है। इसके अलावा मुझे अपनी धायों, बुआओं, बहनों, भाइयों, यहाँ तक कि पिताजी व अपने कमरों और अपने खिलौनों तक की भी याद नहीं। अपने बाल्य-जीवन की घटनाओं की अधिक स्पष्ट स्मृति तो उस समय से आरंभ होती है जबकि मैं नीचे की मंजिल थियोडोर इवानिच तथा बड़े-बड़े लड़कों के पास पुरुष-ग्रह में आ गया।

जबकि मैं नीचे थियोडारे इवानिच और बड़े लड़कों के पास आ गया उसी समय जीवन में पहली बार और इसलिए अधिक तीव्रता से मुझे उस भावना का और उन धार्मिक आचरणों का अनुभव हुआ, जिसे कर्तव्य की भावना कहते हैं और जिनका पालन हरेक को करना पड़ता है। जन्म से ही जिन चीजों और जिन आदतों का मैं आदी हो गया, उन्हें छोड़ना कठिन था। मैं स्वभावत: ही उदास रहने लगा, इसलिए नहीं कि मैं अपनी धाय से, बहन से और बुआ से अलग हो गया, बल्कि यह उदासी इसलिए थी कि मैं अपने पालने, अपने परदे और अपने तकिए से बिछुड़ गया था। यही नहीं, मैं अपने उस नए जीवन से, जिसमें कि मैं प्रवेश कर रहा था, कुछ डरने-सा लगा। मैं उस भावी जीवन के अच्छे अंश को ही देखने और थियोडोर के लाड़ और दुलार-भरे शब्दों में विश्वास करने की कोशिश करता था। मैंने उस अपमान और घृणा के भाव की ओर से आँखें मूँद लीं जो मुझे सबसे छोटे लड़के के प्रति दूसरे लड़के दिखाते थे। मैं इस बात को अपने मन में बिठाने की कोशिश करने लगा कि एक बड़े लड़के का लड़कियों के साथ रहना शर्म की बात है और यह भी कि धाय आदि के साथ ऊपर की मंजिल में (अर्थात् रनवास में) जीवन व्यतीत करना अच्छा नहीं है। परंतु फिर भी मेरा मन सदा उदास रहता था और मैं जानता था कि मेरा भोलापन और आनंद इस बुरी तरह नष्ट हो

रहा है और अब वह कभी प्राप्त न होगा। बस, आत्माभिमान और आत्म-गौरव तथा कर्तव्य-पालन की भावना ही ऐसी थी जिसने मुझे रोक रखा। इसी तरह भावी जीवन में कोई नया काम आरंभ करते समय किसी दुविधा में या धर्म-संकट में पड़ जाने पर मैं इन्हीं दो भावनाओं से किसी निश्चय पर पहुँचता था। मुझे उस हानि पर, जिसकी मैं पूर्ति नहीं कर सकता था, बड़ा दु:ख होता था। यद्यपि मुझसे यह कहा गया था कि अब मुझे लड़कों के साथ रखा जाना चाहिए; परंतु इस पर भी मैं तो यह कभी विश्वास ही नहीं कर सका कि ऐसा कभी होगा। जो गाउन मुझे पहनाया जाता था उसमें एक पेटी भी कमर में बाँधने के लिए थी और मुझे ऐसा मालूम होता था मानो इस पेटी में सदा के लिए ऊपर की मंजिल—(जहाँ स्त्रियाँ रहती हैं अथवा यदि राजसी-भाषा में कहें तो रनवास)से मेरा संबंध तोड़ दिया है। इस वक्त जिन व्यक्तियों के साथ मैं रह चुका था, उनका खयाल तो मुझे याद आया नहीं, मगर वहाँ की एक मुख्य स्त्री का, जिसके बारे में इसके पहले की कोई बात मुझे याद नहीं है, खयाल आया। वह महिला थी टाशियाना एलेक्जेंड्रोवना एर्गॉल्सकी। मुझे उनका ठिगना और सुसंगठित शरीर, काले-काले केश, दयालु और नम्र स्वभाव अब भी याद है। उन्होंने ही वह गाउन मुझे पहनाया था और मुझे छाती से लगाकर चूमते हुए उन्होंने ही मेरी कमर में पेटी बाँधी थी। उस समय मैंने देखा कि वह भी मेरे जैसा अुनभव कर रही थी कि यह बड़े दु:ख का अवसर है। परंतु यह तो होता ही है। उसी समय जीवन में पहली बार मैंने जाना कि जीवन कोई खेल नहीं वरन् गंभीर वस्तु है।

माता-पिता के बाद मेरे जीवन पर जिनका बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा, वह टाशियाना ऐलेक्जेंड्रोवना ऐगॉल्सकी थी, जिन्हें हम बुआ कहा करते थे। वह मेरी दादी के पीहर के नाते से कोई बहुत दूर की रिश्तेदार थीं। अपने माता-पिता की मृत्यु के बाद वह और उनकी बहन लीसा अनाथ हो गईं। लीसा ने बाद में पीटर ईवानोविच टॉल्सटॉय से विवाह कर लिया था। उनके कुछ भाई थे, जिनके पालन-पोषण का प्रबंध उनके संबंधियों ने किसी प्रकार कर दिया था। दोनों लड़कियों की शिक्षा-दीक्षा का भार चर्न जिले में अपने क्षेत्रों में प्रसिद्ध, अभिमानी और प्रमुख महिला टाशियाना सीमोनोव्ना स्कूरेटोब और मेरी दादी ने ले लिया। उन्होंने पर्चियों पर लड़कियों के नाम लिखकर उन्हें मोड़कर देव-मूर्ति के सामने डाल दिया और उसकी प्रार्थना कर लाटरी उठाई। लीसा टाशियाना सीमीनोव्ना के हिस्से में आई और यह मेरी दादी के। हमारे घर में वे तेनिश्का पुकारी जाती थीं। दोनों का जन्म 1795 ई. में हुआ था। उनकी आयु मेरे पिता के बराबर थी। उन्हें मेरी बुआ के बराबर ही शिक्षा दी गई थी और घर में सब लोग उन्हें प्यार करते थे। कोई उनसे नाराज तो हो नहीं सकता था; क्योंकि वह दृढ़, उत्साही और

आत्म-त्याग करनेवाली, चरित्रवान महिला थीं। उनके चरित्र की दृढ़ता एक घटना से साफ झलकती है जो वह हमें अपने हाथों में हथेली के बराबर जले स्थान का दाग दिखाकर सुनाया करती थीं। वे सब बच्चे म्यूकियस स्केवोला की कहानी पढ़ रहे थे। उन्होंने आपस में कहा कि जैसा उसने किया वैसा कोई नहीं कर सकता। तेनिश्का ने कहा, "मैं वैसा कर दिखाऊँगी।" मेरे धर्म-पिता याजीकोव ने कहा, "तुम नहीं कर सकतीं।" और उन्होंने तुरंत एक रूल मोमबत्ती में गरम किया और जब वह पिघलने लगा और उनमें से धुँआ निकलने लगा तो उन्होंने कहा, "लो अब इसे अपने हाथ पर लगाओ।" तेनिश्का ने अपना खुला हाथ बढ़ा दिया (उस समय लड़कियाँ आधी बाँहों का कपड़ा ही पहनती थीं) और याजीकोव ने वह जलता हुआ रूल उनके हाथ पर दबा दिया। वह खीजीं तो, परंतु उन्होंने अपना हाथ पीछे न हटाया; और उस समय तक उफ़ न किया जब तक याजीकोव ने वह रूल हटा नहीं लिया। इस रूल के साथ ही उनके हाथ की चमड़ी भी उधड़ गई। जब घर के बड़े आदमियों ने पूछा कि यह कैसे जल गया तो उन्होंने कहा कि यह मैंने अपने हाथ से जला लिया है, क्योंकि मैं यह देखना चाहती थी कि म्यूकियस स्केवोलाको उस समय कैसा अनुभव हुआ होगा।

सभी बातों में वह ऐसी ही थीं। उनमें दृढ़ता थी, साथ ही आत्म-त्याग था। घने, काले और घुँघराले बालों की गुथी हुई लटों, काली-काली आँखों तथा प्रफुल्ल मुख-मंडल सहित वह बड़ी सुंदर और आकर्षक मालूम पड़ती रही होंगी।

मुझे उनकी तब की याद है, जब वह 40 वर्ष से ऊपर थीं और मेरे मन में कभी यह विचार भी नहीं उठा कि वह सुंदर हैं या नहीं। मैं उन्हें प्यार करता था, उनकी आँखों को, उनकी मुस्कराहट को, उनके छोटे-छोटे हाथों को प्यार करता था।

संभवत: वह मेरे पिता को प्यार करती थीं और मेरे पिता भी उनसे प्रेम करते थे; परंतु उन्होंने युवावस्था में उनसे विवाह नहीं किया। उन्होंने सोचा कि मेरी धनी माता से विवाह करने में उन्हें लाभ होगा। बाद में (अर्थात् मेरी माता की मृत्यु के बाद) उन्होंने इसलिए उनसे विवाह नहीं किया कि वह अपने और पिताजी के तथा हमारे बीच जो काव्यमय संबंध था, उसे बिगाड़ना नहीं चाहती थीं। एक सुंदर बस्ते में बँधे उनके कागजों में सन् 1836 की यानी मेरी माता की मृत्यु के 7 साल बाद की लिखी हुई निम्न पंक्तियाँ मिली हैं—

"16 अगस्त, 1836। निकोलस ने मेरे सामने आज एक विचित्र प्रस्ताव रखा, वह यह कि मैं उससे विवाह कर लूँ और उसके बच्चों की माता बन जाऊँ तथा उन्हें कभी न छोड़ूँ। मैंने पहला प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया; लेकिन दूसरे को जीवन रहते निबाहने का वायदा किया।"

इस प्रकार उन्होंने लिखा था; लेकिन उन्होंने इस बात का हमसे या किसी और से

भी कभी जिक्र नहीं किया। पिताजी की मृत्यु के बाद उन्होंने उनकी दूसरी बात पूरी की। हमारी दो बुआएँ और एक दादी थीं, जिनका हमारे ऊपर टाशियाना ऐलेक्जेंड्रोव्ना से अधिक अधिकार था। टाशियाना एलेक्जेंड्रोव्ना को बुआ कहने की हमारी आदत पड़ गई थी अन्यथा रिश्ते में तो वह हमसे इतनी दूर थीं कि मैं उस संबंध की याद भी नहीं कर सकता। परंतु अपने प्रेम के कारण ही (घायल हंस की कथा में बुद्ध के समान) हमारे पालन-पोषण में उनका सबसे अधिक हाथ रहा और हम इसे अनुभव करते थे।

मैं तो उनके प्रेम में उन्मत्त हो जाया करता था। मुझे याद है कि किस प्रकार एक बार जब मैं पाँच वर्ष का था, ड्राइंग रूम में सोफे के पीछे से हाथ डालकर उनसे लिपट गया और किस प्रकार दुलार और प्यार से उन्होंने मेरा हाथ पकड़ लिया। मैंने भी उनका हाथ पकड़ लिया और उसे चूमने लगा और प्रेमोन्मत्त होकर किलकारियाँ मारने लगा।

एक अमीर घराने की लड़की के समान ही उनकी शिक्षा-दीक्षा हुई थी। वह रूसी भाषा से फ्रांसीसी भाषा अच्छी लिख और बोल सकती थीं। पियानो भी बहुत सुंदर बजाती थीं; परंतु लगभग 30 साल से उन्होंने उसे छुआ तक नहीं था। जब मैं बड़ा हो गया और मैं भी पियानो बजाना सीखने लगा तो उन्होंने भी उसे बजाना शुरू किया। कभी-कभी जब हम दोनों मिलकर गाते तो वह अपने मधुर स्वर के ठीक उतार-चढ़ाव और ताल-सवर मिले हुए गाने से मुझे चकित कर देतीं।

अपने नौकरों के प्रति वह बड़ी दयालु थीं। उनसे कभी नाराज होकर नहीं बोलती थीं। उनको मारने और पीटने का तो विचार भी उन्हें सह्य नहीं था। फिर भी इतना मानती थीं कि दास तो आखिर दास ही हैं और उनके साथ मालकिन जैसा बर्ताव करती थीं। फिर भी वे लोग उन्हें औरों से भिन्न मानते थे और सब उन्हें प्यार करते थे। जब उनकी मृत्यु हुई और वह अंत्येष्टि-क्रिया के लिए गाँव में होकर ले जाई जा रही थीं, उस समय सारे-के-सारे किसान अपने घरों से निकल आए और उनके लिए प्रार्थना करवाई।[1] उनका एक विशेष गुण उनका प्रेम था; लेकिन वह प्रेम, मैं चाहता था कि ऐसा न होता तो अच्छा था, केवल एक ही आदमी अर्थात् पिताजी के प्रति था। उसी केंद्र से फैलकर उनका प्रेम सबको मिलता था। हम यह अनुभव करते थे कि वह हमें हमारे पिताजी के कारण ही प्रेम करती हैं। वह उनके द्वारा ही किसी और को प्रेम करती थीं, क्योंकि उनका सारा जीवन प्रेममय था।

यद्यपि हमारे प्रति अपने प्रेम के कारण उनका हमारे ऊपर अधिक अधिकार था;

1. *उस समय मृत व्यक्ति की आत्मा की शांति के लिए पदाधिकारियों को थोड़ी-सी दक्षिणा देकर प्रार्थना कराने की प्रथा तो थी; परंतु किसानों द्वारा किसी महिला के लिए, जो उनके गाँव की मालकिन भी न हो, ऐसी प्रार्थनाएँ कराना असाधारण बात थी।*

लेकिन फिर भी हमारी बुआओं का हमारे ऊपर उनसे अधिक कानूनी अधिकार था, और जब पेलागेया इलीनिच्ना हमें कजान ले जाने लगी तो वह उनका अधिकार मान गई। लेकिन इससे हमारे प्रति उनके प्रेम में तिल-मात्र भी अंतर नहीं आया। यद्यपि वह अपनी बहन काउंटेस ई० ए० टॉल्सटॉय के साथ रहती थीं, लेकिन वास्तव में उनका मन हमारे यहाँ रहता था। और यथासंभव जल्दी-से-जल्दी हमारे यहाँ लौट आती थी। वह अपने जीवन के अंतिम 20 दिनों में हमारे साथ यास्याना पोल्याना में रहीं और वह मेरे लिए बड़ी प्रसन्नता की बात थी। लेकिन हम अपनी प्रसन्नता का मूल्य आँकने में असमर्थ रहे थे; क्योंकि सच्ची प्रसन्नता तो मौन और अलक्षित होती है। मैं उसकी कदर अवश्य करता था; लेकिन वह पर्याप्त नहीं थी। उन्हें अपने कमरे में मर्तबानों में मिठाई, अंजीर, सोंठ पड़ी हुई मोटी रोटी और खजूर रखने का शौक था और वह विशेष रूप से मुझे ये चीजें दिखलाया करती थीं। मुझे यह बात कभी नहीं भूलती और स्मरण आने पर हृदय में पश्चात्ताप की एक तीखी चुभन होती है कि इन चीजों के लिए उनके रुपया माँगने पर मैंने हर बार इनकार ही कर दिया और वह सदा ठंडी साँस खींचकर चुप हो गईं। यह सच है कि मुझे स्वयं रुपयों की जरूरत थी; लेकिन अब तो मुझे जब कभी भी स्मरण होता है कि मैंने उन्हें रुपया देने से इनकार किया तो उस समय मैं सिहर उठता हूँ।

तब की बात है जब मेरा विवाह हो चुका था और वह भी कमजोर हो चली थीं। एक दिन हम सब उनके कमरे में जमा थे। मौका देखकर, पीछे को मुँह फेरकर (मैंने उस समय देखा कि वह रोने ही वाली हैं) उन्होंने कहा, "देखो मेरे प्यारे बच्चे, मेरा कमरा अच्छा है और शायद तुम्हें इसकी जरूरत पड़े।" और उनकी आवाज काँपने लगी, "अगर मेरी इसी कमरे में मृत्यु हुई तो मेरी स्मृति तुम्हें दुःख पहुँचाएगी; अतः मुझे और कोई कमरा दे दो ताकि इस कमरे में न मरूँ।" मेरे प्रति उनका बचपन से ही, जबकि मैंने उन्हें समझा भी नहीं था, तब से, ऐसा ही प्रेम था।

मैं ऊपर कह चुका हूँ कि टाशियाना ऐलेक्जेंड्रोव्ना का मेरे जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ा था। उन्होंने मुझे पहले-पहल, बचपन में प्रेम के आध्यात्मिक आनंद का पाठ पढ़ाया। यह शिक्षा उन्होंने पुस्तकों या उपदेशों द्वारा नहीं दी, बल्कि अपने संपूर्ण जीवन से उन्होंने मुझे प्रेम से लबालब भर दिया।

मैंने यह देखा और अनुभव किया कि उन्हें प्रेम करने में कितना आनंद आता है। मैं स्वयं धी प्रेम के उस आनंद को समझता था। दूसरी बात जो मैंने सीखी, वह शांत और स्थिर जीवन का आनंद था।

(अर्द्ध-विक्षिप्त साधुओं के संबंध में, जो एक तीर्थ-स्थान से दूसरे तीर्थ-स्थान में घूमा करते थे और रूस में जहाँ-तहाँ दिखाई पड़ते थे और उनमें से कुछ टॉल्सटॉय के घर भी जब-तब आया करते थे, वह लिखते हैं:)

ग्रीशा (जिसका 'बचपन' में उल्लेख है) एक काल्पनिक चरित्र था। इस तरह के 'नाना' साधु हमारे घर पर आते रहते थे। मैं उन्हें बड़े आदर की दृष्टि से देखना सीख गया था। उसके लिए मैं उन लोगों का आभारी हूँ जिन्होंने मुझे शिक्षा-दीक्षा दी। यद्यपि उनमें से कुछ ऐसे भी थे जो शुद्ध हृदय के नहीं थे और जिनके जीवन में किसी समय कमजोरियाँ थीं; परंतु उनके जीवन का लक्ष्य और उद्देश्य विवेक-शून्य होते हुए भी बहुत ऊँचा था और मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता है कि मैं बचपन से ही उनकी महानता पहचानने लगा। उनका आचरण एक प्रकार से मारकस ओरिलिअस के इस कथन की पूर्ति करता था कि "एक अच्छे जीवन के लिए घृणा सह लेने से बढ़कर संसार में दूसरी चीज नहीं है।" अच्छे कामों की दूसरों से प्रशंसा पाने का लोभ इतना हानिकार और अनिवार्य है कि हमें उन लोगों के साथ सहानुभूति दिखानी ही चाहिए, जो प्रशंसा से दूर रहने की अथवा कभी-कभी दूसरों के मन में घृणा करने की चेष्टा करते हैं। एसे ही साधुओं से मेरी बहन की धर्म-माता मेरिया जेरासीमोव्ना, अर्द्ध-मूढ़ एवडोकीमुश्का तथा अन्य थे, जो हमारे घर आया करते थे।

और हम बच्चे इन साधुओं के भजन सुनकर अपने मालिक के सहायक अकीम नामक मूर्ख आदमी के भजन सुना करते थे। उसके भजन मुझे चकित कर देते थे और हृदयस्पर्शी लगते थे। इन भजनों में वह ईश्वर को एक जीवित मनुष्य के समान संबोधन करता और हृदय में पक्के विश्वास और धारणा के साथ कहता, "तुम मुझे अच्छा करने चले हो, तुम मुझे मुक्ति दिलानेवाले हो।" उसके बाद वह कयामत के दिन के संबंध में भजन गाता कि किस प्रकार ईश्वर उस दिन न्याय और अन्याय को अलग करेगा और पापियों की आँखों में पीली रेत भर देगा।

मेरे भाइयों और बहनों के अतिरिक्त मेरी ही उम्र की एक लड़की ड्युनेश्का टेमीअशोव भी हमारे घर में तब रहती थी, जब मैं पाँच वर्ष का था। यह बताना जरूरी है कि वह कौन थी और किस प्रकार हमारे यहाँ आई। जब हम बच्चे थे तो उस समय हमारे घर पर हमारे फूफा यशकोव जब-तब आया करते थे। उनकी काली मूँछ, गलमुच्छा और चश्मा हम बच्चों को अचंभे में डाल देता था। दूसरे सज्जन मेरे धर्मपिता एस० आई० याजीकोव थे। उनके शरीर से हमेशा तमाखू की बदबू आया करती थी और मुँह पर लटकती हुई चमड़ी की वजह से उनकी सूरत भद्दी लगती थी। वह अजीब-अजीब तरह से तरह मुँह मोड़ा करते थे। इन दो सज्जनों तथा हमारे दो पड़ोसियों ओगरेव और इस्लेनेव के अतिरिक्त हमारी माता के (पीहर के रिश्ते के) एक और दूर के संबंधी आया करते थे। यह एक धनी अविवाहित सज्जन थे। उनका नाम टेमीअशोव था। वह पिताजी को भाई कहकर पुकारा करते और उनके प्रति अगाध प्रेम रखते थे। वह यास्नया

पोल्याना से 40 वर्स्ट[1] (लगभग 27 मील) की दूरी पर पीरोगोव नामक गाँव में रहते थे। एक बार वह वहाँ से सूअर के छोटे-छोटे दूध पीते बच्चे लाए, जिनकी पूछें गोल लिपटी हुई थीं। उन्हें नौकरों के कमरे में एक बड़ी रकाबी में रख दिया। मेरे मन में टेमीअशोव, पीरोगोव और सूअर के बच्चे तीनों का चित्र एक ही साथ जुड़ गया।

इसके अतिरिक्त टेमीअशोव हम बच्चों को इस कारण भी अच्छे लगते कि वह पियानो पर नाचने की एक गत (बस वह केवल वही एक गत बजा भी सकते थे) बजाते थे और हम सब बच्चों को उस पर नचाते थे। हम पूछते कि वह कौन-सा नाच है तो कहते इस गत पर सब तरह के नाच नाचे जा सकते हैं। हम लोग भी ऐसा मौका पाकर बड़े प्रसन्न होते थे।

एक दिन जाड़की की रात थी। हम चाय पी चुके थे और शीघ्र ही बिस्तरों पर ले जाए जानेवाले थे। मेरी आँखें नींद के मारे झंपी जा रही थीं। उस समय अचानक नौकरों के मकानों की ओर से बड़े दरवाजे से होकर एक आदमी ड्राइंग रूम में, जहाँ हम केवल दो मोमबत्तियों के धुँधले प्रकाश में बैठे हुए थे, हलके-हलके पैर रखता हुआ जल्दी से आया और बीच कमरे में पहुँचते ही घुटनों के बल गिर पड़ा। उसके हाथों में जो सुलगती हुई सिगरेट पाइप थी, वह जमीन पर गिर पड़ी और उससे जो चिनगारियाँ उड़ीं, उनका प्रकाश उसके मुख पर पड़ा। हमने देखा कि वह टेमीअशोव है। वह पिताजी के सामने घुटने टेककर कुछ प्रार्थना कर रहा था। मैं नहीं जानता कि उसने क्या कहा, क्योंकि मैं उसकी बात सुन ही न सका। मुझे तो बाद में यह मालूम हुआ कि वह मेरे पिता के सामने घुटने टेककर इसलिए बैठा कि वह अपनी नाजायज लड़की ड्यूनोश्का को जिसके विषय में वह पहले भी पिताजी से कह चुका था, उनके पास लाया था और उनसे प्रार्थना कर रहा था कि वह उसे अपने पास रखें और अपने बच्चों के साथ शिक्षा दें। उसके बाद से हमने अपने बीच उस चौड़े मुँहवाली बालिका ड्यूनेश्का और उसकी धाय-माँ एक्प्रेक्शीया को देखा। धाया लंबे कद की एक बूढ़ी औरत थी। उसके मुँह पर झुर्रियाँ पड़ी हुई थीं और तुर्की मुर्गे की-सी उसकी ठुड्डी पर एक गाँठ थी, जिसे हम घूरकर देखा करते थे।

ड्यूनेश्का का हमारे घर आना पिताजी और टेमीअशोव में एक जटिल लेन-देन के फलस्वरूप हुआ था।

टेमीअशोव बहुत धनी आदमी था; लेकिन उसके कोई जायज संतान न थी। हाँ, दो लड़कियाँ थीं; एक तो ड्यूनेश्का और दूसरी कुबड़ी वेरोश्का, जिसकी माँ मरफुसा एक दासी की लड़की थी। टेमीअशोव की उत्तराधिकारिणी उसकी दो बहनें थीं। वह

1. *एक वर्स्ट 3500 फुट का होता है।*

उनके लिए अपने सारी शेष संपत्ति छोड़ रहा था; लेकिन पीरोगोव की जागीर, जहाँ वह रहता था; पिताजी को इस शर्त पर देना चाहता था कि पिताजी उस जागीर का मूल्य तीन लाख रूबल उन दोनों लड़कियों को दे दें। (पीरोगोव जागीर के संबंध में यह कहा जाता था कि इसका मूल्य इससे कहीं ज्यादा है, क्योंकि उसमें सोने की खान है।) इसके लिए यह चाल चली गई कि टेमीअशोव पिताजी को रसीद देगा, जिसमें तीन लाख रूबल के लिए पीरोगोव जागीर मेरे पिता को बेची गई दिखाई जाएगी। मेरे पिता ने अपने हाथ से एक-एक लाख रूबल के तीन प्रोनोट लिखकर इस्लेनेव, याजीकोव और ग्लेबोवा को दिए। टेमीअशोव की मृत्यु होने पर पिताजी को वह जागीर मिलनी थी, जिसके बदले में इन्हें तीन लाख रूबल उन दोनों कन्याओं को देने थे। (इस्लेनेव, याजीकोव और ग्लेबोव को पहले ही बतला दिया था कि उन्हें उनके नाम से प्रोनोट क्यों दिए जा रहे हैं।)

शायद मैं सारी योजना को ठीक से नहीं बतला सका होऊँ; लेकिन इतना मुझे निश्चित रूप से मालूम है कि मेरे पिता की मृत्यु के बाद वह जागीर हमें मिली। इस्लेनेव, ग्लेबोव और याजीकोव के पास तीन प्रोनोट निकले। जब हमारे संरक्षक ने उन प्रोनोटों का रुपया दिया तो इस्लेनेव और ग्लेबोव ने तो एक-एक लाख रूबल दे दिया; लेकिन याजीकोव सारा रुपया हड़प गया।

ड्यूनेश्का हमारे साथ रहती थी। वह सीधी-सादी और शांत लड़की थी; लेकिन वह चतुर लड़की नहीं थी और बहुत रोनेवाली थी। मुझे याद है कि उसे अक्षर-ज्ञान कराने का काम मुझे सौंपा गया था, क्योंकि मुझे उस वक्त तक फ्रेंच भाषा पढ़ना आ गया था। पहले तो सब ठीक-ठीक चलता रहा (मैं भी पाँच साल का था और वह भी) परंतु बाद में वह संभवतः उकता उठी और जो शब्द में उसे बताता, उसका ठीक-ठीक उच्चारण नहीं करती। मैं उसे विवश करता। वह रोने लगती और उसके साथ-साथ मैं भी रोने लगता और जिस समय घर के लोग हमें लेने आते, उस समय हमारी आँखों में इतने आँसू भरे होते कि हम एक भी शब्द नहीं बोल पाते थे।

उसके बारे में दूसरी बात मुझे यह याद है कि जब कभी रकाबी में से एक बेर गायब हो जाता और उसके चुरानेवाले का पता न चलता तो फीडर इवानोविच बड़ी गंभीर मुद्रा बनाकर और हमारी ओर दृष्टिपात न करते हुए कहता कि बेर खाने में तो कोई हर्ज नहीं; लेकिन अगर कोई उसकी गुठली भी निगल गया तो उसकी मृत्यु हो सकती है। बस ड्यूनेश्का तुरंत भयभीत होकर बोल उठती कि नहीं, उसने गुठली उगल दी है। एक बार उसके फूट-फूटकर रोने की अच्छी तरह याद है। मेरा भाई मिटेंका डिमिट्री और वह दोनों एक-दूसरे के मुंह में एक पीतल की जंजीर उगलने का खेल खेल रहे थे। खेलते-खेलते उसने उस जंजीर को इतने जोर से उगला और

मेरे भाई ने अपना मुँह इतना अधिक खोल दिया कि जंजीर उसके गले से नीचे उतरकर पेट में चली गई। उस समय वह नौ-नौ आँसू रोई और उस समय तक रोती रही जब तक डॉक्टर आकर हम सबको शांति नहीं दिलाई।

वह चतुर लड़की नहीं थी; लेकिन बड़ी सीधी-सादी और अच्छी लड़की थी और सबसे बड़ी बात तो यह कि वह अत्यंत पवित्र मन की थी और हमारे बीच सदा भाई-बहन का संबंध रहा।

(अपने नौकरों के संबंध में टॉल्सटॉय ने लिखा है :)

प्रास्कोव्या ईसेव्ना का काफी ठीक-ठीक वर्णन मैंने बचपन में नटाल्या सेविश्ना के नाम से किया है। उसके विषय में मैंने जो कुछ लिखा है, वह उसके जीवन से लेकर ही लिखा है। प्रास्कोव्या ईसेव्ना का सब आदर करते थे। वह घर का प्रबंध करती थी और हम बच्चों का संदूक उसी के छोटे कमरे में रहता था। उनके संबंध में मुझे सबसे सुखद स्मृति यह है कि उसके छोटे से कमरे में बैठे हुए हम पढ़ाई के बाद अथवा बीच में ही उससे बात करने लगते थे अथवा उसकी बातें सुना करते थे। शायद वह हमारी उस आनंदमय सुकुमार और विकासशील अवस्था में, हमें देखकर प्रसन्न होती थी। ''प्रासकोव्या ईसेव्ना, दादा लड़ाई में किस प्रकार जाते हैं क्या घोड़े पर?'' इस प्रकार उससे बात छेड़ने के लिए कोई उससे पूछ बैठता।

''वह घोड़े की पीठ पर पैदल सब तरह लड़ाई में लड़े; तभी तो वह प्रधान सेनापति बना दिए गए'' वह जवाब देती और साथ ही अलमारी में से थोड़ी-सी धूप, जिसे वह ओशेकोव की धूप कहती, निकाल लेती। उसके कहने से यही मालूम होता था कि हमारे दादा वह धूप ओशेकोव के घेरे से लाए थे। वह देवी मूर्ति के सामने जलती हुई मोमबत्ती से कागज जलाती और उससे धूप को भी जला देती, जिससे बड़ी सुंदर सुगंध निकलती थी।

एक गीले तौलिए से मुझे पीटकर मेरा अपमान करने के अलावा (जैसा कि मैंने 'बचपन' में वर्णन किया है) उसने एक बार और मुझे गुस्सा किया था। और कामों के साथ उसका एक काम यह भी था कि जब आवश्यकता पड़े हमारे एनीमा लगाए। बात उस समय की है जब मैंने स्त्रियों के कमरे में रहना छोड़ दिया था और नीचे की मंजिल में थियोडोर ईवानोविच के पास आ गया था। एक दिन सबेरे हम सब बस सोकर उठे ही थे और मेरे बड़े भाइयों ने कपड़े भी पहन लिए थे। मैं जरा पीछे पड़ गया था। मैं अपने सीने के कपड़े उतारकर पहनने ही वाला था कि आस्कोव्या ईसेव्ना जल्दी-जल्दी पैर उठाकर चलती हुई अपना सारा सामान लेकर आ गई। सामान में एक रबड़ की नली थी जो किसी कारण कपड़े में लिपटी हुई थी; और उसकी केवल हड्डी की पीली

टोटी ही दिखाई पड़ती थी और जैतून के तेल से भरी हुई एक रकाबी थी। इस रकाबी में नली का मुँह डूबा हुआ था। मुझे देखकर वह यह समझी कि मैं भी उन बच्चों में हूँ, जिन्हें बुआ ने एनीमा देने को कहा है। वास्तव में वह मेरे भाई को लगाना था; लेकिन मेरा भाई संयोग से अथवा छल से अचानक यह बात पहले से ही भांप गया। वस्तुतः हम सभी बच्चे प्रास्कोव्या से ऐनीमा लगवाने से बहुत घबराते थे। अतः मेरा भाई शीघ्र ही कपड़े पहनकर सोने के कमरे के बाहर चला गया था; और मेरे शपथपूर्वक यह कहने पर भी कि मुझे ऐनीमा नहीं लगाना है, प्रास्कोव्या न मानी और एनीमा लगा ही दिया।

उसकी ईमानदारी और वफादारी के कारण तो मैं उससे प्रेम करता ही था; लेकिन इसलिए और करता था कि वह बूढ़ी अन्ना इवेनोव्ना ओशेकोव के घेरे से संबंधित मेरे दादा के रहस्यमय जीवन की प्रतिनिधि थीं।

अन्ना इवेनोव्ना हमारी नौकर नहीं रही थी; लेकिन मैंने उसे एक-दो बार अपने घर पर देखा था। लोग कहते थे कि उसकी आयु 100 वर्ष की है और उसे पूगाशेव याद है। उसकी आँखें बहुत काली थीं और एक ही दाँत बच रहा था। उसका बुढ़ापा हम बच्चों को बहुत ही भयानक मालूम पड़ता था।

छोटी धाय टाशियाना फिलिप्पोव्ना साँवले रंग की छोटे, परंतु मोटे-मोटे हाथवाली ठिगने कद की जवान स्त्री थी। वह बूढ़ी धाय ऐनुश्का की मदद किया करती थी। ऐनुश्का के विषय में मुझे भी कुछ याद नहीं; क्योंकि उस समय मैं बहुत छोटा था। मुझे अपने होने या न होने का भान उस समय होता था जबकि मैं उसके पास होता था; चूँकि उस समय मैं अपने को देख और समझ नहीं सकता था, इसलिए मैं उसे भी देख और समझ नहीं सकता था; अतः उसके बारे में मुझे कुछ भी याद नहीं। मैं उस समय इतना छोटा था कि मुझे अपना ही कुछ ज्ञान नहीं था, फिर धाय का कैसे होता।

लेकिन मुझे ड्यूनेश्का की धाय एवप्रेक्शिया और उसकी गर्दन की गाँठ खूब याद है। हम लोग बारी-बारी से उसकी गर्दन की गाँठ छूते थे। हमें यह बात बिल्कुल नई लगती थी कि हमारी धाय ऐनुश्का सबकी धाय नहीं है और ड्यूनेश्का अपने लिए पीरोगोव से खासतौर पर धाय लाई है।

धाय टाशियाना फिलिप्पोव्ना की तो मुझे खूब याद है, क्योंकि आगे चलकर वह मेरी भतीजियों की ओर फिर मेरे सबसे बड़े लड़के की धाय थी। वह उन स्नेहशील प्राणियों में थी, जो अपने पोष्य पुत्रों से इतना प्रेम करने लगती हैं कि फिर उनके सारे हित उन्हीं में केंद्रित हो जाते हैं। अपने संबंधियों से फिर उनका इतना ही नाता रह जाता है कि या तो वे उन्हें फुसलाकर कुछ रुपया ऐंठ लें या उनकी मृत्यु के बाद उनकी संपत्ति के अधिकारी हो जाएँ।

ऐसी स्त्रियों के भाई, पति और लड़के बड़े उड़ाऊ होते हैं। जहाँ तक मुझे याद

है। टाशियाना फिलिप्पोव्ना का पति और पुत्र दोनों ऐसे ही थे। इसी मकान में उसी जगह, जहाँ पर बैठा-बैठा मैं यह संस्मरण लिख रहा हूँ, मैंने उसको बड़े कष्ट से, लेकिन साथ ही शांति से मरते देखा है।

उसका भाई निकोलस फिलिप्पोविच हमारा कोचवान था। जागीरदारों के अधिकांश लड़कों के समान हम भी उसे केवल प्यार नहीं करते थे, बल्कि बड़े मान और आदर की दृष्टि से देखते थे। वह विशेष मोटे जूते पहनता था। उसके पास खड़े होने पर अस्तबल की बू आती थी। उसकी आवाज मधुर और गंभीर थी।

खानसाना बेसिली ट्रवेटसकाय का उल्लेख करना भी जरूरी है। यह मिलनसार और दयालु व्यक्ति था। उसे बच्चों से विशेषकर सर्जी से बहुत प्रेम था। बाद में सर्जी के यहाँ नौकर हुआ और वहीं उसका देहांत भी हुआ। वह हमें एक बड़े थाल में बिठाकर ऊपर रसोईघर में ले जाता और फिर नीचे ले आता। इसमें हमें बड़ा आनंद आता और हम उससे कहते, ''हमें भी! अब हमारी बारी है।'' मुझे उसकी प्रेम भरी तिरछी मुस्कान याद है। जब वह हमें गोद में ले लेता था तो उसका झुर्रियाँ पड़ा हुआ चेहरा और उसकी गर्दन साफ दिखाई पड़ती थी। मुझे उस वक्त की याद है जब वह स्कारबाचेव्काको विदा हो रहा था। यह जागीर कुर्स्क प्रांत में थी और पेट्रोव्स्की से मेरे पिता को विरासत में मिली थी। वेसिल ट्रवेट्स्काय की विदाई बड़े दिन की छुट्टियों में हुई थी, जबकि हम बच्चे कुछ दासों के साथ बड़े कमरे में 'छोटे रूबल, जाओ' खेल खेल रहे थे।

बड़े दिन के त्यौहार की कुछ बातें भी कह देनी चाहिए। इन दिनों हमारे घर के सब दास, जिनकी संख्या लगभग 30 के थी, बहुरूपियों के समान भिन्न-भिन्न प्रकार के कपड़े पहनकर बड़े कमरे में इकट्ठे होते और बहुत से खेल खेला करते थे। ग्रेगोरी, जो सिर्फ ऐसे ही मौकों पर हमारे यहाँ आया करता था, बाजा बजाता और सब लोग नाचते थे। इससे हमारा बड़ा मनोविनोद होता था, कपड़े वे ही पिछले सालों के होते थे। कोई भेड़िया बनता, कोई मदारी। कोई बकरी का रूप धारण करता। कुछ तुर्की आदमी औरतों का बाना पहने, कुछ डाक और किसान स्त्री-पुरुषों के भेष धरते थे। मुझे याद कि इन विचित्र पोषाकों में कुछ लोग बहुत सुंदर लगते थे। विशेषकर तुर्की लड़की माशा तो बहुत अच्छी लगती थी। कभी-कभी बुआ हमें भी ऐसे ही कपड़े पहना देती थीं। जवाहरात लगी हुई पेटी और सोने-चाँदी के काम का एक जाल पहनने के लिए सभी उत्सुक रहते थे। मैं भी अपने होठों पर कोयला से काली-काली मूँछें बनाकर अपने को बड़ा स्वरूपवान समझने लगता था। मैं शीशे में अपना मुँहा, काली-काली मूँछें और भौंहें देखता और यद्यपि मुझे चाहिए था कि मैं एक तुर्की की भाँति गंभीर मुद्रा बना लूँ; लेकिन मैं खुशी से अपनी मुस्कराहट नहीं रोक पाता था। बहुरूपिए सभी कमरों में जाते

और वहाँ उन्हें सुस्वादु भोजन खाने को मिलता था।

एक बार जब मैं बहुत छोटा था, बड़े दिन की छुट्टियों में इस्लेनेव परिवार के सब लोग—इस्लेनेव (मेरी पत्नी के दादा), उनमें तीन लड़के और तीनों लड़कियाँ स्वांग भरकर हमारे यहाँ आए। उन्होंने आश्चर्यजनक भेष बना रखे थे। उनमें एक शृंगारदान बना हुआ था; दूसरा जूता, तीसरा विदूषक और चौथा कुछ और बना था। वे तीस मील चलकर गाँव में आए और वहाँ उन्होंने अपना-अपना स्वांग बनाया और फिर हमारे बड़े कमरे में आए। इस्लेनेव पियानो बजाने बैठ गए और अपने बनाए हुए गाने बड़े लय से गाने लगे, जो मुझे अब भी याद हैं।

उनकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार थीं—

नए वर्ष में नाच रंग कर, हम अभिवादन करने आए।

सुख पाएँगे, यदि तुम सबका, हम कुछ भी मन बहला पाए।

ये सब बातें बड़ी आश्चर्यजनक थीं और शायद बड़े लोग इनसे बहुत प्रसन्न भी होते थे; लेकिन हम बच्चों को तो घर के दासों के स्वांग में ही आनंद आता था।

ये सब उत्सव बड़े दिन से आरंभ होकर नए साल में जाकर समाप्त होते थे; लेकिन कभी-कभी वे 12वें दिन की रात तक चलते थे। पर नए साल के बाद थोड़े आदमी आते थे और उत्सव फीके पड़ जाते थे। इसी दिन वेसिली स्कारवाचेव्का के लिए रवाना हुआ। मुझे याद है कि हम लोग अपने बड़े कमरे के धुँधले प्रकाश में चमड़े की गद्दियोंदार कुर्सियों पर एक कोने में घेरा-सा बनाकर बैठे हुए 'छोटे रूबल, जाओ' खेल खेल रहे थे। हम लोग एक-दूसरे को रूबल देते जाते थे और गाते जाते थे, 'छोटे रूबल जाओ—छोटे रूबल जाओ।' फिर हममें से एक लड़का उस रूबल को ढूँढ़ने जाता। मुझे याद है कि एक दास-पुत्री इन पंक्तियों को बड़े ही सुंदर और मधुर स्वर से गा रही थी। इसी समय एकाएक दरवाजा खुला और वेसिली आया। वह अपने सब कपड़े-लत्ते पहने हुए था। उसके हाथ में थाल-वाल भी नहीं था। वह कमरों में से होता हुआ पढ़ने के कमरे में चला गया। उसी समय मालूम हुआ कि वह कारिंदा बनकर स्कारवाचेव्का जा रहा है। मुझे इस बात से खुशी हुई कि उसकी तरक्की हो गई है। लेकिन साथ ही मुझे दुःख भी हुआ कि वह अब यहाँ नहीं आएगा और हमें बिठा-बिठाकर ऊपर रसोई-घर में नहीं ले जाएगा। वास्तव में उस समय न तो मैं यह समझ सका, न यह विश्वास ही कर सका कि इतना बड़ा परिवर्तन संभव हो सकता है। मैं बहुत अधिक उदास हो गया और 'छोटे रूबल, जाओ' पद हृदय को सालने लगा और जब बेसिली हमारी बुआओं को प्रणाम कर लौटा और अपनी मृदुल मुस्कराहट के साथ हमारे पास आकर हमारे कंधों को चुम्मा लेने लगा, उस समय जीवन में पहली बार मुझे इस जीवन की अस्थिरता पर भय लगा और प्रिय वेसिली के प्रति करुणा और प्रेम उमड़ पड़ा।

लेकिन बाद में जब मैं दुबारा वेसिली से अपने भाई के कारिंदे के रूप में मिला, तब पहले की भ्रातृ-भाव की वह पवित्र और मानवी भावना मुझमें नहीं रही थी।

(टॉल्सटॉय के तीन बड़े भाई थे। उनमें बड़े निकोलस थे, जिनको घर में निकोलेंका कहकर पुकारते थे और टॉल्सटॉय सबसे अधिक प्रेम और सम्मान करते थे। इनका टॉल्सटॉय के जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ा। उनके विषय में टॉल्सटॉय लिखते हैं :)

वह बाल्यकाल में बड़े तेज और प्रतिभाशाली थे और बड़े होने पर उनकी प्रतिभा और भी विकसित हुई। तुर्गनेव उनके विषय में ठीक ही कहते थे कि उनमें ऐसी कोई कमी नहीं है जो एक अच्छा लेखक बनने के लिए जरूरी है। उनमें एक अच्छे लेखक के कई गुण थे। उनमें कला की भावना बड़ी तेज थी। क्या बात किस प्रकार स्थान पर लिखी जानी चाहिए, यह भी वह अच्छी तरह जानते थे। उनका व्यंग्य भी बहुत प्रसन्न करनेवाला और अच्छा होता था। उनकी कल्पना तेज और अनंत थी। वह जीवन का उच्च आदर्श रखते थे। इन सबके अतिरिक्त एक विशेष गुण यह था कि उन्हें अहंकार छू भी नहीं गया था। उनकी कल्पना इतनी तेज थी कि वह घंटों परियों या भूतों की कहानियाँ अथवा श्रीमती रेडीक्लिफ के ढंग की अन्य मनोरंजक कहानियाँ बिना रुके हुए सुना सकते थे और उन कहानियों में इतनी सजीवता और स्वाधीनता होती थी कि उनको सुनते समय आदमी यह भूल जाता था कि वे सच्ची नहीं हैं बल्कि काल्पनिक हैं। जिस समय यह कहानी सुना या पढ़ रहे न होते (वह पढ़ते बहुत थे) उस समय चित्र बनाया करते थे। सींग और चढ़ी मूँछों सहित शैतान के चित्र बहुत तरह के और बहुत से काम करते हुए बनाते थे। ये चित्र भी एकदम काल्पनिक होते थे।

जिस समय मेरे भाई डिमिट्री 6 साल के और सर्जी 7 वर्ष के थे, उस समय निकोलस ने ही सबसे यह कहा था कि उन्हें एक ऐसा मंत्र मालूम है, जिसे यदि बता दिया जाए तो संसार में कोई भी दु:खी न रहे, कोई बीमार न हो, किसी को कोई कष्ट न हो, कोई आदमी किसी से नाराज न हो, सब एक-दूसरे से प्रेम करें और परस्पर धर्म-भाई बन जाएँ। यही नहीं हमने तो धर्म-भाई का एक खेल खेलना भी आरंभ किया, जिसमें हम सब कुर्सियों के नीचे बैठ जाते और दुशालों का पर्दा डालकर अपने को छिपा लेते, एक सिरे से सटकर और लिपटकर बैठ जाते अथवा अँधेरे में एक-दूसरे के पैरों पर पड़ जाते।

हमें यह धर्म-भ्रातृत्व तो बतला दिया गया; किंतु असली मंत्र नहीं बतलाया गया जिससे कि हर एक मनुष्य की पीड़ाएँ और दु:ख मिट जाते और वे एक-दूसरे से लड़ना-झगड़ना और गुस्सा होना बंद कर देते और अनंत आनंद अनुभव करते। उन्होंने कहा कि मैंने वह मंत्र एक हरी लकड़ी पर लिखकर उसे एक खड्डे के किनारे एक सड़क के पास गाड़ दिया है। और चूँकि मृत्यु के बाद मुझे तो कहीं-न-

कहीं दफनाया ही जाता, अत: मैंने वह इच्छा प्रकट की कि मेरी मृत्यु के बाद मुझे निकोलेका की स्मृति में उसी स्थान पर, जहाँ कि वह लकड़ी गाड़ी गई थी, दफनाया जाए। उस लकड़ी के अतिरिक्त वह हमें फेनकेरोनीव पहाड़ी पर भी ले जाने के लिए कहते थे; परंतु इस शर्त पर कि हम एक कोने पर एक खड़े हों और सफेद रीछ का विचार भी मन में न आने दें। मुझे याद है कि मैं अधिकतर एक कोने में खड़ा रहता और इस बात का प्रयत्न करता कि मुझे सफेद रीछ का ध्यान न आए; परंतु उसका ध्यान आए बिना न रहता। दूसरी शर्त यह थी कि फर्श पर रखे तख्तों की दारार पर बिना थर्राए या बिना काँपे चलना पड़ेगा। तीसरी शर्त यह थी कि एक साल तक जीवित या मृत या पका हुआ खरगोश न देखो। इसके साथ-साथ यह भी शपथ लेनी पड़ती थी कि हम यह भेद किसी को न बतलाएँगे। जो कोई भी आदमी निकोलस की इन शर्तों को तथा इनके अतिरिक्त उन शर्तों को, जो बाद में वह बताएँ, पालन करे, तो उसकी एक इच्छा, चाहे वह कुछ भी हो, अवश्य पूर्ण हो जाएगी।

(अपने अन्य भाइयों के विषय में टॉल्सटॉय लिखते हैं:)

डिमट्री मेरे साथी थे। निकोलस का तो मैं सम्मान करता था; परंतु सर्जी को देखकर मेरा रोम-रोम प्रफुल्लित हो उठता था। मैं उनका अनुसरण करता, उनसे प्रेम करता और यही कामना किया करता था कि मैं बिल्कुल उन-जैसा हो जाऊँ। उनकी सुंदरता, मधुर स्वर (वह सदा गाते रहते थे), उनकी चित्रकला, उनकी चलपता, प्रफुल्लता और विशेषकर उनके स्वाभाविक आत्माभिमान को देखकर मैं आनंद से फूल उठता था। मुझे अपना बड़ा खयाल रहता था और मैं सदा इस बात को, चाहे इसमें मेरी गलती हो या न हो; ध्यान रखता था कि दूसरे लोग मेरे विषय में क्या खयाल रखते हैं। इसी कारण मेरे जीवन का आनंद मिट जाता था और संभवत: इसीलिए मैं दूसरे आदमियों में इससे विपरीत गुण अर्थात् स्वाभाविक आत्मश्लाघा देखना पसंद करता था। इसीलिए मैं सर्जी से प्रेम केरता था। लेकिन उस भावना को बतलाने के लिए 'प्रेम' बिल्कुल ठीक शब्द नहीं है। मैं निकोलस से प्रेम करता था; लेकिन सर्जी को देखकर तो मैं अपने को भूल-सा जाता था, मानो मैं अपने से कोई भिन्न और अबूझ वस्तु पाकर मंत्र-मुग्ध हो गया हूँ। उसका जीवन वास्तव में मनुष्य का जीवन था—वह सुंदर परंतु मेरे लिए अगम्य, रहस्यपूर्ण और इसी कारण बहुत आकर्षक था।

अभी थोड़े दिन हुए[1] उनकी मृत्यु हो गई। अपनी आखिरी बीमारी में और अपनी मृत्यु-शय्या पर भी वह मेरे लिए उतने ही गहन, अगाध और प्रिय थे जैसे कि बचपन के दिनों में। बाद में बुढ़ापे में वह मुझे ज्यादा प्यार करने लगे थे, अपने प्रति मेरे प्रेम का

---

1. अगस्त, 1904 में।

आदर करते थे, मुझे ज्यादा प्यार करने लगे थे, मुझ पर अभिमान करते थे और विवादास्पद विषयों में मेरे मत से सहमत होने का प्रयत्न करते; लेकिन हो नहीं सकते थे। वह जैसे थे अब तक वैसे ही रहे। वह अद्वितीय, विलक्षण, सुंदर, कुलीन, आत्माभिमानी और इन सबसे अधिक इतने सच्चे और शुद्ध हृदय के व्यक्ति थे कि मैंने आज तक वैसा दूसरा व्यक्ति नहीं देखा। वह जैसे अंतर से थे वैसे ही बाहर से थे। वह कोई बात छिपाते नहीं थे और जो थे उससे बढ़कर किसी के सामने अपने को प्रकट न करते थे।

निकोलस के साथ तो मैं रहना, बातें करना और विचार-विनिमय करना पसंद करता था। सर्जी का मैं पदानुसरण करना चाहता था। उनका अनुसरण करना मैंने बहुत बचपन से आरंभ कर दिया था। वह मुर्गियाँ पालते थे, अतः मैंने भी मुर्गियाँ रखनी आरंभ कर दीं। पशु-पक्षियों के जीवन का अध्ययन करने का वह मेरा पहला अवसर था। मुझे मुर्गियों की बहुत-सी जातियाँ, भूरी, चितकबरी और कलंगीवाली, अब भी याद हैं। मुझे याद है कि किस प्रकार हमारे बुलाने पर वह दौड़कर आतीं, किस प्रकार हम उन्हें दाना डालते और हम उस डच मुर्गे से, जो उनके साथ दुर्व्यवहार करता था, कितनी घृणा करते थे। सर्जी ने पहले-पहल मुर्गियों के बच्चे मँगाए और उन्हें पालना शुरू किया। मैंने तो केवल उनकी नकल करने के लिए पाला था। सर्जी के कागज पर मुर्गे-मुर्गियों के चित्र बनाते और उनमें बड़े सुंदर रंग भरते। वे मुझे बड़े आश्चर्यजनक लगते थे। मैं भी यही करता था; लेकिन मेरे चित्र बड़े भद्दे होते थे। (फिर भी मैं इस कला में लंबी-चौड़ी बातें बनाकर ही अभ्यस्त होने की आशा करता था)। जब सर्दियों के दिनों में खिड़कियों में दोहरे किवाड़ लगा दिए गए, तब सर्जी ने मुर्गियों को खाना देने का एक नया उपाज खोज निकाला। वह किवाड़ों की चाबियों के छेद में से सफेद और काली रोटी के लंबे-लंबे टुकड़े बनाकर उन्हें दिया करते। मैं भी यही करता था।

मेरे बाल-मस्तिष्क पर एक मामूली-सी घटना ने बड़ा प्रभाव डाला। मुझे वह घटना इतनी अच्छी तरह याद है, मानो वह अभी घटी हो। टेमीअशोव हम बच्चों के कमरे में बैठा हुआ फीडर इवानोविच के साथ बातचीत कर रहा था। न जाने कैसे उपवास की बात चल पड़ी और अच्छे स्वभाववाले टेमीअशोव ने सीधे-सादे भाव से कहा, ''मेरे पास एक रसोइया था; जो व्रत के दिन भी मांस खाता था। मैंने उसे फौज में भेज दिया।'' मुझे यह घटना अब भी इसलिए याद है कि उस समय मुझे यह बात एकदम अजीब-सी मालूम पड़ी और मेरी समझ में ज़रा भी नहीं आई।

एक घटना और है और वह पेरोवस्को की जागीर के[1] उत्तराधिकारी के संबंध में

1. *इस जागीर में कुर्स्क प्रांत के सकारवाचेष्का ओर नेरुच नामक दो जागीरें थीं।*

थी। पेरोवस्को की जागीर का एक भूतपूर्व दास इल्या मेट्रोफेनिच था। वह एक लंबा तथा बूढ़ा आदमी था। उसके बाल सफेद हो गए थे। वह पक्का शराबी और अपने समय के सारे हथकंडों में उस्ताद था। उसकी सहायता से इस जागीर के उत्तराधिकारियों के संबंध में जो मुकदमा चला था वह जीत लिया गया और नेरुच से भरी हुई गाड़ियों एवं घोड़ों के झुंड-के-झुंड आए, जिनकी मुझे अब भी याद है। इल्या ने इस जागीर को दिलाने में बहुत काम किया था, अतः उसके उपलक्ष में मृत्यु-पर्यंत यास्नाया पोल्याना में रहने का उसका प्रबंध कर दिया गया।

मेरे बहनोई बेलेरियन के चाचा प्रसिद्ध 'अमरीकन' थियोडोर टॉल्सटॉय हमारे यहाँ आए थे, इसकी मुझे अच्छी तरह याद है। वे एक घोड़ागाड़ी में बैठकर आए थे। वे सीधे पिताजी के पढ़ने के कमरे में पहुँचे और बोले, मेरे लिए खास तरह की सूखी फ्रांसीसी रोटी मँगाइए। वह उसे छोड़कर दूसरी रोटी खाते ही न थे। मेरी भाई सर्जी के दाँतों में बड़ा जोर का दर्द हो रहा था। थियोडोर पूछा कि सर्जी को क्या हुआ? और जब उन्हें मालूम हुआ कि उसके दाँतों में दर्द हो रहा है, तब उन्होंने कहा, अच्छा मैं अभी जादू से इसे बंद किए देता हूँ। वह पिताजी के पढ़ने के कमरे में गए और भीतर से दरवाजा बंद कर लिया। थोड़ी देर बाद वह मलमल के दो रूमाल, जिनके किनारे पर कुछ फूल-पत्तियाँ कढ़ी हुई थीं। हाथ में लेकर आए। उन्होंने दोनों रूमाल हमारी बुआ को देते हुए कहा, ''यह रूमाल बाँधते ही दर्द मिट जाएगा। और यह रूमाल लगते ही उसे नींद आ जाएगी।'' बुआ ने वे रूमाल ले लिए और उन्हें उसी प्रकार रख दिया। हमारे मन में यही खयाल बना रहा कि उन्होंने जैसा कहा था वैसा ही हुआ।

उनका हजामत बना हुआ कठोर, रूक्ष और दमकता हुआ सुंदर मुख मुँह से कानों तक कटी हुई कलम और घुँघराले बाल मुझे बहुत अच्छे लगते थे। इस असाधारण, अपराधी और आकर्षक व्यक्ति के संबंध में बहुत-सी बातें ऐसी हैं, जिन्हें मैं कहना पसंद न करूँगा।

राजकुमार वोल्कोंस्की के भी अपने यहाँ आने की मुझे याद है। वह माता जी के कोई मौसेरे या फुफेरे भाई थे। वह मेरा दुलार करना चाहते थे। उन्होंने मुझे अपने घुटने पर बिठा लिया और जैसा कि बहुधा होता है, मुझे गोदी में बिठाए-बिठाए घर के आदमियों से बातें करने में मग्न रहे। मैं उनकी गोद से उठने का प्रयत्न करता तो वह मुझे और कसकर थाम लेते। कुछ मिनटों तक यही चलता रहा; लेकिन इस तरह कैद हो जाने, आजादी छिन जाने और ऊपर से बल-प्रयोग से मैं इतना उकता उठा और मुझे इतना क्रोध आया कि मैं एकाएक जोरों से उनके चुंगल से छूटने की कोशिश करने, चिल्लाने और उन्हें मारने भी लगा।

यास्नाया पोल्याना से दो मील दूर एक गाँव ग्रुमंड है (उसका यह नाम मेरे दादा

ने रखा था, वह अर्केजल के, जहाँ पर ग्रुमंड नाम का एक टापू था, गवर्नर रह चुके थे।) (ग्रुमंड के संबंध में टॉल्सटॉय लिखते हैं कि वहाँ पर पशुओं के लिए एक सुंदर बाड़ा और जब-तब रहने के लिए एक बहुत सुंदर छोटा-सा मकान बना हुआ था। टॉल्सटॉय-परिवार के बच्चों को यहाँ दिन बिताना बहुत अच्छा लगता था; क्योंकि यहाँ पर पानी का एक बड़ा सुंदर सोता और मछलियों से भरी हुई एक छोटी-सी तलैया थी। वह आगे लिखते हैं :)

"लेकिन एक बार एक घटना से, जिसके कारण हम सभी—कम-से-कम मैं और डिमिट्री—करुणार्द्र हो रो पड़े और हमारा सारा आनंद जाता रहा। बात यह हुई कि हम सब अपनी गाड़ी में बैठ घर लौट रहे थे। फीडर इवानोविच की भूरे रंग, सुंदर आँखों और नरम घुँघराले बालवाली शिकारी कुतिया बर्था, हमारी गाड़ी के आगे-पीछे भाग रही थी। जैसे ही हम ग्रुमंड बाग से आगे बढ़े, एक किसान के कुत्ते ने उस पर हमला किया। बर्था गाड़ी की ओर भागी। फीडर इवानोविच गबाड़ी न रोक सके और वह उसके एक पंजे पर से निकल गई। जब हम घर आए और बर्था भी हमारे पीछे-पीछे तीन पैरों से लँगड़ाती-लँगड़ाती आई तो फीडर इवानोविच और हमारे खिदमतगार निकिटा डिमिट्री ने, जो एक शिकारी भी था उसका पैर देखकर कहा कि उसका पैर टूट गया है और अब यह आगे कभी शिकार के काम नहीं आ सकती। मैं ऊपर अपने छोट कमरे में उनकी बातें सुन रहा था। जिस समय फीडर इवानोविच ने यह कहा कि "अब यह किसी काम की नहीं रही; इसका तो एकमात्र उपाय यही है कि इसे मार दिया जाए" तो मैं अपने कानों पर विश्वास नहीं कर सका।

बेचारी कुतिया कष्ट में थी, बीमार थी और इसके लिए उसे मौत के घाट उतारा जा रहा था। मेरे मन में यह भावना उठी कि नहीं, यह बात गलत है, ऐसा नहीं होना चाहिए। परंतु फीडर इवानोविच ने जिस ढंग से यह बात कही और निकिटा डिमिट्री ने जिस ढंग से उसका समर्थन किया उससे मालूम होता था कि वे अपना निर्णय पूरा करने पर तुले हुए हैं और जैसे कि कुजमा[1] के कोड़े लगाने के लिए ले जाते समय

1. इस घटना के विषय में टॉल्सटॉय लिखते हैं—
हम सब बच्चे घूमकर अपने शिक्षक फीडर इवानोविच के साथ वापस लौट रहे थे। उसी समय खलिहान के पास हमें हमारा मोटा कोचवान ऐंड्रू मिला। उसके साथ हमारा सहायक कोचवान कुजमा भी था, जिसकी आँखें भेड़-सी थीं और इसी कारण वह भेड़ा कुजमा कहलाता था। कुजमा बहुत उदास था। उसका विवाह हो चुका था और उसकी जवाबी भी ढल चुकी थी : हममें से एक ने ऐंड्रू से पूछा कि कहाँ जा रहा है। उसने शांति से उत्तर दिया कि वह कुजमा को खलिहान पर कोड़े लगाने के लिए ले जा रहा

तथा टेमीअशोव ने जब बतलाया था कि किस प्रकार उसने अपने रसोइया को व्रत के दिन मांस खाने पर फौज में भेज दिया था, उस समय मैंने अनुभव किया था कि यह गलत था; परंतु अपने से बड़े लोगों के प्रति आदर की भावना के कारण मुझे उनके हर निश्चय के सामने अपनी भावना पर विश्वास करने की हिम्मत नहीं पड़ी, वैसे ही इस बार भी नहीं पड़ी।

मैं अपने बाल्य-काल की सभी सुखद स्मृतियों का वर्णन नहीं करूँगा; क्योंकि उसका अंत नहीं है और दूसरे वे मुझे प्रिय और महत्त्वपूर्ण लगती हैं; पर मैं उन्हें अन्य लोगों के सामने महत्त्वपूर्ण नहीं सिद्ध कर सकता।

मैं अपने बाल्य-जीवन के एक आध्यात्मिक अनुभव के विषय में कुछ कहूँगा। यह अनुभव मेरे बचपन में मुझे अनेक बार हुआ और मैं समझता हूँ कि वह बाद के बहुत से अनुभवों से कहीं बढ़कर है। वह इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि वह प्रेम का पहला अनुभव था, किसी व्यक्ति के प्रति प्रेम नहीं, बल्कि प्रेम के प्रति प्रेम, ईश्वर के प्रति प्रेम—इस प्रेम का अनुभव बाद के जीवन में यदा-कदा ही होता था; लेकिन होता अवश्य था और शायद इस कारण होता था (इसके लिए ईश्वर का धन्यवाद है) कि उसका बीज बचपन में ही बो गया था। इसका अनुभव इस प्रकार होता था। हम, विशेषकर मैं, डिमिट्री और लड़कियाँ कुर्सियों के नीचे यथासंभव एक-दूसरे से सटकर बैठ जाते। इन कुर्सियों के चारों ओर शाल लपेट दिया जाता और ऊपर गद्दियाँ ढक दी जातीं। हम एक-दूसरे से कहते कि हम सब भाई-बहन हैं और उस समय एक-दूसरे के प्रति एक विचित्र प्रेम-भाव का अनुभव करते। कभी यह प्रेम-भावना बढ़कर लाड़-दुलार तक पहुँच जाता और हम एक-दूसरे को थपथपाने लगते थे। या आलिंगन करते; पर ऐसा बहुत कम होता था और हम सब अनुभव करते थे कि ऐसा उचित नहीं है और अपने को रोक लेते थे।

कभी-कभी हम उन कुर्सियों के नीचे बैठे-बैठे ही बातचीत किया करते थे कि

है। मुँह लटकाए हुए कुजमा की मूर्ति और इन शब्दों ने मेरे मन में जो भय पैदा कर दिया, उसका वर्णन नहीं कर सकता। शाम को मैंने यह बात अपनी बुआ टाशियाना ऐलेक्जेंड्रोव्ना से कही। उन्हें शारीरिक दंड देने से बड़ी घृणा थी और जहाँ कहीं उनका बस चलता, वह कभी दासों को या हमको शारीरिक दंड न देती थीं। मेरे कहने पर उनको बहुत बुरा लगा और उन्होंने कहा, "तून उसे रोका क्यों नहीं ?" उसके इन शब्दों से मुझे और भी दुःख हुआ।...मैंने कभी यह सोचा ही नहीं था कि हम ऐसे मामलों में पड़ सकते हैं। पर वास्तव में हम ऐसे मामलों में बोल सकते थे; परंतु अब तो बात हाथ से निकल चुकी थी और वह भयानक कांड किया जा चुका था।

हम किस-किस से कितना प्रेम करते हैं, सुखी और प्रसन्न जीवन बिताने के लिए किन-किन बातों को आवश्यकता है; हमें किस प्रकार अपना जीवन व्यतीत करना और किस प्रकार सबके प्रति प्रेम-भाव रखना चाहिए।

मुझे याद है कि इसका आरंभ एक यात्रा के खेल से होता था। हम लोग कुर्सियों पर बैठ जाते और अन्य कुर्सियों को खींचकर एक गाड़ी बनाते। हम सब लोग बैठकर यात्री का खेल खेलते और फिर धर्म-भाई का खेल खेलने लगते। इसमें हमारे साथ और लोग भी शामिल हो जाते! यह खेल बहुत ही अच्छा था और ईश्वर को धन्यवाद है कि हम यह खेल खेलते थे। हम इसे खेल कहते थे, लेकिन वास्तव में इसे छोड़कर संसार की प्रत्येक बात एक खेल ही है।

(जर्मन भाषा में टॉल्सटॉय की जीवनी के लेखक लौवेनफेल्ड के यह पूछने पर कि यह कैसे हुआ कि आपको ज्ञानार्जन की इतनी पिपासा थी, फिर भी आपने उपाधि लेने से पहले ही विश्वविद्यालय छोड़ दिया, टॉल्सटॉय ने लिखा है :)

'हाँ, मेरी ज्ञानपिपासा ही मेरे यूनिवर्सिटी छोड़ने का कारण थी : कजान में हमारे शिक्षक जिन विषयों पर जो-जो व्याख्यान देते थे, वे मुझे जरा भी रोचक नहीं लगते थे। पहले तो मैंने एक साल तक पूर्वी भाषाओं का अध्ययन किया, परंतु उसमें मैंने बहुत थोड़ी प्रगति की। मैं हर एक चीज़ में जी-जान से लग पड़ता था और एक ही विषय पर एक साथ बहुतेरी पुस्तकें पढ़ डालता था। लेकिन एक साथ मैं एक ही विषय की पुस्तकें पढ़ता था। जब मैं एक विषय को उठाता तो फिर उसको बीच में छोड़ता न था और उस पर वे सब पुस्तकें पढ़ता था जो उस विषय पर प्रकाश डालती थीं। कजान में मेरा यही हाल था।''

(एक दूसरे अवसर पर टॉल्सटॉय ने कहा :)

विश्वविद्यालय छोड़ने के विशेषकर दो कारण थे। पहला तो यह कि मेरे भाई सर्जी अपनी पढ़ाई समाप्त कर चुके थे और उन्होंने विद्यालय छोड़ दिया था। दूसरे केथोराइन की 'नकाज' और 'ऐस्प्रिट द लुईस' पर मैंने जो लिखा, उसने मेरे लिए मानसिक कार्य का नवीन क्षेत्र खोल दिया। विद्यालय के काम के कारण मुझे इसमें सहायता मिलनी तो दूर, मेरे काम में बाधा भी पड़ती थी।

मेरे भाई डिमिट्री मुझसे एक साल बड़े थे। उनकी आँखें बड़ी-बड़ी थीं और उनसे गंभीरता टपकती थी। मुझे यह तो याद नहीं कि बचपन में वह कैसे थे; लेकिन बाद में मैंने लोगों के मुँह से सुना कि बचपन में बड़े सनकी और अस्थिर थे। यदि उनकी धाय उनकी सार-सँभाल ठीक से न करती तो वह इस पर उससे क्रोधित होते और चिल्लाते। मैंने यह भी सुना है कि माताजी उनसे बहुत परेशान थीं। यह आयु में लगभग मेरे बराबर ही थे और हम दोनों साथ-साथ बहुत खेले। यद्यपि मैं उनसे

इतना प्रेम नहीं करता था जितना सर्जी से, न इतना आदर ही जितना कि मैं निकोलस का करता था; लेकिन फिर भी हम दोनों में मित्र भाव था और मुझे याद नहीं कि हम दोनों कभी लड़े हों। हो सकता है कि हम कभी लड़े भी हों; लेकिन उस लड़ाई की छाप हमारे दिलों में बिल्कुल न रही। मैं उनसे सरल और स्वाभाविक तौर पर प्रेम करता था, जिसका (प्रेम का) न तो मुझे ज्ञान था और न जिसकी अब स्मृति ही शेष है। मैं यह समझता हूँ, और विशेषकर बचपन का यह मेरा अपना अनुभव भी है कि बाल्यकाल में दूसरों के प्रति प्रेम आत्मा की एक स्वाभाविक स्थिति है, या दूसरे शब्दों में एक-दूसरे के बीच एक स्वाभाविक संबंध है, और जिस समय मनुष्य की ऐसी स्थिति होती है उस समय उसे उस प्रेम का ज्ञान नहीं रहता। उसका ज्ञान तो तभी होता है जब मनुष्य प्रेम नहीं करता; 'प्रेम नहीं करता' नहीं, बल्कि जब वह किसी से डरने लगता है। (मैं भिखारियों या वोल्कोंस्की से, जो मुझे चुटकी लिया करता था, इसी प्रकार डरता था, लेकिन मैं समझता हूँ कि इनके अतिरिक्त मैं किसी से नहीं डरता था), अथवा जब कोई आदमी किसी एक आदमी से ही विशेष प्रेम करने लगता है, जिस प्रकार कि मैं अपनी बुआ टाशियाना एलेक्जेंड्रवोना से या अपने भाई सर्जी और निकोलस से, वेसिली, धाय ईसेव्ना और पेशेंका से प्रेम करता था।

डिमिट्री के बचपन के संबंध में सिवाय इसके कि वह बड़े प्रसन्नचित्त रहते थे, मुझे कुछ भी याद नहीं। सन् 1840 में, जब उनकी आयु 13 वर्ष की थी, हम दोनों कजान विश्वविद्यालय में गए और उस समय मुझे उनकी विशेषताएँ पहले-पहल मालूम हुईं और उनका मुझ पर प्रभाव पड़ा। उसके पहले मैं उनके विषय में केवल इतना जानता था कि वह उस प्रकार प्रेम में नहीं पड़ते जिस प्रकार मैं और सर्जी; और न नाच-रंग और सैनिक-प्रदर्शन ही पसंद करते थे। वह पढ़ते बहुत थे। पोलोंस्की नाम के एक अंडर-ग्रेजुएट शिक्षक हमें पढ़ाया करते थे। हम भाइयों के विषय में उन्होंने अपनी राय यों प्रकट की थी: सर्जी पढ़ना चाहता है और पढ़ भी सकता है; डिमिट्री चाहता तो है, लेकिन पढ़ नहीं सकता (लेकिन यह ठीक नहीं था) और लियो टॉल्सटॉय न तो चाहता ही है और न पढ़ सकता है (हाँ, मेरे विषय में यह बिल्कुल ठीक था)

इस प्रकार डिमिट्री के विषय में मेरी स्मृति कजान से आरंभ होती है। वहाँ हर बात में सर्जी का अनुकरण करते-करते मैं बिगड़ने लगा। उस समय और उसके पहले भी मुझे अपने बनाव-सिंगार की चिंता रहने लगी। मैं चिकना-चुपड़ा दिखाई पड़ने का प्रयत्न करने लगा। डिमिट्री को यह बातें छू भी न गई थीं। मेरा तो खयाल है कि वह

1. लेकिन दूसरे स्थान पर टॉल्सटॉय ने इससे बिल्कुल उलटी बात कही है और निकोलस को भी लपेट लिया है—सं०

जवानी के अवगुणों से सदा दूर रहे। वह सदा गंभीर, विचारवान, शुद्ध और दृढ़ रहते थे, यद्यपि उन्हें क्रोध जल्दी आ जाता था। वे जो काम करते थे उसे सारी शक्ति लगाकर करते थे। जब उन्होंने पीतल की जंजीर निगल ली थी, उस समय भी वह दिल न हार बैठे। जहाँ तक मुझे याद है, एक बार जब मैंने एक बेर की गुठली, जो मुझे 'बुआ' ने दी थी, निगल ली थी तो मुझे कितना डर लगा था, और मैंने किस गंभीरता से वह दुर्घटना अपनी माता से कही थी, मानो मैं मर ही रहा होऊँ। एक बार हम सब बच्चे एक पहाड़ी पर से बर्फ पर फिसलने वाली कड़ी की चट्टियों पर फिसल रहे थे। इतने में एक आदमी स्लेज-गाड़ी में बैठा हुआ सड़क-सड़क जाने के बजाए पहाड़ी पर चढ़ आया। शायद सर्जी और एक ग्रामीण बालक उस समय फिसलकर नीचे आ रहे थे। वे अपने को रोक न सके और घोड़े के पैरों के पास जाकर गिर पड़े। उन्हें चोट नहीं लगी और स्लेज-गाड़ी पहाड़ी की ओर चली गई। हम सब तो यही देखने में दत्त-चित्त थे कि किस प्रकार वे घोड़े के पैरों के नीचे से बचकर निकले, किस प्रकार घोड़ा भड़ककर एक ओर को हटा, आदि-आदि। लेकिन डिमिट्री जिनकी आयु उस समय केवल 9 वर्ष की थी, उठकर सीधे उस आदमी के पास गए और उसे फटकारने लगे। उन्होंने उससे यह कहा कि ऐसी जगह गाड़ी चलने पर, जहाँ कि कोई सड़क नहीं है तुम अस्तबल में भेजे जाने योग्य हो, जिसका उस समय यह अर्थ था कि तुम्हारी पिटाई कोड़ों से होनी चाहिए तो मुझे कुछ आश्चर्य भी हुआ और कुछ बुरा भी लगा।

उनकी विशेषताएँ तो पहले-पहल कजान में मालूम हुईं। वह जी लगाकर बहुत अच्छी तरह पढ़ते और बड़ी सुगमता से कविता भी कर लेते थे। उन्होंने शिलर की कविता 'डर जुंगलिंग एम बाशे' का बड़ा सुंदर अनुवाद किया था। लेकिन कविता के धंधे में उन्होंने कभी अपने को नहीं लगाया। एक दिन वह बहुत ज्यादा मजाक करने लगे। इससे लड़कियों का बड़ा मनोरंजन हुआ। इस पर मुझे उनसे ईर्ष्या हुई। मैंने सोचा कि लड़कियाँ इसलिए प्रसन्न हैं कि वह सदा गंभीर रहते हैं, और उसी तरह उनकी नकल में गंभीर बनने की मेरी भी इच्छा हुई। मेरी बुआ (पेलागेया इलीनिश्ना) को सनक हुई कि हमारी सेवा के लिए एक-एक दास बालक रखें, जो बाद में हमारा विश्वास-पात्र खिदमतगार हो सके। डिमिट्री के लिए उन्होंने एक दास वेनयूशा दिया जो अभी तक जीवित है। डिमिट्री उसके साथ बड़ा बुरा बर्ताव करते और मेरा खयाल है कि उसे पीटते तक थे। 'खयाल है', मैं इसलिए कहता हूँ कि मैंने उन्हें कभी मारते-पीटते तो देखा नहीं; लेकिन मुझे याद है कि एक दिन वह वेनयूशा के सामने उसके प्रति किए गए व्यवहार के लिए पश्चात्ताप कर रहे थे और उससे नम्र शब्दों में क्षमा माँग रहे थे।

मुझे तो यह नहीं मालूम कि किस प्रकार या किसके प्रभाव से यह धार्मिक जीवन की ओर खिंचे; लेकिन उनका धार्मिक-जीवन विद्यालय में प्रविष्ट होने के पहले

ही साल में आरंभ हो गया। धार्मिक-जीवन की ओर प्रवृत्ति होने के कारण स्वभावतः वह चर्च की ओर झुके और अपने स्वाभाविक अध्यवसाय के साथ धार्मिक साहित्य का अध्ययन करने लगे। वह बड़ा सादा भोजन करते, गिरजे में सभी प्रार्थनाओं और उपदेशों के समय जाते और अधिकाधिक कठोर जीवन बिताने लगे।

डिमिट्री में एक असाधारण गुण था और मुझे विश्वास है कि वह गुण मेरी माता और मेरे बड़े भाई निकोलस में भी था; लेकिन मुझमें बिल्कुल नहीं था। वे इस बात से पूर्णतया उदासीन रहते कि दूसरे लोग मेरे बारे में क्या खयाल करते हैं। बुढ़ापे तक में मुझे चिंता रहती है कि दूसरे लोग मेरे बारे में क्या खयाल करते हैं; लेकिन डिमिट्री इस चिंता से बिल्कुल मुक्त थे। जब कोई आदमी किसी की प्रशंसा करता है तो अनिच्छा होते हुए भी वह मुस्करा देता है। लेकिन मुझे याद नहीं कि मैंने कभी उनके मुख पर इस तरह की मुस्कराहट देखी हो। मुझे तो उनकी बड़ी-बड़ी शांत, गंभीर और विचारशील आँखें ही याद हैं। केवल कजान विद्यालय में रहने के समय ही हमने उनकी ओर विशेष ध्यान देना आरंभ किया और वह भी इसलिए कि उस समय तक हम बाहरी बनाव-सँवार पर ज्यादा जोर देने लगे थे और वह, मैले-कुचैले और गंदे रहते थे और इस कारण हम सदा उनकी निंदा किया करते थे। वह न तो नाच देखने जाते और न नाच सीखना चाहते थे। एक विद्यार्थी के नाते वह अन्य विद्यार्थियों की गोष्ठी में भी जाते थे। केवल एक कोट पहनते और गले में पतला-सा तंग रूमाल बाँधते थे। युवावस्था से ही उनकी मुँह बनाने की आदत पड़ गई थी। वह हर समय अपना सिर घुमाते रहते थे मानो तंग रूमाल से अपना पिंड छुड़ाने की कोशिश कर रहे हों।

जिस समय उन्होंने उपासना (कम्युनियन) के निमित्त पहला उपवास किया, उस समय उनकी विशेषताएँ पहली बार मालूम हुईं। उन्होंने यह उपवास विश्वविद्यालय के फैशनेबुल गिरजे में न करके जेल के गिरजे में किया। उस समय जेल के ठीक सामने गोटालोव के मकान में रहते थे। इस गिरजे में एक बड़े धार्मिक और कट्टर पादरी थे। यह एक असाधारण बात थी; क्योंकि उस समय पादरी न तो धर्मिष्ठ होते थे और न धर्माचरण के नियमों का कड़ाई के साथ पालन करते थे। यह पादरी महोदय धार्मिक सप्ताह में इंजील तथा ईसामसीह व उनके अनुयायियों के ग्रंथों का जिनको पढ़ने का यद्यपि शास्त्रों में विधान है; परंतु लोग जिन सब ग्रंथों को कम ही पढ़ते थे—आद्योपांत पाठ करते थे। इसी कारण इस गिरजे के उपदेश बड़ी देर में समाप्त हुआ करते थे। डिमिट्री इन सब कथाओं और उपदेशों को खड़े होकर सुना करते थे। उन्होंने पादरी से भी जान-पहचान कर ली थी। गिरजाघर इस प्रकार बना हुआ था गिरजाघर और उस स्थान के बीच में जहाँ कैदी खड़े होकर उपदेश सुना करते थे एक शीशे की दीवार थी और उसमें एक छोटा-सा दरवाजा था। एक बार एक कैदी ने उस दरवाजे के भीतर से

एक छोटे पादरी को कुछ देना चाहा। वह या तो मोमबत्ती थी या उसके लिए कुछ पैसे। कोई यह काम करने के लिए तैयार न हुआ; लेकिन डिमिट्री अपनी स्वाभाविक गंभीर मुद्रा के साथ उसे उठा लिया और छोटे पादरी को दे दिया। यह काम ठीक नहीं था और इसके लिए उन्हें भला-बुरा भी कहा गया; लेकिन चूँकि वह समझते थे कि यह काम किया जाना चाहिए, अतः वह दूसरे अवसरों पर भी यह काम करते थे।

जब हम दूसरे मकान में चले गए तब की एक घटना मुझे याद है। हमारे ऊपर के कमरे दो हिस्सों में बँटे हुए थे। एक भाग में डिमिट्री रहते थे और दूसरे में सर्जी और मैं। बड़े आदमियों के समान सर्जी को और मुझे अपनी-अपनी मेजों पर आभूषण तथा अन्य चीजें, जो हमें भेंट में मिलती थीं, सजाकर रखने का शौक था। लेकिन डिमिट्री के पास ऐसी कोई चीज नहीं थी। उन्होंने पिताजी से केवल एक ही वस्तु ली थी और वह उनका रंग-बिरंगे पत्थरों का संग्रह था। उन्होंने उनको सजाकर और उन पर लेबिल लगाकर एक शीशे के ढक्कनवाले बक्स में रख छोड़ा था। चूँकि हम सब भाई और हमारी बुआ डिमिट्री की इन निम्न कोटि की रुचियों और उनके निम्न श्रेणी के परिचितों के कारण उन्हें कुछ घृणा की दृष्टि से देखती थी, अतः हमारे दंभी मित्र भी उनके प्रति यही रुख रखते थे। उनमें से एक 'ऐस' था। वह एक इंजीनियर था और बड़ी क्षुद्र प्रकृति का था। उसे हमने मित्र नहीं बनाया था, मगर वह स्वयं हमारे पीछे पड़ा रहा और हमारा मित्र बन गया। एक दिन उसने डिमिट्री के कमरे से निकलते हुए, उनके रंग-बिरंगे पत्थरों के संग्रह को देखकर उनसे एक प्रश्न कर दिया: 'ऐस' का व्यवहार असहानुभूतिपूर्ण और स्वाभाविक था। डिमिट्री ने उसके प्रश्न का अनिच्छा से उत्तर दिया। इस पर 'ऐस' ने उस बक्स को सरकाकर जोर से हिला दिया। डिमिट्री ने कहा, "उसे छोड़ दो।" 'ऐस' ने उनकी बात न मानी और उसके साथ मजाक किया। यदि मुझे ठीक से याद है तो उसने उन्हें 'नूह'[1] पुकारा था। डिमिट्री को इस पर भीषण क्रोध आया और उन्होंने 'ऐस' के मुँह पर अपने भारी हाथ से एक थप्पड़ जोर से मारा। 'ऐस' भागा और डिमिट्री उसके पीछे-पीछे भागे। दोनों भागकर हमारे कमरे की तरफ आए तो हमने 'ऐस' को अंदर लेकर दरवाजा बंद कर दिया। इस पर डिमिट्री ने कहा अच्छा, जब 'ऐस' मेरे कमरे से होकर वापस जाएगा तब मैं उसे पीटूँगा। सर्जी और मुझे याद पड़ता है, शायद शुवालोव डिमिट्री को मनाने के लिए भेजे गए कि वह 'ऐस' को चला जाने दे; परंतु वह झाड़ लेकर बैठ गए और बोले कि मैं अच्छी तरह पीटूँगा। मुझे नहीं मालूम है कि यदि 'ऐस' कमरे में से जाता तो वह क्या करते। लेकिन उसने हमसे किसी दूसरे रास्ते से निकलने की प्रार्थना की और हमने उसे छतवाले कमरे से किसी

1. 'नूह' संबोधन का उल्लेख 'मेरी मुक्ति की कहानी' के पृ. 4 पर है।

प्रकार रेंग-रौंगकर निकाला।

(टॉल्सटॉय ने एक बार एक सिपाही की पैरवी की थी, जिस पर अपने अफसर पर हाथ उठाने के आरोप में फाँसी की सजा देने के लिए मुकदमा चल रहा था। टॉल्सटॉय की जीवनी के लेखक बीरूकोव ने टॉल्सटॉय से इस घटना का विस्तृत वर्णन माँगा। उस पर टॉल्सटॉय ने उन्हें निम्न पत्र लिखा:)

प्रिय मित्र पावेल इवानोविच,

तुम्हारी इच्छा पूरी करने और तुमने अपने पुस्तक में, जिस सिपाही की पैरवी करने का उल्लेख किया है, उसके संबंध में मेरे क्या विचार थे, इस पर पूरा प्रकाश डालने में मुझे प्रसन्नता है। भाग्य के उलट-फेरों, संपत्ति के विनाश या प्राप्ति, साहित्यिक-जगत में सफलता या असफलता, अपने प्रिय-से-प्रिय संबंधियों की मृत्यु-जैसी अधिक महत्त्वपूर्ण घटनाओं से भी अधिक उस घटना का मेरे जीवन पर प्रभाव पड़ा है।

मैं पहले तो यह बतलाऊँगा कि यह सब कैसे हुआ और उसके बाद यह बतलाऊँगा कि उस घटना के समय और कब उसकी स्मृति से मेरे मन में क्या-क्या भावनाएँ और विचार पैदा हुए हैं।

मुझे यह याद नहीं है कि उस समय मैं किसी खास काम में लगा हुआ था। शायद आप यह बात मुझसे अधिक अच्छी तरह जानते होंगे। मुझे तो बस इतना ही याद है कि उस समय मैं एक शांत, संतुष्ट और आत्माभिमान से पूर्ण जीवन व्यतीत कर रहा था। सन् 1856 की गर्मियों में हमारे पास सैनिक पाठशाला का एक विद्यार्थी ग्रीशा कोलोकोल्टसेव, जो बेहरो को जानता था और मेरी पत्नी का परिचित भी था, हमारे पास आया। मालूम हुआ कि वह सेना की एक टुकड़ी में, जो हमारे पास ही पड़ाव डाले हुई थी, नौकर था। वह प्रसन्नचित्त और अच्छे स्वभाव का लड़का था और उस समय अपने छोटे से कज्जाक घोड़े पर उछल-उछलकर दौड़ने में ही उसका समय बीतता था। अक्सर वह अपने घोड़े पर सवार होकर हमारे पास भी आया करता था।

उसके द्वारा हमारा उसकी टुकड़ी के सेनापति जनरल यू...और ए...एम. स्टासयुलेविच से परिचय हो गया। स्टासयुलेविच या तो पद में घटा दिया गया था या किसी राजनीतिक मामले के कारण सैनिक की हैसियत में काम करने को भेजा गया था (मुझे ठीक कारण याद नहीं है)। वह प्रसिद्ध संपादक स्टासयूलेविच का भाई था। स्टासयूलेविच की जवानी बीत चुकी थी। जब हमारा परिचय हुआ उसी वक्त के करीब उसकी तरक्की हुई थी और वह ध्वजावाहक बना दिया गया। वह अपने पुराने साथी यू की सेना में, जो कि अब उसका कर्नल था, आ गया था। यू...और स्टासयूलेविच दोनों अक्सर घोड़ों पर चढ़कर हमारे पास आया करते थे। कर्नल यू...हृष्ट-पुष्ट, लाल-सुर्ख चेहरे और अच्छे स्वभाववाला कुछ उस प्रकार का अविवाहित व्यक्ति था जैसे कि

साधारणतया होते हैं। उच्च पद और ऊँची सामाजिक स्थिति ने उसकी मानवी-प्रवृत्तियों को दबा दिया था। अपने पद और मान को बनाए रखना उसके जीवन का एकमात्र उद्देश्य था। मानवी दृष्टि से यह कहना कठिन है कि ऐसा आदमी विवेकी या सज्जन है, क्योंकि ऐसे मनुष्य के विषय में कोई यह नहीं जानता कि यदि वह एक कर्नल या प्रोफेसर या मंत्री या न्यायाधीश या एक पत्रकार न रहकर एक साधारण आदमी रह जाए तो कैसा होगा? यही हाल केवल यू...का था। वह एक सेना की टुकड़ी का कार्यवाहक सेनापति था; लेकिन वह किस प्रकार का मनुष्य था, यह कहना असंभव था। मेरा तो यह खयाल है कि वह अपने-आपको भी न जानता होगा और न इसमें उसकी दिलचस्पी ही थी। स्टासयूलेविच इसके विपरीत था। यद्यपि अनेक प्रकार से, विशेषकर, उसके दुर्भाग्य और अपमानों से, जो उस-जैसे महत्त्वाकांक्षी और आत्माभिमानी मनुष्य को बड़े दुःख के साथ सहने पड़े, उसका विनाश हो चुका था; परंतु वह फिर भी जीवन से भरा हुआ मनुष्य था। कुछ दिनों बाद वह दिखाई ही नहीं पड़ा। जब उनकी सेना किसी दूसरे स्थान पर चली गई उस समय मैंने सुना कि उसने बिना किसी व्यक्तिगत कारण से विचित्र रीति से आत्महत्या कर ली। एक दिन सबेरे उसने एक बहुत भारी फौजी ओवरकोट पहना और उसे पहनकर नदी में उतर गया। चूँकि वह तैरना नहीं जानता था, अतः नदी में डूबकर मर गया।

मुझे याद नहीं कि कोलोकोल्टसेव या स्टासयूलेविच दोनों में किसने गर्मी के दिनों में एक दिन सबेरे आकर एक घटना सुनाई जो सेना में एक असाधारण और भयानक बात थी। एक सिपाही ने एक कंपनी-कमांडर को मारा था। स्टासयूलेविच इस विषय पर ज़रा जोर से बोल रहा था। उस सिपाही के भाग्य के फैसले (अर्थात् मृत्यु-दंड) के प्रति उसके हृदय में सहानुभूति थी। उसने मुझसे फौजी पंचायत के सामने उस सिपाही की वकालत करने की सिफारिश की।

यहाँ पर मैं यह कह देना चाहता हूँ कि मुझे इस बात से कि एक आदमी जज बनकर किसी को मौत की सजा दे और अन्य आदमी (अर्थात् वधिक) उसे मौत के घाट उतारें केवल एक धक्का ही नहीं लगता था बल्कि सब कुछ असंभव और कृत्रिम लगता था। ऐसे भीषण कृत्य के संबंध में यह जानते हुए भी कि वह पहले हो चुका है, और अब भी प्रतिदिन हो रहा है, उस पर विश्वास नहीं होता था। मृत्यु-दंड दिए जाते हैं, यह मुझे मालूम है, फिर भी वे मुझे एक असंभाव्य कार्य मालूम पड़ते रहते हैं।

यह बात मेरी समझ में आती है कि क्षणिक आवेश में घृणा और प्रतिहिंसा के वशीभूत हो अथवा मानवी भावनाओं के नाश होने के कारण एक आदमी अपनी या अपने मित्र की आत्म-रक्षा के लिए किसी को मार सकता है, अथवा युद्ध के समय देशभक्ति के नशे में, जिस समय मनुष्य मरने-मारने के लिए कटिबद्ध होता है, उस

समय वह एक साथ सहस्रों आदमियों के संहार में भाग ले सकता है। लेकिन यह बात मेरी समझ में नहीं आती अपने ऊपर नियंत्रण रखते हुए, शांति से और जान-बूझकर अपने किसी भाई को मारने की आवश्यकता स्वीकार कर सकता है और दूसरों को मानव-स्वभाव के सर्वथा विपरीत यह कार्य करने की आज्ञा दे सकता है। यह बात मेरी समझ में उस समय भी नहीं आई थी, जबकि मैं सन् 1866 में अहंकारी जीवन व्यतीत कर रहा था। इसलिए मैंने आशा भरे हृदय से उस सिपाही की वकालत करने का विचित्र निश्चय किया।

मुझे आजेर की गाँव में उस स्थान पर जाने की अच्छी तरह याद है, जहाँ वह कैदी सिपाही रखा गया था। (मुझे यह याद नहीं कि वह कोई खास मकान था कि वही मकान था जिसमें वह कांड हुआ था) ईंटों के एक नीची छतवाले झोंपड़े में घुसने पर मैंने एक ठिगने से आदमी को देखा। वह लंबा होने के बजाए हृष्ट-पुष्ट अधिक था, जो कि सिपाहियों के लिए असाधारण बात थी। उसकी मुखाकृति बड़ी सरल, अपरिवर्तनशील और शांत थी। मुझे यह याद नहीं कि उस समय मेरे साथ दूसरा आदमी कौन था। परंतु जहाँ तक मुझे याद है वह कोलोकोल्टसेव था। जैसे ही हम घुसे, वह आदमी फौजी ढंग से उठ खड़ा हुआ। मैंने उससे कहा कि मैं तुम्हारा वकील होना चाहता हूँ; अतः तुम मुझे ठीक-ठीक बता दो कि वह घटना किस प्रकार घटी। उसने बहुत थोड़ी बातें बताईं और मेरे प्रत्येक प्रश्न के उत्तर में बड़ी उदासीनता और अनिच्छा से यही उत्तर दिया, 'हाँ, यही हुआ था।' उसके उत्तरों से तो यही निष्कर्ष निकलता था कि वह काम करने में सुस्त था और उसका कप्तान बड़ी कड़ाई से काम लेता था। उसने कहा, ''उसने मुझसे बड़ा सख्त काम लिया।''

जैसा कि मैंने समझा कि उसके यह कांड कर बैठने का कारण यही था कि कुछ महीने से कप्तान ने—जो बाहर से देखने में बड़ा शांत था—अपने उकता देनेवाले एकरस स्वर में एक ही काम को, जो उस आदमी ने (वह दफ्तर का अर्दली था) अपनी समझ से ठीक-ठीक किया था, दुबारा करने की आज्ञाएँ दे-देकर और उन आज्ञाओं का बिना ननु-नच के पालन कराकर, इतना उत्तेजित कर दिया कि वह सब्र की सारी सीमाओं को लाँघ गया और उसकी हालत 'मरता क्या न करता' जैसी हो गई। मेरा खयाल है कि उन दोनों में परस्पर एक-दूसरे के प्रति कुछ घृणा के भाव भी थे। जैसा कि बहुधा होता है, कंपनी-कमांडर उस अर्दली के प्रति विरोध-भावना रखने लगा था। उसे यह संदेह हुआ कि यह अर्दली मेरे पोल होने के कारण मुझसे घृणा करता है। इससे इसकी विरोध-भावना और बढ़ गई। उसने अफसर होने का लाभ उठाकर उसके हर काम से असंतोष प्रकट करना और सब काम को, जिसे वह आदमी समझता था कि उसने ठीक किया है, दुबारा करने के लिए उसे बाध्य करना आरंभ किया। अर्दली भी

उसके पोल होने, उसकी योग्यता पर विश्वास न करने और सबसे अधिक उसके ऊँचा अफसर होने के कारण, जिससे वह उसकी कोई शिकायत न कर सकता था, उससे घृणा करता था। अपनी घृणा व्यक्त करने का कभी अवसर न मिलने के कारण वह आग भीतर-ही-भीतर सुलगती रही और प्रत्येक डाँट-फटकार के साथ बढ़ती गई। अपनी सीमा पर पहुँचकर वह आग उस रूप में भड़क उठी, जिसका कि उसने स्वप्न में भी विचार नहीं किया था। तुमने तो मेरी जीवनी में यह लिखा है कि उस आदमी की क्रोधाग्नि कप्तान के यह कहने से कि वह कोड़ों से उसकी खाल उधड़वा देगा भभक उठी, गलत है। कप्तान ने उसे केवल एक कागज वापस दिया और उससे उसे ठीक करने और दुबारा लिखने के लिए कहा था।

पंच शीघ्र ही नियत कर दिए गए। सरपंच कर्नल यू...थे तथा कोलोकोल्टसेव तथा स्टासयूलेविच सहायक पंच थे। कैदी पंचों के सामने लाया गया। अदालती शिष्टाचार के बाद, जिसके संबंध में मुझे कुछ याद नहीं रह गया है, मैंने अपना भाषण पढ़ा, जो मुझे अब केवल विचित्र ही लगता है, बल्कि लज्जा से भर देता है। पंचों ने भी केवल शिष्टाचार के नाते वे सब निरर्थक बातें, जो मैंने बहुत से कानूनी ग्रंथों का हवाला देते, कही-सुनीं और सब कुछ सुनने के बाद आपस में सलाह करने के लिए चले गए। उस पारस्परिक विचार-विनिमय के समय, जैसा कि मुझे बाद में मालूम हुआ, केवल स्टासयूलेविच ही उस मूर्खतापूर्ण कानूनी नजीर से सहमत था, जिसके आधार पर मैंने कहा था कैदी को इसलिए छोड़ दिया जाना चाहिए कि वह अपने काम के लिए उत्तरदायी नहीं है। सदाशय कोलोकोल्टसेव यद्यपि वही करना चाहता था जो मैं चाहता था; परंतु अंत में वह कर्नल यू...के सामने झुक गया और उसके मत ने मामले का फैसला कर दिया। सिपाही को गोली से उड़ाकर मारने की सजा सुना दी गई। मुकदमा समाप्त होने के बाद शीघ्र ही मैंने एक संभ्रांत महिला एलेक्जेंड्रा एंड्रोवना टॉल्सटॉय को, जो मेरी घनिष्ट मित्र थीं और जिनकी राज-दरबार में पहुँच थी, लिखा कि वह सम्राट एलेक्जेंडर द्वितीय से शिबूनिन को क्षमा दिला दें। मैंने उन्हें लिखा तो सही; लेकिन चित्त अस्थिर होने के कारण उस रेजीमेंट का नाम देना भूल गया, जिसमें शिबूनिन था। उसने युद्धमंत्री मिलयूटिन को भी लिखा; परंतु उसने भी यही कहा कि उस रेजीमेंट का नाम लिए बिना सम्राट के सामने आवेदन-पत्र पेश करना असंभव है। उसने मुझे लिखा। मैंने जल्दी-से-जल्दी उत्तर दिया, लेकिन रेजीमेंट के कप्तान ने भी जल्दी की। अत: जिस समय तक सम्राट के सामने पेश करने के लिए आवेदन-पत्र तैयार हुआ, उस समय तक उस सिपाही को गोली से उड़ा दिया गया।...

उस सिपाही की सफाई में मैंने जो उल्टा-सीधा, मूर्खतापूर्ण भाषण दिया था और जिसे अब तुमने प्रकाशित किया है, उसे दुबारा पढ़कर मेरी आत्मा विद्रोह करती है।

दैवी और मानवी कानूनों के खुले तौर पर तोड़े जाने का उल्लेख करते हुए, जो मनुष्य अपने भाइयों के विरुद्ध कर रहा है, मैंने जो कुछ किया था वह यही था कि कुछ मूर्खतापूर्ण शब्द उद्धृत कर दिए थे, जिन्हें मनुष्य ने लिखकर कानून का रूप दे दिया है।

वास्तव में अब मैं उस उल्टी-सीधी और मूर्खतापूर्ण वकालत पर लज्जित हूँ। अगर एक आदमी यह जानता है कि ये आदमी क्या करने के लिए इकट्ठे हुए हैं—वे अपनी फौजी वर्दी में मेज के तीन तरफ बैठे और सोच रहे हैं कि कुछ शब्दों के कारण, जो कुछ पुस्तकों में लिखे हुए हैं और अनेक शीर्षों और उपशीर्षों के साथ-साथ कागज पर छपे हुए हैं, वे अनंत ईश्वरीय कानूनों को, जो यद्यपि किसी पुस्तक में छपा हुआ नहीं है, परंतु प्रत्येक मानव के हृदय में अंकित है; तोड़ सकते हैं; तब उनके सामने उन मूर्खतापूर्ण और झूठे शब्दों द्वारा (जिन्हें हम कानून कहते हैं) चतुरता से सिद्ध करने की कोई जरूरत नहीं कि किसी आदमी को मौत से मुक्त कर देना संभव है। उन्हें तो सिर्फ यह याद कराने की जरूरत है कि वे कौन हैं और क्या कर रहे हैं? हर एक आदमी यह जानता है कि प्रत्येक मनुष्य का जीवन पवित्र है; और किसी दूसरे को किसी का प्राण लेने का कोई अधिकार नहीं है। इसको सिद्ध नहीं किया गया जा सकता, क्योंकि इसे किसी प्रमाण द्वारा सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं। हाँ, एक बात आवश्यक, संभव और ठीक है। वह यह कि आदमियों—जजों—को उस जड़ता से मुक्त करना, जिसके कारण उनमें यह पाशविक और अनुमानुषिक विचार आता है। यह सिद्ध करना है कि आदमी को दूसरे को मौत की सजा नहीं देनी चाहिए, यही सिद्ध करने के बराबर है कि एक आदमी को वह काम नहीं करना चाहिए, जो उसकी प्रकृति के प्रतिकूल और अंतरात्मा के विरुद्ध हो अर्थात् उसे जाड़े में नंगा नहीं फिरना चाहिए, नाबादान की वस्तुएँ नहीं खानी चाहिए और चारों हाथ-पाँव नहीं चलाना चाहिए। यह मनुष्य की प्रकृति और आत्मा के विरुद्ध है, यह बात आज से वर्षों पूर्व उस स्त्री की कहानी द्वारा, जिसे पत्थर से मार-मारकर मार डाला जानेवाला था, सिद्ध हो चुकी है।

क्या यह संभव है कि मनुष्य (कर्नल यू...और ग्रिसा कोलोकोल्टसेव जैसे) अब इतने न्यायप्रिय हो गए हैं कि उन्हें पहला पत्थर फेंकने (दूसरों को अपराधी करार देने) में कोई डर नहीं है।

उस समय मैं यह बात नहीं समझता था। जब मैंने अपनी चचेरी बहन टॉल्सटॉय के द्वारा शिबूनिन को क्षमा दिलाने का आवेदन-पत्र दिया, उसे समय भी यह बात नहीं समझता था। उस समय मैं कितने भ्रम में था कि शिबूनिन के साथ जो कुछ हुआ वह एक साधारण-सी बात है। अपने उस भ्रम पर मुझे अब आश्चर्य हुए बिना नहीं रह सकता।

उस समय मैं ये सारी बातें नहीं समझता था। उस समय तो मेरे मन में एक अस्पष्ट-सी भावना थी जो कुछ हो गया है वह नहीं होना चाहिए; और यह घटना कोई आकस्मिक घटना नहीं थी, बल्कि इसका मानव-जाति की अन्य भूलों और पीड़ाओं से गहरा संबंध है, और यह सबके मूल (जड़) में है।

उस समय भी मेरे मन में एक अस्पष्ट भावना थी कि मौत की सज़ा—जान-बूझकर, सोच-विचारकर और पहले से निश्चय करके की गई हत्या—यह कृत्य है, जो कि ईसाई धर्म के (जिसके हम अनुयायी हैं) खिलाफ है। यह विवेकशील जीवन और नैतिकता भंग करनेवाली चीज है। क्योंकि अगर एक आदमी या कुछ आदमी मिलकर यह निश्चय करें कि एक आदमी या किसी दल का वध करना आवश्यक है तो दूसरे आदमी या दल को किसी की हत्या करने से कौन रोक सकता है? और क्या उन आदमियों का जीवन विवेकशील और नैतिक हो सकता है, जो अपनी इच्छानुसार एक-दूसरे को मार सकें?

मैं उस समय भी यह महसूस करता था कि धर्म और विज्ञान मौत की सजा के लिए जो युक्तियाँ देते हैं इनके द्वारा हिंसा करने की न्यायोचितता सिद्ध होने के स्थान पर उल्टे धर्म और विज्ञान का खोखलापन ही सिद्ध होता है : मुझे यह अनुभव पहली बार पेरिस में हुआ जब मैंने एक फाँसी का दृश्य दूर से देखा।[1] परंतु जब मैंने इस मामले में भाग लिया तो मेरे मन में इस संबंध में जोरदार भावनाएँ उठीं। फिर भी मुझे अपने ऊपर विश्वास करने में और संसार के निर्णय से अपने को विलग करने में डर लगता था। बहुत दिनों के बाद मुझे अपनी धारणाओं में विश्वास पैदा हुआ और उन दो महाभयानक जालों को अस्वीकार कर सका, जिनकी मुट्ठी में सारा संसार है और जो सब पीड़ाएँ और उत्पीडन पैदा करते हैं, जिससे मानव-जाति कष्ट पा रही है। ये दोनों जाल चर्च और विज्ञान हैं।

बहुत दिनों बाद जब मैंने उन युक्तियों का ध्यान से अध्ययन करना आरंभ किया, जो 'चर्च' (धर्म-संस्था) और विज्ञान आजकल के राजतंत्र के समर्थन में दिया करते हैं, तब मैं उन दो बड़े जालों को स्पष्ट जान गया, जिनके द्वारा वे राज्य की काली करतूतों पर परदा डालना और उन्हें जनता से छिपाना चाहते हैं। मैंने लाखों और करोड़ों की संख्या में प्रचारित धर्म व विज्ञान की पुस्तकों के उन लंबे-लंबे अध्यायों को पढ़ा है, जिनमें कुछ आदमियों की इच्छानुसार दूसरों को फाँसी पर चढ़ा देने के औचित्य और आवश्यकता सफाई पेश की गई है।

विज्ञान के दोनों प्रकार के ग्रंथों में—जिसे न्याय-शास्त्र (जुरिस्प्रुडेंस) कहते हैं व

1. यह घटना सन् 1858 की है और 'कनफेशन' के 12वें पृष्ठ पर उसका वर्णन किया है।

जिसमें फौजदारी कानून भी शामिल हैं, उसमें और विशुद्ध विज्ञान-संबंधी ग्रंथों में—यही बात अधिक संकीर्णता और विश्वास के साथ तर्कपूर्वक दी गई है। फौजदारी कानून के संबंध में तो कुछ भी कहने की जरूरत नहीं है। वह तो सफेद झूठ, छल और प्रपंचों का क्रमागत इतिहास ही है जो मनुष्य द्वारा मनुष्य पर किए गए सभी प्रकार के हिंसात्मक कामों को यहाँ तक कि मनुष्य द्वारा मनुष्य की हत्या को भी, न्यायोचित ठहराता है। और डार्विन से लेकर अब तक के वैज्ञानिक ग्रंथों में भी, जो जीवन-संघर्ष को जीवन का आधार मानते हैं, यही बात निहित है। जेना विश्वविद्यालय के प्रोफेसर अर्नेस्ट हेकेल जैसे सिद्धांत के जबर्दस्त समर्थक अपनी पुस्तक संदेहवादियों की गीता Naturilich Schopfungsge schichte में स्पष्ट लिखते हैं—

"मानव-जाति के सांस्कृतिक जीवन में कृत्रिम चुनाव बहुत लाभदायक प्रभाव डालता है। उदाहरण के लिए श्रेष्ठ स्कूली शिक्षा और लालन-पालन का संस्कृति की बहुमुखी प्रगति में कितना भारी स्थान है! यद्यपि आजकल बहुत से आदमी मौत की सजा 'उदार भाव से' उड़ा-देने की बड़े जोर-शोर से वकालत कर रहे हैं, और मानवता के थोथे नाम पर अपने पक्ष में बहुत-सी युक्तियाँ दे रहे हैं; लेकिन मौत की सजा भी कृत्रिम चुनाव की भाँति लाभदायक प्रभाव डालती है। जिस प्रकार एक सुंदर उद्यान को बनाए रखने के लिए घास-फूस और झाड़-झंखाड़ उखाड़ फेंकते रहने की आवश्यकता है; उसी प्रकार उन बहुसंख्यक अपराधियों और बदमाशों के लिए, जो कभी ठीक ही नहीं हो सकते, मौत की सजा केवल उचित दंड ही नहीं है, बल्कि संस्कृत मानव-जाति के लिए बड़े लाभ की चीज है। जिस प्रकार घास-फूस को ठीक से साफ करने पर पेड़ों और पौधों को अधिक वायु, प्रकाश और बढ़ने के लिए जगह मिलती है, ठीक उसी प्रकार कठोर अपराधियों का सफाया कर देने से 'संस्कृत' मानव-जाति का 'जीवन-संघर्ष' केवल कम ही नहीं हो जाएगा, बल्कि कृत्रिम चुनाव का लाभ भी प्रदान करेगा, क्योंकि इस रीति से मानव-जाति का पतित अंश शेष जाति पर अपने दुर्गुणों का प्रभाव न डाल सकेगा।"

खेद यह है कि मनुष्य ऐसी बातें पढ़ते हैं, दूसरों को पढ़ाते हैं और उसे विज्ञान के नाम से पुकारते हैं। लेकिन किसी के दिमाग में यह प्रश्न नहीं उठता कि यह मान लेने पर कि बुरे आदमियों को मार डालना अच्छा है, अच्छे और बुरे का निर्णय कौन करेगा? उदाहरण के लिए मान लीजिए मैं समझता हूँ कि मि. हैकल से ज्यादा बुरा और ज्यादा हानिकारक आदमी संसार में दूसरा नहीं है। लेकिन क्या इसका मतलब यह है कि मैं अथवा मेरे जैसे विचार रखनेवाले आदमी मि. हैकल को फाँसी की सजा दे दें? नहीं, वह जितनी ही बड़ी-बड़ी भूलें करेंगे उतना ही मैं चाहूँगा कि वह अधिक विवेकी और युक्ति-युक्त हों। किसी भी दशा में मैं उन्हें इस प्रकार का

व्यक्ति बनने देने के अवसर से वंचित नहीं कर सकता।

चर्च और विज्ञान के मिथ्यावाद ने ही आज हमें उस गड्ढे में डाल रखा है जिसमें हम हैं। युगों में महीने और वर्ष में एक दिन भी ऐसा नहीं जाता, जिस दिन फाँसियाँ, हत्याएँ न होती हों। कुछ आदमी क्रांतिकारियों की अपेक्षा सरकार द्वारा अधिक आदमी वध किए जाने पर प्रसन्न होते हैं। अन्य लोग बहुत-से सेनापतियों, भूपतियों, व्यापारियों तथा पुलिस-वालों के मारे जाने पर प्रसन्न होते हैं। एक ओर तो हत्याओं के लिए 10—15 और 25 रूबल के इनाम दिए जाते हैं और दूसरी ओर क्रांतिकारी लोग हत्यारों और जबर्दस्ती संपत्ति छीननेवालों का आदर और मान करते हैं और उन्हें शहीद की पदवी देते हैं। "...उन आदमियों से मत डरो, जो शरीर का नाश करते हैं बल्कि उनसे डरो जो शरीर और आत्मा दोनों का विनाश कर देते हैं।..."

इन बातों को मैंने बाद में समझा। परंतु एक स्पष्ट-सी अनुभूति मेरे मन में उस समय भी थी, जब मैंने इतनी मूर्खतापूर्ण और लज्जाजनक रीति से उस अभागे सिपाही की वकालत की थी। इसलिए मैं कहता हूँ कि मेरे जीवन पर उस घटना का भारी प्रभाव पड़ा है।

हाँ, उस घटना का मेरे जीवन पर बहुत अच्छा और लाभदायक प्रभाव पड़ा है। उसी समय मैंने पहली बार यह अनुभव किया कि हर प्रकार की हिंसा की पूर्ति में हत्या या हत्या की धमकी छिपी हुई है, इसलिए हर प्रकार की हिंसा हत्या के साथ जुड़ी हुई है। दूसरे यह कि राज्य-शासन की कल्पना बिना हत्या के नहीं हो सकती और इसलिए वह ईसाई धर्म के साथ मेल नहीं खाती। तीसरे यह कि जिस प्रकार पहले चर्च के उपदेश के विषय में हुआ था, उसी प्रकार हम आज जिसे विज्ञान कहते हैं, वह वर्तमान बुराइयों की एक झूठी वकालत के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

अब मेरे निकट यह बात बिल्कुल स्पष्ट है; परंतु उस समय तो वह उस मिथ्यावाद, की जिसके बीच मैं अपना जीवन व्यतीत कर रहा था, एक क्षीण-स्वीकृति-मात्र थी।

यासनाया पोल्याना
14 मई, 1908

—लियो टॉल्सटॉय

टॉल्सटॉय शक्तिशाली कला-विज्ञ थे। उनकी प्रत्येक कृति में औचित्य और प्रसाद-गुण तो होता ही है; पर हृदय को अस्वस्थ बना देनेवाली समवेदना ही उनकी कला की विशेपता है।

टॉल्सटॉय साहित्य के वर्णित प्रसंग काल्पनिक नहीं हैं, उनके द्वारा की हुई मीमांसा केवल 'तात्विक' नहीं है और उन्होंने जो जीवन में परिवर्तन किया था, वह भी क्षणिक न था। जैसे 'हम करें क्या' पुस्तक का प्रारंभ तो मार्ग में भटकते हुए भिखारियों के सुख-दुख से होता है, पर इसका मुख्य विपय समस्त मानव-समाज का कल्याण है।

उन्होंने देखा कि रूस में, यूरोप में, सारे संसार में प्रतिष्ठित अकर्मण्य लोगों की संख्या बेहद बढ़ गई है—बढ़ती जाती है और किसी तरह भी रोके नहीं रुकती। इनका आमोद-प्रमोद, इनकी वासनाएँ, इनके भोग भोगने के साधन बढ़ते ही जाते हैं। ये मस्तराम प्रजा का खून चूसे जा रहे हैं और बदले में समाज को कुछ देते नहीं। इतना ही नहीं, सरकारी जबरदस्ती और पैसे के जाल से ग्रसित लोगों को सिर उठाने में भी असमर्थ बनाए दे रहे हैं; अपने मन को फुसलाने के लिए और दुनिया को बहलाने के लिए तरह-तरह की 'फिलासफियों' की रचना करते हैं; हमारी स्थिति जैसी होनी चाहिए वैसी ही है, इसी में सबका कल्याण है, ऐसा सिद्ध करने के लिए कृत्रिम धार्मिक सिद्धांतों का आविष्कार करते हैं; समाज-शास्त्र गढ़ते हैं और विज्ञान तथा कला को भ्रष्ट करते हैं। इन बातों को उखाड़कर फेंक देना कुछ सहज बात नहीं है। विचारों को जन्म देने तथा उनका प्रचार करने का जिनका इज़ारा है, ऐसे समस्त मनुष्य-समूह से, जिसमें हम लोग भी सम्मिलित हैं - यह अभिमन्यु - जैसा असमान युद्ध—एकाकी युद्ध है। परंतु टॉल्सटॉय की लेखन-शक्ति इस काम को लक्ष्य तक पहुँचाने के योग्य ही निकली। वह जानते थे कि दुनियादार अक्लमंद लोग चाहे कितने ही क्यों न हों फिर भी उनका बल अपर्याप्त है और हम खुद अकेले ही हों तब भी सत्य-स्वरूप जगदीश के साथ होने से हमारा बल पर्याप्त है।

टॉल्सटॉय का उपदेश रूस की बनिस्बत हिंदुस्तान को अधिक लागू होता है। जब तक प्रजा का बोझ हल्का नहीं होता और जबरदस्ती का दौरदौरा नहीं मिटता, तब तक देश की राजनैतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक उन्नति हो ही नहीं सकती। यह बात, देश का ख्याल रखनेवाले मनुष्यों के हृदय में, यह पुस्तक पढ़ते समय, आए बिना रहती नहीं। पैसा इस अज्ञात जबरदस्ती का बड़े से बड़ा वाहन है, यह मान लेने के पश्चात हिंदुस्तान का प्रश्न अधिक स्पष्ट हो जाएगा।

-काका कालेलकर

सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन
ए-77, कनॉट सर्कस, नई दिल्ली-110001
दूरभाष : 23310505, 41523565
Visit us at : www.sastasahityamandal.org
E-mail : manager@sastasahityamandal.org

ISBN 978-81-7309-434-7